Library Rare Texts Publication Series No. 6

SĀTVATA-SAṀHITĀ

With Commentry by

ALAŚIṄGA BHATTA

Foreword by
Dr. GAURINATH SASTRI
Vice-Chancellor

Edited by
VRAJA VALLABHA DWIVEDI
Professor and Head of the Department of
Sāṅkhya-yoga Tantrāgama
Sampurnanand Sanskrit University

VARANASI
1982

[Published under the Rare Texts Publication Scheme of Sarasvati Bhavana Library with financial assistance provided by University Grants Commission]

Published by :
Lakshmi Narayan Tiwari
Librarian,
Sarasvati Bhavana Library
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi.

Available at—
Sales Department
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi-221002. (India)

First Edition—500 Copies.
Price : Rs. 120.00

Printed by :
Mahavir Press
Bhelupur, Varanasi

पुस्तकालय-दुर्लभग्रन्थ-प्रकाशन-योजना : षष्ठं पुष्पम्

सात्वतसंहिता

अलशिङ्गभट्टविरचितभाष्योपेता

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयकुलपति-
डॉ० गौरीनाथशास्त्रिविरचित-
प्रस्तावनया समलङ्कृता

सम्पादकः
व्रजवल्लभद्विवेदः
विभागाध्यक्ष आचार्यश्च
सांख्ययोगतन्त्रागमविभागे
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

वाराणस्याम्

२०३९ वैक्रमाब्दे १९०४ शकाब्दे १९८२ खैस्ताब्दे

प्रकाशकः—
लक्ष्मीनारायण तिवारी,
सरस्वतीभवनपुस्तकालयाध्यक्षः
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
वाराणसी

[सरस्वतीभवनपुस्तकालयस्य दुर्लभग्रन्थप्रकाशनसम्बन्धिविशेषयोजनान्तर्गतं विश्वविद्यालयानुदानायोगतः प्राप्तेन वित्तीयसाहाय्येन प्रकाशिता]

प्राप्तिस्थानम्—
प्रकाशनविभागः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी–२२१००२

प्रथमं संस्करणम् : ५०० प्रतिरूपाणि
मूल्यम् : १२०-०० रूप्यकाणि

मुद्रकः—
महावीर प्रेस,
भेलूपुर, वाराणसी ।

Foreword

A Scheme for the publication of rare texts and invaluable manuscripts by the University's Sarasvati Bhavana Library was submitted to the University Grants Commission, under the Fifth Five Year Plan. Although the Visiting Committee, appointed by the U G C, took sometime to examine the proposal, the U G C did realise its importance and accorded necessary sanction, for which acknowledgement is gratefully made.

This edition of the *Sātvata Saṁhitā* with commentary, edited by Shri Vraja Vallabha Dwivedi, is presented under the aforementioned scheme under the care of Shri Lashmi Narayan Tiwarı, Librarian of the Sarasvati Bhavan Library.

The editor has prepared a critical edition of the Saṁhitā text with the help of five manuscripts and the commentary with the help of three manuscripts, and by adding several appendices at the end.

An attempt has been made in the Introduction to dispel the doubts raised by the Western scholars regarding the form and antiquity of the *Sātvata Saṁhitā*. It has been established that among the available *Saṁhitās* of the *Pāñcarātra* (Vaiṣṇava) *Āgama*, this is the oldest. Besides, examining the time and place etc. of the commentator Alaśiṅga Bhaṭṭa, relevant research materials on the authors and the works referred in the commentary have been provided.

The scholars have so far studied the *Pāñcarātra* philosophy as expounded in the *Ahirbudhnya Saṁhita*, *Jayākhya Saṁhitā* and *Lakṣmī Tantra*. It has been more or less taken for granted that in the *Sātvata Saṁhitā* there is nothing on philosophy and Yoga. To dispel this wrong notion, the learned editor has discussed at length the philosophy and Yoga expounded in this *Saṁhitā*. Here the three-fold form of Parabrahman has been described. This has been the basic positoin of the later Vaiṣṇava philosophy. It is only here that for the first time the description of the 39 forms of Vibhava Devatās has been given. The other *Saṁhitās* have followed it. In "*Lokanāthas tu śāntātmā*" (9/81), only one Vibhava Devatā is described. But, to complete the number 39 of the Vibhava Devatās Lokanātha and Śāntātmā have been considered as two separate Devatās. This errone-

ous conception persisting in the *Pāñcarātra Āgama* has also been dispelled here. In fact, by accommodating Viśākhayūpa in the list, according to the method employed by the commentator, this number is completed.

In chapters IX and X of the present *Saṁhitā*, there is a description of 24 Bhavopakaraṇa Devatās and ten Siddhas. These are the Maṇḍala Devatās. The names of Upendra, Duratikrama etc. of the ten Siddhas are listed in Viṣṇusahasranāma. On this the commentaries by Ācārya Śaṅkara and Parāśara Bhaṭṭa are available. But, in the explanation of these names this subject of the *Sātvata Saṁhitā* is nowhere mentioned. As a matter of fact, Viṣṇusahasranāma cannot be properly explained without the aid of *Sātvata Saṁhitā*.

It has been clearly explained as to how a man well-versed in Śabdabrahman becomes Parabrahman. The *Sātvata Saṁhitā* has its own special method of Yoga, and the *Samaya* rules described in the context of *dīkṣā* (initiation) have a great importance for the good of society. In his introduction Shri Dwivedi has thrown light on these points.

In the publication of these works, the University Grants Commission has not only given financial aid but has also co-operated and encouraged in various ways for which this University is deeply indebted.

15th August, 1982 **Gaurinath Sastri**

प्रस्तावना

पञ्चम पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन पुस्तकालय द्वारा दुर्लभ एवं हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रकाशन की एक महत्त्वपूर्ण योजना विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के स्वीकृत्यर्थ प्रस्तुत की गई थी। यद्यपि आयोग द्वारा नियोजित विद्वानों का निरीक्षण मंडल कुछ विलम्ब से आया, लेकिन आयोग ने इस योजना के महत्त्व को स्वीकार करते हुए अपनी स्वीकृति प्रदान की, जिसके लिये आयोग धन्यवादार्ह है।

उक्त योजना के अन्तर्गत श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा सम्पादित सभाष्य सात्वतसंहिता का यह संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। श्री लक्ष्मीनारायण तिवारी, पुस्तकालयाध्यक्ष, सरस्वती भवन पुस्तकालय, ने इसके प्रकाशन की व्यवस्था में अपना अपूर्व योगदान दिया है।

सम्पादक ने मूल ग्रन्थ का पांच हस्तलेखों और भाष्य ग्रन्थ का तीन हस्तलेखों की सहायता से संशोधन किया है और अन्त में अनेक परिशिष्टों को जोड़कर इस संस्करण को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है।

सात्वतसंहिता की प्राचीनता और उसके स्वरूप के विषय में उठाये गये पाश्चात्य विद्वानों के आक्षेपों का यहां उपोद्‌घात में सप्रमाण समाधान प्रस्तुत किया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि पाञ्चरात्र (वैष्णव) आगम की उपलब्ध संहिताओं में यही सबसे प्राचीन है। भाष्यकार अलशिङ्ग भट्ट के देश, काल आदि पर विचार करने के साथ ही यहां भाष्य में उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के विषय में भी खोजपूर्ण सामग्री दी गई है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता, जयाख्यसंहिता और लक्ष्मीतन्त्र में प्रतिपादित पाञ्चरात्र दर्शन का ही विद्वानों ने अब तक अध्ययन किया है। सात्वतसंहिता में दर्शन अथवा योग विषयक सामग्री नहीं है, प्रायः ऐसा मान लिया गया है। इस भ्रान्ति के निवारण के लिये विद्वान् सम्पादक ने इस संहिता में प्रतिपादित दर्शन और योग का विस्तार से विवेचन किया है। परब्रह्म का त्रिविध स्वरूप यहीं वर्णित है। यही परवर्ती वैष्णव दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त रहा है। ३९ विभव देवताओं का तो सर्वप्रथम यहीं विस्तार से वर्णन मिलता है। अन्य संहिताओं ने भी इसी का अनुवर्तन किया है। "लोकनाथस्तु शान्तात्मा" (९।८१) यहां एक ही विभव देवता वर्णित है। किन्तु विभव

देवताओं की ३९ संख्या पूरी करने के लिये यहां लोकनाथ और शान्तात्मा अलग-अलग देवता मान लिये गये हैं। पाञ्चरात्र आगम के अध्ययन में चली आ रही इस भ्रान्ति का भी यहां निराकरण किया गया है। वस्तुतः भाष्यकार द्वारा प्रदर्शित विधि से यहां विशाखयूप का भी समावेश करने पर यह संख्या पूरी होती है।

प्रस्तुत संहिता के ९–१० परिच्छेदों में २४ भवोपकरण देवताओं और सिद्ध-दशक का वर्णन मिलता है। ये सब मण्डल देवता हैं। उपेन्द्र, दुरतिक्रम इत्यादि सिद्ध-दशकों के नाम विष्णुसहस्रनाम में संगृहीत हैं। इस पर आचार्य शङ्कर और पराशर भट्ट विरचित भाष्य मिलते हैं। किन्तु उन नामों की व्याख्या के प्रसंग में सात्वतसंहिता के इस प्रकरण का कोई उल्लेख नहीं मिलता। वस्तुतः सात्वतसंहिता की सहायता के बिना विष्णुसहस्रनाम की सही व्याख्या हो ही नहीं सकती।

शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति कैसे परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, इस प्रक्रिया का यहां विशद विवेचन किया गया है। सात्वतसंहिता की अपनी विशिष्ट योगपद्धति है और दीक्षा के प्रसंग में वर्णित समय नामक नियमों का सामाजिक सुव्यवस्था के लिये बड़ा महत्त्व है। श्री द्विवेदी ने अपने विद्वत्तापूर्ण उपोद्‍घात में इन सब विषयों पर प्रकाश डालते हुए अन्त में अपना निष्कर्ष प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार के ग्रन्थों के प्रकाशन में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने केवल आर्थिक अनुदान ही नहीं दिया, प्रत्युत अन्य अनेक प्रकार से सहयोग एवं प्रोत्साहन भी दिया है, एतदर्थ विश्वविद्यालय हृदय से उसका आभारी है।

दि० १५–८–८२ **गौरीनाथ शास्त्री**

उपोद्घातः

सात्वतं पौष्करं जयाख्यं चेति संहितात्रयं पाञ्चरात्रागमेषु रत्नत्रयनाम्ना प्रसिद्ध्यति। तेषु जयाख्यसंहितायाः शोभनं संस्करणं वटोदर(बड़ोदा)स्थगायकवाड़शोधसंस्थानतः प्रकाशितं समुपलभ्यते। सात्वतसंहितायाः पौष्करसंहितायाश्च संस्करणे देवनागरीलिपिमुद्रिते त्रुटिपूर्णे विद्येते। शर्मण्य(जर्मन)देशीयेन विदुषा डा० श्रादरमहोदयेन अहिर्बुध्न्यसंहिताया भूमिकायां (पृ० १३) पाद्मतन्त्रस्य, लक्ष्मीतन्त्रस्य, [1]सात्वतसंहितायाश्च नूतनानां परिमार्जितानां संस्करणानां प्रकाशनावश्यकता प्रदर्शिता आसीत्। तेषु लक्ष्मीतन्त्रस्य शोभनं संस्करणम् अड्यारपुस्तकालयत एव १९५९ ई० वर्षे प्रकाशितचरम्। साम्प्रतं पाद्मतन्त्रस्यापि देवनागर-संस्करणं शोभनं मुद्र्यमाणमास्ते। इदं च सात्वतसंहितायाः संस्करणम् अलशिङ्गभट्टेन विदुषा विरचितेन भाष्येण सहितं समुपस्थाप्यते वैष्णवागमानुशीलनरुचीनां सुधीनां पुरतः।

संस्करणे उपयुक्तानां मातृकाणां परिचयः

तदेतस्य संस्करणस्य सज्जीकरणाय मूलग्रन्थस्य मुद्रितपुस्तकातिरिक्तं मातृकापञ्चकम्, भाष्यग्रन्थस्य च मातृकात्रयमुपयुक्तम्। तदयं वर्तते तासां मातृकाणां परिचयः—

मूलग्रन्थस्य

बक०—वटोदरस्थगायकवाड़शोधसंस्थानमातृका १३१०३ संख्याका, १५७ पत्रात्मिका सम्पूर्णा, तालपत्रेषु ग्रन्थाक्षरैर्लिखिता।

बख०—वटोदरस्थगायकवाड़शोधसंस्थानमातृका ६६५१ संख्याका, १०८ पत्रात्मिका सम्पूर्णा, तालपत्रेषु ग्रन्थाक्षरैर्लिखिता।

अ०—मद्रपुरीस्थ(मद्रास)अड्यारपुस्तकालयमातृका ६२१६८/TR १० K ७ दे ५३८ (१११८.१) इति संकेतिता सम्पूर्णा, तूलपत्रेषु देवनागराक्षरैर्लिखिता।

---

१. सात्वतसंहिताया नूतनपरिमार्जितसंस्करणस्यावश्यकता डा० डेनियलस्मिथमहोदयेनाप्यनुभूता (ए डिस्क्रिप्टिव बिब्लिओग्राफी आफ दी प्रिण्टेड टेक्ट्स आफ दी पाञ्चरात्रागम, भा० १, पृ० ५३४)। पौष्करसंहिताया विषयेऽपि तेन तथैवोक्तम् (तत्रैव, पृ० २९५)। त्रिरत्नेष्वेकतमायाः श्रीरङ्गक्षेत्रे मानितायाश्चास्याः संहिताया अद्यापि शोभनं संस्करणं नाभूदिति खेदावहोऽयं विषयः। पारमेश्वरसंहिता-पराशरभट्टकृतविष्णुसहस्रनामभाष्यादि-विविध-ग्रन्थसाहाय्येन कार्यमेतत्सम्पादयितुं शक्यते। यथाहि—''केशवः क्लेशहा लोके द्वैरूप्येण क्षितौ स्थितः। मथुराख्ये महाक्षेत्रे वाराणस्यामपि द्विज॥'' इत्यत्रत्य उत्तरार्धः पौष्करसंहितायां ग्रन्थस्य त्रुटितत्वान्न दृश्यते (३६।३०६)। वाराणस्यां स्मृतः केशवोऽयमादिकेशवादभिन्नः स्यात्। कृष्णमिश्रेण प्रबोधचन्द्रोदयनाटके वाराणसीवसतेरादिकेशवस्यायतनमेवं वर्ण्यते—''पश्य पश्य। तदिदं सुरसरित्परिसरालङ्कारभूतं भगवतः पावनमनादेरादिकेशवस्य विष्णोरायतनम्'' (पृ० १६१) इति।

अटी०—मद्रपुरीस्थ-अड्यारपुस्तकालयभाष्यमातृका मूलोपेता, T.R. ५१५ १–३ ४० A २० ग्र० ३९८ इति संकेतिता।

उ०—उदयपुरस्थसाहित्यसंस्थानमातृका २०० संख्याका, १–८६ पत्रात्मिका सम्पूर्णा, १४" × ७" आकारात्मिका, तूलपत्रेषु देवनागराक्षरैर्लिखिता। अत्र प्रतिपृष्ठं १४ पङ्क्तयः, प्रतिपङ्क्ति च प्रायः ४५ अक्षराणि विराजन्ते। श्लोकसंख्या ३५००, लिपिकालश्च संवत् १८१८ इति निर्दिष्टः। अत्र ग्रन्थस्य संक्षिप्ता [1]विषयसूची दृश्यते। ब्राह्मणगोपीरामेण लिखितेयं मातृका। मुखपृष्ठे "पत्र ५१ थी अध्याय एक त्रुटो छे" इति लेखदर्शनाल्लिपिकारः कश्चन गुर्जर इति प्रतीयते। अत्र "नारद पंचरात्र सात्वतसंहिता" इति ग्रन्थस्य नाम दृश्यते।

भाष्यग्रन्थस्य

अ०—मद्रपुरीस्थ-अड्यारपुस्तकालयमातृका T.R. ५६५ १–३ ४० A २० ग्र० ३९८ इति संकेतिता। अत्र भाष्येण सह मूलसंहितायाः सर्वे श्लोका अपि यथायथमानुपूर्व्या लिखिताः सन्ति।

म०—मद्रपुरीस्थराजकीयपुस्तकालय (मद्रास गवर्नमेण्ट लाइब्रेरी) मातृका R. २२७५ संख्याका सम्पूर्णा। अस्याः सरस्वतीभवनस्था १०६९०८ संख्याका १९६९ ई० वर्षीया देवनागराक्षरा प्रतिलिपिः "सात्वततन्त्रभाष्यम्" इति नाम्ना तन्त्रविभागे २६/१९० क्रमसंख्यायां स्थापिता। अत्र पृष्ठसंख्या ३५१ परिमिता, प्रतिपृष्ठं पङ्क्तयः २०, प्रतिपङ्क्ति अक्षराणि च १६ विद्यन्ते। आकारश्चास्याः १३.८" × ८.५" इति वर्तते।

ति०—तिरुपतिस्थ—वेङ्कटेश्वरशोधसंस्थानमातृका मूलोपेता, ३८६१ संख्याका सम्पूर्णा। तूलपत्रेषु ग्रन्थाक्षरैर्लिखिता ६८९ पृष्ठात्मिका। अत्र प्रतिपृष्ठं २४ पङ्क्तयः, प्रतिपङ्क्ति च २० अक्षराणि राजन्ते।

ग्रन्थसम्पादनशैली

मूलसंहिताग्रन्थस्य संस्काराय काञ्चीनगरस्थसुदर्शनमुद्रणालयतः (सुदर्शन प्रेस, कांजीवरम्) १९०३ ई० वर्षे देवनागराक्षरेषु मुद्रितस्य पुस्तकस्य प्रतिलिपिः प्रथमतो विहिता। तदनु यथायथं वटोदरस्थमातृकाद्वयतः, अड्यारमातृकातः, उदयपुरस्थमातृकातश्च पाठाः संकलिताः। अड्यारपुस्तकालयस्थभाष्यमातृकायां मूलसंहितायाः श्लोका अप्यानुपूर्व्या संनिवेशिता आसन्निति सर्वान्ते तत्रत्याः पाठा अपि संगृहीताः। मुद्रिते पुस्तके थकारस्य स्थाने धकारः, धकारस्य स्थाने थकारो बाहुल्येन दृश्यते। एवमेव कोष्ठकेषु पाठभेदाः संनि-

१. प्रद्युम्नलक्षणम्। संकर्षण लक्षणम्। पात्रस्थापनम्। स्नानासनम्। अग्निकार्यम्। पितृपिण्डसंविभागः। नमस्कारविधिः। प्रद्युम्नादिसंहारन्यासः। पद्मासनलक्षणम्। चतुर्मूर्तिध्यानम्। द्वादशाब्दव्रतम्। ब्राह्मणादिवर्णानां दाननियमव्रतम्। द्वादशाख्यव्रतम्। दामोदरव्रतम्। नारायणव्रतम्। षडङ्गव्रतहोमः। केशवादिबीजाक्षरम्। चातुर्मास्यव्रतम्। शक्तिभेदः। विभवदेवध्यानम्। पवित्रारोहणम्। पवित्रस्थापनम्। स्नानफलम्। अभिषेकविधिः। शिष्यलक्षणम्। धूपदीपनियमः। आचार्यलक्षणम्। मन्त्रोच्चारविधिः। प्रतिमालक्षणम्।

वेशिताः।[१] अनेके श्लोका अत्र परित्यक्ताः, द्वित्राश्च श्लोका अत्रत्या अन्यासु कास्वपि मातृकासु नोपलभ्यन्ते, केचन च विपर्यस्तक्रमा दृश्यन्ते। सर्वनितान् दोषान् परिहृत्य मूलश्लोकानां परिशुद्धो भाष्यानुसारी पाठः प्रायो मूले स्थापितः, अन्ये च पाठभेदाष्टिप्पणीषु संनिवेशिताः। मूलग्रन्थे मातृकासु च दृष्टाः पदच्छेदानुस्वारपरसवर्णादीनां सामान्या अशुद्धयोऽत्र पाठभेदेष्वनावश्यिका इति नैव संयोजिताः। विभिन्नमातृकाणामवधेयं वैशिष्टयं टिप्पणीषु निर्दशितम्। उदयपुरमातृकायाम् अड्यारमातृकायां च प्रायः समानाः पाठा उपलभ्यन्ते। एवमेव मुद्रितग्रन्थस्य अटी०मातृकया बाहुल्येन साम्यं दृश्यते। सात्वतसंहिताया अनेके श्लोका आनुपूर्व्या ईश्वरसंहितायां परमेश्वरसंहितायां चोपलभ्यन्ते। एतयोः साहाय्येनापि सात्वतसंहितायाः पाठः संशोधनीय आसीत्। तत्तु कर्तुं नापार्यतेति क्षन्तव्या वयम्।

भाष्यग्रन्थस्य संस्काराय मातृकाद्वयमेव प्राधान्येन साहायकमासीत्। ग्रन्थसम्पादनवेलायां तिरुपतिमातृकाया अनुपलम्भात् प्रायः सम्पूर्णस्य ग्रन्थस्य मुद्रणानन्तरमेव तदुपलब्धेस्तत्रत्या विशिष्टा मातृकाद्वयसामान्याश्च पाठाः पञ्चमषष्ठयोः परिशिष्टयोः स्थापिताः। नित्याषोडशिकार्णवे समाश्रिता ग्रन्थसम्पादनशैली प्रायोऽत्राप्यादृता। संदिग्धानि प्रायः सर्वाणि स्थलानि संशोध्यैवात्र स्थापितानि। मातृकयोरुपलब्धः संदिग्धः पाठः प्रश्नचिह्नेनाङ्कयित्वा यथावदेव परित्यक्तः। उद्धरणानां स्थलनिर्देशे यथामति आयस्तम्, मूलस्थलपरिशुद्धाः पाठाश्चात्र मूले, पाठभेदास्तु मु० इति संकेतेन ग्रन्थाद्याक्षरसंकेतेन वा टिप्पणीषु संनिवेशिताः।

तेलुगुप्रभृतिदक्षिणभारतीयलिप्यनभिज्ञत्वाद्वा ग्रन्थस्यानुपलम्भाद्वा कपिञ्जलसंहितापाद्मसंहिता-आदित्यपुराणसदृशानां ग्रन्थानामुद्धरणस्थलनिर्देशो नात्र विहितः। ब्रह्माण्डपुराण-गरुडपुराण-भागवत-महाभारत-पारमेश्वरसंहितानाम्ना निर्दिष्टानि कानिचन वचनानि कृतेऽपि प्रयत्ने तेषु तेषु ग्रन्थेषु नोपलब्धानि, यद्यपि वेदान्तदेशिकप्रभृतिभिरपि[२] सच्चरित्र-

१. एतत्परिज्ञानार्थमत्र २९, १४८, १५३, १६९, २२४, २४०, २६६, २७४, २९४, २९७, ३३८, ४१०, ४१५, ४३८, ४४६, ४७६, ४७८, ५०२, ५०५, ५२३-५२५, ५२७, ५३३, ५४७ पृष्ठस्थाष्टिप्पण्योऽवलोकनीयाः। ५१० पृष्ठस्थं यातुधानेत्यादिकं पङ्क्तिचतुष्टयमपि मुद्रिते पुस्तके नास्ति। तप्ताभ्यां शङ्खचक्राभ्यामित्यादिको मुद्रितपुस्तकस्थः (४१० पृष्ठस्था टिप्पणी द्रष्टव्या) श्लोको यदि प्रक्षिप्तो न स्यात्तदाऽयं चक्राङ्कनादिसमर्थनावसरे (पृ० ३८४-३८६) भाष्यकारेणावश्यमेवोद्धृतः स्यात्।

२. वेदान्तदेशिकसदृशैर्विद्वद्भिर्भागवतादिनाम्ना समुद्धृतानां वचनानां तेषु तेषु ग्रन्थेष्वनुपलम्भस्तत्र साम्प्रदायिकं प्रभावं सूचयति। भस्मना ऊर्ध्वपुण्ड्रकरणं सात्वतोक्तं समालोच्यते वेदान्तदेशिकेन सच्चरित्ररक्षायां (पृ० ६९) मृदैव वैष्णवः कुर्यादित्यादिसम्प्रदायरक्षार्थम्। एवमेव स्वमतप्रामाण्यप्रदर्शनाय तस्य वेदानुवर्तित्वख्यापनाय च प्रसिद्धेषु श्रुतिस्मृतिपुराणग्रन्थेषु स्वसम्प्रदायानुगुणानि वचनानि संनिवेश्यन्ते कल्प्यन्ते वा। सम्पूर्णस्य भारतीयस्य वाङ्मयस्य प्रामाण्ये समाने स्वीकृते तु दुष्प्रयत्नानामीदृशानामवसर एव न समापतेत्। तत्र परस्परं विरोधपरिहारपूर्वकं समन्वयः कालातीतानां विधीनां परित्यागश्चेति कार्यद्वयमेवावशिष्येत मनीषिणां मनीषानिकषकर्षणाय।

रक्षा-पाञ्चरात्ररक्षाप्रभृतिषु तानि तत्रत्यान्येव निर्दिष्टानि। "एवमेकदिनम्" (पृ० १४०-१४१) इत्यादयो वङ्गिवंशेश्वरविरचिताह्निककारिकाश्लोकाः सच्चरित्ररक्षायां नोदाहृताः, अपि तु पाञ्चरात्ररक्षायां (पृ० १७७) दृश्यन्ते। कृतेऽपि प्रयत्ने केषाञ्चन वचनानां स्थलनिर्देशो नैव कर्तुमपार्यत सम्पादनवेलायामिति तादृशानि वचनान्यत्र तृतीये परिशिष्टे संनिवेशितानि। एतेषु कानिचन पश्चादुपलब्धेन स्पष्टेन स्थलनिर्देशेन, अन्यानि च संभावनाप्रदर्शनमुखेन टिप्पणीषु समायोजितानि। तेषु च "करशुद्धिसमोपेतम्" (२।१०९) इति २१ संख्याकमुद्धरणं पारमेश्वरसंहितायामेवोपलब्धम्। "गुरुदेवाग्निविप्रेषु पृष्ठभागं न दर्शयेत्" (पृ० ५३१) इत्येतदनुकारः श्लोकः—"पश्चाद्भागेन निर्गच्छेद् देवाग्निगुरुसन्निधौ" (६।३६९) इत्येवं पारमेश्वरसंहितायां दृश्यते।

एवमेव संहिताया भाष्यस्य च पूर्वापरभागसूचकानां वाक्यानामपि स्थलनिर्देशो यथायथं विहितेऽपि कानिचन वाक्यानि तथा कर्तुं नापार्यन्त। यथा—"गोमात्रातिलमात्रयोः कालभेदमत्रैव वक्ष्यति" (पृ० ८१) इति। एष च विषयः सात्वतसंहितायां ७।५०-५२ इत्यत्र प्रतिपादितो दृश्यते। अपरं वाक्यं वर्तते—"जयाख्यपारमेश्वरयोः परितः कुम्भानां केवलकूर्चेष्वेव लोकपालार्चनमुक्तम्"(पृ० ९२) इति। एष च विषयो जयाख्यायाम् (१५।८४-८५), पारमेश्वरायां (७।७०) च दृश्यते। सहस्रनामभाष्ये (पृ० १८६) यद्यपि वेदविच्छब्दस्य वेदव्यासोऽर्थो न दृश्यते कुत्रापि, तथापि—"भगवान् हि वेदाचार्यः कृष्णद्वैपायनः परमाप्ततमः" (पृ० ३-४) इति हि तत्र दृश्यते। बिम्बार्चनप्रकरणं चात्रत्यः षष्ठः परिच्छेद एव, तत्रैव भाष्योक्तदिशा मानसार्चनात् पूर्वं करशुद्ध्यादीनां प्रतिपादितत्वात्। एवमेव गणेशपदस्य विनायकोऽर्थो भाष्ये (पृ० २९९) निर्दिष्टो लक्ष्मीतन्त्रे (२०।५०), पारमेश्वरे (८।१५३), जयाख्यायां[1] च (२२।१) दृश्यते। चतुःस्थानार्चनशब्दोऽस्यां संहितायां भाष्येऽन्यासु च संहितासु प्रयुक्तो वर्तते। तस्य च व्याख्यानं सात्वतायामेव दृश्यते। तद्यथा—

तीर्थमध्ये स्वहृत्पद्मे बिम्बे वेद्यां स्थले तु वा।
वह्निगर्भे तु निर्धूमे नित्यमस्मिंश्चतुष्टये॥
मन्त्राणामर्चनं कुर्यात् सिद्ध्यर्थमपि मुक्तये।
सजलाञ्जलिपूरैस्तु तीर्थेऽथ हृदयाम्बुजे॥
भावनामृतजैर्भोगैर्मूर्तैरर्घ्यादिकैर्बहिः।
[2]समित्सप्तकपूर्वैस्तु साज्यैर्वह्निगतं तिलैः॥ इति[3]।

---

१. जयाख्यायां प्रथमतो गणेशो विघ्नेशपदेनोक्तः। तथाहि तत्र सप्तमे पटले (३९-४७ श्लोकेषु) विघ्नेशस्य मन्त्रो ध्यानं च वर्णितम्, अष्टमे (८९-९३ श्लोकेषु) गणेश्वरस्य मुद्रा प्रदर्शिता। द्वात्रिंशे च पटले (१-३६) विनायकपदेनैव तस्य मन्त्रसाधनप्रकारो मण्डलादिकं च वर्ण्यते।

२. "समिधां सप्तकं समित्-पुष्प-धूप-मधुपर्क-बीज-चरु-घृतानीत्यर्थः" (पृ० ९९) इति भाष्यकारोऽलशिङ्गभट्टः।

३. सात्वतसंहिता (१०।४४-४७) द्रष्टव्या।

एवं यथाकथञ्चिदुपर्युक्तेषु स्थलेष्वाकरस्थलनिर्देशः कृतः, अथापि वाक्यद्वयमधुनाऽप्यवशिष्यते स्थलनिर्देशसाकाङ्क्षम् । तद्यथा—"षडध्वमोचनान्तस्यैव कर्मणो दीक्षाभिधेयत्वं [1]जयाख्यलक्ष्मीतन्त्रादिषु" (पृ० ४०५) इति, "अत एवेश्वरपारमेश्वरयोर्व्यापकमन्त्रेणैवार्चने उक्तेऽपि तत्तद्दिव्यदेशस्थितमूर्तिध्यानमेव प्रतिपादितम्" (पृ० ४०९) इति च ।

तदेतेषामनिर्दिष्टस्थलानामुद्धरणानां वाक्यानां च स्थलनिर्देशमन्यासां त्रुटीनां [2]परिमार्जनं च सूचयन्त्विति शास्त्रेषु कृतभूरिपरिश्रमा विद्वांसः प्रार्थ्यन्ते, येन हि भाविनि संस्करणे सर्वमेतत् संगृहीतं स्यात् ।

अथात्र सात्वतसंहितायाः, भाष्यस्य, तदुद्धृतग्रन्थग्रन्थकाराणां च विषये किमप्युच्यते ।

सात्वतसंहिता

"रत्नत्रयमिति प्रथितासु सात्वत-पौष्कर-जयाख्याभिधानासु तिसृषु संहितास्वन्यतमेयं सात्वतसंहिता भगवतो वासुदेवस्य संकर्षणस्य च संवादरूपा ।"""यामेवोद्दिश्य महाभारते कुरुपितामहो ज्ञानवृद्धो भीष्म एवं प्राह—

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः ।
अर्चनीयश्च सेव्यश्च कीर्तनीयश्च सर्वदा ॥
सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यः ।
द्वापरस्य युगस्यान्त आदौ कलियुगस्य च ॥"[3] इति ।

इति हि सात्वतसंहिताभूमिकायां (पृ० १) तत्सम्पादकः श्रीमान् अनन्ताचार्यः प्रतिपादितवान् । डा० श्रादरमहोदयस्तन्नाङ्गीकरोति । "द्वापरवेलायाम्" (१।७१), "द्वापरसन्ध्यंशे" (१।७३), "प्राप्तं संकर्षणात्" (२।४) इत्यहिर्बुध्न्यसंहितावचनैस्तत्राप्येतद् महाभारतवचनं संगमयितुं शक्यत इति स वदति । अपि च, संकर्षणसंहिताऽपि स्वतन्त्रा समुपलभ्यते, या हि वेदान्तदेशिकेन पाञ्चरात्ररक्षायां (पृ० ११५) [4]स्मृतेति । अत्रोच्यते—सात्वतसंहिता हि हलिना प्रार्थितेन भगवता चक्रपाणिना साक्षात् तस्मै समुपदिष्टा, तेन च सा लोके प्रचारितेत्यस्या एव प्राधान्यं मन्तव्यम् । अहिर्बुध्न्यसंहिता तु न भगवता साक्षात् समुपदिष्टा, अपि तु संकर्षणादहिर्बुध्न्येनोपलब्धा । अत्र (५।५९) सात्वतसंहिता स्मर्यत इति हि स्वयमेव स्वीकरोति डा० श्रादरमहोदयः[5] । सात्वतविधीनां सर्वाङ्गपूर्णं संक्षिप्तं[6] च विवेचनं सात्वतसंहितायां विहितम् । तेनापि तस्या एव प्राचीनत्वं वैशिष्ट्यं चापि ख्याप्यते ।

१. जयाख्यायां षोडशे पटले, लक्ष्मीतन्त्रे चैकचत्वारिंशेऽध्याये दीक्षाविधानं वर्तते ।

२. अत्र भाष्ये (पृ० ६४, प० १६) पिञ्जुलेन पिञ्जीलेन—इति वा दृश्यते । पारमेश्वरे (२।८३) तु पुञ्जील इति वर्तते । एष एव शुद्धः पाठः स्यात् ।

३. महाभारते भीष्मपर्वणि (६६।३९-४०) श्लोकद्वयमेतत् सूक्ष्मेण पाठविपर्ययेण सह दृश्यते ।

४. इण्ट्रोडक्शन टू दि पांचरात्र एण्ड दि अहिर्बुध्न्यसंहिता, पृ० १५-१६ ।

५. तत्रैव, पृ० २० ।

६. "सर्वसंहितासारभूते श्रीसात्वते" (पृ० ४३), "भगवच्छास्त्रसारभूते श्रीसात्वते" (पृ०७९) इति सच्चरित्ररक्षायां वेदान्तदेशिकाचार्यः प्रतिपादयति ।

अपरं च, सात्वतसंहितायां (९।१३३) पौष्करं वाराहं प्राजापत्यं (ब्राह्मं) चेति संहितात्रयं स्मर्यत इति स वदति[१]। तदपि न साधु। अयं हि वर्तते तत्रत्यः पाठः—

यः स्थितस्त्रिविधे सर्गे विभवः पारमेश्वरः।
पौष्कराख्ये च वाराहे प्राजापत्ये महामते ॥[२]

एवं चात्र त्रिविधः सर्गः प्रतिपादितः, न तु संहितात्रयम्। एष त्रिविधः सर्गो भागवतोद्धरणपुरस्सरमत्र व्याख्यातः श्रीमताऽलशिङ्गभट्टेन (पृ० १९८-१९९)। तथा च प्राचीनसंहिताकालक्रमनिर्धारणवेलायां[3] स्थापितमेतन्नामत्रयमलीकप्रायमिति सात्वतसंहितैव प्राचीनतमा सिद्धचति।

किञ्च, स्पन्दप्रदीपिकाकारेण उत्पलवैष्णवेन स्मृता श्रीसात्वता न कस्यचन ग्रन्थस्य नाम, अपि तु "श्रीसात्वताः"[४] इति तन्निर्देशेन सात्वतसम्प्रदायानुयायिनस्तदर्थ इति तस्याभिप्रेतम्। तदपि न विचारचारु। उत्पलवैष्णवेन हि श्रीकालपरा, श्रीपौष्करा, श्रीवैहायसी—इत्येतेषु[५] स्थलेषु यथा तत्तन्नामिकाः संहिताः स्मृताः, तथैवाऽत्रापि 'श्रीसात्वता' इति पदेन सात्वतसंहितैव स्मर्यते। 'श्रीसात्वताः' इति पाठस्तत्र नास्त्येव। स्पन्दप्रदीपिकायां तस्मिन् प्रकरणे द्वौ श्लोकौ [६]समुद्धृतौ। तयोः प्रथमः सात्वतसंहितायां (१८।१२८) स्वल्पेन पाठभेदेन सह समुपलभ्यते। द्वितीयः श्लोकस्तत्र न दृश्यते। एष च श्लोकः सात्वताया एव, अन्यस्य वा कस्यचन ग्रन्थस्येति साम्प्रतं वक्तुं न शक्यते। तथापि सात्वतायाः प्रथमश्लोकस्य सात्वतसंहितायां समुपलम्भात् स्पन्दप्रदीपिकाकारेण उत्पलवैष्णवेन रत्नत्रयनाम्ना प्रसिद्धं संहितात्रयमपि स्वकीये[७] ग्रन्थे स्मृतमिति स्पष्टं वक्तुं शक्यते।

संहितास्वेतासु सात्वतं पौष्करं जयाख्यं चेति क्रमः[८] संदृश्यते। क्रमेणानेनापि सात्वतैव प्राचीनतमेति सिद्धचति। "तन्त्राणि सात्वतादीनि" (१।६४) इति पारमेश्वरवचनमपि सात्वतसंहिताया एव प्राथम्यं प्रकटयति। स्थूणानिखनन्यायेन तदेतस्य विषयस्य दाढर्चाय पुनरत्रो-

---

१. तत्रैव, पृ० २०; डा० एच० डेनियलस्मिथमहोदयोऽप्येवमेवाह (ए डिस्क्रिप्टिव बिब्लिओग्राफी आफ दि पाञ्चरात्रागम, भा० १, पृ० ५३५)।

२. सात्वतसंहिता (९।१३२-१३३) तत्रत्यं भाष्यं च द्रष्टव्यम्।

३. तत्रैव, पृ० २०।

४. तत्रैव, पृ० १८।

५. स्पन्दप्रदीपिका (पृ० १०९, ८५, १०९) द्रष्टव्या।

६. तथा च श्रीसात्वता—"अज्ञता व्यापकत्वं च सुखदुःखादिवेदनम्। सर्वज्ञस्याऽत्मतत्त्वस्य कर्मचक्रावलम्बनात् ॥ गतिस्त्वेषा प्रकृत्याख्या शुद्धिः प्राक्कर्मवासना। मायाऽविद्या भ्रमो मोहोऽज्ञानं मलमिति क्वचित् ॥" (पृ० ९८) इति।

७. स्पन्दप्रदीपिकायां सात्वता (पृ० ९८), पौष्करा (पृ० ८५), जयाख्या च (पृ० ८९, ९१, ११०, १२७) पृष्ठेषु स्मर्यन्ते।

८. ईश्वरसंहिता (१।६४) द्रष्टव्या।

च्यते—सात्वतायां विभवदेवानां नामानि ध्यानानि च निर्दिष्टानि, पौष्करायां (३६ अध्याये) तेषामवतारस्थलान्यपि वर्णितानि । तेन पौष्करसंहिता सात्वतसंहिताया न्यूनतामेनां पूरयन्तीव दृश्यते । "सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्" (१।२५) इति सात्वतवचनं जयाख्यायामपि (४।६३) दृश्यते स्वल्पेन पाठभेदेन सह । तदेतद्वचनं तत्रैव (४।७६-८२) सार्द्धैः षड्भिः श्लोकैर्वितत्य विवृतम् । एवमेव "अकाराद्यो विसर्गान्तः सौरश्चान्द्रः कलागणः" (२।१७) इति सात्वतवचनं जयाख्या (६।१३-१७) सार्धैश्चतुर्भिः श्लोकैः स्पष्टयति । एवं सात्वतश्लोकान् व्याकुर्वती जयाख्या सात्वतातः पश्चात्तनीत्यनुमातुं शक्यते । सात्वतविवरणात्मकान्यन्यान्यपि प्रकरणानि पौष्करायां जयाख्यायां च दृश्यन्ते । तानि च यथायथमत्र मूले टिप्पणीषु च निर्देक्ष्यन्ते । तेन पौष्करजयाख्ये सात्वताया उपबृंहिके इति वयं भणामः ।

किञ्च, पातञ्जले महाभाष्ये—"अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्" (३।३।११) इत्येवं स्मृता प्राचीना मध्यमिका नगरी साम्प्रतं राजस्थानराज्ये चित्रकूट(चित्तौड़)दुर्गं निकषा घोसुण्डीनाम्ना प्रसिद्धा । अत्रासीन्नारायणवाटिका सशिलाप्राकारा कदाचित्, या हि पाराशरिपुत्रेण गाजायनेन वासुदेवसंकर्षणाभ्यां[1] समर्पिता । सात्वतायाम्—"यः सप्राकारमारामं सम्प्रयच्छति वै विभोः । नानापुष्पफलोपेतं वापीद्रुमसमाकुलम् ।। साब्जतोयाशयोपेतं मारखङ्गसमन्वितम् । स नन्दनवने भोगान् भुक्त्वा यात्यच्युतालयम् ।।" (२५।३६६-३६७) इत्येवं फलश्रुतिपूर्वकं तत्समर्पणं निर्दिष्टम् । घोसुण्डीशिलालेखेन सात्वतोक्तस्यास्य विधानस्य प्राचीनता सुतरां सिद्धयति ।

एवमैतिहासिकदृष्ट्या पर्यालोचने कृते सात्वतसंहितैव प्राचीनतमेति सिद्धयति, तथापि साम्प्रदायिकानां सर्वास्वपि समान एव आदरो दरीदृश्यते । तथा चेश्वरसंहितायाम्—

एतत्तन्त्रत्रयोक्तेन विधिना यादवाचले ।
श्रीरङ्गे हस्तिशैले च क्रमात् संपूज्यते हरिः ।। (१।६७) इति ।

एवं च यादवाचले सात्वतविधिना, श्रीरङ्गे पौष्कराख्यया, हस्तिशैले च जयाख्यपद्धत्या हरिः संपूज्यत इति स्थानभेदेन सर्वासामेवाप्रतिहतं समानं च प्रामाण्यम् । कालपर्ययात् सात्वतनिष्ठैरीश्वरसंहिता, पौष्करनिष्ठैः पारमेश्वरसंहिता, जयानिष्ठैश्च पाद्मसंहिता सबहुमानमादृता । "सात्वतोपबृंहणे ईश्वरे" (पृ० २१, ४११) इति, "पारमेश्वरे तु सुदर्शननारसिंहप्रकरणे (२३।७२–७८) पौष्करोक्त(३६।१४५–१६८)क्रमं विहायाऽहिर्बुध्न्यसंहितोक्तरीत्या[2] केशवादीनां वर्णभेदा उक्ताः । तत्रापि तथा ध्यानं यन्त्रमात्रविषयम् । अन्यत्र पौष्करोक्तध्यानमेव सार्वत्रिकं ग्राह्यम्, पौष्करोपबृंहकत्वात्" (पृ० १५२) इति च वदन् भाष्यकारोऽलशिङ्गभट्टोऽपि सात्वतोपबृंहिका ईश्वरसंहिता, पौष्करोपबृंहिका च पारमेश्वरसंहितेति स्पष्टं प्रतिपादयति । पाद्मसंहिताविषयेऽनेन किमपि नोक्तम्, तथापि "जयाख्येनाथ पाद्मेन तन्त्रेण सहितेन वै"

---

१. "एपिग्राफिया इण्डिका, भा० १०, परिशिष्ट पृ० २" इत्यत्र प्रकाशितमस्य शिलालेखस्य विवरणम् ।

२. अहिर्बुध्न्यसंहितायामेष विषयः षड्विंशेऽध्याये ३३-४६ श्लोकेषु वर्तते ।

(१।१११) इति जयाख्यसंहिताधृताधिकपाठेन जयाख्योपबृंहिका पाद्मसंहितेति सिद्धचति। "सात्वतोपबृंहकलक्ष्मीतन्त्रविरुद्धम्" (पृ० ७१, २५५) इति वदन् स लक्ष्मीतन्त्रमपि सात्वतोपबृंहकं मनुते। अनुपदमेवोक्ते १५२ पृष्ठस्थे उद्धरणे पौष्करनिष्ठानामहिर्बुध्न्यक्रमेऽरुचिं प्रदर्शयन्, "जितन्ताख्यमन्त्रव्याख्यानमहिर्बुध्न्यसंहितायामुक्तम्" (पृ० १२८) इति वदंश्च स अहिर्बुध्न्यसंहितामपि सात्वतोपबृंहिकामेव मनुते। पारमेश्वरसंहिता पौष्करोपबृंहिकेति तत्र तत्र तस्यां संहितायामपि दृश्यते, तथापि भाष्यकारस्तामपि सात्वतोपबृंहिकां नैकेषु स्थलेषु (पृ० २४, ५९, ६१, ६९, ७९, ९६, ४३४) वदति। ईश्वरपारमेश्वरयोः[1] समानानुपूर्वीकाः परःशतं श्लोकाश्च दरीदृश्यन्ते। एवमेव—"सात्वतोपबृंहणे ईश्वरे" (७।१४७-१४९), "सुदर्शनार्चनप्रकरणे जयाख्योक्तो भोगदानमन्त्रः संगृहीतः" (पृ० ३२), "पुष्पताडनाद्यष्टविधसंस्कारा जयाख्योक्ता ईश्वरपारमेश्वरयोः संगृहीताः" (पृ० ८७), "अन्ये षड्विधसंस्काराश्च जयाख्योक्ता ईश्वरतन्त्रे संगृहीताः" (पृ० ९३), "स्रुक्स्रुवाधिदेवतास्तन्मन्त्राश्च जयाख्योक्ता ईश्वरपारमेश्वरयोरेव संगृहीताः" (पृ० ९४), "क्ष्मापरिग्रहादिकं पौष्करे विस्तरेणोक्तमत्रापेक्षितम्। अत एवेश्वरतन्त्रे तत्संगृहीतम्" (पृ० ४७९) इति वदन् स सर्वासामासां संहितानां परस्परापेक्षितत्वं ख्यापयति। अनुक्तमन्यतो ग्राह्यमिति हि न्यायोऽत्र प्रवर्तते। सर्वेषामेतेषां प्रकरणानां पर्यालोचनेनापि पौष्करजयाख्ययोः सात्वतोपबृंहकत्वमेवेति त्रिष्वप्येतासु संहितासु सात्वतैव प्राचीना सिद्धचति।

अपि च, "तृतीयं ऋषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः। तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः॥"[2] (१।३।८) इति भागवतपद्ये नारदावतारप्रसङ्गे सात्वततन्त्रं स्मर्यते। प्रायः सर्वे टीकाकाराः सात्वततन्त्रं पाञ्चरात्रशास्त्रमिति व्याकुर्वते। सात्वततन्त्रापराभिधा सात्वतसंहिता नारदेनैव ऋषिभ्य उपदिष्टेति तस्या एवात्र परिग्रहो युक्त इत्येतेनापि सात्वतसंहिताया वैशिष्टचं राजतेतराम्।

भाष्यकारोऽलशिङ्गभट्टः

प्रतिपरिच्छेदसमाप्तौ—"श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन" इत्येवं स्वपरिचयं ददाति स्वयं भाष्यकारः।

---

१. ईश्वरपारमेश्वरयोः समानानि भूयांसि वचनान्यत्र स्थलनिर्देशेन संयोजितानि। तेनैषा समानानुपूर्वी ज्ञातुं शक्यते। ईश्वरसंहिताव्याख्यानसम्पादकेन श्रीमता के० वी० स्वामीनाथन्महोदयेन स्थलान्येतादृशानि सर्वाणि संगृहीतानीति नास्माभिरत्र प्रयासो विहितः।

२. "क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः" इति भावार्थदीपिकाकारवंशीधरोद्धृतवचनानुसारं सर्वे क्रियायोगाः संसृतिहेतवो भवन्ति। किन्तु भागवतीयमिदं वचनं कर्मणामपि मोक्षप्रदत्वप्रतिपादकम्। तथा हि श्रीधरः—"कर्मणामेव मोचकत्वं यतो भवति तदाचष्टेत्यर्थः" इति भागवतीयमिदं वचनं व्याख्याति। "कर्मणां मोक्षसाधनत्वम्" इति पदरत्नावलीकारो विजयध्वजः। "भगवत्सेवापरत्वेन मोचकत्वमेव भवति" इति च गिरिधरो बालप्रबोधिनीकारः।

मङ्गलाचरणे च यादवशैलाग्रशेखरं योगानन्दनृसिंहाख्यं दैवतं तेन पर्युपास्यते। यदुगिरिर्यादवशैलो वा साम्प्रतिके कर्णाटकराज्ये 'मेलकोटे' इति नाम्ना प्रसिद्ध्यति। यादवाचलेशो भगवान् सात्वतोक्तविधिना पूज्यत इत्युक्तमेव। एवं च सात्वततन्त्रभाष्यकारोऽयमलशिङ्गभट्टो यदुगिरीशचरणकमलार्चकत्वेन स्वात्मानं ख्यापयति। मौञ्ज्यायनकुलतिलकोऽयं योगानन्दभट्टाचार्यस्य नृसिंहापरनामधेयस्य सूनुरित्यप्युक्ताभ्यामुद्धरणाभ्यां सिद्ध्यति। "मौञ्ज्यायनगोत्राय नृसिंहशर्मणे पुरुषरूपिणे पित्रे इदं तिलोदकं ददामि" (पृ० १०५) इत्युक्त्यापि सोऽयमर्थः प्रसिद्ध्यति। इदमपि च ज्ञायते यदिदानीं भाष्यकारस्य पितृचरणाः श्वेतद्वीपनिवासिनोऽभूवन्निति।

सात्वततन्त्रभाष्यातिरिक्तमलशिङ्गभट्टेन ईश्वरसंहिताव्याख्यानमपि व्यरचि। स्थलद्वये (पृ० १०८, २४८) तस्यात्र स्मरणात् सात्वतसंहिताभाष्यात् पूर्वं तद्रचितम्। ईश्वरसंहिताव्याख्यानसमाप्तौ तेन स्वात्मपरिचयः किञ्चिद्विस्तरेण प्रदत्तः। तद्यथा—"श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य भगवच्छास्त्रपारीणस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन श्रीयदुगिरिनायकयम्मण्यम्बागर्भसम्भवेन नारायणसंयमीश्वरकटाक्षाभिवृद्धबोधेन [1]सरसकविशार्दूलेन यदुकुलपयःपारावारपूर्णचन्द्रश्रीकृष्णराजसार्वभौमसभामध्यसम्प्राप्तश्वेतच्छत्रोभयचामरान्दोलिकामुक्तासारमणिकुण्डलहेमोपवीतविद्वद्वलयाद्यनेकबिरुदावलिनाऽलशिङ्गभट्टेन विरचितायां सात्वतार्थप्रकाशिकायामीश्वरतन्त्रव्याख्यायां पञ्चविंशोऽध्यायः।

शालिवाहशकाब्दानां षट्पञ्चाशत्समुत्तरे।
ससप्तशतसाहस्रे गते मन्मथवत्सरे॥
वृश्चिकाद्धनुषस्थानं श्वो गमिष्यति भास्करे।
कृष्णाष्टम्यां भानुवारे दिवा प्रथमयामतः॥
योगानन्दनृसिंहस्य कृपापूर्णकटाक्षतः।
सम्पूर्णेयं खलु व्याख्या सात्वतार्थप्रकाशिका॥"[2] इति।

अनेनोद्धरणेन भाष्यकारस्य मातुर्गुरोश्च नामनी ज्ञायेते। स सरसकविशार्दूलः कृष्णराजसभायां लब्धसमादरश्चासीत्। तेन १७५६ शकाब्दे (१८३४ ई० वर्षे) सात्वतार्थप्रकाशिकाख्या ईश्वरसंहिताव्याख्या निर्दिष्टे दिने सम्पूरितेति च। एवं च नातीव प्राचीनोऽयं भाष्यकार इति सुधीभिर्विभावनीयम्।

नूतनबृहत्सूची(न्यू कैटलागस कैटलागरम्, भा० १, पृ० ३००, मद्रास)दर्शनेन ज्ञायते यदनेन १८२८ ई० वर्षे यतिराजशतकम्, १८३६ ई० वर्षे च वज्रमुकुटीविलासचम्पूर्विरचिता, यतिराजविजयव्याख्या, सम्प्रदायप्रदीपिका चाप्यस्य कृती स्तः। सात्वतामृतसारोऽप्यनेन रचित इति अड्यारपुस्तकालयसूचीतो[3] ज्ञायते। मद्रासराजकीयग्रन्थालयसूच्यामेष[4]

---

१. वज्रमुकुटीविलासचम्पूरनेन रचितेति विशेषणस्यास्य सार्थक्यं सिद्ध्यति।

२. उद्धरणमेतदस्माभिरीश्वरसंहिताव्याख्यानस्य सम्पादितपाण्डुलिपितः श्री के० वी० स्वामीनाथन्महोदयानुमत्या संगृहीतम्।

३. अल्फाबेटिकल०, पृ० १४२।

४. अल्फाबेटिकल०, पृ० ८७७।

ग्रन्थस्तत्पितुर्योगानन्दस्य कृतित्वेनोपन्यस्तः । एवं च सप्त षड् वा ग्रन्था अनेन रचिता इति ज्ञेयम् । सात्वतसंहिताभाष्यमिदमस्य सर्वान्ते लिखितो ग्रन्थः प्रतीयते ।

भाष्यकारः स्वकीये भाष्ये कर्म-ज्ञान-भक्ति-प्रपत्तिनाम्नां चतुर्विधानां भगवत्प्राप्त्युपायानां मध्ये प्रथमस्य कर्मयोगस्याभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगात्मककर्मविचारस्य, परव्यूहविभवात्मकब्रह्मविचारस्य च सार्वात्म्येन विशदं स्वरूपमुपवर्णितवानिति तदीयग्रन्थदर्शनेन बाढं सिद्ध्यति। भक्तिप्रपत्त्योरप्यनुषङ्गतोऽत्र वर्णनं विद्यते। निवृत्तिलक्षणः प्रवृत्तिलक्षणश्च धर्मो भवति। तत्र सात्वतो हि क्रियामार्गः[1]प्रवृत्तिलक्षणः । "प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः" (३४७।८३) इत्येवं हि महाभारते नारायणीयोपाख्याने प्रतिपाद्यते। क्रियामार्गोऽयं ज्ञानस्य भक्तेश्च साहाय्येन प्रपत्तौ परिणमते, भोगमोक्षयोश्च सम्पादक इति हि एकान्तिनो भागवता मन्यन्ते। नारायणीयोपाख्याने, भगवद्गीतासु, सात्वतादिपाञ्चरात्रसंहितासु च तदेव वर्ण्यत इति सात्वतसंहिताव्याख्यानमुखेन भाष्यकारः सुष्ठु प्रतिपादयति ।

अलशिङ्गभट्टेन प्रसक्त्यानुप्रसक्त्याऽन्येऽपि केचन महत्त्वपूर्णा विषयाः समुपस्थापिताः । तथाहि प्रथमे परिच्छेदे तेन पर-व्यूह-विभवाख्यस्य त्रिविधस्य ब्रह्मणः स्वरूपं विष्णुसहस्रनामभाष्यकारपराशरभट्टारकपद्धत्या सुस्पष्टं विवेचितम्, लक्ष्मीतन्त्रनिर्दिष्टार्चावतारस्य चात्रैवान्तर्भावो निर्दिशितः । द्वितीये परिच्छेदे परमन्त्रविवरणावसरे षाड्गुण्यं विविच्य परवासुदेवस्य शान्तोदित-नित्योदिताख्यं दशाद्वयं गर्गकुलीनरामानुजीयमतसमालोचनपुरस्सरं साधु विवेचितम्, शब्दब्रह्मणः, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्याख्यपदचतुष्टयस्य च निष्कृष्टं स्वरूपमुपवर्णितम् ।

षष्ठे परिच्छेदे स्वार्थार्चन-परार्थार्चनविषयो जपान्तमाराधनं होमान्तं वेति विषयश्च सम्प्रदायप्रदीपिका-क्रियादीप-नित्यग्रन्थादिसाहाय्येन समालोचितो विवेचितश्च । निवेदितनिवेदनाख्यो दोषः सवन्दनाभिषेकन्यायेन सच्चरित्ररक्षापद्धत्या परिहृतः । अस्मिन्नेव परिच्छेदे भाष्यकारेण विषमप्रणामनिषेध-अनुयाग-योगादयो विषया अपि विस्तरेण व्याख्याताः । अष्टमे परिच्छेदे नारायणमूर्तिलक्षणं यादवाचलस्थनारायणमूर्तौ न लक्ष्यत इति, द्वादशकलशात्मकं त्रयोदशकलशात्मकं वा स्नपनमिति शङ्कायाश्च समाधानं विहितम्, एकादशीप्रसङ्गेन पूर्णशब्दस्यार्थो विवेचितः, चातुर्मास्यव्रतविधिश्च सुगमावबोधाय प्रयोगरूपेण निरूपितः । नवमे परिच्छेदेऽष्टत्रिंशद्विभवदेवानां पौष्करसंहिता-विष्वक्सेनसंहिता-तत्त्वत्रयव्याख्यानादिसाहाय्येन सुस्पष्टं स्वरूपमुन्मीलितम् ।

एकादशपरिच्छेदान्ते पञ्चविधकुण्डानां निर्माणप्रकारः सुखावबोधाय प्रयोगमुखेनाप्युपन्यस्तः । द्वादशे विभवदेवानां ध्यानानि पौष्करादिसाहाय्येन स्पष्टीकृतानि, वेदव्यासध्यानप्रसङ्गेन परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखर्यात्मकस्य वाक्चतुष्टयस्य स्वरूपं विवृतम्, पञ्चप्राणात्मकस्य

---

१. "तान् सात्वते क्रियामार्गे मद्वाक्याद् याहि योजय" (१।७) इति सात्वतवचनस्य अद्यावधि निवृत्तिपरायणान् मुनीन् सात्वतशास्त्रोदिते शुद्धे क्रियामार्गे प्रवृत्तिप्रवणे योजयेत्यभिप्रायो ज्ञेयः । क्रियामार्गोऽयं क्रियायोगपदेन पातञ्जलयोगसूत्रे व्याख्यातः—"तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः" (२।१) इति । अयम्—"समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च" (२।२) भवति । सात्वतप्रदर्शितोऽन्तर्यागः समाधिभावनयैव निष्पद्यत इति हि विभावनीयम् ।

सत्यादिवाहनपञ्चकस्य शक्तिसंघस्य च ध्यानादिकं व्याख्यातम् । सप्तदशे लयभोगाधिकाराख्यस्य त्रिविधस्य यागस्य साकारत्वं निराकारत्वं च विवेचितम्, शान्तिकपौष्टिकादिप्रयोगाश्च संगृहीताः । सूतक-कारिप्रदानसदृशाः प्रासङ्गिका विषया अप्यत्र विवृताः सन्ति । एकोनविंशे चक्राङ्कनादयः संस्कारा आदित्यपुराण-सिद्धान्तचन्द्रिका-महाभारत-भारद्वाजसंहितादिप्रामाण्येन विस्तरेण-व्याख्याताः, वर्णाध्वविवेचनप्रसङ्गेन च पुनर्वागवस्थाचतुष्टयं विविधपक्षप्रदर्शनपुरस्सरं विस्तरेण निर्दशितम् । विंशे परिच्छेदे आचार्यस्यैवाभिषेकः सर्वेषां वा समयि-पुत्रक-साधक-आचार्याणामिति पक्षौ सात्वतजयाख्यप्रामाण्येन साधु विवेचितौ । एकविंशे च प्रातःशब्दस्य मुख्यार्थता प्राधान्येन प्रदर्शिता ।

प्रमुखानेतान् विषयानुपस्थापयन् संहिताश्लोकांश्च व्याकुर्वाणो भाष्यकारो विविधानां संहितानां समानार्थकानि तदुपबृंहकाणि च वचनानि समुपस्थापयति । तदेतदस्य पाञ्चरात्रागमानां तलस्पर्शिज्ञानस्य निदर्शनम् । पाञ्चरात्रसंहितानां प्राचीनानि भाष्याणि व्याख्यानानि वा नोपलभ्यन्ते । नहि भाष्यकारेण अलशिङ्गभट्टेनापि पारमेश्वरव्याख्यानं विहायान्यत् किमपि संहिताव्याख्यानं भाष्यं वा स्मृतम् । पारमेश्वरव्याख्यानं चैतद् बहुशोऽत्र त्रुटिप्रदर्शनपुरस्सरं सयुक्तिकं खण्डयते । भाष्यकारोऽयं स्वग्रन्थे सात्वतप्रकरणव्याख्यानमुखेन विविधाः संहिताः, रामानुजवेदान्तदेशिकादिभिर्विरचितान् ग्रन्थान्, बकुलाभरणापरपर्यायशठकोपादिभक्तानामुपदेशांश्च प्रमाणयन् प्रायो नवतिसंख्यापरिमितान् ग्रन्थान् ग्रन्थकारांश्च प्रमाणत्वेन स्मरतीति वर्तते किमपि वैशिष्ट्यमस्य भाष्यस्येत्यपि विदांकुर्वन्तु विद्वांसः ।

भाष्योद्धृता ग्रन्था ग्रन्थकाराश्च

अत्र ग्रन्थकारेषु अमरपदेन अमरकोशकारोऽमरसिंहोऽभिप्रेतः, यस्य हि "अमरसिंहो हि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत्" इति व्याजस्तुतिं सूचयन्त्या सूक्त्या कोशकारेषु महत्त्वातिशयः ख्याप्यते । गर्गकुलीनरामानुजः श्रीरङ्गराजस्तव-वरदराजस्तवयोर्व्याख्याता श्रीभाष्यकाराद् रामानुजाचार्याद् भिन्नः । [1]रङ्गराजस्तवः पराशरभट्टेन, वरदराजस्तवश्च श्रीवत्साङ्कमिश्रेण विरचित उपलभ्यते । वरदराजस्तवस्य व्याख्या रामानुजकृता R. ४६०६ बी० संख्याका मद्रासराजकीयपुस्तकालये वर्तते । रङ्गराजस्तवव्याख्या च वेङ्कटाचार्यशिष्यरामानुजकृताऽड्यारपुस्तकालयसूच्यां[2] दृश्यते । इमे एवालशिङ्गभट्टोद्धृते व्याख्याने स्याताम् ।

जैमिनिपदेन स्मृतिकर्ता जैमिनिरत्राभिप्रेयते धर्मशास्त्रनिबन्धेषु बहुधा स्मृतः, न तु मीमांसासूत्रकर्ता जैमिनिः । एतन्नामिका स्मृतिस्तु काचन साम्प्रतं नोपलभ्यते । विज्ञानेश्वर-माधवाचार्य-रघुनन्दनप्रभृतिभिर्धर्मशास्त्रनिबन्धकारैरयं स्मर्यते, मदनपारिजात-स्मृतिचन्द्रिका-प्रभृतिषु चास्य वचनानि दृश्यन्ते । दक्षपदेन दक्षस्मृतिकारो भाष्यकारस्याभिप्रेतः । दक्षस्मृतिश्च मुद्रिता वर्तते । अत्रत्यं वचनमपि तत्र दृश्यते । एष च दक्षः पाञ्चरात्ररक्षायामपि स्मृतः ।

---

१. द्रष्टव्यम्—वेदान्तदेशिक ए स्टडी, पृ० ११९-१२० (डा० सत्यव्रतसिंह, वाराणसी, सन् १९५८) ।

२. अल्फाबेटिकल इंडेक्स आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट, पृ० १९१

निगमान्तदेशिकपदेन वेदान्ताचार्यपदेन चात्र सच्चरित्ररक्षा-पाञ्चरात्ररक्षादिपरश्शतग्रन्थकर्ता निगमागमपारदृश्वा उभयवेदान्तनिष्णातो वेदान्तदेशिकाचार्योऽभिप्रेतः। नृसिंह इति योगानन्द इति च पदाभ्यां भाष्यकारः स्वपितरं स्मरति नमति च। पराशरपदेन विष्णुपुराणप्रवक्ता पराशरो मुनिप्रवरः, पराशरभट्टारकपदेन[1] च विष्णुसहस्रनामस्तोत्रव्याख्याता गुणरत्नकोशप्रभृतिस्तोत्रप्रवक्ता चाभिप्रेतः। अष्टाध्यायीव्याकरणप्रवक्ता पाणिनिमुनिस्तु प्रसिद्ध एव।

बकुलाभरण इति तमिलभाषायां निबद्धस्य सहस्रगीत्याख्यस्य दिव्यप्रबन्धभागस्य रचयितुः शठकोपस्यैव नामान्तरम्। पराङ्कुशमुनिरिति नम्मालवार इति नाम्नाऽपि प्रसिद्धः सः। दक्षिणभारते तमिलभाषायां भगवतो नारायणस्य स्तुतिगायका आलवारपदवाच्या द्वादश मुनयः प्रथिततमाः, ये हि वैष्णवभक्तिमार्गस्य भारते देशे प्रथमे प्रवक्तारः सन्ति। चतुस्सहस्रगाथात्मक एतेषां मुनीनां वचनानां संग्रहो दिव्यप्रबन्धनाम्ना तमिलवेद इति नाम्ना च प्रथते। वेदवदेव मान्यते दक्षिणभारतीयैर्वैष्णवैरद्यापि तमिलवेदोऽयम्। तेषु सहस्रगीतेः प्रवक्ता शठकोपमुनिरष्टम्यां नवम्यां वा शताब्द्यां स्वजनुषा भारतभुवं समलञ्चकारेत्यैतिहासिका मन्यन्ते[2]। भाष्यकारेण अलशिङ्गभट्टेन सात्वतसंहितायाः "गायेत्तु भगवद्गाथाम्" (२१।२१) इति वचनं शठकोपार्चनपरम्, "विष्णुव्रतपरम्" (२१।२२) इति वचनं च शाण्डिल्यार्चनपरम् (पृ० ४२१) इत्युक्तम्। प्राकृतभाषासु निबद्धानि पद्यानि गाथाशब्देनाभिधीयन्ते। यदि सात्वतसंहितास्थगाथापदेन शठकोपादीनां तमिलभाषामयानि पद्यान्यभिप्रेतानि स्युस्तदाऽस्याः संहितायाः समयो नातीव प्राचीनः स्यात्, यथा हि प्रतिपाद्यते महाभारतभीष्मपर्ववचनप्रामाण्येन। अत्र न शठकोपादीनां स्मरणम्, अपि तु ग्रामे ग्रामे नगरे नगरेऽटनशीलस्य भगवद्गाथा(माहात्म्य)गायकस्य यस्य कस्यचन भगवद्भक्तस्य सामान्यतया ग्रहणं कर्तव्यमिति वक्तुं शक्यते, किन्त्वस्मिन्नेव प्रसङ्गे— "प्रबन्धप्रतिपन्नानां भक्तानामपि देहिनाम्। यो बोधभूमौ संरूढः"[3](१२।९९) इति, "कोणेषु भगवद्भक्तनिचयं[4] दोषनाशनम्। पूजयित्वा" (१७।२६१) इति च वचनं सावधानं विमर्शपदवीमानेतव्यम्।

भाष्यकार इति श्रीभाष्यकार इति च पदेनात्र सर्वत्र श्रीभाष्यकारो रामानुजाचार्यः परामृश्यते। श्रीभाष्यं नित्यग्रन्थ इति च ग्रन्थद्वयमत्र प्राधान्येन स्मर्यते। स्वनियाम्येति भाष्यकारवचनं नित्यग्रन्थे (पृ० १८२) दृश्यते। भोजराजश्च भाष्योद्धृतसच्चरित्ररक्षावचनानुसारं (पृ० २०९) प्रयोगपद्धतिरत्नावलीकारो वर्तते। पाञ्चरात्ररक्षायामप्येष स्मर्यते (पृ० ५, ५१,

१. पराशरभट्टस्य विस्तृतः परिचयः 'वेदान्तदेशिक' इत्याख्ये ग्रन्थे डा० सत्यव्रतसिंहविरचिते (पृ० १२०-१२२) द्रष्टव्यः।

२. डा० सुरेन्द्रनाथदासगुप्तविरचितो भारतीयदर्शनस्येतिहासः (हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भा० ३, पृ० ६५) द्रष्टव्यः।

३. विभवावतारेषु पारिजातहरस्य ध्यानमेतत्। पारिजातहरः श्रीकृष्णो भक्तकविभिः सविशेषं स्तूयते।

४. भूतनिचयमिति पाठान्तरम्।

१३०)। अस्य तृतीयमुद्धरणं पञ्चपृष्ठात्मकं (पृ० १३०, १३४) वर्तते। उभाभ्यामप्येताभ्यां ग्रन्थाभ्यां भोजराजोऽयं पाञ्चरात्रसंहितानुसारं स्वग्रन्थं जग्रन्थेति ज्ञायते। मनुयाज्ञवल्क्यौ प्रसिद्धौ स्मृतिकारौ स्तः। मनुयाज्ञवल्क्यवचनानामत्रोद्धृतानां विषये तास्ताष्टिप्पण्यस्तृतीयं परिशिष्टं चावलोकनीयानि। लोकाचार्यकृततत्त्वत्रयस्य व्याख्याता रम्यजामातृमुनिः प्रसिद्ध आचार्यो विद्यते रामानुजवेदान्तस्य। डा० सुरेन्द्रनाथदासगुप्तमहोदयेनास्य समयः[१] ई० १३७०-१४४३ इति निर्दिष्टः। तत्रैवास्य महानुभावस्य परिचयोऽपि द्रष्टव्यः। [२]नित्यार्चनप्रकरण-नित्यार्चनकारिका-ऽपरपर्यायाया आह्निककारिकायाः प्रणेता [३]वङ्गिवंशेश्वरो रामानुजाचार्यस्याव्यवहितशिष्यः श्रीरङ्गनारायणाचार्यनाम्नाऽपि प्रथित इति पाञ्चरात्ररक्षायां (पृ० ५२) वेदान्ताचार्य आह। तदनुसारं द्वादशशताब्दीप्रारम्भेऽस्य स्थितिर्मन्तव्या। पाञ्चरात्ररक्षायां बहुधा स्मृतो नारायणमुनिरस्य शिष्य इति "तद्गुरुभिर्वङ्गिवंशेश्वरैः" (पृ० १५३) इति तत्रत्योक्त्या प्रतीयते। अपि च, तत्रैव—"तदुभयानुसारिभिर्नारायणमुनिभिः" (पृ० ५४) इत्युक्तवता वेदान्तदेशिकेन नारायणमुनिर्वङ्गिवंशेश्वरं पराशरभट्टं चानुसरतीति सूच्यते। प्रमाणद्वयेनानेन [४]नारायणमुनिर्वङ्गिवंशेश्वरस्य शिष्य इति सुतरां सिद्ध्यति। शाण्डिल्यो महर्षिः पाञ्चरात्रशास्त्रस्य भक्तिशास्त्रस्य प्रवर्तको मन्यते। शाण्डिल्यस्मृतिरपि तन्नाम्ना प्रसिद्धा मुद्रितोपलभ्यते। अत्र स्थलद्वये (पृ० ११८, २८६) शाण्डिल्यस्मृतिरन्यत्र (पृ० ४२१) च विष्णुव्रतपरमित्यादिना विशेषणेन सह शाण्डिल्यो महर्षिः स्मर्यते।

अष्टाङ्गहृदयम्, आपस्तम्बधर्मसूत्रम्, कठोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, तैत्तिरीयसंहिता, तैत्तिरीयोपनिषद्, धातुपाठः, मुण्डकोपनिषद्—इत्येते ग्रन्था अत्र नामपुरस्सरं नोपात्ताः, किन्त्वेषां वचनानि समुद्धृतानि सन्तीति द्वितीये परिशिष्टे सर्वेषामेतेषां मुद्रितग्रन्थानां नामानि स्थापितानि। नाम्ना समुद्धृतेषु ग्रन्थेषु अनिरुद्धसंहिता, अमरकोशः, अहिर्बुध्न्यसंहिता, आगमप्रामाण्यम्, ईश्वरसंहिता(तन्त्रम्), कपिञ्जलसंहिता, गरुडपुराणम्, जयाख्यसंहिता, तत्त्वत्रयव्याख्यानम्, नित्यग्रन्थः, नित्याराधनप्रकरणम् (नित्यार्चनकारिका=आह्निककारिका), पाञ्चरात्ररक्षा, पाद्मसंहिता, पारमेश्वरसंहिता, पौष्करसंहिता, प्रपन्नामृतम्, ब्रह्मसूत्रम्, ब्रह्माण्डपुराणम्, भगवद्गीता, भागवतपुराणम्, भारद्वाजसंहिता, मनुस्मृतिः, महाभारतम्, लक्ष्मीतन्त्रम्, विष्णुचित्तीयम् (विष्णुपुराणव्याख्यानम्), विष्णुपुराणम्, वैजयन्तीकोशः, श्रीभाष्यम्, सच्चरित्ररक्षा, सहस्रनामभाष्यम्, सात्वतसंहिता (तन्त्रम्=शास्त्रम्)—इत्येते मुद्रिताः समुपलभ्यन्ते।

१. भारतीयदर्शनेतिहासे (भा० ३, पृ० १३७-१३८) द्रष्टव्यम्।

२. पण्डित वे० अनन्ताचार्येण सम्यक् परिशोध्य मुद्रापिता, ई० १९४१ वर्षे वि० पेरुमाल चेट्टि एण्ड संस शालाध्यक्षैः स्वकीये मद्रपुरीस्थे मुद्रालये संमुद्रच प्रकाशिता।

३. वङ्गिवंशेश्वरस्य परिचयः 'वेदान्तदेशिक' इत्याख्ये ग्रन्थे (पृ० १३५) द्रष्टव्यः।

४. पराशरभट्टः कञ्चन नारायणमुनिमद्वैतमतानुयायिनं श्रीवैष्णवसम्प्रदाये दीक्षितवानिति गुरुपरम्परातो ज्ञायत इति 'वेदान्तदेशिक' (पृ० १२०) इत्याख्ये ग्रन्थे दृश्यते। सच्चरित्ररक्षायां (पृ० १५) यादवप्रकाशानुयायी नारायणाचार्यस्तत्त्वनिर्णयकर्ता स्मर्यते। किमयमेव नारायणाचार्यः पराशरभट्टेन दीक्षितो नारायणमुनिर्बभूवेति परीक्षणीयोऽयं विषयः।

आचार्यहृदयं वरवरमुनिरित्यपराभिधानेन रम्यजामातृमुनिना स्वकीये तत्त्वत्रयव्याख्याने स्मृतम्[१]। डा० सुरेन्द्रनाथदासगुप्तमहोदय[२] आचार्यहृदयस्य कर्ता वादिकेसरीत्यपराभिधानो वरिष्ठः सौम्यजामातृमुनिः पिल्लईलोकाचार्यस्य भ्रातेति प्रतिपादयति। आदित्यपुराणविषये डा० आर० सी० हाजरामहोदयेन[3] किमपि विचारितम्। पुण्यपत्तन(पूना)स्थ-आनन्दाश्रमग्रन्थमालायां प्रकाशितात् सौरपुराणादेतदभिन्नं भिन्नं वेति परीक्षासापेक्षम्। मत्स्यपुराणे (५३।५९-६३) नारसिंह-नन्दि-शाम्ब-आदित्याख्यान्युपपुराणानि स्मर्यन्त इति प्राचीनताऽस्य बाढं सिद्धचति। आगमप्रामाण्ये (पृ० ९९) यामुनाचार्येण स्मृतमेतत्। भट्टपराशरेणापि विष्णुसहस्रनामभाष्ये[४] विष्णुशब्दनिर्वचनावसरे समुद्धृतमेतत्। अन्यैरपि बहुभिः प्राचीनैर्ग्रन्थकारैरेतत् स्मर्यते। ईश्वर-संहिताव्याख्यानम् अलशिङ्गभट्टस्यैव कृतिः। सोऽयं ग्रन्थः श्रीमता के० वी० स्वामीनाथन्-महोदयेन सम्पादितस्तिरुपतिनगरतः शीघ्रमेव प्राकाश्यमेष्यतीति संभाव्यते। एकायनमिति नाम्ना छान्दोग्योपनिषदि (७।१।२) स्मृता एकायनविद्या किंस्वरूपाऽऽसीदिति साम्प्रतं वक्तुं न शक्यते। उत्पलवैष्णवेन[५] पाञ्चरात्रश्रुतिः पाञ्चरात्रोपनिषदिति वा नाम्ना स्मृता सेति वर्तते विदुषामाशयः। सेयमेकायनश्रुतिरीश्वरसंहितादिष्वेकायनवेदनाम्ना[६] स्मृता। कण्वशाखामहिमसंग्रहकारेण[७] नागेशेन पाण्डुरङ्गपुरवास्तव्येन शुक्लयजुर्वेदीया काण्वशाखैवेयमिति प्रतिपाद्यते। "काण्वीं शाखामधीयाना-वौपगायनकौशिकौ। प्रपत्तिशास्त्रनिष्णातौ" (१।१०९) इति, "शाण्डिल्यश्च भरद्वाजो मुनिर्मौञ्जायनस्तथा॥ इमौ च पञ्चगोत्रस्था मुख्याः काण्वीमुपाश्रिताः। श्रीपाञ्चरात्रतन्त्रीये सर्वेऽस्मिन् मम कर्मणि॥" (१।११५-११६) इति च वदन्ती जयाख्या तमिमं विषयं पोषयति। तस्या एकायनश्रुतेः सारभूतं सात्वततन्त्रमिति वर्तते भाष्यकारस्य स्पष्टो निर्देशः (पृ० १, ११)। सात्वततन्त्रमेतन्मूले (३।५) भाष्ये (पृ० ११) च ब्रह्मोपनिषत्पदेनाप्यभिधीयते।

---

१. "यथा तत्त्वत्रयव्याख्याने बुद्धस्य साक्षादवतारत्वमाचार्यहृदये प्रतिपादितम्। विष्वक्सेन-संहितादिषु तस्यावेशावतारत्वमुक्तम्। उभयोर्विरोधः कल्पभेदेन परिहरणीय इति व्याख्या-तम्" (पृ० १८७) इति भाष्यकारो लिखति। तत्त्वत्रयव्याख्याने त्वेवं दृश्यते—"ननूपात्त-वचनेषु बुद्धमुनेरप्यवतारत्वेनाभिधानं स्वेन रूपेणावतीर्णवानित्यस्मादाचार्यवचनैर्विरुद्धमिति चेन्न, कल्पभेदेन तथाभिधानोपपत्तेः" (पृ० ११०, द्वितीयं संस्करणम्) इति।

२. भारतीयदर्शनस्येतिहासो (भा० ३, पृ० १३८) द्रष्टव्यः।

३. 'स्टडीज इन उपपुराण्स' (कलकत्ता, सन् १९५८) इत्याख्यस्य ग्रन्थस्य प्रथमभागे तदग्रेऽ-ङ्कितानि पृष्ठान्यवलोकनीयानि।

४. बम्बईनगरस्थलक्ष्मीवेंकटेश्वरप्रेसमुद्रिते संवत् १९५० संस्करणे ६६३ संख्याकविष्णुशब्द-निर्वचनावसरे (पृ० ५७६) द्रष्टव्यमेतदादित्यपुराणवचनम्।

५. स्पन्दप्रदीपिकाग्रन्थस्य ८४, ११५ पृष्ठे द्रष्टव्ये।

६. "एष एकायनो वेदः" (१।४३)।

७. "इयं शुक्लयजुर्वेदशाखा प्रथमेत्यभिधीयते। मूलशाखेति चाप्युक्ता तथा चैकायनीति च॥" मद्रासराजकीयग्रन्थालयसूची (पृ० ३३००) द्रष्टव्या। अस्या मातृकायाः संख्या २३८९ वर्तते।

क्रियादीपो नित्यार्चनविधिपरः ७२।। श्लोकात्मको ग्रन्थः पराशरभट्टेन विरचितः। अन्याचार्याणां नित्यग्रन्थैः सह सोऽयं बंगलोरनगरतः १८९७ ई० वर्षे तेलुगुलिप्यां प्रकाशितचरः[१]। गुणरत्नकोशः पराशरभट्टस्यैव प्रकाशितः स्तोत्रग्रन्थः[२]। तदेतस्य स्तोत्रस्य व्याख्यानं केन कृतमिति तु न ज्ञायते। आफ्रेख्टबृहत्सूच्यां (भा० १, पृ० १५५) कस्यचन व्याख्यानस्योल्लेखो वर्तते। नूतनायां बृहत्सूच्यां त्वेतद्विषये किमपि नैव दृश्यते। पराशरोऽयं श्रीवत्साङ्कमिश्रस्य शिष्य इति पाञ्चरात्ररक्षातो (पृ० १११) ज्ञायते। कूरेशापरपर्यायोऽयं श्रीवत्साङ्कमिश्रः पराशरभट्टस्य जनक इति परम्परा ज्ञापयति। एष च विषयो विस्तरेण डा० सत्यव्रतसिंहमहोदयेन स्वग्रन्थे प्रतिपादितस्तत एवावलोकनीयः[३]। [४]चन्द्रिकाग्रन्थः सिद्धान्तचन्द्रिकातोऽभिन्नः प्रतीयते। न वयमस्य विषये किमपि वक्तुं प्रभवः। "दशनिर्णये चन्द्रिकायाम्"(पृ० १६६) इति भाष्योक्त्या दशनिर्णयश्चन्द्रिकाग्रन्थस्य प्रकरणविशेष इति ज्ञायते। नूतनायां बृहत्सूच्यां हारीतगोत्रस्य रङ्गनाथसुतवेङ्कटनाथवैदिकसार्वभौमस्य दशनिर्णयः कश्चन दृश्यते। दिव्यप्रबन्धविषये बकुलाभरणप्रसङ्गे किमप्युक्तमेव।

निघण्टु-वैद्यकग्रन्थ-नैघण्टुकादिपदैरत्र प्राय ओषधीनाम्नां पर्यायसूचका निघण्टवो निर्दिष्टाः। कस्यचनैकस्यैव ग्रन्थस्यैतानि वचनानि भिन्नानां वा ग्रन्थानामित्यधुनापि निर्णयसापेक्षम्। नित्यव्याख्यानमिति वेदान्तदेशिककृतेः पाञ्चरात्ररक्षायास्तृतीयाधिकारस्य पारम्परिकी संज्ञा। तत्र च भाष्यप्रदर्शितस्त्रिविधः प्राणायामस्य क्रमो नावलोक्यत इति ततो भिन्नमेवैतन्नित्यव्याख्यानमिति मन्तव्यम्। पारमेश्वरप्रयोगविषये किमपि न ज्ञायते। पारमेश्वरव्याख्यानं (विवृतिः) नृसिंहयज्वना विरचितमत्र भाष्ये बहुधा खण्ड्यते। नृसिंहसुतेन श्रीनिवासेन पारमेश्वरसंहिताविवृतिदूषणपरिहरणं विरचय्य तदेतत्पुनः समर्थितम्। उभावपि ग्रन्थौ मातृकारूपेणोपलभ्येते[५]। प्रयोगपद्धतिरत्नावल्याः परिचयो भोजराजकृतित्वेन पूर्वं प्रदत्तः[६]।

ब्रह्मसूक्तस्य महोपनिषदश्च विषये वेदान्तदेशिकसमयत एव विवादः प्रवर्तते। वेदान्तदेशिकेन हि सच्चरित्ररक्षायाम्—"अत्रापि ब्रह्मसूक्तपरमात्मसूक्ताभ्यां महोपनिषत्पठितमेकोनविंशतिमन्त्रात्मकं ब्रह्मसूक्तमेव परिगृहीतम्।""एतेन महोपनिषदः कैश्चिदनुदाहृतत्वचोद्यमपास्तम्। कति कति दृश्यन्ते भाष्यकारादिभिरनुपात्ता उपनिषदः। न केवलं भगवद्रामानुजमुनिभिरेव महोपनिषदुपात्ता, अपि तु तत्परमाचार्यैर्भगवद्यामुनमुनिभिरपि पुरुषनिर्णये समुपात्ता। न चैवमेकसिद्धान्तनिष्ठैरेव तदुपादानम्, अपि तु तद्विरुद्धसन्मात्रब्रह्मभेदाभेदनिष्णातैर्यादवप्रकाशैरपि

१. नूतना बृहत्सूची द्रष्टव्या (भा० ५, पृ० १३४)।

२. वेदान्तदेशिक, पृ० १२०।

३. तत्रैव, पृ० १२०।

४. श्रीनिवासमखिकृतस्य वैखानसमहिमसञ्जरीग्रन्थस्य सुन्दरराजभट्टाचार्यकृता टीका चन्द्रिकानाम्ना प्रसिद्ध्यति। एतच्च नूतनायां बृहत्सूच्यां द्रष्टव्यम् (भा० ६, पृ० ३७९)।

५. अल्फाबेटिकल इंडेक्स आफ संस्कृत मैन्युस्किट, अडयार, मद्रास सन् १९४४ इत्यत्र ७३ पृष्ठमवलोकनीयम्।

६. आफ्रेख्ट-बृहत्सूच्यामस्य विषये कापि सूचना न दृश्यते।

भगवद्गीताभाष्येऽष्टमेऽध्याये, तथा तन्मतानुयायिभिर्नारायणाचार्यैरपि तत्त्वनिर्णये श्रुतितात्पर्यनिर्णयाधिकारे सोपबृंहणनानाविधश्रुतिशिखरनिकरोदाहरणावसरे महोपनिषदाद्यान् "एक एव नारायणः" इत्यादिकांश्चतुरो[1] मन्त्रानुदाहृत्य एषा चोपनिषत्....इत्यादिभिः पुराणैश्चोपबृंहितेत्युक्तम् । एवं खिलानामनाश्वसनीयत्वादिति जल्पितं प्रत्युक्तम्" (पृ० १४-१६) इत्याह । भाष्यकारोऽलशिङ्गभट्टोऽपि—"एको ह नारायणः" इत्याद्याः "य इमां महोपनिषदम्" इत्यन्तास्त्रयोविंशतिमन्त्राश्च महोपनिषद्गताः । तत्र "सहस्रशीर्षम्" इति प्रक्रम्य "य इमां महोपनिषदम्" इत्यन्तमेकोनविंशतिमन्त्रात्मकं ब्रह्मसूक्तमिति ज्ञेयम्" (पृ० ७४) इत्युक्तवान् । एतेन त्रयोविंशतिमन्त्रात्मिका महोपनिषत्, तदन्तिमैकोनविंशतिमन्त्रात्मकं च ब्रह्मसूक्तमिति सिद्धयति ।

अत्र भाष्यकारः पुनः शङ्कामुत्थापयति समाधत्ते च—"ननु महोपनिषत्कोशेषु "सर्वस्य वशिनम्" इत्यादिमन्त्रा न दृश्यन्ते, कथं तेषां महोपनिषदन्तर्गतत्वमिति चेत्, सत्यम्, इयमाशङ्का तप्तमुद्रासमर्थनसिद्धान्तचन्द्रिकायां परिहृता ।....अस्य मन्त्रस्य महोपनिषत्कोशेष्वदर्शनात् कथं श्रुतित्वमिति चेन्न, चिरन्तनकोशेषूपलम्भात् । आधुनिककोशेष्वनुपलम्भश्च लेखकदोषादिना नेयः । नायमेव मन्त्र आधुनिककोशेषु न दृश्यते, अपि तु सर्वस्य वशिनमित्यादिकमष्टर्चं ब्रह्मसूक्तमात्रं न दृश्यते । ब्रह्मसूक्ते चायं मन्त्रः श्रूयते । न च तावता श्रुतित्वभङ्गः, भगवच्छास्त्रेषु बहुषु प्रदेशेषु ब्रह्मसूक्तस्योपात्तत्वादिति । नन्वत्राष्टर्चं ब्रह्मसूक्तमात्रं न दृश्यत इत्युक्तत्वात् सर्वस्य वशिनमित्याद्यष्टमन्त्राणामेव ब्रह्मसूक्तत्वं ज्ञायते । कथं भवता सहस्रशीर्षमित्याद्येकोनविंशतिमन्त्राणामपि ब्रह्मसूक्तत्वमुक्तमिति चेदुच्यते, सच्चरित्ररक्षामनुसृत्यास्माभिरुक्तम्" (पृ० ७४-७५) इति ।

[2]द्विविधा हि महोपनिषत् साम्प्रतिकेषु उपनिषत्संग्रहेषु दृश्यते । षडध्यायात्मिका प्रथमा, चतुःकण्डिकात्मिका च द्वितीया । प्रथमायाः प्रथमोऽध्यायः, अपरा चोपनिषत् सम्पूर्णा प्रायः समानैव । तथापि द्वितीयोपनिषदेव वेदान्तदेशिकेन स्मृता स्यात् । तत्रैव हि 'एक एव नारायणः' इत्यादिकाश्चत्वारो मन्त्रा दृश्यन्ते । एवं च यादवप्रकाशनारायणाचार्याभ्यां स्मृता महोपनिषदेषैव स्यात् । अत्रेदमवधेयम्—चतुर्णां मन्त्राणामुदाहरणेन त्रयोविंशतिमन्त्रात्मिका महोपनिषत् कथं सिद्धयेत् ? खिलानां प्रामाण्यं तु बाढमनेन सिद्धयति । तच्च सर्वैरङ्गीक्रियत एव । एवं च यादवप्रकाशनारायणाचार्ययोः समक्षं चतुर्मन्त्रात्मिकैव महोपनिषदासीत्, या हि साम्प्रतमपि तथैवोपलभ्यते । त्रयोविंशतिमन्त्रात्मिका महोपनिषत्तु महोपनिषदाद्यांश्चतुरो मन्त्रान् महानारायणोपनिषत्स्थानेकादश मन्त्रान्, सर्वस्य वशिनमित्यर्चं च नूतनं ब्रह्मसूक्तं संयोज्य पश्चादाविर्भूतेति ।

सर्वस्य वशिनमित्यादिकमष्टर्चं ब्रह्मसूक्तं केषाञ्चन मते । वेदान्तदेशिकमतानुसारिणाऽलशिङ्गभट्टेन तु सहस्रशीर्षमित्याद्येकोनविंशतिमन्त्रात्मकं ब्रह्मसूक्तं मन्यते, त्रयोविंशतिमन्त्रात्मिका

१. महोपनिषदि चत्वारो मन्त्रा दृश्यन्ते । अन्येऽपि सप्त मन्त्रा महानारायणोपनिषदि (११ खण्डे) द्रष्टव्याः ।

२. उपनिषत्संग्रहस्य (मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९७०) प्रथमे संस्करणे ४२७-४५३ पृष्ठेषु प्रथमोपनिषत्, ६४९-६५० पृष्ठयोश्चापरा द्रष्टव्या ।

च महोपनिषत् । महोपनिषद्ब्रह्मसूक्तगतानामेतेषां त्रयोविंशतिमन्त्राणां प्रतीकान्यत्रैव(पृ० ७२-७४) संगृहीतेषु ईश्वरसंहितापारमेश्वरसंहितावचनेषु द्रष्टव्यानि । अनयोः संहितयोः समानानुपूर्वीकाणि विस्तृतानि वचनान्युपलभ्यन्त इत्युक्तमेव । अनयोः कतरा प्राचीनेति विचारणीयोऽयं विषयः ।

पारमेश्वरसंहितायाम्—"सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्यं च तथैव च ।। एवमादीनि शास्त्राणि दिव्यानीत्यवधारय । संहिता चेश्वरस्यापि भरद्वाजस्य संहिता ।। सौमन्तवी तथा ह्येतत् पारमेश्वरसंज्ञितम् । वैहायसी संहिता च शास्त्रं चित्रशिखण्डिजम् ।। तथा जयोत्तरं तत्र एवमादीनि तत्त्वतः । सात्त्विकानि विजानीहि मुनिवाक्यानि सत्तम ।। तन्त्रं सनत्कुमाराख्यं तथा पक्षोद्भवाभिधम् । सत्यापि तेजोद्रविणं मायावैभविकं तथा ।। इत्यादीन्यवगच्छ त्वं राजसान्येव तत्त्वतः । पञ्चप्रश्नं शुकप्रश्नं तत्त्वसागरसंहिता ।। इत्यादीन्यवबुद्धयस्व तामसानि विशेषतः । पूर्वोक्तलक्षणेनैव ज्ञातव्यं तत्र पौरुषम् ।।" (१०।३७६-३८२) इत्येवं दिव्य-मुनिभाषित-पौरुष-भेदेन भिन्ना बह्वयः संहिताः स्मृताः । अत्र मुनिभाषितसात्त्विकसंहितासु सर्वप्रथममीश्वरस्य संहिता परिगण्यते । तथा च पारमेश्वरत ईश्वरसंहितैव प्राचीनेति सिद्धयति ।

साम्प्रतं मुद्रिता चेयं संहिताऽर्वाचीनेति प्रतिपादयति जयाख्यसंहितासम्पादकः श्रीमान् कृष्णमाचार्यमहोदयः स्वकीयायां संस्कृतप्रस्तावनायाम् । तथा हि—"इयं चेश्वरसंहिता अर्वाचीना, अन्या च भगवद्यामुनाचार्यैरागमप्रामाण्ये[1] समुदाहृता । सा हि संहिता ईश्वरस्य तत्पुत्रस्य षण्मुखस्य च संवादरूपा" (पृ० ४९) इति । एवं चेश्वरसंहिताया वर्तमानं स्वरूपं यादवप्रकाश-नारायणाचार्ययोः समक्षं न स्यात्, ब्रह्मसूक्तमहोपनिषदोरीश्वरपारमेश्वरोक्तं स्वरूपं च पश्चादाविर्भूतं स्यादिति संभावयितुं शक्यते । किञ्च, सहस्रशीर्षमित्याद्येकोनविंशतिमन्त्रात्मकस्य ब्रह्मसूक्तस्य यत्स्वरूपमीश्वरपारमेश्वरयोर्दृश्यते, तेष्वेकादश मन्त्रा महानारायणोपनिषदि (११ खण्डे) दृश्यन्ते । उक्तायां द्विविधायामपि महोपनिषदि चैते सर्वे मन्त्रा न सन्ति । सर्वस्य वशिनमित्यादयोऽष्टौ मन्त्राश्च मुद्रितोपनिषत्संग्रहेषु क्वापि नोपलभ्यन्त इति विभावनीयम् ।

मुनिभावप्रकाशिकाख्याया भागवतव्याख्याया विवरणं क्वापि न दृश्यते । तेन केनेयं रचिता कदा वेति किमपि ज्ञातुं न शक्यते[2] । रङ्गराजस्तव-वरदराजस्तवयोर्व्याख्यानविषयेऽपि गर्गकुलीनरामानुजप्रसङ्गे यदुक्तं ततोऽधिकं किमपि न ज्ञायते । विष्वक्सेनसंहिता साम्प्रतं मुद्रितोपलभ्यते । परन्त्वत्र तत्त्वत्रयव्याख्यानधृतविष्वक्सेनसंहिताश्लोका नोपलभ्यन्त इत्यन्यैव सेति तर्कयति तत्सम्पादकोऽपि । "बद्ध्वा मूलादिकां मुद्रां देवोऽहमिति भावयेत्" इति वचनं कस्य संहितान्तरस्येत्यन्वेषणीयम् । समाराधनग्रन्थ इति नहि कस्यचन ग्रन्थस्य नाम, अपि तु सात्वतसंहितायाः सप्तदशः परिच्छेद एव तन्नाम्नाऽत्राभिप्रेयते । भाष्यकारेणाऽलशिङ्गभट्टेनात्रत्यो वाक्यसमूहः पाञ्चरात्ररक्षास्थ एव समुद्धृतः (पृ० २९६) । अत्र भाष्ये—"भवदुक्तसम्प्रदायप्रदी-

१. आगमप्रामाण्ये गायकवाड्शोधसंस्थानसंस्करणे (ई० १९७६) १६३-१६४ पृष्ठयोः सार्धाः पञ्च श्लोकाः समुद्धृताः । इमे च श्लोका मुद्रितायामीश्वरसंहितायां नोपलभ्यन्ते ।

२. सुदर्शनसूरिकृतायां शुकपक्षीयव्याख्यायां वीरराघवस्य भागवतचन्द्रचन्द्रिकायां च मुनिभावप्रकाशिकासदृशानि कानिचन पदानि दृश्यन्ते । आनुपूर्वी तु क्वापि नोपलभ्यते । न च दृश्यतेऽस्या नाम आफ्रेख्टबृहत्सूच्यामपि ।

पिकायाम्'' (पृ० १०८) इति वाक्यदर्शनेन सम्प्रदायप्रदीपिकेयमलशिङ्गभट्टस्यैव [1]कृतिरिति ज्ञायते। सात्वतामृतमिति भाष्यकारस्य पित्रा योगानन्देन लिखितः पद्धतिग्रन्थः। सात्वतामृतसारोऽपि तेनैव लिखितः[2]। अड्यारपुस्तकालयसूच्यां (अल्फाबेटिकल०, पृ० १८७) स पारस्करगृह्यप्रयोगकर्तृत्वेनापि निर्दिष्टः। सिद्धान्तचन्द्रिका च चन्द्रिकातोऽभिन्नैव स्यात्। ''तप्तमुद्रासमर्थनसिद्धान्तचन्द्रिका'' (पृ० ७४), ''तप्तमुद्राविद्रावणविद्राविण्यां सिद्धान्तचन्द्रिकायाम्'' (पृ० ३८३) इत्येवं स्थलद्वये सविशेषणं सादरं साऽत्र स्मर्यते। ''सिद्धान्तचन्द्रिकायां तु दीक्षितानामित्यस्य मुमुक्षुपरत्वमुक्तम्। तदसङ्गतम्, तन्त्रदीक्षाप्रवेशभिया तादृशार्थाङ्गीकारात्'' (पृ० ३८५), ''एतेन सिद्धान्तचन्द्रिकायां दीक्षाशब्दस्य नियमपरिग्रहवाचित्वमुक्तं निरस्तं भवति'' (पृ० ४०५) इति स्थलद्वये च सा खण्ड्यते। वैखानसाद्यागमोक्तदीक्षां प्राप्तो हि वैष्णवः''(पृ० ३८६) इति सिद्धान्तचन्द्रिकावचनस्याऽत्र दर्शनाद् वैखानससम्प्रदायस्यायं[3] ग्रन्थ इति ज्ञायते।

सात्वतीयं दर्शनम्

एवमत्र सात्वतसंहितायाः, भाष्यस्य, तदुद्धृतग्रन्थकाराणां ग्रन्थानां च परिचयो यथोपलब्धो यथामति समुपन्यस्तः। अथ सात्वतप्रतिपादितानां दर्शनयोगादिविषयाणां समालोचनं विधीयते। आगमग्रन्थेषु संहिताग्रन्थेषु च ज्ञान--योग--क्रिया--चर्यात्मकः पाद-[4]

---

१. नूतना बृहत्सूची (भा० १, पृ० ३००) तमेनं विषयं समर्थयति, तत्रालशिङ्गभट्टरचितग्रन्थेषु हि सम्प्रदायप्रदीपिकाया अपि नाम दृश्यते।

२. मद्रासराजकीयपुस्तकालयसूच्यां (अल्फाबेटिकल०, पृ० ८७७) योगानन्दकृतित्वेन, अड्यारपुस्तकालयसूच्यां (अल्फाबेटिकल०, पृ० १४२) चालशिङ्गभट्टकृतित्वेन निर्दिष्टोऽयं ग्रन्थः।

३. मद्रासराजकीयपुस्तकालयसूच्यां (अल्फाबेटिकल०, पृ० ८९१) वेदान्ताचार्यकृता काचन सिद्धान्तचन्द्रिका दृश्यते। वैखानसमहिममञ्जरीग्रन्थस्य सुन्दरराजभट्टाचार्यकृतायाश्चन्द्रिकाटीकाया उल्लेखः पूर्वं कृत एव। अनयोर्ग्रन्थयोः प्रस्तुतया सिद्धान्तचन्द्रिकया संबन्धो गवेषणीयः।

४. ''पशुपाशपतिज्ञानं ज्ञानमित्यभिधीयते। षडध्वशुद्धिर्विधिना गुर्वधीना क्रियोच्यते॥ वर्णाश्रमप्रयुक्तस्य मयैव विहितस्य च। ममार्चनादिधर्मस्य चर्या चर्येति कथ्यते॥ मदुक्तेनैव मार्गेण मय्यवस्थितचेतसः। वृत्त्यन्तरनिरोधो हि योग इत्यभिधीयते॥'' (७।२।१०।३१-३३) इत्येवं शिवपुराणे तेषां लक्षणानि दृश्यन्ते, ''विवेको यत्र तत्त्वानां कार्यकारणभेदतः। यथावदुचितं वस्तु हेयं चैवोपचर्यते॥ विद्यापादः स विज्ञेयः'' (२।८-९), ''मुद्रामण्डलमन्त्राणां लक्षणं साधकात्मनाम्। आचार्याणां च......क्रियापादः स विज्ञेयः'' (२।१०-११), ''यत्रोपायो विरक्तानां षडङ्गः सुमहात्मनाम्॥ रागिणामपि भोगार्थं योगपादः स उच्यते।'' (२।११-१२), ''समयाचारसद्वादस्थितिः स्वाम्नायलक्षणः। चर्यापादः समुद्दिष्टः'' (२।१३) इति च मतङ्गपारमेश्वरे। अत्र ज्ञानं विद्येत्यनर्थान्तरम्। विभिन्नेष्वागमेषु लक्षणानामेतेषां संकरोऽपि दृश्यत इत्यजितागमप्रथमभागसंस्कृतोपोद्घाते (पृ० १०-११) पाण्डिचेरीमुद्रिते द्रष्टव्यम्।

विभागो[1] दृश्यते, किन्तु त्रिरत्ननाम्ना प्रख्यातासु सात्वत-पौष्कर-जयाख्यासु तन्नास्ति[2]। अथापि ज्ञान-योग-क्रिया-चर्यापादेषु प्रतिपादिताः सर्वे विषयाः संक्षेपेण विस्तरेण वा प्रकरणबद्धा विप्रकीर्णा वा तासु विद्यन्त एव । जयाख्यसंहितायाम्, अहिर्बुध्न्यसंहितायाम्, लक्ष्मीतन्त्रे वा यथा ग्रन्थारम्भे साटोपं दार्शनिकं[3] विवेचनं वर्तते, न तथा दृश्यते सात्वत-पौष्करयोः। सात्वतसंहितायां दर्शनयोगयोः प्रतिपादका अंशाः प्रायः सम्पूर्णे ग्रन्थे विप्रकीर्णा वर्तन्ते । तान् संगृह्यात्र समुपस्थापयामः ।

त्रिविधं परंब्रह्म

"त्रिविधेन प्रकारेण परमं ब्रह्म शाश्वतम् । आराधयन्ति ये तेषां रागस्तिष्ठति दूरतः ॥" (१।२३) इति परब्रह्मणस्त्रिविधां सत्तां संसूच्य—"षाड्गुण्यविग्रहं देवं भास्वज्ज्वलनतेजसम् । सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥ परमेतत् समाख्यातमेकं सर्वाश्रयं प्रभुम् ।" (१।२५-२६) इत्येवं परब्रह्मणः स्वरूपमत्र वर्णितम् । तदनु—"एतत्पूर्वं त्रयं चान्यज्ज्ञानाद्यैर्भेदितं गुणैः ॥ विद्धि तद्व्यूहसंज्ञं सन्निःश्रेयसफलप्रदम् ।" (१।२६-२७) इत्येवं वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाख्यस्य व्यूहचतुष्टयस्य स्वरूपं निरूप्य, "मुख्यानुवृत्तिभेदेन युक्तं ज्ञानादिकैर्गुणैः । नानाकृतिं च तद्विद्धि वैभवं भुक्तिमुक्तिदम् ॥" (१।२७) इति संक्षेपेण विभवस्वरूपस्य व्याख्यानं कृतम् ।

अत्र पराशरभट्टपादा विष्णुसहस्रनामभाष्येऽमुमेव ग्रन्थं व्याकुर्वन्त एवमाहुः—"परव्यूहविभवात्मना त्रिविधं परंब्रह्मेति भागवतसिद्धान्तः । तत्र परं नामाकार्यं कार्या(दन)वच्छिन्नपूर्णषाड्गुण्यमहार्णवोत्कलिकैकातपत्रीकृतनिस्समनित्यभोगविभूतिकं मुक्तोपसृप्यमनौपाधिकमवस्थानम् । व्यूहश्च मुमुक्षुसिसृक्षया प्रदेयसृष्टिस्थितिलयाः शास्त्रतदर्थतत्फलानि ध्यानाराधने लीला चेतीदृशकार्योपयुक्तविभवपरगुणरूपव्यापारशीकरव्यूहनिर्वाहितलीलाविभूतिकं मुक्तिसाधकं चतुर्धावस्थानम् । विभवश्च तच्छायः सुरनरतिर्यगादिः स्वविभवसजातीय ऐच्छः प्रादुर्भावविवर्ग इति ।''''तत्र प्रादुर्भावाः केचित् साक्षात्, यथा मत्स्यकूर्मादयः । अन्ये तु ऋष्यादि-

---

१. वैष्णवशैवशाक्तादिष्वागमेषु बौद्धशाक्तादिषु तन्त्रेषु चैष पादविभागो दृश्यते । तत्र बौद्धेषु तन्त्रेषु ज्ञानपदस्य स्थानेऽनुत्तरपदं प्रयुज्यते । शैवेष्वागमेषु च विद्यापादनाम्ना प्रथमः पादः प्रसिद्ध्यति ।

२. पादविभागो न दृश्यत इत्यतोऽपि पादविभागात्मकसंहितागमापेक्षया रत्नत्रयस्य प्राचीनता सिद्ध्यति । संहितात्रयेऽपि वर्तते सात्वतायाः परिच्छेदविभागात्मकं वैशिष्ट्यम् । संहिताग्रन्था आगमग्रन्थास्तन्त्रग्रन्था वा पटलेष्वध्यायेषु वा विभक्ता दृश्यन्ते । यथा जयाख्यायां पटलविभागः, पौष्करायां चाध्यायविभागः । परिच्छेदविभागस्तु सात्वतां विहाय क्वाप्यन्यत्र नावलोक्यते ।

३. जयाख्याया दार्शनिकं विवेचनं डा० सुरेन्द्रनाथदासगुप्तकृते दर्शनेतिहासे तृतीये खण्डे, अहिर्बुध्न्यसंहिताया डा० श्रादरकृते भूमिकाग्रन्थे, लक्ष्मीतन्त्रस्य च डा० अशोककुमारकालियारचिते "लक्ष्मीतन्त्र : धर्म और दर्शन" इत्याख्ये ग्रन्थे द्रष्टव्यम् ।

विशिष्टपुरुषाधिष्ठानेन, यथा भार्गवरामकृष्णद्वैपायनादयः। अपरे काले शक्त्यावेशेन, यथा [1]पुरञ्जयादिषु। इतरे च व्यक्तिषु स्वयमेवावतीर्य, यथार्चावतार इति चतुर्धा" (पृ०१८२) इति।

अत्र पराशरभट्टारकेण विभवानां चातुर्विध्यं प्रदर्श्याऽर्चावतारस्य तत्रैवान्तर्भावः प्रदर्शितः। लक्ष्मीतन्त्रे तु—"अर्चापि लौकिकी या सा भगवद्भावितात्मनाम्। मन्त्रमन्त्रेश्वरन्यासात् सापि षाड्गुण्यविग्रहा॥ पराद्यर्चावतारेऽस्मिन् मम रूपचतुष्टये।" (२।५९-६०) इत्येवं चातुर्विध्यं परब्रह्मणः प्रतन्यते। अत्रार्चावतारस्य स्पष्टं पृथङ्निर्देशो विद्यते। तत्र केचन परव्यूहविभवानां त्रयाणामप्यर्चारूपत्वसंभवादर्चावतारस्य परादिषु त्रिष्वन्तर्भावं प्रदर्शयन्ति। तन्नेति भाष्यकारोऽलशिङ्गभट्टः। तथाहि—"वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाख्यव्यूहानामेव श्रीकृष्णबलभद्रप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेणावतीर्णत्वेऽपि तेषां यथा विभवत्वमेव, न व्यूहत्वम्, तथा परव्यूहविभवानामर्चावताररूपेणावतीर्णत्वेऽपि तेषां विभवेष्वेवान्तर्भावः, न तु परव्यूहयोरिति" (पृ० १०) इति।

वस्तुतस्तु—"गुणकल्पनयाऽध्यस्तो गुणोन्मेषकृतश्रमः। मूर्तीभूतगुणश्चेति त्रिधा मार्गोऽयमद्भुतः॥" (२।३९) इत्येवं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि त्रैविध्यमेव परब्रह्मणो वर्ण्यते। "व्याप्तिमात्रं गुणोन्मेषो मूर्ताकार इति त्रिधा" (५।२०) इत्यहिर्बुध्न्यवचनस्यैव व्याख्यानमेतत्। तथापि "मूर्तीभूतगुणत्वरूपं विभवत्वं विभवार्चावतारयोरुभयत्रापि समानम्" (पृ० ११) इति भाष्यकारदिशा लक्ष्मीतन्त्रोक्तं परब्रह्मणश्चातुर्विध्यमपि समर्थनीयम्। एवं च सात्वतनिष्ठैर्ब्रह्मणस्त्रैविध्यम्, लक्ष्मीतन्त्रानुयायिभिश्च चातुर्विध्यमुपासितव्यमिति सर्वं सुस्थम्।

तत्त्वत्रयव्याख्यानधृतविष्वक्सेनसंहितायां तु परब्रह्मणः [2]पर-व्यूह-विभव-अन्तर्यामि-अर्चावतारभेदेन पञ्चप्रकारत्वमुपदिश्यते। तथैवोपपादितमेतत् तत्त्वत्रये तद्व्याख्याने च[3]। यतीन्द्रमतदीपिकाकारश्रीनिवासदासादयो[4] रामानुजसम्प्रदायानुयायिनः श्रीवैष्णवास्तदेतत् पञ्चविधं परं ब्रह्मैवोपासते। एवं चातुर्विध्ये पाञ्चविध्ये वा सत्यपि सात्वतनिष्ठैस्त्रिविधं परब्रह्म उपास्यते। विभवावतारस्य पराशरभट्टारकदिशा चातुर्विध्ये स्वीकृते न कोऽपि विरोधोऽत्रावशिष्यते। "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥" (१८।६१) इति भगवद्गीतोक्त्याऽन्तर्यामिस्वरूपस्य ब्रह्मणः सत्त्वं सिद्धयत्येव।

---

१. शक्त्याविष्टस्य पुरञ्जयस्य कथानकमेतत्—"तेजसाऽऽप्यायितो विष्णोः पुरुषस्य महात्मनः" (९।६।१६) इत्येवं श्रीमद्भागवते वर्ण्यते।

२. वरवरमुनिविरचितव्याख्यानसहितस्य तत्त्वत्रयस्य वाराणसीमुद्रितं द्वितीयं संस्करणमवलोकनीयम् (पृ० १०१-१०२)

३. तत्रैव १०१-१२० पृष्ठानि द्रष्टव्यानि।

४. यतीन्द्रमतदीपिका पुण्यपत्तनस्थानन्दाश्रमग्रन्थावलिप्रकाशिता (१९३४ ई० वर्षीयं द्वितीयं संस्करणम्, पृ० ८३-८९) द्रष्टव्या। डा० श्रादरमहोदयेनापि स्वकीये भूमिकाग्रन्थे शुद्धसृष्टिनिरूपणप्रकरणे तत्त्वत्रय-तद्भाष्य-यतीन्द्रमतदीपिकासाहाय्येन तदेतत् पञ्चविधं परंब्रह्म व्याख्यातम्।

अत्रापि—"परमेश्वरः ॥ स्थितोऽन्तर्यामिभावेन रूपमासाद्य निष्कलम्" (९।९६-९७) इत्येवं ब्रह्मणोऽन्तर्यामित्वं निष्कलत्वं[1] च प्रतिपाद्यते । एवं सत्यपि सात्वतायां त्रिविधस्य परब्रह्मण एवोपासना सविस्तरं वर्णिता ।

परब्रह्मलक्षणम्

"सर्वगं परमं ज्योतिरमूर्तममलं हि यत् ॥ स एव वासुदेवेति" (८।५२-५३), "महस्तु सततोदितम्" (८।५६) इति सततोदितं वासुदेवाख्यं परंब्रह्म भूतावास[2](८।१५१)पदेन, "नारायणः परंब्रह्म" (१७।४१९) इति [3]नारायणपदेन च प्रोच्यते । "चिदानन्दघनः शान्तः" (६।२१९) इति, "चिच्छक्तिलक्षणं ब्रह्म त्वाह्लादानन्दलक्षणम्" (२०।१३) इति च तस्य चिदानन्दलक्षणत्वं बोध्यते । "सद्ब्रह्मवासुदेवाख्य०" (२।४) इति सदात्मकत्वं प्रतिपादितमेव । एवं च सच्चिदानन्दलक्षणत्वं ब्रह्मणोऽत्रापि स्वीक्रियते । तदेतस्य परस्य ब्रह्मण आराधनाय द्वितीये परिच्छेदे "ॐ शान्तोदितविज्ञानप्राणाय०" (पृ० १७) इत्यादिकं मन्त्रमुद्धरन्त्या सात्वतया दशाद्वयमुररीक्रियते । तत्र प्रथमा सततोदिता नित्योदिता वा, अपरा च शान्तोदिता सङ्गीयते ।

परब्रह्मणो दशाद्वयम्

तत्र सततोदितया नित्योदिताऽपरनामधेयया दशया युक्तः परवासुदेव इति, शान्तोदितया च दशया युक्तो व्यूहवासुदेव इत्युच्यते । परवासुदेवे षाड्गुण्यं स्तिमितं व्यूहवासुदेवे च प्रबुद्धमवतिष्ठते । शान्तोदितो व्यूहवासुदेवः षाड्गुण्यमहिम्ना यथायथं शान्तेषु चतुर्षु गुणेषु प्रबुद्धयोश्च द्वयोर्द्वयोर्गुणयोः साहाय्येन क्रमशः सङ्कर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्धाख्यानि त्रीणि रूपाणि धत्ते । एवं च परब्रह्मणश्चातुरात्म्यं निष्पन्नं भवति । व्यूहदीक्षावसरे तदेतत्—"चतुरात्मानमव्यक्तं शब्दमूर्तिं निराकृतिम् । गुणमात्रैर्विभिन्नं च" (१८।२०७-२११) इत्यादिषु श्लोकेषु वर्ण्यते । चातुरात्म्यं चैनज्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्याख्येषु चतुर्षु पदेष्ववतिष्ठते । तत्र तुर्यपदस्थिते परब्रह्मणि चातुरात्म्यं स्तिमितं भवतीत्येकमूर्तिपदेन तदुच्यते, एकेनैव च मन्त्रेण

१. ब्रह्मणो निष्कलं सकलं च स्वरूपं तन्त्रागमेषु प्रतिपाद्यते । अत्रापि विभवपरिच्छेदे तत्प्रदर्शितम् । अन्तर्यामितया निष्कलात्मना च स्थित आप्तकामो भगवान् स्वव्यापारवशेन स्वां शक्तिमवलम्ब्य पद्मनाभाद्यात्मना सकलं स्वरूपं धारयति (९।९७-९८) । विभवात्मकोऽयं भगवानत्र निष्कलात्मना सकलात्मना चार्च्यत्वेन वर्णितः (९।११४-११५) ।

२. "वसन्ति त्वयि भूतानि भूतावासस्ततो हरे" इत्येवं विष्णुसहस्रनामभाष्ये पराशरभट्टेन भूतावासशब्दो व्याख्यातः । एवं च भूतावासपदं वासुदेवस्यैव पर्यायान्तरम् ।

३. "आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । अयनं मम तत् पूर्वमतो नारायणो ह्यहम् ॥" (महाभारते शान्तिपर्वणि, ३४१।४०) । "ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः" (१।१०) इति मनुस्मृतौ पाठान्तरम् । नारायणीयोपाख्यानेऽत्र वासुदेव एव नारायणो निर्दिष्टः । रामानुजीये च दर्शने लक्ष्मीनारायणाख्यं मह एव परब्रह्मत्वेनोपास्यते । तथैव च प्रतिपाद्यते लक्ष्मीतन्त्रेऽपि (१।१; २२।५) इत्यादिषु स्थलेषु ।

तदाराधनं क्रियते । सुषुप्तिस्वप्नजाग्रत्पदेषु च चातुरात्म्यस्य प्रबुद्धत्वात्तदाराधनाय पृथक् पृथक् चत्वारो मन्त्रा विनियुज्यन्ते ।

सात्वतायां द्वितीये परिच्छेदे एकमूर्तीयस्याऽव्यक्तस्य गुणमात्रलक्ष्यस्य पराभिन्नस्य तुर्यव्यूहस्य, तृतीये सुषुप्तिव्यूहस्य, चतुर्थे स्वप्नव्यूहस्य, पञ्चमे च परिच्छेदे जाग्रद्व्यूहस्यान्तर्यागविधिः समासेनोदितः । तन्नातिविस्तरेणात्र भाष्यकारपद्धत्या वर्ण्यते ।

चातुरात्मसमाराधनम्

अन्तर्यागबहिर्यागभेदेन द्विविधं यजनमिति जानन्त्येवागमतत्त्वविदो विद्वांसः । "यागो बिम्बादिषु भगवदर्चनम्" (पृ० १९) इति चाह भाष्यकारः । अन्तर्यागे बिम्बादीनां स्थितिर्न भवतीति तत्र [1]मन्त्रात्मके स्वरूपे भगवानर्च्यते । अतो द्वितीयादिपञ्चमान्तेषु चतुर्षु परिच्छेदेषु तुर्यसुषुप्तिस्वप्नजाग्रत्पदस्थस्य भगवतो मन्त्राः समुद्धृताः ।

वर्णचक्ररचनाप्रकारः

मन्त्रोद्धाराय [2]वर्ण(मातृका)चक्रस्य ज्ञानमपेक्षितमिति सर्वप्रथममत्र (२।१३-२१) नाभ्यरनेमिप्रधिसंज्ञकाङ्गचतुष्टयविशिष्टस्य तस्य रचनाप्रकारः प्रदर्शितः । तत्रायं संक्षेपः— प्रशस्ते विजने गुप्ते गन्धलिप्तेऽर्घ्यपुष्पाढ्ये सुधूपिते धरातले द्वादशारं चक्रं विलिख्य तन्मध्येऽक्षस्थाने प्रणवम्, नाभौ अकारादिविसर्गान्तान् षोडशस्वरान्, द्वादशारेषु प्रत्यरं वर्णयुग्मक्रमेण ककारादिभकारान्तानि चतुर्विंशतिवर्णानि, नेमिभागे मकारादिहकारान्तवर्णनवकम्, प्रधिगणे क्षकारं च विलिख्य आमध्यात् प्रधिपर्यन्तं वर्णपरम्पराम् ॐ ॐ नमः, ॐ अं नम इत्यादिक्रमेणोच्चार्यार्घ्यादिभिरभ्यर्च्य मन्त्रमुद्धरेत् । अत्राऽक्षस्थाने स्थितो वर्णः प्रणवो[3] नित्योदितपदेनोक्तः । ह्रस्वदीर्घविभागेन स्थितोऽकाराद्यो विसर्गान्तः सौरश्चान्द्रश्च कलागणः षोडशस्वररूपो जयाख्ये (६।१३-१७) व्याख्यातोऽत्र (पृ० १४-१५) द्रष्टव्यः ।

तुर्यव्यूहसमाराधनम्

अत्र प्रदर्शितया मन्त्रोद्धारपद्धत्या "ॐ शान्तोदितविज्ञानप्राणाय सर्वदर्शिने चैतन्याय नमः" इति द्वाविंशाक्षरः षड्भिः पदैरलङ्कृतो मन्त्रो निष्पद्यते । मन्त्रस्यास्य षट्सु पदेषु षाड्गुण्यं निवसतीति सात्वतायामस्यामेवं वर्ण्यते—

तत्रैकार्णं पदं ज्ञानं चतुर्वर्णं पदं बलम् ।
षडक्षरं चाप्यैश्वर्यं वीर्यं पञ्चाक्षरं परम् ॥
चतुर्वर्णं पदं तेजः शाक्तं स्याद् द्व्यक्षरं च यत् । (२।३३-३४) इति ।

अत्र शान्तोदितेति चतुर्वर्णं द्वितीयं पदं व्याख्यासापेक्षम् । व्याख्यातं च तत् तत्रैव

---

१. अन्तर्यागविधिरत्र मन्त्रात्मक उपदिष्टः, न तु कुण्डलिनीयोगपर इति विभावनीयम् ।

२. एतस्य वर्णचक्रस्य चित्रात्मकं स्वरूपं पारमेश्वरसंहितायां ग्रन्थारम्भे स्थापितेषु चित्रेषु ३४ तमे पृष्ठे मातृकाचक्रनाम्ना द्रष्टव्यम् । तत्र विन्यासे काचन भिन्नता दृश्यते ।

३. "प्रपञ्चः प्रणवो ज्ञेयो देवस्य चतुरात्मनः" (२५।३४६) इत्यादिना तदेतस्य प्रणवस्य पररूपत्वं नित्योदितत्वं च शब्दब्रह्मव्याख्यानावसरे प्रतिपादयिष्यते विस्तरेण ।

(पृ० १८-१९) भाष्यकारेण मतभेदप्रदर्शनपुरस्सरम् । [१]तत्त्वत्रयव्याख्यानोद्धृतविष्वक्सेन-संहितावचनानुसारं शान्तोदितसंज्ञकपररूपं प्रति नित्योदितसंज्ञकपरात्परवासुदेवस्य कारणत्वम्, चातुरात्म्यं प्रति च शान्तोदितस्य परवासुदेवस्य (तुर्यव्यूहस्य) कारणत्वमित्येव तस्य निष्कृष्टोऽर्थोऽवगन्तव्यः । एवं च नित्योदिता शान्तोदिता चेति दशाद्वयं तुर्यव्यूहात्मकस्य परमेश्वरस्यैव । परात्परवासुदेव इति परवासुदेव इति च पदद्वयं दशाद्वयद्योतनाय प्रयुक्तम्[२] । वस्तुतो नानयोर्भेदः । परात्परवासुदेवस्य स्वरूपं नित्योदितं निष्कलमिति तद्ध्यानार्थं निराकारो निरङ्गो ब्रह्मलक्षणो मन्त्रो विनियुज्यते । शान्तोदितस्य परस्वरूपस्य ध्यानाय चात्र द्वाविंशाक्षरः षड्भिः पदैरन्वितत्वात् षाड्गुण्यमय एष परमन्त्रः साकारः साङ्गः स्मर्यते ।

साकारः षट्पदोऽयं मन्त्रः—"तेजो वीर्यं बलं शक्तिरैश्वर्यं ज्ञानमेव च ।। दृगस्त्रं कवचं शैखं शिरो हृत् षड् यथाक्रमम् ।" (२।३४-३५) इत्येवं हृदयादिषडङ्गमन्त्रेषु विनियोज्यते । तथा चायं भाष्यकारसंगृहीतः प्रयोगः—"ॐ ॐ ज्ञानाय हृदयाय नमः । ॐ विज्ञान-प्राणाय ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा । ॐ नमः शक्त्यै शिखायै वौषट् । ॐ शान्तोदितबलाय कवचाय हुम् । ॐ सर्वदर्शिने वीर्याय अस्त्राय फट् । ॐ चैतन्याय तेजसे नेत्राभ्यां वौषट्" (पृ० १९) इति । अत्र नेत्रमन्त्रस्य स्वरूपम्, अस्त्रमन्त्रस्य नेत्रमन्त्रस्य क्रमश्च विपर्यस्तो दृश्यते । सात्वतायामत्र (२।३४-३५), अन्यत्र (२।५३-५८) चायमेव क्रम उपदिष्टः[३] । नृसिंह-कल्पपरिच्छेदे सप्तदशेऽपि क्रमस्तादृश एव, किन्तु भाष्यकारेण तत्र "नेत्रत्रयाय" (पृ० २९२) इति तस्य तन्त्रान्तरसम्मतमेव स्वरूपं निर्दिश्यते ।

एवमाधारनाभिहृत्कण्ठचतुश्चक्रविशिष्टे[४] नवद्वारान्विते स्वशरीरे भगवन्मन्दिरत्व-

---

१. तत्त्वत्रयव्याख्याने द्वितीयसंस्करणे १११ तमे पृष्ठे विष्वक्सेनसंहितावचनमेतदवलोकनीयम् । भाष्ये चेमे श्लोका अत्र १९ तमे पृष्ठे समुद्धृताः ।

२. वस्तुतस्तु परवासुदेवो नित्योदितः, व्यूहवासुदेवश्च शान्तोदित इत्युच्यते, "एतत्पूर्वं त्रयं चान्यद् ज्ञानाद्यैर्भेदितं गुणैः" (१।२६) इत्यत्र, "अत्रापि पूर्वमेवोक्तं रूपमस्योपचर्यते" (३।८) इत्यत्र च तथैव प्रतिपादनात् । एवमेवोपबृंहितमहिर्बुध्न्यसंहितायां पञ्चमाध्याये, लक्ष्मीतन्त्रेऽपि च द्वितीयदशमयोः । अस्यां स्थितौ विष्वक्सेनसंहितानुसारं परवासुदेवस्यै-वैतद् दशाद्वयमिति भाष्यकारव्याख्यानं सुखावबोधफलकमवसेयम् । अत एवास्माभिः पर-ब्रह्मणो दशाद्वयव्याख्यानावसरे सात्वताद्युक्त एव क्रमो मुख्यत्वेन वर्णितः ।

३. "हृदादिनेत्रपर्यन्तमङ्गषट्कम्" (८।४), "हृदाद्यान्नेत्रपश्चिमान्" (८।२१) इत्यादि-स्थलेष्वपि सात्वतायां पूर्वोक्त एव क्रमोऽङ्गीकृतः । अत्र (१९।१७३) पञ्चाङ्गानां मन्त्राणां स्वीकार एव क्रमेऽस्मिन् कारणं स्यात् । जयाख्यायां (पृ० ४९-५१) तु तन्त्रान्तरेषु स्वीकृत एव क्रमो निर्दिश्यते, "नेत्राय वौषट्" (६।१२८) इत्येवमेकवचनान्तश्च नेत्रमन्त्रः प्रदर्श्यते ।

४. चतुस्संख्यायामादरातिशयवशादेवात्र चत्वारि चक्राणि प्रदर्शितानि । अन्यत्र—"नाभिचक्रे तु हृत्पद्मे कन्दमूले गलावटे । भ्रूमध्ये ब्रह्मरन्ध्रे च" (२१।५१) इत्येवं चक्रषट्कस्याप्यु-ल्लेखो वर्तत एव । अथापि षट्चक्र-नवचक्रादिविभागापेक्षयाऽस्य विभागस्य प्राचीनता सुतरां सिद्ध्यति ।

बुद्धया पूर्वं मन्त्रान् विन्यस्य "नादेवो देवमर्चयेत्" इति न्यायेन स्वस्मिन् देवत्वाभिमानावलम्बनं कुर्यात् । ततः सात्वतोक्तया (२।६०) ज्ञानभावनया, लक्ष्मीतन्त्रोक्तबृंहितेन (३४।१३७-१४१) ज्ञानसमाधिना ब्रह्मसमाधिना च भगवतो मन्त्रमयं पारमार्थिकं च स्वरूपमनुसन्दध्यात् । तद्यथा—आधारनाभिहृत्कण्ठाख्यचतुश्चक्रविशिष्टे नवद्वारान्विते स्वशरीरे देवगृहात्मके कण्ठकूपधरारूढं यदधोमुखं हृत्पद्मं विराजते, तत्कर्णिकावनेर्मध्ये रूढमूर्ध्वमुखं च यत्कमलम्, तदूर्ध्वे तत्कमलद्वयसंपुटमध्येऽधःकमलोपरि सूर्यचन्द्राग्निलक्षणं ज्योतिःस्वरूपं शब्दब्रह्म राजते । अत्रैव आधारनाभिहृदयाख्यचक्रत्रयोपरि त्रिदीप्तिभास्वराऽव्यक्तध्वनिविग्रहा सुषुम्नाख्या नाडी वर्तते, या ब्रह्मरन्ध्रेण निःसृता सूर्यपथात् परं गता वायुद्वारेण पातालं भित्वा आमूलाग्रं यावदन्तं सर्वं शरीरं व्याप्नोति । भगवत्संकल्पितः सर्वोऽपि बाह्यो विषयः सूत्रे मणिगण इव सुषुम्नानाडीसंबद्धः प्रतितिष्ठति । अत इयं मध्यनाडीति नाम्नाऽपि प्रसिद्ध्यति । तस्यामभ्यन्तरे पूर्वोक्ते हृदयकमलस्थाने निमेषोन्मेषलक्षणे निमीलनोन्मीलनविशिष्टे शशिसूर्याख्ये[1] कमले वर्तेते । तत्र कमलद्वयसंपुटेऽर्कसंबन्धि अधःकमलमाश्रित्य परा (सूक्ष्मा) वाग्भ्रमरी स्थिता । सा परा वाग्भ्रमरी सर्वमन्त्रमयी शान्तात्मनः सूक्ष्मस्य, परस्येति यावत्, विभोः शक्तिरिति सापि तथैव सूक्ष्मा । परा वाग्भ्रमरी चैषा तैलधारावदविच्छेदेनाऽकारादिहकारान्तं शब्दब्रह्माख्यं नादं नदन्ती राजते । नादो हि नाम नादबिन्दुमध्यमावैखर्याख्ये शब्दब्रह्मणोऽवस्थाचतुष्टये प्रथमावस्था । एतच्चाग्रे[2] प्रतिपादयिष्यते ।

नादावसानगगनेऽनन्तशक्तिसमन्वितः शान्तः संवित्स्वरूपो देवो राजते । तदेष विषयः समुपबृंहितो लक्ष्मीतन्त्रे—

नादस्य या परा काष्ठा साऽहन्ता परमेश्वरी ।
शक्तिः सा परमा सूक्ष्मा नादान्तगगनाह्वया ॥
शब्दब्रह्ममयी सूक्ष्मा साऽहं सर्वावगाहिनी ।
विरामे सति नादस्य यः स्फुटीभवति ध्रुवम् ।
ज्योतिस्तत्परमं ब्रह्म लक्ष्मीनारायणाह्वयम् ॥ (२४।९-११) इति ।

एष च भगवान् वासुदेवः स्वमूर्तिभिरच्युताद्याभिरन्वितो[3] वर्तते । परवासुदेवदशाया-

१. "निमीलितोर्ध्वकमलस्य शशिसंज्ञत्वम्, उन्मीलिताधःकमलस्य सूर्याख्यत्वम्" (पृ० २७) इति हि भाष्यम् ।

२. शब्दब्रह्मनिरूपणप्रकरणे द्रष्टव्यमेतत् ।

३. "अच्युताद्या मूर्तयस्तिस्रः" (पृ० २९) इति, "सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानामेवाच्युतसत्यपुरुषापरनामधेयत्वं बोध्यम्" (पृ० २९) इति च भाष्यकारः । एताश्च वासुदेव-अच्युत-सत्य-पुरुषाख्याश्चतस्रो मूर्तयोऽप्ययक्रमेण विदिक्षु पूज्यन्ते (पृ० ८८) । एतासां चत्वारो मन्त्राः (पृ० ५५, ८८, १०५, १३३) अत्र द्रष्टव्याः । जयाख्यायां मूर्तिचतुष्टयस्यास्य स्वरूपादिकमवलोकनीयम् (४।२-१९) । वैखानसास्तु पुरुष-सत्य-अच्युत-अनिरुद्धाख्यं मूर्तिचतुष्टयं समाराधयन्ति । एतच्चात्रैव (पृ० २९) भाष्ये वर्णितं द्रष्टव्यम्, अत्रोद्धृतं महाभारतीयं सार्धश्लोकद्वयं दाक्षिणात्यपाठ एव समुपलभ्यत इति च विभावनीयम् ।

मस्यां परात्परदशायां वाऽच्युतादिभिरन्वितत्वेऽपि वासुदेवस्यैव प्राधान्यं बोध्यम्, "विधानमेकमूर्तीयं समाकर्णय" (२।१३) इति प्रकरणानुरोधात्।

परस्यापि चतूरूपत्वम्

अत्र [1]भाष्यकारपद्धत्या किञ्चिद्विचार्यते—ननु तर्हि शान्तोदितापरनामधेयतुर्यव्यूहचतुर्मूर्तिप्राधान्यं किमिति वर्ण्यते ? इति चेच्छृणु—"अभेदेनादिमूर्तेर्वै संस्थितं [2]वटबीजवत्" (५।८१) इत्युक्त्यनुसारेण परसंज्ञस्य तद्व्यूहस्य परात्परवासुदेवाद्यभिन्नत्वात्। अत एव सुषुप्त्यादिव्यूहवत् प्रत्येकं तद्व्यूहवाचकमन्त्राणामत्रानुक्तिः, परात्परमन्त्रेणैव तस्यापि चारितार्थ्यात्। एवं च परात्परदशायामिव परत्वेऽपि वासुदेवस्यैकस्यैव प्राधान्यं ज्ञेयम्। तर्हि एवमभिन्नत्वे पुनः केन तयोर्भेद इति चेत्, नित्योदितत्वेनेति बोध्यम्। नित्योदितत्वं नाम स्वविभूत्यनुभवदशाविशिष्टत्वम्। शान्तोदितत्वं नाम स्वात्ममात्रानुभवदशाविशिष्टत्वम्।

ननु चैवं शान्तोदितव्यूहेऽप्येकमूर्तिप्राधान्ये व्यूहशब्दस्य स्वारस्यं न संभवतीति चेदुच्यते—किं व्यूहशब्दमात्रेण चतुर्णां प्राधान्यमङ्गीकार्यम् ? यद्येवमङ्गीक्रियेत, तदा [3]"नित्योदितस्य व्यूहस्य तथा शान्तोदितस्य च", "यत्र शान्ततरं व्यूहं शान्तोदितमनन्तरम्", "परात्परस्वरूपस्य परस्य चतुरात्मनः। शान्तोदितादिव्यूहानाम्", "सदोदितस्वरूपस्य वासुदेवस्य वै विभोः। त्रयाणामच्युतादीनां तद्भेदानां तथैव च॥ शान्तोदितस्वरूपस्य परस्य चतुरात्मनः।" इत्येवमादीनामीश्वरपारमेश्वरवचनानां सर्वत्र परात्परत्वसंज्ञायां नित्योदितदशायाम्, परत्वसंज्ञायां शान्तोदितदशायां च वासुदेवादिचातुरात्म्यसद्भावप्रतिपादकानां का गतिः स्यात् ? अतो यद्यपि व्यूहचातुरात्म्यशब्दौ सर्वावस्थासाधारणौ, अर्थाज्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्याख्यासु[4] सर्वास्ववस्थासु स्थितस्य परात्परवासुदेवस्य वाचकौ, तथापि परात्परत्वदशायां परत्वदशायां (तुर्ये व्यूहे) च वासुदेवस्यैव प्राधान्यम्, एक एव च मन्त्रः, तदर्चनेनैवोपसर्जनीभूतानामन्येषामप्यर्चनसिद्धिरिति ज्ञेयम्।

अत्रेदं बोध्यम्—सात्वतायां द्वितीये परिच्छेदे तुर्यव्यूहस्य एक एव मन्त्रः समुद्धृतः। सुषुप्त्यादिव्यूहत्रयाणां च चत्वारश्चत्वारो मन्त्राः समुद्ध्रियन्ते। तदनुरोधेन तुर्ये व्यूहेऽपि चत्वारो

---

१. सुखावबोधाय भाष्यस्थानि कानिचन पदान्यत्र परिवर्त्य स्थापितानि।

२. वटबीजान्तर्गतवटवृक्षीयसूक्ष्मरूपतुल्यशब्दसृष्टिसूक्ष्मरूपशालिनी पूर्वोक्तरूपा त्रिपुरसुन्दर्येव तादृशसूक्ष्मरूपवत्त्वप्रवृत्तिनिमित्तकपराशब्दवाच्या" (पृ० १७) इति वरिवस्यारहस्ये भास्कररायः। तद्वदेव सर्वोऽपि चातुरात्म्यप्रपञ्चोऽभेदेन परस्मिन् ब्रह्मणि वासुदेवे स्थित इति भावः।

३. अत्रत्यानां वचनानां स्थाननिर्देशो भाष्ये कृतो (पृ० ३०) द्रष्टव्यः।

४. जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्याख्यं पदचतुष्टयं लक्ष्मीतन्त्रे (२२।२२-२७) विवृतमत्र भाष्ये (पृ०३१) समुद्धृतं द्रष्टव्यम्। एतच्च पदाध्वनो रूपम्। तुर्यवर्जमेतद्धेयकोटौ स्थाप्यत इति शब्दब्रह्मप्रकरणे विवेचितम्। एवं च पदाध्वन एतत्स्वरूपं शैवशाक्तसम्मतपदाध्वापेक्षया विलक्षणमिति ज्ञेयम्। पदाध्वनो हेयत्वादेवात्र पदात्मनो मन्त्रस्यापि जाग्रद्वृत्तित्वं स्थूलत्वं (पृ० १७५) चाप्यभ्युपगतम्।

मन्त्रा अपेक्षिता आसन् । न केवलं भाष्ये, संहितायामपि हि चातुरात्म्यचतुष्टयं प्रतिपाद्यते (५।८०–८७) । यदा तुर्ये व्यूहेऽपि चातुरात्म्यं भासते, तदा तत्रापि चत्वारो मन्त्रा विनियोक्तव्या आसन्निति किल भवति स्वाभाविकी शङ्का । तस्या एवं परिहारः क्रियते—पर-व्यूह-विभवात्मकं त्रिविधं खलु ब्रह्म अत्र प्रतिपाद्यते । तत्र द्वितीये परिच्छेदे परस्वरूपस्य विवरणं वर्तते । तृतीयचतुर्थपञ्चमपरिच्छेदेषु च व्यूहस्वरूपस्य सुषुप्तिस्वप्नजाग्रत्पदस्थितस्य वर्णनं भवति । तदेतद् व्यूहाख्यं ब्रह्म चातुरात्म्यपदेनाप्युच्यते । एतच्च चातुरात्म्यं परस्वरूपेऽव्यक्तदशायां तिष्ठतीति तत्रापि चातुरात्म्यपदप्रयोगो भवति, तुर्यव्यूहनाम्नाऽपि च तदुच्यते । अत्र च नित्योदितशान्तोदिताख्यं दशाद्वयमङ्गीक्रियते । नित्योदितदशा परात्परवासुदेव इति, शान्तोदितदशा च परवासुदेव इत्युच्यते । एवमुभयोरपि दशयोरत्र वासुदेवस्यैव प्राधान्यम्, अन्यस्य सङ्कर्षणादित्रयस्य, [1]अच्युतादित्रयस्य च तदाऽव्यक्तरूपेणैवावस्थानात् । एतच्च स्पष्टमेवोक्तं संहितायाम्—"अभेदेनादिमूर्तेर्वै संस्थितं [2]वटबीजवत्" (५।८१) इति । एवं चादिमूर्तेर्वासुदेवस्यैव प्राधान्यप्रदर्शनाय तुर्यव्यूहापराभिधस्य परस्वरूपस्याराधनाय च एक एव मन्त्रोऽत्र निर्दिष्ट इति ।

सुषुप्तिव्यूहसमाराधनम्

एवं द्वितीये परिच्छेदेऽव्यक्तस्य गुणमात्रलक्ष्यस्य पराभिन्नस्य तुर्यव्यूहस्यामूर्ताभिरच्युताद्याभिः स्वमूर्तिभिरन्वितस्य तुर्यपदाश्रितेन परेण भगवता सहैकीकारात्मकं स्वरूपमुपवर्ण्य साम्प्रतं तृतीये परिच्छेदे सुषुप्तिपदाश्रितस्य व्यूहात्मकस्य भगवतः स्वरूपं विविच्यते समाराधनविधिप्रदर्शनपूर्वकम् ।

हृवर्णकर्णिकायां सुषुप्त्याख्यपदेऽधः प्रभवाख्येन सृष्टिक्रमेण चतुर्धा विभक्तो वासुदेवाद्यनिरुद्धान्तो व्यूहाख्यो भगवानत्रैवोक्तेन मन्त्रचतुष्टयेनाऽर्च्यते । वेद्यवेदकनिर्मुक्तमच्युतमनस्तमितभारूपं ब्रह्म ब्रह्मयाजिनां कर्मिणामुपकाराय स्वयमेव शब्दब्रह्मरूपेण वेदकत्वं पररूपेण च वेद्यत्वमुपयाति । स वासुदेवः परः प्रभुर्गुणभेदेन प्राग्भागादुत्तरं यावत् स्वयमेवात्मानं विभजते । अनुज्झितस्वरूपः स प्राग्भागे षड्गुणात्मना, दक्षिणे ज्ञानबलात्मना, प्रत्यग्भागे ऐश्वर्यवीर्यात्मना, सौम्ये च तेजःशक्त्यात्मनाऽवतिष्ठते । यद्यपि व्यूहात्मा वासुदेवो भगवान् गुणलक्षणोऽव्यक्तस्वरूप एवास्ते, तथापि द्वितीयपरिच्छेदोक्तं परस्य भगवत एकमूर्त्यात्मकं स्वरूपमत्राप्युपचर्यते । द्वितीयमूर्तेः सङ्कर्षणस्य शुभपाणितलद्वये स्फुटो रेखामयः शङ्खः सुव्यक्तं महल्लाङ्गलं च विद्येते । तृतीयस्य प्रद्युम्नस्य दक्षिणः करो रम्येषुणा, अनिरुद्धस्य चासिवरेण चिह्नितः । अनयोर्वामकरे च शङ्खो राजते । यद्यपि सादृश्यात्, षड्गुणत्वात्, समन्वयात्, शान्तत्वात्, निष्कलत्वाच्च परव्यूहयोर्भेदो न विद्यते, तथापि व्यक्तीभावं गतेनोक्तेन लक्षणेन साधको व्यूहस्वरूपेऽस्मिन् भावस्थितिं निबध्नाति । यद्यपि गुणद्वयद्वयेनैव सङ्कर्षणादिमूर्तित्रयस्य स्वरूपं निष्पद्यत इति प्रथमे परिच्छेदे व्यक्तीकृतम्, तथापि गुणानामवशिष्टं चतुष्टयमपि तत्रानुवृत्तिं भजत्येव । एवं

१. अच्युतादीनां विवरणं २४ पृष्ठे ३ टिप्पण्यां द्रष्टव्यम् ।

२. वटबीजवदिति पदस्य भावावबोधाय २५ पृष्ठस्था २ टिप्पणी द्रष्टव्या ।

च मूर्तित्रये गुणद्वयं व्यक्तरूपेणावशिष्टं च गुणचतुष्टयमव्यक्तरूपेणावतिष्ठते। एवं च मूर्तिचतुष्टयेऽप्येषा मुख्यानुवृत्तिभेदेन स्वानन्दा स्पन्दलक्षणा ब्राह्मी स्थितिः समानैव जागर्ति। अस्य च सुषुप्त्याख्ये पदे स्थितस्य मूर्तिचतुष्टयस्य समाराधनाय ब्रह्मषाड्गुण्यवाचकं मन्त्रचतुष्टयं समुद्धृतमत्रैव। एतेषां मन्त्राणां स्वरूपाणि [1]मन्त्रोद्धारे कृते निष्पन्नानि भाष्ये (पृ०३८-३९) द्रष्टव्यानि।

स्वप्नव्यूहसमाराधनम्

तृतीये स्वाप्ने व्यूहे वाग्वर्णकमलोपरि व्यक्ततां नीतो विशाखयूपसंज्ञो भगवानर्च्यते। अभिन्नपूर्णषाड्गुण्यविभवेनोपबृंहितस्य विशाखयूपस्य भगवतो निर्वचनं लक्ष्मीतन्त्रे प्रदर्शितम्—

शाखास्तु वासुदेवाद्या विभोर्देवस्य कीर्तिताः।
विशाखयूपो भगवान् वितता हि करोति ताः।। (११।३९)

एवं च मन्त्रमयं देहमुपसंहृत्य आमूलात् कर्णिकाग्रं यावत् स्वतेजसा सम्पूर्यायं ब्रह्मयूपस्वरूपेणास्ते, मूर्तिवर्जितः केवलतेजोरूपमाश्रित्य हृत्कमलकर्णिकारूपेण शाखाभूतानां वासुदेवादीनां मध्ये यूपस्थानीयत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः। मन्त्रमयं देहं विवृत्य चायमेव प्रागादिषु दिक्षु वासुदेवादिशाखाचतुष्टयरूपेण व्यक्तिमभ्येति। एवं शाखाचतुष्टयोपेतोऽयं विशाखयूपो भगवान् हृद्यागनिरतैर्बुधैः प्राभवेण क्रमेण अप्ययाख्येन विधिना च, अर्थात् सृष्टिक्रमेण संहारक्रमेण च समर्चनीय इति चतुर्थे परिच्छेदे विशाखयूपस्य वासुदेवादितच्छाखाचतुष्टयस्य च मन्त्राः समुद्धृताः। विशाखयूपश्चायं पूर्वोक्तः परवासुदेव एव मन्तव्यः। एवमेव हि—"नानामन्त्रस्वरूपेण" (४।३१) इत्यादिना "अनुग्रहार्थं भविनां नानाश्रद्धावशेन तु" (४।३५) इत्यन्तेन ग्रन्थेनास्य सदृष्टान्तं स्वरूपमुपपादितम्। यथा आकाशस्थ एक एव सूर्यो नानाजलाश्रयाण्याश्रित्य बहुत्वं सम्प्रदर्शयति, एवमेको हि भगवान् तुर्यादिपदसंस्थेषु नानामन्त्राश्रयेषु स्थितो बहुत्वमुपयाति।

इदमत्र ज्ञेयम्—शान्तोदितादिव्यूहचतुष्टयेऽपि विशाखयूपो भगवान् परवासुदेव एव तत्तद्व्यूहान्तर्गतवासुदेवरूपेणावतिष्ठते। अत्र शान्तोदितव्यूहान्तर्गतवासुदेवस्य परात्परवासुदेवाभिन्नत्वेनोभयोरप्येकेनैव मन्त्रेण चारितार्थ्यात् सङ्कर्षणादीनां त्रयाणां तदङ्गत्वेन प्रत्येकं मन्त्रानुक्तेश्च शान्तोदितवासुदेवस्याङ्गित्वरूपं प्राधान्यम्, सुषुप्त्यादिव्यूहत्रये तु प्रत्येकं चतुर्णां वासुदेवादिमन्त्राणामुक्तत्वात् तत्र वासुदेवस्याग्रगण्यत्वरूपं प्राधान्यमिति।

जाग्रद्व्यूहसमाराधनम्

हृदयकमलस्य सर्ववर्णमयत्वमत्र प्रतिपाद्यते। तथाहि—

अनन्तसरसि क्षार्णे विश्रान्तं यन्महामते।
अकाराक्षरमूलं तु नित्यं सर्वाश्रयाम्बुजम्।।
आकाराक्षरनालं तु शेषसर्वार्णपल्लवम्।
दिगष्टकं समाश्रित्य यत्तत् तिष्ठति चक्रवत्।। (५।२-३) इति।

अस्यायं भावः—यथा नाभ्यरनेमिप्रधिसंज्ञकाङ्गचतुष्टयविशिष्टाद् वर्णचक्राच्चातुरात्म्यस्य विभोः सकलो मन्त्रगणः समुद्ध्रियते, एवमेव चतुरङ्गविशिष्टे वर्णमये हृदयकमले

१. मन्त्रोद्धारप्रकरणेऽपि परिदृश्यमानः पाठभेदो महदनौचित्यमावहति। एतद्दोषपरिहारार्थं प्रयतनीयं प्राज्ञैरिति ते प्रार्थ्यन्ते।

भगवानर्च्यते। तत्र लक्ष्मीतन्त्रोक्तदिशा (१९।३०–३३) क्षकारस्य जगदुत्पत्तिहेतुभूतब्रह्मशक्ति[1]पञ्चकप्राथमिकत्वात् सरोवरत्वं ज्ञेयम्। एवमेव अकारस्य मूलत्वम्, आकारस्य नालत्वम्, इकारादिसकारान्तानां वर्णानां दलत्वं च बोध्यम्। "हवर्णकर्णिकायां तु सुषुप्त्याख्यपदे त्वधः" (३।२) इति पूर्वोक्तदिशा हकारस्य कर्णिकात्वमवसेयम्। एवं च हृदयकमलाकाशस्य तुर्यपदत्वम्, तत्कर्णिकास्थानस्य सुषुप्तिपदत्वम्, केसरस्थानस्य स्वप्नपदत्वम्, तदधःस्थितस्य पत्रस्थानस्य जाग्रत्पदत्वं च सुव्यक्तम्। तथा च हृदयकमलाकाशमध्ये जाग्रत्संज्ञके पदे पञ्चमपरिच्छेदोक्तलक्षणः (५।५–२७) जाग्रद्व्यूहचतुष्टयात्मको भगवान् तत्रैवोक्तेन (५।२७–७७) द्विविधेन मन्त्रचतुष्टयेन सृष्टिक्रमेणाप्ययक्रमेण[2] च यष्टव्यो भावनीयश्चेति। मन्त्राणामेतेषामुद्धृतं स्वरूपं भाष्यतोऽवसेयम्।

चातुरात्म्यस्य विभोरत्रोक्तः सर्वो मन्त्रगणो नाभ्यरनेमिप्रधिसंज्ञकाङ्गचतुष्टयविशिष्टाद् वर्णचक्रादेव समुद्ध्रियते। तदेतस्य द्वितीयादिपञ्चमाध्यायपर्यन्तं चतुर्षु परिच्छेदेषु वर्णितस्य चातुरात्म्यचतुष्टयस्य लक्षणमेवं वर्ण्यते सात्वतायामेव—आदिमूर्तेरभेदेन वटबीजवत् संस्थितं परमार्थतः सर्वक्रियाविनिर्मुक्तं शुद्धसंविन्मयमाद्यं[3] चातुरात्म्यम्, वह्न्यर्केन्दुसहस्राभमानन्दस्पन्दलक्षणं सर्वक्रियाणां बीजं [4]विकल्पानामास्पदं च द्वितीयं चातुरात्म्यम्, नित्यं नित्याकृतिधरं तेजसा सूर्यवर्चसमूर्ध्वाधःस्थितेन सितादिभेदेन भिन्नं कैवल्यभोगफलदं भवबीज-

---

१. क्षं हं सं षं शं—इत्येतानि बीजाक्षराणि ब्रह्मशक्तिपञ्चकरूपेण, शं षं सं हं—इत्येतानि च ब्रह्मबीजचतुष्टयरूपेण व्याख्यातानि तत्रैव भाष्ये (पृ० ४७–४८) द्रष्टव्यानि।

२. अप्ययक्रमेण पुरुष-सत्य-अच्युत-वासुदेवाख्यं मूर्तिचतुष्टयं विदिक्षु पूज्यत इति २४ पृष्ठस्था ३ टिप्पणी द्रष्टव्या।

३. "शान्तः संवित्स्वरूपस्तु" (२।६९), "संविदुत्पद्यते परा" (३।४७) स्वसंविद्गगने" (१०।५६) इत्यादिषु स्थलेष्वत्र च प्रयुक्तोऽयं संविच्छब्दश्चित्पर्यायोऽभिप्रेतव्यः। महेश्वरानन्दो हि संविदेव भगवती विषयोपगमे शरणमिति गुरुमतमर्यादां मानयन् (महार्थमञ्जरीपरिमले, वाराणसीसंस्करणे, पृ० ७७) संविदो ज्ञानपर्यायत्वं स्वीकरोति। इयांस्तु विशेषः—शाक्ततान्त्रिकैर्न केवलं प्रभाकरवज्ज्ञानपर्यायत्वेन, अपि तु परब्रह्मपर्यायत्वेनापि सा व्याख्यायते। अत एव—"संविदेव भगवती स्वान्तःस्थितं जगद् बहिः प्रकाशयतीति दर्शनरहस्यम्" (ऋजु०, पृ० २७) इत्येवं नित्याषोडशिकार्णवव्याख्याता शिवानन्दः संविदः परतत्त्वस्वरूपत्वं ख्यापयति।

४. सप्तदशे परिच्छेदे—"ब्रह्मस्वरूपममलं स्वचैतन्यं तदूर्ध्वतः। विकल्पोपरतं कृत्वा इच्छया तु विवर्तते॥" (श्लो० ३८) इत्यत्र विकल्पोपरतमित्यस्य "विशेषणरहितमित्यर्थः। केवलज्ञानस्वरूपमिति यावत्" (पृ० २९७) इत्यर्थः कृतो भाष्यकारेण। एवं चाद्यं चातुरात्म्यं विशेषणरहितत्वात् केवलज्ञानस्वरूपम्, शुद्धसंविन्मयम्। द्वितीयं च चातुरात्म्यं विकल्पानामास्पदमित्यर्थोऽवसेयः। विकल्पलक्षणं च—"ज्ञानेन्द्रियगणे चैव विकल्पं तनुते मनः। विकल्पो विविधः क्लृप्तस्तच्च प्रोक्तं विशेषणम्॥ धर्मेण सह संबन्धो धर्मिणश्च स

क्षयङ्करं सुधासन्दोहसुन्दरं च तृतीयं चातुरात्म्यम्, स्थित्युत्पत्तिप्रलयकृत् सर्वोपकरणान्वितं चतुर्थं चातुरात्म्यम्। एतच्च चतुर्थं रूपं स्वां प्रकृतिमधिष्ठाय समुदेति अस्तमेति च, अस्यैव शासने विश्वं तिष्ठति (५।८१–८७)। अस्य युगभेदेन[1] सितादिवर्णभेदश्च तत्रैव द्रष्टव्यः। एतच्च मूर्तिचतुष्टयं देहेऽस्मिन् [2]मूर्ध्नि, हृदये, नाभौ, तदधःस्थिते मूलाधारे च भूतये मुक्तये च भावनीयम्।

एवमत्र एकमूर्तेः परात्परवासुदेवस्य, व्यूहानां विभवस्य वासुदेवादीनां तुर्याद्यवस्थाभेदस्याखिलस्यावतारक्रमो ध्यानं मन्त्रपूर्वकमर्चनं च प्रोक्तम्। अत्रायं विशेषोऽवगन्तव्यः—अस्पन्दलक्षणमलोलीभूतं नित्योदितं परात्परं भगवन्तं तुर्यात्मना तुर्यरूपेणाभिन्नं स्मरेत्। षाड्गुण्यविग्रहमाद्यं[3] चातुरात्म्यम्, अर्थाच्चातुरात्म्यचतुष्टये प्रथमं सुषुप्तिपदस्थं वासुदेवं च "यद्यप्यरूपो भगवान्" (३।८) इत्युक्तदिशाऽलाञ्छनं स्मरेत्, अन्यत् त्रितयं (सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाख्यं) च पारमेश्वरं सामर्थ्यं सृष्ट्यर्थं लोलीभूतं स्मरेदिति।

यः साधको विशेषव्यक्तिलक्षणं परव्यूहविभवाख्यतत्तन्मूर्तिविशिष्टं भगवन्तमर्चितुमिच्छति, तं साधकं स्वबुद्ध्या संकल्प्य स्वाभिमुखं ज्ञात्वा तत्कालसमनन्तरं तदिच्छानन्तरमेव ध्रुवा पारमेश्वरी सामर्थ्यशक्तिः स्वयमेव स्पन्दतामेति। मन्त्री साधको यत्र कृतास्पदो यन्मन्त्रसाधनमिच्छति तन्मन्त्रमग्निकणवत् सूते च। तत्स्पन्दनमात्रेणाग्नेः स्फुलिङ्गवन्मन्त्रः समुद्भूतो भवतीति भावः। तन्मन्त्रमाकाशात् तारकमिव हृत्कमलकर्णिकामध्ये आगतं भावयेत्। तन्मन्त्रमध्यादाराध्यं मन्त्रनाथमादिमूर्तिस्वरूपेण परवासुदेवरूपेण, चतुर्मूर्तिस्वरूपेण, एकैकमूर्तिस्वरूपेण, आहोस्विन्नानाकृत्यात्मना वैभवीयेन क्रमेण पद्मनाभादिभेदेन वा उदितं स्मरेत्।

उच्यते। विकल्पः पञ्चधा ज्ञेयो द्रव्यकर्मगुणादिभिः॥" (५।६८–६९) इति लक्ष्मीतन्त्रं समुद्धरता तेन प्रदर्शितम्। एवं च विकल्पोऽयं द्रव्य-गुण-कर्म-जाति(संस्थान)-यदृच्छाशब्दैः पञ्चधा भिद्यते। शुद्धसंविन्मयं ब्रह्म यद्यपि विशेषणरहितम्, तथापि सत्यामिच्छायां तद् द्रव्य-गुण-कर्मादिभिः संयुक्तं सद् विविधविशेषणशबलितं भवतीति सर्वक्रियाणां बीजं विकल्पानामास्पदं च द्वितीयं चातुरात्म्यमिति युक्तमेव।

१. युगभेदेन सितादिवर्णभेदश्चायं श्रीमद्भागवतेऽपि प्रतिपाद्यते—"आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः। शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥" (१०।८।१३) इति।

२. अत्र स्थलद्वये (२।५८, ६१) आधार-नाभि-हृदय-कण्ठाख्यं चक्रचतुष्टयं प्रतिपादितम्। तदनुरोधेन 'मूर्ध्नि' इत्यस्य 'कण्ठकूपे' इत्यर्थोऽवसेयः। अथवा पूर्वोक्तं कण्ठकूपपदमेव मूर्धपर्यायतया नेयम्।

३. अत्र २३ पृष्ठस्था २ टिप्पणी द्रष्टव्या। एवं च षाड्गुण्यविग्रहमाद्यं चातुरात्म्यमित्यनेन व्यूहवासुदेवोऽभिप्रेत इति मन्तव्यम्।

व्यूहान्तरम्

परात्परं नित्योदितव्यूहाख्यं वासुदेवादिचतुष्टयमेव पूर्वोक्तजाग्रद्व्यूहरूपेणाविर्भूतम्। तज्जीवानां संसारखेदनिवृत्त्यर्थं तेनैव रूपेण व्यक्तीभूय जाग्रत्पदे [1]विदिक्ष्वप्ययक्रमेणावतीर्णं पुरुषादि-मूर्तिचतुष्टयं स्वात्मन्युपसंहृत्य पुनः संसारिणामनुग्रहार्थं प्रत्येकं त्रिधा त्रिधा विभक्तं भवति। तद्यथा—वासुदेवः केशव-नारायण-माधवरूपेण, सङ्कर्षणो गोविन्द-विष्णु-मधुसूदनरूपेण, प्रद्युम्न-स्त्रिविक्रम-वामन-श्रीधररूपेण, अनिरुद्धश्च हृषीकेश-पद्मनाभ-दामोदररूपेण व्यक्तचक्रादि-लाञ्छनैः सह भगवदेकान्तिनां पोषकत्वेन शाश्वतीमभिव्यक्तिमभ्येतीति सप्तमे परिच्छेदे—"परं-ब्रह्म परंधाम" (७।३) इत्यादिना ग्रन्थेन प्रतिपाद्यते। एतच्च द्वादशविधं स्वरूपमहिर्बुध्न्ये व्यूहान्तरपदेन निरुक्तम्—"व्यूहान्तरं दश द्वे च केशवाद्याः प्रकीर्तिताः"(५।४६) इति। सात्वतास्थ-मूर्त्यन्तरपदेन (२५।३२२) व्यूहान्तरमेवोच्यत इति भाष्यकारः (पृ० ५४१)। इमां व्यूहा-न्तराख्यामभिव्यक्तिं समवलम्ब्य [2]सुप्रबुद्धः साधको दानधर्मव्रतादीनामाचरणेन[3] संसारानला-दस्मादचिरादेव शाश्वतीं शान्तिमधिगच्छेत्।

द्वादशविधानामासां मूर्तीनां समाराधनायाऽष्टमे परिच्छेदे केशवादीनां द्वादश बीजानि (८।२३), केशवादीनां द्वादश देव्यः[4] (८।३१), देवीद्वादशकबीजानि (८।२६), केशवादीनां तद्देवीनां च स्वरूपलाञ्छनायुधध्यानार्चनादिकं (८।५७-१६१) च विस्तरेण प्रोक्तं द्रष्टव्यम्।

एकोनचत्वारिंशद्विभवदेवाः

ब्रह्मणो विभवात्मनस्तृतीयस्य स्वरूपस्य वर्णनमन्तर्यागविधिमुखेनात्र नवमे परिच्छेदे निरुक्तम्। तथाहि—विभवावतारस्य स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन प्रथमं त्रैविध्यं भवति। कामरूपधरो देवः कार्यारम्भे मध्येऽवसाने च सृष्टिस्थितिसंहारकालेष्वेक एवानेकधा रूपं सन्धत्ते। सृष्टिकाले रक्तं रूपम्, रक्षणकाले शुक्लं रूपम्, संहारकाले च कृष्णं रूपं बिभर्ति। एतदेव वैभवं स्थूलं रूपम्। समाधिनिरतानां सन्मार्गप्रकाशकं रूपं सूक्ष्मसंज्ञम्, तेजोमयं च वैभवं रूपं [5]परात्मकमिति मन्त-व्यम् (९।४–११)।

---

१. एतच्च २४ पृष्ठे ३ टिप्पण्यां प्रतिपादितमवलोकनीयं तत्रैव।

२. शब्दोऽयं शैवेषु शाक्तेषु च तन्त्रेषु योगवासिष्ठादिग्रन्थेषु च बहुधा प्रयुक्तो दृश्यते। तत्र विरूपाक्षपञ्चाशिकायां पञ्चविधा जीवाः प्रतिपाद्यन्ते—अप्रबुद्धः, प्रबुद्धकल्पः, प्रबुद्धः, सुप्रबुद्धकल्पः, सुप्रबुद्ध इति। एतेषां लक्षणानि तत्रैव ४१–४४ श्लोकेषु द्रष्टव्यानि।

३. अत्र सप्तमे परिच्छेदेऽमन्त्रकोऽष्टमे च समन्त्रो व्रतविधिर्वर्ण्यते।

४. "भूयो धामगणात् तस्मात् संस्मरेन्निःसृतं महः॥ केशवादिविभागेन श्रियाद्यं च त्रयं त्रयम्।" (८।६३–६४) इत्यत्र व्यूहान्तरादेवास्य देवीद्वादशकस्योत्पत्तिर्वर्णिता।

५. अत्र भाष्यकारेण स्थूल-सूक्ष्म-पररूपलक्षका जयाख्यश्लोकाः (४।२३–२५) समुद्धृताः। नवमे परिच्छेदे सात्वतायां वैभवीयं रूपं व्याख्यायते, तस्यैव च भेदाः प्रदर्श्यन्ते—"वैभ-वीयो महाबुद्धे देवतानिचयो महान्। य उक्तस्ते मया पूर्वमेकैकं विद्धि तत् त्रिधा॥" (९।४) इति। जयाख्यायां चोक्ते प्रकरणे ब्रह्मणस्त्रैविध्यं प्रतिपाद्यते। एवं चात्रत्ये वैभवीये प्रकरणे तेषां श्लोकानामुद्धारोऽनुचित इव भाति।

अत्र भाष्यकारः—"स्थूलं जाग्रत्पदस्थितमित्यर्थः।...तद्व्यक्तं शान्तसंज्ञं च रूपमित्यत्र व्यक्तमित्यनेन स्वप्नसुषुप्तिपदाश्रितत्वम्, शान्तसंज्ञमित्यनेन तुर्यपदाश्रितत्वं चोच्यते" (पृ० १७२) इति व्याख्याय लक्ष्मीतन्त्रं च समुद्धृत्य व्यूहस्येव विभवस्यापि रूपस्य तुर्यसुषुप्तिस्वप्न-जाग्रत्पदाश्रितत्वेन चातुर्विध्यमुक्तवान्, तत्त्वत्रयव्याख्यानधृतविष्वक्सेनसंहितालक्ष्मीतन्त्रवचन-प्रामाण्येन च तत्समर्थितवान् (पृ० १७३)। वैभवं शान्तसंज्ञकमित्यस्य च तेन—"शान्तसंज्ञकं परात्परम्" (पृ० १७२) इत्यर्थः कृतः। एवं चेदं वैभवं रूपमपि चातुरात्म्यस्वरूपात्, नित्यो-दितशान्तोदिताख्यदशाद्वयविशिष्टात् पररूपाच्चाभिन्नमिति मन्तव्यम्।

अस्य विभवरूपस्याराधनार्थं संज्ञा-पद-पिण्ड-बीजभेदभिन्नश्चतुर्विधो वाचकोऽत्र निर्दिष्टः। तत्र बीजपिण्डमन्त्रयोरन्यतरेण संज्ञापदमन्त्रयोरन्यतरेण, उभयेनाप्यभिन्नरूपेण वा एकस्यैव वाच्यात्मकस्य भगवतोऽर्चनं क्रियते। तत्र संज्ञामन्त्रा नाममन्त्रा इत्यप्युच्यन्ते। मूल-मन्त्राङ्गमन्त्रादिभेदैरेते बहुविधा भवन्ति। व्याख्याताश्च तेऽत्र चान्यत्र च। वैभवाः पिण्डमन्त्राः पदमन्त्राश्च[1] सात्वतायां त्रयोविंशे परिच्छेदे विवृताः। "स्वरोत्थं व्यञ्जनोत्थं वा बीजमेकाक्षरं स्मृतम्॥ स्वरव्यञ्जनसंयोगाद् बह्वर्णः पिण्डमन्त्रराट्।" (९।१८-१९) इत्यत्र च बीजपिण्डयोः स्वरूपं वर्ण्यते। एतेषु पदात्मनो मन्त्रस्य जाग्रद्वृत्तित्वम्, संज्ञात्मनः स्वप्नवृत्तित्वम्, पिण्डा-ख्यस्य सुषुप्तिवृत्तित्वम्, बीजात्मनश्च तुर्यवृत्तित्वमवसेयम्।

विशाखयूपो भगवान् पूर्वं चतुर्थे परिच्छेदे स्वाप्नव्यूहप्रकरणे किञ्चिदिव व्याख्यातः। स स्वयं विश्वसिसृक्षया आद्यपदस्थस्य चातुरात्म्यस्य तुर्यव्यूहस्य शुद्धसंवित्पुरस्सरं महिमान-मादाय व्यूहविभवावतारसाधनोपकरणं सर्वं संगृह्य वासुदेवाद्यं मूर्तिशाखाचतुष्टयं विहाय तथैव वैभवीयस्य यूपस्य पतित्वेनावतिष्ठते, यथार्ककिरणव्रातं त्यक्त्वा महान् तेजःकणः स्वकारणं विना सर्वं गोचरमापूरयति। स एव सम्भूति-स्थिति-संहार-भोग-कैवल्यलक्षणं[2] पञ्चारमिदं संसारचक्रं स्वधिया प्रेरयति। भगवतो विशाखयूपादेव पद्मनाभादीनामष्टत्रिंशद्विभवदेवाना-माविर्भावो जायते। एतेषां विभवदेवानामाराधनाय तेषां बीजानि द्वितीयपरिच्छेदोक्तवर्णचक्रा-

१. पञ्च व्यापकमन्त्रा एव वासुदेवादीनां पदमन्त्रा इति भाष्यकारेणात्र (पृ० १०१, १२७) लक्ष्मीतन्त्रप्रामाण्येन प्रतिपादितम्। वासुदेवादीनां पिण्डमन्त्राश्चाष्टमे परिच्छेदे (श्लो० १०-१४) समुद्धृता दृश्यन्ते।

२. सम्भूति-स्थिति-संहार-भोग-कैवल्यलक्षणं पञ्चारमिदं संसारचक्रमत्र (९।५७) प्रति-पाद्यते। शैवशाक्ततन्त्रेषु वर्णितेन सृष्टि-स्थिति-संहार-निग्रह-अनुग्रहाख्येन कृत्यपञ्चकेन चैतत् तुलयितुं शक्यते। प्रवृत्तिमार्गोपदेशकेषु वैष्णवागमेषु हि कर्मणामेव भोगमोक्षप्रदत्वं निर्दिष्टमिति भोगमोक्षपदाभ्यामेवावशिष्टं कृत्यद्वयं निर्दिष्टमत्र। ऐहिकाः पारलौकिकाश्च भोगा अपि भगवत्स्वरूपा एवेति तेषां निरोधकत्वं तिरोधायकत्वं वा नाङ्गीक्रियते। निरोधानुग्रहौ शाङ्करवेदान्तसम्मताभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तुलयितुं शक्येते। नहि वैष्णवागमेषु शाङ्करमतप्रभाव इति सर्वत्र सद्ब्रह्मावलोकयतां मतेऽस्मिन् कृत्यद्वयमेतद् भोगकैवल्यलक्षणमुपदिश्यते। शाक्ते च क्रमदर्शने तदेतदनाख्याभासापदाभ्यां निर्दिष्टम्।

पेक्षया किञ्चिद्विलक्षणेन शब्दब्रह्ममयेन वर्णचक्रेण समुद्धृतानि (९।६२-७६)। एषां[1] बीजानां वाच्याः सर्वेश्वरो विशाखयूपः पद्मनाभादयो देवाश्च सन्ति। अन्तर्यागविधौ बीजात्मनैव ते समाराध्यन्त इति भावः। तदेतेषां विभवदेवानां परिचयो गौणमुख्यप्रादुर्भावादिविचारश्च भाष्योक्तस्तत्रैवावलोकनीयः (पृ० १८४-१९०)। विशाखयूप-पद्मनाभ-ध्रुवाणां ध्यानं नवमे परिच्छेदे (९।४९-६०, ९८-१०६), अन्येषां च द्वादशे परिच्छेदे (१२।४-१६७) द्रष्टव्यम्। पद्मनाभादीनां[2] विभवदेवानां पिण्डपदमन्त्राश्च त्रयोविंशे परिच्छेदे (२३।४–११३) समुद्धृताः।

इदमत्रावधेयम्—विभवदेवेषु "लोकनाथस्तु [3]शान्तात्मा" (९।८१) इत्येवं सविशेषणं लोकनाथो वर्ण्यते। "शान्तात्मेति लोकनाथस्य विशेषणम्" (पृ० १८४) इति भाष्यकारोऽप्याह। द्वादशे परिच्छेदेऽस्य ध्यानमेवं वर्ण्यते—"लोकनाथं विशालाक्षं सर्वदेवनमस्कृतम्॥ वरसिंहासनारूढं ध्यायेन्मीलितलोचनम्। पद्मासनेनोपविष्टं पद्मगर्भोपमद्युतिम्॥ करुणाविष्टबुद्धिं च शङ्खपद्मकराङ्कितम्। ज्ञानवैराग्यसद्धर्ममार्गत्रयनिदर्शकम्॥" (१२।१०८-११०) इति। "अस्य रूपान्तरं बुद्धावतार इति बोध्यम्" (पृ० २३९) इत्युक्त्वा भाष्यकारः पौष्करसंहितावचनमेवं समुद्धरति—"लोकेश्वरः शान्ततनुर्बौद्धं यस्यापरं वपुः। नियन्ता बुद्धिधर्माणां हिंसादोषस्य दूषकः॥" (३६।२२६) इति। अस्य स्थानं च पौष्करप्रामाण्येनैव प्रदर्शयति—"मगधामण्डले विप्र महाबोधधराश्रितः। संस्थितो लोकनाथात्मा देवदेवो जनार्दनः॥" (३६।३५९-३६०) इति।

---

१. परस्य व्यूहचतुष्टयस्य च बीजमन्त्राः पञ्चब्रह्म(पृ० ४८)-ब्रह्मपञ्चक(पृ० ४८)-ब्रह्मबीजचतुष्टय(पृ० ४९)पदैर्लक्ष्मीतन्त्रप्रभृतिषु (१९।१६-१७, ३०-३३) वर्णिता द्रष्टव्याः। १४४-१४८ पृष्ठेष्वत्र व्यूहानां पडङ्गानां व्यूहान्तराणां तद्देवीनां च बीजान्युद्धृतानि सन्ति। एतेषां पिण्डमन्त्रेष्वन्तर्भावः कर्तुं शक्यते। विभवदेवानां बीजमन्त्राः (१८३-१८४ पृष्ठयोः) द्रष्टव्याः।

२. सर्वेश्वरस्य विशाखयूपस्य बीजमन्त्र (९।६६-६७) समुद्धृतं वर्तते। पिण्डपदमन्त्रोद्धाराख्ये त्रयोविंशे परिच्छेदे तु पद्मनाभादीनामेव पिण्डमन्त्राः पदमन्त्राश्च समुद्धृताः। तत्र विशाखयूपस्य पिण्डमन्त्रस्य पदमन्त्रस्य वा समुद्धारो न दृश्यते। अत एव लक्ष्मीतन्त्रेऽष्टत्रिंशद्विभवदेवा इति प्रतिपादितं स्यात्।

३. अहिर्बुध्न्यसंहितायामेकोनचत्वारिंशद्विभवदेवाः प्रतिपादिताः—"त्रिंशच्च नव चैवैते पद्मनाभादयो मताः" (५।५७) इति। अत्र भाष्यकारेण—पद्मनाभादयोऽष्टत्रिंशद्विभवदेवाः, तेषामधिपतिर्विशाखयूपस्त्वेकः। तेन सहैकोनचत्वारिंशद्देवा इत्यभिप्रायेण "त्रिंशच्च नव चैवैते" इत्युक्तम्" (पृ० १८८) इति व्यवस्था दत्ता। डा० श्रादरमहोदयेन तु स्वकीये ग्रन्थे (पृ० ४२, ४६) विशाखयूपं विहाय पद्मनाभादिष्वेकोनचत्वारिंशत्संख्यापूर्तये शान्तात्मा (२५) पृथग् देवत्वेन वर्णितः। अहिर्बुध्न्यसंहितासंस्करणेऽपि (५६।३३) शान्तात्मनः पृथगुल्लेखो विधीयते। सात्वतसंहितायाम् (१२।११०) इत्यत्र शान्तात्मनो ध्यानं विद्यत इति च स वदति (तत्रैव, ४६ पृ० टिप्पण्याम्)। एतच्च सर्वमसदिति विभावनीयं सुधीभिः।

अत्र भाष्यकारः—"तत्त्वत्रयव्याख्याने (पृ० ११०) बुद्धस्य साक्षादवतारत्वमाचार्यहृदये प्रतिपादितम्। विष्वक्सेनसंहितादिषु तस्यावेशावतारत्वमुक्तम्। उभयोर्विरोधः कल्पभेदेन परिहरणीयः" (पृ० १८७) इति वदत्यस्मिन् प्रसङ्गे। तत्त्वत्रयव्याख्यानधृतविष्वक्सेनसंहितायामनर्च्यप्रादुर्भावप्रसङ्गे—"मोहनाख्यस्तथा बुद्धः" (पृ० ११०) इत्युच्यते। तत्रैवोद्धृतसंहितान्तरेऽपि बुद्धाद्या अनुपास्या उक्ताः (पृ० ११०)। अलशिङ्गभट्टमतानुसारं च बुद्धस्य साक्षादवतारत्वमाचार्यहृदये प्रतिपाद्यते। "स्वेन रूपेणावतीर्णवान्" इति तत्त्वत्रयव्याख्यानस्थं (पृ० ११०) वचनमाचार्यहृदयस्यैव स्यात्। न केवलमाचार्यहृदये, विष्वक्सेनसंहिताप्रतिपादितेषु षट्त्रिंशद्विभवेष्वपि लोकनाथः परिगण्यत एव। एवं च वचनयोरनयोर्विरोधः कल्पभेदेन परिहरणीय इति शास्त्रानुसारी पन्थाः। ऐतिहासिकास्तु सात्वतायां लोकनाथो विभवेषु परिगण्यते। तामनुसरन्त्यपि विष्वक्सेनसंहिता बुद्धावतारस्यानर्च्यत्वं मोहनाख्यत्वं चाहेति कालस्यैवायं महिमा मन्तव्य इत्याचक्षीरन्।

"नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च" (९।८२) इत्यत्र विभवावतारचतुष्टयं वर्ण्यते। अत्र भाष्यकारः—"श्रीकृष्णस्य पारिजातहरशब्देनोक्तत्वात् तदनुक्तिर्न शङ्कनीया। ननु—"नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च" (९।८२) इति कृष्णस्तूच्यत एव, तदनुक्तिः केनोच्यत इति चेन्न; यतोऽत्र प्रतिपादितः कृष्णो न वसुदेवात्मजः, अपि तु धर्मात्मज इति बोध्यम्। तथा च पौष्करे—"धर्मात्मा भगवान् विष्णुः प्रादुर्भावं च शाश्वतम्। प्रादुर्भूतं हि वै यस्मान्नराद्यं कृष्णपश्चिमम्॥" (३६।२०७) इति। ननु चात्र केवलकृष्णशब्दस्योक्तत्वाद् वसुदेवपुत्रः प्रसिद्धः कृष्ण एव स्यादिति चेन्न, साहचर्यविरोधाद् वक्ष्यमाण(१२।१४५-१४६)ध्यानविरोधाच्च" (पृ० १८९) इति व्याचष्टे। न केवलं कृष्णः, नराद्यं कृष्णपश्चिमं विभावावतारचतुष्टयमपि धर्मात्मजत्वेन पूर्वोद्धृतायां पौष्करायां प्रतिपाद्यते। एतच्च समर्थ्यते महाभारतेनापि—"नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णः स्वयम्भुवः"[1] (१२।३३४।९), "एका मूर्तिरियं पूर्वं जाता भूयश्चतुर्विधा। धर्मस्य कुलसन्ताने....॥ नरनारायणाभ्यां च कृष्णेन हरिणा तथा।" (१२।३३४।१६-१८) इति। पौष्करायामप्युच्यते—"चतुर्मूर्तिमयो विप्र नरो नारायणो हरिः। कृष्णसंज्ञश्च भगवान्" (३६।२०९) इति।

एतेषां ध्यानानि द्वादशे परिच्छेदे (१३६–१४८ श्लोकेषु) द्रष्टव्यानि। अत्र च नरनारायण-हरि-कृष्णानां क्रमेण जप-योग-क्रिया-तपःपरिरक्षकत्वं वर्ण्यते। तपोयागजपध्यानस्वरूपोऽन्तर्वेद्यां चतुर्धा प्रवर्तमानोऽयं महामखो वराहध्यानावसरेऽपि निरूप्यते (१२।४५)। अत्र यागशब्दः क्रियावाचकः, ध्यानशब्दस्य योगवाचको ध्येयः।

शक्तीशस्तस्य शक्तयश्च

यद्यपि सर्वेषां देवानां कामरूपधरत्वमव्याहतम्, तथापि सर्वे देवा युगपत् कामरूपधरा न भवन्ति। जाग्रद्व्यूहवासुदेवादीनां मध्ये, पद्मनाभादिविभवदेवानां मध्ये वा एको जगद्रक्षणार्थं

---

१. "स्वयम्भुव इत्यनेन वासुदेवस्यैवैते चत्वारो व्यूहा अजन्मानः" इति तट्टीकाकारो नीलकण्ठः।

वक्त्रभुजास्त्रशक्तिवाहनभेदैर्बहुधा रूपं बिभ्रत् शक्त्यात्मसंज्ञां लभते (१२।१७३–१७६)। एतच्च स्वरूपं विभवान्तर्गतशक्त्यात्मस्वरूपाद् भिद्यते। सोऽयं शक्त्यात्मा (शक्तीशः) भगवानेकाद्येन कान्तागणेन सह षोढा स्वात्मानं विभजति। लक्ष्म्या समेतमेकं रूपम्, श्रीपुष्टयोर्मध्यस्थं द्वितीयं रूपम्, श्रियादिमायानिष्ठेन चतुष्केणावृतं तृतीयम्, शुद्धयादिकेन षट्केन संवृतं चतुर्थम्, क्रियाद्येन पुष्टयन्तेनाष्टकेन संवलितं पञ्चमम्, लक्ष्म्याद्येन द्विषट्केन समन्वितं च षष्ठं स्वरूपं भवति (१२।२०५–२०९)। कान्तागणेषु श्र्यादिचतुष्टयस्य, शुद्धयादिषट्कस्य, लक्ष्म्याद्यष्टकस्य च नामधेयान्यत्र (१२।२०९–२१२) प्रोक्तानि। लक्ष्म्यादिद्विषट्कस्य तु पूर्वमेव वैभवे योगे विभवदेवताकथनप्रकरणे (९।८५) नामानि कथितानि "शक्तिसंघात् प्रधानो य शक्तिसंघः स उच्यते" (९।८४) इत्युक्तिपूर्वकम्। एवं च कान्तागणोऽयं शक्तिसंघपदेनाप्यत्र कथ्यते। अष्टमपरिच्छेदेऽपि (८।३१–३२) व्यूहान्तरस्य (मूर्त्यन्तरस्य) देवीद्वादशकं वर्ण्यते। अत्रत्येन द्विषट्कपदेन ताः कथं न गृह्यन्त इत्ययं विचारो भाष्यकारेण समुपस्थापितः समाहितश्चेति तत्रैव (पृ० २५५–२५६) द्रष्टव्यम्। पद्मनाभादीनां प्रसिद्धाः[2] शक्तय ईश्वरलक्ष्मीतन्त्रयोः प्रतिपादिता भाष्यकारेण चात्र (पृ० १९१) संगृहीताः। षोढा विभक्तस्य सुन्दरीगणस्य ध्यानानि, तासां विन्यासक्रमः, लाञ्छनास्त्रादिकं च त्रयोदशे परिच्छेदे (श्लो० ३५–५९) वर्ण्यमानमवलोकनीयम्।

सर्वगस्य भगवतो य आद्योऽग्नीषोमात्मको देहो विद्यते, तत्रामिश्रं[3] भिन्नलक्षणं शक्तिद्वयं

---

१. वक्त्र-भुज-अस्त्र-शक्ति-वाहनभेदैर्भगवदवताराणां स्वरूपं भिद्यत इति तत्तद्देवताध्यानावलोकनेन स्फुटीभवति। सात्वतायामस्त्राणां शक्तीनां वाहनानां च वर्णनं पृथग्रूपेणापि वर्तते। तत्र शक्तीनां वाहनानां च स्वरूपमत्रोपोद्घाते विवृतम्। भूषण-लाञ्छनास्त्रादीनां नामानि नवमे (श्लो० ८६-८९), तेषां ध्यानादिकं चात्र त्रयोदशे परिच्छेदे (श्लो० १-३४) दृश्यन्ते।

२. अत्र नवमे द्वादशे च परिच्छेदे विभवदेवताप्रकरणे शक्तिसंघे प्रधानः शक्तिसंघो द्वादशदेव्यात्मकः षड्विधश्च कान्तागणः प्रतिपादितः। तेन सात्वतायां विभवदेवताभिः सह एष कान्तागण एव पूजनीयत्वेन निर्दिष्टो मन्तव्यः। नात्र विभवदेवानां स्वतन्त्राः शक्तयः क्वापि निर्दिश्यन्ते। चातुरात्म्यचतुष्टयेषु विभवदेवेषु वा यः कश्चिदुपास्यत्वेन व्रियते, स एव शक्तीश उच्यते। तस्यैव च वक्त्रभुजास्त्रशक्तिवाहनादिभिः परिवृतस्याराधनं विधेयमिति तत्र प्रतिपाद्यते।

३. अमिश्रं भिन्नलक्षणमिति विशेषणद्वयेन स्पष्टमत्र शक्तिशक्तिमतोर्भेदः प्रतिपाद्यते। अहिर्बुध्न्यसंहितायां तु तृतीयेऽध्याये प्रथमं शक्तिमतः शक्तेरपृथक्सिद्धत्वं सदृष्टान्तं प्रतिपादितम् (३।२-६)। अनन्तरं च—"देवाच्छक्तिमतो भिन्ना ब्रह्मणः परमेष्ठिनः" (३।२५) इति भिन्नत्वं च निरूपितम्। भेदश्चायं धर्मधर्मिस्वरूपोऽभिमतः। एवं चात्रत्यं शक्तिस्वरूपं प्रायः शैवैः शाक्तैश्चागमिकैः स्वीकृतस्य तस्यानुकृतिरूपं प्रतीयते।

राजते। भोगार्थं लोकानुकम्पयाऽवतीर्णस्य तस्य [1]भोक्तृशक्तिर्लक्ष्मीः स्मृता, पुष्टिश्च कर्तृशक्तिः कथ्यते। एतच्चाव्ययं शक्तिद्वितयं तेनैव सह उदितम्, यस्य हि नानात्वेन शक्तिसंघरूपेण परिणामो लोकानुकम्पार्थं भवति (१३।४८–५१)।

परमं ब्रह्म सर्वशक्तिमयेन स्वकेन स्वभावेन सहैवाभ्युदेति। यथा ओजो बलात्मना, [2]गन्धो द्रव्यात्मना, बीजं तरुस्वरूपेण, समुद्रो बुद्बुदात्मना परिणमते, एवमेवाऽव्यपदेश्यायाः शक्तेः स्वे शक्तिदर्पणे स्वातन्त्र्यात् स्वेच्छया स्थितिमादाय विश्वेशो मन्त्ररूपां तनुं धत्ते (२५।१४८–१५१)। एतच्चाग्रे भविष्यति।

प्राणाधिपतयः सत्यादयः

पूर्वोक्तः शक्त्यात्मा (शक्तीशः) भगवान् यदा वाहनरूपं धारयति, तदा सत्य-सुपर्ण-गरुड-तार्क्ष्य-विहगेश्वररूपेण विवर्तते। "पञ्चात्मकस्य प्राणस्य विकारस्त्वेष पञ्चधा" (१२।१७८), "अपानादिसमीराणामाधिपत्येन संस्थिताः"(१२।१८४)इति हि प्रोच्यते सात्वते। अत्र "वीर्यपातात्" (१२।१९४) इत्यादिना स्वाभाविकी मानवी भावना भगवत्यारोप्यते। सत्यादीनां स्वरूपध्यानादिकं तत्रैव (१२।१७८–२०२) द्रष्टव्यम्। अत्रैव वाहनारूढस्य द्विभुजस्य शक्तीशस्य स्वरूपमप्यवलोकनीयम् (१२।२०३–२०५)। भुजवक्त्रवर्णैर्भिन्नस्य शक्तीशस्याशीत्युत्तरचतुःशताधिकसहस्रभेदा भवन्तीति—"पुनश्चतुर्भुजस्यैवम्" (१२।२१३–२३९) इत्यादिना प्रतिपाद्यते। सोऽयं शक्तीशो विहगेश्वरारूढो राजते (१२।२०२–२०३)। अनिरुद्ध-प्रद्युम्न-सङ्कर्षण-वासुदेवाश्च क्रमशस्तार्क्ष्य-गरुड-सुपर्ण-सत्यारूढा भवन्ति (१२।२४०–२४१)। आदिमूर्तेर्वासुदेवस्य शक्त्यात्ममूर्तेश्च वर्णलाञ्छनतुल्यत्वेऽपि तद्ध्वजद्वयमनयोर्भेदकृद् भवति (१२।२४३)। वासुदेवादीनां हस्तस्थितपद्मादिलाञ्छनानि प्रकृतकार्यानुसारेण कदाचित् शान्तरूपमङ्गीकृत्यामूर्तानि भवन्ति, कदाचिदिच्छारूपमङ्गीकृत्य मूर्तिमन्ति भवन्ति। तस्माल्लाञ्छनैर्भेदो न ज्ञायते, तत्तद्ध्वजेनैव तत्तन्मूर्तिभेदो ज्ञातव्यः (१२।२४५)।

भवोपकरणम्

शक्तिसङ्घ-किरीटादिप्रधानभूषणचतुष्टय-वाहन - चक्रादिसप्तदशप्रधानायुध - अङ्गमन्त्रगणान्वितमेतत् पद्मनाभादिविभवदेवताचक्रं देवदेवस्य विशाखयूपस्य विग्रहे संलीनमवतिष्ठते (९।८४–८९)। नानाविभवमूर्तीनां शासनेऽवस्थितं भवोपकरणाख्यं गीर्वाणगणं चतुर्विंशतिसंख्याकमप्यत्र (९।९०–९५) वर्ण्यते। एतच्च प्रकरणं[3] डॉ० श्रादरमहोदयेन सटिप्पणीकं व्याख्यातम्। तदानीन्तने सात्वतसंहितासंस्करणे "समुद्राः सगणाः शिवाः" (९।९१) इति पाठो दृश्यते। एष

१. भोक्तृशक्तिः कर्तृशक्तिश्चेति शक्तिद्वयमेवाहिर्बुध्न्यसंहितायां भूतिशक्तिः क्रियाशक्तिरिति च नाम्ना निर्दिष्टम्। तत्र क्रियाशक्तिः शुद्धसृष्टिम्, भूतिशक्तिश्च शुद्धेतरसृष्टिं जनयति। नात्र शैवशाक्तागमवच्छक्तित्रयं स्वीक्रियत इति वैशिष्ट्यं सात्वतायाः प्राचीनताद्योतकम्। लक्ष्मीतन्त्रे तु शक्तित्रयमप्यङ्गीकृतम्। तत्र शाक्ततन्त्राणां स्पष्टः प्रभावः परिलक्ष्यते।

२. गन्धपदमत्र तन्मात्रापर्यायतया उन्नेयम्।

३. तस्मिन्नेव ग्रन्थे १४९–१५० पृष्ठे द्रष्टव्ये।

चाशुद्धः पाठ इति तैः संभावितमासीत्। संभावनेयं सत्या तावद् दृश्यते। "सरुद्रः सगणः शिवः" इति हि शुद्धः पाठः। भाष्यकारेण चैवं व्याख्यातः—"सरुद्रः सगण इति च शिवस्य विशेषणम्। रुद्रैरेकादशभिः सह वर्तत इति तथोक्तः" (पृ० १९२) इति। भवशब्दः स्वयं संहितायामेवं विवृतः—"भवः साक्षात् प्रधानं तु व्यापको जडलक्षणः॥ मन्त्रमन्त्रेश्वरन्यासात्[1] सोऽपि पूज्यत्वमेति च।" (९।९५–९६) इति। भाष्यकारेण चैवं व्याख्यातः—"भवत्यस्मात् सर्वमिति भवः, प्रकृतिरित्यर्थः। प्रधानं प्रधानशब्दवाच्यः" (पृ० १९२) इति। एवं च भवोपकरणमेतद् गीर्वाणगणं प्राकृतिकजगन्निर्माणे सहायकं मन्तव्यम्। ध्यानमेतेषां त्रयोदशे परिच्छेदे (श्लो० ६०–६१) दृश्यते। त एते सर्वे देवाः सिद्धदशकसमन्विता दशमपरिच्छेदोक्ते मण्डले यथायथं विनियुज्यन्ते।[2]

सिद्धदशकम्

तत्र हि मण्डलेऽग्नौ जलमध्ये च विभवदेवानां बाह्यार्चनक्रमः पृच्छ्यते, मण्डललेखनप्रकारप्रदर्शनपुरस्सरं च तदर्चनक्रमोऽत्र वर्ण्यते। बीजन्यासमन्त्रन्यासपुरस्सरं वैभवमुद्राप्रदर्शनेन पूर्वं साधकेन स्वदेहस्य सर्वदेवमयत्वं साध्यते। तदनु मण्डले यथायथं देवानां विन्यासो विधीयते। अत्रैव चतुर्विंशतिसंख्याकभवोपकरणदेवानां सिद्धदशकस्य च विन्यास उपदिष्टः। तत्र सिद्धदशकोपन्यासस्यायं क्रमः—

उपेन्द्रः पूर्वदिग्भागे दक्षिणे दुरतिक्रमः।
महाह्रदः पश्चिमे तु वसुरेतास्तथोत्तरे॥
न्यस्यस्तेजो धराख्यस्तु पूर्वदक्षिणमध्यगः।
नैर्ऋते तु महाकर्मा त्वग्राह्यः पश्चिमोत्तरे॥
पूर्वोत्तरे वर्धमानः साक्षी गगनगोचरे।
[3]आधारनिलयं नाम्ना सर्वस्याधोगतं स्मरेत्॥ (१०।२६–२८)

एवमत्र परव्यूहविभवाख्यं त्रिविधं ब्रह्म सपरिकरं व्याख्यातम्। अर्थाद् [4]एकमूर्तेः परवासुदेवस्य, सर्वासां मूर्तीनां व्यूहवासुदेवादिमूर्तीनाम्, मूर्त्यन्तराणां केशवादीनाम्, प्रादुर्भावगणस्य

---

१. मन्त्रस्य मन्त्रेश्वरस्य च न्यासाज्जडमपि प्रधानं यदा पूज्यत्वमेति, तदा साधको मन्त्रमन्त्रेश्वरन्यासाद् ब्रह्म सम्पद्यत इत्यत्र किमु नाम वक्तव्यम्।

२. नवमे परिच्छेदे परिवारदेवताभिः सह (श्लो० ११८, १३५) मानसार्चनम्, मूर्तौ, मण्डलमध्ये, अग्नौ, जलाशये चार्चनमेषां भवोपकरणदेवानां विहितम्। पञ्चविंशे (श्लो० २२७, ३०१) च प्रासादपीठादिषु तेषां स्थापनार्चनादिविषयको विचारः कृतः।

३. न केवलमाधारनिलयस्य, अपि तु सिद्धदशकस्य नामान्येतानि सर्वाणि विष्णुसहस्रनामस्तोत्रे दृश्यन्ते, व्याख्यातानि च तानि पराशरभट्टारकेण शङ्कराचार्यवर्येण च, किन्तु सात्वतीयस्य अस्य प्रकरणस्य कुत्राप्युल्लेखो न दृश्यते।

४. एते शब्दा अत्र (२५।३२२–३२३) श्लोकयोः प्रयुक्ता भाष्ये व्याख्याताश्च।

पद्मनाभादिविभवावतारगणस्य, प्रादुर्भावान्तराणां विभवान्तराणां च शक्तीश-शक्ति-वाहन-भवो-पकरणादीनां स्वरूपमुन्मीलितम् । परस्वरूपविवरणप्रसङ्गे परावाग्भ्रमरी सर्वमन्त्रमयी शान्तात्मनः सूक्ष्मस्य विभोः शक्तिरिति सापि तथैव सूक्ष्मा निर्दिष्टा । परावाग्भ्रमरी चैषा तैलधारावदविच्छेदेनाकारादिहकारान्तं शब्दब्रह्माख्यं नादं नदन्ती राजते । नादो हि नाम नाद-बिन्दुमध्यमावैखर्याख्ये शब्दब्रह्मणोऽवस्थाचतुष्टये प्रथमावस्थेत्युक्तम् । "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् । शब्दब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माऽधिगच्छति ॥"[1] इति च श्रूयते । तदधुना शब्दब्रह्म विविच्यते ।

शब्दब्रह्म

द्वादशे परिच्छेदे विभवावतारान्तर्गतस्य वेदव्यासस्य ध्यानप्रसङ्गे—"वाग्वेदमण्डलं यो वै स्वरूपद्युतिलक्षणम् । स्वयं स्वोत्थं विभजति नित्यं पश्यन्तिपूर्वकम् ॥ बोधमारुतहृत्पूर्वस्थाने-ष्वभ्युदितं क्रमात् ।" (१५।१५३–१५४) इत्यत्र शब्दब्रह्म व्याख्यायते । "स्वरूपद्युतिलक्षणम् अन्तःस्थितज्योतिःस्वरूपमित्यर्थः,[2] "स्वरूपज्योतिरेवान्तर्भावयन् संस्थितं हृदि" (३४।६३) इति पौष्करोक्तेः । केवलशान्तरूपमिति यावत् । वाग्वेदमण्डलं शब्दब्रह्मेत्यर्थः । [3]पश्यन्तीपूर्वकं त्रिधा विभजति पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीभेदैस्त्रेधा विभक्तं करोतीत्यर्थः ।"'''बोधमारुतहृत्पूर्व-स्थानेष्वभ्युदितं क्रमादिति पश्यन्त्याद्यवस्थात्रयस्य विशेषणं बोध्यम्" (पृ० २४५) इत्येवं भाष्यकारः सार्धमेतत् श्लोकं व्याचख्यौ ।

अत्र मूले स्पष्टं वाक्त्रयं तदुत्पत्तिस्थानत्रयं च प्रतिपाद्यते । भाष्यकारस्तु—"एताः शब्दब्रह्मणोऽवस्थाः सुव्यक्तमुक्ता लक्ष्मीतन्त्रे" (पृ० २४५) इत्युक्त्वा, वाक्चतुष्टयप्रतिपादकान् तत्रत्यान् श्लोकान्, "वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा०" इत्युक्तिं च क्वाचित्कीं समुदाजहार । कथमेतत् संगच्छेत ? इति चेत्, अत्रैव—"परा वाग्भ्रमरी स्थिता" (२।६७) इत्येवं पराया वाचोऽपि वर्णनदर्शनात् तत् समाधेयम् । तथा च वाग्वेदमण्डलं परावागात्मकं शब्दब्रह्म पश्यन्ती-पूर्वकं त्रिधा विभजतीति व्याख्येयम् । बोधमारुतहृत्पूर्वेत्यत्र पूर्वपदेन कण्ठादिस्थानानामध्याहारो विधेयः । तथा च बोध-मारुत-हृदय-कण्ठस्थानेषु तदभिव्यक्तमित्यर्थः करणीयः । एवं चार्थे कृते सति पूर्वापरविरोधः परिहृतो भवति ।

---

१. मैत्रायण्युपनिषदि (६।२२), महाभारते (१२।२३२।३०, १२।२७०।१-२), विष्णुपुराणे (६।५।६४) चोपलभ्यतेऽयं श्लोकः । पुराणेष्वन्येषु च बहुषु ग्रन्थेषु परिदृश्यते ।

२. "ज्योतिरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः । परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते ॥" (पृ० २०३), "स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी" (पृ० २१९) इति वाक्यपदीय-स्वोपज्ञटीकायाम् ।

३. "वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् । अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ॥" (१।१३४) इत्यत्र वाक्यपदीये यद्यपि त्रिविधैव वाक् प्रपञ्चिता, किन्तु स्वोपज्ञ-व्याख्यायां "स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी" (पृ० २१९) इत्यत्र परा वागपि परामृष्टैव ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः कथं नाम[1] परंब्रह्माधिगच्छतीत्ययं विषयोऽत्र दीक्षाप्रकरणे ऊनविंशे परिच्छेदे प्रतिपाद्यते । तथाहि—[2]वेद्यवेदकनिर्मुक्तमच्युतं यत्परं ब्रह्म तत् स्वशक्त्या स्वयमेवाखिलजीवानां मुक्तये शब्दब्रह्मभावेनोदेति । तन्त्रीशब्दवदव्यक्ताक्षरं तच्छब्दब्रह्म अकारादि-क्षकारान्त**वर्ण**रूपेण पुनर्व्यक्ततां याति । तदस्याव्यक्ताक्षरस्य शब्दब्रह्मणः प्रथमरूपस्य परिज्ञानं चातुरात्म्यस्य भगवतोऽनुग्रहं विना वेदविदां विदुषामपि दुर्लभम् । स शब्दमूर्तिर्भगवान् ततः **कला**त्मना परिणमते । यावत् परब्रह्मणो निरञ्जना मूर्तिः षाड्गुण्यकलात्मना न परिणमेत,तावदमूर्तं तत्परंब्रह्म वद केन कथं वा ग्रहीतुं शक्येत । प्रभवाप्ययलक्षणानि पूर्वोक्तानि वासुदेवाद्यध्यक्षा-न्तानि सर्वाणि **तत्त्वानि** कलामयानि भवन्ति । तत्त्वेभ्योऽणिमादिर्गुणैर्युता ज्ञानैश्वर्यादिषड्गुणा-त्मका हृदयाद्यङ्गमन्त्रैरन्विताश्च **मन्त्रा** निर्गच्छन्ति । तैर्मन्त्रैः कर्मिणामात्मलाभार्थं मोहार्थं तत्क्षयाय च तुर्याद्यं **पदम्**, गुणत्रयमयं द्विसप्त**भुवनं** विश्वं च प्रवर्तते । एवं [3]षडध्वात्मकं जगत् परिनिष्पन्नं भवति । सितासितोऽयमध्वा हेयोपादेयलक्षणः । तदेतस्मिन्[4] अध्वषट्के भुवनाध्वनः, पदाध्वनि स्थितस्य सुषुप्त्यादिपदत्रिकस्य च हेयत्वम्, तुर्यपदस्य मन्त्राध्वादीनां चतुर्णां चोपादेयत्वं ज्ञेयम् । अत्रापि व्यपेक्षाभेदेन हेयता उपादेयता च प्रवर्तते । मुमुक्षोः शुद्धाः सन्तोऽनपेक्षायामुपेया अपि हेयपक्षान्तर्गता भवन्ति ।

विवेकपदसंस्थस्य दीक्षया संस्कृतस्य शिष्यस्य यत्र विश्रामो जायते, तद् वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म । यथाऽम्बरं बहूनां परमाणूनामास्पदं भवति, तद्वत् तदिदं परं ब्रह्म अनाद्यप्रबुद्धानां[5] जीवानां निकेतनं विद्यते । एतच्च भुवनानां पदानां चान्तः प्रतिष्ठितम् । ईश्वरेच्छयैव मायीयेऽस्मिन्नध्वद्वये मन्त्राः सुखदुःखमयैर्भोगैर्जीवान् क्रीडयन्ति । ईश्वरेच्छानुविद्धानां भक्तानां समक्षं चाध्वद्वयोर्ध्वस्था मन्त्रा आज्ञाप्रतीक्षका भवन्ति । ते तान् कर्मिणो मायीयाध्वद्वयादूर्ध्व-मणिमादीनां भोगानां प्राप्तये स्वस्थानं नयन्ति । तद्भोगाद् विरक्तस्य स्वशक्त्या स्वव्यापारवशेना-मृतोपमे तत्त्वाध्वनि प्रेरयन्ति, यत्र संस्थितः स अणिमादिभोगान् तृणानीव मन्येत । तत्रापि विरक्तं पुरुषमनिरुद्धादयः शाश्वते कलाध्वनि सम्यगप्ययतां नयन्ति । तदनु कलाध्वनि स्थितः षाड्गुण्यमयोऽध्वमूर्तिभृद् वासुदेवो नित्ये स्वात्मनि शब्दब्रह्माभिधे वर्णाध्वनि तस्य योजनां करोति, यत्रस्थः स शिष्यः स्वयमेव सुशान्तं भगवत्पदं प्राप्नोति, परंब्रह्माधिगच्छति ।

पञ्चाध्वकोशमुक्तस्य लब्धशुद्धस्वात्मस्वरूपस्य साधकस्य योऽनुभूतिपदं याति, स धारासन्तानरूपधृग् भिन्नवर्णमयः शब्द एव वर्णाध्वा कथ्यते । सोऽयं वर्णाध्वा प्रभवक्रमेऽकारात् सकारान्तम्, अप्ययक्रमे च हकाराद् आकारान्तं चातुरात्म्यसमूहरूपेण भावनीयः । तस्यायं क्रमः—

१. तथा हि स्वोपज्ञटीकायां भर्तृहरिः—"ज्योतिरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः । परेण ज्यौतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते ।।" (पृ० २०३) इति ।
२. एतच्च प्रकरणं सात्वतायां १९।१२७ श्लोकात् प्रवर्तते ।
३. "वैष्णवेषु तदितरेषु चागमेषु षडध्वविमर्शः" इति शीर्षकेऽस्मदीये निबन्धे विषयोऽयं विस्त-रेण व्याख्यातोऽवलोकनीयः (सारस्वती सुषमा, व० १७, अ० १-२, पृ० १७९-२००) ।
४. षडध्वनामेतेषामत्र (२४।३५७-३५९) प्रासादेऽपि भावनमुपदिष्टम् ।
५. अत्र ३० पृष्ठस्था २ टिप्पणी द्रष्टव्या ।

प्रभवे द्वादशान्तस्तु हकारश्चतुरात्मनाम् ॥
आकारस्त्वप्यये चैव तुल्यताऽतोऽनयोः स्मृता । (१९।१५४–१५५)

प्रभवे[1] हकारश्चतुरात्मनां द्वादशान्तः,[2] अप्यये च अकारश्चतुरात्मनां द्वादशान्त इत्यन्वयः । द्वादशान्तो धारणाद्विषट्कान्त[3] इत्यर्थः । अत्राकारादिहकारादिष्वेकोनपञ्चाशद्वर्णेष्व-कारादिसकारान्तं वर्णचतुष्टयक्रमेण द्वादश व्यूहा भवन्ति । तदुपर्यवशिष्टस्य हकारस्य द्वादशान्तत्वम्, एवमप्ययक्रमे हकारमारभ्याऽऽकारान्तं व्यूहद्विषट्कानन्तरमवशिष्टस्याऽकारस्य द्वादशान्तत्वमिति भावः ।

वर्णमये व्यूहसमूहेऽस्मिन् [4]ज्ञानसमाधिना साधकेन वासुदेवमारभ्य एकैका मूर्तिर्विश्रामः,[5] उदयः, व्याप्तिः, व्यक्तिरिति रूपेण भावनीया । विश्रामो नाम वर्णानां सूक्ष्मा(परा)[6]वस्था, उदयः पश्यन्त्यवस्था, व्याप्तिर्मध्यमावस्था, व्यक्तिर्वैखर्यवस्था । एवं वासुदेवाद्येकैकमूर्तिरपि विश्रामादिचतुष्टयेन युक्ता ज्ञेया । तत्र विश्रामस्तुरीयव्यूहावस्था । उदयः सुषुप्तिव्यूहावस्था । व्याप्तिः स्वप्नव्यूहावस्था । व्यक्तिर्जाग्रद्व्यूहावस्था । एवं विश्रामादिशब्दवाच्यतुरीयव्यूहावस्थादि-चतुष्टयविशिष्टा वासुदेवादिमूर्तिर्विश्रामादिशब्दवाच्यसूक्ष्मावस्थादिचतुष्टयविशिष्टेष्वकारादिवर्णेषु दण्डवत् संनिवेशेन संस्थिता । एवं चाकारादिषोडशवर्णानां चतुष्टयचतुष्के जाग्रद्व्यूहवासुदेवादय-श्चतस्रो मूर्तयः, ककारादिचतुष्टयवर्णानां चतुष्टयचतुष्के स्वप्नव्यूहवासुदेवादयश्चतस्रो मूर्तयः, थकारादिसकारान्तषोडशवर्णानां चतुष्टयचतुष्के सुषुप्तिव्यूहमूर्तयः, एतद्द्वादशान्ते हकारे ''अभेदेनादिमूर्तेर्वै शुद्धसंविन्मयं महत्'' (५।८१-८२) इत्युक्तलक्षणा तुरीयव्यूहमूर्तिरित्यर्थो ज्ञेयः । एवं हकाराद्यकारान्तं प्रातिलोम्येनापि ज्ञेयम् ।

---

१. प्रभवे हकारः, अप्ययेऽकारोऽवशिष्यतेऽनया प्रक्रियया । नानाशाक्तग्रन्थोद्धृतसंकेतपद्धत्याम्— ''अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः'' इति, ''हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः'' इति चाकारहकारयोः प्रकाशविमर्शात्मकत्वं ख्याप्यते । अत्राप्यकारहकारौ ध्येयौ, तत्रापि च । प्रक्रिया तु भिद्यते ।

२. द्वादशान्तपदमस्माभिर्विज्ञानभैरवोपोद्घाते व्याख्यातम् (पृ० २६-२७) । अत्र तु हकारस्य अकारस्य च द्वादशान्तत्वं प्रतिपाद्यते । धारणानां द्विषट्कं (द्वादशकम्) अत्र चातुरात्म्यत्रयं चतुर्धा विभज्य व्याख्यायते । तदन्ते च परवासुदेव एवावशिष्यत इति द्वादशान्तपदेन तस्यैव परिग्रहोऽत्र मन्तव्यः ।

३. द्विषट्कपदस्य प्रयोगो विज्ञानभैरवादिष्वपि (श्लो० २८) दृश्यते । धारणानां द्विषट्कमनुपद-मेवात्र व्याख्यास्यते । एतदेवोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि (२०।१३-२३) ।

४. ज्ञानभावना-ब्रह्मसमाधिपदाभ्यां व्याख्यातोऽयं ज्ञानसमाधिर्द्वितीये परिच्छेदे (श्लो० ६०) तद्भाष्ये (पृ० २५-२६) च ।

५. विश्राम(विश्रान्ति)-उदय-व्याप्तिशब्दा नित्याषोडशिकार्णवे (४।२) तद्व्याख्ययोश्च ऋजु-विमर्शिनी-अर्थरत्नावल्योः (पृ० १९१, २०५, २३१, ३४७) प्रायोऽस्मिन्नेवार्थे प्रयुक्ताः ।

६. परा वागियमत्र शान्तरूपा सूक्ष्मा चोपवर्णिता (पृ० २७, २४५-२४६, ४०३) ।

एवं वर्णाध्वानं विचार्य प्रकरणमिदमेवमुपसंह्रियते भगवता—"द्विषट्कं धारणानां च द्वादशाध्यात्मलक्षणम्। सोपानभूतं यत् क्रान्त्वा द्वादशान्तं विशेत् परम्" (१९।१५८) इति। एवं वर्णाध्वनः शब्दब्रह्माभिधस्य स्वरूपपरिचयाद् हृत्पद्मोदरसंस्थितम् "तत्राब्जं चार्कमालम्ब्य परावाग्भ्रमरी स्थिता" (२।६७) इत्याद्युक्तप्रकारेण हृदयकमलान्तःस्थितं शब्दब्रह्म, तदनु च सुशान्तं भगवत्पदं (परंब्रह्म) व्यक्तिभावमेति।

वर्ण(मातृका)चक्रम्

वर्णाध्वनः शब्दब्रह्ममयत्वादेव मातृकाचक्रापराभिधानस्य वर्णचक्रस्यापि शब्दब्रह्ममयत्वं सिद्धयति। अत एवोच्यते—"शब्दब्रह्ममयं चक्रम्" (९।६५) इति। तदेतद् [1]वर्णचक्रं द्विविधमत्र प्रदर्शितम्। परव्यूहमन्त्रोद्धारार्थमेकविधम्, विभवमन्त्रोद्धारार्थं चापरविधम्। नृसिंहावतारस्यापि विभवदेवतान्तःपातित्वात् तन्मन्त्रस्य द्वितीयेन वर्णचक्रेणोद्धारः सम्पद्यते।

शब्दब्रह्म यथा परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीभेदेन चतुर्धा भिद्यते, तथैवेदं शब्दब्रह्ममयं वर्णचक्रम् अमल-शान्त-शान्तोदित-उदितभेदेन चतुर्धा विभज्यते। एतेषां लक्षणानि तत्रैव (२५।२७५-२८१) द्रष्टव्यानि।

मन्त्राः

बीजं तरुस्वरूपेण, समुद्रो बुद्बुदात्मना यथा परिणमते, एवमेवाऽव्यपदेश्यायाः शक्तेः स्वे शक्तिदर्पणे स्वातन्त्र्यात् स्वेच्छया स्थितिमादाय विश्वेशो मन्त्ररूपां तनुं धत्ते (२५।१४८-१५१)। यथा हि सर्वगतो वायुर्व्यजनेन विभाव्यते, तथैव भगवानाहूतो मन्त्र-बिम्ब-कुम्भ-मण्डल-अग्निप्रभृतिष्वभिव्यज्यते (६।१६-१७)। एतेषु तस्य मन्त्रशरीरमेव मुख्यं भवति। तेनैव हि भगवानन्तर्यागविधिना समाराध्यते, वाच्यवाचकभावेन च तत्र संतिष्ठते (६।१३३-१३४)। अत एव—"भक्तिरग्नौ गुरौ मन्त्रे शास्त्रे तदधिकारिणि" (२१।६२) इति समयपञ्चकेषु मन्त्रभक्तिरपि समावेश्यते। एष च विमलदीधितिर्मन्त्रो हृदयादवतार्यते (१७।६१)। नाभिचक्रे, हृत्पद्मे, कन्दमूले, गलावटे, भ्रूमध्ये, ब्रह्मरन्ध्रे च तस्य ध्यानं विधीयते (२१।५१)।

तदेतद् भगवतो मन्त्रस्वरूपं संज्ञा-पद-पिण्ड-बीजभेदेन चतुर्विधं भवति। विभवदेवता-प्रकरणे तदेतत् सलक्षणं निरूपितम्। बीजपिण्डमन्त्रयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञभावादिकं [2]ब्रह्मवर्णत्वादिकं च च निरूप्यानयोर्यथावत्परिज्ञानान्निर्बीजपदसर्वपदप्राप्त्यादिकमत्र नवमे परिच्छेदे वर्णितम्। व्याख्यातं च तद्भाष्ये विस्तरेणेति तत एवावलोकनीयम् (पृ० १७७-१७८)।

प्रणवः

त एते बीजपिण्डसंज्ञापदमन्त्राश्चत्वारोऽपि प्रणवस्य परिणामा इत्यत्रैव प्रतिपाद्यते—

य ॐकाराख्यशब्दस्य विवर्तो दीधितिप्रभः॥

---

१. प्रथमं वर्णचक्रं द्वितीये परिच्छेदे (श्लो० १४-२३), द्वितीयं च नवमे (श्लो० ६२-६५) प्रदर्श्यते। सप्तदशे परिच्छेदे (पृ० २९१) च नवमपरिच्छेदोक्तमेव वर्णचक्रं स्मर्यते।

२. बीजपिण्डयोर्ब्रह्मता स्थूलता वैखर्यवस्थापन्ना, वर्णता सूक्ष्मता च मध्यमावस्थारूपेति भाष्यकारः (पृ० १७७-१७८)।

चिल्लक्षणस्त्वनाकारो विद्धि तद्वाचकं त्रिधा ।
क्वचित् पिण्डं क्वचिद्बीजं क्वचिच्छब्दमनाहतम्[1] ।।" (९।२१-२२) इति ।

एवमेवोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

शब्दब्रह्मविवर्तोऽयं किरणायुतसंकुलः ।
चिल्लक्षणः षड्गुणात्मा तस्य भेदश्चतुर्विधः ॥
क्वचिद्बीजं क्वचित्पिण्डं क्वचित्संज्ञा क्वचित्पदम् ॥
तुर्यं सुषुप्तिः स्वप्नं च जाग्रद्व्यूहादयः क्रमात् । (२१।९-११)

एवं च मन्त्रप्रतिपाद्यस्य भगवतः परसूक्ष्मस्थूलभेदेन त्रैविध्यम्, तत्र सूक्ष्मस्य तुर्यसुषुप्तिस्वप्नभेदेन त्रैविध्यं च यथा प्रतिपादितम्, तद्वदिहापि प्रणवस्य परत्वम्, बीजपिण्डसंज्ञामन्त्राणां तुर्यसुषुप्तिक्रमेण सूक्ष्मत्वम्, पदमन्त्रस्य स्थूलत्वं चोक्तं भवति । अत्र प्रणवस्य नित्योदितत्वादिज्यावसरे प्राप्ते सर्वमन्त्राणामुत्पत्तिरित एव भवति, यजने सम्पन्ने सति च तप्तोपले जलवत्तत्रैव लयश्च भवति । एवं च प्रणवान्मन्त्राणामुत्पत्तिलयौ भानुकिरणप्रसरसंकोचतुल्यावभिप्रेतव्यौ । अत एव—"सप्रणवादन्यच्चातुरात्म्यं न विद्यते" (२५।३४५) इति, "प्रपञ्चः प्रणवो मन्त्रो देवस्य चतुरात्मनः" (२५।३४६) इति चात्रोच्यते । अत एव भाष्यकारेण—"मूर्तिमन्त्राः प्रतिव्यक्ति विभिन्नाः, प्रणवस्तु व्यापकत्वात् सर्वेषामेक एव" (पृ० १०१) इत्युच्यते ।

अत्रायं भावः—विष्णवे नमः, नमो नारायणाय, नमो भगवते वासुदेवाय इति त्रयः पदमन्त्राः सप्रणवाः षडक्षर-अष्टाक्षर-द्वादशाक्षर[2](द्वादशार्ण)मन्त्रा उच्यन्ते । एते च प्रणवेन सप्रणवेन [3]जितन्ताख्यपदमन्त्रेण च सहिता व्यापका मन्त्रा इत्युक्तं लक्ष्मीतन्त्रे (२४।६७-७०,

---

१. अनाहतशब्दो नात्र क्वापि व्याख्यातः । लक्ष्मीतन्त्रे (३२।१९; ४९।१३७,१३९) तु परावाक्स्वरूपं शब्दब्रह्म पदेनानेन परामृष्टम् ।

२. द्वादशाक्षरमन्त्रोऽत्र (६।१०६) द्वादशाक्षरविद्यापदेनोच्यते । स्त्रीदेवत्याश्च मन्त्रा विद्यापदेनाभिधीयन्त इति शाक्तः सम्प्रदायः (नित्याषोडशिकार्णवटीकायामृजुविमर्शिन्याम्, पृ० ४३) । कथमत्र पुंदेवत्ये मन्त्रे विद्यापदप्रयोग इति चेत्, श्रूयताम्—वाल्मीकीये रामायणे बालकाण्डे द्वाविंशे सर्गे बलातिबलाख्यविद्याद्वयोपदेशो विद्यते । मन्त्रग्रामपदेनोक्तं तद्विद्याद्वयं तत्र । "दिव्यैर्बलादिकैर्मन्त्रैः" (ई० सं० १।२१) इत्यत्र च बलादिपदेन स एष मन्त्रग्रामः स्मर्यते । उपनिषत्सु नचिकेतोविद्यामधुविद्याप्रभृतीनां रहस्योपदेशा विद्यापदेनोच्यन्ते । एवं च परमरहस्यस्वरूपौ बलातिबलाख्यौ मन्त्रौ यथा विद्यापदेनोक्तौ रामायणे, तथैवात्र वैष्णवानां परमाराध्यभूतो द्वादशाक्षरमन्त्रो द्वादशाक्षरविद्यापदेनोच्यत इति ।

३. "जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन । नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुष पूर्वज ।।" (१२।३३६।४४) इत्यस्मिन् नारायणीये श्लोके जितन्तास्तोत्रमन्त्रचतुष्टयं परिदृश्यते । सोऽयं लक्ष्मीतन्त्रे (२४।६९) प्रणवस्य परिणामत्वेन वर्णितः । जितन्तामन्त्रोऽत्र प्रतिष्ठापरिच्छेदे स्थलद्वये (२५।२४४, ३२५) स्मर्यते । सप्तमे च परिच्छेदे चतुर्षु (२५-२८) श्लोकेषु जितन्तास्तोत्रमन्त्रचतुष्टयं प्रतिपाद्यते । "अत्र प्रथमश्लोके प्रथमपादम्, द्वितीये द्वितीयम्,

७४)। चत्वारोऽपि पदमन्त्रा इमे सप्रणवा एव पूर्णतां भजन्त इति प्रणवस्य व्यापकत्वं सुतरां सिद्ध्यति। तृतीयपरिच्छेदोक्तं सुषुप्तिपदस्थं चातुरात्मीयं संज्ञामन्त्रचतुष्टयं सजितन्तं चापि व्यापकमन्त्रपञ्चकमित्युच्यते (पृ० ५४२)। एतेष्वपि मन्त्रेषु प्रणवस्य व्यापकता वर्तते। न केवलमेतेषु, विशाखयूपमन्त्रसहितेषु स्वप्नपदस्थेषु चातुरात्म्यमन्त्रेषु, जाग्रत्पदेऽपि च प्रभवक्रमेणाप्ययक्रमेण च स्थितस्य चातुरात्म्यस्य मन्त्रेषु प्रणवो विनियोज्यत इति व्यापकत्वं शब्दब्रह्मस्वरूपत्वं च प्रणवस्य सिद्ध्यति।

सात्वतीयामस्यां वर्तते मन्त्राणां किमपि विशिष्टं माहात्म्यम्। पर-व्यूह-विभवरूपस्य त्रिविधस्य ब्रह्मणोऽन्तर्यजनं मन्त्रमयमेवात्र समुपदिश्यते। संज्ञा-पद-पिण्ड-बीजाख्याश्चतुर्विधा अपि मन्त्रा अत्र यथायथं व्याख्याताः। वर्ततेऽन्योऽपि विस्तरोऽस्य विषयस्य। तदत्र संक्षेपेण वर्ण्यते।

तुर्यपदस्थस्य चातुरात्म्यमन्त्रस्य षडङ्गमन्त्रा अपि वर्णिताः। तत्रान्तर्यागे ब्रह्मलक्षणः सोऽयं मन्त्रो निराकारो निरङ्गश्च स्मर्यते, बहिर्यागहोमादिके च साकारः साङ्गः (२।३६-३७)। अत्रैव स्थलद्वये (पृ० २१-२२, ४०७) भाष्यकारेण निरङ्गानां साङ्गानाम्, षडङ्गानां पञ्चाङ्गानां च मन्त्राणां विषये मतान्तरोपन्यासपूर्वकं विचारः कृतः। "प्रणवद्वितयं चोक्त्वा प्रीयतां मे परः प्रभुः" (२।७६) इत्यत्र प्रीतिमन्त्र उक्तः। संकल्पयोगदानमन्त्रावपि लक्ष्मीतन्त्रोक्तौ भाष्यकारेणात्र (पृ० ३२) संगृहीतौ। एतेषां स्वरूपं भाष्यतोऽवगन्तव्यम्। एवमेवाष्टमे परिच्छेदे (८।३२-३६) पद्मशङ्खगदाचक्रमन्त्राः, नवमे (९।८६-८७) [1]किरीटादिचतुष्टयमन्त्राः, पञ्चदशे (१५।९) जीवमन्त्रः सोऽहंस्वरूपः, सप्तदशे (श्लो० ६-१२) नृसिंहबीजमन्त्र-षडङ्गमन्त्र-द्वादशाक्षरमन्त्राः, त्रयोविंशे च किरीटादिलाञ्छनमन्त्राश्चक्राद्यायुधमन्त्राश्च (२३।११३-१३२) वर्ण्यन्ते। मन्त्राणां सम्यगाराधनान्मन्त्रप्रसादः प्राप्यते। येषु साधकेषु चित्तप्रसादः, अतुलतेजोवृद्धिः, धैर्योत्साहसन्तोषाऽकार्पण्यादयो गुणाश्च दृश्यन्ते, तेषां मन्त्रात्मा भगवानभिमुखः स्थित इति मन्तव्यम् (१६।३०-३१)। मन्त्राणामाप्यायनार्थं द्रव्यादिहोमोऽप्यत्र विधीयते (२५।१६५)।

तृतीये तृतीयम्, चतुर्थे चतुर्थं च संगृह्यैकश्लोकरूपेण लक्ष्मीतन्त्रपाद्मादिषु प्रतिपादितम्" (पृ० १२७) इति भाष्यकार उल्लिखति। वस्तुतस्तु पूर्वोक्ते महाभारतवचने लक्ष्मीतन्त्रोक्तस्यैव स्वरूपस्य सत्त्वात्, जितन्ताख्यमन्त्रार्थनिरूपणे त्रिपञ्चाशेऽध्यायेऽहिर्बुध्न्यसंहितायां तस्यैव स्वरूपस्य व्याख्यानाच्च जितन्तामन्त्रस्य तदेव रूपं स्वीकर्तव्यम्। एकस्यैव मन्त्रस्य चातुरात्म्ये विनियोगप्रदर्शनाय तच्चतुर्धा विभज्य भाष्योक्तपद्धत्या स्थापित इत्यस्यैव सुवचत्वाच्च।

१. यद्यप्यत्र किरीटादिचतुष्टयस्य नामान्येव दृश्यन्ते, तथापि—"अभिधानाक्षरं पूर्वमरान्ताद्येन भूषितम्। योक्तव्यमभिधानेन पूर्वोद्दिष्टेन वर्त्मना॥" (९।१३६) इत्यत्र प्रदर्शितया पद्धत्या तन्मन्त्रस्वरूपं निष्पादनीयम्। लोकाचार्यकृतमुमुक्षुप्पडिग्रन्थे मन्त्रार्थप्रकरणेऽष्टाक्षरमन्त्रः, द्वयमन्त्रः, चरममन्त्र इति मन्त्रत्रयस्य विवरणं दृश्यतेऽर्थप्रदर्शनपुरस्सरम्। परमेष्ठिमन्त्रपुरस्सरं पञ्चोपनिषन्मन्त्रा नारदीयसंहितायां (५।९१-९२) विवृताः। श्रीवैष्णवसम्प्रदाये मन्त्रा एते विशिष्टमाहात्म्यवन्तो मन्यन्ते।

सुशुभेनाक्षसूत्रेण स्वकैः करपर्वभिर्वा समस्तमन्त्राणां परावर्तनमाचरणीयं [1]वैभवमुद्राप्रदर्शनं च विधेयम् । अनया मुद्रया हि मन्त्रेष्वौज्ज्वल्यमाहितं भवति । तेन हि मन्त्राः साधकस्याभिमुखा अनुकूला भवन्ति[2] । तीर्थमध्ये, स्वहृत्पद्मे, बिम्बे, वह्निगर्भे निर्धूमे स्थले वेद्यां वा—इत्येवं चतुर्षु स्थानेषु भुक्तये मुक्तये वा नित्यं मन्त्राणामर्चनं विधेयम् । सजलाञ्जलिपूरैस्तीर्थे, भावनामृतजैर्भोगैर्हृदयाम्बुजे, अर्घ्यादिभिर्बहिर्मूर्तौ (बिम्बे), समित्सप्तकपूर्वैः साज्यैस्तिलैश्च वेद्यामग्नौ मन्त्रात्मा भगवानर्च्यते ।

एवं सम्यक् कृतस्य कर्मणः संन्यासं संचयं वा संकल्प्य तस्य मन्त्ररूपानुकारिण्या [3]मुद्रया मुद्रणं विधेयम् । एवं मुद्राबन्धेन कृतेन संन्यासकारिणां कर्म फलार्थं प्रसवं नैति, फलार्थिनां कर्मसंचितवतां च शास्त्रोक्तफलानुभवकालपर्यन्तं सिद्धाद्यैरन्यैर्हर्तुं न शक्यते । यथा जतुमुद्रितधनग्रन्थैर्धनमनपहार्यं भवति, एवं मुद्रामुद्रितकर्मणः साधकस्य कर्माऽप्यन्यैरनपहार्यं भवति । पूजावसाने च प्रदर्शितया तया विघ्नानां निवृत्तिर्भवति । एवं हि मुद्रालक्षणमत्र वर्ण्यते—

मुदं कर्मात्मतत्त्वानां ददात्यमलयाजिनाम् ।।
द्रावयित्री च दोषाणां बाह्याभ्यन्तरचारिणाम् ।
तेन मुद्रा समाख्याता कृतस्यापि च मुद्रणात् ।। (१०।५१-५२)

एवं पर-व्यूह-विभवात्मकेषु मन्त्रेषु पूजितेषु सत्सु ततस्तेषां निष्कलरूपे परात्मन्युपसंहारो विधीयते, हृदि स्वसंविद्गगने नादात्मके तेषां विश्रान्तिर्भाव्यते (१०।५३–५६) ।

एवं सात्वतीयं दर्शनं व्याकुर्वद्भिरस्माभिः पर-व्यूह-विभवात्मकस्य ब्रह्मणस्तदनुगानां विशाखयूप-व्यूहान्तर-शक्तीश–शक्ति–सत्यादिवाहन–भवोपकरण–सिद्धदशक–शब्दब्रह्म-वर्णचक्रमन्त्राणां च स्वरूपं स्पष्टीकृतम् । अन्तर्यजनविधौ मन्त्रात्मकेनैव स्वरूपेण भगवानर्च्यत्वेनात्र निर्दिष्टः । मन्त्रप्रसादादेव साधको भगवतः स्वरूपसाक्षात्काराय ईष्टे । तदेवं चित्तशुद्धेः, जीवात्मनः परमात्मना सह संयोगस्य च प्रमुखं साधनं मन्त्र एवात्र समुपदिश्यत इति सात्वतसंहितेयं प्राधान्येन मन्त्रयोगस्य प्रतिपादिका । अथापि प्रसक्त्यानुप्रसक्त्या तदितरस्यापि योगस्य वर्णनमत्र दृश्यते । तदेव संगृह्य साम्प्रतमत्र समुपस्थाप्यते ।

सात्वतीयो योगः

"वासुदेवेन सङ्कर्षणायोपदिष्टमेकायनश्रुतेः सूत्ररूपं भगवत्प्राप्त्येकोपायभूताभिगमनोपा-

---

१. वैभवमुद्रालक्षणम् (१०।४०-४४) इत्यत्र द्रष्टव्यम् । व्यूहानां मूलमुद्रा षष्ठे परिच्छेदे (श्लो० ६९-७३) वर्णिता ।

२. विषयोऽयं शब्दब्रह्मविवेचनावसरेऽपि समुपदिष्टः ।

३. शैवेषु शाक्तेषु च तन्त्रेषु मन्त्रमुद्राशब्दाभ्यां ज्ञानक्रिये लक्ष्येते । तदेतदीदृशो मुद्रास्वरूपविचारो नित्याषोडशिकार्णवोपोद्घातेऽस्माभिः समुपस्थापितस्तत्रैव (वाराणसीसंस्करणम्, पृ० ७५-७८) द्रष्टव्यः । सात्वतीयो मुद्राप्रपञ्चो विशिष्टविषयानुक्रमणीसाहाय्येनावलोकनीयः । समयिप्रभृतीनां मुद्राचतुष्टयं द्वाविंशपरिच्छेदान्ते (श्लो० ६७) वर्तते ।

दानेज्यास्वाध्याययोगरूपकर्मविचारैः[1] परव्यूहविभवरूपब्रह्मविचारैश्च गर्भितं पञ्चविंशतिलक्षणं सात्वतं तन्त्रम्'' (पृ० १) इति हि भाष्यकारो ग्रन्थारम्भ एव वदति। सात्वतोऽयं क्रियामार्गः शुद्धमार्ग इत्यपि स प्रतिपादयति (पृ० ३)। एतच्च ''पाञ्चकालिकधर्मानुष्ठानं भागवतस्य विहितम्''(पृ० १०७)। शुद्धः क्रियामार्गो[3] हि कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तिनाम्नां चतुर्विधानां भगवत्प्राप्त्युपायानां मध्ये प्रथमः कर्मयोगनाम्नाऽप्यभिधीयते (पृ० २०)। तदेतस्य पञ्चाङ्गस्य शुद्धस्य क्रियामार्गस्य विवरणमत्र षष्ठे परिच्छेदे विस्तरेणोपलभ्यते। योगस्तस्यान्तिममङ्गं भवति। सोऽयं योगोऽत्र ''समुत्थायार्धरात्रेऽथ'' (६।१९३) इत्यादिना ''ब्रह्म सम्पद्यते तदा'' (६।२१४) इत्यन्तेन ग्रन्थेन षष्ठे, ''मन्त्रमाराधयेद् येन विधिना'' (१७।१५) इत्यादिना ''हृदि विन्यसेत्'' (१७।२७) इत्यन्तेन च ग्रन्थेन सप्तदशेऽन्यत्र च यथाप्रसङ्गं वर्णितः। तदाधारेणात्र किमप्युच्यते।

अर्धरात्रे समुत्थाय जितनिद्रो जितेन्द्रियः साधकः कमण्डलुस्थितेन वारिणा समाचम्य गुरुं देवं च नमस्कृत्य अजिनासने[4] समुपविश्य मन्त्रचतुष्केण संहारलक्षणं न्यासं[5] कुर्यात्। आ

---

१. अभिगमनम्, उपादानम्, इज्या, स्वाध्यायः, योग इति पञ्चानां भगवत्कैङ्कर्यरूपाणां कर्मणां प्रत्यहमनुष्ठानार्थं प्रतिनियताः पञ्च कालाः शास्त्रेऽस्मिन् यतः सन्ति संविभक्ताः, अतः पञ्चरात्राह्वयमिदं शास्त्रमिति मन्तव्यम्। ''तैरिष्टः पञ्चकालज्ञैर्हरिरेकान्तिभिर्नरैः'' (१२।३३६।४६), ''तत्रापि पञ्चभिर्यज्ञैः पञ्चकालानरिन्दम'' (१२।३३७।३०) इत्येवं नारायणीयेऽपि स्मर्यन्ते पञ्चकालाः पञ्चयज्ञा वा इमे। श्रूयते च शतपथब्राह्मणे (१३।६।१) पाञ्चरात्रसत्रम्। वैदिके वाङ्मये रात्रशब्दो वर्ततेऽहोरात्रस्य वाचकः। तदनुसारं पाञ्चरात्रसत्रमिदं पञ्चभिरहोरात्रैः सम्पादनीयं स्यात्। अत्र चैकमेवाहोरात्रं पञ्चसु कालेषु विभज्य तत्र भगवानिज्यते। कालसंकोचेऽस्मिन् किं कारणमिति न जानीमः। पाञ्चरात्रसंज्ञाप्रवृत्तिनिमित्तं त्वत्रैव निहितमिति वयं भणामः। ''पञ्चकालरतश्चैव पञ्चरात्रार्थवित्तथा''(१६।९) इति जयाख्यवचने पञ्चकालपञ्चरात्रयोः पृथङ्निर्देशान्नैतत्संभवतीति पाञ्चरात्ररक्षासम्पादकः श्रीदुरैस्वामिमहोदयः स्वकीये संस्कृतोपोद्घाते (पृ० ३९)प्रतिपादयति। तन्न विचारचारु, पञ्चरात्रार्थविदेव पञ्चकालरतो भवतीत्येतत्प्रदर्शनाय तत्रोभयोरप्येतयोः पदयोः प्रयोगस्यावश्यकत्वात्, पञ्चरात्रशास्त्रं जानाति, तदनुरूपमाचरतीति जयाख्यवचनस्याभिप्रायत्वात्।

२. पञ्चविंशतिलक्षणमिति विशेषणेन सात्वततन्त्रस्य पञ्चविंशतिपरिच्छेदात्मकत्वमेव भाष्यकारस्याप्यभिप्रेतमिति निश्चप्रचम्। एवं च डा० डेनियल्स्मिथमहोदयस्यापूर्णेयं संहितेति कथनं नैवौचित्यपदवीं भजते (''ए डिस्क्रिप्टिव बिब्लिओग्राफी आफ द प्रिण्टेड टेक्स्ट्स आफ द पाञ्चरात्रागम'' इत्यस्य ग्रन्थस्य प्रथमभागस्य ५३४-५३६ पृष्ठान्यवलोकनीयानि)।

३. अत्र १० पृष्ठस्था १ टिप्पणी द्रष्टव्या।

४. 'अजिनासने' इति ''चेलाजिनकुशोत्तरम्'' (६।११) इति भगवद्गीतावचनं स्मारयति।

५. अङ्गन्यास-करन्यासादयः सात्वतायां तत्र तत्र विवृताः। सप्तदशे परिच्छेदे तद्विवरणावसरे

पादाज्जानुपर्यन्तमनिरुद्धाख्यम्, जानुमण्डलान्नाभ्यन्तं प्रद्युम्नाख्यम्, नाभेरा कर्णदेशं साङ्कर्षणम्, आ कर्णदेशाद् ब्रह्मरन्ध्रान्तं च वासुदेवाख्यमित्ययं वर्तते मन्त्रचतुष्टयस्य संहारक्रमेण न्यासविधिः। ततोऽभिमतेन पद्मासनादिनाऽऽसीनः स्वात्मनि चातुरात्मीयमभिमानं समाश्रयेत्। वक्षसा समं कायशिरोग्रीवं सन्धाय साधकेन स्वीया विनिमीलितप्राया दृग् नासाग्रगता, जिह्वा तालुतलस्था, दशनावली सान्तरे, ओष्ठपुटावीषल्लग्नौ च विधेयौ। द्वे बाहुकूर्परे नाभौ, हस्तौ च ऊरुमध्यप्रदेशयोर्वामदक्षिणक्रमेणाधरोत्तरयोगेन स्थापनीयौ। एवं स्वविग्रहं [1]योगपट्टेनाचलं सन्धार्य, अपानदेशं संकोच्य, अवर्णहीनेनालक्ष्यमूर्तिना [2]हार्णेन तमुपरिष्टाद् विकासयेत्। तेन च विषयान्तर्निविष्टं चित्तं समाहृत्य बुद्धिलीनं कुर्यात्। ततो मन्त्रैः सहात्मानमात्मना समादधीत।

तत्रायं क्रमः—स्वहृदयकमलं तत्तत्पदभेदेन चातुरात्म्यैरधिष्ठितं स्मृत्वा जाग्रत्पदस्थेनानिरुद्धेन सह आत्मानमेकीभूतं ध्यायन् प्रत्यहं तन्मन्त्रं शतवारं जपेत्। एवं तन्मन्त्रजपसामर्थ्यात् तदीयं ज्ञानं माहात्म्यं च स्वस्मिन् भावयेत्। एवमेकं संवत्सरं योगाभ्यासे कृतेऽनिरुद्धतादात्म्यसमन्वितो भवति योगी। तदनन्तरमनिरुद्धं मन्त्रेण सह प्रद्युम्ने संहृत्य प्रद्युम्नोऽहमिति तादात्म्यभावनां कुर्वन् प्रत्यहं तन्मन्त्रं शतद्वयं जपन् पुनरेकं संवत्सरं नयेत्। एतेन प्रद्युम्नप्रभावो भवति। एवंरीत्या सङ्कर्षणमन्त्रं वासुदेवमन्त्रं स्वप्नव्यूहानिरुद्धादिवासुदेवान्तमन्त्रचतुष्टयं तथा सुषुप्तिव्यूहचतुष्टयं च प्रत्येकमेकैकं संवत्सरं जपवृद्धिक्रमेण तत्तादात्म्यभावनया सहाऽभ्यसन् तत्तन्मन्त्रं तत्तदुत्तरमन्त्रे उपसंहरन् सुषुप्तिव्यूहवासुदेवमपि पूर्वोक्तलक्षणतुर्यस्थाने स्थिते परात्परवासुदेवे उपसंहरन् तत्तादात्म्यभावनया तन्मन्त्रं ध्यातृध्येयाविभागेन यावत्तन्मयत्वं व्रजेत् तावदन्तं जपन्

(पृ० २९५) भाष्यकारः—"व्यापारो मानसो ह्येष न्यासाख्यो यद्यपि स्मृतः। न बध्नाति स्थितिं सम्यक् तथापि क्रियया विना॥ कराधीना पुनः सा"(४।४–५),"नाडीदशकमाश्रित्य ता एवाङ्गुलयो मताः"(४।२२)इत्येवं पारमेश्वरसंहितावचनान्युदाहृत्य न्यासलक्षणमाचष्ट। आगमशास्त्रेषु तन्त्रशास्त्रेषु च न्यासानां महान् प्रपञ्चो विद्यते। मन्त्राक्षराणां पदानां सम्पूर्णस्य मन्त्रस्य च भावनाख्येन मानसेन व्यापारेण सह कराङ्गुलीनां यथायथं निर्दिष्टेष्वङ्गेषु योजनां विदधता साधकेन स्वकीयस्य देहस्य दिव्यत्वमापाद्यते।

१. योगस्य पट्टं वसनविशेषः, योगार्थं पट्टमिति वा। यद्वस्त्रेण पृष्ठजानुबन्धनं भवति तत्। तल्लक्षणं यथा—"पृष्ठजान्वोः समायोगे वस्त्रं वलयवद् दृढम्। परिवेष्टय यदूर्ध्वक्षुस्तिष्ठेत्तद् योगपट्टकम्॥" इति पाद्मे कार्तिकमाहात्म्ये द्वितीयेऽध्याये (शब्दकल्पद्रुमे, भा० ४, पृ० ५६)। योगाभ्यासार्थं पट्टम्। योगिधार्ये पट्टसूत्रभेदे। योगपदकमन्यत्र—"त्रिविधं योगपदकमाद्यं व्याघ्राजिनोद्भवम्। द्वितीयं मृगचर्माढ्यं तृतीयं तन्तुनिर्मितम्॥ चतुर्मात्रप्रविस्तारं दैर्घ्येण यज्ञसूत्रवत्।" सिद्धान्तशेखरः। चतुर्मात्रं चतुरङ्गुलमात्रम्। वीरमि० (वाचस्पत्ये, भा० ६, पृ० ४७८०)।

२. "मध्यजिह्वे स्फारितास्ये मध्ये निक्षिप्य चेतनाम्। होच्चारं मनसा कुर्वंस्ततः शान्ते प्रलीयते॥" (श्लो० ८०) इति विज्ञानभैरवश्लोकेऽप्यनच्कहकारमात्रोच्चारणमुपदिश्यते। अस्य स्वरूपादिकं तत्रैव व्याख्यानेऽस्माभिः कृते तदुपोद्घाते(पृ० २७-३०) च द्रष्टव्यम्।

ततो [1]जपक्रियां त्यजेत् । एवमभ्यासाद् भगवद्योगी वेद्यवेदकभावरहिते समाधौ यदा स्थितिं लभते, तदा ब्रह्म संपद्यते । [2]ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । परमसाम्यं भजतीति यावत् । तदुक्तम्—

अनेन क्रमयोगेन जपवृद्ध्याऽन्वितेन तु ॥
निखिलं चाप्यधीकुर्याद् मन्त्रवृन्दं पुरोदितम् ।
यावदाभाति भगवान् स्थाने पूर्वोक्तलक्षणे ॥
प्रलीनमूर्तिरमलो ह्यनन्तस्तेजसां निधिः ।
चिदानन्दघनः शान्तो ह्यनौपम्यो ह्यनाकुलः ॥
समाधायात्मनात्मानं तत्र त्यक्त्वा जपक्रियाम् ।
ध्यातृध्येयाविभागेन यावत् तन्मयतां व्रजेत् ॥
यदा संवेद्यनिर्मुक्ते[3] समाधौ लभते स्थितिम् ।
अभ्यासाद् भगवद्योगी ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ (६।२१०-२१४)

मन्त्रात्मकस्य भगवत आराधनं चैवं विधीयते—स्नातः बद्धकचो मौनी शुद्धवासोऽर्घ्य-पुष्पधृक् साधक आसने उपविश्य [4]दहनाप्यायनात्मिकाभ्यां [5]धारणाभ्यां प्राणायामान्वितां

---

१. जयाख्यायां (३३।११) योगाख्यानपटले, मृगेन्द्रादिषु च शैवागमेषु योगपादे (श्लो० ३) जपो योगाङ्गतया निर्दिश्यते । वाचिकः, उपांशुः, मानस इति त्रिविध एव जपः सर्वत्र प्रतिपाद्यते । अत्र तु—"वाचिकं क्षुद्रकमर्थिमुपांशुः सिद्धिकर्मणि । मानसो मोक्षलक्ष्मीदो ध्यानात्मा सर्वसिद्धिकृत् ॥" (३९।३५) इत्येवं लक्ष्मीतन्त्रप्रामाण्येन ध्यानात्मा चतुर्थः प्रकारोऽपि भाष्यकारेण जपस्य प्रदर्शितः (पृ० ८५), तस्य योगाङ्गता च प्रदर्शिता (पृ० ११५) । जयाख्यायां जपविधानाख्ये चतुर्दशे पटलेऽपि सोऽयं विषयो विस्तरेण सभेदोपभेदं भणितः ।

२. अस्यां स्पष्टोक्तौ सत्यामपि—"मुद्रां बद्ध्वा स्मरेद् ध्यानं देवोऽहमिति भावयेत्" (१७।३६) इति सात्वतवचनोपबृंहके—"अहं स भगवान् विष्णुरहं नारायणो हरिः । वासुदेवो ह्यहं व्यापी भूतावासो निरञ्जनः ॥ एवंरूपमहङ्कारमासाद्य सुदृढं मुने ।" (११।४१-४२) इति जयाख्यावचने सत्यपि, भाष्यकारः—"नैतावता जीवात्मपरमात्मनोः स्वरूपैक्यं शङ्कनीयम्" (पृ० २९६) इति वदति, पाञ्चरात्ररक्षाप्रामाण्येन च तत्समर्थयति । तदेतच्चिन्त्यम्, "शान्तात्मन्येकतां गतम्" (१९।११२) इत्यत्र तयोरेकत्वस्य स्पष्टं प्रतिपादनात् । भोगमोक्षप्रकरणेऽप्ययं विषयो विचारितोऽस्माभिः ।

३. संवेद्यनिर्मुक्तः समाधिरयं षडध्वप्रकरणेऽपि (१९।११३) स्मर्यते । स च योगसूत्रप्रतिपादितादसम्प्रज्ञातसमाधेरभिन्न इति विभावनीयम् ।

४. तन्त्रान्तरेषु भूतशुद्धिप्रकरणे प्राणायामसाहाय्येन शोषदाहाप्याया उपदिश्यन्ते । अत्र तु दाह-आप्यायात्मकं धारणाद्वयमेव वर्ण्यते (पृ० ३५६) । एवं चात्र शोषस्य दाह एवान्तर्भावो मन्तव्यः ।

५. धारणाद्वयमत्र वर्णितम् । धारणानां द्विषट्कं च वर्णाध्वविवेचनावसरे निर्दिष्टम् । "पञ्चभिर्धारणाभिर्वा द्वाभ्यां वा शोधयेत्तनुम्" (३।१४३), "धारणापञ्चकं चैव संक्षिप्तं

भूतशुद्धिं कुर्यात् । तद्यथा—केवलेन भावनासहितेन वा मन्त्रेण नाभिदेशस्थितं देवं ध्यात्वा कल्मषं संगृह्य वायुमार्गेण प्रथमप्राणायामान्त्यरेचकवायुमार्गेण निस्सृतं तं द्वादशान्तावधौ क्षिपेत् । निरस्तपापं मन्त्रेशं वातचक्रसमन्वितं द्वितीयप्राणायामपूरकवायुसहितं नासाग्रेण देहे सम्पूरयेत् । गतिरुद्धेन वायुना तृतीयप्राणायामकुम्भकेन च तं मन्त्रेशं हृदयस्थं ध्यायेत् । चित्तोपशमनार्थं वायुजयाय चायं प्राणायामोऽभ्यस्यते । अथ बहिः शनैः शनैः केवलं मारुतं क्षिपेत् । अन्त्यं रेचकं विनाऽन्येषामुत्तरोत्तरं यथाशक्ति कालह्रासं नित्यमेव समाचरेत् । अथ तप्तहाटकसन्निभं सहस्ररश्मिसंकाशं मन्त्रेशं द्वादशान्ते वृत्तमण्डलमध्यगं स्मृत्वा पञ्चतन्मात्रैर्मुक्तं स्वकं विग्रहं निर्दहेत्, [1]दक्षिणाङ्घ्रेरङ्गुष्ठप्रान्तप्रदेशे युगान्तहुतभुक्स्वरूपं ज्वालाशतसमावृतं शिखाक्षरं[2] ध्यात्वा तेन समन्ततः प्रज्ज्वलन्तं स्वविग्रहं ध्यायेदिति भावः । तदनु देहजां ज्वालां मन्त्रनाथे लयं गतां भावयेत्, दिव्यं प्रशान्ताकारं तं मन्त्रनाथं च चेतसाऽधिष्ठाय स्वमन्त्रात् तन्मन्त्रप्रतिपाद्यद्वादशान्तस्थितभगवतः[3] सकाशान्निस्सृतेनामृतौघेन स्वकं विग्रहमासिञ्चेत् । ततः समन्त्रं तद्बिम्बं द्वादशाङ्गुलोपरि वृत्तमण्डलमध्यस्थं हृदि विन्यसेदिति ।

योगस्य लक्षणं संहितायां कुत्रापि न निर्दिष्टम् । भाष्यकारेण पाञ्चरात्ररक्षादिशा शाण्डिल्य-पराशर-दक्ष-याज्ञवल्क्यवचनानि समुद्धरता तद्विहितम् । तत्र शाण्डिल्यमतेन—अयं परमात्मा ईदृशः, अयं जीवात्मा ईदृश इत्येवं तयोः संबन्धानुसन्धानमेव योगः । वश्यैरिन्द्रियैः सम्पन्ना बुद्धेर्ब्रह्मणि संस्थितिरपि योगपदेनोच्यते । पराशरमतेन आत्मप्रयत्नसापेक्षाया विशिष्टाया मनोगतेर्ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते । सर्वभावविनिर्मुक्तस्य क्षेत्रज्ञस्य[4] ब्रह्मणि न्यास एव ध्यानं योगश्चेति दक्षः । मनो बाह्यवृत्तिरहितं कृत्वा क्षेत्रज्ञस्य ब्रह्मणि न्यास एव योग इति च याज्ञवल्क्यः । अत्र शाण्डिल्यस्य द्वितीयं पराशरीयं च लक्षणमेकविधम् । एवमेव दक्षस्य याज्ञवल्क्यस्य च लक्षणं समानमिति त्रिविधमत्र योगस्य लक्षणं प्रतिपादितं भवति—जीवात्मपरमात्मनोः संबन्धानुसन्धानं प्रथमम्, शुद्धस्य मनसो ब्रह्मणि संयोगात्मकं द्वितीयम्, बाह्यवृत्तिरहितस्य क्षेत्रज्ञस्य ब्रह्मणि योजनं च तृतीयमिति । अन्ततः

विहितं द्वयम्" (३।२२३) इत्येवं च धारणापञ्चकं पारमेश्वरे स्मर्यते । धारणाविषयकः प्रपञ्चः पारमेश्वरे तृतीयाध्याये, जयाख्यायां च समाधिख्यापने दशमे पटले द्रष्टव्यः ।

१. एष विषयः—"कालाग्निना कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम् । प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासस्तदा भवेत् ।।" (श्लो०५१) इति विज्ञानभैरवेऽपि वर्ण्यते । कालपदाद् दक्षिणपादाङ्गुष्ठात्, स्वकं पुरम् आत्मीयं पाञ्चभौतिकं शरीरमित्यर्थः ।

२. शिखाक्षरं वह्निबीजमित्यर्थः ।

३. द्वादशान्ते स्वमूर्ध्नो द्वादशाङ्गुलोपरीत्यर्थ इति भाष्यकारः (पृ० २९४) । द्वादशान्तोऽयं द्विषट्कपदेनाप्यत्र (१८।५४) निर्दिश्यते । "द्विषट्कं धारणानां च" (१९।१५८) इत्यत्र तु द्विषट्कशब्दो द्वादशसंख्यापरामर्शकः ।

४. ज्ञेत्रज्ञेत्रज्ञयोः स्वरूपं भगवद्गीतायां त्रयोदशाध्याये निर्दिष्टमत्र स्वीकर्तव्यम्, न तु नवमे परिच्छेदे (श्लो० ३०) पिण्डबीजादिप्रकरणे प्रोक्तम् ।

परिष्कृतचित्तवृत्तेर्जीवात्मनः परमात्मनि योजनमित्येकमेव सर्वलक्षणसमुच्चायकं योगस्य लक्षणं परिनिष्पन्नं भवति ।

परस्य भगवतोऽर्चनेऽष्टाङ्गयोगयुक्तानां हृद्यागनिरतात्मनां योगिनामेवाधिकारोऽत्र (२।७-८) निर्दिष्टः । तेन संहितेयमष्टाङ्गयोगस्य समर्थिकेति ज्ञायते । कानि तान्यङ्गानीति तु नात्र दृश्यते । जयाख्यायां तु योगाख्याने त्रयस्त्रिंशे पटले प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-जप-योग-ऊह-समाधिभेदैरष्टाङ्गो योगो वर्णितः । एष च पातञ्जलादष्टाङ्गयोगाद्[1] भिद्यते ।

आधारनाभिहृत्कण्ठाख्यचतुश्चक्रविशिष्टस्य नवद्वारस्य देहस्य (२।५८,६१), नाभि-चक्र-हृत्पद्म-कन्दमूल-गलावट-भ्रूमध्य-ब्रह्मरन्ध्राख्यस्थानानाम् (२१।५१), अपान-कण्ठकूप-नाडी-ब्रह्मद्वार-ब्रह्मनाडी-मध्यनाडी-मारुत-शशि-सूर्यप्रभृतिशब्दानां चात्र प्रयोगदर्शनात् कुण्डलिनी-योगस्य प्रारम्भिकं स्वरूपमप्यत्र दृग्गोचरीभवति ।

एवमन्तर्यागोपयोगिनः परव्यूहविभवाख्यस्य ब्रह्मविचारस्य, कर्मविचारेष्वन्तिमस्य योगस्य च सात्वतीयस्यात्र स्वरूपमुन्मीलितम् । अथ बहिर्यागमुखेन शिष्टयोश्चर्याक्रिययोः स्वरूपं प्रकाश्यते ।

यागः

"यागो बिम्बादिषु भगवदर्चनम्, होमो वह्निसन्तर्पणम्" (पृ० १९-२०) इत्याह भाष्य-कारोऽलशिङ्गभट्टः । एवं च यागोऽर्चनमित्यनर्थान्तरम् । तीर्थमध्ये, स्वहृत्पद्मे, बिम्बे, वह्निगर्भे निर्धूमे स्थले वेद्यां वा इत्येतेषु चतुर्षु स्थानेषु भुक्तये मुक्तये वा नित्यं मन्त्राद्यात्मको भगवाना-राध्यते । सजलाञ्जलिपूरैस्तीर्थे, भावनामृतजैर्भोगैर्हृदयाम्बुजे, अर्घ्यादिकैर्बहिर्मूर्तौ (बिम्बे), समित्सप्तकपूर्वैः साज्यैस्तिलैश्च वेद्यामग्नौ—इति तेषां क्रमोऽवसेयः (१०।४४-४७) । एतच्च चतुःस्थानार्चनपदेनात्रोच्यते । तत्र हृदि भावनामृतजैर्भोगैरर्चनमन्तर्याग-हृद्याग-मानसयाग-प्रभृतिपदैरुच्यते । मूर्तौ, मण्डलमध्ये, बहिरग्नौ, जलाशये च (९।११९) यद् भगवानर्च्यते, तद् बहिर्याग-बाह्ययाग-द्रव्ययागप्रभृतिशब्दैरभिधीयते । तदुक्तम्—

इत्येवमन्तर्यागस्तु देवस्य परमात्मनः ॥
समासेनोदितः सम्यगथ मूर्तौ यजेद् बहिः ।

---

१. मृगेन्द्रागमे योगपादेऽपि—"प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानवीक्षणे । जपः समाधि-रित्यङ्गान्यङ्गी योगोऽष्टमः स्वयम् ॥" (श्लो० ३)इत्येवमिमान्येव योगाङ्गानि निर्दिश्यन्ते । अत्र वीक्षणमभिवीक्षणम् ऊह इत्यनर्थान्तरम् । अन्यत् सर्वं समानम् । सप्त अङ्गानि, अङ्गी योगश्चाष्टम इति तु प्रतिपादनभङ्गिभेदः । अथवाऽस्ति जयाख्यायां किञ्चिदत्र वैशिष्ट्यम् । तत्र हि प्राकृतं पौरुषम् ऐश्वर्यं चेति योगभेदत्रयं प्रतिपाद्यते (३३।१३) । विवरणं चात्रापेक्षितम् । न च तद् दृश्यते मृगेन्द्रागमेऽपि । षडङ्गो योगोऽपि वैष्णव-शैवशाक्तादिष्वागमेषु, बौद्धशैवशाक्तेषु तन्त्रेषु च प्रतिपाद्यते । तस्य विवरणमस्माभिर्नित्या-षोडशिकार्णवोपोद्घाते (पृ० ११७–११९), विज्ञानभैरवोपोद्घाते (पृ० ३६-३८) च दत्त-मिति विशेषजिज्ञासुभिस्तत एवावलोकनीयम् ।

वेद्यां पुराहृतैर्भोगैर्बिम्बे वा चक्रपङ्कजे ॥
हेमादिद्रव्यजनिते चक्रे वा केवलाम्बुजे ।

सोऽयं द्विविधो यागो द्वितीयादिदशमान्तेषु परिच्छेदेषु सप्तदशे च नृसिंहकल्पपरिच्छेदे विस्तरेण, अन्यत्र च प्रसङ्गवशात् संक्षेपेणोपवर्णितः । तत्रान्तर्यागविधिना चातुरात्म्याराधनस्य विभवदेवतादिसमाराधनस्य च विधिरत्र सात्वतीयं दर्शनमिति प्रकरणे व्याख्यातोऽस्माभिः । बहिर्यागश्चात्र पञ्चमपरिच्छेदान्तोक्तविधिना (५।१०७-१०९) मूर्तौ,[1] [2]मण्डले, [3]अग्नौ, [4]जलमध्येऽर्चनम् (९।११९), मण्डले, अग्नौ, जलमध्ये वार्चनम् (१०।२), कुम्भमण्डलाग्निषु भगवदर्चनम्[5] (पृ० ३६१ भा०) इत्येवं बहुधा प्रपञ्चितः । त्रयोदशपरिच्छेदान्ते च "हृदि वेद्यां बहिर्मूर्तौ प्रासादे स्वगृहे तु वा" (१३।६६) इत्येवं द्विविधोऽपि याग उपसंहृतः ।

---

१. यथा हि सर्वगतो वायुर्व्यजनसाहाय्येन यत्र कुत्रापि व्यक्तिमभ्येति, एवमेव भावदर्पणसंक्रान्त आहूतो भगवान् बिम्बादिषु व्यज्यते (६।१६-१७) । प्रतिष्ठापरिच्छेदे एवं स स्तूयते—"सर्वत्रगोऽसि भगवान् किल यद्यपि त्वामावाहयामि हि यथा व्यजनेन वायुम् । गूढो यथैव दहनो मथनादुपैति आवाहितोऽपि हि तथा त्वमुपैषि चार्चाम् ॥" (२५।१२१) इति ।

२. मण्डलार्चनमण्डलनिर्माणादिविधिरत्र दशमे एकादशे च परिच्छेदे संक्षेपेण वर्णितः । विस्तरोऽस्य विषयस्य पौष्करायां द्रष्टव्यः ।

३. आरण्यं लौकिकं मणिजं दर्पणोद्भवमिति चतुर्विधोऽग्निरत्र प्रतिपाद्यते (६।८९) । आरण्यम् अरणिसंभवमित्यर्थः । एष च बाह्याग्निः कालवैश्वानरस्य हृदयेशस्य मारुतानुगतया भासया संयोज्यते । कालवैश्वानरात्मा भगवांश्चैवं विवृतः पौष्करे—"कालवैश्वानराख्या या मूर्तिस्तुर्यात्मनो विभोः । स एव द्विज देवो हि विष्वक्सेनः प्रकीर्तितः ॥ स्थित आहवनीयादिभेदेन मखयाजिनाम् । ऋक्पूतं हुतमादाय तर्पयत्यखिलं जगत् ॥" (२०।५४-५५) इति । आहवनीयादीत्यत्रादिपदेन—"पूर्वमाहवनीयाख्यस्वरूपेणाथ दक्षिणे ॥ समास्ते सभ्यवपुषा पश्चिमस्यामनन्तरम् । गार्हपत्याख्यभेदेन ततस्तिष्ठति चोत्तरे ॥ ओदनम्पचनात्मा तु सर्वात्मत्वेन मध्यतः । आधाराधेयभावेन त्वास्ते संवलिताकृतिः ॥" (६।१२७-१२९) इत्येवमत्रैव व्याख्यातश्चतुर्विधोऽग्निः संगृह्यते । कुण्डनिर्माणप्रकारोऽत्रैकादशे परिच्छेदे वर्णितः । दशविधाज्यसंस्काराः, अन्ये षड्विधसंस्काराः, अग्नेर्निषेकादिविवाहान्तसंस्कारा जिह्वाकल्पनाश्चैवमादयो विषया विस्तरेण वर्णिता जयाख्यायां पञ्चदशे पटले द्रष्टव्याः ।

४. जलमध्येऽर्चनमत्र स्नपनपरिच्छेदे पञ्चदशे द्रष्टव्यम् ।

५. अत्र—नित्ययागः पुष्पार्चनान्तं क्रियते, पुष्पाञ्जलिमुपादायेत्यादिलक्ष्मीतन्त्रोक्तेः (पृ० १०१-१०२), स्वार्थार्चने परार्थार्चने वा यथायथं सर्वेऽधिकृताः (पृ० १०७-१०८), नित्ये जपान्तमाराधनमुक्तम्, नित्यानुसारिण्यपि क्रियादीपे तु होमान्तो मुख्यकल्प एव दर्शितः (पृ० १०८), श्रेष्ठमध्यमाधमक्षुद्रभेदेन चतुर्विधमाराधनं भवति (पृ० ११०), पारमेश्वरे तीर्थमध्यार्चनं मानसार्चनं च होमान्तमुक्तम् । सात्वतनिष्ठैस्तु जपयज्ञान्तमेव कार्यम्,

सात्वतीयाः साधकाः स्वीयां दिनचर्यां पञ्चकालेषु विभज्य अभिगमन-उपादान-इज्या-स्वाध्याय-योगरूपैः कर्मविचारैस्तां संश्लिष्टां कुर्वन्ति । अत एव ते पञ्चकालपरायणा[१] इति विशेषणेन संयोज्यन्ते । सात्वतायां द्रव्ययागप्रतिपादके षष्ठे परिच्छेदे कर्मविचारोऽयं विस्तरेण विहितः । तत्राभिगमनादिपदानां लक्षणानि न दृश्यन्ते । तानि जयाख्यायामेवं प्रदर्शितानि—

ब्राह्मान्मुहूर्तादारभ्य प्रागंशं विप्र वासरे ।
जपध्यानार्चनस्तोत्रैः कर्मवाक्चित्तसंयुतैः ॥
अभिगच्छेज्जगद्योनिं तच्चाभिगमनं स्मृतम् ।
ततः पुष्पफलादीनामुत्थायार्जनमाचरेत् ॥
भगवद्यागनिष्पत्तिकारणं प्रहरं परम् ।
तदुपादानसंज्ञं वै कर्मकालपदाश्रितम् ॥
ततोऽष्टाङ्गेन यागेन पूजयेत् परमेश्वरम् ।
सार्धं तु प्रहरं विप्र इज्याकालस्तु स स्मृतः ॥
श्रवणं चिन्तनं व्याख्या ततः पाठसमन्विता ।
[२]स्वाध्यायसंज्ञं तं विद्धि कालांशं मुनिसत्तम ॥
दिनावसाने सम्प्राप्ते पूजां कृत्वा समभ्यसेत् ।
योगं निशावसाने च विश्रमैरन्तरीकृतम् ॥
पञ्चमो योगसंज्ञोऽसौ कालांशो ब्रह्मसिद्धिदः । (२२।६८-७४) ।

पञ्चकाला[३] इमे पाञ्चरात्ररक्षायां तृतीयेऽधिकारे नानाग्रन्थवचनप्रामाण्येन विस्तरशो

तथैवात्र (१७।४२-४३) प्रतिपादनात् (पृ० २०६)-इत्यादयो विषयाः प्रतिपादिता भाष्यकारेण । होमान्तो मुख्यकल्प इति तु "सात्वतनिष्ठैस्तु जपयज्ञान्तमेव कार्यम्" इत्यनेन विरुद्धचते । सात्वतानुसारं नित्यग्रन्थमारचयतो रामानुजाचार्यस्याप्ययमेव पक्षोऽभिप्रेत इति कथं क्रियादीपप्रतिपादितहोमान्तविधेर्मुख्यकल्पत्वमङ्गीकर्तुं शक्यते ? अर्चनम्, आराधनम्, इज्या, यागः, समाराधनमित्यादयश्च शब्दाः पर्यायत्वेन प्रयुज्यन्ते ।

१. "तैरिष्टः पञ्चकालज्ञैर्हरिरेकान्तिभिर्नरैः" (१२।३३६।४६), "तत्रापि पञ्चभिर्यज्ञैः पञ्चकालानरिन्दम" (१२।३३७।३०) इत्येवं नारायणीये पञ्चकालज्ञा एकान्तिनो भक्ता भण्यन्ते । चतुर्विधेषु च तत्रोक्तेषु भक्तेषु—"तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः "(१२।३४१।३४) इत्येवमेकान्तिन इमे श्रेष्ठा घोषिताः । प्रत्यहं पञ्चसु कालेषु पञ्चभिर्यज्ञैरेकान्तभावेन नारायणार्चनायां रता एते पाञ्चरात्रिका उच्यन्ते । एतेषामनुशासकं शास्त्रं पाञ्चरात्रमित्येतदेव पाञ्चरात्रसंज्ञाप्रवृत्तिनिमित्तमिति ४३ पृष्ठस्थायां ३ टिप्पण्यामवलोकनीयम् ।

२. स्वाध्यायाख्योऽयं कालः साम्प्रतमपि कथाप्रवचनपुराणपाठश्रवणादिरूपेण दिनावसानसमये प्रवर्तत इति वर्तते पाञ्चरात्रागमोक्तविधीनां कोऽपि विशिष्टो महिमा ।

३. प्रयोगपद्धतिरत्नावल्यां भोजराजोक्ताः संगवादयः पञ्च काला अभिगमनादिभ्यो भिन्ना

व्याख्याता इति नात्र प्रपञ्च्यन्ते। योगाख्यस्याङ्गस्य तु सात्वतायां प्रतिपादितस्य परिचयः समुपस्थापित एव।

उपर्युक्ते इज्याकाललक्षणेऽष्टाङ्गस्य यागस्योल्लेखो वर्तते। अयमष्टाङ्गो यागोऽपि जयाख्यायामेवं वर्णितः—

अन्तःकरणयागादि यावदात्मनिवेदनम्॥
तदाद्यमङ्गं यागस्य नाम्नाऽभिगमनं महत्।
पूजनं चार्घ्यपुष्पाद्यैर्भोगैर्यदखिलं मुने॥
बाह्योपचारैस्तद्विद्धि भोगसंज्ञं तु नारद।
मध्वाज्याक्तेन दध्ना वै पूजा च [1]पशुनाऽपि वा॥
तत्तृतीयं हि यागाङ्गं तुर्यमन्नेन पूजनम्।
निवेदितस्य यद्दानं पूर्वोक्तविधिना मुने॥
[2]सम्प्रदानं तु तन्नाम यागाङ्गं पञ्चमं स्मृतम्।
वह्निसन्तर्पणं षष्ठं पितृयागस्तु सप्तमः॥
प्राणाग्निहवनं नाम्ना त्वनुयागस्तदष्टमम्। (२२।७५-८०)

सोऽयं पञ्चाङ्गोऽष्टाङ्गश्चेत्युभयविधोऽपि यागः सात्वतायां प्रतिपादितः। तथाहि— द्वितीयादिपञ्चमान्तेषु परिच्छेदेषु वर्णितस्यान्तर्यागस्य विवरणमुपस्थापितमेव। द्वितीयो भोगयागः षष्ठे ७५ श्लोकपर्यन्तं वर्णितो दृश्यते। अत्रैवान्ते कारिप्रदानाख्यं सम्प्रदानं नाम पञ्चमं यागाङ्गमपि विवृतम्। ७६-१६२ श्लोकेषु वह्निसन्तर्पणाख्यं षष्ठमङ्गं निरूप्यते। अत्रैव तृतीयस्य चतुर्थस्य चाङ्गस्य विवरणमपि दृश्यते। सप्तमः पितृयागः १६३-१८० श्लोकेषु

इत्यपि पाञ्चरात्ररक्षायामेव (पृ० ५१) द्रष्टव्यम्। अत्रैव द्वितीयेऽधिकारे व्यासदक्षशाण्डिल्यादिस्मृतिसंवादेन पञ्चकालविषयकः सामान्यो विचारः कृतोऽवलोकनीयः।

१. जयाख्यायामत्र पशुनाऽपि तृतीयस्य यागाङ्गस्य बलिदानाख्यस्य सम्पादनमनुमन्यते। सात्वतायां (१७।२६८) तु पशुप्रतिनिधिना तत्सम्पादनीयता निर्दिष्टा। तत्र स्पष्टमुद्घोष्यते— "स्वार्थतो वा परार्थेन श्रेयसेऽभिनिवेशिना। प्राणिहिंसा न कार्या वै विशेषाज्जीवितैषिणाम्॥ आयुषः क्षयमायाति नूनं प्राणिवधान्नृणाम्। भूताभयप्रदानेन आयुषो वृद्धिमाप्नुयात्॥" (१७।३२८-३२९)। नारायणीयेऽपि राजोपरिचरो वसुरहिंसकेन यागेन ईजे इति प्रदर्श्यते— "न तत्र पशुघातोऽभूत्…आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिताः॥" (३३६।१०-११) इति। अत्रैव (३३७ अध्याये) "अजेन यष्टव्यम्" इत्यत्र पशुना बीजैर्वा यष्टव्यमिति देवानामृषीणां च विवादे समुपस्थिते राजोपरिचरो वसुर्देवपक्षसमाश्रयणात् स्वीयमाकाशगमनसामर्थ्यं हापयामासेति वर्ण्यते।

२. सम्प्रदानाख्यं यागाङ्गमत्र भाष्ये (पृ० ८५-८६, १०९, २७९, ३११-३१२, ५३१) कारिप्रदानमिति शब्देन विवृतम्। एतत्समर्थनायैव भाष्यकारेण जयाख्याया इमे श्लोकाः समुद्धृताः (पृ० ८६)। सच्चरित्ररक्षादिषु (पृ० १२४) चैवमेव वर्ण्यते।

वर्ण्यते । अष्टमोऽनुयागोऽत्र (१८१-१८६) आत्मयागनाम्ना वर्णितः । तदनु स्वाध्यायो योगश्चात्र वर्णितौ । इमे च विषया अन्येष्वपि परिच्छेदेषु वर्णिता दृश्यन्ते ।

जयाख्यायामेव मानसयागाख्याने [1]लय-भोग-अधिकाराख्यास्त्रिविधा यागा अन्येऽपि प्रदर्शिताः । तद्यथा—

मूलमन्त्रशरीरस्थं परिवारं यजेत् स दा ॥
याग एष लयाख्यस्तु संक्षिप्तः सर्वसिद्धिदः ।
मन्त्रराट् कर्णिकामध्ये लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु ॥
साकाराः केवलाः सर्वे यत्र भोगाभिधः स तु ।
केवलेन च यागेन पृथग्भूतेन नारद ॥
पूजनं कमलादीनामधिकाराभिधः स तु । (१२।८०-८३)

अत्र भाष्यकारः "एवमाहूय" (१७।६४-६५) इति सार्धेन श्लोकेन लययागः, "तदोदितम्" (१७।६६) इत्यादिना च भोगयागः प्रतिपाद्यत इति वदति । "अनयोरर्चनयोर्मन्त्राणां निराकारत्वसाकारत्वभेदं लयभोगसंज्ञाकत्वं च जयाख्ये प्रतिपादितम्" (पृ० ३०१) इत्युक्त्वा चेमानेव श्लोकान् समुद्धरति । "एत एव श्लोका ईश्वरपारमेश्वरयोरपि स्वस्वोक्तमन्त्रन्यासानुसारेण प्रतिपादिताः" (पृ० ३०२) इत्युक्त्वा च पारमेश्वरव्याख्यानं समालोचयति ।

भोगाश्चात्र[2] पवित्रारोपणाख्ये चतुर्दशे परिच्छेदे (श्लो० ६-७) त्रिविधाः समुल्लिखिताः

---

१. लभयोगाधिकाराह्वः शिवो मतङ्गपारमेश्वरे शैवागमे विद्यापादे (२।१४) स्मर्यते । तत्र तृतीये पटले लयभोगौ, चतुर्थे चाधिकारो विवेचितः । "लयशब्देन समुपसंहृतकार्यात्मिका निष्कलशिवावस्थोच्यते । भोगशब्देन पूर्वावस्थात्यागेन कार्यं प्रत्युद्युक्ततामात्रा बिन्दुगता सकलनिष्कलावस्था । "अधिकारपदेनापि तदवस्थात्यागेन कार्यसम्पत्तिशरीरता सदाशिवत्वं सकलावस्थोच्यते । तत्रैव शक्तीनामन्तर्भावः । " विद्येश्वराणां च"(पृ० ३१)इति तद्व्याख्याकारो रामकण्ठः । अत्र वर्तते केवलं शब्दसाम्यमुत एक एव विषयः प्रतिपाद्यते उभयोरपि स्थलयोरिति परीक्षणीयं वर्तते । मतङ्गपारमेश्वरे भगवतः शिवस्यावस्थात्रयमेतत्, जयाख्यायां तु त्रिविधेनानेन प्रकारेण भगवानर्च्यते । वयं त्वेवमुत्पश्यामः—एकत्र समुपसंहृतकार्यात्मिका निष्कलशिवावस्था लयाख्या, अपरत्र च मूलमन्त्रशरीरस्था प्रथमावस्थापि तादृश्येव । प्रथमे बिन्दुगता भोगावस्था, अपरत्र लक्ष्मीबिन्दुगतामवस्थामेव स्मारयति । एषा च भोगावस्था भगवतः । एकत्र मन्त्रमहेश्वर-मन्त्रेश्वर-मन्त्रा अधिकारिण उच्यन्ते, अपरत्र च कमलादय इति । कमलादीनां कथमधिकारित्वम् ? अथवा वर्तते कश्चन पाठभेद इति विचारणीयं विपश्चिद्भिः । मतङ्गपारमेश्वरे प्रदर्शितः शक्तीनां बिन्दुगतावस्थायामन्तर्भाव उचितः प्रतिभाति ।

२. सात्वतायां पवित्रारोपणपरिच्छेदात् पूर्वं त्रयोदशपरिच्छेदेषु नित्यान्यभिगमनादीनि, नैमित्तिकानि च व्रतादीनि कर्माणि वर्णितानि । तेषामाकस्मिके लोपे प्रत्यवायो जायते । कथं तस्योपशमनं क्रियेतेति प्रश्नस्य सङ्कर्षणोपस्थापितस्य समाधानाय प्रवर्ततेऽयं पवित्रारोपणा-

प्रसङ्गवशात् । ते च [1]सांस्पर्शिकाः, हृदयङ्गमसंज्ञाः, औपचारिकाश्चेति । "सांस्पर्शिकानां भोगानां स्रक्चन्दनादीनाम्, "हृदयङ्गमसंज्ञानाम् आभ्यवहारिकाणाम्," "औपचारिकभोगानां छत्रचामरादीनाम्" (पृ० २७३) इति च तत्रत्यं भाष्यम् । षष्ठे परिच्छेदे (श्लो० ६१) औपचारिकपदव्याख्यानप्रसङ्गेन तमिमं विषयं विस्तरेण व्याख्यातवानलशिङ्गभट्टः । तथाहि—"औपचारिकभोगानां दृष्ट्यानन्दजनकानां दीपादीनाम्, श्रोत्रानन्दजनकानां स्तुतिवादित्रगीतानां चेत्यर्थः । एत एव भोगा लक्ष्मीतन्त्रे सांदृष्टिकत्वेनाभिमानिकत्वेन च प्रतिपादिताः । तथाहि—

दृष्ट्यैव जन्यते प्रीतिर्यैस्ते सांदृष्टिका मताः ॥
शुभा रूपोल्बणास्ते च दीपप्रवहणादयः ।
भोगाः शुभकरास्तद्वत् तर्पयन्ति रसैर्हि ये ॥
प्रापणाचमनीयाद्यास्ते स्युराभ्यवहारिकाः ।
सुखरम्यमृदुस्पर्शा भोगैर्ये तर्पयन्त्यजम् ॥
भोगाः सांस्पर्शिकास्ते स्युः पाद्याद्यर्घासनपूर्वकाः ।
गन्धाः सांस्पर्शिके केचित् केचिदाभ्यवहारिके ॥
निविष्टा अनिलाद्याः स्युरन्त्याः पाकजगन्धिनः ।
स्तुतिवादित्रगीताद्या भोगाः शब्दमया हि ये ॥
दैन्याञ्जलिपुटाद्याश्च ते स्मृता आभिमानिकाः ।
इत्थं चतुर्विधैर्भोगैः शास्त्रदृष्टेन वर्त्मना ॥ (३६।८७-९२) इति ।

अत्र तु पवित्रोत्सवप्रकरणे औपचारिकसांस्पर्शिकाभ्यवहारिकत्वेन भोगत्रैविध्यस्यैव

ख्यश्चतुर्दशः परिच्छेदः । "लोभबुद्धिं विना" (१४।४) इत्यादिना "सौत्रं परिसरम्" (१४।९) इत्यन्तेन ग्रन्थेन प्रश्नोऽयं समाधीयते भगवता । तदनु च आ परिच्छेदान्तं पवित्रारोपणविधिः प्रदर्श्यते, तदङ्गतयैव च पञ्चदशे परिच्छेदे स्नपनं विधीयते । एवं स्पष्टायां प्रकरणसंगतौ सत्यामपि डा० डेनियलस्मिथमहोदयोऽत्र प्रकरणासंगतिं पश्यति, विविधाश्च कल्पनाः समुद्भावयति (पूर्वोक्ते ग्रन्थे, पृ० ५३४-५३५) । को नाम कल्पनारथमवरोधयेत् ? नित्यानि नैमित्तिकानि च कर्माणि त्रयोदशपरिच्छेदान्तं वर्णितानि । तत्र प्रत्यवायोत्पत्तौ तदुपशमनोपायश्च द्वयोः परिच्छेदयोः (१४-१५) प्रोक्तः । मन्त्रलोपक्रियालोपद्रव्यलोपादिसंभवे हि कृच्छ्रचान्द्रायणादिव्रतान्यनुष्ठीयन्ते । तेषामपि पूरकं चातुर्मास्यव्रतम् । तस्यापि पूरकं पवित्रारोपणम् । अतोऽस्य सर्वप्रायश्चित्तत्वमुक्तं भवति । दीक्षित एवाधिकृतो भवतीति तदनु दीक्षाप्रकरणं षोडशपरिच्छेदतः प्रारभ्यत इति नात्र मनागपि स्खालित्यं प्रकरणासंगतिर्वा परिलक्ष्यते ।

१. "ध्यात्वैवमर्चनं कुर्याद् भोगैः संस्पर्शपूर्वकैः" (१३।६२) इत्यत्रापि संस्पर्शपूर्वका भोगा एते स्मृताः । एतेनापि त्रयोदशपरिच्छेदेन साकं चतुर्दशपरिच्छेदस्य संगतिः सिद्धा भवति । संस्पर्शपूर्वकैर्भोगैर्भगवतोऽर्चनं विधेयमिति हि त्रयोदशपरिच्छेदान्ते उच्यते, तत्र च संजाते विघ्ने पवित्रारोपणविधिना तदुपशमो विधेय इति तेन चतुर्दशपरिच्छेदस्य स्पष्टं संगतिसिद्धिः ।

वक्ष्यमाणत्वादौपचारिकशब्देनैव लक्ष्मीतन्त्रोक्ताः सांदृष्टिका आभिमानिकाश्च भोगाः संगृह्यन्ते। किञ्चात्र औपचारिकभोगानामिति सांस्पर्शिकानामित्युपलक्षणम्। यतोऽत्र—"सांस्पर्शिकानां भोगानां मात्रावित्तं हि पूरणम्" (१४।६) इति मात्रावित्तस्य सांस्पर्शिकभोगपूरकत्वमपि वक्ष्यति" (पृ० ८०-८१) इत्युच्यते। एवं च भोगयागस्य वर्तते किमपि वैशिष्ट्यम्। भोगयागं विदधता साधकेनान्ततः किल भगवानेवं प्रार्थ्यते—

निजानन्दमयैर्भोगैर्नित्यतृप्तस्त्वमव्ययः।
तथापि भक्त्या तृप्तोऽहं त्वां यजाम्यात्मतुष्टये॥ (१४।१७) इति।

अन्तर्यागबहिर्यागात्मके सम्पूर्णेऽस्मिन् ब्रह्मविचारे कर्मविचारे च दीक्षितस्यैवाधिकार इति साम्प्रतं दीक्षाविचारः प्रस्तूयते।

दीक्षा

षोडशादिद्वाविंशान्तेषु परिच्छेदेष्वत्र दीक्षाया अभिषेकस्य च निरूपणं विद्यते। पर-व्यूह-विभवक्रमेण त्रिविधा भवति सा। त्रिविधानां कायिकवाचिकमानसानां दोषाणामपनुत्तये कृच्छ्रातिकृच्छ्रपूर्वैः परिपीडैः, स्तुतिसंमार्जनादिकया भगवत्सेवया, ब्रह्मतीर्थादिभिश्च शरीरं वाचं मनश्च शोधयन् मनःप्रसादपर्यन्तं गुरुकुलवासं कुर्यात्। तेन हि—[1]"दुराचारोऽपि सर्वाशी कृतघ्नो नास्तिकः पुरा। समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं यदि॥ निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं प्रभावात् परमात्मनः। किं पुनर्योऽनुतापार्तः[2] शासनेऽस्मिन् हि संस्थितः॥ विरतो दुष्कृताच्चैव भक्तिच्छायां समाश्रितः।" (१६।२३-२५) इत्युक्तप्रकारेण मानवो निर्दोषो भवति।

एवं संशुद्धदोषाणां भक्तानां बहुजन्मार्जितस्य कल्मषस्य विघातार्थं प्रथमं वैभवीयस्य विभोर्नारसिंहस्य मन्त्रस्य, अथवा यस्मिन् वैभवे मन्त्रे यस्य मनोऽभिरमते तस्यैव दीक्षा दीयते। तदनु च विभवव्यूहसूक्ष्माख्या[3] दीक्षाः क्रियन्ते। वैभवीयानां सिद्धीनामाप्तये निश्श्रेयसविभूत्यर्थं वाऽभ्यर्थितात् सुप्रसन्नात् प्रतिपन्नाच्च देशिकाद् दीक्षात्रयं ग्राह्यम्, अथवाऽप्रार्थितेन सानुकम्पेन तेन स्वयं संशुद्धपापानां शरणैषिणामेतत् कार्यम्।

नारसिंहमन्त्रदीक्षाविधिरत्र सप्तदशे परिच्छेदे वर्णचक्ररचनापूर्वकनृसिंहबीजोद्धार-तदङ्ग-मन्त्र-द्वादशाक्षरमन्त्रोद्धार - प्राणायाम-भूतशुद्धि-न्यास - मुद्रा-आसन-मण्डललेखन-[4]आवाहन-वह्नि-

---

१. भगवद्गीतायाः "अपि चेत् सुदुराचारः" (९।३०-३३) इत्यादिभिः श्लोकैस्तुलनीयमेतत्।

२. आधिदैविकाः, आध्यात्मिकाः, आधिभौतिकाश्च तापा भाष्यकारेण विष्णुपुराणोक्ता अत्र (पृ० ३३८-३३९) समुद्धृताः। एभिस्तापैस्तप्तो मानवोऽनुतापार्तो भवति, तापत्रयपीडितोऽप्यहमेतावत्कालपर्यन्तं कथं न भगवदाराधनं कृतवानिति ग्लानिना परीतो भवति।

३. सूक्ष्मशब्दोऽत्र भगवतः पररूपस्य वाचकः।

४. अत्र (१७।६१-६३) करणत्रयेण कर्मणा वाचा मनसा चावाहनं विधीयते। करणत्रयस्यापि प्रेरणोच्चारणस्मरणाख्यं कार्यत्रयम्। तत्र प्रेरणमर्घ्यपुष्पाञ्जलिसमर्पणमन्त्रन्याससंनिधिनिरोधसाम्मुख्यमुद्रादर्शनादिलक्षणम्। उच्चारणं चतुर्वारं क्रियते। स्मरणं च मानसो व्यापार इति ज्ञेयम्। एवमावाहितो भगवान् बिम्बादिष्वभिव्यज्यत इति ४८ पृष्ठस्था १ टिप्पणी द्रष्टव्या।

सन्तर्पणादिपुरस्सरं विस्तरेण वर्णितः। दीक्षारम्भे साधकेन प्रदक्षिणयुतैरष्टाङ्गप्रणामैर्देवः[1], अग्निः, गुरुः, कुम्भश्च पुनः पुनः पूजनीयाः। देशिकेन च शिष्यस्य योग्यतां विज्ञाय तीव्र-मन्दादिका दीक्षा विधेयाः, समयाश्च[2] श्रावणीयाः। एवं पयोयावकशाकाम्बुघृतमूलफलाशनै-र्ब्रह्मचर्यादिभिः संयमैश्च साधितोऽयं मन्त्रः शान्तिकादिषु कर्मसु[3] प्रयोक्तुं शक्यत इति सम्पूर्णेऽपि परिच्छेदे (१५४-४५८ श्लोकेषु) [4]शान्तिक-पौष्टिक-आप्यायन-रक्षा(आतुराणामनातुराणां च)-कर्मणां धर्मार्थकाममोक्षाख्यचतुर्विधपुरुषार्थानां च साधनाय विनियोगो विहितः।

परव्यूहविभवाख्यं दीक्षात्रयं देशिकाद् ग्राह्यम्, स्वयमप्रार्थितेन वा तेन विधेयमिति षोडशपरिच्छेदान्ते प्रोक्तम्। अष्टादशे परिच्छेदे क्ष्मापरिग्रह-मण्डलनिर्माण-भूततर्पण-गणित्रक-पक्ष्मकादिसंमार्जन-कुम्भस्थापन-सम्पातहोम-षडध्वविलापनान्तोऽधिवासनकर्मणः क्रम उक्तः, यो हि वैभवदीक्षायां व्यूहाख्यायां परायां चोपयुज्यते।

उक्तदीक्षात्रयमूनविंशे परिच्छेदे कैवल्यफलदा-भोगकैवल्यदा-भोगदाभेदेन व्याख्यातम्। अस्मिंश्च दीक्षात्रये भक्तिभावानुविद्धानां भावितात्मनां शिष्याणां वृद्धानामङ्गनानां बालानां च सममेवाधिकारः स्वीक्रियते। दीक्षैषा जयाख्यलक्ष्मीतन्त्राद्यनुसारं महामण्डलयागेन वित्ताढ्यस्य, केवलाद् हवनादल्पवित्तस्य, केवलया वाचा च द्रव्यहीनस्य क्रियते (पृ० ३७८-३७९)। सर्वप्रथम-मत्र शुभाशुभस्वप्नपरीक्षाऽशुभस्वप्नशान्तिश्च विधीयते। तदनु शिष्यदेहस्य नेत्रमन्त्रेण निरी-

---

१. "मनोबुद्ध्यभिमानेन सह न्यस्य धरातले॥ कूर्मवच्चतुरः पादान् शिरस्तत्रैव पञ्चमम्। प्रदक्षिणसमेतेन त्वेवं रूपेण सर्वदा॥ अष्टाङ्गेन नमस्कृत्य ह्युपविश्याग्रतः प्रभोः।" (६।१८७-१८९) इत्येवमष्टाङ्गप्रणामविधिरत्र निर्दिष्टः। भगवता रामानुजेन नित्यग्रन्थे (पृ० १८८) स्मृतावेतौ श्लोकौ। अलशिङ्गभट्टेन पौष्कर(३७।५३)प्रामाण्येन विषमप्रणामनिषेधः प्रतिपाद्यते। पाञ्चरात्ररक्षायां (पृ० ११३-११६) च मतान्तरोपन्यासपूर्वकमेष विषय-श्चर्च्यते।

२. समयानां व्याख्यानमत्र दीक्षाप्रकरणे कृतम्।

३. "षट्कर्मनिरतं यतिवृन्दम्" (१४।२३), "यतीनां ब्रह्मचारिणाम्॥ षट्कर्मनिरतानाम्" (२५।१३४-१३५) इत्युभयोरपि स्थलयोः षट्कर्मपदेन स्मृत्युपदिष्टान्यध्ययनाध्यापनादीनि षट्कर्माणि प्रकरणानुरोधाद् ग्राह्याणि। अन्यान्यपि शान्तिकादीनि मारणादीनि च शुक्लानि कृष्णानि च षट्कर्माणि भवन्ति। तेषां परिचयो नित्याषोडशिकार्णवोपोद्घाते (पृ० ७२-७३) २ टिप्पण्यां द्रष्टव्यः। अथवा वैरोचने प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चये— "पूजा होमो बलिर्भिक्षा चरुश्चातिथिपूजनम्। षट्कर्माणि तु कार्याणि शिवाचार्येण नो परैः॥ व्याख्यानं श्रवणं चैव प्रदानं च प्रतिग्रहः। दीक्षा च स्थापनं चेति षट्कर्माणि सदा गुरोः॥" (२।१३४-१३५) इत्येवं यानि षट्कर्माणि व्याख्यातानि, तान्येवात्र वैष्णवा-चार्येण स्वागमोक्तपद्धत्या समाचरणीयानि।

४. चतुःसंख्याप्रियोऽयं सात्वतागमः शान्तिकादिकर्मचातुर्विध्यमेव प्रतिपादयति, न तु षाड्विध्य-मिति विभावनीयम्।

क्षणम्, अस्त्राभिमन्त्रिततिलसिद्धार्थैस्ताडनम्, अस्त्राम्भसा प्रोक्षणम्, दर्भैरालभनम्, मन्त्रन्यासैर्मूर्तिवत् संस्कारश्च क्रियते। दीक्षिताय शिष्याय वैष्णवनामप्रदानमस्या दीक्षाया एवाङ्गं भवति, "तापः[1] पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः" (२१।२८४) इति हि पञ्च संस्कारा दीक्षाङ्गत्वेनेश्वरसंहितायां प्रतिपादिताः।

नामसंस्कारानन्तरं मायासूत्रग्रहणपूर्वकमग्निमध्ये व्यक्तरूपं भगवन्तं संस्मृत्य तस्मिन् भगवति शिशौ सूत्रे स्वात्मनि च देशिकोऽध्यात्माधिदैवाधिभूतभेदभिन्नमध्वानमा पादाच्छिखान्तं व्याप्तं स्मरेत्। "रचनासन्निवेशो यः क्ष्मादीनां चाधिभूतता॥ बोद्धव्यमधिदैवत्वं सामर्थ्यं यस्य यत् स्वकम्। तदधिष्ठातृमन्त्राणामध्यात्मत्वं विधीयते॥" (१९।६६-६७) इति हि तत्राध्यात्मादिपदानामर्थो निर्दिष्टः। आचार्यो भुवनपदाध्वनोरशुद्धत्वात् तत् त्यक्त्वा मन्त्राध्वानमवलम्ब्य ब्रह्मरन्ध्रमार्गेण शिष्यस्य द्वादशान्तं प्रविश्य मन्त्रशक्तिं तत्र स्थापयेत्, पुनः स्वशरीरान्तः प्रविश्य द्विषट्क(द्वादश)संख्याका आहुतीर्दद्यात्, तदनु तेन शिष्यस्य भुवनाध्वा परिशोधनीयः। तेन हि—"विमुक्तः पञ्जराद् यद्वत् सुखमास्ते विहङ्गमः॥ ऊर्ध्वपाती तदारूढस्त्वेवं मन्त्रबलाच्छिशुः।" (१९।९९-१००) इत्युक्तदिशा शिशुः (शिष्यः) मुक्तबन्धनो विचरति।

एवं क्रमेण क्ष्मातत्त्वस्य जलतत्त्वस्य तेजस्तत्त्वप्रभृतिमनस्तत्त्वान्तानां मन्त्राध्वादिवर्णाध्वान्तानामध्वनां च संस्काराः क्रियन्ते। अथ नेत्रमन्त्रेणास्त्रमन्त्रेण वा शक्तिमतः शिष्यचैतन्यस्य बुद्धिमयेऽध्वनि, ततस्तत्त्वकञ्चुकनिर्मुक्तस्य शान्तात्मन्येकतां गतस्य संवेद्यनिर्मुक्ते समाधौ च योजनं विधीयते, यत्र हि संलीनं द्वैतमात्रकं स न पश्यति। अथ देशिकोऽस्मितां[2]

---

१. "चक्रतप्ततनुः" (२२।९) इति समयिलक्षणप्रतिपादनात्, "समयिलक्षणानि पुत्रकादिषु त्रिष्वपि समानानि" (पृ० ४३२) इति भाष्योक्तेश्च तापसंस्कारोऽयं सात्वतायामप्यङ्गीकृतः। "तप्ताभ्यां शङ्खचक्राभ्यामङ्कितस्य भुजद्वये। सम्यग्धृतोर्ध्वपुण्ड्रस्य दत्तनाम्नश्च कर्मिणः॥" इत्ययं श्लोकस्तु (पूर्वमुद्रिते सात्वतग्रन्थे २०।२-३ इत्यत्र स्थापितः) प्रक्षिप्तो मन्तव्यः, भाष्यकारेणाव्याख्यातत्वात्, चक्राङ्कनादिशास्त्रार्थप्रकरणे (पृ० ३८२-३८६) चानुद्धृतत्वात्। ऊर्ध्वपुण्ड्रस्याप्यत्रोल्लेखो वर्तते—"भस्मना····जलनिर्मथितेनैव ह्यूर्ध्वपुण्ड्रचतुष्टयम्। हृद्यंसयोर्ललाटे च कुर्याद् दीपशिखाकृति।" (६।१६१-१६२) इति, "कार्याणि चोर्ध्वपुण्ड्राणि पृष्ठे पार्श्वद्वयेऽपि वा" (१७।२७३) इति, "भूतिना चन्दनाद्येन भूषयेदूर्ध्वपुण्ड्रकैः" (१८।१०४) इति च। अत्रोक्तो भस्मनेति पक्षो वेदान्तदेशिकेन सच्चरित्ररक्षायां समालोचितः। "नहि क्वचित्कर्मणि विहितं सार्वत्रिकं भवितुमर्हति" (पृ० ६९) इति हि तेनोपपादितम्।

२. "तस्मादप्यभिमानं तु ह्यस्मिताख्यं शनैः शनैः। विनिवार्य यथा शश्वद् ब्रह्म सम्पद्यते परम्॥" (१७।४५६) इत्यत्र नृसिंहकल्पपरिच्छेदसमाप्तौ तेजोमण्डलरूपेण परिणते मन्त्रचैतन्येऽस्मिताख्यमभिमानं त्यक्त्वा साधको ब्रह्म सम्पद्यत इत्युच्यते। एवमेवाष्टादशे परिच्छेदे (श्लो० १५२) वर्णानामस्मिशक्तौ संस्थितिरनादिवासनारूपाऽऽगतिश्च चिन्त्यते। अस्मिता चेयम्—"दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता" (२।६) इति पातञ्जलयोगसूत्र-

प्राप्य शिष्यस्यापमोक्षनिवृत्तये होमं करोति । तेन हि—"अन्तरूढो यथा काष्ठात् पावकश्च पृथक् कृतः ।। न भूयः सह काष्ठेन साम्यमेति तथा पुमान् । योजितोऽध्वान्तरे भूयो नैति तन्मयतां ततः ।।" (१९।१२४-१२५) इत्युक्तदिशा शान्तात्मन्येकतां गतं शिष्यचैतन्यं पुनरध्वपतितं न भवति । अथ शिष्यं पूर्वोक्तसमाधिविमुखं कृत्वाऽऽत्मनोऽग्रे निवेश्य तस्य भिन्नरूपः सितासितोऽध्वा परात्मन्यभेदेन संस्थितो यथावदुपदेष्टव्यः । तस्य च प्रकारोऽत्रोपदिष्टोऽस्माभिः शब्दब्रह्मप्रकरणे विवेचितो द्रष्टव्यः ।

एवमत्र वैभवदीक्षा, चातुरात्मीया व्यूहदीक्षा,[2] ब्रह्मदीक्षा च पराभिधा क्रमेण पूर्वोक्तफलत्रयप्रदायिनी निर्दिष्टा । ब्रह्मदीक्षायां दीक्षितः प्रकृत्या[3] सह विलयमभ्येतीत्यत्रोच्यते । तेन प्रकृतिशब्दोऽत्र प्रकरणानुरोधाद् ब्रह्मणः पररूपस्य वाचकोऽभिमन्तव्यः ।

अभिषेकः

दृष्टमण्डलस्य समयनिष्ठस्य शास्त्रज्ञस्य समाराधनसक्तस्य सच्छिष्यस्य पुत्रकत्वं गतस्य सर्वमन्त्राणां सिद्ध्येऽधिकाराप्तये च गुरुणाऽभिषेचनं कर्तव्यम् । तत्र जयाख्यानुसारं सेनापतिक्रमेण समयज्ञस्य, महामन्त्रिसदृशं पुत्रकस्य, युवराजविधानेन साधकस्य, राजोपचारविधिना च आचार्यस्याभिषेचनं विधीयते (१८।३४-३५) । अत्र भाष्यकारेण द्विविधः पक्ष उपस्थापितः—सात्वते केवलमाचार्याभिषेकविधानमुक्तम्, जयाख्ये च चतुर्णामप्यभिषेकाः प्रयोगभेदाश्च वर्णिता इति । सात्वते आचार्याभिषेकमात्रस्योक्तत्वात् साधकाद्यभिषेकविधानानामनुक्तत्वाच्चैतन्निष्ठैराचार्याभिषेकमात्रमनुष्ठेयम् । यद्वा "अनुक्तमन्यतो ग्राह्यम्" इति न्यायेन साधकाद्यभिषेकाद्यनुष्ठानेऽपि न प्रत्यवाय इति (पृ० ४११) ।

इदमत्रावधेयम्—सात्वतोपबृंहणेश्वरतन्त्रे—"इत्येवमभिषेकस्तु भवेन्मुख्याधिकारिणाम् ।। अन्ये तु दीक्षामात्रेण संस्कार्या मुनिपुङ्गवाः ।" (२१।५०३-५०४) इत्येवं स्पष्टोक्तेः, पाद्मे तन्त्रेऽपि चाचार्यवंशजानामेवाभिषेकस्य प्रतिपादितत्वादभिषेकस्य द्वौ प्रकारौ स्वीकर्तव्यौ । एको दीक्षाङ्गत्वेन, अपरश्चाधिकारप्राप्त्यङ्गत्वेन । प्रथमः प्रकारः सामान्याभिषेक इति, अपरश्च

लक्षितैव स्वीकर्तव्या । संवेद्यनिर्मुक्ते हि समाधौ शिष्यं योजयन् गुरुः स्वयमपि तत्र लीनो भवति । दीक्षाविधिपूर्तये किल तेन पुनरप्यस्मिताऽवलम्बनीया शिष्यस्यापमोक्षनिवृत्तये चावशिष्टविधिः सम्पूरणीयः ।

१. अपमोक्षशब्दोऽत्र कर्मापूर्तिजन्यप्रत्यवायपरकतया नेयः, भगवदाराधनात्मकस्य कर्मणो निष्फलत्वस्यात्र (७।१२२-१२३) सर्वथा प्रतिषिद्धत्वात् । अथवा दीक्षायामसमाप्तायां स भगवदाराधनाधिकृतो न भवतीति तस्य दौर्गत्यमाशङ्क्यते । तदिदं दौर्गत्यं मा भूदिति शिष्यस्यापमोक्षनिवृत्तये गुरुणा दीक्षाविधिः सम्पूर्णतां नेय इति ग्रन्थस्याभिप्रायो मन्तव्यः ।

२. वैभवदीक्षाया विधिरत्र सम्पूर्णेऽपि परिच्छेदे विस्तरेण वर्णितः । स एव ब्रह्म(पर)दीक्षायां व्यूहदीक्षायां चातिदिश्यते स्वीयवैशिष्ट्यफलवैशिष्ट्यप्रदर्शनपूर्वकं परिच्छेदान्ते । एतदजानान एव डा० स्मिथमहोदयः सात्वतसंहितामाक्षिपति (तदीये ग्रन्थे, पृ० ५३५ द्रष्टव्यम्) ।

३. भोगमोक्षलक्षणे पुनरप्येतत् परीक्षिष्यते ।

पूर्णाभिषेक इति प्रोच्यते। तत्र सामान्याभिषेको दीक्षाया अङ्गम्, पूर्णाभिषेकश्चाधिकारप्रापकः। शाक्तेषु खलु तन्त्रेषु पूर्णाभिषिक्त आचार्य एव परीक्षितान् योग्यान् शिष्यान् दीक्षयतीति पूर्णाभिषेको योग्यस्याचार्यस्यैव क्रियते। एवं च दीक्षाधिकारप्राप्तये योग्य आचार्य एव पूर्णाभिषेकविधिना सभाजनीय इति स एव पक्षः सात्वतायामादृतः। जयाख्योक्तिस्तु सामान्याभिषेकपरतया नेया।

अभिषेकविधिरत्र विंशे परिच्छेदे प्रतिपादितोऽवलोकनीयः। दीक्षितेनाभिषिक्तेन च शिष्येण—"गुरुयागमतः कुर्याच्छिष्यः प्रयतमानसः" (२०।३३) इत्युक्तिदिशा गुरुपूजनं विधेयम्। यतो हि—"आ मोक्षात् सर्वसिद्धीनां भक्तानां भावितात्मनाम्। परा गतिर्गुरुः" (२०।४०) इति भावितात्मनां भक्तानां मोक्षपर्यन्तसिद्धीनां प्रदाता गुरुरेवेति स एव सर्वेषां परा गतिः।

नियमाः

दीक्षितस्य प्रतिपन्नस्य शिष्यस्य गुरुणा शासनेऽस्मिन् किंस्वरूपा[1] नियमाः समयाभिधाना दातव्या इति विषयोऽत्र एकविंशे परिच्छेदे विस्तरेण प्रतिपादितः। पूर्वं सप्तदशे नृसिंहकल्पपरिच्छेदेऽपि "समयान् श्रावयेत्" (१७।१२४) इत्यादिना "एवं हि समयान् दद्यात्" (१७।१३९) इत्यन्तेन ग्रन्थेन समयाख्या नियमाः श्राविताः। तेषु केचनात्र प्रदर्श्यन्ते—अकस्मादुपसन्नानां देशान्तरनिवासिनां नारायणरतात्मनामिष्टोपदेशः[2] कर्तव्यः। [3]मुद्रामण्डलमन्त्राणां निःसंदिग्धं ज्ञानं गुरोः सकाशादधिगन्तव्यम्। सर्वज्ञभगवन्मन्त्राणां सिद्धारिवीक्षणादिनाऽऽनुकूल्यं न गवेषणीयम्। नाभिचक्रे, हृत्पद्मे, कन्दमूले, गलावटे, भ्रूमध्ये, ब्रह्मरन्ध्रे चेति षट्सु स्थानेषु सूर्यसंकाशो मन्त्रराट् स्मर्तव्यः। "भक्तिरग्नौ गुरौ मन्त्रे शास्त्रे तदधिकारिणि" (२१।६२) इति समयानां पञ्चकमवश्यं पालनीयम्।

नियमा एते पूर्वं शिष्यस्य निर्वाहकतां ज्ञात्वा यथावदुपदेष्टव्याः। तस्य येषु येषु निर्वाहः संभवति, तेषु तेषु समयेषु पुनर्यथा स च्युतो न भवेत् तथा नियोजनीयः। अन्यथा—'धावन्ति

---

१. द्विजानामुपनयनसंस्कारस्येव तन्त्रेष्वागमेषु च वर्तते दीक्षासंस्कारस्य वैशिष्ट्यम्। यथा हि द्विज उपनयनसंस्कारानन्तरं वेदाध्ययनादिष्वधिकृतो भवति, तथैव दीक्षानन्तरमेवागमतन्त्रोक्तेषु कर्मस्वधिकारभाग् भवति मानवः। उपनयनानन्तरं ब्रह्मचारिणे केचन नियमा उपदिश्यन्ते, तथैवात्रापि समयपदवाच्या नियमाः श्राव्यन्ते। तत्र स्नातको नियमानेतान् परिगृहीतानपि परित्यजति। अत्र तु दीक्षितेन समया एते परिगृहीता यावज्जीवं पाल्यन्ते।

२. यादृशमुपदेशं य इच्छति तस्मै तादृश एवोपदेशो दातव्य इति किल विद्यते तस्याभिप्रायः। वर्तते च इष्टोपदेशनामकं ग्रन्थद्वयम्। प्रथमस्य श्लोक उत्पलवैष्णवकृतस्पन्दप्रदीपिकायाम् (पृ० १०१) उद्धृतो दृश्यते। अपरश्च जैनाचार्यपूज्यपादविरचितो मुद्रित उपलभ्यते। ग्रन्थे स्पन्दप्रदीपिकायामुद्धृतः श्लोको नोपलभ्यत इतीतो भिन्न एव कश्चन वैष्णवसम्प्रदायग्रन्थः स मन्तव्यः।

३. समयि-पुत्रक-साधक-आचार्याणां मुद्राचतुष्टयमत्र द्वाविंशे परिच्छेदे (श्लो० ६६-६७) द्रष्टव्यम्। मुद्रालक्षणपुरस्सरमन्योऽपि प्रपञ्चोऽत्र मन्त्रप्रकरणान्ते कृतोऽवलोकनीयः।

समयघ्नस्य सविघ्नास्तु विनायकाः। विमुखाः सिद्धयो यान्ति ह्यापदोऽभिभवन्ति च॥" (२१।६०) इति वचनं प्रतिफलति। समयानामेतेषां यथावत् परिपालनात् समयिपुत्रकसाधकाचार्याणां शुभं भवति (२१।६६)।

समयिपुत्रकादिलक्षणानि

अथ द्वाविंशे परिच्छेदे तदेतेषां समयि-पुत्रक-साधक-आचार्याणां लक्षणानि क्रमशो विस्तरेण प्रदर्शितानि। तत्र समयिलक्षणानि शिष्टेषु पुत्रकादिषु त्रिष्वप्यनुवृत्तानीति समयी नाम शिष्यो जात्या चतुर्विधो ज्ञातव्यः। अत्रत्य एकः श्लोकोऽवधेयतापदवीमानेतव्यः श्रीमद्भिः—

[1]उक्तनिर्वाहकश्चाभीर्नित्यं नीचासनप्रियः।
सर्वेषामूर्ध्वतो नित्यं स्थितिकामपरायणः॥ (२२।१२)

शिष्टानां विशिष्टानि लक्षणानि ग्रन्थ एवावलोकनीयानि। आचार्यलक्षणे कश्चन विशेषः। आचार्यलक्षणप्रकरणे किल आगमसाङ्कर्यवेत्ता पूर्वापराविरोधेन तन्निर्वाहकश्चेति विशेषणद्वयोपादानपुरस्सरं दिव्यं मुनिभाषितं पौरुषं चेति त्रिविधं वाक्यं तल्लक्षणं च प्रतिपादितम्। अत्र वाक्यपदं शास्त्रोपलक्षकम्। ईश्वरपारमेश्वरादिषु मुनिभाषितस्यापि सात्त्विकादिभेदैस्त्रैविध्यमुपपाद्यते। यद्यप्यनर्थकमसम्बद्धमल्पार्थं दिव्यमुनिभाषितविरुद्धं शब्दडम्बरं पौरुषं वाक्यं हेयमनर्थसिद्धीनामाकरं नरकावहं चाभिप्रेतम्, तथापि प्रसिद्धार्थानुवादं संगतार्थं विलक्षणं पौरुषं वाक्यं मुनिभाषितवदुपादेयमित्यत्राङ्गीक्रियते। विविधानामेतेषां शास्त्राणां परस्परविरोधपूर्वापरविरोधपरिहारेण यः समन्वयं स्थापयति, साङ्कर्यं च न करोति, स आचार्यो देशिकपदेनात्रालङ्क्रियते। वेदान्तदेशिकादय ईदृशा एवाचार्या आसन्।

समयिपुत्रकाद्यवरपदस्थोऽपि योऽन्यथा[2] साधकाचार्यपदारूढत्वेनात्मानं वेदयति, स अधमो नरके याति। तस्माच्छ्रेयोर्थिनाऽभिमानं परित्यज्य यथावदधरोत्तरता संरक्षणीया।

दीक्षित एव पुरुषोऽन्तर्यागे बहिर्यागे चाधिकृतो भवतीति दीक्षाविवेचनानन्तरमथ साम्प्रतमधिकारी विविच्यते।

अधिकारी

सात्वतायां दीक्षाप्रकरणे—[3]"दुराचारोऽपि सर्वाशी कृतघ्नो नास्तिकः पुरा। समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं यदि॥ निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं प्रभावात् परमात्मनः। किं पुनर्योऽनु-

---

१. अत्र उक्तनिर्वाहक इति "रामो द्विर्नाभिभाषते" (वा० रा० २।१८।३०) इति रामायणीयं वचनं स्मारयति। नीचासनप्रिय इति विनयं सूचयति। सर्वेषामुपरि स्थितिकामपरायण इति कर्मण्यतां साहसिकतां चास्य ज्ञापयति। अभीतो हि पुरुषः कर्तुमेतत् प्रभवति। एतदेव तद्वैशिष्ट्यं येन हि वैष्णवो धर्मो लोकप्रियो बभूव, सम्पूर्णे च देशे प्रसारं लेभे।

२. अत्रत्यः "वेदयत्यन्यथात्मानम्" (२२।६२) इति श्लोकः—"योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते। स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः॥" (४।२२५) इति मनुस्मृतिश्लोकं स्मारयति। मनुस्मृतिश्लोकश्चैष कियता पाठान्तरेण सह भाष्यकारेण (पृ० १२०) स्मृतः।

३. अत्र ५४ पृष्ठस्था १ टिप्पणी द्रष्टव्या।

तापार्तः शासनेऽस्मिन् हि संस्थितः ।। विरतो दुष्कृताच्चैव भक्तिच्छायां समाश्रितः ।''(१६।२३-२५) यद्यपीदमुच्यते, ''भक्तिभावानुविद्धानां शिष्याणां भावितात्मनाम् । वृद्धानामङ्गनानां च बालानां भावितात्मनाम् ।।'' (१९।५-६) इति च सर्वेऽपि दीक्षाधिकारिणो मन्यन्ते, तथापि नैकेषु स्थलेष्वत्र वर्णाश्रमव्यवस्थानुसारमेवाधिकारिणो विवेचिताः । दीक्षाप्रकरणेऽपि—''सम्प्रतिपन्नाः'' ''ब्राह्मणादयः'' (१६।२), ''यथाक्रमेणोदितानां वर्णानाम्'' (१६।३), ''कालेन वर्णोत्कर्षेण'' (१६।२०), ''क्षपयेत्तद् द्विजेन्द्रस्तु''(१६।२१), ''नृपविट्छूद्रजातीयः''(१६।२२) इत्येवं सर्वत्र दृश्यते । [1]द्वितीये परिच्छेदेऽपि परस्य भगवतोऽर्चनेऽष्टाङ्गयोगसिद्धानां हृद्यागनिरतात्मनां योगिनामधिकारः, [2]व्यामिश्रयागयुक्तानां वेदवादिनां विप्राणां दीक्षानन्तरमेव चतुर्व्यूहार्चने समन्त्रमधिकारः, त्रयाणां क्षत्रविट्छूद्राणां तत्त्वतः प्रपन्नानां चतुर्व्यूहार्चनेऽमन्त्रमधिकारो निर्दिष्टः । अहङ्कारममकारग्रस्तानां विवेकरहितानां[3] स्वकर्मनिष्ठानां भगवद्भक्तानां दीक्षितानां ब्राह्मणादीनां चतुर्णामपि विभवार्चने समन्त्रमधिकारो भवतीति प्रतिपाद्यते । एवं चात्र चतुर्विधा अधिकारिणो वर्णक्रमेणैव निर्दिष्टाः ।

एवमेव सप्तमे परिच्छेदे व्रतप्रकरणे वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्धानां [4]चतुरः पदमन्त्रान् समुद्धृत्य वासुदेवादिक्रमेण विष्णोर्निष्कामेणाग्रजन्मनाऽब्दान्तमर्चनं कार्यम् । एवं सङ्कर्षणाद्यं वासुदेवान्तमर्चनं क्षत्रजातिना, प्रद्युम्नाद्यं मुसल्यन्तं वैश्येन, अनिरुद्धाद्यं प्रद्युम्नान्तं सच्छूद्रेणार्चनं कार्यमित्युक्तम् (७।२५-३१) । तथा—''वर्णा विप्रादयः'' (७।३७) इत्यादिषु ''तुर्यान्तं मौद्गलान्तैस्तु मोक्षैकफललम्पटैः'' (७।४३) इत्यन्तेषु श्लोकेष्वपि पूर्वोक्त एव क्रमो

१. प्रकरणस्यास्य विवेचनं डा० श्राडरमहोदयेन स्वकीयस्य ग्रन्थस्य परिशिष्टे (पृ० १५१-१५२) कृतम् । डा०आर०जी०भाण्डारकरमहोदयेन स्वीये ''वैष्णविज्म०'' इत्याख्ये प्रसिद्धे ग्रन्थे (पृ० ३९) प्रकरणस्यैतस्यार्थो न यथावद्विहित इति च स सूचयति तत्रैव (पृ० १५०) टिप्पण्याम् ।

२. लक्ष्मीतन्त्रे (११।४८-५०) त्रिविधा एवाधिकारिणो निर्दिष्टाः, व्यामिश्रयोगशब्दश्च तत्र प्रयुक्तः । वस्तुतस्तु व्यामिश्रयाग इत्येव प्रयोक्तव्यम् । भाष्यकारेण (पृ० १३) स एव पाठोऽङ्गीकृतश्च । नारायणपरायणा एकान्तिनः, अन्यदेवपरायणास्त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाश्च व्यामिश्रयाजिन इत्युच्यन्ते । एते च भगवद्गीतायाम्—''अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। ये त्वन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः । तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।।'' (९।२२-२३) इत्येवं स्मर्यन्ते । तथा—''एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते'' (९।२१) इत्यपि तत्रैवोक्तम् । सात्वतायाम्—''साङ्कर्येण विना त्वेवं कृतं भवति सिद्धिदम् । अन्यथाऽसिद्धिदं विद्धि नृणां व्यामिश्रयाजिनाम् ।।''(२५।२८८-२८९) इत्येवं व्यामिश्रयागोऽसिद्धिदः प्रोक्तः ।

३. ''नह्यत्र विवेकरहितैरर्चनीयत्वोक्त्या विभवदेवानामपकर्षः शङ्कनीयः, अपि तु सौलभ्यातिशयेन उत्कर्ष एव सिद्ध्यति'' (पृ० १३) इति हि भाष्यकार आह ।

४. अत्र ४१ पृष्ठस्था ३ टिप्पणी द्रष्टव्या ।

निर्दिष्टः[1]। तुर्यन्तिम् अनिरुद्धान्तम्, मौद्गलान्तैः शूद्रान्तैरिति भाष्यकारः (पृ० १२९)। अत्रैवोच्यते—

[2]दानेऽर्चने तु शूद्राणां व्रतकर्मणि सर्वदा।
असिद्धान्नं तु विहितं सिद्धं वा ब्राह्मणेच्छया॥
स्वकर्मणा यथोत्कर्षमभ्येति न तथाऽर्चनात्।
तस्मात् स्वेनाधिकारेण कुर्यादाराधनं सदा॥
सर्वत्राधिकृतो विप्रो वासुदेवादिपूजने।
यथा तथा न क्षत्राद्यास्तस्माच्छास्त्रोक्तमाचरेत्॥
नयेन्नक्ताशनैर्भक्त्या दिनान्येतानि मौद्गलः।
व्रताद्यन्ते तु विहितं परिपीडं हि तस्य वै॥ (७।५३-५७)

एवमेव यथाभिमतमासाद् ब्राह्मणैः, ज्येष्ठाद्यं क्षत्रियेण, आश्वयुजाद् वैश्येन, माघाद्यं च मौद्गलेन द्वादशवार्षिकव्रतारम्भः स्वस्ववर्णोक्तवासुदेवादिमूर्त्याराधनक्रमेण विधेय इति तत्रोच्यते (७।५७-६३)। एवं कृते सति—"यो योऽधिकारी भक्तो वा तस्य तुष्यत्यधोक्षजः" (७।८२) इति फलश्रुतिपूर्वकं प्रकरणमेतदुपसंह्रियते।

अत्रैव—"फलाप्तये तु विप्राद्यैः स्वकुलोद्धारणाय च। स्थापितं भगवद्बिम्बं ज्ञेयमायतनं[3] हि तत्॥" (७।११५) इत्यायतनलक्षणप्रदर्शनावसरे प्रयुक्तेन विप्राद्यैरिति पदेन चतुर्णा-

१. एवमत्र वर्णक्रमेणार्चनक्रमो निर्दिष्टः। तथापि नात्र सम्प्रदायभेदः संजातः। शैवेषु तु—"ततश्चकार भगवांश्चातुर्वर्ण्यं हरार्चने। शास्त्राणि चैषां मुख्यानि नानोक्तिविदितानि च॥ आद्यं शैवं परिख्यातमन्यत् पाशुपतं मुने। तृतीयं कालवदनं चतुर्थं च कपालिकम्॥" (६।८७) इत्येवं चत्वारो भेदा वामनपुराणे वर्णिताः। एतदर्थमस्मदीयः "कालवदनः कालदमनो वा" इति शीर्षको निबन्धो द्रष्टव्यः (सारस्वती सुषमा, व० १९, अ० ४, पृ० ३५५-३५६, संवत् २०२१)।

२. "भोगेप्सूनां च वर्णानां साम्प्रतं यदभीष्टदम्। कैवल्यदं शमाच्चैव चातुराश्रम्यसेविनाम्॥" (२५।२) इत्यादिकं वदन्ती सात्वतसंहिता श्रौतीं स्मार्तीं च वर्णाश्रमव्यवस्थां सार्वात्म्येन पालयति। एतानि वचनान्यपि तमेव विषयं पोषयन्ति। तथा हि—दानेऽर्चने च शूद्रैरसिद्धान्नमेव देयम्, ब्राह्मणानुमत्या वा सिद्धान्नमपि दातुं शक्यते। तत्राऽपि—"आर्याध्युषिताः शूद्राः पाकं कुर्युः" (३।३।४) इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवचनं जागर्त्येव। शूद्रः स्वकर्मणा यथोत्कर्षमेति न तथार्चनादिति च वचनं शूद्रस्य बिम्बार्चनेऽधिकारं वारयति। अतश्चार्चाप्रकरणे तेषामधिकारो नैव प्रदर्शितः। अधिकारानुरूपमेवाराधनं विधेयं शास्त्रोक्तं चाचरणीयमिति चोपदिष्टम्।

३. अत्र दिव्यायतन-सिद्धायतन-आयतन-निलय-क्षेत्रलक्षणानि (७।१०५-११८), श्वेतद्वीपसमदेवतायतनलक्षणं (२५।३०८-३११) च सात्वतायामेव द्रष्टव्यानि। "यस्माद् देवालयोद्देशात् सुष्मातजलजस्य च। भवेच्छब्दानुवेधश्च तावत् क्षेत्रं तदुच्यते॥" (पृ० ५६१) इति विष्णुसहस्रनामभाष्ये पाराशरीये प्रोक्तं लक्षणं सात्वतवचनमनुकरोति।

मपि वर्णानां ग्रहणमभिप्रेयते न वेति न स्पष्टीभवति, तथापि प्रतिमापीठप्रासादलक्षणप्रदर्शके चतुर्विंशे परिच्छेदे—"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा भगवन्मयः। नित्याराधनकामस्तु यदि मन्त्रमयं वपुः ॥ कर्तुमिच्छति लक्ष्यार्थं तत्र किंलक्षणो विधिः।" (२४।२-३) इति प्रश्नेन, तदुत्तरतया चित्रमृत्काष्ठशिलालोहमयत्वेन पञ्चविधानामपि बिम्बानां प्रत्येकं ब्राह्मणादिक्रमेण चातुर्विध्यम्, चित्रमयं पुनः भित्तिकाष्ठाम्बराश्रितत्वेन त्रिविधम्, अम्बराश्रितं च वर्णक्रमेणैव कार्पासकौशेयक्षौमशाणभेदेन चतुर्विधमिति प्रतिपादनेन च शूद्रोऽप्यत्र प्रतिमापीठप्रासादनिर्माणेऽधिकृतो मन्तव्यः। प्रतिष्ठाविधिप्रदर्शके पञ्चविंशे परिच्छेदे—"स्थलं विना न चैवार्च्याः" (२५।३१२-३१६) इत्यादिषु श्लोकेषु तु द्विजातीनामेवार्चाधिकारो वर्णितः। न तत्र दृश्यते कापि चर्चा शूद्रस्य। नृपस्य चात्र किमपि वैशिष्ट्यं ख्याप्यते—"वर्णाश्रमगुरुत्वाच्च स्वामित्वादखिलस्य च ॥ भूतादिदेवरूपत्वादुत्तमाद्येषु वस्तुषु। नृपश्चार्हति वै नित्यं सविशेषपदे स्थितः॥" (२४।१६-१७) इति। एवं चास्मिन् विषये संहितेयं श्रुतिस्मृतिवाङ्मयं भगवद्गीतां च सार्वात्म्येनानुसरतीति मन्तव्यम् ॥ भगवद्गीतावत् [1]स्त्रीशूद्रादयोऽप्यत्राधिकृता इति ज्ञेयम्।

दीक्षितोऽधिकारी पुरुषः सात्वतोक्तेषु कर्मसु यथायथं प्रवर्तते। प्रवृत्तिशास्त्रमिदमिति हि प्रतिपादितपूर्वम्। कर्मणामेव चात्र भोगमोक्षोभयप्रतिपादकत्वम्, "निःश्रेयसकरं कर्म··· तत्त्वतः प्रतिपन्नानामचिरादेव सिद्धिदम्" (७।१-२) इत्यत्र स्पष्टं तथा प्रतिपादनात्। ब्रह्मोपनिषदाख्यमेकायनशास्त्रं हि मोक्षैकफललक्षणम्। तस्मान्मूलवेदाद् जगदुद्धाराय परिसृते दिव्यादिभेदभिन्ने पाञ्चरात्रागमे प्रथममिदं सात्वतं तन्त्रं सिद्धिमोक्षप्रदं भोगापवर्गदम्, "यज्ज्ञात्वा न पुनर्जन्म पुनरेवाप्नुयान्नरः" (२।३-७) इत्यादिना हि शास्त्रस्यास्य प्रयोजनं निर्दिश्यते। न केवलं मन्त्राराधनव्रतादिकर्मणाम्, अपि तु बिम्बनिर्माणबिम्बार्चनादिकर्मणामपि भुक्तिमुक्तिप्रदत्वमत्र (२४।९) निर्दिष्टम्। मन्त्रबिम्बनिवेशनं हि भोगेप्सूनां वर्णानां भोगदम्, चातुराश्रम्यसेविनां[2]

---

१. अत्र (१९।५३-५६) अमद्यपान्वयोत्थस्य लोकधर्मोज्झितस्य आप्तवद् ब्रह्मनिष्ठस्य कर्मतन्त्ररतस्य शूद्रजातेर्गोदानं विहितम्, तदाहृतं पुष्पमाल्यादिकं च कर्मार्हमभिमतम्। किन्तु तस्य वषट्काराद्यनर्हत्वान्मन्त्रशरीरे तत्प्रतिनिधित्वेन नमस्कारो योज्य इत्युच्यते। भाष्यकारेण च पाद्मसंहितावचनानि समुद्धरता—"शूद्रादीनां प्रणवनमस्कारावपि निषिद्धौ। अन्यत्र—"न स्वरः प्रणवोऽङ्गानि नाप्यन्यविधयः स्मृताः। स्त्रीणां च शूद्रजातीनां मन्त्रमात्रोक्तिरिष्यते॥" इति प्रणवमात्रं निषिद्धम्" (पृ० ३८८) इत्युच्यते। "नारी ह्यनन्यशरणा यद्येवं हि समाचरेत्। निःस्वामिका वा" (८।१४०-१४१) इति व्रतप्रकरणीये वचने निःस्वामिकापदं व्याचक्षाणो भाष्यकारस्तदर्थं पूर्वसुमङ्गलापदं प्रयुञ्जन् नार्याः कष्टदायकं कर्णकटुकं च विधवापदं सावहितं परिहरति। यदा हि कालिदाससदृशो महाकविरुत्तरे मेघे (३६ तमे श्लोके) "भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे" इत्येवं यक्षप्रियतमायाः सधवायाः कृतेऽपि विधवापदघटितं पदं प्रयुक्तवान्।

२. एतेनेदं स्पष्टीभवति यन्न केवलं संन्यासिनः, अपि तु ब्रह्मचारिणो गृहस्था वानप्रस्था वा शमव्रतिनः सन्तो मोक्षमार्गाधिकारिणो भवन्तीति।

शमिनां च मोक्षदं भवति (२५।२)। संस्पर्शपूर्वकैर्भोगैर्भगवदर्चने कृते च साधकोऽचिरान्मोक्ष-निष्ठं फलं प्राप्नोति (१३।६२)। तदत्र साम्प्रतं भोगमोक्षौ चर्च्येते।

भोगमोक्षौ

कैवल्यफलदा, भोगकैवल्यदा, भोगदा—इति त्रिविधा दीक्षाऽत्रैकोनविंशे परिच्छेदे (श्लो० ४) प्रतिपादिता। तत्र वैभवी दीक्षा सिद्धिमोक्षलक्ष्मीसमन्विता (१९।१६८), नित्य-दीक्षाद्वयस्य व्यूह-ब्रह्म(पर)दीक्षाख्यस्य तु मोक्षादृते नान्यत् फलम्। अत्रापि चातुरात्मीया व्यूहाख्या दीक्षा भावितात्मनां प्राक् षाड्गुण्यभोगाप्ति ददाति, ब्रह्म(पर)दीक्षया च साधकः प्रकृत्या सह विलयमभ्येति (१९।१७८-१८०)। परवासुदेव एवात्र प्रकृतित्वेनाभि-प्रेतव्यः। प्रथमे परिच्छेदे च व्यूहसंज्ञं सद्ब्रह्म निःश्रेयसफलप्रदम्, वैभवं च भुक्तिमुक्तिदं वर्णितम् (श्लो० २७)। नवमे परिच्छेदेऽपि परमन्त्रस्य मोक्षप्रदत्वम्, व्यूहमन्त्राणां च मिश्रममिश्रं च, अर्थाद् भोगमोक्षात्मकं केवलमोक्षात्मकं च फलं प्रतिपादितम् (श्लो० ४३-४६)। एवं च परदीक्षा कैवल्यफलदा, व्यूहविभवदीक्षे चोभे अपि भोगकैवल्यदे इति मन्तव्यम्। एतयोर्व्यूहदीक्षा भोगानन्तरं मोक्षमपि ददाति, विभवदीक्षा च भोगं मोक्षं वा यथेच्छं प्रयच्छतीति विवेको विधेयः। तत्र भोगस्य प्राधान्ये मोक्षस्य गौणत्वम्, मोक्षस्य च प्राधान्ये भोगस्य गौणत्वमवसेयम् (भा०, पृ० २०)। अनया दृष्टया वैभवी दीक्षा भोगदा, व्यूहीया भोगकैवल्यदा, परा च दीक्षा मोक्षदेति वक्तुं शक्यते। वैभवी दीक्षा भोगदैवेति तु नैव वक्तव्यम्, "भोगापवर्गदं रूपं शान्तव्यक्तं च वैभवम्" (९।१०२), "यस्य यस्य यदा यस्मिन्नाकारे रमते मनः। भोगाप्तये च मोक्षार्थं तं तं मध्येऽर्चयेत् सदा॥" (९।१२१-१२२), "तवास्तु वैभवी सिद्धिर्मोक्षलक्ष्मीसमन्विता" (१९।१६९) इत्येवं वैभवे परिच्छेदे तस्य भोगमोक्षोभयप्रापकत्वस्य स्पष्टं प्रतिपादनात्। एवं च—"निःश्रेयसविभूत्यर्थं ग्राह्यं दीक्षा-त्रयम्" (१६।४०) इत्यत्र निःश्रेयसार्थं [1]विभूत्यर्थं चेत्यर्थो ज्ञातव्यः।

भोगोऽत्र भुक्ति-सिद्धि-भूति-विभूति-कामप्रभृतिपदैरुक्तः। पातालोत्तिष्ठ(१७।४४७)-प्रभृतिक्षुद्रसिद्धित आरभ्य भूलोक-भुवर्लोक-स्वर्लोकानामखिलाः सिद्धयः (९।१२४, १२९-१३०), शाश्वती सिद्धिः (१४।३४), अणिमाद्यष्टसिद्धयः (१६।३४, ३८), आत्मसिद्धिसमेता विविधा यागसिद्धयः (१६।३४), षाड्गुण्यमहिमावाप्तिः (१६।३९), वैभवीयाः सिद्धयः (१६।३९), नृसिंहमन्त्रेण धर्मार्थकाममोक्षसाधनम् (पृ० ३४१), अणिमादीनां भोगानां प्राप्तिः (१९।१४५), षाड्गुण्यभोगाप्तिः (१९।१७९)—इत्यादयो विविधाः सिद्धयोऽत्र विवृताः। एवं च भूलोकस्थादखिलाद् भोगादारभ्य षाड्गुण्यमहिमान्ता अखिला विभूतयोऽत्र भोगपदेनो-च्यन्ते (९।३९)।

भोगयागोपयोगिनः सात्वतोक्तास्त्रिविधा भोगा लक्ष्मीतन्त्रे चतुर्धा विभज्य वर्णिता अत्र यागप्रकरणे व्याख्याता द्रष्टव्याः। ऐहलौकिकाः पारलौकिकाश्च सर्वे विषया भोगपदेनानेन परामृश्यन्ते। भगवत्समाराधनेन च समेषामेषामधिगतिः करतलामलकवत् सन्निहिता भवति।

---

१. "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (१।१।२) इति वैशेषिके सूत्रेऽस्यैव विवरणं विद्यते।

मन्त्रमूर्त्यादीनां समाराधनायां कृतायामपि, व्रतादिषु च समाचरितेष्वपि कदाचिदभिलषिता भोगा नावाप्यन्ते, विघ्ना वा तत्र समुपजायन्ते। तस्यामवस्थायामवसादो न कर्तव्य इत्युपदिशति संहितेयम्—

नावसादस्तु कर्तव्यो व्रतभङ्गात् कदाचन।
संकल्पादेव भगवांस्तत्त्वतो भावितात्मनाम्॥
व्रतान्तमखिलं कालं सेचयत्यमृतेन तु॥ (७।१२२-१२३)

व्रतप्रकरणे प्रोक्तमिदं वचनं मन्त्रबिम्बाद्याराधनेष्वप्यतिदेष्टव्यम्। एनमेव विषयं भगवद्गीताप्याह—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ (२।४०) इति,
नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति। (६।४०) इति च।

भोगाद्विरक्तः साधको यदाऽणिमादिभोगान् तृणानीव मन्यते, तदा मन्त्रास्तं स्वशक्त्यैव शब्दब्रह्माभिधेऽध्वनि प्रेरयन्ति (१९।१४७-१४९)। परमेश्वरो हि अखिलजीवानां मुक्तये स्वशक्त्या स्वयमेव शब्दब्रह्मभावेनोदेति(१९।१२८), यत् समाराधयन् साधकः सुशान्तं भगवत्पदं प्राप्नोति (१९।१५०)। एतच्च भगवत्पदमत्र "फलं सालोक्यतापूर्वम्" (७।११९), "स्थानं सायुज्यतापूर्वम्" (२५।३५०) इत्येवं सालोक्य-सायुज्यपदाभ्यां निर्दिष्टम्। अत्र भाष्यकारः— "सालोक्यतापूर्वमित्यत्र पूर्वपदेन सामीप्यसारूप्यसायुज्यानि गृह्यन्ते" (पृ० १३९) इत्याह, सच्चरित्ररक्षायामुद्धृतं श्लोकमेनं च उदाजहार—

लोकेषु विष्णोर्निवसन्ति केचित् समीपमिच्छन्ति च केचिदन्ये।
अन्ये तु रूपं सदृशं भजन्ते सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः॥ इति।

मोक्षस्यैते चत्वारोऽपि प्रकाराः श्रुतिषु स्मृतिषु पुराणेषु च तत्र तत्र निर्दिष्टाः। "नारायणपदप्राप्तेः" (१।१७) इति पदेन चात्रत्येन चत्वारोऽपीमे पक्षाः साधयितुं शक्यन्ते। उपर्युद्धृते श्लोके स्थितस्य "स तु मोक्ष उक्तः" इति पदकदम्बकस्य च प्रत्येकं सम्बन्धे सम्भवत्यपि सायुज्यस्य निकटतमस्यानेन परामर्श उचिततमः प्रतिभाति। एवं च सायुज्यावाप्तिरेव मोक्ष इति वक्तव्यम्। "यदा संवेद्यनिर्मुक्ते समाधौ लभते स्थितिम्। अभ्यासाद् भगवद्योगी ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥" (६।२१४), "जायते तत्परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्" (१९।१४०), "प्रकृत्या[1] सह चाभ्येति विलयं ब्रह्मदीक्षया" (१९।१८०) इत्यादिभिर्वचनैरयमेव पक्षः सात्वतायां प्रतिपादितः। एष एव च—"निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मुण्ड० ३।१३) इत्यादिभिः श्रुतिभिरप्युपपाद्यते। "बीजात्मा चिन्मयः पुमान्" (११।३५) इत्यत्र च स्पष्टमेव तस्य चित्स्वरूपत्वमुच्यते।

---

१. "वासुदेवः परा प्रकृतिः" (२।२।४२) इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये। "इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥" (७।५) इति श्रीमद्भगवद्गीतायाम्। "अभेदेनादिमूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत्" (५।८१) इति सात्वतोक्तदृष्टान्तेनापि परवासुदेव एव सर्वेषां प्रकृतिरिति ज्ञायते। ४६ पृष्ठस्था २ टिप्पणी द्रष्टव्या।

उपसंहारः

भगवान् परवासुदेव एव स्वेच्छया स्वचैतन्यं नामरूपादिविकल्पशबलितं कृत्वा तद्रूपेण विवर्तते[1] (१७।३८)। सम्भूति(सृष्टि)-स्थिति-संहार-भोग-कैवल्यलक्षणं पञ्चारमिदं चक्रं विशाखयूपो भगवान् स्वधिया प्रेरयति (९।५७) इत्यत्राद्वैतदृष्टिः, "तस्य शक्तिद्वयं तादृगमिश्रं भिन्नलक्षणम्" (१३।४९) इत्यत्र च द्वैतदृष्टिरङ्गीक्रियते। अचला सात्वती भक्तिरत्र जन्मबीजक्षयङ्करी समभिप्रेता (१।५-६)। चिरप्रपन्नानां भक्तानां कृते नारायणपदप्राप्तेर्यच्छ्रेयःसाधनीभूतं कर्म, तदुपदेशकतया चास्याः संहितायाः प्रवृत्तिः प्रदर्श्यते (१।१६-१७)। एवं चानुषङ्गिकतयैवात्र दार्शनिकानि तत्त्वानि प्रतिपादितानि। प्रधानतया तु सात्वतः शुद्ध क्रियामार्ग एवोपदिष्टः। शुद्धेन सात्वतेन कर्मणा समाराधितो भगवान् चिरप्रपन्नेभ्यो भक्तेभ्यः प्रसीदति, स यथायथं भोगेप्सुभ्यो भोगान् स्वाभीष्टान्, तद्विरक्तेभ्यश्च ब्रह्मसम्पत्तिलक्षणं मोक्षं प्रददाति।

एवमत्र कर्मणामेव भोगमोक्षोभयप्रतिपादकत्वं साधु व्याख्यातम्। एवं कुर्वत्यपि सात्वतसंहितेयं वर्णाश्रमाचारं न मनागपि विरुणद्धि। स्त्रीशूद्रादयोऽपि दीक्षाधिकारिणोऽभिमता इत्येवास्याः श्रौतवाङ्मयापेक्षया किञ्चिद् वैशिष्ट्यम्। एवं सत्यप्यत्र प्रतिपादितेषु कर्मसु न मानवमात्रस्य समानोऽधिकारोऽभिप्रेत इति पूर्वोक्तैरुद्धरणैः स्पष्टीभवति। "यथोक्तं कालपादायां[2] दीक्षयेत् श्वपचानिति" (मालिनीविजयवार्त्तिके, पृ० २०), "एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाव्यया।....प्रागृजात्युदीरणाद् देवि प्रायश्चित्ती भवेन्नरः॥" (स्वच्छन्दतन्त्रे, ४।५४३-५४४), "घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी। कुलं जातिश्च[3] शीलं च अष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥" (कुलार्णवे, १३।९०) इत्युदीरयन्तः शैवाः शाक्ताश्चागमा मानवमात्रं दीक्षाधिकारिणं मन्वते। तेऽपि स्वस्वशास्त्रस्य भोगमोक्षोभयप्रतिपादकत्वमङ्गीकुर्वते। किन्तु अलिपिशितपुरन्ध्रीभोगपर्याकुलाः काश्मीरा गौडाश्च शैवाः शाक्ताश्च तान्त्रिकाः सममेव बौद्धैस्तान्त्रिकैः "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (१।१।२) इति वैशेषिकं धर्मलक्षणं व्याकुलयन्तस्तानि शास्त्राणि तृतीयपुरुषार्थसाधकतया व्याख्यातवन्तः। तदनुयायिनोऽद्यापि 'संभोग से समाधि' सदृशान्

१. विवर्तपदमत्र नाद्वैतवेदान्तसंमतेऽर्थे प्रयुज्यते, अपि तु "विवर्ततेऽर्थभावेन" (१।१) इति वाक्यपदीयपद्ये भर्तृहरिणोऽभिप्रेतमर्थमभिव्यनक्तीति विभावनीयम्। तेन विवर्तत इत्यस्य परिणमत इत्येवार्थो मन्तव्यः।

२. शिवदृष्टौ (३।११,६३) कालपादनाम्ना स्मृत एव ग्रन्थस्तद्वृत्तिकारेण भट्टोत्पलेन कालोत्तरनाम्नोद्धृत इत्येकस्यैव ग्रन्थस्येमे नामनी मन्तव्ये। शिवदृष्टिकारेण सोमानन्देनोद्धृतत्वादेष ग्रन्थस्ततः प्राचीन इति निश्चप्रचम्। स्पन्दप्रदीपिकायामुद्धृता (पृ० १०९-११०) कालपरा कालपादातो भिन्नाऽभिन्ना वेति कालोत्तर-कालज्ञानादिनाम्नोपलब्धानां मातृकाणां परीक्षात एव ज्ञातुं शक्येत।

३. श्लोक एष योगिनीहृदयदीपिकायां (पृ० ८१) महार्थमञ्जरीपरिमले (पृ० १४५) च दृश्यते। अत्रैव महेश्वरानन्देन वर्णाश्रमव्यवस्था समालोचिता। तन्त्रालोके तद्विवेके च तस्य विस्तरोऽवलोकनीयः (भा० ३, पृ० २४१-२८९)।

ग्रन्थान् लिखन्ति । एवं च मानवमात्रस्य कल्याणाय प्रवृत्तमिदं शास्त्रं स्वात्मानमेव पातयामास, स्वीयं प्रामाण्यं च ह्रापयामास । फलतः पुनरपि प्रबलायिता वर्णाश्रमव्यवस्था संकीर्णा ।

सेयं वर्तते सांस्कृतिकी समस्या भारतीया । अस्या समाधानाय "तर्को योगाङ्गमुत्तमम्"[1] (मा० वि० १७।१८; तन्त्रालोके, ४।१५) इत्युक्तया दिशा सम्पूर्णस्य भारतीयस्य वाङ्मयस्य संस्कृतभाषायामन्यासु प्राचीनास्वर्वाचीनासु च भाषासु निबद्धस्य परिशीलनमावश्यकम् । समयिपुत्रकादिलक्षणपरिच्छेदेऽत्र केचन सार्वभौमा नियमा वर्णितास्तत्रैवास्माभिर्व्याख्याताश्च ते । एवमेव व्रतप्रकरणे स्थिता उक्तिरियं विशेषतोऽवधेयतामर्हति—"अवज्ञा परमा यत्र बुद्धिमांस्तत्र संवसेत् ।। दाता ददाति यत्किञ्चित् पूजापूर्वं हि भक्तितः । कृत्स्नं तदीयमशुभं तिष्ठत्यर्थिजनाश्रितम् । परिभूते तु वै लाभे सन्तोषो यस्य जायते । प्रतिग्रहोत्थितो दोषस्तस्य दूरतरं व्रजेत् ।।" (७।१००-१०२) इति । "संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव । अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ।।" (२।१६२) इति मनुरप्याह । पाशुपतं सूत्रमपि चेमं विषयं तृतीयाध्याये सविशेषं निर्वक्ति, तत्रोपायांश्च प्रदर्शयति—"प्रेतवच्चरेत्, क्राथेत वा, स्पन्देत वा""शृङ्गारेत वा" (३।११-१५) इत्यादिना । किमर्थमेवं कर्तव्यमिति प्रयोजनं चास्य सात्वतायामुपर्युक्तया पद्धत्या विवेचितम् ।

एवं च "उक्तनिर्वाहकः" (२२।१२) इत्यादिकान् गुणगणान् बिभ्रत्, स्वीयां यथार्थां स्थितिमगोपयन् (२२।६२), संमानादुद्विजन्नवज्ञां वरयंश्च (७।१००-१०२) साधको यदा विघ्नैः पुनः पुनः प्रतिहन्यमानोऽपि नावसादमञ्चति (७।१२२-१२३), निजानन्दमयैर्भोगैर्नित्यतृप्तमपि च भगवन्तमेकान्तभावेन प्रपन्नः सन्नात्मतुष्टये समाराधयति (१४।१७), तदा अवश्यमेव स समस्ताया मानवजातेः कल्याणाय प्रवर्तेत । सात्वतीयं दर्शनमेनमङ्गीकृत्य योगाङ्गेषूत्तमं तर्कं चाश्रयन्ती पक्षपातविहीनया आवापोद्वापक्षमया प्रतिभया भारतीयानां सर्वेषां शास्त्राणां धर्माणां च प्राचीनानामधुनातनानां च सार्वभौमान् नियमानाधारीकृत्य निर्मिता नूतना दृष्टिरेव सांस्कृतिकसमस्यानां साम्प्रतं समुपस्थितानां समाधानाय कल्पिष्यत इति निश्चप्रचमनुभवन्तु भारतीया मनीषिणः ।

एवमत्रान्तिमं परिच्छेदद्वयं विहाय प्रायः सम्पूर्णाया अस्या संहितायाः प्रमुखा विषयाः समालोचिताः । अन्तिमे हि परिच्छेदद्वये[2] प्रतिमापीठप्रासादप्रतिष्ठाविषयः सविशेषं वर्णित इति तत्र कृतभूरिपरिश्रमा दाक्षिणात्या विद्वांस एव साधिकारं ब्रूयुः । न वयं पाञ्चरात्र-

---

१. अस्य विवरणमस्मत्कृते विज्ञानभैरवोपोद्घाते (पृ० ३७-३८) द्रष्टव्यम् ।

२. प्रतिमा(बिम्ब)विषये प्रोक्तमिदं वचनं तु सर्वबोधसाधारणम्—"सुनिश्चितं हितं चैतन्मानमव्यभिचारि यत् । मनोहारित्वमेकत्र रूपलावण्यभूषितम् ॥ सर्वदा चानयोर्विद्धि अन्योन्यत्वेन संस्थितिम् । सुसौन्दर्यं तु मानस्य क्वचिदाक्रम्य वर्तते ।। लावण्यस्य क्वचिन्मानं समाच्छाद्यावतिष्ठते । यथाऽतिरूपवान् लोके दरिद्रोऽप्येति मान्यताम् ।। विरूपोऽप्यतिवित्ताढ्यो नारूपो नैव निर्धनः । एवं द्वयोज्झितं बिम्बमनादेयत्वमेति च ।।""(२४।१६१-१६७) इति । मानादेः किञ्चिद्वैषम्येऽपि सौन्दर्यातिशयविशिष्टं चेद् बिम्बमुपादेयम्, सौन्दर्याभावेऽपि

शास्त्रप्रवीणा इति तत्तत्त्वज्ञा मनीषिणः क्षाम्यन्तु । अस्माकं चापलमेतत् ते विस्मरिष्यन्ति, अनिर्दिष्टस्थलानामुद्धरणानां वाक्यानां च स्थलनिर्देशमन्यासां त्रुटीनां परिमार्जनं च ते यथावसरं सूचयिष्यन्तीति च प्रार्थ्यन्ते ।

कृतज्ञताज्ञापनम्

एवमितो द्वादशवर्षेभ्यः प्राक् कृतारम्भस्य अस्य ग्रन्थस्य सम्पादनकर्मण इतिकर्तव्यताऽद्य परिसमाप्यते । अस्मिन् शुभे कर्मणि कृतसहायानां सहृदयानां सुहृदामादरणीयानां विदुषां परमश्रद्धास्पदानां गुरूणां च स्मरणमवसरप्राप्तमत्र चर्च्यते । सर्वप्रथमं वयं तान् पूर्वाचार्यान्, आधुनिकांश्च ग्रन्थप्रणेतॄन् स्मरामः, यैः क्षुण्णेन हि पथाऽस्माभिरेषा विद्यायात्रा परिसमापिता । यत्र क्वचन मतान्येतेषां समालोचयतामप्यस्माकं चेतसि तान् प्रति समादरो नाणुमात्रमपि क्षणमपि तिरोबभूव । तदनु येषां कृपाभरेणागमिकदर्शनानुशीलनरुचिरस्मासु समुद्भूता, तेषां वन्दनीयचरणानां साम्प्रतं ब्रह्मीभूतानां गुरुवर्याणां श्रीमतां गोपीनाथकविराजमहोदयानां चरणोरयं शब्दसुमनोऽञ्जलिः समर्प्यते । तैः प्रदर्शितया हि पद्धत्याऽस्याः संहिताया भाष्यस्य च समालोचनात्मकं संस्करणम्, तत्र बहिरङ्गान्तरङ्गपरीक्षणात्मकश्चैष उपोद्घातो विलिखितो यथामति तन्त्रान्तरागमान्तरसंवादपुरस्सरम् । ग्रन्थस्यास्य सम्पादने विनियुक्तानां ग्रन्थसंस्करणे टिप्पणीषु च प्रयुक्तानां मातृकाणां विभिन्नाभ्यः संस्थाभ्यो मूलमातृकाप्रतिलिप्याद्यधिगमे संग्रहे च कृतसहायानां संस्कृतविश्वविद्यालयोपकुलपतिचराणां पण्डितश्रीसुरतनारायणमणित्रिपाठिमहोदयानामनुसन्धानसंचालकचराणां दिवंगतानां श्रीमतां क्षेत्रेशचन्द्रचट्टोपाध्यायानां चापि भृशमुपकारं स्मरामः । तासां तासां संस्थानामधिकारिणो वयं साधुवादैः सभाजयामः, याभ्यो मूलमातृकास्तत्प्रतिलिपयो वाऽधिगता अस्माभिः । मातृकापरिचयप्रसङ्गे च तासां संस्थानां नामानि सूचितान्येव ।

अपि च, बक०बख०संज्ञके उभे अपि मातृके तालपत्रीये ग्रन्थाक्षरलिखिते आस्ताम् । तयोः पाठसंकलने श्रीमद्भ्यां लिपिविज्ञानकोविदाभ्यां गणपतिशास्त्रिहेब्बार–जनार्दनशास्त्रिपाण्डेयाभ्याम्, तिरुपतिभाष्यमातृकायश्च पाठसंकलने तत्रत्येन श्रीमता श्रीनिवासवरदन्महोदयेन वेङ्कटेश्वरशोधसंस्थानसंचालकैः श्रीमद्भिः डा०यस०शङ्करनारायणन्महोदयैर्नियोजितेन साहाय्यमाचरितम् । उद्धरणस्थलनिर्देश-ग्रन्थग्रन्थकारादिपरिचय-मन्त्रस्वरूप-पारिभाषिकशब्दादिविषये समुत्पन्नानां संशयानां निराकरणे तिरुपतिस्थैः डा० यस० वी० रघुनाथाचार्यमहोदयैर्वेङ्कटेश्वरविश्वविद्यालये संस्कृतविभागे प्राध्यापकैः, श्रीके०वी०स्वामीनाथन्-के०ई०गोविन्दन्महोदयाभ्यां तिरुपतिस्थसंस्कृतविद्यापीठानुसन्धानविभागसदस्याभ्याम्, काशिक-

---

मानयुक्तं चेत् तदपिग्राह्यम् । ताभ्यां द्वाभ्यामप्युज्झितं चेत् तत् त्याज्यम् । एवं बिम्बस्य प्रमाणवत्त्वे सौन्दर्यवत्त्वे च—"अर्चकस्य तपोयोगादर्चनस्यातिशायनात् । आभिरूप्याच्च बिम्बानां देवः सन्निधिमृच्छति ॥" इत्युक्तरीत्या निरतिशयाह्लादजननी भगवत्सान्निध्यशक्तिर्बिम्बे स्वत एवाविर्भूता सफलाऽवतिष्ठते । अतस्तदर्थं सुतरां यत्नः कार्य इति प्रकरणस्यास्य फलितार्थः ।

रामानुजसंस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षेण श्रीमता नवरङ्गचतुर्वेदिना, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये प्राचीनराजशास्त्रार्थशास्त्रविभागवरिष्ठसदस्येन कौटिल्यार्थशास्त्रगौतमीयान्वीक्षिक्योः कृतभूरिपरिश्रमेण श्रीमता विश्वनाथशास्त्रिदातारमहोदयेन, अत्रैव धर्मशास्त्रप्राध्यापकेन श्रीमता सूर्यनारायणोपाध्यायेन, श्रीमतां यतिवंशावतंसानां करपात्रस्वामिपादानामनवरतसान्निध्यपूतविद्येन श्रीमता पण्डितमार्कण्डेयब्रह्मचारिणा च भूरि भूरि सहयोगो दत्त इति सर्वे एते सप्रश्रयं कृतज्ञताज्ञापनपुरस्सरं सभाज्यन्ते। अत्रैव तिरुपतिनगरे निवासस्य सर्वविधं सौविध्यं प्रददद्भ्यः पञ्चरात्रशास्त्रनिष्णातविद्वद्भिः सह परिचयादिकं सम्पादितवद्भ्यश्च तिरुपतिसंस्कृतविद्यापीठाध्यक्षेभ्यो डा०एम०डी०बालसुब्रह्मण्यशास्त्रिभ्यः कृतज्ञताज्ञापनमवसरप्राप्तम्। अस्मत्सुहृत्प्रवरः शिवसायुज्यमापन्नः श्रीमानागमाचार्यो रघुनाथमिश्रमहोदयोऽत्र न स्मर्येत चेदपूर्णमेवैतत् कृतज्ञताज्ञापनं स्यात्। एष हि महानुभावः सर्वदैवास्माकं सम्पादनकर्मणि सर्वविधं साहाय्यमाचरति स्म, उद्धरणानां स्थलनिर्देशे, उपोद्घातभाषायां च भावव्यञ्जनासमर्थानां विशिष्टानां पदानां समुपस्थापने स्वीयं महत्कौशलं प्रदर्शयति स्म। साम्प्रतमेष पाञ्चभौतिकेन देहेनास्मत्साहाय्यार्थं नोपस्थास्यतीति निवेदयतामस्माकं चेखिद्यते चेतः।

मूलग्रन्थस्य भाष्यस्य च सम्पादनकार्यं प्रायः १९७२ ई० वर्षान्त एव परिनिष्पन्नमासीत्। दैवदुर्विपाकात् षड् वर्षाणि यावदस्य मुद्रणप्रकाशनादिकमवरुद्धमिवाभूत्। तमिममवरोधं दूरीकृतवतः सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयकुलपतीन् पदवाक्यप्रमाणपारावारीणान् श्रीमतः पण्डितबदरीनाथशुक्लमहोदयान् साधुवादशतैः सविनयं सभाजयामः। स्वकीये प्रथमे कार्यकाले योगतन्त्रविभागे मां विनियुक्तवन्तो दार्शनिकाग्रेसराः शब्दब्रह्मव्याख्यातारो डा० गौरीनाथशास्त्रिमहोदयाः साम्प्रतं पुनरपि कुलपतिधुरां गुर्वीं वहन्तीति तदीयकरकमलयोरेवायं ग्रन्थः समर्प्यते, "त्वदीयं वस्तु गौरीन्द्र तुभ्यमेव समर्पये" इति न्यायमनुसरता मया। ग्रन्थानां मुद्रितानां पाण्डुलिपीनां चावलोकने सर्वविधसौविध्यप्रदानाय सरस्वतीभवनस्याध्यक्षः श्रीलक्ष्मीनारायणतिवारी, उपाध्यक्षौ च श्रीबलिरामशास्त्रिभारद्वाज-अच्युतनाथझामहोदयौ सस्नेहं स्मर्यन्ते। गोयनकाविश्वनाथपुस्तकालयाध्यक्षः श्रीदेवमणियाज्ञिकः, सरस्वतीभवनस्थः श्रीझारखण्डेसिंहश्च सविशेषं स्मरणपदवीमानीयेते मुद्रितग्रन्थसाहाय्यार्थम्। अन्ते विविधानुक्रमणीसंयोजने कृतसहायां कनिष्ठपुत्रीं कु० वीणानाम्नीं (बी. एस-सी.) शुभाशीर्वादशतैः संयोज्य, ईक्ष्य(प्रूफ)संशोधने कृतसहायं श्रीहरिवंशत्रिपाठिनं च शुभोदर्कैः सभाजयित्वा विरम्यत्यस्माद् वाग्व्यापारात्।

विदुषां वशंवदः
व्रजवल्लभद्विवेदः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये
सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाचार्यः।

श्रावणी पूर्णिमा, सं० २०३८
(१५ अगस्त, १९८१ ई०)
वाराणसी।

भूमिका

सात्वत, पौष्कर और जयाख्यसंहिताएं पाञ्चरात्र आगम में रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें से जयाख्यसंहिता का एक अच्छा संस्करण गायकवाड़ शोध संस्थान, बड़ोदा से प्रकाशित हो चुका है। सात्वतसंहिता का यह परिष्कृत संस्करण अलशिंगभट्ट विरचित भाष्य के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इस संहिता का सन् १९०३ में सुदर्शन प्रेस कांजीवरम् से प्रकाशन हुआ था। इसके संपादक श्री अनन्ताचार्य का विचार है कि महाभारत भीष्मपर्व (६६।३९-४०) में इसी संहिता का उल्लेख [१]हुआ है।

सात्वतसंहिता

डॉ० ओटो श्रादर इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मत से [२]अहिर्बुध्न्यसंहिता अथवा संकर्षणसंहिता का उक्त प्रसंग से संबन्ध जोड़ा जा सकता है, किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है। संकर्षण की प्रार्थना पर भगवान् चक्रपाणि ने सात्वतसंहिता का साक्षात् उपदेश किया है। इसके विपरीत अहिर्बुध्न्यसंहिता का उपदेश संकर्षण अहिर्बुध्न्य को करते हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिता (५।५९) में सात्वतसंहिता का उल्लेख होने से भी वह सात्वत से अर्वाचीन मानी जायगी। [३]डा० श्रादर का यह कथन भी ठीक नहीं है कि सात्वतसंहिता (१।१२३) में पौष्कर, वाराह और प्राजापत्य (ब्राह्म) नाम की तीन संहिताओं का उल्लेख हुआ है, क्योंकि उक्त स्थल पर तीन संहिताओं का उल्लेख न होकर त्रिविध सर्ग (सृष्टि) की चर्चा हुई है। स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव ने रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध उक्त तीनों संहिताओं को अपने ग्रन्थ में उद्धृत[४] किया है। स्पष्ट है कि 'सात्वता' शब्द सात्वतसंहिता का वाचक है, न कि डा० श्रादर के अनुसार सात्वत मत के अनुयायियों का।

१. उपर्युक्त संस्करण की भूमिका (पृ० १) द्रष्टव्य।
२. डॉ० श्रादर के इन विचारों के लिये देखिये उनका ग्रन्थ--इण्ट्रोडक्शन टू दि पांचरात्र एण्ड दि अहिर्बुध्न्यसंहिता पृ० १५-२०
३. डॉ० श्रादर के इस कथन का अनुवाद डॉ० डेनियल स्मिथ ने भी अपने ग्रन्थ में (ए डिस्क्रिप्टिव बिब्लिओग्राफी आफ दि पांचरात्रागम, भा० १, पृ० ५३५) किया है।
४. सात्वता पृ० १८ पर, पौष्करा पृ० १५ और जयाख्या पृ० ८९, ९१, ११०, १२७ पर उद्धृत है। देखिये, संस्कृत विश्वविद्यालय संस्करण।

रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध संहिताओं का सर्वत्र सात्वत, पौष्कर और जयाख्यसंहिता के क्रम से उल्लेख मिलता है । इससे भी सात्वतसंहिता ही सबसे प्राचीन सिद्ध होती है । फिर सात्वतसंहिता में विभव देवताओं के केवल नाम और ध्यान ही वर्णित हैं और पौष्करसंहिता (३६ अध्याय) में विस्तार से इनके अवतार स्थलों का भी वर्णन मिलता है । इस प्रकार पौष्करसंहिता सात्वतसंहिता की इस कमी को पूरा करती है । "सर्वतः पाणिपादम्" (१।२५) सात्वतसंहिता का यह वचन जयाख्यसंहिता (४।६३) में भी थोड़ा पाठभेद के साथ मिलता है । वहीं (४।७६।८२) उक्त श्लोक की विस्तार से व्याख्या भी मिलती है । इसी तरह से 'अकाराद्यो विसर्गान्तः" (२।१७) प्रभृति सात्वत वचन की जयाख्यसंहिता (६।१३-१७) में स्पष्ट व्याख्या की गयी है । इस प्रकार सात्वतसंहिता के संक्षिप्त वचनों की विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत करने वाली यह जयाख्यसंहिता निश्चित रूप से उससे बाद की है । स्पष्ट है कि पौष्कर और जयाख्य दोनों संहिताएं सात्वतसंहिता के विषयों का उपबृंहण करती हैं ।

पातंजल महाभाष्य के "अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्" (३।२।११) इस वचन में प्राचीन मध्यमिका नगरी की चर्चा है । राजस्थान के प्रसिद्ध चित्तौड़गढ़ के पास विद्यमान घोसुण्डी ग्राम के आसपास ही उसकी स्थिति मानी जाती है । यहाँ पहले पत्थर के परकोटे से घिरी हुई नारायण वाटिका थी, जिसको कि पाराशरिपुत्र गाजायन ने वासुदेव और संकर्षण को समर्पित किया था । घोसुण्डी से उपलब्ध शिलालेख[१] से उक्त जानकारी मिलती है । प्रस्तुत सात्वतसंहिता (२५।३६६-३६७) में इस प्रकार की वाटिका को भगवदर्पित करने का विधान मिलता है । उक्त घोसुण्डी शिलालेख से सात्वतसंहिता के प्रस्तुत विधान की प्राचीनता सिद्ध होती है ।

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर यद्यपि सात्वतसंहिता की ही प्राचीनता सिद्ध होती है, किन्तु वैष्णव सम्प्रदाय में सबकी समान रूप से मान्यता है । ईश्वरसंहिता (१।६७) में बताया गया है कि सात्वततन्त्र में प्रदर्शित विधान से यादवाचल में, पौष्करोक्त क्रम से श्रीरंग क्षेत्र में और जयाख्योक्त विधि से हस्तिशैल में भगवान् विष्णु की आराधना की जाती है । समय के परिवर्तन के साथ सात्वत क्रम में ईश्वरसंहिता पौष्कर के क्रम में पारमेश्वर संहिता और जयाख्या के

---

१. इस शिलालेख का विवरण एपिग्राफिया इण्डिका, भा० १०, परिशिष्ट पृ० २ पर प्रकाशित है ।

क्रम में पाद्मसंहिता को विशेष आदर प्राप्त हुआ। अलशिंग भट्ट भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि ईश्वरसंहिता सात्वत की (पृ० २१, ४११) और पारमेश्वर-संहिता पौष्कर की (पृ० १५२) उपबृंहिका है। पाद्मसंहिता के विषय में जयाख्य-संहिता में संकलित अधिक पाठ में (१।१११) बताया गया है कि यह जयाख्या की पूरक है। अलशिंग भट्ट (पृ० ७१, २२५) लक्ष्मीतन्त्र को भी सात्वतसंहिता का पूरक मानते हैं। इसी प्रकार पृ० १२८ और १५२ पर वे अहिर्बुध्न्यसंहिता को भी सात्वतसंहिता से ही संबद्ध मानते हैं। पारमेश्वरसंहिता पौष्करसंहिता के विषयों का उपबृंहण करती है, इस बात का उल्लेख स्वयं उस संहिता में भी मिलता है। किन्तु भाष्यकार अलशिंग भट्ट इसका भी सबन्ध सात्वतसहिता से जोड़ते हैं (पृ० २४, ५६, ६१, ६९, ७९, ९६. ४३४)। इसका कारण यह है कि ईश्वर और पारमेश्वरसंहिता में समान आनुपूर्वी वाले सैकड़ों श्लोक मिलते हैं। पारमेश्वर की अपेक्षा ईश्वरसंहिता प्राचीन है, यह आगे बताया जायगा। इस प्रकार ईश्वरसंहिता जब सात्वत की पूरिका है, तो उससे सामग्री का संकलन करने वाली पारमेश्वरसंहिता का भी संबन्ध सात्वत से मानने में कोई अनौचित्य नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो उक्त दोनों संहिताओं में जयाख्या और पौष्करसंहिता से भी सामग्री संकलित की गई है और इस प्रकार इन सभी संहिताओं का एक दूसरे से सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। "अनुक्तमन्यतो ग्राह्यम्" (अर्थात् जो बात एक संहिता में नहीं कही गई है, उसका ग्रहण अन्य संहिता से कर लेना चाहिये) इस न्याय के अनुसार ऐसा किया गया है। उक्त सभी प्रकरणों के अवलोकन से यह सिद्ध हो जाता है कि पौष्कर और जयाख्यसंहिता सात्वतसंहिता में संक्षिप्त रूप से वर्णित विषयों का विस्तार करती है। फलतः सात्वतसंहिता ही इन सबमें प्राचीन है।

श्रीमद्भागवत महापुराण (१।३।८ में २४ अवतारों का वर्णन करते समय देवर्षि नारद को भी अवतार माना गया है और बताया गया है कि इन्होंने सात्वत तन्त्र का उपदेश किया, जिसमें कि कर्म से भी[1] मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन है। सभी टीकाकार सात्वततन्त्र का अर्थ पांचरात्र शास्त्र करते हैं। सात्वतसंहिता सात्वततन्त्र के नाम से भी प्रसिद्ध है। ऋषियों को नारद ने ही इसका उपदेश किया है। इस

१. भागवत की भावार्थदीपिका नामक टीका के रचयिता वंशीधर के द्वारा उद्धृत एक वचन में सभी प्रकार के कर्मों को संसार का ही कारण बताया गया है, किन्तु भागवत के उक्त पद्य में कर्मों की भी मोक्ष-सम्पादकता बताई गई है। "नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः" इसकी व्याख्या करते हुए श्रीधर स्वामी, पदरत्नावलीकार विजयध्वज और बालप्रबोधिनीकार गिरिधर कर्मों की मोक्षसाधनता का प्रतिपादन करते हैं।

प्रकार भागवत में इस प्रसंग में सात्वतसंहिता का ही उल्लेख किया गया है, ऐसा मानना चाहिये। इससे भी सात्वतसंहिता की विशिष्टता सिद्ध होती है।

भाष्यकार अलशिंग भट्ट

प्रत्येक परिच्छेद की समाप्ति के पुष्पिका-वाक्य में भाष्यकार स्वयं अपना परिचय देते हैं। मंगलाचरण श्लोक में भी वे अपने इष्टदेव और पिता की वन्दना करते हैं। कर्णाटक राज्य का यदुगिरि आजकल 'मेलकोटे' के नाम से प्रसिद्ध है। यहां सात्वत-संहिता के अनुसार ही भगवान् की अर्चना की जाती है। सात्वतसंहिता के भाष्यकार अलशिंग भट्ट अपने को यदुगिरीश भगवान् के चरणों का सेवक बताते हैं और मौञ्ज्यायन गोत्र के योगानन्द भट्टाचार्य, जो कि नृसिंह के नाम से भी प्रसिद्ध थे, इनके पिता हैं। पृ० १०५ पर भी इन्होंने अपने पिता को स्मरण किया है। उस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तब इनके पिता का स्वर्गवास हो चुका था।

अलशिंग भट्ट ने ईश्वरसंहिता पर भी व्याख्या लिखी है। प्रस्तुत भाष्य में दो स्थलों पर (पृ० १०८, २४८) यह व्याख्या उद्धृत है। इससे स्पष्ट होता है कि इस भाष्य की रचना से पूर्व उक्त व्याख्या लिखी जा चुकी थी। इस व्याख्या की समाप्ति के पुष्पिका-वाक्य से उक्त जानकारी के अतिरिक्त यह भी पता चलता है कि इनकी माता का नाम यदुगिरिनायकी अम्मण्यम्बा था, नारायण मुनि इनके विद्यागुरु थे। ये अत्यन्त सरस[१] कविता करते थे। यदुकुलनरेश श्रीकृष्णराज सार्वभौम की सभा में इनको श्वेतच्छत्र, चामर, मुक्तामण्डित कुण्डल, सौवर्ण यज्ञोपवीत और कंकण प्रदान कर सम्मानित किया गया था। १७५६ शकाब्द (१८३४ ई०) में इन्होंने सात्वतार्थप्रकाशिका नाम की ईश्वरसंहिता की व्याख्या को पूरा किया था[२]। इससे यह ज्ञात होता है कि अलशिंग भट्ट बहुत प्राचीन ग्रन्थकार नहीं है।

न्यू कैटलागस् कैटलागरम्, भा० १, पृ० ३०० पर दिये गये विवरण से ज्ञात होता है कि अलशिंग भट्ट ने १८२८ ई० में यतिराजशतक और १८३६ ई० में वज्रमुकुटीविलासचम्पू की रचना की। यतिराजविजयव्याख्या और सम्प्रदाय-प्रदीपिका नामक ग्रन्थ भी इनके द्वारा लिखे गये थे। अड्यार पुस्तकालय की सूची[३]

---

१. वज्रमुकुटीविलासचम्पू सरीखे चम्पूकाव्य की रचना करने से इनकी सरस काव्य रचना की सामर्थ्य स्पष्ट होती है।

२. यह पूरा विवरण हमने श्री के० वी० स्वामीनाथन् द्वारा सम्पादित पाण्डुलिपि से प्राप्त किया है। एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

३. अल्फाबेटिकल सूची, पृ० १४२

से ज्ञात होता है कि इन्होंने सात्वतामृतसार की भी रचना की थी, किन्तु गवर्नमेण्ट लाइब्रेरी, मद्रास की[1] सूची में यह ग्रन्थ इनके पिता योगानन्द की कृति माना गया है। इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि अलशिंग भट्ट ने ६ अथवा ७ ग्रन्थों की रचना की थी और प्रस्तुत भाष्य इनकी सर्वान्तिम रचना है।

अलशिंग भट्ट ने प्रस्तुत भाष्य में कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति नामक भगवत्प्राप्ति के चार उपायों में से प्रथम कर्मयोग का अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग के रूप में तथा पर, व्यूह और विभव नामक ब्रह्मविचार के रूप में विशद विवेचन किया है। प्रसंगवश भक्ति और प्रपत्ति का विवेचन हुआ है। धर्म की निवृत्तिप्रधान और प्रवृत्तिप्रधान व्याख्याएं शास्त्रों में मिलती हैं। सात्वत-संहिता में प्रदर्शित धर्म [2]प्रवृत्तिप्रधान है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में भी इसी प्रवृत्तिप्रधान धर्म की व्याख्या की गई है। यह प्रवृत्तिप्रधान क्रियामार्ग ज्ञान और भक्ति की सहायता से प्रपत्ति (शरणागति) के रूप में परिणत होकर भोग और मोक्ष का भी प्रापक है, ऐसा एकान्ती भागवतों का विश्वास है। नारायणीयोपाख्यान, भगवद्गीता और सात्वत प्रभृति पांचरात्र संहिताओं में इसी प्रवृत्ति धर्म का स्वरूप समझाया गया है इस विषय का विवेचन करने में भाष्यकार पूर्ण सफल रहे हैं।

संहिता के श्लोकों की सुस्पष्ट व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने अन्य अनेक संहिताओं के समानार्थक और उपबृंहक वचनों को उद्धृत किया है। इससे भाष्यकार

---

१. अल्फाबेटिकल सूची पृ० ८७७

२. "तान् सात्वते क्रियामार्गे मद्वाक्याद् याहि योजय" (१।७) इस सात्वतसंहिता के वचन का अभिप्राय यह है कि अब तक निवृत्ति मार्ग पर चलने वाले मुनियों के पास मेरे कहने से तुम जाओ और इस प्रवृत्तिपरक शुद्ध क्रिया मार्ग का उनको उपदेश दो। पातंजल योगसूत्र में यह क्रिया मार्ग क्रियायोग के नाम से उपदिष्ट है—"तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः" (२।१)। इस क्रियायोग के अभ्यास से समाधि की तरफ साधक की प्रवृत्ति होती है और उसके क्लेश कमजोर पड़ जाते हैं (२।२)। सात्वतसंहिता में प्रदर्शित अन्तर्याग समाधि दशा में ही यह सम्पन्न हो सकता है। इससे क्रियामार्ग की महत्ता स्पष्ट होती है।

के पांचरात्र आगम के तलस्पर्शी विशद ज्ञान का परिचय मिलता है। पांचरात्र संहिताओं के प्राचीन भाष्य अथवा व्याख्यान आज उपलब्ध नहीं होते। भाष्यकार अलशिंग भट्ट ने भी पारमेश्वर व्याख्यान को छोड़कर अन्य किसी भाष्य अथवा व्याख्यान ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु भाष्यकार प्रसंगवश अनेक संहिताओं का, रामानुजाचार्य, वेदान्तदेशिक प्रभृति के ग्रन्थों का, शठकोप प्रभृति भक्तों का प्रमाण के रूप में उल्लेख करते हैं। पूरे भाष्य में इस प्रकार प्राय ९० ग्रन्थों और ग्रन्थकारों को उद्धृत किया गया है। इससे भाष्यकार के वैदुष्य का और इस भाष्य की विशिष्टता का बोध होता है।

भाष्य में उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

भाष्य में उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का विशद परिचय संस्कृत उपोद्घात से प्राप्त करना चाहिये।

ब्रह्मसूक्त और महोपनिषत् के विषय में वेदान्तदेशिक के समय से ही विवाद चला आ रहा है। वेदान्तदेशिक सच्चरित्ररक्षा (पृ० १४-१६) में बताते हैं कि यहाँ ब्रह्मसूक्त और परमात्मसूक्त पद भी महोपनिषत् में पठित ११ मन्त्रों वाले ब्रह्मसूक्त का ही बोधक है। महोपनिषद् को कोई प्राचीन ग्रन्थकार उद्धृत नहीं करता, ऐसी बात भी नहीं है। फिर भाष्यकार प्रभृति के द्वारा अनुद्धृत उपनिषदें तो अनेक मिल जायगी, इतने मात्र से उनको अप्रमाण नहीं माना जा सकता। महोपनिषत् तो केवल रामानुज मुनि प्रभृति के द्वारा ही नहीं, किन्तु उनके परमगुरु यामुनाचार्य मुनि के द्वारा भी पुरुषनिर्णय नामक ग्रन्थ में प्रमाण के रूप में उद्धृत है। केवल एक ही सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसको उद्धृत किया हो, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि विरुद्ध सम्प्रदाय वाले आचार्य यादवप्रकाश ने भी अपने भगवद्गीता के भाष्य के आठवें अध्याय में महोपनिषद् को उद्धृत किया है। यादवप्रकाश के अनुयायी नारायणाचार्य भी अपने तत्त्वनिर्णय नामक ग्रन्थ में श्रुति के तात्पर्य का निरूपण करते समय विस्तार से अनेक मुनिवचनों का उद्धरण देते हुए महोपनिषत् के[१] चार मन्त्रों को उद्धृत करते हैं।

---

१. महोपनिषत् में चार ही मन्त्र उपलब्ध होते हैं। अन्य सात मन्त्र महानारायणोपनिषत् के ११ वें खण्ड में उपलब्ध हैं।

भाष्यकार अलशिंग भट्ट (पृ० ७४) महोपनिषत् में २३ मन्त्र मानते हैं और इसके अन्तर्गत निर्दिष्ट १९ मन्त्रों को ब्रह्मसूक्त के नाम से जानते हैं। वेदान्तदेशिक प्रभृति के प्रमाण पर यह मानना चाहिये कि महोपनिषत् में २३ मन्त्र और ब्रह्मसूक्त में १९ मन्त्र हैं।

स्वयं भाष्यकार इस प्रसंग में शंका उठाते हैं और उसका समाधान भी देते हैं कि महोपनिषत् के हस्तलेखों में "सर्वस्य वशिनम्" प्रभृति मन्त्र नहीं मिलते, तब उनको महोपनिषत् के अन्तर्गत कैसे माना जा सकता है ? तप्त मुद्रा का समर्थन करने वाली सिद्धान्तचन्द्रिका में इस शंका का परिहार यह किया गया है कि प्राचीन हस्तलेखों में ये मन्त्र उपलब्ध हैं। आधुनिक हस्तलेखों में इनकी अनुपलब्धि लेखकों के प्रमाद के कारण है। इनमें पूरा का पूरा आठ मन्त्र वाला ब्रह्मसूक्त नहीं मिलता, जब कि ब्रह्मसूक्त में ये सभी मन्त्र श्रुतिपरम्परा से प्राप्त हैं। यद्यपि सिद्धान्तचन्द्रिका के उक्त वचन के अनुसार ब्रह्मसूक्त में केवल आठ मन्त्र ही सिद्ध होते हैं, किन्तु भाष्यकार ने वेदान्तदेशिक की सच्चरित्ररक्षा के प्रमाण पर ब्रह्मसूक्त में 'सहस्रशीर्षम्' प्रभृति १९ मन्त्रों की सत्ता स्वीकार की है (पृ० ७४-७५)।

मुद्रित[१] उपनिषत्संग्रहों में दो प्रकार की महोपनिषत् उपलब्ध होती है—एक छः अध्यायवाली और दूसरी चार कण्डिका वाली। पहली के पहले अध्याय का और दूसरी पूरी उपनिषत् का स्वरूप प्रायः समान है। इनमें दूसरी उपनिषत् को ही वेदान्तदेशिक स्मरण करते हैं, क्योंकि उसी में प्रारम्भ में "एक एव नारायणः" प्रभृति चार मन्त्र हैं। यादवप्रकाश और नारायणाचार्य ने भी इसी को महोपनिषत् माना होगा। यहां विचारणीय प्रश्न यह है कि चार मन्त्रों वाली महोपनिषत् के उदाहरण से २३ मन्त्रों वाली महोपनिषत् की सत्ता कैसे सिद्ध हो सकती है ? खिल मन्त्रों का प्रामाण्य तो सभी प्राचीन आचार्य मानते हैं, किन्तु उनकी संख्या घटती बढ़ती नहीं है। यादवप्रकाश और नारायणाचार्य के समय में महोपनिषद् में चार ही मन्त्र थे और

---

१. मोतीलाल बनारसीदास द्वारा सन् १९७० में प्रकाशित उपनिषत्संग्रह के प्रथम संस्करण के ५२७–५५३ पृष्ठों में पहली तथा ६४९-६५० पृष्ठों में दूसरी महोपनिषत् का स्वरूप देखा जा सकता है।

उनका वही स्वरूप आज भी उपलब्ध है। २३ मन्त्रों वाली महोपनिषत् का स्वरूप तो उक्त महोपनिषत् के चार महानारायणीय के ग्यारह और "सर्वस्य वशिनम्" प्रभृति ब्रह्मसूक्त के आठ मन्त्रों को लेकर बना प्रतीत होता है।

कुछ लोगों के मत से ब्रह्मसूक्त में "सर्वस्य वशिनम्" इत्यादि आठ मन्त्र हैं। वेदान्तदेशिक के मत का अनुसरण करते हुए भाष्यकार अलशिंग भट्ट ब्रह्मसूक्त में 'सहस्रशीर्षम्' प्रभृति १९ मन्त्र मानते हैं और महोपनिषत् में २३ मन्त्र। महोपनिषत् और ब्रह्मसूक्त के इन २३ मन्त्रों के प्रतीक यहीं (पृ० ७२-७४) भाष्य में संगृहीत ईश्वरसंहिता और पारमेश्वरसंहिता के वचनों में देखे जा सकते हैं। इन दोनों संहिताओं में समान आनुपूर्वी के अनेक वचन उपलब्ध होते हैं, यह बताया जा चुका है। विचारणीय प्रश्न यह है कि इन दोनों में कौन सी संहिता प्राचीन है।

पारमेश्वरसंहिता (१०।३७६-३८२) में दिव्य, मुनिभाषित और पौरुष तथा सात्त्विक, राजस, तामस भेदों का निरूपण करते समय बताया गया है कि सात्वत, पौष्कर और जयाख्य सरीखी संहिताएं दिव्य कहलाती हैं। ईश्वरसंहिता, भरद्वाजसंहिता, सौमन्तवी संहिता, पारमेश्वरसंहिता, वैहायसीसंहिता, चित्रशिखण्डीसंहिता तथा जयोत्तर-संहिता मुनिभाषित हैं और इनका सात्त्विक विभाग में परिगणन किया जाता है। सनत्कुमारतन्त्र, पक्षोद्भवतन्त्र, सत्यसंहिता, तेजोद्रविणसंहिता और मायावैभवागम का मुनिभाषित राजस विभाग में तथा पञ्चप्रश्न, शुकप्रश्न, तत्त्वसागरसंहिता प्रभृति का तामस विभाग में अन्तर्भाव किया जाता है। यहाँ मुनिभाषित संहिताओं के सात्त्विक विभाग में सबसे पहला नाम ईश्वरसंहिता का है। इससे पारमेश्वर की अपेक्षा इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

सात्वतसंहिता का दर्शन

इस तरह से यहाँ सात्वतसंहिता और उसके भाष्य का, भाष्य में उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। आगम अथवा संहिता ग्रन्थों में ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या के रूप में पाद विभाग देखने को मिलता है, किन्तु त्रिरत्न

के नाम से प्रसिद्ध सात्वत, पौष्कर और जयाख्यसंहिता में यह[१] विभाग नहीं है। तो भी उक्त चारों पादों के विषयों का इन संहिताओं में संक्षेप अथवा विस्तार से वर्णन मिलता है। जयाख्यसंहिता, अहिर्बुध्न्यसंहिता, लक्ष्मीतन्त्र प्रभृति में जैसे ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही विस्तार से[२] दार्शनिक विवेचन किया गया है, वैसा सात्वत और पौष्कर संहिता में देखने को नहीं मिलता। सात्वतसंहिता में दर्शन और योग के प्रतिपादक अंश पूरे ग्रन्थ में फैले हुए हैं। सात्वतसंहिता में वर्णित उक्त चारों विषयों का, विशेष कर दर्शन और योग का, अन्यत्र कहीं प्रतिपादन नहीं हुआ है। अतः संस्कृत उपोद्घात में विस्तार से इनका परिचय दिया गया है।

इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि सात्वतसंहिता में त्रिविध ब्रह्म का ही प्रतिपादन हुआ है, चतुर्विध अथवा पञ्चविध[३] परब्रह्म का नहीं। अतः पांचरात्र सत्र का संबन्ध पञ्चविध परब्रह्म से नहीं जोड़ा जा सकता। हाँ, अभिगमन, उपादान आदि पांच कालों से इसको जोड़ा जा सकता है।[४]

---

१. रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध उक्त तीनों संहिताओं में पादविभाग नहीं मिलता, इससे भी इनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। सात्वतसंहिता की एक विशेषता और है कि इसमें परिच्छेद विभाग है, अन्य आगम और तन्त्र ग्रन्थों के जैसे अध्याय या पटल विभाग नहीं। इससे भी यह अधिक प्राचीन सिद्ध होती है।

२. जयाख्यसंहिता प्रतिपादित दर्शन का विवेचन डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के ग्रन्थ के तृतीय खण्ड में, अहिर्बुध्न्यसंहिता के दर्शन की व्याख्या डॉ० श्रादर कृत उपोद्घात ग्रन्थ में तथा लक्ष्मीतन्त्र प्रतिपादित दर्शन का विवरण "लक्ष्मीतन्त्र : धर्म और दर्शन" नामक डॉ० अशोककुमार कालिया रचित ग्रन्थ में और डॉ० संयुक्ता गुप्त द्वारा संपादित लक्ष्मीतन्त्र के अंग्रेजी अनुवाद में देखना चाहिये।

३. डॉ० श्रादर ने अपने उक्त ग्रन्थ (पृ० २५) में अहिर्बुध्न्यसंहिता का प्रमाण देकर उक्त व्याख्या की है। वस्तुतः अहिर्बुध्न्यसंहिता के निर्दिष्ट स्थलों पर भी त्रिविध ब्रह्म का ही विवरण मिलता है। "व्याप्तिमात्रं गुणोन्मेषो मूर्तीकार इति त्रिधा" (५।२०) यहाँ तो स्पष्ट ही त्रिविध ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है।

४. इस के लिये संस्कृत उपोद्घात, पृ० ४४ की पहली तथा पृ० ५० की भी पहली टिप्पणी का अवलोकन कीजिये।

इसी तरह से 'लोकनाथस्तु शान्तात्मा" (९।८१) यहाँ एक ही विभवावतार वर्णित है, दो नहीं[१]। अलशिंग भट्ट के भाष्य तथा उसमें उद्धृत पौष्करसंहिता के वचन से स्पष्ट हो जाता है कि यह लोकनाथ बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध ही हैं।

इन तथा अन्य विषयों का अवलोकन संस्कृत उपोद्घात में ही करना चाहिये।

---

१. डॉ० श्रादर ने अपने उक्त ग्रन्थ (पृ० ४२, ४६, ४६ टि०) में ऐसा किया है। लक्ष्मी-तन्त्र के संपादक पण्डित श्री वि० कृष्णमाचार्य (उपोद्घात, पृ० २२) भी उनकी इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं।

संकेतपरिचयः

अ. अमरकोशः, रामाश्रमीटीकासहितः संस्करणम्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९२९

अ. सं. अत्रिसंहिता, स्मृतिसन्दर्भे भाग १, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९५२

अ. हृ. सू. अष्टाङ्गहृदयं सूत्रस्थानम्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३९ (षष्ठं संस्करणम्)।

आ. ध. आपस्तम्बधर्मसूत्रम्, काशी संस्कृत सिरीज-९३ चौखम्बा, वाराणसी, सन् १९३२

ई. सं. ईश्वरसंहिता, ग्रन्थमुक्तावली-४५, श्रीकाञ्चीसुदर्शनमुद्रणालयमुद्रिता, सन् १९२३

कठो. कठोपनिषत्, उपनिषत्संग्रहे, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७०

छा. उ. छान्दोग्योपनिषत्, पूर्ववत्।

ज. जया. } जयाख्यसंहिता, गायकवाड ओरियण्टल सिरीज-५४, द्वितीयं संस्करणम्, बड़ौदा,
ज. सं. } सन् १९६७

तत्त्व. तत्त्वत्रयं लोकाचार्यविरचितम्, वरवरमुनिविरचितभाष्यसहितम्, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला काशी, प्रथमं संस्करणम्, सन् १९००, द्वितीयं संस्करणम्, १९३८, ग्रन्थसम्पादने प्रथमपुंसानुसारं च द्वितीयं संस्करणमुपयुक्तम्।

तै. उ. तैत्तिरीयोपनिषत्, उपनिषत्संग्रहे, पूर्ववत्।

तै. सं. तैत्तिरीयसंहिता, सातवलेकरसंस्करणम्, स्वाध्यायाश्रम, पारडीनगर, सन् १९५७ (द्वितीयं संस्करणम्)।

द. स्मृ. दक्षस्मृतिः, स्मृतिसन्दर्भे भाग १, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९५२

प. पञ्चरात्ररक्षा, वेदान्तदेशिककृता, अड्यार पुस्तकालय ग्रन्थमाला-३६, द्वितीयं संस्करणम्, सन् १९६७

पा. } पारमेश्वरसंहिता, श्रीगोविन्दाचार्यैः संस्कृता, कल्याण मुद्रणालय, श्रीरङ्गम्,
पा. सं. } सन् १९५३

पौ. सं. पौष्करसंहिता, यदुगिरियतिराजसम्पत्कुमाररामानुजमुनिभिः संस्कृता, मेल्कोटे, मैसूर, सन् १९३४

ब्रह्म. ब्रह्मसूत्रम्, शाङ्करभाष्यसहितम्, तृतीयं संस्करणम्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४८

भ. गी.	भगवद्गीता, रामानुजभाष्यसहिता, रामानुज ग्रन्थमाला, भाग २, कांचीपुरम्, सन् १९५६

महा. आश्व. महाभारतम् आश्वमेधिकपर्व, गीताप्रेस, गोरखपुरसंस्करणम्, सन् १९५८

मुण्ड.	मुण्डकोपनिषत्, उपनिषत्संग्रहे, पूर्ववत्

ल.
लक्ष्मी.	लक्ष्मीतन्त्रम्, अडयार पुस्तकालय ग्रन्थमाला–८७, मद्रास, प्रथमं संस्करणम्, सन् १९५९

वि. पु.
विष्णु.पु.	विष्णुपुराणम् (भाषानुवादसहितम्), गीताप्रेस गोरखपुर, चतुर्थं संस्करणम्, संवत् २०१४

शा. स्मृ.	शाण्डिल्यस्मृतिः, स्मृतिसन्दर्भे, भाग ५ गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९५५

श्रीमद्भा.	श्रीमद्भागवतम् (मूलमात्रम्) गीताप्रेस गोरखपुर, षष्ठं संस्करणम्, संवत् २०१०

सा.
सा. सं.	सात्वतसंहिता, शास्त्रमुक्तावली–१५, श्रीकाञ्चीसुदर्शनमुद्रणालयमुद्रिता सन् १९०२ एतन्नूतनं संस्करणं च ।

सहायकग्रन्थसूची

अजितागमः (प्रथमभागः)—फ्रेंच शोध संस्थान, पाण्डिचेरी, सन् १९६४

अनिरुद्धसंहिता—आसूरि श्रीनिवासय्यंगार्यैः संस्कृता, १४३ कालेज रोड, मैसूर, सन् १९५६

अल्फाबेटिकल इंडेक्स ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट इन द गवर्नमेण्ट मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास (भाग १-३)—सन् १९३८, १९४०, १९४२

अल्फाबेटिकल लिस्ट आफ मैन्युस्क्रिप्ट इन द ओरियण्टल इंस्टीटयूट, बड़ोदा (भाग १)—सन् १९४२, (भाग २)—सन् १९५०

अहिर्बुध्न्यसंहिता—अडयार पुस्तकालय ग्रन्थमाला—४, द्वितीयं संस्करणम्, सन् १९६६

आगमप्रामाण्यम्—यामुनाचार्यविरचितम्, काशीसंस्करणम्, संवत् १९५७, गायकवाड ओरियण्टल सिरीज—१६०, बड़ोदा, सन् १९७६

आचारमयूखः—गुजराती प्रेस, बम्बई, सन् १९१५

इण्ट्रोडक्शन टू द पांचरात्र एण्ड अहिर्बुध्न्यसंहिता—डा० एफ० आटो श्रादर, अडयार पुस्तकालय, मद्रास, सन् १९१६

इष्टोपदेशः—पूज्यपादस्वामिकृतः, श्रीरामचन्द जैन ग्रन्थमाला—२२, बम्बई, सन् १९५४

कैटलाग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट इन द अडयार लाइब्रेरी—(भाग १) सन् १९२६, (भा० २) सन् १९२८

कैटलाग्स कैटलागरम् (आफ्रेख्ट बृहत्सूची)—(भा० १-३) सन् १८९१, १८९६, १९०३

गरुडपुराणम्—पण्डित पुस्तकालय, काशी, सन् १९६३

गुणरत्नकोशस्तवः—पराशरभट्टविरचितः, स्तोत्ररत्नमाला, वेदान्तदेशिक विहार सभा, परकालमठ, मैसूर, सन् १९५३

डिस्क्रिप्टिव बिब्लिओग्राफी आफ द प्रिण्टेड टेक्स्ट आफ द पांचरात्रागम—डा० एच० डेनियल स्मिथ, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज—१५८ (भा० १) बड़ोदा, सन् १९७५

तप्तचक्राङ्कनप्रमाणविवृतिः—वेदान्तदेशिक विहार सभा, परकालमठ, मैसूर।

तैत्तिरीयारण्यकम्—आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि—३६, (भा० १) सन् १८९७, (भा० २) सन् १८९८, पूना।

धर्मसिन्धुः—काशीनाथोपाध्याय विरचित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, प्रथमं संस्करणम्, सन् १९३६

नारदीयसंहिता—केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ ग्रन्थमाला—१५, तिरुपति, सन् १९७१

नित्यग्रन्थः—रामानुजाचार्य विरचित, रामानुज ग्रन्थमाला, (भा० २) कांचीपुरम्, सन् १९५६

नित्यार्चनकारिका (आह्निककारिका)—वंगिवंशेश्वरविरचित, पण्डित वि० अनन्ताचार्य द्वारा संपादित, मद्रास, सन् १९४१

नित्याषोडशिकार्णवः—शिवानन्द विरचित ऋजुविमर्शिनी तथा विद्यानन्द विरचित अर्थरत्नावली टीका सहित, योगतन्त्रग्रन्थमाला—१, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९६८

न्यू कैटलागुस कैटलागरम्—मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, सन् १९४९ से अब तक।

पराशरस्मृतिः—स्मृतिसन्दर्भ, भा० २, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला–८, कलकत्ता, सन् १९५२

पातञ्जलयोगसूत्रम्‌–व्यासभाष्य तथा वाचस्पति मिश्र कृत टीका संवलित, आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावलि–४७, पूना, सन् १९३२

पाशुपतसूत्रम्—कौण्डिन्य (राशीकर) विरचित पञ्चार्थ भाष्य सहित, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत-ग्रन्थमाला-१४३, त्रिवेन्द्रम्, सन् १९४०

प्रपन्नामृतम्—अनन्ताचार्य विरचित, खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् १९६४

प्रबोधचन्द्रोदयनाटकम्—कृष्णमिश्र प्रणीत, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, पंचम संस्करण, सन् १९२४

बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिः—स्मृतिसन्दर्भ, भाग ४, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९५३

ब्रह्माण्डपुराणम्—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् १९७३

ब्रह्मोक्तयाज्ञवल्क्यसंहिता—स्मृतिसन्दर्भ, भा० ४, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९५३

भागवतपुराणम्—नानाटीकासहित, चित्स्वरूपब्रह्मचारी संस्करण, वृन्दावन, संवत् १९६४

भागवतपुराणम्—नानाटीकासहित, कृष्णशंकरशास्त्री संस्करण, भा० १, नडियाद (गुजरात) सन् १९६५

भारद्वाजसंहिता (नारदपञ्चरात्रम्)—खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् १९६३

मतङ्गपारमेश्वरागमः (विद्यापादः) भट्ट रामकण्ठविरचित वृत्ति सहित, फ्रेंच शोध संस्थान, पाण्डिचेरी, सन् १९७७

मनुस्मृतिः (भाषानुवाद सहिता)—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, तृतीय संस्करण, सन् १९२९

महाभारतम् (नीलकण्ठीटीकासहितम्)—ओरियण्टल बुक्स रीप्रिण्ट कारपोरेशन, नई दिल्ली, सन् १९७९

महार्थमञ्जरी—महेश्वरानन्द विरचित, स्वोपज्ञ परिमलव्याख्यासहित, योगतन्त्रग्रन्थमाला—५, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९७०

महोपनिषत्—उपनिषत्संग्रहान्तर्गत, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७०

मुमुक्षुप्पडिरहस्यम्—लोकाचार्य विरचित, सुदर्शन मुद्रणालय, श्रीकांची, सन् १९२६

मृगेन्द्रागमः (विद्यायोगपादौ)—काश्मीर ग्रन्थमाला, श्रीनगर, सन् १९३०
मृगेन्द्रागमः (क्रियाचर्यापादौ)—फ्रेंच शोध संस्थान, पाण्डिचेरी, सन् १९६२
मेघदूतम्—महाकवि कालिदास विरचित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, चतुर्दश संस्करण, सन् १९३५
मैत्रायण्युपनिषत्—उपनिषत्संग्रहान्तर्गत, पूर्ववत्।
यतीन्द्रमतदीपिका—श्रीनिवासदास विरचित, आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि-५०, पूना, सन् १९३४
याज्ञवल्क्यस्मृतिः—स्मृतिसन्दर्भ, भा० ३, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९५२
याज्ञवल्क्यस्मृतिटीका (मिताक्षरा)—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, तृतीय संस्करण, सन् १९२६
रङ्गराजस्तवः—पराशरभट्ट विरचित, स्तोत्ररत्नमाला, वेदान्तदेशिक विहारसभा, परकालमठ, मैसूर, सन् १९५३
रहस्यत्रयसारार्थसंग्रहः—परकालमठ, मैसूर, सन् १९५४
लक्ष्मीतन्त्र : धर्म और दर्शन—डा० अशोककुमार कालिया, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ, सन् १९७७
वरदराजस्तवः—श्रीवत्सांकमिश्र विरचित, स्तोत्ररत्नमाला, वेदान्तदेशिक सभा, परकालमठ, मैसूर, सन् १९५३
वाक्यपदीयम् (स्वोपज्ञटीकोपेतम्)—श्री को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा सम्पादित, डेक्कन कालेज, पूना, सन् १९६६
वाचस्पत्यम् (शब्दकोशः) चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला-९४, वाराणसी, सन् १९६२
वाल्मीकिरामायणम्—विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला-२८, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९५७
विज्ञानभैरवः—अन्वयार्था-रहस्यार्था (संस्कृत-हिन्दी) व्याख्या सहित, मोतीलाल-बनारसीदास, वाराणसी, सन् १९७८
विरूपाक्षपञ्चाशिका (तन्त्रसंग्रह, प्रथम भाग)—योगतन्त्र ग्रन्थमाला-३, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९७०
विष्णुपुराणम्—विष्णुचित्तीय, श्रीधरी व्याख्या सहित, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् १९६७
विष्णुसहस्रनामभाष्यम्—पराशरभट्ट विरचित, खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् १९५०
विष्णुसहस्रनामभाष्यम्—शंकराचार्य विरचित, ज्येष्ठाराम मुकुन्दजी, कालबादेवी रोड, बम्बई, सन् १९१०
वीरमित्रोदयः—(पूजाप्रकाशः)—चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन् १९११
वैजयन्तीकोशः—प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला-२, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९७१
वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजियस सिस्टम्स—डा० आर० जी० भाण्डारकर, नवीन संस्करण, इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी, सन् १९६५

शक्तिसंगततन्त्रम् (चतुर्थ छिन्नमस्ताखण्डम्)— गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज—१६६, बड़ोदा, सन् १९७८

शतपथब्राह्मणम्— अच्युत ग्रन्थमाला—१२, वाराणसी, द्वितीय भाग, संवत् १९९७

शब्दकल्पद्रुमः (शब्दकोशः)—नूतन संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् १९६१

शिवपुराणम्—पण्डित पुस्तकालय, काशी, संवत् २०२०

श्रीभाष्यम्—रामानुजाचार्य विरचित, रामानुज ग्रन्थमाला-१, कांचीपुरम्, सन् १९५६

संस्कारमयूखः—गुजराती प्रेस, बम्बई, सन् १९१३

सच्चरित्ररक्षा—वेदान्तदेशिक विरचित, खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् १९६६

सारस्वती सुषमा (त्रैमासिक संस्कृत शोधपत्रिका)—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

सुदर्शनवादः—वेदान्तदेशिक विहारसभा, परकालमठ, मैसूर।

स्टडीज इन उपपुराणस्—डा० आर० सी० हाजरा, कलकत्ता संस्कृत कालेज रिसर्च सिरीज—११, कलकत्ता, प्रथम भाग, सन् १९५८

स्पन्दप्रदीपिका—उत्पल वैष्णव विरचित (तन्त्रसंग्रह, प्रथम भाग) योगतन्त्रग्रन्थमाला—३, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७०

स्मृतिचन्द्रिका (संस्कार काण्ड)—संस्कृत ग्रन्थमाला, मैसूर, सन् १९१४

हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी—डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, सन् १९६१

विषयसूची

उपोद्घातभागः

ग्रन्थभागः

विष्वक्सेनार्चनानन्तरं पत्रपुष्पफलादीनां जलमध्ये प्रक्षेपः—स्वप्राशनार्थं किञ्चिदंशस्यतत्पूर्वमेव स्थापनम्—मन्त्रजपो ध्यानं च—शान्तिविधिः—पौष्टिकविधिः—आप्यायनविधिः—आतुररक्षाविधिः—अनातुररक्षाविधिः—आधिदैविक–आध्यात्मिक—आधिभौतिकतापाः—संधारणी रक्षाविधिः—धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थचतुष्टयसाधनविधिः—फलश्रुतिः ।

अधिवासदीक्षाविधिर्नामाष्टादशः परिच्छेदः **३५१—३७७**

अधिवासदीक्षार्थं क्ष्मापरिग्रहपूर्वकं मण्डपनिर्माणप्रकारः—संभारार्जनम्—शिष्याणां बहुत्वे यागद्रव्याणां वृद्धिः—येन मन्त्रेण दीक्षा क्रियते तेनैवाङ्गसहितेन सर्वकर्माचरणम्—दहनाप्यायनाख्यधारणात्मकभूतशुद्ध्यनुष्ठानम्—व्यापकन्यासः—मण्डलपूरणम्—गन्धाद्यलङ्करणम्—यागगेहशोधनम्—अर्घ्यादिपरिकल्पनम्—प्रधानार्घ्यद्वितीयार्घ्यविनियोगप्रकारः—कुम्भोपकुम्भादिस्थापनम्—पाद्याचमनादिप्रतिपादनम्—कुम्भमण्डलाग्निषु भगवदर्चनक्रमः—बलिदानम्—हविःपाकविधानं तद्विभागनिवेदनादिक्रमश्च—शिष्यस्य विष्टरोपरि प्रोक्षणादिसंस्काराः—सम्पातहोमः—अरुणसूत्रेण शिष्यस्य सूत्रात्मकवपुःकरणम्—संस्कारचक्रस्य क्रमशः षष्ठे मानसे पदे विलापनम्—वैभवीयाधिवासकर्मणोऽपरायामतिदेशः ।

दीक्षाविधिर्नाम एकोनविंशः परिच्छेदः **३७८४०९**

कैवल्यफलदा—भोगकैवल्यदा—भोगदेति फलभेदसहितस्य विभवव्यूहपराख्यस्य दीक्षात्रयस्य विधानम्—शिष्यस्वप्नपरीक्षा—शुभाशुभस्वप्नानि—अशुभस्वप्नशान्तिः—कुम्भादिष्वर्चनक्रमः—निरीक्षणादिसंस्काराः—शिष्यस्य वैष्णवनामकरणम्—शङ्खचक्राभ्यां तापसंस्कारः—पञ्चसंस्कारविवेचनम्—भूतशोधनम्—स्त्रीशूद्रयोर्दीक्षायां विशेषः—पुष्पाञ्जलिसमर्पणम्—शुद्धोपोषणं नक्तभोजनं वा—सूत्रप्रसारणम्—अधिभूताधिदैवाध्यात्मपदार्थविवरणम्—आचार्यस्य शिष्यब्रह्मरन्ध्रद्वारा तदन्तःप्रवेशः—पृथिव्यादितत्त्वानां तदधीशमन्त्राणां च संहारक्रमेण सन्तर्पणम्—शिष्यचैतन्यस्य स्वहृदि संकर्षणम्—शिष्याय भुवनाध्वादीनामुपदेशः—शिष्यस्य पञ्जरविमुक्तविहङ्गमसादृश्यम्—क्ष्मातत्त्वादीनामन्येषां चाध्वनां संस्काराः—शिष्यचैतन्यस्य संवेद्यनिर्मुक्ते समाधौ विनियोजनम्—शिष्यस्यापमोक्षनिवृत्तये होमः—षडध्वस्वरूपोपदेशः—षडध्वनां हेयोपादेयत्वविवेकः—शिष्यस्य ब्रह्मस्वरूपावाप्तिः—मन्त्राणामाज्ञाप्रतीक्षकत्वम्—मन्त्रा भोगविरक्तं शिष्यं परब्रह्मण्यप्ययतां नयन्ति—वर्णाध्वविज्ञानोपदेशः—वर्णाध्वनश्चातुर्विध्यम्—द्वादशधारणोपदेशः—वर्णाध्वनि निष्णातः शब्दब्रह्माधिगच्छति—गुर्वर्चनादिकम्—वैभवदीक्षोपसंहारः—पञ्चाङ्गानां निरङ्गानां च मन्त्राणां दीक्षाप्रकारः—वैभवदीक्षाप्रकारस्य ब्रह्म(पर)दीक्षायां व्यूहदीक्षायां चातिदेशः—फलश्रुतिः ।

अभिषेकविधिर्नाम विंशः परिच्छेदः **४१०-४१७**

समयिपुत्रकादीनां सर्वेषामाचार्यस्यैव वाऽभिषेकः—अभिषेकविधानम्—बलिदानादिकम्—विष्वक्सेनार्चनम्—सुधापानप्रकारः—गुरुपूजनम्—गुरुपादतीर्थपरिग्रहः—भागवतेभ्यो दक्षिणादानम्—भ्रातृभिः सह भोजनम्—गुर्वनुगमनं पादप्रणतिश्च ।

अनुक्रमणीभागः

सात्वतसंहिता

अलशिङ्गभट्टविरचितभाष्योपेता

सात्वतसंहिता

अलशिङ्गभट्टविरचितभाष्योपेता

प्रथमः परिच्छेदः

[1]विष्णोराराधनपरा मुनयो मलयाचले ।
संस्थिताः सिद्धगन्धर्वविद्याधरनिषेविते ॥ १ ॥

श्रीमद्यादवशैलाग्रशेखरं सद्गुणाकरम् ।
योगानन्दनृसिंहाख्यदैवतं पर्युपास्महे ॥
श्रीमन्नारायणोऽव्याद् यदुगिरिनिलयो यः[2] परं दिव्यरूपं
सौषुप्तस्वप्नजाग्रत्पदभिदुरमिदं चातुरात्म्यं च रूपम् ।
रूपं वैशाखयूपं विविधमपि वैभवं चापि बिभ्रद्
देवीभूषायुधाढ्यो विहगपतिरथः पाति लोकान् समस्तान् ॥
विश्वस्य भजतां नित्यं नश्वरेतरभोगदः ।
शश्वत् सर्वार्थदो भूयाद् विश्वत्राता नृकेसरी ॥
प्रणम्य शिरसाऽऽचार्यान् प्रतिष्ठापितसात्वतान् ।
तदादिष्टेन मार्गेण सात्वतार्थः प्रकाश्यते ॥

[3]मलयाचले नारदस्यागमनम्

अत्र तावद् भगवान् भगवच्छास्त्रविशारदो नारदो महामुनिः साक्षाद् वासुदेवेन संकर्षणायोपदिष्टं स्वेन संकर्षणाल्लब्धरहस्याम्नायसंज्ञितैकायनश्रुतेः सूत्ररूपं भगवत्प्राप्त्यैकोपायभूताभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगरूपकर्मविचारैः परव्यूहविभवरूपब्रह्मविचारैश्च गर्भितं पञ्चविंशतिलक्षणं सात्वतं तन्त्रमुपदेक्ष्यन् आदौ तदवतारक्रमं दर्शयति—विष्णोरिति ।

१. 'श्रीगोविन्ददेवो जयति' इत्येवम् उ० मातृकारम्भः । ततः परम्–"शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् । प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये ॥" इत्येष श्लोको दृश्यते–अ० उ०, उ० मातृकायां च–"यस्य द्विरदवक्त्राद्याः पारिषद्याः परस्परम् । विघ्नं निघ्नन्ति सततं विष्वक्सेनं तमाश्रये ॥" इति द्वितीयोऽपि श्लोको वर्तते । २. यं–म० । ३. नास्ति वाक्यमेतत्–म० ।

कालेन केनचित् स्वर्गाद् रामदर्शनलालसः ।
तत्रावतीर्णो देवर्षिर्नारदो भगवन्मयः ॥२॥
ज्ञात्वा तस्याचलां[1] भक्तिं देवः परशुलाञ्छनः ।
प्रत्यक्षमगमच्छश्वत्[2] सानुकम्पेन चेतसा ॥३॥
ततः प्रहृष्टवदनः [3]प्रोत्फुल्लपुलको मुनिः ।
पूजयामास तं देवमष्टाङ्गपतनादिना ॥४॥
अथाह भगवान् रामो मधुराक्षरया गिरा ।
तवास्ति भक्तिरचला[4] जन्मबीजक्षयङ्करी ॥५॥

अत्रादौ विष्णुशब्दप्रयोगेण चिकीर्षितग्रन्थनिर्विघ्नपरिसमाप्तिसाधकं निरवधिकमङ्गलं कृतं भवति। सिद्धगन्धर्वविद्याधरनिषेविते। देवतानामपि सेव्यत्वादतिपरिशुद्धमित्यर्थः। मलयाचले मलयपर्वते। मुनयः भगवद्ध्यानशीला ऋषयः। विष्णोः जगद्व्यापनशीलस्य भगवतः। आराधनपराः सन्तः सर्वव्यापिनो भगवतः कुत्राराधनं कार्यम्? कथं तद्विधानम्? को वा उपदेक्ष्यतीति तदेकचित्ताः सन्त इत्यर्थः। संस्थिताः समित्युपसर्गेण चिरकालीना स्थितिः सूच्यते ॥१॥

[5]नारदस्य परशुरामदर्शनम्

कालेनेति। तत्रैवंस्थितेषु मुनिषु। केनचित्कालेन कतिपयकालानन्तरमित्यर्थः। भगवन्मयः भागवताग्रेसरः। नारदो नाम देवर्षिः। रामदर्शनलालसः सन् परशुरामसेवासक्तः सन्। तत्र मलयाचले। स्वर्गादवतीर्ण आविर्बभूव ॥२॥

अत्र मुनीन् सात्वतशास्त्रे प्रवर्तयेति नारदं प्रति रामोक्तिः—ज्ञात्वेति। परशुलाञ्छनो देवः परशुरामः। तस्य देवर्षेः। अचलां भक्तिं स्वविषयकदृढाध्यवसायम्। ज्ञात्वा सानुकम्पेन निर्हेतुककृपान्वितेन। चेतसा प्रत्यक्षमगमत् दृष्टिविषयतां प्रापेत्यर्थः ॥३॥

तत इति। ततः तस्माद्धेतोः। मुनिः नारदः। प्रहृष्टवदनः सन् सन्तोषोत्फुल्लमुखः सन्। प्रोत्फुल्लपुलकः सन् संजातरोमाञ्चः सन्। तं देवं रामम्। अष्टाङ्गपतनादिना साष्टाङ्गप्रणामप्रदक्षिणस्तुतिप्रश्नाद्युपचारैः पूजयामास ॥४॥

अथेति। अथ मुनेरुत्साहकोलाहलानन्तरम्। भगवान् रामो मधुराक्षरया मनोहरवर्णसंदर्भया गिरा वाचा आह। नारदं प्रत्युवाचेत्यर्थः। वचनप्रकारमाह—तवेति।

---

१. मलां—बक० बख० अ०। २. क्षतां जगामाशु—अ० मु०। ३. प्रोत्कल्प—बक०, प्रोद्भिन्न—मु०। ४. रधिका—अ० मु०। ५. नास्ति वाक्यमेतत्—म०।

एषा तु[1] सात्वती[2] शुद्धा नित्यमव्यभिचारिणी ।
तिष्ठन्ति मुनयो[3] ह्यत्र प्रार्थयाना हरेः पदम् ।।६।।
तान् सात्वते क्रियामार्गे मद्वाक्याद्[4] याहि योजय ।
एवमुक्त्वा तु तं विप्रमृषीणां हितकाम्यया ।।७।।
जगामादर्शनं देवस्तस्माद् देशात्[5] तटिद् यथा ।
स तु हृष्टमना वाक्यं शिरसा चाभिवाद्य तत् ।।८।।
निर्जगामार्चयित्वाऽथ पुष्पैः[6] स्थानवरं तु तत् ।
अपश्यदाश्रमं चान्यं[7] नानाद्विजनिषेवितम् ।।९।।

तव तु एषा भक्तिः एतादृशी भक्तिरेवास्ति । अस्मत्सकाशाल्लब्धव्यमुपायान्तरं नास्तीति भावः । तां भक्तिं विशिनष्टि—अचलेत्यादिपदपञ्चकेन । अचला चाञ्चल्यरहिता । जन्मबीजक्षयंकरी संसारदुःखविनाशिनी । सात्वती सात्वतशास्त्रोदिता । भगवत्प्राप्त्येकोपायभूताऽभिगमनादिकर्माङ्गिकेति यावत् । तत एव शुद्धा अमिश्रेत्यर्थः । नित्यं निरन्तरम् । अव्यभिचारिणी अनन्यदेवताविषयेत्यर्थः । [8]एतादृश्या भक्तेस्तव विद्यमानत्वादस्मद्दर्शनादृते तव प्रयोजनान्तरं नास्ति । किन्त्वेतेषां मुनीनामपि मोक्षोपायमुपदिशेत्यर्थः । तिष्ठन्तीति । हि यस्मात् कारणात् । अत्र अस्मिन् पर्वते । मुनयो हरेः पदं प्रार्थयाना मुमुक्षवः सन्तस्तिष्ठन्ति । तस्मात् तान् मुनीन् । सात्वते सात्वतशास्त्रोदिते । क्रियामार्गे अभिगमनोपादानेज्यास्वाध्यायरूपशुद्धमार्ग इत्यर्थः । मद्वाक्याद् योजय याहि परमरहस्येऽपि मार्गेऽस्मदाज्ञागौरवेण मुनीन् प्रवर्तय, तदर्थं शीघ्रं गच्छेति भावः ।।४-६।।

एवमिति । देवः परशुरामः । एवं पूर्वोक्तरीत्या ऋषीणां हितकाम्यया तं विप्रं नारदं प्रत्युक्त्वा तस्माद्देशात् पर्वताग्रात् तटिद्यथा[9] विद्युदिव क्षणमात्रेण अदर्शनं जगाम, अन्तर्हितो बभूवेत्यर्थः ।।७।।

स इति । अथ भगवदन्तर्धानानन्तरम् । स नारदः । हृष्टमनाः सन् । तद्वाक्यं शिरसा अभिवाद्य, तदाज्ञां शिरसा धृत्वेत्यर्थः । तत् स्थानवरं भगवदाविर्भावस्थानं केवलं पुष्पैरर्चयित्वा निर्जगाम, तस्मात् स्थानान्निर्गतः ।।८।।

अपश्यदिति । आश्रमम् ऋषीणामावासस्थानमपश्यच्च । नानेत्यादिविशेषणत्रयेणाऽऽश्रमस्यातिरामणीयक(त्व)मुक्तं भवति ।।९।।

---

१. हि—बक० बख० । २. सात्त्विकी—बक० अ० मु० । ३. येऽत्र—बक० बख०, यत्र—अ० उ० । ४. दभि-ब्रक० अ० । ५. तदन्यथा—अ० । ६. स्थानं परं—बक० बख० अ० उ० । ७. चाथ—बक० । ८. एतादृश—अ० । ९. यथा तथा—म० ।

तरुपुष्पफलै[1]राढ्यं वापी[2]कूपह्रदान्वितम् ।
सम्प्रहृष्टस्तत[3] स्तत्स्थैर्द्विजेन्द्रै[4]रभिवादितः ॥१०॥
पूजितश्चार्घ्य[5]पाद्येन विनिवेशितविष्टरः ।
अथाञ्जलिधराः सर्वे प्रोत्फुल्ल[6]नयनाम्बुजाः ॥११॥
वदन्ति जन्मसाफल्यमद्य नस्तव दर्शनात् ।
[7]श्रुत्वा तत्प्रीतिजनकं वाक्यं प्रणयपेशलम् ॥१२॥
नमस्कृत्य हृषीकेशं [8]मुनिरप्याह नारदः ।
मन्ये कृतार्थमात्मानं नूनं विप्रवरा ह्यहम् ॥१३॥
भवद्भिः सह सम्बन्धो यस्य मेऽस्मिन् शुभाश्रमे ।
उक्तोऽहं भवतामर्थे [9]रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥१४॥

संप्रहृष्ट इति । ततः तदाश्रमदर्शनाद्धेतोः संप्रहृष्टः स नारदः, तत्स्थैः तदाश्रमस्थितैः, द्विजेन्द्रैरभिवादितः नमस्कृतः, अर्घ्यपाद्येन पूजितश्च सन् विनिवेशितविष्टरः विष्टरे विनिवेशितश्चेत्यर्थः ॥१०॥

अथेति । अथ उपचरणानन्तरम्, सर्वे मुनयः प्रोत्फुल्लनयनाम्बुजाः सन्तः सन्तोषविकसितनेत्रकमलाः सन्तः, तव दर्शनाद्धेतोः, नः अस्माकम्, जन्मसाफल्यं जातमिति शेषः, इति वदन्ति, अवदन्निति भूतार्थकत्वमङ्गीकार्यम् ॥११॥

[10]श्रुत्वेति । नारदो मुनिरपि हृषीकेशं नमस्कृत्य प्रणम्य । अत्र प्रणामः शास्त्रोपदेशारम्भार्थक इति बोध्यम् । प्रणयपेशलं स्वकारुण्यमधुरम्, अत एव तत्प्रीतिजनकं तेषां मुनीनां संतोषजनकम्, वाक्यमाह उवाचेत्यर्थः ॥१२॥

मन्य इति । हे विप्रवराः मुनयः ! सोऽहमात्मानं कृतार्थं मन्ये कृतार्थोऽस्मीत्यर्थः । नूनं ध्रुवम् । हीति प्रसिद्धार्थकः । यस्य मे अस्मिन् शुभाश्रमे भगवदाविर्भावस्थानतया अनेकभागवताश्रयतया च शुभावहे आश्रमे, भवद्भिः सह संबन्धो जात इति शेषः । परमभागवतानां भवतां संबन्धादहं कृतार्थोऽस्मीति भावः ॥१३॥

उक्त इति । यद्यस्माद् भवतामर्थे युष्माकं सात्वतमार्गप्रवर्तनरूपार्थे, अक्लिष्टकर्मणा रामेण अहमुक्तः, नियुक्त इत्यर्थ : तत् तस्मात् साम्प्रतं यूयं सर्वे एकमनाः सन्तः, अत्र मनश्शब्दस्य दिव्यत्वादकारान्तत्वं ज्ञेयम्, आकर्णयत शृणुध्वमित्यर्थः, तद्वाक्यमिति शेषः ॥१४॥

---

१. फलैना–बक० बख० उ० । २. ह्रदमृगाञ्चितम्–ब्रक०, ह्रदमृगान्वितम्–अ० उ० । ३. स्तस्थौ–अ०, स्तस्मै–उ० । ४. न्द्रैः सोऽभि–ब्रक० बख० अ० उ० । ५. पाद्यार्घैर्वि–मु० । ६. वदना–बक० । ७. ततस्त–बक० बख० अ० उ० । ८. मुनीन–बख० अ० उ० । ९. देवेना–मु० अ० उ० । १०. तत इति । ततस्तदनन्तरम्–म० ।

यत् तदेकमनाः[1] सर्वे[2] आकर्णयत साम्प्रतम् ।
अद्यप्रभृति देवेशमाराधयत केशवम् ॥१५॥
रहस्याम्नायविधिना शश्वन्मोक्षप्रदेन तु ।

ऋषय ऊचुः

मुने चिरप्रपन्नानां [3]प्रकृष्टानां भवान् गतिः ॥१६॥
नारायणपद[4]प्राप्तेर्यच्छ्रेयस्तत् प्रकाशय ।

[5]नारद उवाच

यच्चोदितेन [6]हलिना प्रागुक्तं चक्रपाणिना ॥१७॥
पारम्पर्यागतं तन्मे गदतः शृणुत द्विजाः ।

अद्येति । अद्यप्रभृति यूयं देवेशं सर्वदेवोत्तमं केशवं ब्रह्मरुद्रयोरपि स्वामिनं नारायणं शश्वन्मोक्षप्रदेन शाश्वतमोक्षफलकेन रहस्याम्नायविधिना सात्वतोक्तक्रमेण आराधयत पूजयत ॥१५॥

[7]नारदं प्रति ऋषीणां प्रार्थना

एवमुक्ता ऋषयः प्रार्थयन्ते—मुने इति । प्रकृष्टानां प्रसिद्धनानाविधतपस्सिद्धफलानाम्, तथापि चिरप्रपन्नानाम् उपायानुष्ठानपराणाम्, अस्माकमिति शेषः । भवान् आचार्यभूत[8]स्त्वं गतिः प्राप्यः प्रापकश्च । स्वतः सिद्धफलानां किमुपायान्वेषणेनेति न चिन्त्यमित्याहुः—नारायणपदप्राप्तेरिति । "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" (कठो० २।२३) इति तपःप्रभृत्यलभ्यस्य "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (मुण्ड० ३।२।३) इति सिद्धोपायकृपालभ्यस्य मोक्षफलस्य यच्छ्रेयस्साधन[9]भूतं भगवत्प्रीतिजनकं यत् कर्म तत् प्रकाशय ॥१६॥

यदिति । हे द्विजाः, [10]हलिना संकर्षणेन चोदितेन चक्रपाणिना वासुदेवेन प्राक् त्रेतायुगादौ यदुक्तम् उपदिष्टम्, पारम्पर्यागतं गुरुपूर्वक्रमागतं तत् सात्वतं गदतो मे मत्सकाशात् शृणुत आकर्णयत ॥१७॥

---

१. हृदः—मु० । २. वर्मा—मु० बक० अ० उ० । ३. प्रसिद्धानां—दक० बख० उ०, भक्तानां नो—मु० । ४. दं प्राप्तुं य—अ० । ५. नारदः—मु० बक०, नारदः प्रत्याह—म० । ६. हरिणा—अटी० । ७. नास्ति वाक्यमेतत्—म० । ८. 'भूत' नास्ति—अ० । ९. साधनी—म० । १०. हरिणा—अ० ।

पुराऽतीते कृते प्राप्ते त्रेताख्ये ह्यपरे युगे ॥१८॥
ईषदारक्ततां याते जगद्धातरि चाच्युते ।
आह सङ्कर्षणो विष्णुं ज्ञात्वा विनयवानपि ॥१९॥
किमिदं देव पश्यामि तव रूपविपर्ययम् ।
प्रहस्योवाच भगवान् मेघगम्भीरया गिरा ॥२०॥
नायं स कालो यत्रासीत् सत्त्वैकबहुलो जनः ।
अद्य रागपरो लोकस्तद्वत्त्[1] धारयाम्यहम् ॥२१॥

सङ्कर्षण उवाच

कालस्वभावजः केन कर्मणा राग ईदृशः ।
[2]नाच्छादयति लोकानां त्वद्भक्तानां विशेषतः ॥२२॥

पुरेति । पुरा पूर्वं कृते अतीते अतिक्रान्ते सति त्रेताख्ये अपरे युगे युगभेदे प्राप्ते सति जगद्धातरि अच्युते च वासुदेवे च ईषदारक्ततां याते "धत्ते सितादिकं रूपं चतुर्धा यत् कृते युगे । [3]रक्ताख्यं सितनिष्ठं च त्रेतायां हि महामते ॥" (५।८७-८८) इति वक्ष्यमाणक्रमेण रक्ताङ्गे सतीत्यर्थः ॥१८॥

आहेति । संकर्षणो ज्ञात्वापि रक्ताङ्गताहेतुं विदित्वापि विनयवान् सन् गुरोरुपदेशेन ज्ञातव्यमित्याकारकविनययुक्तः सन् विष्णुं वासुदेवं प्रत्याह—किमिति । हे देव तव रूपविपर्ययं वर्णभेदं पश्यामि । इदं किं कुतः प्राप्तमित्यर्थः । प्रहस्येति[4] । भगवान् वासुदेवः प्रहस्य[5] मेघगम्भीरया गिरा मेघगर्जितसदृशगाम्भीर्ययुक्तया गिरा । अत्र उपमानलुप्तालङ्कारः । गिरा वाचा संकर्षणं प्रत्युवाचेत्यर्थः ॥१९-२०॥

नायमिति । यत्र यस्मिन् काले जनः सत्त्वैकबहुलः शुद्धसात्त्विक आसीत्, अयं स कालो न, विभिन्न इत्यर्थः । अद्येति । अद्य अस्मिन् काले, लोको जनः, रागपरः अनुरागपरः, अनुरागविशिष्टः । तद्वत् एतत्कालीनजनवत्, अहमपि तं रागं धारयामि ॥२१॥

एवमुक्तः संकर्षणः प्रतिवदति—कालेति । कालस्वभावजः त्रेतायुगस्वभावजन्यः, ईदृशो रागः केन कर्मणा विशेषतः, त्वद्भक्तानां लोकानामिति कर्मणि षष्ठी, भक्तजनान् नाच्छादयति न तिरोधत्ते ॥२२॥

---

१. स्तद्वृत्तमिति सार्वत्रिको मूलपाठः, टीकानुसारी पाठोऽत्र मूलेऽपि स्थापितः । २. न छादयति–बख० अ० मु० । ३. रक्ताद्यमिति मूलस्थः पाठः । ४. 'प्रसह्येति' नास्ति–अ० । ५. रहस्यं–अ० ।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधेन प्रकारेण परमं ब्रह्म शाश्वतम् ।
आराधयन्ति ये तेषां रागस्तिष्ठति दूरतः ॥२३॥

सङ्कर्षण उवाच

भगवंस्त्रिविधं ब्रूहि उपेयं ब्रह्मलक्षणम् ।
हितार्थं च प्रपन्नानां व्यामोहविनिवृत्तये ॥२४॥

श्रीभगवानुवाच

षाड्गुण्यविग्रहं देवं भास्वज्ज्वलनतेजसम् ।
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥२५॥

इति प्रेरितो भगवान् प्रत्याह—त्रिविधेनेति । त्रिविधेन प्रकारेण परव्यूहविभवभेदेन शाश्वतं परं ब्रह्म श्रीमन्नारायणं ये जना आराधयन्ति, तेषां दूरतो रागस्तिष्ठतीति ॥२३॥

पुनः संकर्षण आह—भगवन्निति । हे भगवन्, त्रिविधं त्रिप्रकारम्, उपेयं प्राप्यत्वरूपं ब्रह्मलक्षणं प्रपन्नानां व्यामोहविनिवृत्तये हितार्थं च अनिष्टनिरसनेष्टप्राप्त्यर्थं ब्रूहि वदस्वेत्यर्थः ॥२४॥

एवं पृष्टो नारदः[1] परत्वादिलक्षणमाह—षाड्गुण्येति । षाड्गुण्यविग्रहं ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोमयविग्रहम्, भास्वज्ज्वलनतेजसं सूर्यवह्निसमप्रभम्, सर्वतः पाणिपादं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं सर्वव्यापिनमित्यर्थः । एवं भगवतः सर्वतः पाणिपादत्वादिकमनुमानगम्यम् । तथा च जयाख्ये—

तथा समस्तमाक्षिप्तं यस्माद्वै परमात्मना ॥
तस्माद्वै सर्वपाणित्वं सर्वगस्यानुमीयते ।
नावच्छिन्नं हि देशेन न कालेनान्तरीकृतम् ॥
अतः सर्वगतत्वाद्वै सर्वतःपात् प्रभुः स्मृतः ।
ऊर्ध्वं तिर्यगधोयातैर्यथोच्चै[2]र्भासयेद् रविः ॥
तद्वत् प्रकाशरूपत्वात् सर्वचक्षुस्ततो ह्यजः ।
यथा सर्वेषु गात्रेषु प्रधानं गीयते शिरः ॥

---

१. 'भगवान्' इति युक्तः पाठः । २. अत्र 'उच्चैः' इत्यस्य स्थाने 'उस्रैः' इति जयाख्यसंहितासंपादकपरिकल्पितः पाठः साधुः । उस्रैः किरणैरित्यर्थः ।

[1]परमेतत् समाख्यातमेकं सर्वाश्रयं [2]प्रभुम्[3]।
एतत्पूर्वं[4] त्रयं चान्यज्ज्ञानाद्यैर्भेदितं गुणैः ॥२६॥
विद्धि तद् व्यूहसंज्ञं [5]सद् [6]निःश्रेयसफलप्रदम्।

भवेऽस्मिन् प्राकृतानां तु न तथा तस्य सत्तम।
समत्वात् पावनत्वाच्च सिद्धः सर्वशिराः प्रभुः॥
यथाऽनन्तरसाः सर्वे तस्य सन्ति सदैव हि।
सर्वत्र शान्तरूपस्य अतः सर्वमुखः स्मृतः॥
[7]सत्त्वराशिर्यतो विद्धि स एव परमेश्वरः।
सर्वतः श्रुतिमांश्चासौ[8] यथा दृक्श्रावकोरगः ॥(४।७६-८२) इति।

एकमद्वितीयम्, निःसमाभ्यधिकमिति यावत्। सर्वाश्रयं निखिलजगदाधारम्, प्रभुं जगत्स्वामिनं देवं परवासुदेवं परमिति समाख्यातम्। तदेतत् परत्वविशिष्टं ब्रह्म सद् विद्धीत्यनुषङ्गः ॥२५॥

एवं परलक्षणमुक्त्वा व्यूहलक्षणमाह—एतदिति। एतत्पूर्वम् एष परवासुदेवः पूर्वं प्रथमो यस्य तत् तथोक्तम्। ज्ञानाद्यैर्गुणैर्भेदितम्,

बलसंविलतेना[9]थ ज्ञानेनास्तेऽथ दक्षिणे॥
ऐश्वर्येण तु वीर्येण प्रत्यग्भावेऽवतिष्ठते।
तेजश्शक्त्यात्मना सौम्ये संस्थितः परमेश्वरः॥ (३।६-७)

इति वक्ष्यमाणप्रकारेण तत्तद्गुणभेदितम् अन्यत् त्रयं संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धत्रयम्। एवं च वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धचतुष्टयम्। व्यूहसंज्ञं तद् ब्रह्म सद् निःश्रेयसफलप्रदं मोक्षफलप्रदं च सद् विद्धि ॥२६॥

अथ विभवलक्षणमाह—मुख्येति। मुख्यानुवृत्तिभेदेन ज्ञानादिभिर्गुणैर्युतम्, अस्य विभवावतारसमूहस्य अनिरुद्धोत्पन्नत्वात् स्वकारणेऽनिरुद्धे यथा शक्तितेजसोर्मुख्यत्वं ज्ञानादिगुणचतुष्टयस्यानुवृत्तत्वम्, तथा मुख्याभ्यां शक्तितेजोभ्यामनुवृत्तैर्ज्ञानादिगुणैश्च युक्तमित्यर्थः। विभवदेवानामनिरुद्धोत्पन्नत्वं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

विभवोऽनन्तरूपस्तु पद्मनाभमुखो विभोः॥
अनिरुद्धस्य विस्तारो दर्शितस्तस्य सात्वते। (२।५८-५९ इति।)

---

१. एष श्लोको नास्ति—उ०। २. तथा—मु० उ०। ३. इतः परं २२-२३ संख्याकौ श्लोकौ पुनरप्यत्र दृश्येते, 'संकर्षण उवाच' इति च—अ०; तद् द्विरावृत्तिमात्रम्। ४. पूर्वत्रयं—मु० बक० बख० उ०। ५. 'वै' इति सार्वत्रिकः पाठः। टीकानुरोधेनात्र मूले 'सद्' इति पाठः स्थापितः। ६. निरायास—मु०। ७. शब्द—मु०। ८. श्चातो—मु०। ९. 'नैव' इति मूलस्थः पाठः।

मुख्यानुवृत्तिभेदेन युक्तं ज्ञानादिकैर्गुणैः ।
नानाकृतिं[1] च तद् विद्धि वैभवं[2] भुक्तिमुक्तिदम् ॥२७॥

"विभोः[3] शक्त्यात्मना सौम्ये संस्थितः परमेश्वरः" (३।७) इत्यनिरुद्धस्य तेजश्शक्तिगुणकत्वमुक्तम् । तस्मिन् ज्ञानादीनामनुवृत्तत्वे[4] किं मानमिति चेत् ? 'विभोः शक्त्या' (३।७ इत्यादिना) तद्वक्ष्यति तृतीये परिच्छेदे । स्पष्टमुक्तं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

यद्यप्येकगुणोन्मेष[5]स्तदाप्येते हि षड्गुणाः ।
अन्यूनानधिकाः सर्वे वासुदेवात् सनातनात् ॥ (४।२१) इति ।

यद्वा मुख्यानुवृत्तिभेदेन युक्तं ज्ञानादिकैर्गुणैरित्यस्य पूर्वेणैवान्वयो ज्ञेयः । नानाकृति पद्मनाभादिभेदेन नानाविधाकारं देवं वैभवं तद् ब्रह्म सद् विद्धि । भुक्तिमुक्तिफलप्रदं च सद् विद्धीति परव्यूहविभवलक्षणान्युक्तानि ।

तथा चैवमेव क्रोडीकृतानि परादिलक्षणानि सहस्रनामभाष्ये—"परव्यूहविभवात्मना त्रिविधं परं ब्रह्मेति भागवतसिद्धान्तः । तत्र परं नामाकार्यं कार्या(दन)वच्छिन्नपूर्णषाड्गुण्यमहार्णवोत्कलिकैकातपत्रीकृतनिस्समनित्यभोगविभूतिकं मुक्तोपसृप्यमनौ-[6]पाधिकमवस्थानम् । व्यूहश्च मुमुक्षुसिसृक्षया प्रदेयसृष्टिस्थितिलयाः शास्त्रतदर्थतत्फलानि ध्यानाराधने लीला चेतीदृशकार्योपयुक्तविभक्तपरगुणरूपव्यापारशीकरव्यूहनिर्वाहितलीलाविभूतिकं मुक्तिसाधकं चतुर्धावस्थानम् । विभवश्च तच्छायः सुरनरतिर्यगादिः स्वविभवसजातीय ऐच्छः प्रादुर्भावविवर्ग इति । ""तत्र प्रादुर्भावाः केचित् साक्षात्, यथा मत्स्यकूर्मादयः । अन्ये तु ऋष्यादिविशिष्टपुरुषाधिष्ठानेन, यथा भार्गवरामकृष्णद्वैपायनादयः । अपरे काले शक्त्यावेशेन, यथा पुरञ्जयादिषु । इतरे च व्यक्तिषु स्वयमेवावतीर्य, यथार्चावतार इति चतुर्धा" (पृ० १८२) इति ।

नन्वर्चावतारस्यापि प्रादुर्भावेष्वन्तर्भावो वक्तव्यः । यद्वा—

विभवोऽनन्तरूपस्तु पद्मनाभमुखो[7] विभोः ॥
अनिरुद्धस्य विस्तारो दर्शितस्तस्य सात्वते ।
अर्चापि लौकिकी या सा भगवद्भावितात्मनाम् ॥
मन्त्रमन्त्रेश्वरन्यासात् सापि षाड्गुण्यविग्रहा ।
पराद्यर्चावतारेऽस्मिन् मम रूपचतुष्टये ॥
तुर्याद्यवस्था विज्ञेया इतीयं शुद्धपद्धतिः । (२।५८–६१)

इति लक्ष्मीतन्त्राद्युक्तरीत्याऽर्चावतारस्य प्रथमनिर्देशः कार्य इति चेत् ? ब्रूमः । अर्चावि-

१. कृति–मु० । २. विभवं–उ० । ३. तेजःशक्त्यात्मना–इति मूलस्थः पाठः । ४. वृत्तत्वेन-अ० । ५. स्तथा–मुद्रितः पाठः । ६. पायिकाव–अ० म० । ७. 'नाभादयो' इत्यभयमातृकापाठः ।

इति श्री[1]पाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां प्रश्नप्रतिवचनं[2] नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥

तारस्य यत्र यत्र प्रथमनिर्देशः कृतस्तत्र न विवादः। श्रीसात्वतसंहितायां तु परव्यूह-विभवाख्यत्रिविधभेदानामेव प्रतिपादितत्वात् तदनुसारेण श्रीमत्पराशरभट्टारकैरर्चाव-तारस्यापि[3]दर्शितः। स कथमुपपद्यते, यतः परव्यूहविभवानां त्रयाणामप्यर्चारूपत्वसंभ-वाद् अर्चावतारस्य परादिषु त्रिषु च विभवेष्वे[4]वान्तर्भाव उक्तः।

वस्तुतस्तु वासुदेव(संकर्षण)प्रद्युम्नानिरुद्धाख्यव्यूहानामेव श्रीकृष्णबलभद्र-प्रद्युम्नानिरुद्धरूपेणावतीर्णत्वेऽपि तेषां यथा विभवत्वमेव न व्यूहत्वम्, तथा परव्यूह-विभवानामर्चावताररूपेणावतीर्णत्वेऽपि तेषां विभवेष्वेवान्तर्भावः, न तु परव्यूहयोरिति भट्टारकाणामाशयः। यतः—

गुणकल्पनयाऽ[5]ध्यस्तो गुणोन्मेषकृतक्रमः।
मूर्तीभूत[6]गुणश्चेति त्रिधा[7] मार्गोऽयमद्भुतः॥ (२।३९)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तमूर्तीभूतगुणत्वरूपं विभवत्वं विभवार्चावतारयोरुभयत्रापि समा-नम् ॥२७॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वर[8]चरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये प्रथमः परिच्छेदः॥

---

१. पञ्च—उ०। २. वचनो—बक० बख० उ०, वचो—अ०। ३. त्रिष्वेवान्तर्भावो दर्शित इति ग्रन्थयोजना। ४. वेष्वन्त—म०। ५. 'या ध्वस्तो' इत्युभयमातृकापाठः। ६. कृत—मु०। ७. क्रिया—म०। ८. गिरीश—म०।

द्वितीयः परिच्छेदः

[1]नारद उवाच

श्रुत्वैवमच्युतमुखाद् देवदेवो हलायुधः ।
हितार्थं भवभीतानां पुनराह द्विजोत्तमाः ॥१॥

सङ्कर्षण उवाच[2]

विधिना कीदृशेनैव ह्युपासा विहिताऽत्र वै ।
उपासकानां भक्तानां समासाद् ब्रूहि मे विभो[3] ॥२॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु सम्यक् प्रवक्ष्यामि [4]यदहं चोदितस्त्वया ।
यज्ज्ञात्वा न पुनर्जन्म पुनरेवाप्नुयान्नरः ॥३॥
ब्राह्मणानां च सद्ब्रह्मवासुदेवाख्ययाजिनाम् ।
लक्ष्यभूतं यदासृष्टेर्हृदिस्थमधिकारिणाम् ॥४॥

अथ द्वितीयः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह आदौ वासुदेवसंकर्षणयोर्भगवदुपासनप्रकारविषयकप्रश्नप्रतिवचनक्रममाह—श्रुत्वेत्यादिश्लोकत्रयेण ।। १–३ ॥

एकायनश्रुतेः सारभूतं सात्वततन्त्रमुपदेक्ष्यामीत्याह—ब्राह्मणानामिति सार्धत्रयेण। सद्ब्रह्मवासुदेवाख्ययाजिनां सच्छब्दब्रह्मशब्दवासुदेवशब्दवाच्यवस्तुमात्रार्चनपराणामित्यर्थः । ब्राह्मणानां लक्ष्यभूतं विषयभूतम् । देवतान्तरयाजिनां ब्राह्मणानामदर्शनीयमिति भावः । अत एव अधिकारिणां शुद्धयाजिनां हृदिस्थम् अतिगोप्यमित्यर्थः। विवेकदं हेयोपादेयविवेकप्रदं परं श्रेष्ठं ब्रह्मोपनिषदं तथाविधसंज्ञकम्, उप समीपे निषीदतीति उपनिषदिति। सर्वोपनिषदामपि भगवत्समीपवर्तित्वेऽप्यत्र ब्रह्मोपनिषदित्यनेन ब्रह्मणोऽव्यवहितसमीपवर्तित्वं सूच्यते। यद्वा ब्रह्ममात्रप्रतिपा(द?दि)का उपनिषदि(ति वा अ?त्य)र्थः । दिव्यमन्त्रक्रियोपेतम्

> दिव्यैर्बलादिकैर्मन्त्रैः साक्षात् तत्प्रतिपादकैः ।
> अलङ्कृतमसंदिग्धमविद्यातिमिरापहम् ॥ (ई० सं० १।२१)

---

१. नास्ति–मु० बक०, नारदः–बख० । २. नास्ति–मु० बक० बख० । ३. प्रभो–अ० । ४. यदाहं–बख० अ० उ० ।

विवेकदं परं शास्त्रं ब्रह्मोपनिषदं महत् ।
दिव्य[1]मन्त्रक्रमो[2]पेतं [3]मोक्षैकफललक्षणम् ॥५॥
तादृक् परिसृतं[4] तस्माज्जगदुद्धरणाय च ।
तदाद्यमुपदेक्ष्यामि यद्भेदैर्बहुभिः स्थितम् ॥६॥
सिद्धिमोक्षप्रदं शुद्धं सरहस्य[5]मसंकुलम् ।
अष्टाङ्गयोगसिद्धानां हृद्यागनिरतात्मनाम् ॥७॥
योगिनामधिकारः स्यादेकस्मिन् हृदयेशये ।
व्यामिश्र[6]यागयुक्तानां विप्राणां वेदवादिनाम् ॥८॥

इत्याद्युक्तप्रकारेण बलादिमन्त्रसहितम्, मोक्षमात्रफलप्रदं यच्छास्त्रमेकायनश्रुतिरूपं शास्त्रम्, तस्मान्मूलवेदाद् जगदुद्धरणाय परि[7]सृतम् ।

परित्यज्य परं धर्मं मिश्रधर्ममुपेयुषाम् ।
भूयस्तत्पदकाङ्क्षाणां श्रद्धाभक्ती[8] उपेयुषाम् ॥
अनुग्रहार्थं वर्णानां योग्यतापादनाय च ।
तथा जनानां सर्वेषामभीष्टफलसिद्धये ॥
मूलवेदानुसारेण छन्दसाऽऽनुष्टुभेन च ।
सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्येत्येवमादिकम् ॥
दिव्यं [9]सच्छास्त्रजालं तदुक्त्वा संकर्षणादिभिः ।
प्रवर्तयामास भुवि सर्वलोकहितैषिभिः ॥ (ई० सं० १।४८-५१)

इत्युक्तत्वात् । क्रमं तादृग् मूलवेदसदृशम्, सिद्धिमोक्षप्रदं भोगापवर्गदम्, काम्यफलप्रदत्वेऽपि भगवन्मात्रविषयत्वात् । परिशुद्धं सरहस्यं नानाविधरहस्यमन्त्रसहितम्, असंकुलं देवतान्तरैरमिश्रं यद्दिव्यशास्त्रं बहुभिर्भेदैः स्थितं नानासंहिताभेदभिन्नम्, तदाद्यं तस्मिन् दिव्यशास्त्रे आद्यं प्रथमं सात्वततन्त्रमित्यर्थः । उपदेक्ष्यामि भवत इति शेषः ॥ ४-६ ॥

परव्यूहविभवभेदेन तदधिकारिभेदान् दर्शयन् आदौ परस्य भगवतोऽर्चने योगिनामधिकारमाह—अष्टाङ्गेति ॥ ७ ॥

वेदपारगाणामपि तदुक्तदेवतान्तरव्यामोहरहितानामेव ब्राह्मणानां परव्यूहार्चने समन्त्रमधिकारं व्यामिश्रयाजिनां तदभावं चाह—व्यामिश्रेति ॥ ८ ॥

---

१. मार्गसमो–मु० । २. क्रियो–अटी० । ३. मोक्षमात्रफलप्रदम्–अटी० । ४. श्रुतं–बख० उ० । ५. स्यं महाफलम्–मु० । ६. राग–उ० । ७. हृतम्–म० । ८. क्तिमुपे–अ० । ९. तच्छास्त्र–अ० ।

समन्त्रं[1] तु चतुर्व्यूहे त्वधिकारो न चान्यथा ।
त्रयाणां क्षत्रियादीनां प्रपन्नानां च तत्त्वतः ॥९॥
अमन्त्रमधिकारस्तु चतुर्व्यूहक्रियाक्रमे ।
सक्रिये मन्त्रचक्रे तु वैभवीयेऽ[2]विवेकिनाम् ॥१०॥
ममतासन्निरस्तानां स्वकर्मनिरतात्मनाम् ।
कर्मवाङ्[3]मनसैः सम्यग् भक्तानां परमेश्वरे ॥११॥
चतुर्णामधिकारो वै [4]प्राप्ते दीक्षाक्रमे सति ।
एवं सम्प्रतिपन्नानां मन्त्रपूर्वं यथास्थितम् ॥१२॥
विधानमेकमूर्तीयं समाकर्णय साम्प्रतम् ।
प्रशस्ते विजने गुप्ते गन्धलिप्ते धरातले ॥१३॥

---

[5]तदा भगवदेकप्रपत्तिनिष्ठानामेव क्षत्रविट्छूद्राणां व्यूहार्चनेऽमन्त्रमधिकारमाह—त्रयाणामिति ॥ ९ ॥

अहङ्कारममकारग्रस्ततया विवेकरहितानामपि स्वकर्मनिष्ठानां भगवद्भक्तानां दीक्षितानां ब्राह्मणादीनां चतुर्णामपि विभवार्चने समन्त्रमेवाधिकारमाह—सक्रिय इति द्वाभ्याम् । अत्र वैभवीयेविवेकिनामित्यत्र अविवेकिनामिति पदच्छेदः । नह्यत्र विवेकरहितैरर्चनीयत्वोक्त्या विभवभेदानामपकर्षः शङ्कनीयः, अपि तु सौलभ्यातिशयेन उत्कर्ष एव सिध्यति । इत्थमेवोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

सुसिद्धयोगतत्त्वानामधिकारः परात्मनि[6] ।
व्यामिश्र[7]यागयुक्तानां मध्यानां व्यूहभावने ॥
वैभवीयादिरूपेषु विवेकविधुरात्मनाम् ।
अहन्ताममतार्तानां[8] भक्तानां परमेश्वरे ॥
अधिकारस्य वैषम्यं भक्तानामनुदृश्य सः ।
भजते विविधं [9]रूपं परव्यूहादिशब्दितम् ॥ (११।४८–५१)

इति ॥ १०–११ ॥

एवं स्वस्वाधिकारानुरोधेन संप्रतिपन्नानां हिततमं साक्षात् परस्यार्चनविधानमादौ शृणुष्वेत्याह—एवमिति ॥ १२ ॥

तन्मन्त्रोद्धारार्थं [10]चक्ररचनामाह—प्रशस्त इति ॥ १३ ॥

---

१. समन्त्रे–सार्वत्रिकः पाठः । २. विलो–मु० । ३. मान–उ० । ४. वृत्ते–अ० उ० । ५. 'तदा'''माह' नास्ति–अ० । ६. कृति–अ० । ७. योग–मु० । ८. तान्तानां–अ० । ९. भावं–मु० । १०. वर्णचक्र–म० ।

[1]सुधूपितेऽर्घ्यपुष्पाढ्ये वर्णचक्रं प्रसाध्य[2] च ।
यस्मिन् प्रतिष्ठितं विश्वमाब्रह्मभुवनान्तिकम् ॥१४॥
येनोदितेन जगतः प्रभवः समनन्तरम् ।
स्वात्मन्युपरते यस्मिन् प्रलयः सम्प्रजायते ॥१५॥
प्रेरकं चन्द्रसूर्याभ्यां सबाह्याभ्यन्तरं तु यत् ।
नित्योदितं [3]यदक्षस्थं वर्णमीश्वरवाचकम् ॥१६॥
यत्र स्थानविभागेन [4]वागात्मा भगवान् स्थितः ।
अकाराद्यो [5]विसर्गान्तः सौरश्चान्द्रः[6] कलागणः ॥१७॥
ह्रस्वदीर्घविभागेन नाभौ यत्र द्विरष्टकः ।
कादिभान्तोऽप्यरान्तस्थः प्राकृतस्तत्र[7]सञ्चयः ॥१८॥
पृथिव्यादिप्रकृत्यन्तो[8] युग्मयोगेन लाङ्गलिन् ।
[9]कलनादेहभृत् कालो नेमिगो नवलक्षणः ॥१९॥

"मन्त्राणां जननी साक्षान्मम शब्दमयी तनुः" (लक्ष्मी० २३।११) इति [10]व(र्ण)-चक्रस्य साक्षाद् भगवच्छरीरकत्वात् तस्य निखिलजगदाधारत्वं सृष्ट्यादिहेतुत्वं चाह—यस्मिन्निति द्वाभ्याम् ॥ १४–१५ ॥

तत्र प्रणवादिवर्णसंस्थितिक्रममाह—नित्योदितमित्यादिभिः ॥ १६ ॥

अकाराद्यो विसर्गान्त इत्यत्र अकारादीनां ह्रस्वानामष्टवर्णानां सौरत्वादालोकाद्यात्मकत्वम्, आकारादीनां दीर्घाणामष्टानां चान्द्रत्वाद् द्रवताद्यात्मकत्वं चोक्तं जयाख्ये—

आलोकस्तीक्ष्णता व्याप्तिर्ग्रहणं क्षेपणेरणे ॥
पाकः प्राप्तिरिति ह्यष्टौ सूर्यभागे व्यवस्थिताः ।
अकारादिषु ह्रस्वेषु वर्णेष्वेतेष्वनुक्रमात् ॥
द्रवता शैत्यभावश्च तृप्तिः कान्तिः प्रसन्नता ।
[11]रसतास्वाद[12] आनन्दो ह्यष्टौ चान्द्रा [13]इमा मताः ॥

१. सुदी–अटी० । २. प्रसार्य–अ० । ३. यथा–बख० उ०, यदा–अ० । ४. वर्णात्मा–बख० । ५. 'विसर्गान्तः''''कलनादे' नास्ति–बक० । ६. सौरं चान्द्रं–मु०, सौरचान्द्र–अ० । ७. स्तत्र–मु० बक० उ० अ० । ८ त्यन्त–मु० बक० । ९. कलिना–मु० बक० । १०. परशु–अ० । ११. रस्यता–म० । १२. ह्लाद–मु० । १३. स्त्विमा–मु० ।

मकाराद्यो [1]हवर्णान्तो यत्र [2]प्रधिगणे स्वयम् ।
कालवैश्वानरः साक्षान्मार्तण्डायुतसन्निभः[3] ॥२०॥
ज्वालाऽयुतसहस्राढ्यो वर्णान्तो भगवान् स्थितः ।
आमध्यात् प्रधिपर्यन्तां[4] नमोन्तां वर्णसन्ततिम् ॥२१॥
उच्चार्यार्घ्यादिनाऽभ्यर्च्य विद्याबीजं हि चक्रराट् ।
ततः समुद्धरेन्मन्त्रं परमात्मनि वाचकम् ॥२२॥
गलन्तममृतप्रख्यमचिरान्मोक्षसिद्धिदम् ।
अक्षस्थमुद्धरेत् पूर्वं नेमि[5]षष्ठमनन्तरम् ॥२३॥
नाभिद्वितीयेनाक्रान्तं द्वितीयमिदमक्षरम् ।
[6]द्वितीयं दश[7]संख्याच्च तदग्रश्चाष्टमात् परम् ॥२४॥
नाभेस्त्रयोदशोपेतं [8]द्वितीयमिदमक्षरम् ।
[9]अथ द्वितीयं नवमान्नाभितुर्यादिनान्वितम्[10] ॥२५॥

आकारादिषु दीर्घेषु संस्थिता मातृकात्मना ।
अविनाभावरूपेण अन्योन्येन सदैव हि ॥
अष्टानामपि चाष्टौ तु संस्थिता बहिरन्तरे । (६।१३–१७)

इति ॥ १७–२१ ॥

वर्णचक्रार्चनपूर्वकं मन्त्रमुद्धरेदित्याह—आमध्यादिति द्वाभ्याम् । चक्रराट् वर्णचक्रमित्यर्थः । [11]विभक्तिविनिमयश्छान्दसः । तथा चात्रैवं प्रयोगः—प्रशस्ते विजने गुप्ते गन्धलिप्तेऽर्घ्यपुष्पाढ्ये सुधूपिते धरातले द्वादशारं चक्रं विलिख्य तन्मध्येऽक्षस्थाने प्रणवं नाभौ अकारादिविसर्गान्तान् षोडशस्वरान्, द्वादशारेषु प्रत्यरं वर्णयुग्मक्रमेण ककारादिभकारान्तानि चतुर्विंशतिवर्णानि, नेमिभागे मकारादिहकारान्तवर्णनवकम्, [12]प्रधिगणे क्षकारं च विलिख्य आमध्यात् प्रधिपर्यन्तं वर्णपरम्पराम् ॐ ओं नमः, ॐ अं नम इत्यादिक्रमेणोच्चार्यार्घ्यादिभिरभ्यर्च्य मन्त्रमुद्धरेत् ॥ २२–२३ ॥

तत्प्रकारमाह—(ततः स?अक्षस्थ)मुद्धरेदित्यादिभिः । पूर्वमक्षस्थं प्रणवमुद्धरेत् । अनन्तरं नाभिद्वितीयेनाक्रान्तं आकारेण युक्तं नेमिषष्ठं शकारमुद्धरेत् । अथ

---

१. विसर्गान्तो–मु०, महामन्तो–अ० । २. पृथ्वीगणः–मु० । ३. दीधितिः–बक० बख० अ० उ० । ४. पर्यन्तं नमोन्ता वर्णसन्ततिः–मु० । ५. नेमे–मु०, नेमेः–अ० । ६. 'द्वितीयं'''मक्षरम्' नास्ति–अटी० । ७. संयोगि तदादौ चाष्टमात्मरम्–मु० । ८. तृतीय–बख० अ० उ० । ९. 'अथ'''त्र्यक्षरं' नास्ति–उ० । १०. ञ्चितम्–बक० । ११. 'विभक्ति''' श्छान्दसः' नास्ति–अ० । १२. प्रथा–म० ।

द्वितीयमष्टमाद् वर्णं केवलं विद्धि पञ्चमम् ।
विज्ञानपदमादाय त्र्यक्षरं तदनन्तरम् ।। २६ ।।
आद्यमेकादशाद् वर्णं भिन्नं नाभ्यपरेण तु ।
नेमेस्तृतीयवर्णस्य ततस्तमुपरि न्यसेत् ।। २७ ।।
[1]मन्त्राणां नवमं ह्येतद् दशमं मे निबोधत[2] ।
नाभिद्वितीयेनाक्रान्तं प्राग्वर्णं चाष्टमारगम् ।। २८ ।।
नेमेर्द्वितीयं तदनु नेमेरादाय चाष्टकम्[3] ।
तदुद्देशात् तृतीयं च स्थितं तत् पञ्चमोपरि ।। २९ ।।
त्रयोदशमिदं विद्धि नवमादपरं ततः ।
षष्ठस्य नेमिवर्णस्य चोर्ध्वे[4] तत्त्रितयं न्यसेत् ।। ३० ।।
युक्तं नाभितृतीयेन [5]ह्यथ षोडशमुच्यते ।
द्वितीयं दशमाद् वर्णान्नाभ्येकादशसंयुतम् ।। ३१ ।।
चैतन्यायपदं दद्यात् सनमस्कमतः परम् ।
द्वाविंशार्णो ह्ययं मन्त्रः पदैः षड्भिरलङ्कृतः ।। ३२ ।।

दशसंख्या(द) द्वितीयं दशमारस्थधकारयोर्द्वितीयं नकारमुद्धृत्य तदधः अष्टमात् परं अष्टमादराद् द्वितीय[6]वर्णं तकारं संयोज्य तन्नाभेस्त्रयोदशोपेतम् ओकारान्वितं कुर्यात्, ततो नवमाद् द्वितीयं [7]दकारं नाभितुर्यादिना [8]इकारेणान्वितं कुर्यात्, अथ अष्टमाद् द्वितीयं वर्णं तकारं केवलमुद्धरेत् । अथ विज्ञानेति वर्णत्रयमुद्धरेत् । तत एकादशाद्यं पकारं नाभ्यपरेण आकारेण भिन्नं संयुक्तं कृत्वा तन्नेमे[9]स्तृतीयस्य वर्णस्य रेफस्योपरि न्यसेत् । अथ [10]नाभिद्वितीयेनाक्रान्तम् आकारयुक्तम् अष्टमारगं प्राग्वर्णं णकारमुद्धरेत् । तदनु नेमेर्द्वितीयं यकारमुद्धरेत् । ततो नेमेरष्टकम् [11]सकारमुद्धरेत् । ततस्तत्पञ्चमोपरि वकारोपरि स्थितं तदुद्देशात् तृतीयं रेफमुद्धरेत् । ततो नवमादपरं दकारमुद्धरेत्, अथ षष्ठस्य नेमिवर्णस्य शकारस्योर्ध्वे तत्तृतीयं रेफं न्यसेत् । तन्नाभितृतीयेन इकारेण युक्तं कुर्यात्, अथ दशमाद् द्वितीयं वर्णं नकारं नाभ्येकादशसंयुतम् एकारान्वितं कुर्यात् । ततः सनमस्कं नमस्कारशिरस्कं चैतन्यायेति चतुरक्षरं पदमुद्धरेत् ।

---

१. मन्त्रान्तं—मु०, मन्त्रार्णं—अ० उ० । २. धतु—मु० बक० बख० अ० । ३. मम्—उ०, गम्—अटी० । ४. ऊर्ध्वे—बक० बख० अ० उ० । ५. अथ—बक० बख० अ० उ० । ६. यं—म० । ७. धकारं—अ० । ८. भका—अ० । ९. मितृ—म० । १०. नेमि—म० । ११. एकार—म० ।

तत्रैकार्णं पदं ज्ञानं चतुर्वर्णं पदं बलम् ।
षडक्षरं चाप्यैश्वर्यं वीर्यं पञ्चाक्षरं परम् ।। ३३ ।।

तथा च 'ॐ शान्तोदितविज्ञानप्राणाय सर्वदर्शिने चैतन्याय नमः' इति [1]द्वाविंशाक्षरः षड्भिः पदैरलङ्कृतो मन्त्रः समुद्धृतो भवति ॥ २४–३२ ॥

तेषामेव षण्णां पदानामक्षरसंख्याकथनपूर्वकं ज्ञानादिगुणवाच[2]कत्वमाह—तत्रेति सार्धेन । अथ बलस्य ज्ञानोपसर्जनत्वात् तदव्यवहितमेव तदुक्तम् । एवमेव ऐश्वर्योपसर्जनं वीर्यम्, वीर्यशक्त्युपसर्जनं तेजश्चोक्तमिति ज्ञेयम् । बलादीनां ज्ञानाद्युपसर्जनत्वं सुस्पष्टमुपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रे—

तिस्रो मम स्वभावाख्या विज्ञानैश्वर्यशक्तयः ॥
उन्मिषत्यः पृथक् तत्त्वत्रयेण परिकीर्तिताः ।
बलं वीर्यं तथा तेज इत्येतत्तु गुणत्रयम् ॥
श्रमाद्यविद्या[3]भावाख्यं ज्ञानादेरुपसर्जनम् । (२।४९–५१) इति ।

वस्तुतस्तु ऐश्व[4]र्यादिपञ्चकमपि ज्ञानधर्म इति[5] विज्ञेयम्,

ज्ञानात्मकं परं रूपं ब्रह्मणो मम चोभयोः ॥
शेषमैश्वर्यवीर्यादि ज्ञानधर्मः सनातनम् । (२।२५–२६)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः । ज्ञानादीन्यपि तत्रैव विवृतानि—

अहमित्यान्तरं रूपं ज्ञानरूपमुदीर्यते ॥
प्रकाशकादिकं रूपं स्फटिकादिसलक्षणम् ।
अत[6]स्तज्ज्ञानरूपत्वं मम नारायणस्य च ॥
अव्याहतिर्यद्दुघन्त्या[7]स्तदैश्वर्यं परं मम ।
इच्छेति सोच्यते तत्तत्तत्त्वशास्त्रेषु पण्डितैः ॥
जगत्प्रभृतिभावो मे यः सा शक्ति[8]रुदीर्यते ।
सृजन्त्या यच्छ्रमाभावो मम तद्बलमिष्यते ॥
भरणं यच्च कार्यस्य बलं तच्च प्रचक्षते ।
शक्त्यंशकेन च प्राहुर्भरणं तत्त्वकोविदाः ॥
विकारविरहो वीर्यं प्रकृतित्वेऽपि मे सदा ।
स्वभावं हि जहात्याशु पयो दधिसमुद्भवे ॥
जगद्भावेऽपि सा नास्ति विकृतिर्मम नित्यदा ।
विकारविरहो वीर्यमिति तत्त्वविदां मतम् ॥
विक्रमः कथितो वीर्यमैश्वर्यांशस्तु स स्मृतः ।
सहकार्यनपेक्षा मे सर्वकार्यविधौ हि या ॥

१. द्वादशाक्षरः–अ० । २. वाचित्व–अ० । ३. द्यवद्या–मु० । ४. र्येति–अ० । ५. इत्यपि ज्ञेयम्–अ० । ६. स्तु ज्ञा–मु० । ७. द्यत्या–मु० । ८. रिती–मु० ।

चतुर्वर्णं पदं तेजः [1]शाक्तं स्याद् द्व्यक्षरं च यत् ।
तेजो वीर्यं बलं शक्तिरैश्वर्यं ज्ञानमेव च ।। ३४ ।।

तेजः षष्ठं गुणं प्राहुस्तमिमं तत्त्ववेदिनः ।
पराभिभवसामर्थ्यं तेजः केचित् प्रचक्षते ।।
ऐश्वर्ये योजयन्त्येके तत्तेजस्तत्त्वकोविदाः ।
इति पञ्च गुणा एते ज्ञानस्य स्तुतयो[2] मताः ।। (२।२६–३५) इति ।

अथ मन्त्रार्थ उच्यते—अत्रादौ प्रणवेन तन्नादान्तगगनस्थितः परवासुदेवो विवक्षणीयः, इदानीं तस्य प्रकृतत्वात् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

ओमित्येतत् समुत्पन्नं प्रथमं बिन्दुतारकम् ।
बिन्दुना भूषयेत् पश्चान्नादेन तदनन्तरम् ।।
ध्यायेत् सन्ततिनादान्तां[3] तैलधारा[4]त्मवाक्यताम् ।
एतत्तद्[5] वैष्णवं रूपं त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।।
अनिरुद्धस्त्वकारोऽत्र प्रद्युम्नः पञ्चमः स्वरः ।
संकर्षणो मकारस्तु वासुदेवस्तु [6]पञ्चकः ।।
चतुर्णामविभागं[7] तु नादरूपं सुरेश्वर ।
नादस्य या परा काष्ठा साऽहन्ता परमेश्वरी ।।
शक्तिः सा परमा [8]रूपा नादान्तगगनाह्वया ।
शब्दब्रह्ममयी सूक्ष्मा साहं सर्वावगाहिनी ।।
विरामे सति नादस्य यः स्पष्टीभवति [9]ध्रुवम् ।
ज्योतिस्तत् परमं ब्रह्म लक्ष्मीनारायणात्मकम् ।।
एतत्ते वैष्णवं धाम कथितं पौरुषं परम् । (२४।६–१२) इति ।

शान्तोदितविज्ञानप्राणाय शान्तोदितं सूक्ष्मरूपम्, स्वात्ममात्रानुभवदशाविशिष्टमिति यावत् । यतः शान्तोदिता नित्योदिता चेति दशाद्वयमीश्वरस्य प्रसिद्धम् । तत्र शान्तोदितावस्था नाम स्वात्ममात्रानुभवदशा, नित्योदितावस्था तु [10]स्वभूत्यनुभवदशा । तथा च श्रीगुणरत्नकोशव्याख्याने—"तैस्तैः कान्तेन शान्तोदितगुणविभवैः" (२५ श्लो०) [11]इत्यत्र दशाद्वयं व्याख्यातम् । गर्गकुलीनरामानुजीये श्रीरङ्गराजस्तवव्याख्याने तु—"प्रथन्ते सोऽनन्तः स्ववशघनशान्तोदितदशः[12]" (उ० ३७ श्लो०) इत्यत्र स्वविभूतिस्वगुणानुभवदशा शान्तोदितदशा, स्वरूपानुभवदशा नित्योदितदशेति व्युत्क्रमेणोक्तम् । तत्प्रामादिकम् । यतस्तत्कर्तृक एव वरदराजस्तवव्याख्याने—"प्रशान्तानन्तात्मानुभवजमहानन्दमहिम प्रसक्तस्तैमित्यानुकृतवितरङ्गार्णवदशम्" (१३ श्लो०) ।

---

१. शान्तं–मु० बक० बख० अ० । २. योऽमलाः–मु० । ३. सन्ततनादेन–मु० । ४. मिवाततताम्–मु० । ५. एतत्ते–अ० म० । ६. बिन्दुकः–मु० । ७. गस्तु नादस्तत्र–मु० । ८. सूक्ष्मा–मु० । ९. स्वयम्–मु० । १०. स्वभक्त्य–अ० । ११. इत्यत्रैव–म० । १२. दिश–अ० ।

दृगस्त्रं कवचं शैखं शिरो हृत्[1] षड् यथाक्रमम् ।
मन्त्रः समाधिविषये नानाभूमिजयेषु च ॥ ३५ ॥
निराकारो निरङ्गश्च स्मर्तव्यो ब्रह्मलक्षणः ।
तत्प्राप्त्युपाये प्रथमे यागहोमादिके तु वै ॥ ३६ ॥

इत्यत्र शान्तोदितदशा नाम स्वात्ममात्रानुभवदशा, इतरा नित्योदितदशेति यथाक्रमं व्याख्यातम् । विज्ञानं तुर्यव्यूहमित्यर्थः । ''विज्ञानं यज्ञं तनुते'' (तै० उ० २।५) इत्यत्र यथा विज्ञानशब्दस्य धर्मिवाचकत्वम्, तद्वदिहापि भगवद्वाचकत्वं बोध्यम् । तत्प्राणयतीति तथोक्तः । शान्तोदितसंज्ञक[2]पररूपं प्रति नित्योदितसंज्ञकपरात्पर-वासुदेवस्य कारणत्वात् तत्प्राणत्वमस्येति भावः । तथा च तत्त्वत्रयव्याख्याने—

नित्योदितात् संबभूव तथा शान्तोदितो हरिः ।''''
चातुरात्म्यम[3]थापीदं कृपया परमेष्ठिनः ।
उपासका[4]नुग्रहार्थं यः परश्चेति कीर्त्यते ॥
शान्तोदितात् प्रवृत्तं च चातुरात्म्यत्रयं तथा ।
उपासकानुग्रहार्थं सेनेश मम तत्पुनः ॥
सुषुप्तिस्वप्नसंज्ञं यज्जाग्रद्व्यूहं[5] तथा परम् ।
चातुरात्म्यं महाभाग पञ्चमं परमेश्वरम् ॥ (पृ० १३३) इति ।

सर्वदर्शिने सर्वज्ञाय चैतन्याय ज्ञानरूपाय परात्परवासुदेवायेत्यर्थः । ''ज्ञानात्मकं परं रूपं ब्रह्मणो मम चोभयोः'' (२।२५) इति लक्ष्मीतन्त्रे । नमस्तस्मै सकलविधकैङ्कर्याणि करवाणि मदर्थं न करवाणीति प्रसिद्धोऽयं नमश्शब्दार्थः ॥ ३३–३४ ॥

अङ्गमन्त्रसिद्ध्यर्थमुक्तानां ज्ञानादीनां हृदयाद्यङ्गैः सह योजनक्रममाह—तेज इत्यादिना । तथा चैवं प्रयोगः—ॐ ॐ ज्ञानाय हृदयाय नमः । ॐ विज्ञानप्राणाय ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा । ॐ नमः शक्त्यै शिखायै वौषट् । ॐ शान्तोदित[6]बलाय कवचाय हुम् । ॐ सर्वदर्शिने वीर्याय अस्त्राय फट् । ॐ चैतन्याय तेजसे नेत्राभ्यां वौषट् । एवमेषां मन्त्राणां प्रणवादित्वं[7] नमस्स्वाहादिजात्यन्तत्वं[8] च नृसिंहकल्पपरिच्छेदे वक्ष्यति—

सर्वेषां प्रणवः पूर्वः स्वसंज्ञान्ते नियोज्य तु ।
स्वकीया जातयश्चान्ते वौषडन्ताः क्रमेण तु ॥ (१७।१०–११)

इति ॥३५॥

उक्तस्यास्य मूलमन्त्रस्य विषयभेदेन साकारत्वं निराकारत्वं चाह—मन्त्रः समाधिविषय इति द्वाभ्याम् । यागहोमादिके यागो बिम्बादिषु भगवदर्चनम्, होमो

१. हृच्च–मु० अटी० । २. 'पररूपं''''संज्ञक' नास्ति–अ० । ३. थाप्यण्डं–मु० । ४. सना–अ० म० । ५. त्संज्ञं–मु० । ६. दिताय–म० । ७. दित्सु–अ० । ८. जात्यत्वं–अ० ।

साकारं संस्मरेत् साङ्गं परिवारेण चावृतम् ।
आनीता व्यक्ततां येन स्वयं ज्ञानादयो गुणाः ॥ ३७ ॥
शश्वद् यागसमाप्त्यर्थं [1]कर्मिणामनुकम्पया ।
सोऽनङ्गः संस्मृतो मन्त्रो भक्तिश्रद्धावशेन तु ॥ ३८ ॥
फलं यच्छति वै नूनं नित्यं तद्भावितात्मनाम् ।
प्राधान्येन क्रतोः[2] स्थैर्यं मोक्षो यत्रानुषङ्गतः ॥ ३९ ॥
तत्र तद्विघ्नशान्त्यर्थं[3] मन्त्रार्थं[4] विद्धि मन्त्रपम् ।
विपर्यये तु नेत्रान्तो मन्त्रो यस्मान्महामते ॥ ४० ॥
दृग्दृष्टिशुद्धमार्गाणां क्व विघ्नाः शान्तचेतसाम् ।

वह्निसंतर्पणम्, आदिशब्देनाविशिष्टं पाञ्चकालिकं कर्मोच्यते । प्रथमे [5]तत्प्राप्त्युपाये कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तिनाम्नां चतुर्विधानां भगवत्प्राप्त्युपायानां प्रथमे उपाये, कर्मयोग इत्यर्थः ॥३६–३७॥

एतत्कर्मयोगनिष्ठानां साकारस्मरणं विना भगवदर्चनादेः कर्तुमशक्यतया भगवान् स्वयमेव तेषु कृपातिशयेन षाड्गुण्यात्मकं निजाकारं प्रकाशयति । योगिनां तु "सर्वत्र विदितात्मनाम्" इत्युक्तरीत्या तन्नैरपेक्ष्यान्निराकारं [6]संस्मृतोऽपि तद्भक्त्यतिशयसंतुष्टः फलं प्रयच्छतीत्याह—आनीता इति द्वाभ्याम् ॥३८–३९॥

ऐश्वर्यप्रधाने कर्मण्यस्य मन्त्रस्याङ्गन्यासादिष्वस्त्रान्तत्वं मोक्षप्रधाने कर्मणि नेत्रान्तत्वं चाह—प्राधान्येनेति द्वाभ्याम् । तत्र तस्मिन् कर्मणि तद्विघ्नशान्त्यर्थं तस्य कर्मणस्तज्जन्यैश्वर्यस्य तदानुषङ्गिकमोक्षस्य च ये विघ्नाः संभवन्ति, तत्तच्छान्त्यर्थमित्यर्थः । विपर्यये तु मोक्षस्य प्राधान्ये ऐश्वर्यस्यानुषङ्गिकत्वे इत्यर्थः । दृग्दृष्टिशुद्धमार्गाणां दृग् नेत्रमन्त्रः, तेन दृष्टिः अवलोकनम्, तेन शुद्धः पावनीकृतो मार्गो येषां तेषां तथोक्तानाम् । नेत्रमन्त्रावलोकनस्य [7]परिशुद्ध्यावहत्वं व्यक्तमुक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

देवं हृत्कमलाकाशे तेजोरूपतया स्थितम् ।
तस्मात् स्थानात् समानीय तं कुर्यान्नेत्र[8]मध्यगम् ॥
वासुदेवाभिधानं तु प्रागुक्तं च समाश्रयेत् ।
ततो लोचनयुग्मेन स्तब्धेन [9]मुनिपुङ्गवाः ॥

---

१. 'कर्मिणा···शान्त्यर्थं' नास्ति–बख०, कर्मणां–मु० बक० उ० । २. त्वथैश्वर्यं–बख० अ० उ० । ३. र्थमस्त्राणां–अ० उ० । ४. मन्त्रान्तं–बक० बख० । ५. 'तत्'नास्ति–अ० । ६. सस्मृतो–अ० । ७. पारि–म० । ८. मन्त्र–अ० । ९. द्विजसत्तम–पा० ।

स्वकमन्तर्गतं[1] तेजः स्वातन्त्र्याच्च बहिष्कृतम् ॥ ४१ ॥
येन येन हि मन्त्रेण स च नेत्रान्वितः स्मृतः ।
स्वप्रकाशस्त्वनुपमो येन येन हृदन्तरे ॥ ४२ ॥

जपन् लोचनमन्त्रं तु [2]पश्येद् यागोपयोगिनम् ।
[3]संभारमखिलं तेन द्रव्यसंघो विशुध्यति ॥ इति ॥४०-४१॥
(ई० सं० ३।२-५; पा० सं० ६।८-१०)

बहिःप्रकटिततेजसां मन्त्राणां तेजोवाचकशब्दसहितत्वम् अन्तर्निगूढतेजसां तु तद्वाचकरहितत्वं चाह—स्वकमिति द्वाभ्याम् । एवं च तेजोवाचकरहितानां मन्त्राणां पञ्चाङ्गत्वमेव बोध्यम् । तदुक्तमीश्वरपारमेश्वरयोर्गरुडार्चनप्रकरणे—

पञ्चाक्षर इति ख्यातो गारुडो मुनि[4]सत्तमाः ।
पञ्चाङ्गानि यथापूर्वमक्षरैः स्युः सबिन्दुकैः ॥ इति ।
(ई० सं० ८।१४; पा० सं० ८।१४)

पारमेश्वरव्याख्याने त्वेतच्छ्लोकव्याख्यानावसरे—"अत्र पञ्चाङ्गोऽयं मन्त्रः पाद्मसात्वतयोः षडङ्गः प्रतिपादितः । षडङ्गानि पुनः स्वयमिति—"नेत्रकर्मणि हृद्बीजं पञ्चाङ्गानां विधीयते" (१९।१७३) इतीत्युक्तम्, तदसंगतम् । यतः श्रीसात्वतेऽयं गरुडपञ्चाक्षरमन्त्रो वा तदङ्गविचारो वा न दृश्यते । न चैतद् गरुडमन्त्राङ्ग-विचारादर्शनेऽपि "नेत्रकर्मणि हृद्बीजं पञ्चाङ्गानां विधीयते" (१९।१७३) इति तत्रोक्तत्वात् पञ्चाङ्गमन्त्रसामान्यस्य हृद्बीजयोजनया षडङ्गत्वसिद्धेरस्यापि तथा षडङ्गत्वं सिद्धमिति वाच्यम्, यत एवं हृद्बीजेन सह षडङ्गत्वे संभवति सात्वते पञ्चाङ्गानामित्युक्तिरेव न संभवेत् । किञ्च सात्वतोपबृंहणे ईश्वरे (८।१४) पारमेश्वरे (८।१४) च गरुडमन्त्रस्य षडङ्गत्वकथनं विना पञ्चाङ्गत्वमात्रोक्तिरपि न घटते । अतस्तदर्थमिदं सावधानं शृणु—पञ्चाङ्गानां मन्त्राणां दीक्षा[5]दाविति शेषः । नेत्रकर्मणि नेत्रमन्त्रेण कर्तव्ये कर्मणि,

[6]पाचयेत् मूलमन्त्रेण दृष्ट्वा नेत्रेण संस्कृतम् । (१८।१०२) इति,
वर्मणा तत्फलप्राप्तिं तल्लयत्वमपि स्मरेत् ॥
सुतृप्तिमथ नेत्रेण कुर्यात्तेनैव तत्स्थितिम्[7] । (१९।८८-८९)

इति चैवमादिके हृद्बीजं विधीयते । पञ्चाङ्गानां नेत्रबीजाभावात् तत्स्थाने हृद्बीजं योजयेदिति भावः । एवमेव निरङ्गानां मन्त्राणामङ्गमन्त्रसामान्याभावात् तत्साध्येषु कर्मसु प्रणवो नियोक्तव्य इति च सात्वते उक्तम्—

---

१. र्गते-मु० । २. अवलोक्याखिलं तु तम्-पा० । ३. नास्त्येषा पङ्क्तिः-पा० । ४. सत्तम-पा० । ५. क्षितानामिति-अ० । ६. वाच-अ० । ७. तम्-म० ।

सितासितः समाकृष्यः[1] स[2] स तद्वाचकोत्थितः[3] ।
अथ मन्त्रवरस्यास्य शृणुष्वाराधनं यथा ॥ ४३ ॥

सबाह्याभ्यन्तरावस्थं समा[4]सादमलेक्षण[5] ।
परिच्युतमलः स्नातः शुद्धवासा जितेन्द्रियः ॥ ४४ ॥

निरङ्गानां तु मन्त्राणामङ्गमन्त्रोक्तकर्मणाम् ॥
प्रणवो विनियोक्तव्यः सह कर्मपदेन तु । इति ।
(१९।१७३–१७४)

नैतावता पञ्चाङ्गानां षडङ्गत्वं निरङ्गानां साङ्गत्वं च सिध्यतीति बोध्यम् ॥ ४२–४३ ॥

एतावदन्तं मन्त्रस्वरूपमुक्त्वा इतः परमर्चनप्रकारं शृणुष्वेत्याह—अथेति । सबाह्याभ्यन्तरावस्थं मानस[6]बाह्योभयाराधनमित्यर्थः ॥४४॥

आदौ पूजकस्य स्नानादिनियममाह—परिच्युतेति सार्धेन । परिच्युतमलः ब्राह्मुहूर्तसमुत्थानभगवद्ध्याननामसंकीर्तनादिभिः परिहृतान्तरमलः, शौचाचमनदन्तधावनादिभिः परिहृतबाह्यमलश्चेत्यर्थः । स्नातः

[7]दिव्याप्यमान्त्रवायव्यभौमतैजसमानसैः ।
एतैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा कृतशुद्धिर्यथा[8]बलम् ॥

इत्युक्तरीत्याऽनुष्ठितस्नानः । एतेषामनुष्ठानप्रकारास्तु पारमेश्वरादिषु[9] द्रष्टव्याः । यद्यपि जयाख्योक्तं[10] पारमेश्वरे चोपबृंहितमौदकस्नानं ग्राह्यम्, तथापि स्वसूत्रोक्तस्नानाद्यनुष्ठानपारम्पर्ये सति तत्परित्यज्यान्यन्न ग्राह्यमिति निर्णीतं पञ्चरात्ररक्षायाम्[11] । अत्र स्नात इत्यनेनैव पार्थिवस्नानरूपमूर्ध्वपुण्ड्रधारणमपि संगृहीतम्, सन्ध्यावन्दनादिकमप्युपलक्षितम् । शुद्धवासा इत्यनेन

---

१. कृष्टिः—मु० । २. स तु तद्वाचकोऽसितः—मु० । ३. न्वितः—बक० बख०, जितः—उ० । ४. मार्थम—मु०, पाद—बक० । ५. क्षणः—अ० उ०, क्षणम्—बक० बख० । ६. बाह्याराधनोभयात्मकमि—म० । ७. पाञ्चरात्ररक्षायां (पृ० १०५) समुद्धृतोऽयं श्लोकः । ८. यदा—अ० । ९. पारमेश्वरे द्वितीयाध्याये । १०. जयाख्यसंहितायां नवमे पटले । ११. अत्र ९७–१०५ पृष्ठेषु स्नानप्रकरणं द्रष्टव्यम् ।

वाग्यतः पुष्पदर्भाद्यैर्द्वाराग्रस्थं पतत्रिपम् ।
सचक्रं पूजयित्वादौ संविशेद् भगवद्गृहम् ॥ ४५ ॥

गन्धैः स्रग्भिरलङ्कारैः सोत्तरीयैश्च भूषितः ।
कर्णभूषणहाराद्यैः कटकैरङ्गुलीयकैः ॥

इत्याद्यर्थः संगृहीतः । क्षिप्तः[1] । जितेन्द्रिय इत्यनेनाभिगमनं सूचितं भवति । यतः—

जपध्यानार्चनस्तोत्रैः कर्मवाक्चित्तसंयुतैः ॥
अभिगच्छेज्जगद्योनिं [2]तच्चाभिगमनं स्मृतम् ।
(ज० सं० २२।६८–६९)

इत्युक्ताभिगमनेन हीन्द्रियजयः सिद्ध्यति । पुष्पदर्भा(दी?द्यै रि)त्यनेनोपादानमुक्तं भवति । आदौ द्वाराग्रस्थं सचक्रं पतत्रिपं पूजयित्वेत्यनेनानयोः सर्वद्वारपालमुख्यत्वं सूच्यते । अत एवेश्वरपारमेश्वरयोश्चण्डादिषु जागरूकेष्वपि–''नियोज्य तत्र रक्षार्थं चक्रं च [3]पतगेश्वरम्'' (ई० सं० ६।११६; पा० सं० ७।५२३) इत्युक्तम् । किञ्च, यागगेहद्वारार्चनप्रकरणेऽपि चण्डनादीनामप्यर्चनाशक्तौ ''सर्वद्वारेषु वा पूज्यः सहेतीशः पतत्रिपः'' (ई० सं० ९।३००; पा० सं० ११।३०३) इत्युक्तम् । अर्चनस्थानं च तत्रैव व्यक्तमुक्तम्—''ध्यायेद् द्वाराग्रदेशे तु गरुडं काञ्चनप्रभम्'' (ई० सं० ९।२२; पा० सं० ११।२१) इति प्रक्रम्य,

प्राणाधिदैवतं चक्रे बलिमण्डलमध्यगे ।
संस्थितं संस्मरेत् सर्वैरङ्गैः पुरुषरूपिणम् ॥ इति ।
(ई० सं० ९।२५–२६; पा० सं० ११।२५)

बलिमण्डलाभावस्थले गोमयादिना सद्यः कल्पिते[4]नाऽर्चनमुक्तं तत्रैव—

स्थिते वा कल्पिते तत्र पूजयेद् बलिमण्डले ।
सर्वं खगेशपूर्वं तु परिवारं हि साच्युतम् ॥ इति ।
(ई० सं० २।९–१०)

अस्मिन्नवसरे गर्भगेहद्वारपालार्चनमपि कार्यम् । तदत्रैव वक्ष्यति नृसिंहकल्पपरिच्छेदे—

स्नातो बद्धकचो मौनी शुद्धवासोऽर्घ्यपुष्पधृक् ।
कृत्वा द्वास्थार्चनाद्यं तु उपविश्यासने ततः ॥ (१७।१६) इति ।

इदमेवोपबृंहितमीश्वरेऽपि–-''वास्तुपुरुषमन्यांश्च समभ्यर्च्य यथाक्रमम्'' (२।११) इति । संविशेद् भगवद्गृहमित्यत्र ईश्वरे द्वारविभाग उक्तः—

---

१. उभयोर्मातृकयोर्दृश्यतेऽप्रासङ्गिकमेतत् पदम् । २. तच्छान्ति–अ० । ३. विहगे–मु० । ४. ते वा अर्चन–अ० ।

उपार्जितं [1]पुरा यद्वै यागोपकरणं महत् ।
तत्सर्वं दक्षिणे कृत्वा वामे तु करकं न्यसेत् ॥ ४६ ॥
गालितेनाम्भसा पूर्णं मध्ये भद्रासनं न्यसेत् ।
मृत्काष्ठोपलधातूत्थमेकद्वित्रिशमं[2] तु वा ॥ ४७ ॥
चतुरश्रमथाष्टाश्रं चतुरश्रायुतं[3] तु वा ।
चतुष्पादसमायुक्तं चतुरावरणाङ्कितम् ॥ ४८ ॥
मकरास्यप्रणालं तु प्रमाणेनोपलक्षितम् ।
तदधश्चोत्तरस्यां वै चलं वा [4]क्ष्मातलाश्रितम् ॥ ४९ ॥
शङ्खचक्राङ्कितं कुर्याज्जलाधारं[5] सुलक्षणम् ।
अथोपविश्य वै दार्भे काष्ठजे वाऽजिनासने ॥ ५० ॥
बद्धपद्मासनः कुर्यान्न्यासं मन्त्रवरेण तु ।
अभिन्नं[6] मस्तके तावदादित्या[7]तपवन्न्यसेत् ॥ ५१ ॥
व्यापकत्वेन तदनु विन्यसेद् भिन्नलक्षणम् ।
अङ्गुष्ठद्वितयाद् यावत् कनिष्ठाद्वितयावधिः ॥ ५२ ॥

प्रासादान्तः प्रवेशार्थं ततो द्वारं तु चेतसा ।
त्रिभागीकृत्य तन्मध्यभागमेकं द्विधा पुनः[8] ॥
विभज्य वामदेशेन दक्षिणेनाङ्घ्रिणा ततः ।
शनैः शनैः प्रविश्यान्तः .... ॥ (२।१४–१५) इति ।

अन्ये चात्र तत्र तत्रापेक्षिता बहवो विशेषा एतदुपबृंहणयोरीश्वरपारमेश्वरयोरेव संगृहीता ग्राह्याः ॥४४–४५॥

यागोपकरणानामासादनस्थाननियममाह—उपार्जितमिदमिति सपादेन । गर्भगेहमध्ये भद्रपीठस्थापनं तल्लक्षणादिकं[9] चाह—मध्य इत्यादिभिः । एकद्वित्रिशमं तु वा चतुरङ्गुलमष्टाङ्गुलं द्वादशाङ्गुलं वेत्यर्थः । [10]"शमं तु चतुरङ्गुलम्" (३।१।५२) इति वैजयन्ती ॥४६–५०॥

इदानीमेवं भद्रासनन्यासोक्तिश्चलबिम्बादीनां तदुपरि स्थापनार्थं वा बिम्बादिकं विना तत्रैवार्चनार्थं वेति ज्ञेयम् । स्थिरबिम्बानां पीठस्तु प्रतिष्ठाकाल एव स्थाप्यते ।

स्वासनोपवेशनपूर्वकं मन्त्रन्यासविधिमाह—अथोपविश्येत्यादिभिः। अत्र न्यासात्

१. पुरस्ताद्वै–मु० अटी० । २. शतं–मु० बक० बख०, दशं–अ० उ० । ३. रश्रयुतं–मु० अटी० । ४. पक्ष्मान्तरा–मु० अटी० । ५. वासं–अ० । ६. न्नमस्तयोस्ता–म० उ०, न्नहस्तयोस्ता–बक० वख० । ७. दप–मु०, दपरं न्य–अटी० । ८. पुरः अ० । ९ क्षणं चा–अ० । १०. समस्तु चतुरङ्गुलः–मु० ।

ज्ञानाद्यं वीर्यपर्यन्तं विन्यसेदङ्गपञ्चकम् ।
मूलवद् व्यापकत्वेन नेत्रमूर्[1]ध्वाङ्गुलीषु च ॥ ५३ ॥
आब्रह्मरन्ध्रात् पादान्तमथ मन्त्रं तु विग्रहे ।
ततस्तु हृदये ज्ञानं यतो [2]व्यज्येत तत्र तत् ॥ ५४ ॥
ऐश्वर्यं शिरसो देशे यस्मादुपरि तिष्ठति ।
प्राकृतं तात्त्विकं वापि सर्वत्र कमलेक्षण ॥ ५५ ॥
हार्दाग्नेरूर्ध्वगायां नु शिखायां शक्तिमन्त्रराट् ।
बलं चाखिलगात्राणां [3]तद्गतं वायुना सह ॥ ५६ ॥
मूर्च्छितं सर्वगात्रैर्यत्तद्वीर्यं हस्तयोर्न्यसेत् ।
अन्तर्बोधस्वरूपं यत् प्राकृतध्वान्तशान्तिकृत् ॥ ५७ ॥
तेजस्तत्तैजसे स्थाने न्यासकाले समस्यते ।
[4]चतुश्चक्रे[5] नवद्वारे देहे देवगृहे पुरा ॥ ५८ ॥
[6]न्यस्यैवमभिमानं तु मन्त्राख्यमवलम्ब्य च ।
मनस्युपरतं कुर्यादक्षग्रामं बहिःस्थितम् ॥ ५९ ॥

पूर्वं प्राणायामभूतशुद्धेः, मन्त्रन्यासानन्तरं भूषणादिन्यासस्य चानुक्तावपि नृसिंहकल्पे[7] वक्ष्यमाणरीत्या ग्राह्यम् ॥५०–५८॥

एवमाधारनाभिहृत्कण्ठचतुश्चक्रविशिष्टे नवद्वारान्विते स्वशरीरे भगवन्मन्दिरत्वबुद्ध्या पूर्वं मन्त्रान् विन्यस्य "नादेवो देवमर्चयेत्" इति न्यायेन स्वस्मिन् [8]देवत्वाभिमानावलम्बनं च कुर्यादित्याह—चतुश्चक्र इति। मन्त्राख्यमभिमानं[9] स्वस्मिन् मन्त्रनाथत्वाहङ्कारमित्यर्थः। वक्ष्यति च—"देवोऽहमिति भावयेत्" (१७।३६) इति। जयाख्येऽपि व्यक्तमुक्तम्—

अहं स भगवान् विष्णुरहं नारायणो हरिः ।
वासुदेवो ह्यहं व्यापी भूतावासो निरञ्जनः ॥
एवंरूपमहङ्कारमासाद्य सुदृढं मुने । (११।४१–४२)

इति ॥५९॥

अथ मानसिकयागमुपदिशन् निरन्तरायभगवज्ज्ञानभावनासिद्ध्यर्थं बाह्येन्द्रि-

१. मूर्ध्वे–मु० अटी० उ० । २. भज्येत–मु० । ३. त्वद्गतं–बक० बख०, तत्कृतं–अ० । ४. नास्त्येषा पङ्क्तिः–अ० । ५. चतुःपञ्च–मु० । ६. पूर्वं मन्त्राराधनां–अ० । ७. सप्तदशे परिच्छेदे १७ श्लोकादितः प्रकरणमेतद् द्रष्टव्यम् । ८. देवत्वावलम्बनं हि मानावलम्बनं–अ० । ९. भिगमनं–अ० ।

चित्तं बुद्धौ विनिक्षिप्य तां बुद्धिं ज्ञानगोचरे ।
ज्ञानभावनया कर्म कुर्याद् वै पारमार्थिकम् ॥६०॥
चतुश्चक्रे नवद्वारे देहे देवगृहे पुरा ।
कण्ठकूपधरारूढं हृत्पद्मं यदधोमुखम् ॥६१॥
तत्कर्णिकावनेर्मध्ये रूढमूर्ध्वमुखं तु यत् ।
शब्दव्यक्तिस्तदूर्ध्वे तु स्थितार्केन्द्वग्निलक्षणा ॥६२॥
त्रिदीप्तिभास्वरा नाडी त्वव्यक्तध्वनिविग्रहा ।
व्यक्तं चक्रत्रयस्योर्ध्वे वर्तते या महामते ॥६३॥

यादीनामन्तर्नियमनमाह—मनसीति सार्धेन । एवं ज्ञानभावनया क्रियमाणस्य कर्मणः शुद्धसत्त्वम(यं ? यत्वं) बाह्यस्य त्रिगुणमयत्वात् [1]शुद्ध्यपेक्षत्वं चोक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

मानसीर्निर्वपेत् सर्वाः क्रिया ज्ञानसमाधिना ॥
ज्ञानेन क्रियते यद्यत् कर्म ब्रह्मसमाधिना ।
शुद्धसत्त्वमयं तत्तदक्षय्यं भवति ध्रुवम् ॥
बाह्या[2] द्रव्याश्रिता[3] यस्माद् दोषा राजसतामसाः ।
ततस्त[4]च्छोधनमपि कर्मणा मनसा गिरा ॥
तस्मादेकान्तनिर्दोषं भावना[5]वासितं तथा ।
तस्माज्ज्ञानं समास्थाय शुद्धं[6] संवित्समुद्भवम् ॥
ज्ञानभावनया कर्म कुर्याद्वै पारमार्थिकम् । (३४।१३७–१४१)

इति ॥५९–६०॥

स्वहृदये भगवदभिव्यक्तिस्थाननिरूपणार्थं प्रथमतः शब्दब्रह्मावस्थानमाह—चतुश्च(क्रमि?क्र इ)ति द्वाभ्याम् । कण्ठकूपधरारूढं गलकूपस्थलसमुत्पन्नमधोमुखं यद् हृत्पद्मं तत्कर्णिकावनेर्मध्ये रूढं समुत्पन्नं यद् हृत्पद्ममित्यनुषज्यते । तदूर्ध्वे तत्कमलद्वय-संपुटमध्ये अधःकमलोपरीत्यर्थः । अर्केन्द्वग्निलक्षणा ज्योतिःस्वरूपा शब्दव्यक्तिः शब्द-ब्रह्म स्थिता वर्तत इत्यर्थः ॥६१–६२॥

एवं संग्रहेण शब्दब्रह्मावस्थानमुक्त्वा पुनः सुषुम्नानाडीस्वरूपकथनपूर्वकं तदेव विशदयति—त्रिदी(प्ती)ति षड्भिः । अस्या त्रिदीप्तिभास्वरत्वं तेजस्त्रयात्मकशब्द-ब्रह्माधारत्वात् । अव्यक्तध्वनिविग्रहा अव्यक्तध्वनिः शब्दब्रह्म

---

१. शुद्ध्यु–अ० । २. बाह्यद्र–मु० । ३. कृता–अ० । ४. च्चोदन–अ० म० । ५. भावनापदं त्रुटितमुभयोर्मातृकयोः । ६. शुद्धसं–अ० म० ।

निस्सृता ब्रह्मरन्ध्रेण गता सूर्यपथात् परम् ।
[1]वायुद्वारेण पातालं भित्वा याता [2]सुगोचरम् ॥६४॥
सङ्कल्पविषयः सर्वः[3] सम्बन्धः प्रतितिष्ठति ।
सूत्रे मणिगणो[4] यद्वन्मध्यनाडी ह्यतः स्मृता ॥६५॥
[5]लक्ष्यस्थाने तु पूर्वोक्ते तस्यामभ्यन्तरे तु वै ।
सम्पुटे शशिसूर्याख्ये निमेषोन्मेषलक्षणे ॥६६॥
तत्रार्कं चाब्जमालम्ब्य परा वाग्भ्रमरी स्थिता ।
या सर्वमन्त्रजननी शक्तिः शान्तात्मनो विभोः ॥६७॥

शब्दब्रह्मस्वरूपेण स्वशक्त्या स्वयमेव हि ।
मुक्तयेऽखिलजीवानामुदेमि परमेश्वरात् ॥
तदव्यक्ताक्षरं विद्धि तन्त्रीशब्दो यथा कलः । (२०|७–८)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः, [6]स विग्रहो यस्याः सा तथोक्ता । चक्रत्रयस्योर्ध्वं आधारनाभिक-(ण्ठ)चक्रत्रयोपरि प्रकाशमाना ब्रह्मरन्ध्रेण निःसृता सूर्यपथात् [7]परं गता [8]वायुद्वारेण पातालं भित्वा स्वगोचरं याता, [9]आमूलाग्रं यावदन्तं व्याप्तेत्यर्थः । अत एव भगवत्संकल्पविषयः सर्वोऽपि सूत्रे मणिगण इव सुषुम्नानाडीसंबन्धः प्रतितिष्ठति, अतो मध्यनाडीति स्मृता प्रसिद्धा । तस्यामभ्यन्तरे पूर्वोक्ते[10] लक्ष्यस्थाने, हृदयकमलस्थान इत्यर्थः । निमेषोन्मेषलक्षणे निमीलनोन्मीलनविशिष्टे शशिसूर्याख्ये, निमीलितोर्ध्वकमलस्य शशिसंज्ञत्वम्, उन्मीलिताधःकमलस्य सूर्याख्यत्वम् । तत्र संपुटे कमलद्वयसंपुटे, आर्कम् अर्कसंबन्धि, अब्जम् अधःकमलमित्यर्थः । आलम्ब्य आश्रित्य, परा सूक्ष्मा, वाग्भ्रमरी वागेव भ्रमरी स्थिता । तां विशिनष्टि—या वाग्भ्रमरी सर्वमन्त्रजननी शान्तात्मनः सूक्ष्मस्य परस्येति यावत्, विभोः शक्तिरित्यनेन इयमपि तथा सूक्ष्मेत्यर्थः । अकारपूर्वो ह्रान्तः अकारादिहकारान्तः, धारासन्तानरूपधृक् तैलधारावदविच्छिन्नः शब्दब्रह्मेति [11]यत् यो नादः, तं वर्णजं नादं नदन्तीति । एवमेव नादस्वरूपमुक्तं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

पृथग्वर्णात्मना याति स्थितयेऽनेकधा स तु ॥
सूक्ष्मवर्णस्वरूपोऽसौ धारासन्तानरूपधृक् ।
पञ्चाध्वकोशमुक्तस्य मन्निष्ठस्य विवेकिनः ॥
[12]सोऽनुभूतिपदं याति प्रसादात् परमात्मनः । (२०।८–१०) इति ।

---

१. पायु–उ० । २. स्व–बख० उ०, ख–अ० । ३. र्वस्तद्बन्धं–मु० । ४. गणा–मु० । ५. लक्ष–मु० । ६. 'स विग्र' न दृश्यते–अ० । ७. पारं–अ० । ८. पायु–म० । ९. आमलोग्रं–अ० । १०. पूर्वोक्त–अ० । ११. 'यतः' इत्युभयमातृकास्थः पाठः । मूलानुसारी पाठोऽत्र स्थापितः । १२. अनु–मु० ।

[1]नदन्ती वर्णजं नादं शब्दब्रह्मेति यत् स्मृतम् ।
अकारपूर्वो हान्तश्च धारासन्तानरूपधृक् ॥६८॥
नादावसानगगने देवोऽनन्तसमन्वितः ।
शान्तः संवित्स्वरूपस्तु भक्तानुग्रहकाम्यया ॥६९॥
अनौपम्येन वपुषा ह्यमूर्तो मूर्ततां[3] गतः ।
विश्वमाप्याययन् कान्त्या पूर्णेन्दुयुततुल्यया ॥७०॥

एतादृशं नादं नदन्त्या वाक्शक्तेः स्वरूपमपि त(त्राप्यु?त्रैवो)क्तम्—

प्रकाशानन्दसाराहं सर्वमन्त्रप्रसूः परा ।
शब्दानां जननी शक्तिरुदयास्तमयोज्झिता ॥
व्यापकं [4]यत् परं ब्रह्म नारायणसमाह्वयम्[5] ।
शान्तता नाम याऽवस्था साहं शान्ताखिलप्रसूः ॥ (१८।१८–१९)

इति ॥६३–६८॥

एवं हृदयकमले शब्दब्रह्मावस्थानमुक्त्वा तदन्ते द्योतमानपरब्रह्मस्वरूपमाह—नादावसानेति पञ्चभिः । नादावसानगगने नादो नाम नादबिन्दुमध्यमावैखर्याख्ये शब्दब्रह्मणोऽवस्थाचतुष्टये प्रथमावस्था पूर्वोक्तलक्षणा, तदवसानं तत्पराकाष्ठा, तत्र यद् गगनं गगनात्मिका शक्तिः, तत्रेत्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

नादस्य या परा काष्ठा साऽहन्ता परमेश्वरी ॥
शक्तिः सा परमा [6]सूक्ष्मा नादान्तगगनाह्वया ।
शब्दब्रह्ममयी सूक्ष्मा साहं सर्वावगाहिनी ॥
विरामे सति नादस्य यः स्फुटीभवति [7]ध्रुवम् ।
ज्योतिस्तत्परमं ब्रह्म लक्ष्मीनारायणात्मकम्[8] ॥ (२४।९–११) इति ।

शङ्खचक्राङ्कितेनेत्यत्र पाणिद्वये केवलरेखारू(पा?प)शङ्खचक्राङ्कितत्वं ज्ञेयम् । यतोऽन्यथा पाणिद्वयमात्रस्य वरदाभयमुद्रान्वितत्वमपि न संभवति, तथा चोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रे—

व्यापको भगवान् देवो भक्तानुग्रहकाम्यया ॥
अनौपम्यमनिर्देश्यं [9]वपुः स भजते परम् ।
विश्वाप्यायनकं कान्त्या पूर्णेन्दुयुततुल्यया ॥
वरदाभयहस्तं च द्विभुजं पद्मलोचनम् ।
रेखामयेन चक्रेण शङ्खेन च करद्वये ॥

१. वदन्ति–मु०, नन्दती–अ० । २. स्थान–मु० । ३. मागतः–अ० । ४. धर्म–अ० ।
५. मनामयम्–मु० । ६. रूपा–अ० म० । ७. स्वयम्–मु० । ८. ह्वयम्–मु० । ९. पुनः–अ० म० ।

[1]वरदाभयदेनैव शङ्खचक्राङ्कितेन तु ।
त्रैलोक्योद्धृतिदक्षेण युक्तः पाणिद्वयेन तु ॥७१॥
रश्मिभिर्भास्करो[2] यद्वत् समुद्र इव चोर्मिभिः ।
[3]स्वमूर्तिभिर[4]मूर्तीभिरच्युताद्याभि[5]रन्वितः ॥७२॥

अङ्कितं निर्विकाराङ्घ्रिस्थितं परमशोभनम् ।
अन्यूनानतिरिक्तैः स्वैर्गुणैः षड्भिरलङ्कृतम् ॥
समं समविभक्ताङ्गं सर्वावयवसुन्दरम् ।
पूर्णमाभरणैः शुभ्रैः सुधाकल्लोलसंकुलैः ॥
[6]रश्मिभूतैरमूर्तैः स्वैरच्युताद्यैरविच्युतम् ।
एका मूर्तिरियं दिव्या पराख्या वैष्णवी परा ॥
योगसिद्धा भजन्त्येनां हृदि तुर्यपदाश्रिताम् । (१०।११–१७) इति ।

स्वमूर्तिभिरच्युता(द्या)भिरन्वित इत्यत्राच्युताद्या मूर्तयस्तिस्र इति ज्ञेयम् । तदुक्तं पारमेश्वरे प्रतिष्ठाध्याये—

तथा च सर्वजगतामेकबीजात्मकस्य च ॥
सदोदितस्वरूपस्य वासुदेवस्य वै विभोः ।
त्रयाणामच्युतादीनां तद्भेदानां तथैव च ॥ (१५।२२–२३) इति (च ?) ।

एवं च संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानामेवाच्युतसत्यपुरुषापरनामधेयत्वं बोध्यम् । ननु—

पुरुषं [7]च ततः सत्यमच्युतं च युधिष्ठिर ॥
अनिरुद्धं च मां प्राहुर्वैखानसविदो जनाः ।
अन्ये त्वेवं विजानन्ति मां राजन् पाञ्चरात्रिकाः ।
वासुदेवं च राजेन्द्र संकर्षणमथापि च ।
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च चतुर्मूर्तिं [8]प्रचक्षते ॥
(महा० आश्व० ९२ अ० । पृ० ६३४२)

इति वासुदेवादीनां पुरुषादिशब्दवाच्यत्वं दृश्यते । भवता व्युत्क्रमेणानिरुद्धादीनां पुरुषादिशब्दवाच्यत्वं कथं व्याख्यातमिति चेत्, सत्यम् । अत्र वैखानसानां तथा व्यवहार इत्युक्त्या नास्मद्व्याख्याविरोधः । अपि त्वनिरुद्धादीनां पुरुषादिशब्दवाच्यत्वमत्रैव वक्ष्यति पञ्चमे परिच्छेदे मन्त्रोद्धारप्रकरणे "अप्ययावसरे" (५।६८) इत्यादिभिः । एव-

---

१. वरदाभयेत्यादिकः श्लोकः शान्तः संविदित्यतः पूर्वं पठितः—बक० बख० उ० । २. सुरो–उ०, स्वरो–अटी० । ३. स–मु०, सु–बक० अ० । ४. मुक्ता–बक०, मूर्ती–मु० बख० अ० । ५. रच्युतः–बख० अ० उ०, रच्युतम्–मु० । ६. श्रीभूतैः रम्यमूर्तैः–अ० । ७. तु–अ० । ८. प्रवक्ष्यते–मु० ।

दीप्तिमद्भिर[1] मूर्तैस्तु सुधाकल्लोलसङ्कुलैः[2] ।
पूर्ण आभरणैः सर्वैर्निर्विकाराङ्घ्रिविग्रहः ।।७३।।

मत्र परात्परदशायामच्युतादिसमन्वितत्वेऽपि वासुदेवस्यैव प्राधान्यं बोध्यम्, तत्रैकमूर्ति-प्राधान्यात् ।

ननु र्तार्हि शान्तोदितापरनामधेयतुर्यव्यूहचतुर्मूर्तिप्राधान्यं किमिति चेन्न, "अभेदे-नादिमूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत्" (५।८१) इति वक्ष्यमाणानुसारेण परसंज्ञस्य तद्व्यूहस्य परात्परवासुदेवाद्यभिन्नत्वात्। अत एव सुषुप्त्यादिव्यूहवत् प्रत्येकं तद्व्यूहवाचकमन्त्राणा-मनुक्तत्वात् परात्परमन्त्रेणैव तस्यापि चारितार्थ्याच्च [3]परात्परत्वदशायामिव परत्वेऽपि वासुदेवस्यैकस्यैव प्राधान्यं ज्ञेयम् । तर्हि एवमभिन्नत्वे पुनः केन तयोर्भेद इति चेत्, नित्योदितत्वेन चेति बोध्यम् । नित्योदितत्वं नाम [4]स्वविभूत्यनुभवदशाविशिष्टत्वम् । शान्तोदितत्वं नाम स्वात्ममात्रानुभवदशाविशिष्टत्वम् ।

ननु चैवं शान्तोदितव्यूहेऽप्येकमूर्तिप्राधान्ये व्यूहशब्दस्य स्वारस्यं न संभ-वतीति चेदुच्यते—किं व्यूहशब्दमात्रेण चतुर्णां प्राधान्यमङ्गीकार्यम् ? तथा सति परा-त्परत्वदशायामपि व्यूहशब्दो जागर्त्येव । तथाहि ईश्वरे (८।५२) पारमेश्वरे (८।५१) च गरुडार्चनप्रकरणे—"नित्योदितस्य व्यूहस्य तथा शान्तोदितस्य च" इति, सिद्धान्त-लक्षणनिरूपणप्रकरणेऽपि—"यत्र शान्ततरं व्यूहं शान्तोदितमनन्तरम्" (ई० सं० २०। १९८; पा० सं० १९।५३३) इति । पारमेश्वरे प्रतिष्ठाध्याये—

परात्परस्वरूपस्य परस्य चतुरात्मनः ।
शान्तोदितादिव्यूहानां केशवाद्यखिलस्य च ।। (१५।२१) इति,
तथा च सर्वजगतामेकबीजात्मकस्य च ।।
सदोदितस्वरूपस्य वासुदेवस्य वै विभोः ।
त्रयाणामच्युतादीनां तद्भेदानां तथैव च ।।
शान्तोदितस्वरूपस्य परस्य चतुरात्मनः । (१५।२२–२४)

इत्येवं सर्वत्र परात्परत्वसंज्ञायां नित्योदितत्वदशायां परत्वसंज्ञायां शान्तोदितत्वदशायां च वासुदेवादिचातुरात्म्यप्रसङ्गावाद् व्यूहशब्दचातुरात्म्यशब्दौ स्वरसावेव । किन्तु परत्व-दशाद्वयेऽपि वासुदेवस्यैव प्राधान्यम्, एक एव मन्त्रः, तदर्चनेनैवोपसर्जनभूतानामन्येषा-मप्यर्चनसिद्धिरित्यादिकं बोध्यम् ॥ ६९–७३ ॥

---

१. मुक्तै–वक० । २. लः–वक० वख० । ३. 'परात्' नास्ति–अ० । ४. 'स्वविभू···· नाम' नास्ति–अ० ।

ततः स्वाब्जकमध्यात्तु [1]ह्यूर्ध्वस्थात् संस्मरेच्च्युताम् ।
गङ्गां भगवतो मूर्ध्नि तेनामृतजलेन तु ॥७४॥
अर्घ्याद्यखिलभोगानां[2] कार्या वै [3]शुभकल्पना ।
तैः क्रमात् प्रीणयेद् देवमाद्यं तुर्यपदे स्थितम्[4] ॥७५॥
प्रणवद्वितयं चोक्त्वा प्रीयतां मे परः प्रभुः ।

अर्घ्यादिपरिकल्पनार्थं गङ्गावतरणभावनाप्रकारमाह—तत इति सार्धेन। ऊर्ध्वस्थादित्यब्जविशेषणम्, [5]हृदयकमलद्वयसंपुटे ऊर्ध्वकमलादित्यर्थः। ऊर्ध्व(स्थादि ?-स्थितामि)ति पाठे गङ्गाविशेषणं सुस्पष्टम्। इममर्थं विस्तरेण वक्ष्यति [6]नृसिंहकल्पपरिच्छेदे आप्यायनप्रकरणे। अत्रापेक्षितं पीठकल्पनं नृसिंहकल्पे वक्ष्यति—

अथ प्रणवपूर्वेण स्वनाम्ना नतिना सह ॥
शेषपूर्वं तु वह्न्यन्तमासनं परिकल्पयेत् ।
तथाक्रम्याथ तस्यैव कार्या स्वहृदि कल्पना ॥ (१७।३६–३७)

इति ॥७४–७५॥

अर्घ्यादिभिर्भगवत्प्रीणनं प्रति मन्त्रं चाह—तैरिति। आद्यं परव्यूहविभवाख्यरूपत्रये प्रथमं तुर्यपदे स्थितं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्याख्यपदचतुष्टये परिशुद्धये तुर्यपदारूढमित्यर्थः। जाग्रदादिपदार्थविवरणं तु लक्ष्मीतन्त्रे सुस्पष्टमुक्तम्—

जाग्रत्स्वप्नं[7] सुषुप्तिश्च तुर्यं चेति चतुष्टयम् ॥
ज्ञेयं पदाध्वनो रूपं जाग्रद्बाह्येन्द्रियक्रमः ।
बाह्येन्द्रियाणां तमसाऽभिभूते[8] विभवे सति ॥
अन्तःकरणवृत्तिर्या संस्कारपरिशेषिणी ।
सा स्वप्न इति विज्ञेया तदभावे सुषुप्तिका[9] ॥
तमसाऽनभिभूतस्य सत्त्वस्थस्य विपश्चितः ।
बाह्यान्तःकरणस्थाया वृत्तेरुपरमे सति ॥
शुद्धसत्त्वस्वभावस्य[10] सन्ततिस्तुर्यसंज्ञिता ।
एवं चतुर्विधे मार्गे निर्दिष्टेऽस्मिन् पदाभिधे ॥
तुर्यवर्जं[11] सुषुप्त्यादिरशुद्धां भजते गतिम् । (२२।२२–२७) इति ।

अत्र ॐ ॐ प्रीयतां मे परः प्रभुरिति परस्य भगवतोऽर्चनप्रकरणात् परशब्द[12]-घटितोऽयं मन्त्रः। व्यूहाद्यर्चनप्रकरणे तु परशब्दस्थाने व्यूहादिशब्दो योज्यः। अथवा

१. च्युतामूर्ध्वस्थितां स्मरेत्–मु० । २. न्ता–अ० उ० । ३. शुद्ध–उ० । ४. स्थितः–अ० । ५. 'हृदय ... विशेषणं' नास्ति–अ० । ६. सप्तदशे परिच्छेदे । ७. स्वप्नौ–मु० । ८. संजाते विफले–अ० म० । ९. प्तिता–म०, प्तिद्–अ० । १०. प्रसादस्य–मु० । ११. वर्ज्यं–म० । १२. 'शब्द' नास्ति–अ० ।

अथ कर्मात्मतत्त्वे तु कृतकृत्ये सति प्रभुः ।
[1]आस्ते विलाप्य स्वं रूपं नित्यं व्यक्तीकृतं च यत् ॥७६॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां
द्वितीयः परिच्छेदः ॥

सर्वसाधारण्येन नारायणवासुदेवविष्णुशब्देष्वन्यतमो योज्यः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे "ॐ ॐ प्रीयतां भगवान् वासुदेव इति ब्रुवन्" (३६।११०) इति । अत्रैवं प्रीतिमन्त्रमात्रमुक्तम् । संकल्पभोगदानमन्त्रावप्यपेक्षितावन्यतो ग्राह्यौ, प्रतिभोगसमर्पणमेतन्मन्त्रत्रयस्याप्यावश्यकत्वात् । तथोक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

संकल्पश्च प्रदानं च प्रीतिश्चेति त्रयं त्रयम् ॥
कुर्यात् सर्वेषु भोगेषु देशकालाद्यपेक्षया । (३६।१०७–१०८) इति ।

अत एव सात्त्वतोपबृंहणे ईश्वरे (७।१४७–१४९) सुदर्शनार्चनप्रकरणे जयाख्योक्तो भोगदानमन्त्रः संगृहीतः । संकल्पमन्त्रस्तु लक्ष्मीतन्त्रे उक्तः—

समाहितोऽञ्जलिं कृत्वा तत ॐ भग[2]वन्निति ॥
आसनेनार्चयिष्यामीत्युक्त्वा दद्यादथासनम् । (३६।१०८–१०९)

इति ॥ ७५–७६ ॥

एवं मानसाराधने संपन्ने सत्य[3]व्यक्तस्य गुणमात्रलक्ष्यस्य "अभेदेनादिमूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत्" (५।८१) इति वक्ष्यमाणरीत्या भगवानेव भक्तानुग्रहकाम्यया व्यक्तीकृतं निजस्वरूपमुसंहरतीत्याह—अथेति । एवमेव वक्ष्यत्युत्तरत्रापि—"विसर्जनं[4] तु बोद्धव्यं संपन्ने तु क्रिया[5]क्रमे" (१७।४०) इति ॥ ७६ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये द्वितीयः परिच्छेदः ॥

---

१. आत्मनोऽपि यथा रूपं–अ० । २. वानिति–अ० म० । ३. 'अव्यक्त···वक्ष्यमाणरीत्या' नास्ति–म० । ४. र्जने–अ० म० । ५. क्रमः–अ० म० ।

तृतीयः परिच्छेदः

नारद[1] उवाच

पुनराह जगन्नाथः प्रसङ्गेन मुनीश्वराः ।
परमाराधनं भगवत् परस्य चतुरात्मनः[2] ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

हृवर्णकर्णिकायां तु सुषुप्त्याख्य[3]पदे त्वधः ।
चतुर्धा प्रभवाख्येन[4] क्रमेण तमजं यजेत् ॥ २ ॥
ज्ञानविद्याचतुष्केण यथा तदवधारय ।

अथ तृतीयो व्याख्यास्यते ।

त्रिविधं चातुरात्म्यं तु सुषुप्त्यादिपदत्रिके ।
सुव्यक्तं तत्पदे तुर्ये गुणलक्ष्यं परं स्थितम् ॥ (१०।४२)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तरीत्या अव्यक्तस्य[5] गुणमात्रलक्ष्यस्य "अभेदेनात्ममूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत्[6]" (५।८१) इति वक्ष्यमाणरीत्या पराभिन्नस्य तुर्यव्यूहस्य "स्वमूर्तिभिरमूर्ताभिरच्युताद्याभिरन्वितः" (२।७२) इति पूर्वमेव तुर्यपदाश्रितेन परेण भगवता सहैवोक्तत्वात् तत्प्रसङ्गेन पुन. सुषुप्तिपदाश्रितस्य व्यूहस्यार्चनां भगवान् संकर्षणायोपदिशतीत्याह—पुनरिति ॥१॥

सुषुप्तिव्यूहस्यार्चनक्रमं शृणुष्वेत्याह—हृवर्णेति सार्धेन । हृवर्णकर्णिकायां हृदयकमलस्याकारादिवर्णमयत्वात् तत्कर्णिकाया हकारात्मकत्वं बोध्यम् । तथा च वक्ष्यति पञ्चमे परिच्छेदे—

अनन्तसरसि क्षार्णे विश्रान्तं यन्महामते ।
अकाराक्षरमूलं[7] तु नित्यं सर्वाश्रयाम्बुजम् ॥
आकाराक्षरनालं तु शेषसर्वार्णपल्लवम् । (५।२-३) इति ।

---

१. नारद इत्येव सार्वत्रिकः पाठः । २. परमा—मु० । ३. ख्ये—मु० बक० बख० ।
४. प्रणवा—अटी० । ५. 'अव्यक्तस्य''''रीत्या' नास्ति—अ० । ६. घट—म० । ७. शीलं—म० ।

वेदकत्वेन भगवान् ब्रह्मसंवलिताकृतिः ॥ ३ ॥
स्तम्बवत् कर्णिकामध्ये स्थित्वा वेद्यत्वमेति च ।
स्वयमेवोपकाराय कर्मिणां ब्रह्मयाजिनाम् ॥ ४ ॥
प्राग्भागादुत्तरं यावद् गुणभेदेन लाङ्गलिन् ।
विभजत्यात्मनात्मानं वासुदेवः परः प्रभुः ॥ ५ ॥
अनुज्झितस्वरूपस्तु प्राग्भागे षड्गुणात्मना ।
बलसंवलितेनैव ज्ञानेनास्तेऽथ दक्षिणे ॥ ६ ॥
ऐश्वर्येण तु वीर्येण प्रत्यग्भागेऽवतिष्ठते[1] ।
तेजःशक्त्यात्मना सौम्ये संस्थितः परमेश्वरः ॥ ७ ॥

एतादृशकर्णिकात्मके । अधः पूर्वोक्तगगनात्मकतुर्यपदस्याधः स्थित इत्यर्थः । सुषुप्त्याख्यपदे चतुर्धा वासुदेवादिभेदैः प्रभवाख्येन क्रमेण सृष्टिक्रमेणेत्यर्थः । वासुदेवाद्यनिरुद्धान्तमिति यावत् । तमजं पूर्वोक्तं परं भगवन्तं ज्ञानविद्याचतुष्केण वक्ष्यमाणमन्त्रचतुष्केण यथा यजेत् तद्विधिमवधारय । अत्र परस्यैव भगवतस्तुर्यादिस्थानेषु वासुदेवादिभेदैर्बहुत्वाश्रयणात् तमजं यजेदित्यभेदोक्तिः । वक्ष्यति हि—

यथाम्बरस्थः सविता एक एव महामते ।
जलाश्रयाणि चाश्रित्य [2]बहुत्वं संप्रदर्शयेत् ॥
एवमेकोऽपि भगवान् नानाम[3]न्त्राश्रयेषु च ।
तुर्यादिपदसंस्थेषु बहुत्वमुपयाति च ॥ (४।३३-३४) इति ॥२-३॥

वेद्यवेदकनिर्मुक्तमच्युतं ब्रह्म यत्परम्[4] ।
अनस्तमितभारूपं सर्वाभिन्नमहत्पदम्[5] ॥ (लक्ष्मी० २०।४)

इत्युक्तस्य क[6]र्मिणामनवगाह्यतया तेषामुपकाराय भगवान् स्वयमेव पूर्वोक्तहृत्कमलकर्णिकामध्ये स्थित्वा शब्दब्रह्मरूपेण वेदकत्वं पररूपेण वेद्यत्वं च यातीत्याह—वेदकत्वेनेति सार्धेन ॥३-४॥

पुनः स एव तत्र प्रागादिषु चतुर्दिक्षु गुणभेदेन चतुर्धा भवतीत्याह—प्राग्भागादिति ॥५॥

तेषां गुणभेदविवरणमाह—अनुज्झितेति द्वाभ्याम् ॥६-७॥

---

१. गे प्रतिष्ठितः—मु० अटी० । २. बाह्यात्मं—म०, बाह्यामं—अ० । ३. वर्णा—अ० म० । ४. पदम्—अ० म० । ५. महत्—अ० म० । ६. कर्मणा—अ० ।

यद्यप्यरूपो भगवान् व्यूहात्मा गुणलक्षणः ।
अत्रापि पूर्वमेवोक्तं रूपमस्योपचर्यते ॥ ८ ॥
किन्तु द्वितीयमूर्तेर्वै शुभपाणितलद्वये ।
[1]स्फुटो रेखामयः शङ्खः सुव्यक्तं लाङ्गलं महत् ॥ ९ ॥
रम्येषुणा तृतीयस्य दक्षिणश्चिह्नितः[2] करः ।
तुर्यस्यासिवरेणैव शङ्खमाभ्यां(ङ्खाभ्यां च) करद्वये ॥१०॥
अवाङ्मुखः करवशादूर्ध्ववक्त्रः स्वभावतः ।
एतावता लक्षणेन व्यक्तीभावं गतेन च ॥११॥
भावस्थितिं निबध्नाति व्यूहेऽस्मिन् साधकस्य तु ।
सादृश्यात् षड्गुणत्वाच्च समत्वाच्च विशेषतः ॥१२॥
शान्तत्वान्निष्कलत्वाच्च[3] न भेदो विद्यते यतः ।
गुणद्वयद्वयेनैव यद्यप्युक्तं पुरा मया ॥१३॥
एकैकं भगवद्रूपं मुख्यवृत्त्या तथापि हि ।
चतुष्कमवशिष्टं यद् गुणानां समवस्थितम्[4] ॥१४॥
तद् भजेतानुवृत्तिं च एकैकस्य च सर्वदा ।

अस्य सुषुप्तिव्यूहस्य पूर्वोक्ततुर्यव्यूहपदरूपत्वाद् गुणमात्रलक्ष्यत्वमेव, तथापि गुणभेदवच्चक्रादिलाञ्छनभेदसत्त्वात्[5] परोक्तं रूपमत्राप्युपचर्यत इत्याह—यद्यपीति त्रिभिः ॥८–१०॥

किन्तु पररूपवद् वरदाभयमुद्रान्वितत्वं विना केवलमवाङ्मुखकरत्वमूर्ध्ववक्त्रत्वं च चतुर्णामपि विशेषमाह—अवाङ्मुख इति ॥११॥

एवं लाञ्छनादिभिर्व्यक्तत्वेऽपि सादृश्यादिहेतुभिर्भेदाभावात् साधकस्यानुभवविषयो भवतीत्याह—एतावतेति[6] ॥११–१५॥

---

१. पङ्क्तित्रयं नास्ति–उ० । २. दक्षिणाभिहितः–मु० ख० । ३. क्रियत्वा–ख० ख० अ० उ० । ४. क्रमशः स्थितः–अ० उ०, समवस्थिताः–मु० अटी० । ५. भेदत्वात्–अ० । ६. एतावतेति द्वाभ्याम्–म० ।

एवं ज्ञात्वा स्थितिं[1] ब्राह्मीं स्वानन्दां[2] स्पन्दलक्षणाम् ॥१५॥
ब्रह्मामृतमयैर्भोगैर्यो[3] यजेत समाहितः ।
विशुद्धबुद्धया देहान्ते स विशत्यमलं पदम् ॥१६॥
अथ मन्त्रचतुष्कं तु [4]ब्रह्मषाड्गुण्यवाचकम् ।
कर्मिणां मोक्षदं शश्वत् पूर्वोद्दिष्टं निबोधतु ॥१७॥
आदायाक्षगतं बीजं नाभिपूर्वमतः परम् ।
अरादेकादशात् पूर्वं तस्याधो विनिवेश्यते[5] ॥१८॥
वर्णं नेमेस्तृतीयं यत् तृतीयमिदमक्षरम् ।
द्वितीयमष्टमाद् वर्णं नाभेस्तुर्यादिनान्वितम् ॥ १९ ॥
ततस्तु नवमं नेमेः केवलं विद्धि पञ्चमम् ।
अष्टमादपरं वर्णं द्वितीय[6]स्वरसंयुतम् ॥ २० ॥
षष्ठमेतद्विजानीयात् सप्तमं दशमात् परम् ।
अथ द्वितीयदशमादादायोर्ध्वे तु विन्यसेत् ॥ २१ ॥
अष्टमात्तु[7] द्वितीयस्य मन्त्राणामिदमष्टकम् ।
द्वितीयात् प्रथमं वर्णमष्टमादपरं ततः ॥ २२ ॥
नाभ्येकादशमोपेतं द्वितीयं नेमिमण्डलात् ।
पूर्वमेकादशाच्छुद्धं तादृङ्नेमेस्तृतीयकम् ॥ २३ ॥
नेमिपूर्वं च तदनु नाभेरेकादशाङ्कितम् ।
नेमेः षष्ठमथादाय स्थितं [10]तत्पञ्चमोपरि ॥ २४ ॥

अत्र चतुर्णामपि षड्गुणत्वादित्युक्तम् । बलसंवलितेनैव ज्ञानेन ज्ञानपूर्वकमर्चने फलमाह—एवमिति सार्धेन ॥ १५–१६ ॥

सुषुप्तिव्यूहचतुष्कं शृण्वित्याह—अथेति ॥१७॥

चतुर्णामपि मन्त्राणामुद्धारप्रकारं तत्तत्पदविभागांश्चाह—आदायाक्षगतं बीज-

१. स्मृतिं—मु० बक० उ० । २. न्दास्पद—अ० अटी० । ३. र्योजयेत—अ० उ० बक०, योजयेत् तमसावृतः—मु० अटी० । ४. भिन्न—बक० बख० अ० उ० । ५. वेशिते—मु० अटी०, वेशयेत्—बक० । ६. द्वितीयं—बक० बख० । ७. त्तद् द्वि—मु० अटी० उ० । ८. मम्—अ० उ० । ९. ताह्मे—मु०, तं ह्मे—अटी० । १०. तं प—अ० उ० ।

ततो नाभिद्वितीयेन युक्तं नेमेस्तृतीयकम् ।
द्वितीयं केवलं नेमेरादाय च महामते ॥ २५ ॥
कर्त्रे नमः पदं पश्चाद् योजयेच्चतुरक्षरम् ।
एकविंशतिभिर्वर्णैरयं मन्त्र उदाहृतः ॥ २६ ॥
अभिन्नः पदभेदेन भवेदेकाधिकस्तु वै ।
प्राग्वर्णेन पदं पूर्वं पश्चार्णं द्वितीयं भवेत् ॥ २७ ॥
षडक्षरं तृतीयं तु चतुर्थं तद्वदेव हि ।
द्व्यक्षरं पञ्चमं विद्धि तद्वत् षष्ठं महामते ॥ २८ ॥
अथापरं महामन्त्रं द्वितीयमवधारय ।
यज्ज्ञात्वा न पुनर्जन्म भवत्याराधकस्य च ॥ २९ ॥
आदायाक्षरमध्यस्थं नाभिपूर्वमतः परम् ।
पूर्वं नेमेस्तु तस्यैव योज्यं नाभित्रयोदशम् ॥ ३० ॥
द्वितीयादपरं वर्णं सर्वशक्त्यात्मने पदम् ।
द्वितीयं द्वादशाद् वर्णं द्वितीयात् प्रथमं ततः ॥ ३१ ॥
पञ्चमं च बहिष्ठेभ्यस्त्रीनेतान् विद्धि केवलान् ।
नाभ्येकादशसंभिन्नं द्वितीयं चाष्टमात् ततः ॥ ३२ ॥
नमो नमः पदयुतो मन्त्रश्चाष्टादशाक्षरः ।
अस्यैकार्णं पदं पूर्वं त्र्यक्षरं तदनन्तरम् ॥ ३३ ॥
षडक्षरं तृतीयं तु चतुर्थं चतुरक्षरम् ।
द्वितीयं द्व्यक्षरं चान्यत् पदयोः सम्प्रकीर्तितम् ॥३४॥
तृतीयमथ वक्ष्यामि मन्त्रं मन्त्रविदांवर ।
यज्ज्ञात्वा मानसीं शुद्धिं परामभ्येति कर्मणाम् ॥ ३५ ॥
बीजमादाय मध्यस्थमाद्यमेकादशात् ततः ।
नेमेस्तृतीयं तदध ऊर्ध्वं नाभ्यपरं तु वै ॥ ३६ ॥

मित्यारभ्य अन्तस्थं द्व्यक्षरं स्मृतमित्यन्तम् । एतद्व्याख्यानमार्गस्य पूर्वमेव प्रदर्शितत्वात्

१. र्णाद्–अ० । २. द्वितीयं–उ० । ३. क्षस्य–बख० उ० । ४. पञ्च पञ्च–अ० ।
५. संपन्नं–अटी० । ६. तनम्–मु० अटी० । ७. मानसं शुद्धं परम–अ० बख० ।

अथाद्यमष्टमाद् वर्णं[1] द्वितीयं स्वरसंयुतम् ।
तद्वद् एकादशाद्याद्यं वर्णमन्यं समाहरेत् ॥ ३७ ॥
दशमादपरं वर्णं[2] नेमेरष्टकमन्ततः ।
युक्तं नाभिद्वितीयेन त्वाद्यं नेम्यक्षरं तु यत् ॥ ३८ ॥
नाभित्रयोदशोपेतमादाय दशमात् परम् ।
द्वितीयं नवमाद्वर्णं युक्तं नाभ्यपरेण तु ॥ ३९ ॥
तत्संख्यं दशमाच्छुद्धं ततो बाह्यात्तु पञ्चमम् ।
नेमेर्द्वितीयं तदधो युक्तं नाभेः परेण तु ॥ ४० ॥
द्वितीयं दशमाद् वर्णं[3] प्राणाय त्र्यक्षरं पदम् ।
ततस्त्वेकादशाद्याद्यं केवलं च समाहरेत् ॥ ४१ ॥
अथ नाभिद्वितीयेन युक्तं नेमेस्तृतीयकम् ।
नाभित्रयोदशोपेतं बहिष्ठेष्वपरं ततः ॥ ४२ ॥
नेमेस्तृतीयस्योर्ध्वे तु नवमादपरं न्यसेत् ।
ततो नाभिद्वितीयेन युक्तं प्राङ्नेमिमण्डलात् ॥ ४३ ॥
द्वितीयमथ वै बाह्यात् सनमस्कं हि केवलम् ।
त्रयोविंशतिभिर्वर्णैरुपेतो[4] ह्येष मन्त्रराट् ॥ ४४ ॥
पदैः पूर्वोक्तसंख्यैस्तु[5] तेषां भेदोऽप्यथोच्यते ।
पूर्वमेकाक्षरं विद्धि द्वितीयं तु नवाक्षरम् ॥ ४५ ॥
तृतीयं द्व्यक्षरं चैव चतुर्थं त्र्यक्षरं स्मृतम् ।
षडक्षरमथोर्ध्वस्थं द्व्यक्षरं तदनन्तरम् ॥ ४६ ॥
चतुर्थमधुना मन्त्रं निबोध गदतो मम ।
येन विज्ञातमात्रेण संविदुत्पद्यते परा ॥ ४७ ॥
आदायादौ यदक्षस्थं नाभिपूर्वमनन्तरम् ।
ततस्तृतीयादपरं वर्णमादाय लाङ्गलिन् ॥ ४८ ॥

सुगमः[6] । प्राग् वर्णचक्रं विलिख्य उक्तक्रमेण वर्णोद्धारे कृते—ॐ अप्रतिहतानन्तगतये परमेश्वराय कर्त्रे नमः । ॐ अमोघसर्वशक्त्यात्मने भगवते नमो नमः । ॐ प्राणापान-

१. यत्तन्ना—मु० । २. द्वितीय—अ० । ३. नियमा—मु० अटी० । ४. तोऽप्येष—अ० । ५. संख्यस्तु—मु० अटी० । ६. प्रकृतग्रन्थ इति शेषः ।

[1]नेमिद्वितीयं तस्याधस्तदधो नाभिपञ्चमम् ।
द्वितीयमष्टमाद् वर्णं त[2]त्संख्यं नेमिमण्डलात् ॥ ४९ ॥
आदायैतद् द्वयं कुर्याद् युक्तं नाभ्यपरेण तु ।
अथ नाभितृतीयेन युक्तं बाह्यात्तु पञ्चमम् ॥ ५० ॥
आद्यात् पूर्वमथादाय नाभिसप्तमसंयुतम् ।
द्वितीयमष्टमाद् वर्णं द्वितीयं नेमिमण्डलात् ॥ ५१ ॥
आदायाभ्यां नियोक्तव्यं द्वितीयं नाभिगोचरात् ।
अथ द्वितीयं दशमात् केवलं वर्णमाहरेत् ॥ ५२ ॥
[3]द्वितीयमष्टमाद् वर्णं तदूर्ध्वे दशमात् परम् ।
नाभिद्वितीयमस्यैव योजयेत् तदनन्तरम् ॥ ५३ ॥
[4]ततो नेमिद्वितीयं तु केवलं वर्णमाहरेत् ।
अथ नाभेर्यदादिस्थं प्राग्वर्णं दशमादरात् ॥ ५४ ॥
तदधो द्वितीयं बाह्यात् प्रधिवर्णमनन्तरम् ।
युक्तं नाभिद्वितीयेन त्वादाय तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥
नेमिद्वितीयसंख्यं यन्नमस्कारपदं ततः ।
अष्टादशाक्षरो ह्येष द्व्यधिकः पदसंख्यया ॥ ५६ ॥
एकार्णं पदमाद्यं तु द्वितीयं चतुरक्षरम् ।
पञ्चाक्षरं तृतीयं तु चतुर्थं चतुरक्षरम् ॥ ५७ ॥
तथैव पञ्चमं विद्धि [5]अन्तस्थं द्व्यक्षरं स्मृतम् ।
यत्र यत्र पदानां च वर्णाधिक्यमुदाहृतम् ॥

समानोदानव्यानप्राणाय [6]परायोद्रमाय नमः । ॐ अच्युताया[7]विकृतायानन्ताय अध्यक्षाय नम इति क्रमेण [8]एकविंशाक्षरोऽष्टादशाक्षरस्[9]त्रयोविंशत्यक्षरो विंशत्यक्षरश्चत्वारो मन्त्रा भवन्ति ॥ १८–५७ ॥

पदानां वर्णसंख्यापूरणप्रकारमाह—यत्रेति । पदानां पूर्वोक्तमन्त्रान्तर्गतपदानां मध्ये यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् पदे प्रथममन्त्रेऽनन्तगतये इत्यत्र वर्णाधिक्यमुदाहृतम् ।

---

१. नेमेर्द्वि–मु० अटी० । २. तृतीयं–वक० । ३. पङ्क्तित्रयं नास्ति–उ० । ४. श्लोकद्वयं नास्ति–वक० । ५. ह्यन्तस्थ–मु० अटी०, ह्यन्तस्थं–बक० बख० अ० उ० । ६. वरा–अ० । ७. ताय वि–अ० । ८. विंशत्य–म० । ९. योऽपि शक्त्य–अ० ।

तत्रादौ नाभिपूर्वं तु व्याहृत्याद्यं पदं न्यसेत् ।। ५८ ।।

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्त्वतसंहितायां सुषुप्तिव्यूहमन्त्रोद्धारो नाम तृतीयः परिच्छेदः ।।

षडक्षरं तृतीयं त्विति अक्षराधिक्यमुक्तम् । तत्र तस्मिन् पदे, आदौ प्रथमत आद्यपदाद् अप्रतिहतेति पदस्य उपरि विद्यमानमकारमाहृत्यानन्तगतय इति पदस्यादौ योजयेदिति यावत् । तथा च अनन्तगतये इति षडक्षरत्वं संभवति । एवं चतुर्थमन्त्रे अविकृतायानन्ताय इत्यत्रापि बोध्यम् ।। ५८ ।।

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये तृतीयः परिच्छेदः ॥

चतुर्थः परिच्छेदः

नारद उवाच[1]

अथाह भगवान् देवो रक्तराजीवलोचनः ।
प्रसन्नः सुप्रसन्नास्यो विधानमपरं[2] द्विजाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

[3]येनात्मा स्वप्न एवात्मा कर्मिणामनुकम्पया ।
क्रमेण व्यक्ततां नीतो वाग्वर्णकमलोपरि ॥ २ ॥
अभिन्नपूर्णषाड्गुण्यविभवेनोपबृंहितम् ।
भाभिः सितादिभिर्दीप्तमभिन्नाभिर्निरन्तरम् ॥ ३ ॥
अवलोक्यामलं देवं[4]मुदितं स्वेन तेजसा ।
कर्णिकाग्रं[5] समाश्रित्य दिव्यं मन्त्रतनुं[6] पुनः ॥ ४ ॥
पश्येत् स्वयं स्वशक्त्या वै कालेनालक्ष्यमूर्तिना ।
संहरन्तं च तद्रूपं व्यक्तं पूर्वोक्तलक्षणम् ॥ ५ ॥

अथ चतुर्थो व्याख्यास्यते । स्वप्नव्यूहविधानमाहेत्याह—अथेति द्वाभ्याम् । येन कर्मणा, आत्मा परमात्मा, स्वप्ने आत्मेव जीव इव वर्णकमलोपरि व्यक्ततां नीतः प्रकाशितः । तद्विधानमाहेति पूर्वश्लोकेनान्वयः ॥ १–२ ॥

आदौ वासुदेवादीनां चतुर्णामपि मूलभूतस्य विशाखयूपसंज्ञस्य भगवतो लक्षणमाह—अभिन्नेति सार्धैश्चतुर्भिः । अभिन्नपूर्णषाड्गुण्यविभवेनोपबृंहितम् । संकर्षणादिवद् गुणद्वयभेदं विना वासुदेववद् अन्यूनानतिरिक्तषाड्गुण्यपरिपूर्णमित्यर्थः । अभिन्नाभिः सितादिभिर्भाभिर्दीप्तं वासुदेवादिवत् पार्थक्येन सितादिवर्णभेदं विना श्वेतरक्तपीतकृष्णैश्चतुर्भिरपि तेजोभिर्भास्वरमित्यर्थः । स्वेन तेजसा उदितम्, केवलतेजोरूपमित्यर्थः । देवं विशाखयूपाख्यमवलोक्य पूर्वमेव तेजोरूपं दृष्ट्वेत्यर्थः । पुनः कर्णिकाग्रं समाश्रित्य मन्त्रतनुं पश्येत्, मूर्तिभूतं पश्येदित्यर्थः । पुनस्तद्रूपं संहरन्तं च पश्येदित्यन्वयः । एवं

---

१. नारद इत्येव उ० विहाय सर्वत्र पाठः । २. नं परमं–उ० । ३. येनात्मना स्व एवात्मा–अ० उ० । ४. देवं–ख० उ० । ५. कारं–उ० । ६. वरं–मु० अटी० ।

एवं मन्त्रमयं देहमुपसंहृत्य लाङ्गलिन् ।
आमूलात् कर्णिकाग्रं च सम्पूर्यास्ते स्वतेजसा ॥ ६ ॥
ब्रह्मयूपस्वरूपेण त्वाक्रम्य स्वं महामते ।
सौम्यमूर्तिचतुष्कं तु सर्वदिक्प्रसृतं च यत् ॥ ७ ॥
प्राच्यां सितेन वपुषा सूर्यकान्त्यधिकेन तु ।
व्यक्तिमभ्येति भगवान् वासुदेवात्मना स्वयम् ॥ ८ ॥
पद्मरागसमानेन तेजसा तदनन्तरम् ।
उदेति दक्षिणस्यां वै प्रभुः सङ्कर्षणात्मना ॥ ९ ॥
घर्मांशुरश्मिसन्तप्तशतधामाधिकेन तु ।
रूपेण पश्चिमस्यां च व्यक्तं प्रद्युम्नसंज्ञया ॥ १० ॥
शरद्गगनसंकाशवर्णेन परमेश्वरः ।
समास्त उत्तरस्यां चाप्यनिरुद्धात्मना ततः ॥ ११ ॥
संस्थानमादिमूर्तेर्वै सर्वेषां तु समं स्मृतम् ।

मन्त्रमयं देहमुपसंहृत्य आमूलात् कर्णिकाग्रं स्वतेजसा संपूर्य ब्रह्मयूपस्वरूपेणास्ते, मूर्तिवर्जितः केवलतेजोरूपमाश्रित्य हृत्कमलकर्णिकारूपेण शाखाभूतानां वासुदेवादीनां मध्ययूपस्थानीयत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः। एवमेवोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

व्यूहाद् व्यूहसमुत्पत्तौ पदाद् यावत् पदान्तरम् ।
अन्तरं सकलं देशं संपूरयति तेजसा ॥
पूजितस्तेजसां राशिरव्यक्तो मूर्तिवर्जितः ।
विशाखयूप इत्युक्तस्तत्तज्ज्ञानादिबृंहितः ॥
तस्मिन् तस्मिन् पदे तस्मान्मूर्तिशाखाचतुष्टयम् ।
वासुदेवादिकं शक्र प्रादुर्भवति वै क्रमात् ॥ (११।११–१३) इति ।

विशाखयूपशब्दनिर्वचनं च तत्रैवोक्तम्—"शाखास्तु वासुदेवाद्या विभोर्देवस्य कीर्तिताः । विशाखयूपो भगवान् वितता हि करोति तत् ॥" (११।२९) इति ॥३–७॥

अथ वासुदेवादीनां लक्षणान्याह—सौम्येत्यारभ्य ज्वालामण्डलमध्यगा इत्यन्तम् ॥ ७–१६ ॥

---

१. सम–मु० अटी० । २. वर्मा–मु० । ३. पूर्णेन–अ० । ४. पद्माद्–अ० म० । ५. आन्तरं–म० । ६. ताभिः–मु० ।

सूर्यकोटिप्रभाः सर्वे तेजसा कमलेक्षणाः ॥ १२ ॥
दन्तज्योत्स्नावितानैस्तु प्रकटीकृतदिङ्मुखाः ।
पूर्णचन्द्रायुताकारा[1] मुक्ताहाराद्यलङ्कृताः ॥ १३ ॥
[2]लसत्पीयूषसदृशैः स्वाम्बरैः[3] स्रग्वरैर्युताः ।
वरायुधो[4]द्यतकराः स्वकैश्चिह्नैरनुज्झिताः ॥ १४ ॥
[5]रेखोत्थितैस्तु कह्लारैः पादपद्मतलाङ्किताः ।
[6]विनम्रजनसन्तापशमनव्यापृताननाः ॥ १५ ॥
करुणापूर्णहृदया जगदु[7]द्धरणोद्यताः ।
स्वदेहतेजःसम्भूतज्वालामण्डलमध्यगाः ॥ १६ ॥
एवमेवैष भगवान् [8]सम्पूज्यः प्राक्प्रयोग[9]तः ।
एकैकेन तु भागेन [10]प्राभवेण क्रमेण तु ॥ १७ ॥
पुनरेवानिरुद्धादीन्[11] प्राङ्मूर्त्यन्तं महामते ।
क्रमान्निरन्तरैर्भोगैरभ्यर्च्य परमेश्वरम् ॥ १८ ॥
प्रणवद्वितयेनैव बुद्ध्या तु सुविशुद्धया ।
अप्ययाख्येन विधिना हृद्यागनिरतैर्बुधैः[14] ॥ १९ ॥
[12]अथ भिन्नतनोर्मन्त्रं[13] देवस्यास्य महात्मनः ।
विशाखयूपसंज्ञस्य वक्ष्ये विद्याविवेकदम् ॥ २० ॥
वर्णमक्षस्थमादाय त्वाद्यमेकादशात् ततः ।
भिन्नं नाभिद्वितीयेन तृतीयं नेमिमण्डलात् ॥ २१ ॥

एषां वासुदेवादीनां प्रभवाप्ययक्रमेण मानसार्चनमाह—एवमेवेति त्रिभिः । क्रमेण सृष्टिक्रमेणेत्यर्थः । वासुदेवाद्यनिरुद्धान्तमिति यावत् । प्रणवद्वितयेन द्वितीयपरिच्छेदोक्तप्रीतिमन्त्रेणेत्यर्थः । किन्तु तत्र "प्रीयतां मे परः प्रभुः" (२।७६) इत्युक्तम् । अत्र तु परशब्दस्थाने वासुदेवसंकर्षणाद्यन्यतमशब्दः प्रकरणानुरोधेन योज्यः ॥ १७–१९ ॥

आदौ विशाखयूपमन्त्रमाह—अथेत्यारभ्य मन्त्रस्यास्य महामते इत्यन्तम् । ॐ

१. कार–मु० बक० बख० अटी० । २. नास्त्येष श्लोकः–उ० । ३. साम्बरैः–अ० । ४. द्योति–मु० अटी० उ० । ५. लोमो–मु० अटी०, लेखो–बख० अ० उ० । ६. निमग्न–बख० अ० उ० । ७. द्धार–मु० अटी० । ८. सन्तर्प्यः–बख० अ० उ० । ९. जनः–अ० उ० । १०. प्रभवेन–मु० अटी० । ११. द्वादि–बख० अ० उ० । १२. तथेति सार्वत्रिकः पाठः । भाष्यानुरोधी पाठोऽत्र स्थापितः । १३. मन्त्र–अ० उ० । १४. नुयोगेन–अ० ।

द्वितीयं केवलं बाह्यात् तेजोरूपाय वै पदम् ।
ततस्त्वेकादशात् पूर्वं केवलं तु समाहरेत् ॥ २२ ॥
तृतीयमक्षरं बाह्याद् युक्तं नाभ्यपरेण तु ।
दशमादपरं वर्णं[1] पूर्वमेकादशात् ततः ॥ २३ ॥
एकादशस्वराक्रान्तमुद्धरेत् तदनन्तरम् ।
ततो नाभिद्वितीयेन युक्तं प्र[2]ध्यक्षरं हि यत् ॥ २४ ॥
केवलं [3]द्वितीयं बाह्यादाद्यमेकादशात् तथा ।
नेमेस्तृतीयं तदनु द्वितीयं स्वरसंयुतम् ॥ २५ ॥
दशमादपरं शुद्धं पूर्वमेकादशात् ततः ।
नाभ्येकादशसंयुक्तं तदन्तेऽमललोचन ॥ २६ ॥
नाभेस्तृतीयसंयुक्तं प्रधिवर्णं समाहरेत् ।
अथ नाभिद्वितीयेन युक्तं यत्प[4]रमष्टमात् ॥ २७ ॥
नेमिद्वितीयं तदनु नमस्कारसमन्वितम् ।
चतुर्विंशतिभिर्वर्णैर्युक्तो मन्त्रो ह्ययं महान् ॥ २८ ॥
प्रणवेन पदं चास्य पूर्वमेकाक्षरं स्मृतम् ।
द्वितीयं त्र्यक्षरं प्रोक्तं पञ्चार्णं तदनन्तरम् ॥ २९ ॥
षडक्षरं चतुर्थं तु सप्तार्णं चात्र पञ्चमम् ।
पदं तु द्व्यक्षरं षष्ठं मन्त्रस्यास्य महामते ॥ ३० ॥
नानामन्त्रस्वरूपेण ह्यादिदेवः परो[5] विभुः ।
आदिमध्यावसानेषु[6] स्थितः सर्वस्य[7] सर्वदा ॥ ३१ ॥

पराय तेजोरूपाय परानपेक्षाय परानपेक्षिताय नम इति चतुर्विंशत्यक्षरोऽयं मन्त्रः समुद्धृतो भवति ॥ २०–३० ॥

अथ विशाखयूपः पूर्वोक्तः परवासुदेव एवेत्यभिप्रायं विशदयति—नानामन्त्रेति ॥ ३१ ॥

---

१. पूर्णं–उ० विहाय सर्वत्र पाठः । २. प्रत्य–बख० विहाय सर्वत्र पाठः । ३. द्वितयं–अ० अटी० । ४. परमा–बक० बख० अ० उ० । ५. परः प्रभुः–बक० बख० अ० उ० । ६. ने तु–बख० अ० उ० । ७. सर्वत्र–अ० उ० । ८. 'इत्यभिप्रायं'''वासुदेव एव' नास्ति–म० !

चतुर्व्यूहचतुष्के स्वे शान्तादिव्यक्तलक्षणे ।
प्राधान्येन त्रयाणां च देवानामवतिष्ठते ॥ ३२ ॥
यथाम्बरस्थः सविता त्वेक एव महामते ।
जलाश्रयाणि चाश्रित्य बहुत्वं सम्प्रदर्शयेत् ॥ ३३ ॥
एवमेकोऽपि[2] भगवान् नानामन्त्राश्रयेषु च ।
तुर्यादिपदसंस्थेषु बहुत्वमुपयाति च ॥ ३४ ॥
अनुग्रहार्थं [3]भक्तिनां नानाश्रद्धावशेन तु ।
चतुष्कमथ मन्त्राणां निबोध गदतो मम ॥ ३५ ॥
सितादिवर्णव्यक्तीनां वाचकत्वेन वै क्रमात् ।
अक्षस्थं नाभिपूर्वं च वर्णं यद् दशमात् परम् ॥ ३६ ॥
नेमिपूर्वमधो नाभेस्त्रयोदशसमन्वितम् ।
द्वितीयं द्वादशाद् वर्णं द्वितीयात् [4]परमं ततः ॥ ३७ ॥
पञ्चमं च बहिष्ठेभ्यस्त्रीनेतान् विद्धि केवलान् ।
ततोऽष्टमाद् द्वितीयं तु नाभ्येकादशभेदितम् ॥ ३८ ॥
पञ्चार्णं वासुदेवाय पदं च तदनन्तरम् ।

एवं शान्तोदितादिव्यूहचतुष्टयेऽपि परवासुदेव एव तत्तद्व्यूहान्तर्गतवासुदेवरूपेणावतिष्ठत इत्याह—चतुर्व्यूहेति । अत्र शान्तोदितव्यूहान्तर्गतवासुदेवस्य परात्परवासुदेवाभिन्नत्वेनोभयोरप्येकेनैव मन्त्रेण चारितार्थ्यात् संकर्षणादीनां त्रयाणां तदङ्गत्वेन प्रत्येकं मन्त्रानुक्तेश्च शान्तोदितवासुदेवस्याङ्गित्वरूपं प्राधान्यं ज्ञेयम् । सुषुप्त्यादिव्यूहत्रये तु प्रत्येकं चतुर्णां वासुदेवादिमन्त्राणामुक्तत्वात् तत्र वासुदेवस्याग्रगण्य[5]त्वरूपं प्राधान्यं बोध्यम् ॥ ३२ ॥

एवं परस्यैकस्यैव नानारूपत्वं दृष्टान्तमुखेन द्रढयति—यथेति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ३३–३५ ॥

अथ स्वप्नव्यूहमन्त्रचतुष्टयोद्धारमाह—चतुष्कमथ मन्त्राणामित्यारभ्य यावत्

---

१. वाह्यात्म्यं–अ०, बाह्यार्थं–उ० । २. को हि–अ० । ३. भक्तानां–बक० बख०, भावानां–अटी० । ४. प्रथमं–अ० उ० । ५. गस्यत्वरूपं–अ० ।

त्रयोदशाक्षरो ह्येष प्रथमं परिकीर्तितः ॥ ३९ ॥
क्रमेण वक्ष्याम्यन्येषामुद्धारं तु यथा स्थितम् ।
अक्षस्थमक्षरं नाभेर्द्वितीयं तदनन्तरम् ॥ ४० ॥
पूर्वमन्त्रानुसारेण ततो दद्यात् पदत्रयम् ।
अथात्र पञ्चदशमं[3] नाभेरोङ्कारपूर्वकम् ॥ ४१ ॥
पदत्रयेण तेनैव संयुक्तं विद्धि मन्त्रपम् ।
अथ षोडशसंख्यं यन्नाभेः प्रणवपूर्वकम् ॥ ४२ ॥
पूर्वोक्तलक्षणानां तु पदानां प्राङ्निवेश्यते ।
अस्मान्मन्त्रत्रयाद् विद्धि द्वयं प्राङ्मन्त्रसंख्यया ॥ ४३ ॥
एक एकार्णरहितः पदभेदमतः शृणु ।
पदद्वयं तु सर्वेषामाद्यमेकाक्षरं स्मृतम् ॥ ४४ ॥
द्वयक्षरं[5] च तृतीयं तु चतुर्थं चतुरक्षरम् ।
पञ्चाक्षरं पञ्चमं वै त्रयाणां समुदाहृतम् ॥ ४५ ॥
तदेकस्य चतुर्वर्णं प्रद्युम्नाख्यस्य लाङ्गलिन् ।
एवं स्वप्नपदस्थस्य समासात् परिकीर्तितम् ॥
ध्यानार्चनं समन्त्रं च भक्तानां हितकाम्यया ॥ ४६ ॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्त्वतसंहितायां
चतुर्थः परिच्छेदः ॥

■

परिच्छेदपरिसमाप्तिः। तथा च ॐ अं नमो भगवते वासुदेवाय। ॐ आं नमो भगवते सङ्कर्षणाय। ॐ अं नमो भगवते प्रद्युम्नाय। ॐ अः नमो भगवते अनिरुद्धाय इति मन्त्रचतुष्कमुद्धृतं भवति ॥३५-४६॥

इति मौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वतभाष्ये चतुर्थः परिच्छेदः ॥

■

१. पङ्क्तित्रयं नास्ति—अ०। २. प्रथमः—उ०। ३. शकं—अ०। ४. वेशयेत्—उ०। ५. त्र्यक्षरं—मु० बक० अटी०।

पञ्चमः परिच्छेदः

नारद उवाच[1]

अथ विप्रवरा भूयः प्राह सर्वेश्वरो हरिः ।
व्यामोहविनिवृत्त्यर्थं भविनां सीरिणः[2] स्फुटम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

अनन्तसरसि क्षार्णे विश्रान्तं यन्महामते ।
अकाराक्षरमूलं तु नित्यं सर्वाश्रयाम्बुजम् ॥ २ ॥

अथ पञ्चमो व्याख्यास्यते । अत्र पुनर्जाग्रद्व्यूहलक्षणमाह[3]—अथेति । भविनां संसारिणां व्यामोहविनिवृत्त्यर्थम् । सीरिणः संकर्षणस्य प्राहेत्यन्वयः ॥१॥

हृदयकमलस्य वर्णमयत्वनिरूपणपूर्वकं जाग्रत्पदसंज्ञे तत्पत्रे जाग्रद्व्यूहार्चनं कार्यमित्याह—अनन्तसरसि । महासरोवर इत्यर्थः । अत्र क्षकारस्य जगदुत्पत्तिहेतुभूतब्रह्मशक्तिपञ्चकप्राथमिकत्वात् सरोवरत्वं ज्ञेयम् । तदुक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

क्षादि शान्तं सुरेशान शक्त्युन्मेषविशेषितम् ॥
[4]क्ष इत्येव महाक्षोभ उदितः सत्यसंज्ञया ।
वासुदेवाख्यया ह्योऽभूत् साख्यः सङ्कर्षणोदयः ॥
प्रद्युम्नः पाख्यया ज्ञेयो ह्यनिरुद्धस्तु शाख्यया ।
ता एताः शक्तयः पञ्च पञ्चब्रह्मात्मिकाः[5] पराः ॥
स्फूर्तयो[6] मदभिन्नास्ता जगदुत्पत्तिहेतवः ।
ज्वाला इव महावह्नेर्ब्रह्मणो मम शक्तयः ॥ (१९।३०–३३) इति ।

एवमेव—

अनुत्तरं स्वसंवेद्यं[7] चिद्रूपं मम शाश्वतम् ॥
वाक्तत्त्वं[8] तदकारात्मा सर्ववाङ्मयसंभवः । (१९।२–३)

इति लक्ष्मीप्रोक्तवैभवस्याकारस्य मूलत्वमपि सयुक्तिकं बोध्यम् । "तदेवानन्दरूपेण द्वितीयः स्वर इष्यते" (लक्ष्मी० १९।३) इत्युक्तस्याकारस्य नालत्वमप्युचितम् ।

---

१. नारद इत्येव उ० विहाय सर्वत्र पाठः । २. सीरिणे–सार्वत्रिकः पाठः । ३. माहेत्याह–म० । ४. क्षमि–अ० म० । ५. ब्राह्मा ब्रह्ममयाः–अ० म० । ६. स्मृतयो–अ० । ७. ह्यमचिद्रूपमगा–अ० । ८. तत्तत्वं–अ० ।

आकाराक्षरनालं तु शेषस[1]र्वार्णपल्लवम् ।
दिगष्टकं समाश्रित्य यत्त[2]त् तिष्ठति चक्रवत् ।। ३ ।।
तत्पत्रमध्ये भगवान् जाग्रत्संज्ञ[3]पदे त्वधः[4] ।
यष्टव्यो भावनीयश्च यथा तदधुनोच्यते ।। ४ ।।
परं प्रणवबीजेन सम्पूर्णं स्वेन तेजसा ।
स्थि[5]तं स्वकर्णिकोर्ध्वाच्च केसरान्तं निरीक्ष्य च ।। ५ ।।
ततः प्रणवपूर्वात् तु ब्रह्मबीजचतुष्टयात् ।
कदम्बपुष्पसदृशा[6]न्मरीचिशतसङ्कुलात् ।। ६ ।।
दिक्क्रमेणोदितं[7] ध्यायेद् विभोर्मू[8]र्तिचतुष्टयम् ।
सुव्यक्तलक्षणं मान्त्रं विभावेनावृतं बहिः ।। ७ ।।

शेषसर्[9]वार्णपल्लवं शेषाणि पूर्वोक्तावशिष्टानि सर्वाणि यानि वर्णानि इकारादीनि तान्येव पल्लवानि दलानि यस्य तत् तथोक्तम् । अत्र सर्वशब्दस्य प्रायिकत्वमङ्गीकृत्य इकारादिसकारान्तानामेव वर्णानां दलत्वं वाच्यम् । [10]यतस्तृतीयपरिच्छेदे—[11]"हवर्ण-कर्णिकायां तु सुषुप्त्याख्यपदे त्वधः"[12] (३।२) इति हकारस्य कर्णिकात्वमुक्तम् । यत् कमलं दिगष्टकं समाश्रित्य स्वदलैः सर्वदिशः समाश्रित्य चक्रवद् वर्तुलाकारेण तिष्ठति, तत्पत्रमध्ये भगवान् यष्टव्यो भावनीयश्च । जाग्रत्संज्ञपदे अध इति च पदद्वयं पत्रमध्यस्य विशेषणम् । हृदयकमलाकाशस्य तुर्यपदत्वम्, तत्कर्णिकास्थानस्य सुषुप्तिपदत्वम्, केसर-स्थानस्य स्वप्नपदत्वम्, तदधःस्थितस्य पत्रस्थानस्य जाग्रत्पदत्वं च सुव्यक्तम् ।।२-४।।

आदौ तत्कर्णिकोर्ध्वात् केसरान्तं स्थितं तेजःपरिपूर्णं परं जाग्रद्व्यूहकारणं भगवन्तं तद्वाचकप्रणवबीजेनावलोक्य ततस्तत्परितः प्रागादिषु वासुदेवादिमूर्तिचतुष्टयं समुत्पन्नं [13]पश्येदित्याह—परमिति चतुर्भिः । ब्रह्मबीजचतुष्टयात् श ष स हात्मकाद् वर्णचतुष्टयादित्यर्थः ।

शादिक्षान्तं तु विज्ञेयं विशुद्धं ब्रह्मपञ्चकम् ॥
शषसहोऽनिरुद्धाद्या विज्ञेयास्त्रिदशेश्वर । (१९।१६-१७)

इति लक्ष्मीतन्त्रवचनात् । अथवा वक्ष्यमाणाद् वासुदेवादिबीजचतुष्टयादित्यर्थः । सुव्यक्तलक्षणमित्यनेन केवलगुणमात्रलक्ष्यतयाऽगोचरसुषुप्तिव्यूहापेक्षया स्वप्नव्यूहस्य

१. सर्वर्ण-मु॰ उ॰ । २. यत्तु ति-अ॰ उ॰ । ३. संज्ञे पदे-मु॰ अटी॰ । ४. त्वथ-मु॰ बक॰ बख॰ अ॰ । ५. स्थितस्त्र-मु॰ अटी॰ । ६. सदृशं म-मु॰ अटी॰ बक॰ बख॰ । ७. णादितो-मु॰ । ८. र्तेश्चतु-मु॰ बक॰ बख॰ । ९. सर्वाणि-अ॰ । १०. यत्तृ-अ॰ । ११. हकार-अ॰ । १२. त्व थ-अ॰ । १३. पश्येत्याह-म॰ ।

स्फुलिङ्गकणतुल्येन समुद्भूतेन वै परात् ।
वाचका[1]न्तर्निविष्टेन व्यक्ततामागतेन च ॥ ८ ॥
तत्राद्यं भगवद्रूपं हिमकुन्देन्दुकान्तिमत् ।
चतुर्भुजं सौम्यवक्त्रं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ॥ ९ ॥
पीतकौशेयवसनं सुवर्णध्वजशोभितम् ।
मुख्यदक्षिणहस्तेन भीतानामभयप्रदम् ॥ १० ॥
विद्याकोशस्तु वामेन संगृहीतश्च शङ्खराट् ।
पृष्ठगे ह्यपरस्मिंस्तु[2] प्रोद्यतो[3] दक्षिणे त्व(रि?सिः)[4] ॥ ११ ॥
तथाविधे गदा वामे निषण्णा वसुधातले ।
सिन्दूरशिखराकारमेकवक्त्रं चतुर्भुजम् ॥ १२ ॥
अतसीपुष्पसङ्काशं[5]वासोभृत्ताललाञ्छितम् ।
मुख्येन पाणियुग्मेन तुल्यमाद्यस्य वै विभोः ॥ १३ ॥
सीरं चक्रं च हस्तेऽस्य मुसलं तु गदा करे ।
प्रावृण्णिशासमुदितखद्योतचयदीधितिम् ॥ १४ ॥
रत्नकौशेयवसनं मकरध्वजशोभितम् ।
एकवक्त्रं चतुर्बाहुं तृतीयं[6] परमेश्वरम् ॥ १५ ॥
मुख्यहस्तद्वयं चास्य प्राग्वद् ध्येयं महामते ।
वामे परस्मिन् शार्ङ्गं च दक्षिणे बाणपञ्चकम् ॥ १६ ॥
अञ्जनाद्रिप्रतीकाशं सुसिताम्बरवेष्टितम् ।
चतुर्भुजं विशालाक्षं मृगलाञ्छनभूषितम् ॥ १७ ॥
आदिवत् पाणियुगलमाद्यमस्यापि कीर्तितम् ।
दक्षिणादिक्रमेणाथ द्वाभ्यां वै खड्गखेटकौ ॥ १८ ॥

स्वप्नप्रत्यक्षवदीषद्व्यक्तत्वम्, तदपेक्षयाऽस्य जाग्रद्व्यूहस्य जागरप्रत्यक्षवत् सुव्यक्तत्वमुक्तं भवति ॥५–८॥

वासुदेवादीनां विशेषलक्षणान्याह—तत्राद्यमित्यादिभिः ॥९–१८॥

---

१. कान्तनि–मु० अटी०, कान्तं नि–अ० उ० । २. श्च–मु० अटी० । ३. प्रोद्यतं–बक० बख० अ० उ० । ४. त्वरी–मु०, त्वरि–अटी०, त्वपि–अ०, त्वरम्–उ० । ५. संकाशं–बख० अटी० । ६. द्वितीयं–अ० उ० । ७. पीता–अ० । ८. शोभितम्–अटी० । ९. णाधः–अटी० ।

वनमालाधराः सर्वे श्रीवत्सकृतलक्षणाः ।
शोभिताः कौस्तुभेनैव रत्नराजेन वक्षसि ॥ १९ ॥
किरीटमुकुटै[1] रम्यैर्हारकेयूरनूपुरैः ।
ललाटतिलकैश्चित्रैः स्फुरन्मकर[2]कुण्डलैः ॥ २० ॥
स्रग्वरैर्विविधैर्माल्यैः कर्पूराद्यैर्विलेपनैः ।
रम्यैरलङ्कृताश्चैव भावनीयाः सदैव हि ॥ २१ ॥
पुनरप्ययययोगेन प्रागुदङ्मध्यमे दले ।
सितकृष्णेन वपुषा [3]चानिरुद्धं स्मरेत् प्रभुम् ॥ २२ ॥
उदक्पश्चिममध्यस्थे प्रद्युम्नं भावयेच्छदे ।
रूपेण कृष्णपीतेन ह्य[4]प्यययावसरे तु वै ॥ २३ ॥
प्रत्यगुदक्षिणमध्यस्थे पीतरक्तवपुर्धरम् ।
स्मरेत् सङ्कर्षणं देवं प्रतिस्रोतः क्रियाविधौ ॥ २४ ॥
मध्ये प्रागुदक्षिणस्यां च सितरक्तेन तेजसा ।
वासुदेवो जगन्नाथो भावनीयो महामते ॥ २५ ॥
अतिशुद्धाशयत्वेन स्फटिकोपलवद् विभुः ।
स्थानभेदं समासाद्य स च कान्तिद्वयात्तु वै ॥ २६ ॥
गृह्णाति शबलं रूपमुपसंहारलक्षणम् ।
क्रमशोऽथ चतुर्णां वै वक्ष्ये मन्त्रगणं श्रृणु ॥ २७ ॥
अक्षान्तर्गतमादाय नाभेः पूर्वमतः परम् ।
भि(?न्नं) नाभिद्वितीयेन नेमिपूर्वमतः[5] परम् ॥ २८ ॥

सामान्यलक्षणमाह—वनमालाधरा इति त्रिभिः ॥१९-२१॥

ईशानाद्याग्नेयान्तमप्यधःक्रमेण स्थितानां तेषां शबलरूपमाह—पुनरित्यादिभिः ॥२२-२७॥

ततस्तन्मन्त्रानाह—क्रमशोऽथ [6]चतुर्णामित्यादिभिः ।

अ[7]क्षान्तर्गतमादायेत्यारभ्य पदं पदविदांवरेत्यन्तम् ॐ अमाधुरायाद्भुतमयाय

---

१. मकुटैः—अटी० । २. न्मकुट—अटी० । ३. अनि—अ०, षाऽनिरुद्धं सं—उ० । ४. अप्य—अ० उ० । ५. मनन्तरम्—अ० उ० । ६. चतुर्णामिति—अ० । ७. अत्राक्षा—म० ।

नाभिपञ्चमसंयुक्तं दशमात्[1] प्रथमं ततः ।
तृतीयं च द्वितीयं च नेमेरादाय चाङ्कयेत् ॥ २९ ॥
नाभिद्वितीयबीजेन नवमादपरं ततः ।
तदधो विनियोक्तव्यं द्वितीयं द्वादशात्तु ऽयत् ॥ ३० ॥
पञ्चमेनाथ वै नाभेर्युक्तं कुर्यादनन्तरम् ।
अष्टमादपरं शुद्धं नेमिपूर्वं तथाविधम् ॥ ३१ ॥
युक्तं नाभिद्वितीयेन द्वितीयं नेमिमण्डलात् ।
भूयस्तत्केवलं दद्यात् पदं योगेश्वराय वै[2] ॥ ३२ ॥
तदन्ते चक्रिणेशब्दमथ नेमेर्यदष्टकम्[3] ।
पश्चिमेनान्वितं नाभेस्तदन्ते विनिवेश्य च ॥ ३३ ॥
शुद्धमेकादशात् पूर्वमाद्यं तदनु चाष्टमात् ।
नेमेस्तृतीयेनाक्रान्तं[4] ध्वजायाथ पदं न्यसेत् ॥ ३४ ॥
भिन्नमेकादशात् पूर्वं नाभितुर्येण वै ततः ।
अष्टमादपरं शुद्धं पञ्चमं नेमिमण्डलात् ॥ ३५ ॥
[5]द्वितीयं स्वरसंयुक्तं ससेऽथ द्व्यक्षरं पदम् ।
वासुदेवाय तदनु सनमस्कं पदं भवेत् ॥ ३६ ॥
षट्त्रिंशदक्षरो मन्त्रो भेदस्तस्याधुनोच्यते ।
पदमेकादशार्णं तु प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ ३७ ॥
पञ्चाक्षरं द्वितीयं तु तृतीयं त्र्यक्षरं स्मृतम् ।
षडक्षरं चतुर्थं तु पञ्चार्णं पञ्चमं तु वै ॥ ३८ ॥
षष्ठं सप्ताक्षरं विद्धि पदं पदविदांवर ।

योगेश्वराय चक्रिणे सुपर्णध्वजाय पीतवाससे वासुदेवाय नम इति षट्त्रिंशदक्षरो (क्षमा?मन्त्रः) समुद्धृतो भवति ॥२७-३९॥

---

१. नवमात्-अ० उ० । २. वै-मु० अटी । ३. यथाष्ट-अटी० । ४. क्रान्त-मु० अटी० अ० उ० । ५. द्वितीय-मु० अटी० बक० ।

प्रणवान्ते त्वथादाय द्वितीयं नाभिमण्डलात् ॥ ३९ ॥
चतुर्दशेन वै नाभेर्युक्तं नेम्यष्टकं ततः ।
द्वितीयं दशमाच्छुद्धमथ भूयः समाहरेत् ॥ ४० ॥
तदधो नवमादन्तं नाभेस्तुर्यादिनान्वितम् ।
एकादशस्वराक्रान्तं द्वितीयं दशमात् ततः ॥ ४१ ॥
बाह्यादथाष्टमं नाभेर्युक्तं पञ्चदशेन तु ।
केवलं पञ्चमं नेमेर्द्वितीयं चाष्टमात् ततः ॥ ४२ ॥
नेमेस्तृतीयेनाक्रान्तं वर्णमेतत् समाहरेत् ।
युक्तं नाभेस्तृतीयेन प्रागरात् प्रथमं तु वै ॥ ४३ ॥
द्वितीयं दशमाद्वर्णं नाभेरेकादशाङ्कितम् ।
पञ्चाक्षरं पदं दद्यात् तदन्ते तालकेतवे ॥ ४४ ॥
भूयस्तदवसाने तु पञ्चार्णं नीलवाससे ।
प्रथमात् प्रथमं चाथ द्वितीयं[4] स्वरसंयुतम् ॥ ४५ ॥
केवलं नेमिपूर्वं तु चाद्यमेकादशात् ततः ।
बहिष्ठेभ्यश्चतुर्थं तु द्वाभ्यां नाभेः परं न्यसेत् ॥ ४६ ॥
द्वितीयं केवलं बाह्यात् सङ्कर्षणाय वै पदम् ।
तृतीयं प्रथमं नेमेरादायाकारसंयुतम् ॥ ४७ ॥
द्वितीयमपि वै बाह्याच्छुद्धं तदनु वै नमः ।
षट्त्रिंशाक्षरसंयुक्तस्त्वयं मन्त्रो महामते ॥ ४८ ॥
षड्वर्णं पदमस्याद्यं पञ्चार्णं तदनन्तरम् ।
दशाक्षरं तृतीयं तु त्रीणि पञ्चाक्षराण्यतः ॥ ४९ ॥

प्रणवान्ते त्वथादायेत्यारभ्य त्रीणि पञ्चाक्षराण्यत इत्यन्तम् ॐ आं सौनन्दकिने संवर्तकिने तालकेतवे नीलवाससे कामपालाय संकर्षणाय रामाय नम इति षट्त्रिंशदक्षरमन्त्रः समुद्धृतः ॥ ३९-४९ ॥

---

१. यस्त—बक० बख० अ० उ० । २. न्तर्ना—अ० । ३. भितृ—उ० । ४. यस्वर—मु० अटी० । ५. आद्य—उ० । ६. केवलं द्वितयं—अ० उ० ।

अथादायाक्षगं बीजं नाभेः पञ्चदशात् ततः ।
शार्ङ्गधृते पदं दद्याच्चतुर्वर्णमतः परम् ॥ ५० ॥
नेमिपूर्वमथादाय प्रागरात् प्रथमं ततः ।
तृतीयं च बहिष्ठेभ्यः पदं त्र्यर्णं ध्वजाय वै ॥ ५१ ॥
ततस्तृतीयं बाह्यात् तु प्रथमात् प्रथमं ततः ।
तदधो विनियोक्तव्यं द्वितीयं वर्णमष्टमात् ॥ ५२ ॥
द्वितीयस्वरसंयुक्तमथ बाह्यात् तु पञ्चमम् ।
अष्टमं तु तदुद्देशात् केवलं पुनरेव तत् ॥ ५३ ॥
नाभेरेकादशाक्रान्तं षडक्षरमतः परम् ।
पदं सनत्कुमाराय पञ्चाक्षरमनन्तरम् ॥ ५४ ॥
पदं जगत्प्रियायेति प्रद्युम्नाय नमस्ततः ।
चतुस्त्रिंशाक्षरः सोऽयं मन्त्रः शृणु पदान्यपि ॥ ५५ ॥
आद्यं षडक्षरं ज्ञेयं द्वितीयं तद्वदेव हि ।
पञ्चाक्षरं तृतीयं तु चतुर्थं तु षडक्षरम् ॥ ५६ ॥
पञ्चार्णं पञ्चमं विद्धि षड्वर्णं षष्ठमेव हि ।
अक्षस्थं षोडशं नाभेर्द्वितीयं दशमात्तु वै ॥ ५७ ॥
केवलं ह्यथ तेनैव चाक्रान्तं नवमात् परम् ।
अथादाय च तस्यान्ते प्रथमात् प्रथमं परात् ॥ ५८ ॥
युक्तं नाभिद्वितीयेन वर्णमेकं महामते ।
वर्णद्वयं पदस्यादौ तदेवान्तेऽस्य वै पुनः ॥ ५९ ॥
अथ द्वितीयं नवमात् प्रथमात् प्रथमं ततः ।
तृतीयमथ वै नेमेर्द्वितीयस्वरसंयुतम् ॥ ६० ॥

अथादायाक्षगं बीजमित्यारभ्य षड्वर्णं षष्ठमेव हीत्यन्तम् ॐ अं शार्ङ्गधृते मकरध्वजाय रक्तवाससे सनत्कुमाराय जगत्प्रियाय प्रद्युम्नाय नम इति चतुस्त्रिंशदक्षरः समुद्धृतः ॥ ५०–५७ ॥

अक्षस्थं षोडशं नाभेरित्यारभ्य षष्ठं सप्ताक्षरं स्मृतमित्यन्तम् ॐ अः नन्दकानन्द-

---

१. क्षरं–उ० अटी० । २. र्वं तदा–अ० । ३. अथ तृ–बक० बख० अ० उ० । ४. आ–अ० उ० । ५. मं च–अ० उ० । ६. मेतन्म–अ० उ० । ७. द्वितीय–अटी० । ८. तीयं–अ० उ० । ९. शारं चक्रधृते–अ० ।

द्वितीयं केवलं बाह्यात् सप्तमं नाभिमण्डलात् ।
अथ षष्ठेन वै नेमेराक्रान्तं[1] द्वितीयं न्यसेत् ॥ ६१ ॥
प्राग्वर्णं दशमान्नेमेः पञ्चमस्योर्ध्वगं त्वथ ।
चतुर्थादपरं वर्णं द्वितीयं नेमिमण्डलात् ॥ ६२ ॥
द्वाभ्यां नाभिद्वितीयं तु[2] योजयेत् तदनन्तरम् ।
दशमादपरं वर्णं तृतीयस्वरसंयुतम् ॥ ६३ ॥
तृतीयमथ वै नेमेर्नाभिपञ्चमसंयुतम् ।
द्वितीयस्वरसंयुक्तं द्वितीयं नवमादरात् ॥ ६४ ॥
अस्यैवाधो नियोक्तव्यं दशमात् प्रथमं हि यत् ।
शुद्धं नेमिद्वितीयं तु पदं त्वसितवाससे ॥ ६५ ॥
विष्वक्सेनाय तदनु नमस्कारसमन्वितम् ।
द्वात्रिंशार्णो ह्ययं मन्त्रः पदभेदेन वै पुनः ॥ ६६ ॥
एकाधिकस्तु भवति पदान्यथ निबोध मे ।
द्व्यक्षरं तु पदं पूर्वं द्वितीयं तु[3] नवाक्षरम् ॥ ६७ ॥
त्रीणि पञ्चाक्षराण्यन्यत् षष्ठं सप्ताक्षरं स्मृतम् ।
अप्ययावसरे प्राप्ते स्मरणे चार्चने[4] विभोः ॥ ६८ ॥
शृणु मन्त्रचतुष्कं तु पुनरन्यत् समासतः ।
आद्यमेकादशाद् वर्णं पञ्चमस्वरसंयुतम् ॥ ६९ ॥
युक्तं स्वरेण तेनैव तृतीयं नेमिमण्डलात् ।
द्वितीयस्वरसंयुक्तमथ बाह्यात् तु सप्तमम् ॥ ७० ॥
द्वितीयं केवलं नेमेराद्यन्ते प्रणवो नमः ।
शुद्धं त्वथाष्टमं बाह्याद् द्वितीयमथ चाष्टमात् ॥ ७१ ॥

कराय हृदयध्वजायानिरुद्धायासितवाससे विष्वक्सेनाय नम इति द्वात्रिंशदक्षरो मन्त्रः समुद्धृतः ॥ ५७–६८ ॥

अथाप्ययक्रमेण व्यूहार्चने मन्त्रचतुष्टयमाह—अप्ययावसर इत्यादिभिः । तथा

---

१. न्तद्वितयं–अ० अटी० । २. तं–अ० । ३. तु तवा–बक० बख० । ४. त्वष्टवर्णकम्–बख० । ५. वार्चने–अ० उ० ।

अथो नेमिद्वितीयेन युक्तं नाभ्यपरेण तु ।
केवलं[1] द्वितीयं[2] बाह्यान्नमस्कारमतः परम्[3] ॥ ७२ ॥
अथाक्षगं नाभिपूर्वं[4] द्वितीयं त्रितयादरात्[5] ।
तदधो द्वितयं[6] बाह्यान्नाभिपञ्चमसंयुतम् ॥ ७३ ॥
अथ नाभिद्वितीयेन युक्तं यत् परमाष्टमात्[7] ।
[8]द्वितीयं केवलं बाह्यान्नमस्कारं[9] ततः परम् ॥ ७४ ॥
अक्षस्थबीजं तदनु द्वितीयं द्वादशादरात् ।
द्वितीयात् प्रथमं चाथ पञ्चमं नेमिमण्डलात् ॥ ७५ ॥
केवलं त्रितयं ह्येतद् द्वितीयं च तथाष्टमात् ।
एकादशस्वराक्रान्तं वासुदेवाय वै नमः ॥ ७६ ॥
सप्ताक्षरस्तु प्राङ्मन्त्रो द्वितीयस्तु षडक्षरः ।
पूर्वतुल्यस्तृतीयस्तु चतुर्थो द्वादशाक्षरः ॥ ७७ ॥
पदभेदविनिर्मुक्तमेतन्मन्त्रचतुष्टयम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन विधिज्ञैः सिद्धिमीप्सुभिः ॥ ७८ ॥
एवं ज्ञात्वाऽमृतमयैर्भोगैस्तोष्यश्च पूर्ववत् ।
वैभवीयैर्वृतो देवैश्चतुर्मूर्तिरधोक्षजः ॥ ७९ ॥
चतुरङ्गादयं चक्राच्चातुरात्म्यस्य वै[10] विभोः ।
इति मन्त्रगणः प्रोक्तः सरहस्यः समासतः ॥ ८० ॥
अभेदेनादिमूर्तेर्यै संस्थितं वटबीजवत् ।
सर्वक्रियाविनिर्मुक्तमुत्तमं[11] परमार्थतः ॥ ८१ ॥

च ॐ पुरुषाय नमः, ॐ सत्याय नमः, ॐ अच्युताय नमः, ॐ भगवते वासुदेवाय नम इत्यनिरुद्धादिवासुदेवान्तमन्त्रचतुष्कमुक्तं भवति ॥ ६८–७९ ॥

एतावदन्तमुक्तमर्थं निगमयति—चतुरङ्गादिति । चतुरङ्गाद् नाभ्यरनेमिप्रधिसंज्ञाङ्गचतुष्टयविशिष्टादित्यर्थः ॥ ८० ॥

तुर्यव्यूहलक्षणमाह—अभेदेनेति सार्धेन ॥ ८१–८२ ॥

१. केवल–मु० अटी० । २. द्वितयं–अटी० । ३. ह्यात् प्राग्वदाद्यन्तभूषितम्–अ० उ० । ४. वदि द्वि–अ० । ५. तृतीया–मु० वक० वख० । ६. द्वितीयं–मु० वक० वख० । ७. मष्ट–वक० वख० । ८. केवलं द्वितीयं–वक० वख० । ९. रमतः–वख० । १०. प्रभोः–अटी० । ११. ममूर्तं–अ० उ० ।

चातुरात्म्यं तदाद्यं वै शुद्धसंविन्मयं महत् ।
वह्न्यर्केन्दुसहस्राभमानन्दास्पदलक्षणम्[1] ॥ ८२ ॥
बीजं सर्वक्रियाणां यद् विकल्पानां यदास्पदम् ।
चातुरात्म्यं तु तद् विद्धि द्वितीयममलेक्षण[2] ॥ ८३ ॥
नित्यं नित्याकृतिधरं तेजसा सूर्यवर्चसम् ।
भिन्नं सितादिभेदेन [4]चोर्ध्वाधः संस्थितेन च ॥ ८४ ॥
कैवल्यभोगफलदं भवबीजक्षयङ्करम् ।
चातुरात्म्यं तृतीयं तु सुधासन्दोहसुन्दरम् ॥ ८५ ॥
स्थित्युत्पत्तिप्रलयकृत् सर्वोपकरणान्वितम् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय समुदेत्यस्तमेति च ॥ ८६ ॥
चतुर्थं[5] विद्धि तद् यस्य विश्वं तिष्ठति शासनात् ।
धत्ते सितादिकं रूपं चतुर्धा यत् कृते युगे ॥ ८७ ॥
रक्ताद्यं सितनिष्ठं च त्रेतायां हि महामते ।
पीतं कृष्णं सितं रक्तं सम्प्राप्ते द्वापरे युगे ॥ ८८ ॥

सुषुप्तिव्यूहलक्षणमाह—वह्न्यर्केति सार्धेन ॥ ८२–८३ ॥

स्वप्नव्यूहलक्षणमाह—नित्यमिति द्वाभ्याम् ॥ ८४–८५ ॥

जाग्रद्व्यूहलक्षणं तस्य युगभेदेन वर्णभेदं चाह—स्थित्युत्पत्तीत्यादिभिर्विभागो-ऽत्रावधार्यत इत्यन्तैः । लक्ष्मीतन्त्रेऽप्येवमेवोपबृंहितानि व्यूहलक्षणानि—

वह्न्यर्केन्दुसहस्राभमानन्दास्पदलक्षणम्[6] ॥
बीजं सर्वक्रियाणां तद् विकल्पानां तदास्पदम् ।
सौषुप्तं चातुरात्म्यं तत् प्रथमं विद्धि वासव ॥
अथ स्वापपदे[7] ह्येवं[8] विभज्यात्मानमात्मना ।
देवः प्रागादिभेदेन वासुदेवादिरूपतः ॥
समासव्यासभेदेन गुणानां पुरुषोत्तमः ।
सितरक्तसुवर्णाभ्रसदृशैः परमाद्भुतैः ॥
आदिमूर्तिसमै रूपैश्चतुर्धा ह्यवतिष्ठते[9] ।
कैवल्यभोगफलदं भवबीजक्षयङ्करम् ॥

---

१. न्दस्पन्द–अ० उ० । २. च वि–अटी० । ३. क्षणम्–मु० । ४. ऊर्ध्वा–अ० उ० । ५. तत्त्या–अ० । ६. नन्दस्पन्द–म० । ७. स्वाप्ने–मु० । ८. देऽप्येवं–मु० । ९. व्यव–मु० ।

कलौ कृष्णं सितं रक्तं पीतं चानुक्रमेण तु।
युगसन्ध्याचतुष्के तु बिभर्ति परमेश्वरः ॥ ८९ ॥
विभिन्नमूर्तिसामान्यं रूपं यत् तन्निबोध मे।
सितरक्तं कृतान्ते तु रक्तपीतमतः परम् ॥ ९० ॥
पीतकृष्णं च तदनु कृष्णशुक्लमनन्तरम्।
भेदः प्रागुदितैर्ज्ञेय आयुधाम्बरलाञ्छनैः ॥ ९१ ॥
समत्वादन्यथा[1] केन विभागोऽत्रावधार्यते।
[2]युगाह्नदिनरात्र्य[3]र्धप्रहराणां क्रमेण तु ॥ ९२ ॥
विभागकल्पनं[4] कृत्वा नित्यमालक्ष्य वै प्रभुम्।
देहेऽस्मिन् मूर्ध्नि हृदये नाभौ तु तदधः पुनः ॥ ९३ ॥
तस्मादामूर्धपादान्तं भूतये मुक्तयेऽन्यथा।
ग्रीवांसजानुगुल्फेषु स्मरेत् [5]सन्ध्युक्तलक्षणम् ॥ ९४ ॥

चातुरात्म्यं द्वितीयं तत् सुधासंदोहसुन्दरम्।
अथ जाग्रत्पदे देवः सितरक्तादिभेदितैः[6] ॥
चतुर्भुजैरुदाराङ्गैः शङ्खचक्रादिचिह्नितैः।
नानाध्वजविचित्राङ्गैर्वासुदेवादिसंज्ञितैः ॥
व्यूहैः [7]संप्रविभज्यास्ते विभुर्नाम स्वलीलया।
जाग्रत्पदे स्थितं देवं चातुरात्म्यमनुत्तमम् ॥
स्थित्युत्पत्तिप्रलयकृत् सर्वोपकरणान्वितम्।
सर्वं तच्चिन्तयेत्तस्य[10] विश्वं तिष्ठति शासने ॥
त्रिविधं चातुरात्म्यं तु सुषुप्त्यादिपदत्रिके।
सुव्यक्तं तत्पदे तुर्ये गुणलक्ष्यं परं स्थितम् ॥ इति ८६–९२ ॥
(१०।२०–२७, ४०–४२)

वासुदेवादीनां स्मरणस्य कालभेदान् साधकशरीरे [11]स्थानभेदांश्चाह—युगाब्देति त्रिभिः। आलक्ष्य ध्यात्वेत्यर्थः। भूतये ऐश्वर्याय। मुक्तये मोक्षाय। एवं च धामचतुष्टयं मूर्धादिचतुःस्थानेषु क्रमेण वासुदेवादी(नां ? न्) स्मरतामैहिकं लौकिकं फलम्, पुनः प्रातिलोम्येन नाभेरध[12]स्तादारभ्य मूर्धान्तं स्थानचतुष्टयेऽनिरुद्धादि-

१. थाङ्केन–मु० वक० वख०। २. युगपद्दिन–वख० अ० उ०। ३. व्युत्थ–अ० उ०। ४. नां–अ० उ०। ५. संयुक्त–अटी०। ६. भेदतः–मु०। ७. संविभ–अ० म०। ८. यादि–अ० म०। ९. दिव्यं–मु०। १०. द्यस्य–मु०। ११. भेदं चाह–अ०। १२. धःस्था–अ०।

सृष्टिसंहारयोगेन यः स याति परां गतिम् ।
इत्येकमूर्तेर्व्यूहानां विभवस्याखिलस्य च ॥ ९५ ॥
अवतारस्तथा ध्यानमर्चनं मन्त्रपूर्वकम् ।
स्वपदस्थानभेदेन प्रोक्तमेकसमाधिना ॥ ९६ ॥
विशेषोऽप्यथ भेदाख्यस्त्ववतारपुरस्सरैः[1] ।
भावस्थितिविधौ[2] चैव सर्वेषामधुनोच्यते ॥ ९७ ॥
षाड्गुण्यमादिदेवाद्यं चातुरात्म्यमलाञ्छनम् ।
सृष्टये त्रितयं ह्येतत् सामर्थ्यं पारमेश्वरम् ॥ ९८ ॥
लोली[3]भूतमभेदेन स्मरेत् तुर्यात्मना पुरा ।
नित्योदितं च सुपदे स्थितमस्पन्दलक्षणम् ॥ ९९ ॥
अथार्चितुं यमिच्छेत्तु विशेषव्यक्तिलक्षणम् ।
सङ्कल्प्य[4] तं स्वबुद्ध्या तु तत्कालसमनन्तरम् ॥ १०० ॥
[6]ध्रुवा सामर्थ्यशक्तिर्वै[7] स्पन्दतामेति च स्वयम् ।
सूतेऽग्निकणवन्मन्त्रं यत्र मन्त्री कृतास्पदः ॥ १०१ ॥

वासुदेवान्तान् स्मरतां मूर्तिरूपं फलं च सिध्यतीति भावः । [8]सन्ध्युक्तलक्षणं युगसन्धि-भेदेन गृहीतसितरक्तादिशबलरूपं वासुदेवादिचतुष्टयमित्यर्थः ॥९२–९५॥

उक्तमर्थं निगमयति—इतीति सार्धेन । एकमूर्तेः परात्परवासुदेवस्य व्यूहानां विभवस्य वासुदेवादीनां तुर्याद्यवस्थाभेदस्येत्यर्थः ॥९५–९६॥

एतेषां विशेष उच्यत इत्याह—विशेष इति ॥ ९७ ॥

विशेषमाह—षाड्गुण्यमिति द्वाभ्याम् । पारमेश्वरं सामर्थ्यं सामर्थ्यशक्तिरूपम्, एतत्त्रितयं सुषुप्त्यादिव्यूहत्रयम्, सृष्टये सृष्ट्यर्थं लोलभूतं स्मरेत् । अस्पन्दलक्षणम् अलोलभूतम्, नित्योदितं परात् परं भगवन्तमेव तुर्यात्मना तुर्यव्यूहरूपेण, अभिन्नं स्मरेदित्यर्थः ॥९८–९९॥

अर्चनार्थं भगवदवतरणक्रममाह—अथेति सार्धैः पञ्चभिः[9] । यः साधको विशेष-व्यक्तिलक्षणं परव्यूहविभवाख्यतत्तन्मूर्तिविशिष्टं भगवन्तमर्चितुमिच्छेत्, तं साधकं स्वबुद्ध्या संकल्प्य स्वाभिमुखं ज्ञात्वा तत्कालसमनन्तरं [10]तदिच्छानन्तरमेव सामर्थ्य-

---

१. स्सरम्—अ० उ० । २. भावः—मु० बक० बख० । ३. लोलभूतमिति भाष्यकारसंमतः पाठः । ४. लिप्त—अटी० । ५. सु—उ० । ६. विद्धि—बक० बख० अ० उ०, धृत्वा—अटी० । ७. क्ति वै—अटी० । ८. संयुक्त—अ० । ९. श्चतुर्भिः—म० । १०. ततश्चा—अ० ।

तमागतमिवाकाशात्[1] तारकं कर्णिकान्तरे ।
भावयेदथ तन्मध्यादाराध्यमुदितं स्मरेत् ॥ १०२ ॥
आदिमूर्तिस्वरूपेण चतुर्मूर्तिमयेन वा ।
पृथक्त्वेन चतुर्मूर्तेरेकैकाकृतिनाऽप्यथ ॥ १०३ ॥
अथवा वैभवीयेन नानाकृत्यात्मना तु वै ।
अङ्गसङ्घं तदीयं च न्यसेत् पद्मदलाश्रितम् ॥ १०४ ॥
परिवारं बहिः पद्मात् स्वकं[2] यो यस्य विद्यते ।
सशक्तिकस्य मन्त्रस्य दिक्क्रमेण[3] हृदादि यत् ॥ १०५ ॥
न्यसेत् केसरजालस्थं पत्रमध्ये[4] तु शक्तयः ।

शक्तिः स्वयमेव स्पन्दतामेति । मन्त्री साधकः, यत्र कृतास्पदः, यन्मन्त्रमिच्छति तन्मन्त्रमग्निकणवत् सूते च । तत्स्पन्दनमात्रेणाऽग्नेः स्फुलिङ्गवन्मन्त्रः समुद्भूतो भवतीति भावः । तन्मन्त्रमाकाशात् तारकमिव कर्णिकान्तरे हृत्कमलकर्णिकामध्ये आगतं भावयेत् । तन्मध्यात् मन्त्रमध्यात्, आराध्यं मन्त्रनाथम्, आदिमूर्तिस्वरूपेण परवासुदेवरूपेण । यद्वा चतुर्मूर्तेर्व्यूहस्य पृथक्त्वेन, एकैकाकृतिना केवलमेकैकमूर्तिरूपेण, आहोस्विन्नानाकृत्यात्मना वैभवीयेन रूपेण पद्मनाभादिभेदेन, उदितम् उत्पन्नं स्मरेत् ॥१००–१०५॥

(निः ? स)शक्तिकस्य मन्त्रस्य प्रागादिदलेषु हृदयाद्यङ्गमन्त्रन्यासं कमलाद् बहिस्तत्तत्परिवारन्यासं चाह—सशक्तिकस्येति[5] । एवं दलेषु लक्ष्म्यादिशक्तिन्यासनियमस्य प्रायिकत्वं बोध्यम् । यतोऽत्रैव त्रयोदशे परिच्छेदे—

षट्कं केसरजालस्थं तत्र प्राक् पश्चिमे द्वयम् ॥
द्वयं द्वयं सौम्ययाम्ये तासां[6] वामकरेषु च ॥ (१३।५२–५३)

इति केसरस्थानेऽपि शक्त्यवस्थानमुक्तम् । सप्तदशपरिच्छेदेऽपि—

नेमिभागे श्रियं देवीं पुष्टिमुत्तरतो न्यसेत् ।
पृष्ठदेशे स्थितां निद्रामग्रभागे सरस्वतीम् ॥ (१७।७०)

इति कमलाद् बहिरपि शक्तिन्यास उक्तः । किञ्च, सात्वतोपबृंहणे ईश्वरे पारमेश्वरे च—"देवस्य कर्णिकायां तु श्रियं पुष्टिं ततोऽपरे" (ई० सं० ४।७९; पा० सं० ६। २४९) इति कर्णिकायामपि देवस्य पार्श्वद्वये शक्त्यर्चनमुक्तम् ॥१०५–१०६॥

---

१. दारवर्त–उ० । २. स्वयं–अ० उ० । ३. क्रमेण हृदयादि–बक० बख० ।
४. पद्म–बक० बख० । ५. कस्येति द्वाभ्याम्–अ० म० । ६. तेषां–अ० म० ।

निःशक्तिको निरङ्गो यो मन्त्रनाथस्तु केवलः ॥ १०६ ॥
शब्दमात्रेण [1]तं भूयो दलजा[2]लगतं यजेत् ।
इत्येवमन्तर्यागस्तु देवस्य प[3]रमात्मनः ॥ १०७ ॥
समासेनोदितः सम्यगथ मूर्तेर्यजेद् बहिः ।
वेद्यां पुराहृतैर्भोगैर्बिम्बे वा[4] चक्रपङ्कजे ॥ १०८ ॥
हेमादिद्रव्यजनिते चक्रे वा केवलाम्बुजे ।
भद्रपीठभुवो मध्ये सुश्लक्ष्णे केवले तु वा ॥ १०९ ॥
ध्यात्वा ध्यात्वा स्वमन्त्रेण ह्यपवर्गफलाप्तये ।
सँमर्चनीयं विधिवच्छ्रद्धाभक्तिपुरस्सरम् ॥ ११० ॥

इति श्रीपञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां
पञ्चमः परिच्छेदः ॥

■

निःशक्तिकत्वनिरङ्गकत्वोभयविशिष्टस्य भगवतस्तु केवलमन्त्रमात्रेण भ.ग-स्थानेऽप्यर्चनमाह—निः[8]शक्तिक इति ॥१०६–१०७॥

उक्तमर्थं निगमयति—इतीति ॥१०७–१०८॥

बहिर्यागस्थानान्याह—वेद्यामित्यादिभिः ॥ १०८–११० ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य[9]
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये पञ्चमः परिच्छेदः ॥

■

१. तद्–मु० अटी० बक० बख० । २. जात–मु० अटी० । ३. चतुरा–अ० उ० ।
४. वाचक–अ० उ० । ५. पीठे भ्रुवोर्मध्ये–बक० बख० अ० उ० । ६. अप–अ० उ० ।
७. नास्त्येषा पङ्क्तिः–अ० उ० । ८. 'निःशक्तिक इति' नास्ति–अ० । ९. कमलसेवा–अ० ।

षष्ठः परिच्छेदः

नारद उवाच[1]

वक्ष्ये विप्रवराः सम्यग् य उक्तश्चक्रपाणिना ।
प्रसङ्गाद् बलदेवस्य[2] द्रव्ययागोऽप्यनन्तरम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

यत्किञ्चित् पत्रपुष्पाद्यं परिदृश्येत पीठगम् ।
पाणिना तत्समाहृत्य शुचिस्थाने निधाय[3] वै ॥ २ ॥
गन्धैर्वा चामरैर्वालैः शिखिपक्षैः[4] कुशैरथ ।
संमार्ज्य भद्रपीठं तु वाससा सुसितेन वा ॥ ३ ॥
बहुना वस्त्रपूतेन वारिणा तदनन्तरम् ।
प्रक्षाल्य द्वादशार्णेन प्रणवाद्यन्तकेन[5] तु ॥ ४ ॥

अथ षष्ठो व्याख्यास्यते । बहिर्यागं वक्ष्य इत्याह—वक्ष्य इति । द्रव्ययागः द्रव्यै-रर्घ्यादिभिः क्रियमाणो यागः, बाह्याराधनमित्यर्थः ॥ १ ॥

आदौ भद्रपीठशोधनप्रकारमाह—यत्किञ्चिदिति त्रिभिः । पत्रपुष्पाद्यं पूर्वदिने भगवद्भुक्ततुलसीपत्रादिकमित्यर्थः । प्रणवाद्यन्तकेन प्रणवसंपुटितेनेत्यर्थः । द्वादशार्णेन वासुदेवद्वादशाक्षरेणेत्यर्थः । एवं भद्रपीठशोधनादिकस्य[6] कालान्तरकर्तव्यत्वमप्युक्त-मीश्वरपारमेश्वरयोः—

यद्वा प्राग्यागभवनप्रवेशानन्तरं द्विजाः[7] ॥
न्यस्य भद्रासनाद्यन्तमन्यदन्यत् समाचरेत् ।
यद्वा तदातने काले न्यस्य भद्रासनं[8] ततः ॥
आद्यं मार्गत्रयं कृत्वा यथोक्तविधिना ततः ।
योगपीठार्चनारम्भे बिम्बोक्तं सर्वमाचरेत्[9] ॥ इति ॥ २–४ ॥
(ई० सं० ३।१६–१८; पा० सं० ६।३२–३४)

---

१. नारद इत्येव उ० विहाय सर्वत्र पाठः । २. देवाय–मु० अटी० । ३. निवेश्य–अटी० । ४. पुच्छैः–मु० अटी० । ५. द्यं गतेन–अ०, द्यन्तगेन–उ० । ६. धिकस्य–अ० । ७. द्विज–पा० । ८. भद्रासनादिकम्–मु० । ९. रभेत्–पा० ।

सर्वलोकमयं तत्र सर्वदेवसमाश्रयम् ।
सर्वाधारमयं ध्यायेदन्तर्लीनं तु चक्रराट् ॥ ५ ॥
प्रणवेन स्वनाम्नाऽथ नमोऽन्तेनार्चयेच्च तम् ।
अर्घ्यालभनधूपैस्तु माल्यैर्नानास्रगुद्भवैः ॥ ६ ॥

भद्रपीठान्तर्लीनचक्रराजार्चनमाह—सर्वलोकमयमिति द्वाभ्याम् । चक्रराट् चक्रराजमित्यर्थः । विभक्तिविनिमयश्छान्दसः । आलभनम् आलभ्यते आलिप्यतेऽनेनाङ्गमित्यालभनं गन्धः । नानास्रगुद्भवैः नानाविधाः स्रजामुद्भवा रचनाविशेषा येषां तैः, द्विसरत्रिसरादिभेदेन नानारूपस्वरचनाविशिष्टैरिति यावत् । अथवा नानाविधपुष्पैजनितैरित्यर्थः । स्रक्शब्दस्य केवलपुष्पमात्रपरत्वं ज्ञेयम् । यत एवमुत्तरत्राप्यग्निकार्यप्रकरणे "स्रग् धूपं मधुपर्कं च" (६।९८, १४८) इत्यत्र स्रक्शब्दस्य पुष्पमात्रपरत्वमङ्गीक्रियते ।

ननु तत्रापि स्रक्शब्दस्य मालिकापरत्वे कः प्रत्यवाय इति चेदुच्यते, किमावयोर्विवादेन, लक्ष्मीतन्त्रे—"ततः पुष्पमयीं दद्याद् धूपद्रव्यमयीं तथा" (४०।६८) इति स्रक्शब्दस्य पुष्पपरत्वेन महालक्ष्म्यैव व्याख्यातत्वात्, ततो माल्यमयीं दद्यादित्यनुक्तेः । किञ्च, सात्वतोपबृंहणे ईश्वरे पारमेश्वरे च होमद्रव्यविवरणप्रकरणे—

"सुगन्धैः स्थलपद्माद्यैः पुष्पैश्चैव[2] सितादिकैः" इति,
(ई० सं० ५।२०६; पा० सं० ७।१६९)

तर्पितः स्थलपद्माद्यैः पुष्पैश्चान्यैः सितादिकैः ॥
सौभाग्यमतुलं विप्रा[3] अचिरादेव[4] यच्छति ।
(ई० सं० ५।२१६-२१७; पा० सं० ७।१८०)

इति च केवलपुष्पमात्रोक्तेः । किञ्च, पाद्मेऽपि [5]आहुतिप्रमाणनिरूपणप्रकरणे—"फलैः पुष्पैरखण्डितैः" इति पुष्पाणामखण्डितत्वमात्रलक्षणोक्तेः, केवलपुष्पैरेव होमसंप्रदायाच्च स्रक्शब्दः पुष्पमात्रपरो बोध्यः । किञ्च, "स्रग्दामसूत्रसंबद्धमाकर्णाच्चरणावधि" (६।५५) इत्यलङ्कारासनप्रकरणे वक्ष्यमाणं वाक्यमप्यत्रानुकूलं ज्ञेयम्, एषामेव श्लोकानां पारमेश्वरेऽपि[9] प्रतिपादितत्वात् । तद्व्याख्याने तु—"नानास्रगुद्भवैर्माल्यैः नानाविधस्रजामुद्भवहेतुभूतैः पुष्पैः, "माल्यं पुष्पे च दामनि" (६।३।२५) इति वैजयन्ती" इति लिखितम् । तदस्वरसम्, विशेषणस्य वैयर्थ्यात्; मालिकादिभिः पीठार्चने प्रत्यवायाऽभावाच्च । अस्मिन्नवसरे नृसिंहकल्पे[8]वक्ष्यमाणरीत्याऽनन्तादिपीठदेवानामप्यर्चनं कार्यम् ॥५–६॥

---

१. पुष्पगन्धैः–अ० । २. द्विज–पा० । ३. विप्र–पा० । ४. रात् संप्रयच्छति–ई० पा० । ५. आवप्यत–अ० । ६. कण्ठा–म० । ७. षष्ठाध्याये । ८. कल्पे–म० । ९. सप्तदशे परिच्छेदे ।

ततः कुम्भचतुष्कं तु हेमादिद्रव्यनिर्मितम् ।
गालितेनाम्भसा पूर्णं स्रगाद्यैरप्यलङ्कृतम् ॥ ७ ॥
गन्धसर्वौषधीरत्नफलबीजकुशोदकम् ।
बहिःकोणचतुष्के तु न्यसेदाधारपृष्ठगम् ॥ ८ ॥
ॐ अर्घ्यं कल्पयामीति ह्युक्त्वा वायुपदे न्यसेत् ।
कलशं तद्वदैशान्यां न्यसेदाचमनार्थतः ॥ ९ ॥
स्नानार्थमग्निकोणे तु पाद्यार्थं नैर्ऋते तथा ।
अथ मङ्गलकुम्भानामुपकुम्भसमन्वितम् ॥ १० ॥
चतुष्कं विन्यसेद् बाह्ये दिक्क्रमेण सुपूजितम् ।

अथ पात्रपरिकल्पनमाह—तत इति सार्धैस्त्रिभिः । अत्र गन्धसर्वौषधीरत्नफलबीजकुशादिकमित्यर्घ्यादीनां चतुर्णामप्यविभागेन द्रव्याण्युक्तानि । एषां विभागस्त्वष्टादशपरिच्छेदे (६४–६८ श्लो०) वक्ष्यमाणो ज्ञेयः । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

आधारोपरि पात्राणि स्वपूर्वनियमेन तु ।
वायव्यादिषु विन्यस्य तत्तत्कल्पनमन्त्रतः ॥ इति ।
(ई० सं० ३।२६–२७; पा० सं० ६।३७)

किञ्च, अत्रार्घ्यादीनां चतुर्णामेवोक्तत्वेऽप्यष्टादशपरिच्छेदे (७०–७६ श्लो०) वक्ष्यमाणं द्वितीयार्घ्यमपि ग्राह्यम्, तस्य पीठार्चनाद्युपयुक्तत्वात् । अत्र पात्रपरिकल्पनात् पूर्वमेव पीठान्तर्लीनचक्रराजार्चनोक्तावपि पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन तत् तदनन्तरमेव ग्राह्यम् । तथा वक्ष्यति सप्तदशे परिच्छेदे—

पुष्पैरथार्घ्यपात्रं तु मन्त्रैः संपूज्य निष्कलैः ।
पात्रे परस्मिंस्तस्माद्वै स्तोकमुद्धृत्य चोदकम् ॥
योगपीठार्चनं कुर्यादनुसंधानपूर्वकम् । (१७।५२–५३) इति ॥७–१०॥

अथ परितः कलशाष्टकस्थापनमाह—अथेति । उपकुम्भसमन्वितम्, विदिक्षु स्थापनीयैश्चतुर्भिः कलशैः सहितमित्यर्थः । अथवा नृसिंहकल्पपरिच्छेदे शान्तिकादिप्रकरणेषु वक्ष्यमाणरीत्योपस्थापनीयैश्चतुर्भिरुपकुम्भैः समन्वितमित्यर्थः । मङ्गलकुम्भानां चतुष्कं प्रागुदीरितं (६।७) चतुर्दिक्षु स्थापनीयकलशचतुष्टयमित्यर्थः ॥ १०–११ ॥

---

१. शादिकम्–भा०, दरम्–उ० । २. तीत्यु–अ० उ० । ३. पात्रविकल्पपरि–अ० । ४. पारमेश्वरीयः पाठो मूल एव द्रष्टव्यः । ५. न्तरलीन–अ० ।

भगवद्बिम्बपूर्वं तु यागाङ्गं प्रागुदीरितम् ॥ ११ ॥
एकं सुलक्षणं तत्र ततो मध्येऽवतार्य च ।
भुक्तमर्घ्यादिकं तस्माद[1]पनीयाभिवन्द्य च ॥ १२ ॥
उशीरै[2]र्वंशकूर्चेन क्षालयेदम्भसा ततः ।
पुराङ्कितं तु चक्राद्यै[3]र्यथाबद्धं तु वा शुभम् ॥ १३ ॥
सलिलेनार्घ्यपात्रं तु सम्पूर्याग्रे निधाय वै ।
तिलान् सुमनसस्तस्मिन् दूर्वाः सिद्धार्थकान् क्षिपेत् ॥१४॥
चतुरावर्तयेन्मंत्रं कृत्वा पाणितले स्थितम् ।
ततः सर्वगतं देवं मन्त्रमूर्तित्वमागतम् ॥ १५ ॥

तत्कलशाष्टकमध्ये भगवद्बिम्बाद्य[4]न्यतमस्थापनमाह—भगवदिति । प्रागुदीरितं (षष्ठा?पञ्चमा)ध्यायान्ते उक्तमित्यर्थः । भद्रपीठोपरि केवलचरबिम्बाद्यर्चनप्रकरणे । एवं परितः कलशाष्टकस्थापनं कार्यम् । स्थिरबिम्बार्चनविषये तु तदप्रकृतम् । अत एव ईश्वरपारमेश्वरयोर्नोक्तं च ॥ ११–१२ ॥

बिम्बशोधनमाह—भुक्तमिति । भुक्तमर्घ्यादिकं पूर्वदिने, यद्वाऽभिगमनार्चनकाले भगवद्भुक्तार्घ्यपुष्पादिकमित्यर्थः । उशीरवंशकूर्चेन लाम(ञ्छ?ज्जक)पिञ्जुलेन[5] ॥१२-१३॥

अथावा[6]हनक्रममाह—पुराङ्कितमिति पञ्चभिः । चक्राद्यैरङ्कितमित्यनेन सुवर्णादिकं द्रव्यमयं पात्रमुच्यते । यथाबद्धं तु वेत्यनेन पलाशादिपत्रमयमुच्यते । तथा च जयाख्ये—

अर्घ्यपात्रं समादाय सुवर्णरजतादिजम् ॥
शैलं मृद्दारुजं वाऽथ पलाशाम्बुजपर्णजम् । (१३।६३–६४) इति ।

सलिलेन प्रधानार्घ्यसलिलेनेत्यर्थः । यतः—

आवाहने संनिधाने संनिरोधे तथार्चने ॥
विसर्जनेऽर्घ्यदानं तु प्राक्पात्रान्नित्यमाचरेत् । (१८।७०–७१)

इति वक्ष्यति । अर्घ्यपात्रम् आवाहनार्थं कृतं पृथक् पात्रमित्यर्थः । तथा च पाद्मे—

आवाहितपदं पात्रं प्रक्षालितमथाम्बुभिः ।
पूरयेन्मूलमन्त्रेण हस्ताभ्यां च समुद्धरेत् ॥
ललाटसममेतस्मिन् अन्तरावाह्य केशवम् । इति ।

१. हाप–वक०, दाप–अ० । २. रं–अ० उ० । ३. यन्–अटी० । ४. दन्य–अ० । ५. पिञ्जीलेन–म० । ६. हित–म० ।

समाहूय स्वमन्त्रेण [1]त्वागच्छान्तपदेन तु ।
यथा सर्वगतो वायुर्व्यजनेन महामते ॥ १६ ॥
व्यक्तिमभ्येति भगवानाहूतस्तद्वदेव हि ।
भावदर्पणसङ्क्रान्तं कृत्वा हृत्कमलात्तु वै ॥ १७ ॥
[2]सन्निरुध्य बहिर्वेद्यां मन्त्रोच्चारा[3]वसानतः ।

सिद्धार्थकान् श्वेतसर्षपानित्यर्थः । मन्त्रम् आगच्छपदसंयुक्तं तत्तन्मूर्तिमन्त्रै[4]मित्यर्थः । "समाहूय[5] स्वमन्त्रेण त्वागच्छान्तपदेन तु" (६।१६) इत्युक्तत्वात् । तथा च पाद्मेऽपि— "चतुरुच्चारयेन्मन्त्रमागच्छपदसंयुतम्" इति । एवमावाहनकाले मन्त्रस्य चतुरुच्चारणं लक्ष्मीतन्त्रेऽप्युक्तम्—"तारकं[6] चतुरुच्चार्य तारिकां तु त्रिरुच्चरेत् (३८।४) इति । ततः सर्वगतं देवमिति श्लोकेनोक्तस्यार्थस्यानुवादः कृतः । मन्दमतीनां भगवदावाहने विस्रम्भजननार्थं यथा सर्वगतो वायुरिति दृष्टान्तकथनम् । एवमेव वक्ष्यति प्रतिष्ठाध्यायेऽपि—

सर्वत्रगोऽसि[7] भगवन् किल यद्यपि त्वा-
मावाहयामि हि यथा व्यजनेन वायुम् ।
गूढो यथैव दहनो मथनादुपैति
आवाहितोऽपि हि तथा त्वमुपैषि चार्चाम् ॥ (२५।१२१) इति ।

भावदर्पणसंक्रान्तं कृत्वेत्यनेन—

तमागतमिवाकाशात् तारकं कर्णिकान्तरे ।
भावयेदथ तन्मध्यादाराध्यमुदितं स्मरेत् ॥ (५।१०२)

इत्युक्तार्थः स्मारितो भवति[8] । वेद्यामिति पदं बिम्बाद्युपलक्षकम् । संनिरुध्य पूजावसानिकां स्थितिं प्रार्थयेत्यर्थः । अत्र संनिधिसाम्मुख्यकरणमप्यपेक्षितमीश्वरादिषु ग्राह्यम् । मन्त्रोच्चारावसानतः तत्तन्मूलमन्त्रावसाने[9] इत्यर्थः । किञ्च—

आवाहयामि लक्ष्मीशं परमात्मानमव्ययम् ॥
आतिष्ठतामिमां मूर्तिं मदनुग्रहकाम्यया ।
श्रिया सार्धं जगन्नाथो देवो नारायणः पुमान् ॥ (३६।९४-९५)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तो मन्त्रश्चात्र प्रकृतः । नन्वेतच्छ्लोकपञ्चकस्याप्यावाहनपरत्वे पुरा-

---

१. ह्यागच्छेतिपदेन वै—मु० अटी० बक० । २. सन्निरोध्येति सार्वत्रिकः पाठः। भाष्यानुरोधी पाठोऽत्र स्थापितः । ३. नुसारतः—अटी० । ४. मन्त्रणमित्युभयमातृकापाठः । ५. समा विनयः स्व—अ० । ६. एतदनुरोधेन मुद्रिते लक्ष्मीतन्त्रे पाठसंशोधनं विधेयम्। ७. गो हि—म० । ८. भवतीति वेद्यमिति—अ० । ९. सानत—अ० ।

मन्त्रमागच्छमानं तु निर्गतं तु स्वकात् पदात् ॥ १८ ॥
कालं पाद्यार्घ्यदानान्तमुत्थितं भावयेत् सदा ।
अथोपचर्यमाणं तं भोगैः कालानुकूलतः[2] ॥ १९ ॥
स्नानालम्भनवस्त्रस्रग्दानेऽलङ्करणे[4] तथा ।
अन्यत्र भोगपूजायां स्मरेत् पद्मासनादिना ॥ २० ॥
पुनस्तमेवोपविष्टं सानुकम्पं च सम्मुखम् ।
बिम्बं विनाऽन्यत्राधारे भवत्येवं महामते ॥ २१ ॥

ङ्क्तिमित्यादिश्लोकद्वयं सात्वतोपबृंहणेश्वरपारमेश्वरयोः कुतो नोक्तमिति चेत्सत्यम्, तत्र—

गन्धार्घ्यपुष्पैः संपूर्य मूलमन्त्रं समुच्चरन् ।
पीठोपरि हरेरग्रे मूर्ध्नि पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत् ॥
(ई० सं० ४।५९; पा० सं० ६।२२९)

इत्यनेनैव तच्छ्लोकद्वयार्थः संगृहीतो भवतीति बोध्यम्, तदावाहनपात्रस्थार्घ्यजलस्याञ्जलिद्वारेणैव बिम्बोपरि सेचनीयत्वात् । ''तिलान् सुमनसस्तस्मिन् दूर्वाः सिद्धार्थकान् क्षिपेत्'' (६।१४) इत्युक्तस्य द्रव्यचतुष्टयप्रक्षेपस्य प्रधानार्घ्यजलपूरणेनैव चारितार्थ्याच्च ।

नन्वेवं तेनैव तद्द्रव्यचतुष्टयप्रक्षेपस्य चारितार्थ्ये सात्वते पुनः किमर्थं तदुपादानमिति चेत्, सत्यम्—

पाद्ये द्रव्यान्तरालाभे दूर्वा[5] चार्घ्येऽथ सर्षपः ।
शस्तमाचमनीये तु तैक्कोलं[6] मार्जनाम्भसि ॥

इति पाद्मोक्तन्यायेनार्घ्यादिषु द्रव्यान्तरालाभेनैकैकद्रव्यप्रक्षेपेऽप्यावाहनार्घ्ये तिलादीनां चतुर्णामपि प्रक्षेपसिद्ध्यर्थं पुनरुपादानमिति ज्ञेयम् । एवं चैवमावाहनं चरबिम्बकुम्भमण्डलाद्यर्चनविषयम्, न तु स्थिरबिम्बविषयम्,

स्थितमायतने वाऽथ साकारं पैरमेश्वरम्[7] ।
शङ्खचक्रधरं विष्णुं सुरसिद्धावतारितम् ॥
ऋषिभिर्मनुजैर्वाथ भक्तियुक्तैः प्रतिष्ठितम् ।
तन्मूर्तौ च स्वमन्त्रेण यजेदा[9]वाहनं विना । (१३।५८–६०)

इति जयाख्योक्तेः, ''संस्थितेऽभिमुखीभावस्तदेवावाहनं हरेः'' इति पाद्मोक्तेः, तथैवेश्वरपारमेश्वरयोः प्रतिपादितत्वाच्च ॥१३–१८॥

केवलवेदिकुम्भमण्डलादिष्वावाहितस्य देवस्य तत्तदुपचारानुरोधेनावस्थानभेदभावनमाह—मन्त्रमिति सार्धैस्त्रिभिः[10] ॥१८–२१॥

---

१. तु–उ० । २. रूपतः–अटी० । ३. लपन–बक० बख०, लम्भन–अटी० । ४. दानाल–मु० अटी० । ५. पूर्वं चार्थे–अ० । ६ तत्कालं–अ० । ७. पार–म० । ८. वधादि–मु० । ९. यच्छेदा–म० । १०. श्चतुर्भिः–अ० ।

बिम्बाकृत्यात्मना बिम्बे समागत्यावतिष्ठते ।
करोत्यमूर्तामखिलां भोगशक्तिं तु चात्मसात् ॥ २२ ॥
विनिवेद्याऽऽसनवरं समाहूतस्य वै प्रभोः ।
पादपीठं तु सामान्यं मृद्वास्तरणभूषितम् ॥ २३ ॥

बिम्बे तादृशभावनाश्रम एव नास्ति, ब्रह्मरूपेण साक्षादेव भोगानङ्गीकरोतीत्याह—बिम्बाकृत्येति । तथा चोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

कल्पते तु विग्रहे पूर्वं तथारूपोऽवतिष्ठते ।
भोगेषु दीयमानेषु शक्तिर्या मन्मयी परा ॥
तत्रस्थां तां स्मरेत् साक्षादाददानो हरिर्यथा । (३८।१६-१७) इति ।

यद्यपि पाद्मे बिम्बार्चनप्रकरणेऽपि—

अर्घ्यवस्त्राम्बराकल्पपुष्पगन्धानुलेपनैः ।
प्रत्यर्चितं स्थितं ध्यायेत् पाद्याचमनयोः पुनः ॥

[1](तदानीं ध्यानं चोक्तं पाद्मे—)

आसीनं स्नानकाले च पद्मासनसुखासनम् ।
नैवेद्यधूपदीपादावासीनं स्वस्तिकासने ॥
उपचारेषु चान्यत्र तत्तत्कर्मानुसारतः ।
स्थितमासीनमथवा देवं ध्यायेत पूजकः ॥

इत्युक्तम्, तथापि तत्कुम्भार्चनादिपरमेव । अथवा बिम्बस्यैव तथा ध्यानपरम्, नहि कुम्भादिष्विव तदन्तःस्थितभगवन्मात्रध्यानपरमिति ध्येयम् । अत्रापेक्षिता मन्त्रन्यासलयभोगार्चनादयो बहवो विशेषा नृसिंहकल्पे वक्ष्यमाणा ग्राह्याः ॥२२॥

अथासनाद्युपचारसमर्पणमाह—विनिवेद्येति सार्धेन । अत्र पाठक्रमं विहाय प्रथममर्घ्यम्, ततः पाद्यम्, तदनन्तरमाचमनीयम्, ततो मधुपर्कं च समर्पणीयम् । तत्रार्घ्यं पुष्पद्वारा भगवतो मूर्ध्नि देयम्, "अर्घ्यस्तृतीयया देयो मूर्ध्न्यपि कुसुमोद्धृताः" (३६।१००) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः । तदानीं घण्टानादश्च कार्यः, "आवाह-[7]नार्घ्ये धूपे च दीपे नैवेद्यजोपणे' (३।८३) इति, "घण्टाशब्दसमोपेतं दत्वाऽर्घ्यं मन्त्रमूर्धनि" (४।१३४) इति चेश्वरादिपूक्तत्वात् । पाद्यं तु द्विवारं देयम्, "पाद्यदाने तु विप्रेन्द्र द्विर्दद्यात्तु पदाम्बुजे" (१७।४६) इत्यनिरुद्धसंहितोक्तेः । इदानीं पाद्यप्रतिग्रहपादसंमार्जनवस्त्रपादानुलेपनान्यपि देयानि । आचमनं तु त्रिवारं समर्पणीयम् ।

१. नास्त्येषा पङ्क्तिः—म० । २. वासनं—अ० । ३. वोच्यम्—म० । ४. सप्तदशे परिच्छेदे । ५. ततोऽर्घ्यं—अ० । ६. अर्घ्यं तृतीयया देयं—मु० । ७. नेऽर्घ्ये—अ० । ८. पूक्तम्—म० । ९. च्च—मु० ।

पाद्यार्घ्यं[1] मधुपर्कं च तोयमाचमनीयकम् ।
सपुत्रदारमात्मानमष्टाङ्गपतनेन[2] तु ॥ २४ ॥
चेतसा भक्तियुक्तेन निवेद्य तदनन्तरम् ।
भगवानथ[3] विज्ञाप्यः कृत्वा तत्पादगौ[4] करौ ॥ २५ ॥
स्फुटीकृतं मया देव त्विदं स्नानवरं त्वयि ।
सपादपीठं[6] परमं शुभं स्नानासनं महत् ॥ २६ ॥

तथा चोक्तमनिरुद्धसंहितायाम्—"आचाँमं च त्रिधा दद्याद् विमृश्य च सकृत् स्पृशेत्" (१७।४८) इति । [9]तदानीं ध्यानं चोक्तं पाद्मे—

ध्यायेदाचमनीयस्य दानकाले जगद्गुरुम् ।
[10]आचामन्तमिवाम्भोभिः साक्षादम्भःपरिग्रहे ॥ इति ।

अत्राचमनानन्तरं गन्धपुष्पमालादीपधूपसमर्पणं मधुपर्कानन्तरं ताम्बूलनिवेदनं [11]चेश्वरपारमेश्वरादिषूक्तं ग्राह्यम् । तथा चोक्ताः पाद्मे मन्त्रासनोपचाराः—

आवाहननमस्कारौ प्रत्युत्थानमनन्तरम् ।
पुष्पाञ्जलिः स्वागतोक्तिरासनं भद्रपीठिका ॥
अर्घ्यं पाद्यप्रतिग्राहं पाद्यप्रो[12]ताभिमर्शनम् ।
आलेपनं चरणयोश्चन्दनक्षोदवारिभिः ॥
अपामाचमनीयं तु प्रतिग्रहणदर्शनम् ।
उपस्पर्शनमालेपश्चन्दनाद्यम्बुचर्चया ॥
पुष्पमाला धूपदानं मधुपर्कनिवेदनम् ।
घनसारो नागवल्ली .... ॥ इति ॥ २३–२४ ॥

आत्मात्मीयनिवेदनमाह—सपुत्रेति । अष्टाङ्गपतनेन (६।१८७–१८८) वक्ष्यमाणाष्टाङ्गप्रणामेन । इदानीमात्मनिवेदनविज्ञापनं चोक्तं पाद्मे—

दासोऽहं ते जगन्नाथ सपुत्रादिपरिग्रहः ।
प्रेष्यः प्रशाधि कर्तव्ये मां नियुङ्क्ष्व[13] हिते सदा ॥ इति ॥ २४–२५ ॥

अथ स्नानार्थं विज्ञापनमाह—भगवानिति द्वाभ्याम् । कृत्वा तत्पादगौ करावित्यत्र व्यस्तकरावित्यर्थः । तथा चोक्तं पारमेश्वरे—

---

१. र्घ्यम–उ० । २. नादिना–अटी० । ३. नपि–मु० अटी० । ४. पादयोः–अ० । ५. परे–मु० अटी० । ६. ठमपरं–बक० बख० अ० । ७. आचामं तु त्रिर्दद्यात् तु द्विरुन्मृज्य च संस्पृशेत्–मु० । ८. सकृन्मृजेत्–म० । ९. 'तदानीं ध्यानं चोक्तं' नास्ति–अ० । १०. आचान्तमिव चाम्भोभिः–अ० । ११. क्रमशश्चतुर्थषष्ठाध्याययोर्द्रष्टव्यमेतत् । १२. प्लोता–म० । १३. नियोजय ते–अ० ।

आसादयाशु स्नानार्थं मदनुग्रहकाम्यया ।
स्नानासनं निवेद्याथ देवस्य द्वितयं तु वै[1] ॥ २७ ॥
भक्तिनम्रेण शिरसा दद्यादर्घ्यं तु मूर्धनि ।
विनिवेद्य ततो हैमं सरत्नं च प्रतिग्रहम्[2] ॥ २८ ॥
दद्याद्वै पाद्यकलशात् पाद्यं पादाम्बुजद्वये ।
सुशुभे पादुके चाथ तदन्ते स्नानशाटकम्[3] ॥ २९ ॥

कृत्वाभ्यर्च्यादिदेवस्य[4] पाणिना दक्षिणं पदम् ।
दक्षिणेनाथ वामेन वामं संगृह्य मन्त्रतः ॥ (६।३०२–३०३)

इति ॥ २५–२७ ॥

स्नानासनाद्युपचारानाह[5]—स्नानासनमित्यादिभिः । अत्र पाणिप्रक्षालनार्थक-गन्धतोयसमर्पणानन्तरं पादपीठोक्तावपि पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन स्नानासन-समर्पणानन्तरमेव पादपीठोऽपि समर्पणीयः, "सपादपीठं[6] परमं शुभं स्नानासनं महत्" (६।२६) इति विज्ञापनश्लोक एवोक्तत्वात् । अत एव सात्वतोपबृंहणेश्वर(४।१४३)-पारमेश्वर(६।३०४)योः स्नानासनानन्तरमेव पादपीठसमर्पणमुक्तम् ।

नन्वीश्वर(४।१४६)-पारमेश्वर(६।३०८)योरुभयोरपि "[7]पाणिप्रक्षालनार्थं तु पादपीठं ततः शुभम्" इति पाणिप्रक्षालनानन्तरमपि पादपीठोक्तिः परिदृश्यते, तस्याः का गतिरिति चेत्, सत्यम् । तत्रोभयत्रापि यथावस्थितसात्वतश्लोकानामेव प्रतिपादितत्वात् पौनरुक्त्यं दृश्यते । लक्ष्मीतन्त्रे तु—

अनुज्ञाप्य ततः पश्चात् स्नानासनमनुत्तमम् ।
पादपीठमथार्घ्यं च ततः पाद्यप्रतिग्रहम्[8] ॥
पाद्याम्बु पादुके स्नानशाटी मात्रा च शालिका ।
दर्पणं गन्धतोयं च पाणिप्रक्षालनार्थकम् ॥
दन्तकाष्ठं च वदनप्रक्षालाचमनाम्बुनी[9] ।
गन्धतैलं च चूर्णं च [10]शालिगोधूमसंभवम् ॥
हरिद्राचूर्णसंमिश्रमीषत् पद्मकभावितम् ।
उद्वर्तनार्थं तदनु स्नानार्थं [11]खलिसंयुतम् ॥
उष्णाम्बु चन्दनं चन्द्रमिश्रितं लेपनार्थकम् । (३९।५–९)

---

१. द्वितीयं–बक० । २. ततः परम्—'जिह्वार्थनिर्लेखनं चैव मुखप्रक्षालनं तु वै' इति पाठो दृश्यते–बरा० उ०, स नातावश्यकः, अग्रे तस्य पठितत्वात् । ३. शाटिकाम्–मु० अटी० । ४. कयापि–मु० । ५. गणयाह–अ० । ६. ठमपरं–म० । ७. पाणीनां–ई० । ८. ग्रहः–मु० । ९. म्बुनि–अ० । १०. शाला–अ० । ११. खलु–म० ।

सुगन्धशालिसम्पूर्णं मात्रार्थं पात्रमुत्तमम् ।
दर्पणं पूर्णचन्द्राभं गन्धतोयमनन्तरम् ॥ ३० ॥
पाणिभ्यां क्षालनार्थं तु पादपीठं ततः शुभम् ।
दन्तकाष्ठं च[1] तदनु मुखशुद्धिप्रतिग्रहम् ॥ ३१ ॥
जिह्वानिर्लेखनं चैव मुखप्रक्षालनं तु वै ।
पुनराचमनं देयं[2]मभ्यङ्गार्थमनन्तरम् ॥ ३२ ॥
तैलं बहु सुगन्धं च चूर्णं गोधूमशालिजम् ।
रजनीचूर्णसम्मिश्रमीषत् पद्मकभावितम् ॥ ३३ ॥
देयमुद्वर्तनार्थं तु चमं[3]षी तदनन्तरम् ।
स्नानार्थं खलिसं[4]युक्तं तोयमुष्णमनन्तरम् ॥ ३४ ॥

इति सात्वतश्लोकानामुपबृंहितत्वान्न पादपीठपुनरुक्तिः । अतस्तत्पौनरुक्त्यं नानुष्ठानप्रतिपादकम्, किन्तु श्लोकपूरणार्थं ज्ञेयम् । यथा पारमेश्वरे मानसे भोगयागप्रकरणे—"मन्त्रराट् कर्णिकामध्ये लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु" (ज० १२।८१; पा० ५।१३०) इति जयाख्यवचने प्रतिपादितेऽप्यविरुद्धार्थं परिगृह्य विरुद्धं लक्ष्म्यादित्वं परित्यज्य हृन्मन्त्रादित्वमेवाङ्गीक्रियते, तद्वदिहापीति संतोष्टव्यमायुष्मता । अत एवास्मत्तातपादैः सात्वतामृते पाणिप्रक्षालनतोयसमर्पणानन्तरं पादपीठो नोक्तः ।

प्रकृतमनुसरामः । दन्तकाष्ठमित्यत्र पारमेश्वरे—"दन्तकाष्ठं च तदनु कर्मण्यक्षीरवृक्षजम्" (६।३०८) इत्युक्तम् । कपिञ्जलेऽपि—"चूतदण्डेन देवस्य दन्तधावनमाचरेत्" इति । तच्च हेमादिमयमपि ग्राह्यम् । तदुक्तं पारमेश्वर एव द्वितीयेऽध्याये—

षोडशाङ्गु[5]लिदीर्घैस्तु वक्रग्रन्थिविवर्जितैः ॥
हेमादिनिर्मितैर्वापि कुशदू[6]र्वादिभिस्तथा । (२।६१-६२) इति ।

मुखशुद्धिप्रतिग्रहं गण्डूषप्रतिग्रहमित्यर्थः । मुखप्रक्षालनं गण्डूषमित्यर्थः । पुनराचमनीयानन्तरं ताम्बूलमपि देयम्, "गण्डूषाचामसलिले ताम्बूलं गन्धभावितम्" (६।३०९) इति पारमेश्वरोक्तेः । तैलं बहु सुगन्धं चेत्यत्र तैलसमर्पणप्रकारः पारमेश्वरे सं[7]माराधनाध्याये म[8]होत्सवाध्याये च विस्तरेणोक्तो ज्ञेयः । रजनीचूर्णं हरिद्राचूर्णम् । पद्मकम् तथैव प्रसिद्धं वैद्य(क)ग्रन्थे । चमषी तैलनिर्हरणार्थकसुगन्धद्रव्यविशेषः । इममर्थं सुस्पष्टं

१. तु—उ० । २. देवस्या—मु० अटी० । ३. मर्षी च—मु० अटी०, चमिषं—बक०, चमिषं—बख०, चमसीं—अ०, चमसी—उ० । ४. सम्पूर्ण—मु० अटी० बक० बख० । ५. ङ्गुल—मु० । ६. दर्भा—मु० । ७. षष्ठाध्याये । ८. सप्तदशाध्याये ।

चन्दनं मुखलेपार्थं घृष्टं कर्पूरभावितम् ।
गव्यं प्रभूतं स्नानार्थं क्षीरं दधि घृतं मधु ॥ ३५ ॥
ऐक्षवं तु रसं ह्यमभावे शार्करोदकम् ।
धात्रीफलोदकं चैव लोध्रतोयमनन्तरम् ॥ ३६ ॥

वक्ष्यति प्रतिष्ठाध्याये—"पूर्ववच्च ततोऽभ्यर्च्य[3] विधिवच्चमसाम्बुना। क्षालयित्वा" (२५।९९-१००) इति। खली च मलनिर्हरणसाधनद्रव्यम् ॥ २७-३५ ॥

अथ क्षीरादिपञ्चविंशतिकलशस्नपनप्रकारमाह—गव्यमित्यादिभिः। धात्रीफलम् आमलकम्, लोध्रं श्वेतलोध्रम्, "गालवः शाबलो[3] लोध्रः" (२।४।३३) इत्यमरः। ग्रन्थिपल्लवं स्थौणेयम् "ग्रन्थिपर्णं शुकं बर्हं स्थौणेयं कुक्कुटम्" (२।४।१३२) इत्यमरः। तगरं तथैव प्रसिद्धम्। प्रियङ्गुः फलिनी, "प्रियङ्गुः फलिनी फली" (२।४।५५) इत्यमरः।

ननु "स्त्रियौ कङ्गुप्रियङ्गू द्वे" (२।९।२०) इत्यमरवाक्यमप्यस्ति, विनिगमनाविरहात् कङ्गुरेव गृह्यतामिति चेन्न, अस्मिन् स्नपने बीजवारिणि कङ्गोः सत्त्वाद् अत्रत्यप्रियङ्गुशब्दस्य पूर्वोत्तरयोर्गन्धद्रव्यसाहचर्याच्च फलिनीपरत्वमेवाङ्गीकार्यम्। मांसी जटामांसी। सिद्धार्थकः श्वेतसर्षपः। सर्वौषधीजल-पत्रोदक-पुष्पोदक-फलोदक-बीजोदक-गन्धोदक-रत्नोदकानां द्रव्यविवरणमीश्वरपारमेश्वरयोः स्नपनाध्याये व्यक्तमुक्तं ग्राह्यम्। अत्रापेक्षितकलशाधिवासादिकमपि तत्रैव ग्राह्यम्। अत्र नित्यस्नपनत्वादङ्कुरादिकं न कार्यम्। तथा चोक्तं पाद्मे—

नित्ये च स्नपने नापि कौतुकं नाङ्कुरार्पणम्।
निशाचूर्णैर्न स्नपनमिष्यते मण्टपस्थलम् ॥ इति।

"स्नानार्थं कल्पितेनैव ह्युदकेन विमिश्रितम्" (६।४०) इत्युक्तत्वाद् धात्रीफलोदकादिविंशतिद्रव्येष्वपि किञ्चित् किञ्चित् स्नानीयजलं संयोज्यम्, "स्नानीयाम्बुसमेतानि देयान्यम्बून्यमूनि तु" (३९।१३) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्त्या क्षीरादिपञ्चकं विना आमलकाद्यम्बुष्वेव स्नानीयाम्बुसंयोजनस्य प्रतीयमानत्वात्। अर्घ्यपुष्पसमन्वितमिति पदं क्षालनमित्यस्य विशेषणं ज्ञेयम्, पारमेश्वरेऽप्येषामेव श्लोकानां प्रतिपादितत्वात्। केषुचित् प्रयोगेषु अर्घ्यपुष्पसमन्वितमिति पदस्य स्नपनद्रव्यविशेषणत्वाभिप्रायेण द्रव्यकलशेषु स्नानीयकलशात् किञ्चिज्जलमर्घ्यपात्रात् किञ्चित् पुष्पं च निक्षिप्येत्युक्तम्। तत् सात्वतोपबृंहणलक्ष्मीतन्त्रविरुद्धम्। यतस्तत्र "क्षीरं दधि घृतं गव्यम्" (३९।९) इति प्रक्रम्य,

१. मथवा—अ०। २. म्यर्च्य—अ०। ३. शाबरो—मु०। ४. बर्हिपुष्पं स्थौणेयकुक्कुरे—मु०। ५. ईश्वरे पञ्चदशः पारमेश्वरे च चतुर्दशोऽध्यायः स्नपनाध्यायत्वेन प्रसिद्धः। ६. निराचूर्णैर्न—अ०। ७. मण्डप—म०। ८. निक्षिप्येति व्याख्यानमुक्तम्, इत्येवं ग्रन्थो लापनीयः।

रक्तचन्दनतोयं च रजनीनीरमुत्तमम् ।
ग्रन्थिपल्लववार्येव ततस्तु तगरोदकम् ॥ ३७ ॥
प्रियङ्गुवारि तदनु मांसीजलमतः परम् ।
सिद्धार्थकोदकं चैव सर्वौषधिजलं ततः ॥ ३८ ॥

हेमरत्नसरित्तीर्थकेवलाम्बूनि वै[2] क्रमात् ॥
स्नानीयाम्बुसमेतानि देयान्यम्बून्यमूनि तु ।
अर्घ्यपात्रात्तथैवार्घ्यं स्नानानामन्तरान्तरा ॥
दद्यात् सपुष्पतोयेन क्षालनं चान्तरान्तरा । (३९।१२–१४)

इति सपुष्पत्वं क्षालनतोयस्य विशेषणं कृतम् । अर्घ्यपुष्पसमन्वितम् अर्घ्यपात्रे पूजनार्थं प्रक्षिप्तपुष्पैः सहितमित्यर्थः । अत्र क्षीरादिकलशस्नपनानां मध्ये मध्येऽर्घ्योदकेनो[3]पस्नानं केवलमर्घ्यदानं चोक्तम् । सति विभवे[4] वस्त्राद्युपचारा अपि देयाः । तथा चोक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

प्रतिद्रव्यं तु वस्त्रेण[5] ह्यर्घ्यालभनमाल्यकैः[6] ॥
धूपेन च समभ्यर्च्य ततस्तेनाभिषेचयेत् ।
यद्वार्घ्यं[7] पाद्यमाचामं गन्धस्रग्धूपदीपकम् ॥
दद्याद् यथाक्रमं सर्वं केवलं चार्घ्यमेव वा । इति ।
(ई० सं० १५।१७५–१७७; पा० सं० १४।१७०–१७२)

ननु बृहद्बिम्बस्नपनेऽर्घ्योदकस्योपस्नानाऽपर्याप्तत्वे का गतिरिति चेत्, सत्यम् । तदानीम्

अन्तरान्तरयोगेन कुम्भैः शुद्धोदपूरितैः ॥
स्नपनं चार्घ्यदानं च द्रव्याणां तु समाचरेत् ।
(ई० सं० १५।७५–७६;पा० सं० १४।७६–७७)

इतीश्वरपारमेश्वरयोः स्नपनाध्याये गतिरुक्तैव । एषां पञ्चविंशतिकलशानामभिषेचनमन्त्रास्त्वीश्वरपारमेश्वरयोर्दमनकोत्सवप्रकरणे—

एको[9] ह वै नारायण इति प्राक्कलशेन तु ।
तस्य ध्यानान्तःस्थस्येति द्वितीयकलशेन तु ॥
अथ पुनरेव नारायण इति तृतीयकलशेन तु ।
अथ पुनरेव नारायण इति चतुर्थतः ॥

---

१. गन्धि–अ० उ० । २. च–मु० । ३. र्घ्यादिके–अ० । ४. संभवे–अ० । ५. [illegible]न्त्रेण–ई० । ६. मालिकैः–अ० । ७. र्घ्यपा–अ० म० । ८. निको–अ०, नीको–म० । [illegible]न–ई० ।

पत्रपुष्पोदके चैव फलबीजोदके तथा[1] ।
गन्धोदकं च तदनु हेमरत्नजले ततः ॥ ३९ ॥
पुण्यतीर्थसरित्तोयं केवलं तदनन्तरम् ।
स्नानार्थं कल्पितेनैव ह्युदकेन[2] विमिश्रितम् ॥ ४० ॥

सहस्रशीर्षं[3] पुरुषमिति पञ्चमकुम्भतः ।
पतिं विश्वस्यात्मेश्वरमिति वै षष्ठकुम्भतः ॥
नारायणः परं ब्रह्म इति वै सप्तमेन तु ।
यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्निति ह्यष्टमकुम्भतः ॥
अनन्तमव्ययं कविमिति नवमेनाभिषेचयेत् ।
अधो[4] निष्ट्या वितस्त्यां तु इति स्याद्दशमेन वै ॥
सन्ततं तु सिराभिस्तु लै[5]मित्येकादशेन तु ।
तस्य मध्ये महानग्निरिति द्वादशमेन वै ॥
संतापयति स्वं देहमिति त्रयोदशेन[6] वै ।
नीलतोयदमध्यस्था इति चतुर्दशेन[7] वै ॥
तस्याः शिखाया मध्ये इति पञ्चदशेन[8] वै ।
सर्वस्य वशिनं देवमिति वै षोडशेन[9] तु ॥
बहिरावरणस्थैस्तु कलशैरभिषेचयेत् ।
बहिरावरणे[10] नास्ति इति प्राक्संस्थितेन तु ॥
यन्नाभिपद्मादभवदिति वह्निगतेन तु ।
धृतोर्ध्वपुण्ड्रः[11] परमेति याम्यदिक्संस्थितेन तु ॥
दक्षिणे तु भुजे विप्र इति [12]यातुगतेन वै[13] ।
विष्णुनात्तमश्नन्तीति वारुणीसंस्थि[14]तेन तु ॥
पुंप्रधानेश्वरो विष्णुरिति वायुगतेन वै[15] ।
इमां महोपनिषदमिति सोमगतेन वै[16] ॥
ओमिति प्रथमं नाम इतीशानगतेन तु ।
पुरुषोऽहं[17] वासुदेव इति मध्यगतेन तु ॥

---

१. त्वथ—बक० अ० । २. चोद—मु० अटी०, उद—बक० बख०, तूद—अ० । ३. शीर्षा पुरुष इति—ई० पा० । ४. अतो निण्ठ्या—पा०, अथो निष्ठ्या—अ० । ५. वमि—अ० म०, इत्येकादशमेन—ई० । ६. त्रयोदशमेन—ई० पा० । ७. चतुर्दशमेन—ई० पा० । ८. पञ्चदशमेन—पा० । ९. षोडशमेन—ई० पा० । १०. न हि—अ० म० । ११. पुण्ड्रं—पा० । १२. धातु—म० । १३. तु—ई० । १४. दिक्स्थि—पा० । १५. तु—ई० । १६. तु—ई० । १७. षो ह वै—ई०, षोऽहं वै—म० पा० ।

योक्तव्यं क्रमशो ह्येतदर्घ्यपुष्पसमन्वितम् ।
अन्तरान्तरयोगेन स्नानानां च महामते ॥ ४१ ॥
क्षालनं चार्घ्यकलशादर्घ्यदानं समाचरेत् ।

यद्वा पुरुषसूक्तीयैर्मन्त्रैः षोडशभिः क्रमात् ।
बहिरावरणस्थैस्तु कलशैरभिषिच्य च ॥
पूर्वोक्तैर्ब्रह्मसूत्रस्थैर्मन्त्रैर्द्विद्विकसंख्यया ।
अन्तरावरणस्थैस्तु संस्नाप्य कलशैः क्रमात् ॥
अवशिष्टैस्त्रिभिश्चान्ते मध्यकुम्भेन सेचयेत् ।
(ई० सं० १२।६५–८०; पा० सं० १७।५६८–५८३)

इत्युक्ताः । अत्र पूर्वोक्तैर्ब्रह्मसूक्तस्थैर्मन्त्रैः "सहस्रशीर्षम्" इत्यादिभिः "दक्षिणे तु भुजे विप्र" इत्यन्तैः षोडशमन्त्रैरित्यर्थः । द्विद्विकसंख्यया द्वाभ्यां द्वाभ्यां मन्त्राभ्यामित्यर्थः । अवशिष्टैस्त्रिभिः विष्णुनात्तमश्नन्तीत्यादिभिः । "एको ह वै नारायणः" इत्याद्याः "य इमां महोपनिषदम्" इत्यन्तास्त्रयोविंशतिमन्त्राश्च महोपनिषद्गताः । तत्र "सहस्रशीर्षं पुरुषम्" इति प्रक्रम्य "य इमां महोपनिषदम्" इत्यन्तमेकोनविंशतिमन्त्रात्मकं ब्रह्मसूक्तमिति ज्ञेयम् ।

ननु महोपनिषत्कोशेषु "सर्वस्य वशिनम्" इत्यादिमन्त्रा न दृश्यन्ते, कथं तेषां महोपनिषदन्तर्गतत्वमिति चेत् ? सत्यम्, इयमाशङ्का तप्तमुद्रासमर्थनसिद्धान्तचन्द्रिकायां परिहृता । तथाहि पाद्मे—

सर्वाश्रमेषु वसतां ब्राह्मणानां विशेषतः ।
विधिना वैष्णवं चक्रं धार्यं हि विधिचोदनात् ॥
दक्षिणे तु भुजे विप्रो बिभृयाद् वै सुदर्शनम् ।
सव्ये तु शङ्खं बिभृयादिति ब्रह्मविदो विदुः ॥

एवं महोपनिषदि प्रोक्तं चक्रादिधारणमित्यर्थः । अस्य मन्त्रस्य महोपनिषत्कोशेष्वदर्शनात् कथं श्रुतित्वमिति चेन्न, चिरन्तनकोशेषूपलम्भात् । आधुनिककोशेष्वनुपलम्भश्च लेखकदोषादिना नेयः । नायमेव मन्त्र आधुनिककोशेषु न दृश्यते, अपि तु सर्वस्य वशिनमित्यादिकमष्टर्चं ब्रह्मसूक्तमात्रं न दृश्यते । ब्रह्मसूक्ते चायं मन्त्रः श्रूयते । न च तावता श्रुतित्वभङ्गः । भगवच्छास्त्रेषु बहुषु प्रदेशेषु ब्रह्मसूक्तस्योपात्तत्वादिति ।

नन्वत्राष्टर्चं ब्रह्मसूक्तमात्रं न दृश्यत इत्युक्तत्वात् सर्वस्य वशिनमित्याद्यष्टमन्त्राणामेव ब्रह्मसूक्तत्वं ज्ञायते । कथं भवता सहस्रशीर्षमित्याद्येकोनविंशतिमन्त्राणा-

१. श दिक्–अ० । २. सप्त–अ० । ३. सृता–अ० । ४. नायं मन्त्रः–अ० । ५. 'न' नास्ति–अ० । ६. च्छास्त्रे–म० । ७. 'न' नास्ति–अ० ।

सम्पूर्णमम्भसां कुम्भं हरिद्राशालितण्डुलैः ॥ ४२ ॥
गन्धादिभिश्च संलिप्तमथ युक्तं स्रगादिना ।
पाणौ कृत्वा तमेकस्मिन्नपरस्मिंस्तु मल्लकम् ॥ ४३ ॥

मपि ब्रह्मसूक्तत्वमुक्तमिति चेदुच्यते, सच्चरित्ररक्षामनुसृत्यास्माभिरुक्तम् । तत्र हि— "अत्रापि ब्रह्मसूक्तपरमात्मसूक्ताभ्यां महोपनिषत्पठितमेकोनविंशतिमन्त्रात्मकं ब्रह्मसूक्तमेव परिगृहीतम्" (पृ० १४–१५) इति । महोपनिषदाद्ये मन्त्रे "एको ह वै नारायणः" इति, "एक एव नारायण" इति पाठद्वयं ज्ञेयम् ॥३५–४२॥

ततः स्नानान्तनीराजनविधिमाह—संपूर्णमिति द्वाभ्याम् । संपूर्णमित्यत्र स्नानीयशेषेणेत्यध्याहार्यम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—"स्नानशिष्टाम्बुसंपूर्णम्" (३९।१४) इति । ईश्वरपारमेश्वरयोरपि—"ततः स्नानीयशेषेण हेमादिद्रव्यनिर्मितम्" (ई० सं० ४।१५९; पा० सं० ६।३२७) इति । मल्लकम् शरावः । एकस्मिन् पाणौ वामपाणावित्यर्थः । अपरस्मिन् दक्षिणपाणावित्यर्थः । तस्य सिद्धार्थैर्धूमायमानत्वोक्त्याऽग्निपरीतत्वं ज्ञायते । धूपपात्राग्निरेव तत्र पूरणीयः । मूर्ध्नि भ्राम्येत्यत्र भगवन्मूर्ध्नः परितो भ्रामणम् । तच्च सकृदेव । बहिः महाद्वाराद् बहिरित्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—

तं कृत्वा वामपाणौ तु अपरस्मिंस्तु मल्लकम् ।
पुष्पप्रकरसंपूर्णं धूपपात्राग्निना युतम् ॥
धूमायमानं सिद्धार्थैर्धूपद्रव्येण वा सह ।
एकधा देवदेवस्य भ्रामयित्वा तु मूर्धनि ॥
दीक्षितेन जनेनैव परिचर्यापरेण तु ।
शुद्धया योषिता वापि द्वारबाह्ये विसर्जयेत् ॥ इति ।
(पा० सं० १५।१००४–१००६)

नीराजनाङ्गार्घ्यादीनामर्पणमपीदानीं न प्रक्त(तमित्यु)क्तं तत्रैव—

कुर्यात् स्नानावसाने तु ऋगाद्यध्ययनादिकम् ।
अर्घ्यादिभोगैर्यजनं वर्जयेत् तत्र सर्वदा ॥ इति ।
(पा० सं० १५।१०७९)

एवं नीराजनस्य नैमित्तिककाम्यपूजनयोरप्यनुष्ठेयत्वं तत्प्रयोजनम् । इदानीम्, अलङ्कारासनोपचारान्ते वा, उभयत्र वाऽस्यानुष्ठानमप्युक्तं तत्रैव—

---

१. सा—अ० उ० । २. सुपिष्टैरुपरिष्टाच्च लिप्तं—बक० बख० अ० उ० । ३. 'उक्तम्' नास्ति—अ० । ४. धूय—अ० । ५. पूरि—म० । ६. वा तद्—मु० । ७. नेऽपि—मु० ।

धूमायमानं सिद्धार्थैर्भ्राम्य मूर्ध्नि बहिः क्षिपेत् ।
सुधौतमहतं चाथ शाटकं विनिवेद्य च ॥ ४४ ॥
कचोदकापकर्षार्थमपरं देहवारिहृत् ।
अधरोत्तरवस्त्रे[1] द्वे गन्धधूपाधिवासिते ॥ ४५ ॥
प्रणालभागादपरं स्थानं भद्रासनात्[2] तु वै[3] ।
भूरिनीर[4]घटैः शुद्धं कृत्वा तत्रावतार्य च ॥ ४६ ॥

नित्ये[5] नैमित्तिके विप्र तथा काम्येऽपि पूजने ॥
अन्ततः स्नानभोगानां कुर्यान्नीराजनं विभोः ।
सर्वदोषप्रशान्त्यर्थं सर्वरक्षार्थमेव हि ॥
अलङ्कारासनोक्तानां भोगानामन्ततोऽपि वा ।
उभयत्रापि वा कुर्याद् विभवेच्छा[6]नुसारतः ॥ इति ।
(पा० सं० १५।९९२–९९५)

अस्य[7] नीराजनस्यालङ्कारासनोपचारान्तेऽप्यनुष्ठेयत्वं पुनर्व्यक्तमाम्रेडितं तत्रैव—

यद्वा तत्रापि वै कुम्भं साग्निमल्लकसंयुतम् ॥
धूमायमानं सिद्धार्थैर्भ्रामयेद् दीपवर्जितम् । इति ।
(पा० सं० १५।१०४१–१०४२)

किञ्च, स्नानान्तनीराजनकुम्भस्यार्घ्योदकैः केवलोदकैर्वा पूरणं ज्ञेयम्, "अर्घ्यपात्रोद्धृतैर्यद्वा केवलैर्गालितैः पुनः" (पा० सं० १५।१००८) इत्युक्तेः ॥४२–४४॥

अथाङ्गा[8]भिमर्शनार्थं वस्त्रद्वयसमर्पणं पश्चादन्तरीयोत्तरीयसमर्पणं चाह—सुधौतमिति सार्धेन ॥४४–४५॥

भद्रासनशोधनमाह—प्रणालभागादिति द्वाभ्याम् । प्रणालभागात् "मकरास्यप्रणालं च प्रमाणेनोपलक्षितम्" (२।४९) इति द्वितीयपरिच्छेदोक्तप्रकारेणाभिषेकादिजलनिर्गमनार्थकप्र[9]णालभागविशिष्टादित्यर्थः । भद्रासनात् भद्रपीठात् । अपरं स्थानं भद्रपीठं विना सर्वं गर्भगेह[10]स्थलमपीत्यर्थः । भूरिनीरघटैः शुद्धं कृत्वाऽनेकजलपूर्णकुम्भैः संक्षाल्य । तत्र परिशोधितस्थले सपीठं स्नानपीठस्थितं भगवद्बिम्बमवतार्य संस्थाप्येत्यर्थः । क्षालयेत् भद्रासनमपीत्यनुषज्यते । भद्रासनोपरि भगवद्बिम्बस्थितेस्तद्विना प्रथमं सर्वमपि स्थानं प्रक्षाल्यान्यत्र पीठोपरि बिम्बं संस्थाप्य

१. वस्त्रेण–अटी०, वस्त्रे च–मु० । २. प्रक्षाल–अटी० । ३. सने तु–मु० अटी० । ४. नील–अटी० । ५. नित्य–अ० । ६. वे चानु–अ० । ७. अस्यैव–अ० । ८. 'भिमर्शनार्थं···प्रमाणेनोपलक्षित' नास्ति–अ० । ९. प्रक्षाल–अ० । १०. स्थमपी–अ० ।

सपीठं भगवद्बिम्बं तद्विना वार्चितं यदि ।
खप्लुतं भावयेद् देवं निःशेषं क्षालयेत् पुनः ।। ४७ ।।
भूयो गन्धोदकेनैव पूर्यं कुम्भचतुष्टयम् ।

भद्रासनमपि क्षालयेदिति भावः । तद्विना बिम्बं विना अर्चितं यदि "भद्रपीठभुवो मध्ये सुरुलक्षणे केवले तु वा" (५।१०९) इति पूर्वोक्तप्रकारेण केवलपीठोपर्येवार्चितं चेत्, तदानीं देवं खप्लुतं भावयेत्, आकाशस्थितं ध्यात्वेत्यर्थः । निःशेषं क्षालयेद् देवस्योपरि स्थितत्वाद् एकदैव गर्भगेहस्थानं भद्रपीठमपि क्षालयेदित्यर्थः । भद्रासनोपर्येव भगवदुपवेशेन भावनायां तत्क्षालनासंभवादिति भावः । एवमेवोक्तं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—"[२]भद्रासनं ततः ।। शोधयेत् पूर्णकुम्भैस्तु खप्लुतं भावयेद्धरिम् ।" (३९।१७–१८) इति । एवमर्थवर्णने प्रणालभागादिति विशेषणस्य न किमपि प्रयोजनम्, अतोऽर्थान्तरं वर्ण्यते । तथाहि—भद्रासनात् भद्रासनसंबन्धिन इत्यर्थः । प्रणालभागात् प्रणालाव्यवहितभागादित्यर्थः । अपरस्थानम् अन्य[३]द् भद्रासनस्थानं सर्वमपि संक्षाल्य शोधितस्थले बिम्बमवतार्य प्रणालभागमपि क्षालयेत् । अन्यत् सर्वं पूर्वोक्तमेव । 'स्थानं भद्रासनस्य तु' इति पाठश्चेत्, अयमर्थः स्वरसतमो ज्ञेयः । ईश्वर(४।१६९–१७१)पारमेश्वर—(६।३३८–३४०)योरपीदमेव श्लोकद्वयमुक्तम् । अतः पारमेश्वरव्याख्याने—"तद्विना बिम्बं विना कूर्चदर्पणादिष्वर्चितं यदि पात्रस्थमात्राणामपि खप्लुतमित्येष एव न्याय्यः" इति लिखितम् । तदसंगतम्, कूर्चदर्पणादीनामप्यन्यत्र स्थापनार्हत्वात् ।।४६–४७।।

पुनरर्घ्यादिपरिकल्पनमाह—भूय इति । इह केवलं पुनरर्घ्यादिपरिकल्पनस्योक्तत्वान्मन्त्रासनादौ परिकल्पिताघ्यादिभिरेव स्नानासनेऽप्यर्घ्यादिसमर्पणमिति ज्ञायते । एवमलङ्कारासनादौ कल्पिताघ्यादीनामेव भोग्यासनादिष्व[४]प्युपयोगो ज्ञेयः, तत्र पुनरर्घ्यादिकल्पनोपपत्तेः । अत्र स्नानकुम्भं विनाऽन्येषामर्घ्यादीनां कुम्भचतुष्टयं गन्धोदकेन पूर्यमित्युक्त्या मन्त्रासनादावर्घ्यादिकुम्भपञ्चकस्य स्थापनं सिद्धं भवति ।

ननु तत्र कुम्भचतुष्टयमेवोक्तमिति चेत्, सत्यम् । वयमपि जानीमः । तथापि तत्राष्टादशपरिच्छेदे वक्ष्यमाणं द्वितीयार्घ्यकलशस्थापनमप्यभिप्रेतम्, अन्यथाऽत्र स्नानकुम्भं विना कुम्भचतुष्टयासिद्धेः ।

ननु च संहितावाक्यार्थानभिज्ञोऽसि ! तस्यैवमाशयः—कुम्भचतुष्टयं प्राग्वत् पूर्यमेव, किन्तु स्नानकुम्भं विनाऽन्येषामर्घ्यादीनां[५] त्रयाणामेव कल्पना ओमर्घ्यं कल्पयामीत्याद्याकारिका कार्येति बोध्येति चेन्न, य[६]तः प्र[७]धानस्नानकुम्भपूरणमनु-

१. तम्, यदिह्–अ० । २. 'भद्रासनं ततः' नास्ति–अ० । ३. अन्यत्र–अ० । ४. दिष्वु–अ० । ५. दिना–अ० । ६. यत्–अ० । ७. वृथा–म० ।

स्नानकुम्भं विनान्येषां प्राग्वत् कार्या च कल्पना ॥ ४८ ॥
मध्येऽवतार्यो भगवान् विनिवेद्यासनं ततः ।
तृतीयं रत्नखचितं तत्रस्थं परमेश्वरम् ॥ ४९ ॥
विभाव्यालङ्कृतं भक्त्या भोगैः स्रक्चन्दनादिभिः ।
समभ्यर्च्यार्घ्यपाद्येन पादुकाभ्यामनन्तरम् ॥ ५० ॥
देयमाचमनं भूयः पादपीठं तथैव च ।
समालभ्य सुगन्धेन भक्तितश्चन्दनादिना ॥ ५१ ॥
संवीज्य व्यजनेनैव मायूरेण ततेन च ।
केशप्रसारकृत् कूर्चं पुष्पताम्बूलकर्तरीम् ॥ ५२ ॥

चितम् । किञ्च, ईश्वरपारमेश्वरयोः कण्ठरवेण[1] कुम्भपञ्चकस्य[2] स्थापनं कथयतोरपि "भूयो गन्धोदकेनैव पूर्यं कुम्भचतुष्टयम्" (ई० ४।१७१; पा० ६।३४०) इत्येवोक्तम् । तत्र भवदुक्ताभिप्राये प्रकृते पूर्यं कुम्भपञ्चकमिति वक्तव्यम्, तथा नोक्तम् ।

ननु च किमितीश्वरपारमेश्वराभिप्राये नैयत्यमस्ति, पारमेश्वरे मानसभोगयागप्रकरणे—"हृदाद्याः केसरादिषु" इति वक्तव्यत्वे सिद्धेऽपि "लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु" (पा० ५।१३०) इति जयाख्यवचनमेव (१२।८१) प्रतिपादितम् । तद्वदिहापि किं न स्यादिति चेत्, सत्यम्। तत्र मानसयागप्रकरणे "लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु" (पा० ५।१३०) इत्युक्तावपि बाह्ययागेऽपि हृन्मन्त्रादीनामेवार्चनमुक्तम्, न तथान्यत्र वा कुम्भपञ्चकं पूर्यमिति कुत्राप्युक्तम् ॥४८॥

अथालङ्कारासन[3]समर्पणमाह—मध्येऽवतार्य इति सार्धेन। तत्रस्थं परमेश्वरं स्रक्चन्दनादिभिर्भोगैरलङ्कृतं विभाव्य कृतकृत्यो भवेदिति शेषः। यद्वा अलङ्कृतमित्यत्रालङ्करिष्यमाणमिति भविष्यदर्थकत्वं बोध्यम् ॥४९–५०॥

अलङ्कारासने समर्पणीयानुपचारानाह—समभ्यर्च्यार्घ्यपाद्येनेत्यारभ्य प्रणामैः सप्रदक्षिणैः पूज्य इत्यन्तम् । चन्दनादिनेत्यत्रादिशब्देन कुङ्कुमादिकं गृह्यते । तथा च पारमेश्वरे—"घृष्टकुङ्कुमकस्तूरीमृगस्नेहानुलेपनम्" (६।३४७) इति । वीजनं च आर्द्रगन्धशोषणार्थं[4] ज्ञेयम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—"चन्दनाद्याः सुगन्धाश्च वीजनं[5] शोषणार्थकम्" (३९।२०) इति । केशप्रसादकृत् कूर्चं कङ्कतमित्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—"विवेचनं[6] च केशानां कङ्कतेन प्रशोधनम्" (३९।१९) इति । पुष्पताम्बूल-

---

१. 'कण्ठरवेण' नास्ति–अ० । २. कस्य–अ० । ३. रासमर्पण–अ० । ४. आद्य–म० । ५. व्यजनं–मु० । ६. शनं–अ० ।

निवेद्य देवदेवाय दुकूलवसने सिते ।
उपवीतं सोत्तरीयं मकु[1]टाद्यमनन्तरम् ॥ ५३ ॥
पादनूपुरपर्यन्तमलङ्करणमुत्तमम् ।
विचित्रं हि शिरोमाल्यं मुक्तपुष्पसमन्वितम् ॥ ५४ ॥
स्रग्दामसूत्रसम्बद्धमा कर्णा[2]च्चरणावधि ।
रुचिरं कङ्कणं चाथ दद्यात् प्रतिसरं ततः ॥ ५५ ॥
धातुभिः कुङ्कुमाद्यैर्वा [3]विचित्रं सितसूत्रजम् ।
[4]पूरितं मृदुतूलेन ग्रथितं चान्तरान्तरा ॥ ५६ ॥
अञ्जनं सशलाकं च ताम्बूलं गन्धभावितम् ।
ललाटतिलकं हैमं मुखवासनरोचनम्[5] ॥ ५७ ॥
कर्णावतंसकुसुमे मण्डलं दर्पणं महत् ।
[7]प्राकारं चित्रकुसुमै[6]र्दीप्तं रत्नप्रभोज्ज्वलम् ॥ ५८ ॥

कर्तरीम् । मुक्तपुष्पसमन्वितम्, मुक्तैः अग्रथितैः[8] पुष्पैः सहितमित्यर्थः । पुष्पाञ्जलिसमर्पणसहितमिति यावत् । तथा च पारमेश्वरे—"मुक्तपुष्पं ततो दद्याद् यथाकालसमुद्भवम्" (६।३४९) इति । लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

मकुटाद्या अलङ्काराः प्रदेयाः परमात्मनः[9] ।
स्रजो नानाविधाकाराः सात्त्विकैः कुसुमैश्चिताः ॥
पुष्पाञ्जलिः पदद्वन्द्वे[10] [11]प्राकारसुमनश्चयैः । (३९।२१–२२)इति ।

प्रतिसरं पवित्रमित्यर्थः । धातुभिः गैरिकादिभिः, कुङ्कुमादिभिः कुङ्कुमहरिद्रागोरोचनादिभिरित्यर्थः । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

निशारोचनया वापि पवित्राणां च धातुना ॥
केनचिद् ग्रन्थयो विप्रा[12] विधिवत् परिरञ्जयेद् ।
(ई० सं० १४।२६७–२६८; पा० सं० १२।५००–५०१)

मृदु[13]तूलेनेति हेमरत्नाद्युपलक्षकम्। यतो हेमरत्नादिभिरपि गर्भपूरणमुपबृंहितमीश्वरादिषु । मुखवासं मुखं वास्यतेऽनेनेति मुखवासः । कर्पूरमित्यर्थः । रोचनं गोरोचनसहितम् । प्राकारं चित्रकुसुमैः रत्नप्रभोज्ज्वलं रत्नसदृशनिजप्रभाभासुरमित्यर्थः । अत्र विशेषणान्तराण्यप्युक्तानीश्वरादिषु ग्राह्याणि—

---

१. मुकुटा–मु० । २. करणा–मु०, कण्ठा–उ० । ३. चित्रितं–अ० । ४. पूजितं–मु० अटी० । ५. नाम्–मु० अटी० । ६. सके पुष्पे–बक० बख० अ० उ० । ७. प्रकारं–बक० बख० । ८. सितैः–अ० । ९. परमाद्भुताः–मु० । १०. प्रकारः–अ० म० । ११. सुमश्शृङ्गैः–अ० । १२. विप्र–पा० । १३. दुकूले–अ०, कूले–म० ।

मृष्टधूपसमायुक्तं गुग्गुलं धूपयेच्छुभम् ।
सह घण्टारवै रम्यैश्चाल्यमानेन बाहुना ॥ ५९ ॥
उपानहौ सितं छत्रं शिबिकां च रथादि यत् ।
वाहनं गजपर्यन्तं सपताकं खगध्वजम् ॥ ६० ॥
सितासितौ चामरौ तु मात्रावित्तमनन्तरम् ।
औपचारिकभोगानामेतेषां पूरणाय च ॥ ६१ ॥

प्रभूतैस्तु महाज्वालैस्तिलतैलाज्यपूरितैः ॥
अभुक्ताहतसुश्वेतरचितैर्वर्तिवेष्टितैः ।
ग्रन्थीकृतत्वगेलाद्यैः पूजयेत् तदनन्तरम् ॥ (४।१८३–१८४) इति ।

मृष्टधूपसमायुक्तं [1]कृतधूपेनागर्वादिना वा विमिश्रितमित्यर्थः । कर्पूरमेलनमप्युक्तमीश्वरादिषु—"कर्पूरचूर्णसंमिश्रं सुगन्धि मधुरं बहु (४।१८५) इति । अत्राज्यमिश्रणमपि कार्यम्, "धूपार्थं गुग्गुलुः साज्यो देयश्चाभावतोऽपरः" (२१।३५) इति समयपरिच्छेदे वक्ष्यमाणत्वात् । चाल्यमानेन बाहुना परिकल्पितैरिति शेषः । अत्र दीपधूपयोरुभयत्रापि घण्टानादसहितत्वं बोध्यम् । यतः—"आवाहने[2]ऽर्घ्ये धूपे च दीपे नैवेद्यजोषणे" (३।८३) इतीश्वरादिषूक्तम् । वाहनं सुवर्णादिमयमित्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—"प्रदीपश्च प्रधूपश्च वाहनं चेतनेतरत्[3]" (३९।२४) इति । मात्रावित्तं मीयते परिच्छिद्यते पूर्यत इति मात्रा, [4]मात्रार्थं वित्तं द्रविणम् । औपचारिकभोगानां दृष्ट्यानन्दजनकानां दीपादीनाम्, श्रोत्रानन्दजनकानां स्तुतिवादित्रगीतानां चेत्यर्थः । एत एव भोगा लक्ष्मीतन्त्रे सांदृष्टिकत्वेनाभिमानिकत्वेन च प्रतिपादिताः । तथाहि—

दृष्ट्यैव जन्यते प्रीतिर्यैस्ते सांदृष्टिका मताः ॥
शुभा रूपोल्बणास्ते च दीपप्रवहणादयः ।
भोगाः शुभक[5]रास्तद्वत् तर्पयन्ति रसैर्हि ये ॥
प्रापणाचमनीयाद्यास्ते स्युराभ्यवहारिकाः ।
[6]सुखरम्यमृदुस्पर्शा भोगैर्ये तर्पयन्त्यजम् ॥
भोगाः सांस्पर्शिकास्ते स्युः पाद्यार्घ्यासनपूर्वकाः ।
गन्धाः सांस्पर्शिके केचित् [7]केचिदाभ्यवहारिके ॥
[8]निविष्टा अनिलाद्याः स्युरन्त्याः[9] पाकजगन्धिनः ।
स्तुतिवादित्रगीताद्या भोगाः शब्दमया हि ये ॥
दैन्याञ्जलिपुटाद्याश्च ते स्मृता आभिमानिकाः ।
इत्थं चतुर्विधैर्भोगैः शास्त्रदृष्टेन वर्त्मना ॥ (३६।८७–९२) इति ।

---

१. कृतम्–म० । २. नार्घ्ये–मु०, नेऽर्घ्ये–अ० । ३. तरम्–अ० म०, चेतनेतरत्, वाहनमित्यर्थः । ४. वित्तार्थं द्रवि–अ० । ५. राः शश्वत्–मु० । ६. सुखा रम्या–मु० । ७. क्वचिद–अ०, केचिद–म० । ८. अनिलोमाः–म०, न लोमा–अ० । ९. रस्याः–अ० म० ।

भेरीमृदङ्गशङ्खाद्यैर्जयशब्दसमन्वितैः ।
गीतकैर्विविधैर्नृत्यैस्तन्त्रीवाद्यसमन्वितैः ॥ ६२ ॥

अत्र तु[1] पवित्रोत्सवप्र[2]करणे औपचारिकसांस्पर्शिकाभ्यवहारिकत्वेन भोगत्रैविध्यस्यैव वक्ष्यमाणत्वाद् औपचारिकशब्देनैव लक्ष्मीतन्त्रोक्ताः सांदृष्टिका आभिमानिकाश्च भोगाः संगृह्यन्ते। किञ्चात्र औपचारिकभोगानामिति सांस्पर्शिकानामित्युपलक्षणम्। यतोऽत्र—"सांस्पर्शिकानां भोगानां मात्रावित्तं हि पूरणम्" (१८।३६) इति मात्रावित्तस्य सांस्पर्शिकभोगपूरकत्वमपि वदयति। अत एव पारमेश्वरे—"संपूरणार्थं भोगानां सर्वेषां द्विजसत्तम" (६।३५९) इति मात्रावित्तस्य सर्वभोगपूरकत्वमुपबृंहितम्। अपि च, औपचारिकभोगानां छिद्रपूर[3]कं मात्रान्तरमपि वक्ष्यति पवित्रप्रकरणे—"औपचारिकभोगानां बीजानि विहितानि वै" (१४।७) इति।

एतद्बीजमात्रादानस्य कालस्तु ईश्वरपारमेश्वरयोर्भोज्यासने[4] मधुपर्काङ्गगोमात्रानिवेदनान[5]न्तरमुक्तः। बीजानि च ग्राम्याणि ग्राह्याणि, "मधुपर्कं च गोमात्रा साध्यबीजानि पश्चिमे" (१८।३६५) इति तत्रैव महाहविःप्रकरणे उक्तत्वात्। साध्यबीजानि कर्षणा[6]दिकृतिसाध्यबीजानि[7]। ग्राम्यबीजानीति यावत्। आरण्यकबीजानां कृतिसाध्यत्वाभावादिति भावः। बीजानामलाभे गतिरप्युक्ता पारमेश्वरे—

बीजानामप्यलाभे तु [8]फलमेकं प्रशस्यते।
बीजेष्वेकतमं वापि तत्तत्कालानुरूपतः ॥ (१८।२७) इति।

तत्प्रमाणादिकमपि तत्रैव विस्तरेणोक्तं द्रष्टव्यम्। तण्डुलमात्रापि द्रव्यमात्रानिवेदनसमय एव दातव्या, अन्यत्रानुक्तत्वात्। गोमात्रातिलमात्रयोः कालभेदमत्रैव वक्ष्यति। लक्ष्मीतन्त्रे तु—"मात्राश्च रत्नसंपूर्णा भोगच्छिद्रप्रपूरणाः" (३९।२५) इति बहुवचनोक्त्या द्रव्यमात्रा–तण्डुलमात्रा–बीजमात्रा–तिलमात्राणां चतसृणामपि युगपद्दानमिति ज्ञायते। शालिमात्रायास्तु स्नपनमात्रनियतत्वं प्रतिपादितं पारमेश्वरे—

शालिमात्रा न कर्तव्या यागे स्नपनवर्जिते ॥
अन्या मात्राः प्रकल्प्याः स्युः सर्वस्मिन्नर्चनाविधौ। (१८।२९-३०) इति।

---

१. 'तु' नास्ति–अ०। २. चतुर्दशे परिच्छेदे। ३. पूरक–अ०। ४. भोज्यासनप्रकरणमीश्वरे पञ्चमाध्याये पारमेश्वरे च षष्ठाध्यायसमाप्तौ सप्तमाध्याये च वर्तते। ५. 'निवेदना' नास्ति–अ०। ६. णाकृति–अ०। ७. 'नि। ग्राम्यबीजा' नास्ति–अ०। ८. मुद्ग–नु०।

स्तोत्रमन्त्रैर्नमस्कारैः प्रणामैः सप्रदक्षिणैः ।
पूज्यः सपादपीठं वै दद्याद् भोज्यासनं विभोः ।। ६३ ।।
छन्नं दुकूलतूलोत्थमसूरकवरेण तु ।
अथार्हणजलं स्वच्छं सुगन्धं पात्रतः कृतम् ।। ६४ ।।
मधुपर्कं दधिमधुघृतयुक्तमनन्तरम् ।
शीतलं तर्पणजलमथ चूर्णं पुरोदितम् ।। ६५ ।।

अत एव लक्ष्मीतन्त्रेऽपि स्नानासन एव शालिमात्रा प्रतिपादिता, गोमात्रा तु मधुपर्कानन्तरमुक्ता, पाद्मे तु सर्वा अप्येकदैव प्रतिपादिताः—

तिलान् वस्त्रं तथा हेम ताम्बूलं तण्डुलानपि ।
फलानि गव्यमाधारं गाश्च धान्यं यथा वसु ।।
गोग्रासं देशिकायैतद् दद्याद् देवस्य संनिधौ । इति ।

स्तोत्रमन्त्रैः जितन्ताद्यैरित्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—

स्तोत्रमन्त्रजपं कुर्याज्जितन्ताद्यं महामते ।
व्यस्तं चैव समस्तं च वाक्ययुक्तं विशेषतः ।। (६।३६१)

इति ।। ५०–६३ ।।

अथ भोज्यासनोपचारानाह—सपादपीठमित्यादिभिः । दुकूलतूलोत्थमसूरकवरेण क्षौमाद्याच्छादितदुकूलोत्थितमृद्वास्तरणेनेत्यर्थः । अर्हणजलं मधुपर्काङ्गमापोशनरूपं प्रधानार्घ्योदकं पात्रतः कृतं पृथक्पात्रे प्रणीतमित्यर्थः । तथा च वक्ष्यति दीक्षाधिवासपरिच्छेदे प्रधानार्घ्यविनियोगविवरणप्रकरणे—"तदम्भसा चार्हणं तु तथैव परिषेचनम्" (१८।७१) इति । दधिमधुघृतयुक्तमित्यत्र क्षीरमपि योज्यम्, "नाविकं मधुपर्कार्थे दधिक्षीरादिकं शुभम्" (२१।३७) इति समयपरिच्छेदे वक्ष्यमाणत्वात्, "पयसो मधुनो दध्नः संयोगो मधुपर्ककः" (३९।२७) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेश्च । तर्पणजलं मधुपर्कनिवेदनानन्तरं तृप्त्यर्थं पानीयम् । तदपि प्रधानार्घ्योदकमेव, "कुर्यात् प्रणयनादानम्" (१८।७२) इति प्रधानार्घ्यविनियोगस्य वक्ष्यमाणत्वात् । प्रयणनं पात्रान्तरे सेचनम्, तत्पूर्वकमादानं ग्रहणमित्यर्थः । तथा च व्यक्तमुपबृंहितमीश्वरपारमेश्वरयोः—"तर्पणं संप्रतिष्ठाप्य वासितं चार्घ्यवारिणा" (ई० सं० ५।३; पा० सं० ६।३७६) इति । पुरोदितं चूर्णं स्नानासनोक्तमुद्वर्तनचूर्णमित्यर्थः । निष्पुंसनार्थं हस्तोद्वर्तनार्थम् । गां विनिवेद्य । इदं गोविनिवेदनं मधुपर्कछिद्रसंपूरणार्थमिति ज्ञेयम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

---

१. त्थं–बक० अ०, त्थमधूकप्र–मु० अटी० । २. णं–मु० अटी० बक० बख० । ३. णं च पूजायां–अ० । ४. पत्रतः–मु० अटी० । ५. जलं मधि–मु०, जलमधि–अटी० । ६. तन्त्रे हि–अ० । ७. लपूरित–म० । ८. हर्षण–अ० । ९. नार्घ्यं पा–अ० । १०. 'पात्रे'नास्ति–अ० ।

देयं निष्पुंसनार्थं[1] तु पुनराचमनं विभोः ।
स्वलङ्कृतां सुरूपां च स्रग्युक्तां विनिवेद्य गाम् ॥ ६६ ॥
प्रभूतमथ नैवेद्यं भक्ष्यभोज्यान्यनेकशः ।
मधुराद्या रसाः सर्वे शाकाः सफलमूलकाः ॥ ६७ ॥
पानकानि पवित्राणि स्वादूनि मधुपर्कवत् ।
सर्वमाचमनार्थं[2] तु प्रदद्यादर्हणोदकम्[3] ॥ ६८ ॥

"देयमाचमनं पश्चान्मात्रा [4]गौर्माधुपर्किकी" (३९।३०) इति। एतद्गोमात्रानन्तरं बीजमात्रा[5] विनिवेदनीया। "ओषधीः शालिपूर्वाश्च स्रक्फलाढ्यं वनस्पतिम्। मूर्तं निवेदयेत् पूर्वम्" (ई० सं० ५।७; पा० सं० ६।३७९–३८०) इतीश्वरादिषु प्रतिपादनात्। प्रभूतं प्रचुरमित्यर्थः। नैवेद्यं पायसान्नादिहविरष्टकम्। भक्ष्याणि अपूपानि, भोज्यानि फलानि। तथा च पारमेश्वरे—"भक्ष्याण्यपूपपूर्वाणि भोज्यानि तु फलानि च। लेह्यानि मधुपूर्वाणि चोष्याण्याम्रादिकान्यपि॥ पेयानि क्षीरपूर्वाणि अनुपानान्वितानि च।"(१८।३८६-३८७) इति। मधुराद्या रसा सर्वे इत्यनेन षण्णामपि रसानां भगवन्निवेदनार्हत्वमुक्तं भवति। यद्यपि —

अपक्वव्रीहिविहिततण्डुलेनैव साधितम्।
भक्ष्यं[6] दुग्धाज्यसंसिक्तं गुलखण्डफलान्वितम्।
अक्षारलवणोपेतं देवानां हविरुच्यते॥
(ई० २५।८८–८९; पा० १८।१६४–१६५)

इति मधुररसमात्रस्य देवतार्हत्वमुक्तम्, तथापि व्रतयज्ञादिविषयत्वमात्रं बोध्यम्; अन्यत्र सर्वेषामपि रसानां समर्पणीयत्वोक्तेः। तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

अक्षारलवणं सिद्धं गुलक्षीरफलान्वितम्।
शान्तये[7] व्रतयज्ञे च संसाध्यं हविरुत्तमम्॥ इति।
(ई० २५।९०–९१; पा० १८।१६७)

शाकफलमूलानां[8] ग्राह्याग्राह्यत्वविवेचनं हविःसाधनविधानं पानकादिप्रकल्पनं तत्तन्निवेदनप्रकारादिकं सर्वमीश्वरादिषु[9] विस्तरेणोक्तं द्रष्टव्यम्। सरत्नतिलमात्रा सुवर्णादिपात्रेण निवेदनीया। तथा चेश्वरे—

---

१. त्वत्रापि—त्रक० बख० अ० उ०। २. नान्तं च—अ०। ३. णादिकम्—बक० बख० अ० उ०। ४. गौमाधुपर्किकीम्—अ०। ५. मात्रेऽपि निवे—अ०। ६. गव्य—मु०। ७. शान्तिके—पा०। ८. मूलफलानां—अ०। ९. ईश्वरसंहितायां पञ्चमे पारमेश्वरे च षष्ठसप्तमाध्याययोर्द्रष्टव्यम्।

तिलान्यथ [1]सुरत्नानि ताम्बूलं पुनरेव हि ।
गन्धदिग्धौ करौ कृत्वा मुद्राबन्धमथाचरेत् ।। ६९ ।।
मध्यमानामिकाभ्यां तु द्वन्द्वयुक्तं करद्वयात् ।
पराङ्मुखं च सुस्पष्टं कृत्वा [5]योज्यं परस्परम् ।। ७० ।।
आमूलान्नखपर्यन्तं नैरन्तर्येण यत्नतः ।
समुत्ताने करतले शेषाश्चाङ्गुलस्तथा ।। ७१ ।।
अधरोत्तरयोगेन वामदक्षिणतस्तथा ।
तर्जन्यामूर्ध्वतोऽङ्गुष्ठे सम्मुखे सम्प्रसार्य च ।। ७२ ।।

तिलान्यथ सुरत्नानि सुवर्णे वाथ राजते ।।
पात्रे कृत्वाऽथ मात्रार्थं देवाय विनिवेदयेत् । (५।२२-२३) इति ।

ताम्बूलम्

लवङ्गतक्कोलैलात्वक्कर्पूरपरिभावितम् ।
जातीपूगफलोपेतं ससुगन्धच्छदं बहु ।।
कर्पूरचूर्णसंमिश्रं मुक्ताचूर्णविमिश्रितम् ।
मातुलुङ्गफलोपेतं नालिकेलफलान्वितम् ।।
प्रदद्यात् प्रणतश्चान्ते ताम्बूलं जगतः पतेः ।।
(ई० सं० ५।२३-२५)

इत्युक्तलक्षणं ज्ञेयम् । पूर्वमलङ्कारासने ताम्बूलस्य समर्पितत्वात् पुनरित्युक्तम्।।६३-६९।।

मुद्राबन्धलक्षणमाह—गन्धदिग्धावित्यारभ्य कार्येत्यन्तम् । अत्र हस्तयोर्ग्रन्थ-लेपनात् पूर्वं द्वितीयार्घ्योदकेन हस्तप्रक्षालनं गन्धलेपनानन्तरं तेनैवार्घ्येण हस्तयोः परस्परमर्चनं च कार्यम् । यतः—"मुद्राबन्धे करार्घ्युक्षं तदर्चा क्षालनं तथा" (ई० ३।९६; पा० ६।११७) इतीश्वरपारमेश्वरयोर्द्वितीयार्घ्यविनियोग उक्तः । तथैव मुद्राबन्ध-प्रकरणेऽपि—

प्रक्षाल्य गन्धतोयेन अर्घ्यपात्रोद्धृतेन वै ।
पाणियुग्मं यथा वै स्यात् स्वच्छमत्यन्तनिर्मलम् ।।
नैवेद्यधूपपात्राद्यैः पात्रैश्चानिर्मलीकृतम् ।
कृत्वा सद्गन्धदिग्धौ तावर्घ्येणार्च्य परस्परम् ।।
मुद्रा मूलादिमन्त्राणां दर्शयित्वा यथाक्रमम् ।
(ई० ५।२६-२८; पा० ६।४००-४०२)

---

१. स–अ० । २. तु–अ० । ३. युग्मं–अ० । ४. चैव–अ० । ५. योर्यथा–अ०, योः स्थितः– उ० । ६. र्घ्युक्षां–पा० । ७. मोहात्–अ० । ८. तु–पा० । ९. मुद्रां–ई० ।

निविष्टा हृदयोद्देशे कार्याऽथ जपमाचरेत् ।
स्फाटिकेनाक्षसूत्रेण स्वकैर्वा करपर्वभिः ॥ ७३ ॥
यथाभिमतसंख्यं च जपान्ते स्रग्वरैः सह ।
सम्पूज्य गन्धधूपैश्च ततस्तु भगवन्मयान् ॥ ७४ ॥

इति व्यक्तमुक्तम् । मुद्राबन्धप्रकारस्तु—मध्यमानामिकायुगलं पराङ्मुखं गुम्फयन् आमूलान्नखपर्यन्तं निरन्तरं यथा तथा परस्परं संयोज्य समन्नतयोः करतलयोस्तर्जनीद्वितयं कनिष्ठाद्वितयं चोन्नतयोरग्रयोगेन वामदक्षिणतः कृत्वा तर्जन्यामूर्ध्वतः संमुखेऽङ्गुष्ठे संप्रसार्य इमां मुद्रां हृदये निविष्टां कुर्यात् । एवं व्याख्याता [illegible] ज्ञेयम् ॥६९–७३॥

जपमाह—अथेति । स्फाटिकेनाक्षसूत्रेणेत्यत्राक्षमालाप्रतिष्ठादिकं जयाख्यानुसारेण ईश्वरादिषु प्रतिपादितं द्रष्टव्यम् । स्वकैर्वा करपर्वभिरित्यत्र पाञ्चरात्ररक्षायां (पृ० १०८) विशेष उक्तः—

कनिष्ठामूलमारभ्य प्रादक्षिण्यक्रमेण तु ।
अनामिकान्तं देवेशं जपेत् कोटिसहस्रकम् ॥ (अर्च०, पृ० १९) इति ।

जपस्य वाचिकादिभेदेन फलभेद उक्तो लक्ष्मीतन्त्रे—

वाचिकं क्षुद्रकर्मार्थमुपांशुः सिद्धिकर्मणि ।
मानसो मोक्षलक्ष्मीदो ध्यानात्मा सर्वसिद्धिकृत् ॥ (३९।३५) इति ।

जपान्ते पुनर्भगवदुपचारानाह—स्रग्वरैरिति । बलिप्रदानविधिमाह—तत इति । भगवन्मयान् भागवतानित्यर्थः, पाञ्चरात्रिकानिति यावत् । अत्र बहुवचनेन चत्वारो विवक्षिताः । तथा वक्ष्यति चतुर्दशे परिच्छेदे—"एवमुक्त्वा समभ्यर्च्य चतुरः पाञ्चरात्रिकान्" (१४।३७) इति ।

समभ्यर्च्येत्यत्रार्घ्यगन्धपुष्पधूपैरिति बोध्यम् । तथा चोक्तं पारमेश्वरे—"अर्घ्यालम्भनपुष्पैश्च धूपेनाभ्यर्च्य वै ततः" इति । नैवेद्यं प्रतिपाद्य चतुर्धा विभक्तेष्वेकं भागं दद्यादित्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—

१. [illegible]—मु० [illegible] । २. [illegible]—मु० । ३. नामरोगर—म० । ४. 'अथेति' नास्ति—अ० । ५. [illegible] पञ्चमाध्यायारम्भे पारमेश्वरसंहिताया च [illegible] विषयोऽयं प्रतिपादितः । ६. 'प्रतिपादितं' नास्ति—अ० । ७. पञ्च—म० । ८. 'स्रग्वरैरिति' नास्ति—अ० । ९. [illegible]प्रधान—अ० ।

यथाक्रमं समभ्यर्च्य नैवेद्यं प्रतिपाद्य च ।
तेषां मात्रावसानं चाप्यग्नौ सन्तर्पयेत्[3] ततः ।। ७५ ।।

प्राङ्निवेदनकाले तु चतुर्धा संविभज्य तम् ।
प्रापणं मधुपर्काद्यमन्यच्चाभ्यवहारिकम् ।।
तेभ्यो दद्यादेकभागमर्घ्योदकपुरस्सरम्[1] । इति ।

मात्रावसानं मात्रादानान्तमित्यर्थः । तथा च तत्रैव—"[2]मात्रां चतुर्विधां चापि आचार्याय प्रदापयेत्" । चतुर्विधां शालितण्डुलबीजतिलभेदभिन्नामित्यर्थः । आदौ भगवन्निवेदितानामेव मात्राद्रव्याणाम्, इदानीं भागवतेभ्यः प्रदानं पार्थक्येनेति बोध्यम् । भगवन्निवेदनसमय एव आचार्याय मात्रादाने कृते पुनरिदानीं मास्त्वित्युक्तमीश्वरे—

यद्वेभ्यो देवयज्ञान्ते तन्मात्रान्तं प्रदाय तु ।
अस्मिन् कालेऽर्हणाद्यं तु ताम्बूलान्तं निवेदयेत् ।। (५।४५) इति ।

एवंकारिणां पूजनमपि भगवदर्चनवद् भगवन्मन्त्रैरेव कार्यम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

ततो गुरून् समानीय मन्मयान् वापि वैष्णवान् ।
प्रदद्यात् प्रापणार्थं तु तेभ्यो मन्मन्त्रमुच्चरन् ।। (४०।२९-३०) इति ।

एवंकारिप्रदानस्य पञ्चमाङ्गत्वमुक्तं जयाख्ये—

अन्तःकरणयागादि यावदात्मनिवेदनम् ।।
तदाद्यमङ्गं [4]यागस्य नाम्नाऽभिगमनं महत् ।
पूजनं चार्घ्यपुष्पाद्यैर्भोगैर्यदखिलं मुने ।।
बाह्योपचारैस्तद्विद्धि भोगसंज्ञं तु नारद ।
मध्वाज्याक्तेन दध्ना च पूजा च पशुना[5] च या ।।
तत्तृतीयं हि यागाङ्गं तुर्यमन्नेन पूजनम् ।
निवेदितस्य यद्दानं पूर्वोक्तविधिना मुने ।।
संप्रदानं तु तन्नाम[6] यागाङ्गं पञ्चमं स्मृतम् ।
वह्निसंतर्पणं षष्ठं पितृयागस्तु सप्तमः ।।
प्राणाग्निहवनं नाम्ना अनुयागस्तदष्टमम् । (२२।७५-८०)

इति ।। ७३-७५ ।।

---

१. दत्वा एकपाद-अ० । २. मात्रा चतुर्विधान्तापि-अ० । ३. समर्पयेत्-ई० । ४. योगस्येत्युभयमातृकापाठः । ५. नाऽपि वा-मु० । ६. यन्नाम-अ० ।

प्रमाणपरिशुद्धं च विभ[1]वानुगुणं शुभम् ।
चतुरावरणं कुण्[2]डं कृत्[3]वाऽङ्गुष्ठविभूषितम् ॥ ७६ ॥
त्र्यंशेना[4]र्धांशतो वापि खाताद् व्या[5]सो विधीयते ।
च[6]क्रशङ्खाम्बुजाकारं वृत्तं वा चतुरश्रकम् ॥ ७७ ॥
गदाद्यैश्चक्रपर्यन्तैर्ला[7]ञ्छनैर्लाञ्छितं तु वा ।
अग्निकार्योपयोगीनि[8] तानि यानि महामते ॥ ७८ ॥
स्रुक्स्रुवादीनि भाण्डानि त्वङ्कितव्यानि तैरपि ।
सुधाद्यैर्वर्णकैः शुद्धैर्भूषयित्वोपलिप्य च ॥ ७९ ॥
सुगन्धैश्च[9]न्दनाद्यैश्च पञ्चगव्यपुरस्सरैः ।
तन्मध्ये च कुशाग्रेण प्राग्भागमवलम्ब्य च ॥ ८० ॥
आरभ्य दक्षिणाशाया लिखेल्लेखामुदग्गताम् ।
तस्यामुपरि संलिख्य लेखानां त्रितयं स्फुटम् ॥ ८१ ॥
प्रागग्रं दक्षिणाशादि ह्युदीच्यन्तं च सान्तरम् ।
चतुर्धा प्रणवेनाथ प्रोक्षयेदर्घ्यवारिणा ॥ ८२ ॥

अथ षष्ठमङ्गं वह्निसंतर्पणं निरूपयन्नादौ कुण्डलक्षणमाह—प्रमाणपरिशुद्धमिति सार्धद्वाभ्याम् ॥७६–७८॥

कुण्डवत् स्रुक्स्रुवादिपात्राणामपि चक्रशङ्खादिभगवल्लाञ्छनं कार्यमित्याह—अग्निकार्येति । कुण्डोल्लेखनादिकमाह—सुधाद्यैरिति । अत्रापेक्षिताः पुष्पताडनाद्यष्टविधकुण्डसंस्कारा [10]जयाख्योक्ता ईश्वरपारमेश्वरयोः संगृहीता ग्राह्याः ॥७८–८०॥

कुण्डमध्ये कुशाग्रेण प्राग्भागदक्षिणादि उत्तरान्तमेकामर्गलरेखां लिखेदित्याह—तन्मध्य इति । तदुपरि दक्षिणाद्युत्तरान्तं सान्तरालं प्रागग्रं रेखात्रयं कुर्यादित्याह—तस्यामिति । तद्रेखात्रयस्य सुषुम्नापिङ्गलेडादेवताकत्वमुक्तमीश्वर(५।६७–६८)-पारमेश्वर(७।२९)योर्ग्राह्यम् ॥८०–८२॥

१. विभा—उ० । २. कुम्भं—उ० । ३. ह्येद—बक०, ह्योप—बख०, नाभ्यष्ट—अ०, भ्योष्ट—उ० । ४. र्धो नवांशेन—बक० बख०, द्विनवांशेन—अ० । ५. द्वासो—मु० अटी० । ६. शङ्खचक्रा—बक० । ७. न्तला—मु० अटी० । ८. ग्यानि—बक० बख० उ० । ९. न्धच—मु० अटी० । १०. जयाख्यसंहितायां पञ्चदशे पटले प्रतिपादिता एते संस्कारा ईश्वरसंहितायां पञ्चमेऽध्याये पारमेश्वरसंहितायां च सप्तमाध्यायारम्भे संगृहीताः ।

तदभ्यर्च्यार्घ्यपुष्पाद्यैर्ध्यायेत् तद् भद्रपीठवत्[1]।
प्रणवैस्तु प्रतिष्ठानं प्राग्वदस्य समाचरेत् ॥ ८३ ॥
चतुरश्रे स्थले कौण्डे[2] दिग्विदिगष्टके[3] बहिः।
सम्पूर्णपात्रं कुम्भानामष्टकं विनिवेश्य च ॥ ८४ ॥
ऊर्ध्वाधो मेखलानां च चतुर्णां[4] दिक्चतुष्टये।
कौशेयविष्टरस्थांश्च वासुदेवादिकान् यजेत् ॥ ८५ ॥
विदिक्ष्वपर्ययोगेन[5] ह्यूर्ध्वान्तमधरात् तु वै।
तद्वद्देवार्घ्यपुष्पाद्यैः पूजनीयाः क्रमेण तु[6] ॥ ८६ ॥
मृदुदर्भसमूहं च नीरसं[7] चाश्मकुट्टिमम्।
शुष्कगोमयचूर्णेन युक्तं गन्धाश्मना सह[8] ॥ ८७ ॥
कुण्डे द्रोणांशमात्रं तु समारोप्य प्रसार्य च।
ताम्रपात्रेऽथवाऽन्यस्मिन् समादाय हुताशनम् ॥ ८८ ॥

प्रणवेनार्घ्यवारिणा चतुर्धा प्रोक्षणम्, प्रणवेन पुष्पैरभ्यर्चनम्, कुण्डमध्यस्य भद्रपीठवद् ध्यान चाह—चतुर्धेति सार्धेन ॥८२-८३॥

कुण्डस्याष्टदिक्षु पूर्णकुम्भाष्टकस्थापनमाह—चतुरश्र इति ॥८४॥

कुण्डस्य बहिः प्रागादिचतुर्दिक्षु मेखलास्थकुशकूर्चेषु ऊर्ध्वाद्यधरान्तं प्रभवक्रमेण वासुदेवादीनामर्चनम्, तथैवाग्नेयादिविदिक्ष्वप्ययक्रमेणाधराद्यूर्ध्वान्तमनिरुद्धादीनामर्चनं चाह—ऊर्ध्वाध इति द्वाभ्याम्। एवं द्वात्रिंशत्कुशकूर्चेष्वर्चनं चतुर्मेखलकुण्डमात्रविषयकम्, अन्यत्रैवमनवकाशात्। अत्र विदिक्ष्वप्ययक्रमेणानिरुद्धादीनामर्चने ॐ पुरुषाय नमः, ॐ सत्याय नमः, ॐ अच्युताय नमः, ॐ भगवते वासुदेवाय नम इति पूर्वोक्तमन्त्रचतुष्टयं ज्ञेयम्,

अप्ययावसरे प्राप्ते स्मरणे चार्चने विभोः।
शृणु मन्त्रचतुष्कं तु पुनरन्यत् समासतः ॥ (५।६८-६९)

इत्युक्तेः। प्रभवक्रमेणार्चने जाग्रद्व्यूहमन्त्रचतुष्टयं जागर्त्येव[9] ॥८५-८६॥

कुण्डे शीघ्रमग्निप्रज्वालनसाधनदर्भचूर्णादिप्रक्षेपमाह—मृदुदर्भेति सार्धेन। गन्धाश्मना गन्धकेन, "गन्धाश्मनि तु गन्धकः" (२।९।१०२) इत्यमरः ॥८७-८८॥

---

१. तदर्घ्यं गन्ध—अ०। २. कुण्डे—बक० बख०। ३. दिशि दिश्य—बक०बख० अ० उ०, दिग्विदिशा—मु०। ४. प्यथ—मु०। ५. तू—अ० उ०। ६. वै—उ०। ७. तम्—अ०। ८. गन्धम्मनासहा—मु०, क्तगन्धात्मना—अटी०। ९. व्यूहे—म०।

आरण्यं लौकिकं वाथ मणिजं दर्पणोद्भवम् ।
कालवैश्वानराख्यस्य हृदयेशस्य वै प्रभोः[1] ॥ ८९ ॥
मारुतानुगता भासा योज्या बाह्याग्निना सह ।

अग्न्यानयनमाह—ताम्रपात्र इति । आरण्यं अर(ण्य?णि)संभवमित्यर्थः । अरणिनिर्मथनप्रकार उक्तो लक्ष्मीतन्त्रे—

ध्यायेत् सर्वात्मिकां शक्तिं तामेव त्वधरारणिम् ।
उत्तरं चारणिं ध्यायेत् सर्वतेजोमयं हरिम् ॥
मथ्नीयात् तारया सम्यक् तथा चैवानुतारया । (४०।४१–४२) इति ।

एवमरणिजनितस्याग्नेरिदमेव जातकर्मेति ज्ञेयम् । इतः परं नामाद्यग्निसंस्काराः कार्याः, मणिजाद्यग्निस्तु गर्भाधानादिभिरेव संस्कार्यः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

लोहपाषाणमण्युत्थवह्नौ कार्यवशात् कृते ।
लौकिके वापि संस्कारं निषेकादि समाचरेत् ॥ (४०।४६) इति ।

अग्नेर्निषेकादिसंस्कारविधानं तु श्रीजयाख्यानुसारेणेश्वरपारमेश्वरयोः[2] प्रतिपादितम् । तदर्थं कुण्डमध्ये लक्ष्म्यावाहनादिकमप्युक्तम्, अन्येऽपि बहवो विशेषास्तत्र तत्रापेक्षितास्तयोरेव संगृहीता ग्राह्याः ॥ ८९ ॥

स्वहृदयस्थितभगवत्तेजसः पात्रस्थाग्निना संयोजनमाह—कालेति । प्रसिद्धं[3] हि कालवैश्वानराख्यत्वं भगवतः । तथा च पौष्करे विष्वक्सेनार्चनप्रकरणे—

कालवैश्वानराख्या या मूर्तिस्तुर्यात्मनो[4] विभोः ।
स एव द्विज देवो[5] हि विष्वक्सेनः प्रकीर्तितः ॥
स्थित आहवनीयादिभेदेन मखयाजिनाम् ।
ऋक्पूतं[6] हुतमादाय तर्पयत्यखिलं जगत् ॥ (२०।५४–५५) इति ।

मारुतानुगता मारुतो रेचकरूप इत्यर्थः । मन्त्र एव मारुत इत्यर्थः, उभयथाप्युक्तमीश्वरादिषु[7]—"मन्त्रानिलकराकृष्टं कृत्वा तस्माद्विनिर्गतम्" (५।८६) इति, "विरेच्य[8] विन्यसेत् तस्मिन् वह्निपात्रे पुरार्चिते" (५।८७) इति । भासा तेजस्संज्ञो भगवतः षष्ठो गुण इत्यर्थः । तथा वक्ष्यति नृसिंहकल्पपरिच्छेदे—

व्यस्तो गुणगणात् षष्ठस्तेजो नाम गुणो हि यः ॥
परस्य ब्रह्मणः सोऽयं सामान्यं सर्वतेजसाम् ।
ध्यात्वैवं नेत्रमन्त्रेण निक्षिपेत् कुण्डमध्यतः ॥ (१७।१११–११२) इति ॥९०॥

१. विभोः—बक० बख० अ० उ० । २. जयाख्यसंहितायां पञ्चदशे पटले प्रतिपादिता एते संस्कारा ईश्वरसंहितायां पञ्चमेऽध्याये पारमेश्वरसंहितायां च सप्तमाध्याये द्रष्टव्याः । ३. प्रसिद्धमिति—अ० । ४. त्मना—अ० । ५. वः स्याद्—मु० । ६. पतितमित्यशोभनः पाठः—मु० । ७. आदिना पारमेश्वर(७।४७–४८)परिग्रहः । ८. विरोच्य—म० ।

भ्रामयित्वा चतुर्धा वै ततः कुण्डान्तरे क्षिपेत् ॥ ९० ॥
पूतं समिच्चतुष्कं तु प्रणवै[1]रभिमन्त्रितम् ।
दत्वा तदूर्ध्वे तदनु कुर्यात् परिसमूहनम् ॥ ९१ ॥
प्रदक्षिणक्रमेणैव ह्यार्द्रपाणितलेन तु ।
तिर्यक्[2] चाधोमुखस्तेन [3]नखपृष्ठमदर्शयन् ॥ ९२ ॥
ततस्त्वभग्नमूलाग्रैः समैर्दद्यात् कुशैः स्तरम् ।
दिशि दिश्युत्तराशान्तं याम्याशादौ तु [4]सान्तरम् ॥ ९३ ॥
चतुर्गुणैश्चतुर्धा तु [5]अग्रच्छन्नैः परस्परम् ।
प्राक्प्रान्तैः पूर्वभागाच्च यावदुत्तरगोचरम् ॥ ९४ ॥

कुण्डेऽग्निस्थापनं तदूर्ध्वे प्रज्वालनार्थं समिच्चतुष्कप्रक्षेपं चाह—भ्रामयित्वेति । अत्र समिच्चतुष्कमिति याज्ञीयेन्धनानामुपलक्षणम् । तथा वक्ष्यति सप्तदशे परिच्छेदे—"पावनैरिन्धनैः शुष्कैः कृत्वा निर्धूममेव तम्" (१७।११३) । परिसमूहनमाह—तदन्विति । परिसमूहनं नाम कुण्डमध्ये विशकलितानामग्नीनां पुञ्जीकरणम् ॥ ९०–९२ ॥

परिस्तरणमाह—तत इति द्वाभ्याम् । अभग्नमूलाग्रैः समैः कुशैर्दिशि दिशि स्तरं परिस्तरणं दद्यादिति सामान्यमुक्तम् । याम्याशादौ तु उत्तराशान्तं दिक्त्रये च[6] क्रमेण चतुर्भिश्चतुर्भिः सान्तरम् अन्तरसहितं स्तरं दद्यादिति विशेष उक्तः । अत्र याम्यादित्रये चतुर्धा सान्तरालपरिस्तरणकथनं द्वन्द्वप्रसङ्गेन करिष्यमाण[7]पात्रासादनार्थमिति ज्ञेयम् । दक्षिणादित्रय एव द्वन्द्वक्रमेणासादनस्य वक्ष्यमाणत्वात् प्राग्दिशि तथा[8]सादनाभावान्निरन्तरालमेव षोडशदर्भैः परिस्तरणमिति च बोध्यम् ।

अत्र प्राक्प्रान्तैरित्यनेन पूर्वपश्चिमपरिस्तरणानां[9]मुत्तराग्रत्वमप्युपलक्ष्यते । दिशि दिशि स्तरं दद्यादिति पूर्वं सामान्यत उक्तत्वात् पुनः पूर्वभागाच्च यावदुत्तरगोचरमिति विशेषः प्रदर्शितः । एत एव श्लोका बहुशः [10]पारमेश्वरादिषु प्रतिपादिताः ।

अत्र पारमेश्वरव्याख्याने—"याम्याशादौ तु वा इति विकल्पः" इत्युक्तम् । तद्बुद्धिविकल्प एव, तथा पाठवर्णनेऽन्तरपदस्यागतिकत्वात्, [11]प्राग्भागेऽपि वृथा चतुर्धा परिस्तरणप्रसक्तेः, पूर्वभागाच्च यावदुत्तरगोचरमित्यस्य पौनरुक्त्यापत्तेश्च ॥ ९३–९४ ॥

---

१. रथ–अ० उ० । २. कुर्यात्–ग्रक० बख० । ३. प्रष्ठ–मु०, पृष्ठं विमर्शयन्–अटी० । ४. सादरम्–उ० । ५. मग्न–म० । ६. चक्रश्वभ्रैः–अ० । ७. पात्रसाधना–अ० । ८. साधया–अ० । ९. 'मुक्ताद्युपयुक्तकूर्चः कौशेयं धूतकेशं कुण्डशोधनोपयुक्तः कुशकूर्चो विष्टरं 'प्रागादिकलशार्चनप्रणीतासंस्कारादिरूप' इति पाठोऽड्यारपुस्तके 'णाना'''मुत्तरा' इत्यस्य मध्ये दृश्यते । स चात्रानावश्यकः ७७ श्लोकव्याख्यायां संशोध्य स्थापनीयः । १०. ईश्वरे पञ्चमाध्याये पारमेश्वरे च सप्तमाध्याये । ११. प्रागभावेऽपि–म० ।

होमोपकरणं सर्वं होमभाण्डपुरस्सरम् ।
अवतार्य तदूर्ध्वे तु दक्षिणस्यां तथात्मनः ॥ ९५ ॥
द्वन्द्वद्वयप्रयोगेण द्रव्यस्थापनमाचरेत् ।
द्विरष्टसंख्यमिध्मं तु संयुक्तं च महामते ॥ ९६ ॥
द्वितीयेनाष्टसंख्येन मुक्तदर्भैस्तरण्डिकाम् ।
स्रुक्स्रुवौ च चतुष्कं यदेकत्र विनिवेश्य तत् ॥ ९७ ॥
स्रग् धूपं मधुपर्कं च बीजान्येकत्र वै ततः ।
कौशेयं धूतकेशं तु विष्टरं च घृतं चरुम् ॥ ९८ ॥
आज्यस्थालीचतुष्कं च निधाय तदनन्तरम् ।
प्रणीतापात्रयुगलं करकं चार्घ्यभाजनम् ॥ ९९ ॥
चतुष्कमेतदपरमग्रतो विनिवेश्य च ।
प्रादेशमात्राः समिधः प्रभूतं शुष्कमिन्धनम् ॥१००॥
पक्ष्मकं स्वेदहृद्वस्त्रं वामभागे निधाय च ।
अर्घ्यपात्रोदकेन प्राक् कृत्स्नं पावनतां नयेत् ॥१०१॥

अथ परिस्तरणोपरि होमोपकरणसंनिधापनमाह—होमेति । होमभाण्डपुरस्सरं स्रुक्स्रुवपुरस्सरमित्यर्थः । "स्रुक्स्रुवादीनि भाण्डानि" (६।७९) इति पूर्वमेवोक्तत्वात् । प्रथमं दक्षिणपरिस्तरणे आसादनक्रममाह—दक्षिणस्यामित्यादिभिः । मुक्तदर्भैः कूर्चादिरूपेणाग्रथितैः, केवलकुशैरित्यर्थः । तैरुपलक्षिता तरण्डिका । स्रुक्स्रुवरजोमार्जनशोधनाद्युपयुक्तः कूर्चः । कौशेयं धूतकेशम् । कुण्डशोधनोपयुक्तः कुशः कूर्चः । विष्टरं प्रागादिकलशार्चनप्रणीतासंस्काराद्युपयुक्तकूर्चम् ॥ ९५–९९ ॥

पश्चिमपरिस्तरणोपर्यासाद्यद्रव्याण्याह—प्रणीतेति । उत्तरपरिस्तरणे आसनान्याह—प्रादेशमात्रा इति । पक्ष्मकं(वक्ष्य?पक्ष्य)तेऽग्निप्रज्वालनार्थं परिगृह्यत इति पक्ष्मकं व्यजनमित्यर्थः । 'पक्ष परिग्रहे'(चु० १७)इति धातोः । पारमेश्वरव्याख्याने पक्ष्मकं सूक्ष्ममिति स्वेदहृद्वस्त्रविशेषणं कृतम्, तदसंगतम्, द्वन्द्वक्रमेणासादनासंभवात् । क्वचित् पारमेश्वरप्रयोगे समस्तपदभ्रान्त्या पक्ष्मस्थं कं बाष्पमित्यभिप्रायेण बाष्पस्वेदहृद्वस्त्रद्वयमिति लिखितम्, तदपि विरुद्धम्, दीक्षापरिच्छेदे—

१. स्रुग्—सार्वत्रिकः पाठः । २. धूमं—मु० । ३. धौत—मु० बक० बख० । ४. स्थालीं—मु० अ० उ० । ५. तत्—उ० । ६. पूर्वमुक्त—अ० । ७. तद्रूप—अ० । ८. 'मार्जनशोधककूर्चमाह' इत्येव पाठः—अ०, ९० पृष्ठस्थ ९ संख्याकटिप्पणीस्थः पाठोऽत्र संशोध्य मूले स्थापितो म० मातृकानुसारम् । ९. स्रज्या—अ० ।

आदाय सोदकं चाथ प्रणीताख्यं च भाजनम् ।
पवित्रकं तु तन्मध्ये चतुर्दर्भकृतं न्यसेत् ॥१०२॥
उद्धृत्योद्धृत्य हस्तेन जलं तत्रैव [1]निक्षिपेत् ।
चातुरात्मीयं मन्त्रं च जपमानो हि साधकः ॥१०३॥
भूयस्तदम्भसा सर्वं प्रोक्षयेद् विष्टरेण तु ।
शेषस्या[2]स्रावणं कुर्यात् सर्वदिक्षु [3]स्तरोपरि ॥१०४॥
पुनरेवाम्भसाऽऽपूर्य तन्मध्ये परमेश्वरम् ।
ध्यात्वाऽर्चयित्वा संस्थाप्य त्वग्रतस्तदनन्तरम् ॥१०५॥
सम्प्रोक्ष्याघ्यांम्भसा चेध्मा[4]ंश्चतुर्धा संविभज्य च ।

प्रागुक्तं स्रुक्स्रुवाद्यं च होमोपकरणं च यत् ॥
सर्वं पक्ष्मकपर्यन्तं बृहत्पात्रद्वयान्वितम् । (१८।४६-४७)

इति वक्ष्यमाणत्वात् । किञ्च, पारमेश्वरव्याख्यायामासादनविषये—"अत्रैवं विवेकः" इति प्रक्रम्य स्वच्छन्दमासादनमुक्तम् । तदविवेकोत्थापितम्, यतस्तत्र दक्षिणपरिस्तरणोपरि परिध्यादीनां स्रु[5]गादीनां धूतकेशादीनां चतुर्णां च[6]तुर्णामासादनम्, अतः स्वाग्रतः पश्चिमपरिस्तरणोपरि प्रणीतादीनां चतुर्णामासादनम्, उत्तरपरिस्तरणोपरि समिदादीनां चासादनं कार्यमित्यर्थः सुस्पष्टमुपलभ्यते । आसादितानां प्रोक्षणमाह—अर्घ्येति । अस्मिन्नवसरे कुण्डस्य चतुर्दिक्षु परिधिस्थापनं कार्यम्, "[7]पलाशपूर्वाः समिधः साग्राः परिधयस्तु वै" (१८।४५) इत्यष्टादशपरिच्छेदे परिधीनां वक्ष्यमाणत्वात् । "चतस्रो वै परिधयः शिखामन्त्रेण पूजयेत्" (५।१०२) इतीश्वराद्युपबृंहितत्वाच्च । एवं परिधिन्यासानन्तरं प्रागादिषु कुम्भेषु कूर्चन्यासपूर्वकमिन्द्राद्यर्चनं च कार्यम्,

विष्टराणि ततो दद्याद् हृदा कुम्भाष्टके ततः ।
तेषु क्रमात् पूजयेच्च लोकपालान् स्वदिक्स्थितान् ॥ (५।१०३)

इतीश्वरोक्तेः । जयाख्यपारमेश्वरयोः परितः कुम्भानां केवलकूर्चेष्वेव लोकपालार्चनमुक्तम् ॥९९-१०१॥

प्रणीतासंस्कार[8]विधिमाह—आदायेति चतुर्भिः । चातुरात्मीयं मन्त्रं पूर्वोक्तं वासुदेवादिमन्त्रचतुष्टयमित्यर्थः ॥१०२-१०५॥

इध्मप्रक्षेपणमाह—संप्रोक्ष्येति । द्वादशाक्षरविद्यया व्यापकद्वादशाक्षरमन्त्रे-

१. च—मु० अटी० । २. स्य स्रा-बक० बख० । ३. ततो—अटी०, स्वको—उ० । ४. चोध्वौं—बक० बख०, वेद्या च—उ० । ५. स्रुगा—म० । ६. 'चतुर्णाम्' नास्ति—अ० । ७. पालाश—म० मु० । ८. रमाह—म० ।

पूजयेदर्घ्यपुष्पाभ्यां द्वादशाक्षरविद्यया ॥१०६॥
प्रणीते चापरस्मिन् वै पात्रे चाग्रे कृते सति ।
[1]सपवित्रं तु तत्रार्घ्यं दत्वा चक्रं तु विन्यसेत् ॥१०७॥
चतुर्मूर्तिं तदूर्ध्वे तु ध्यात्वाऽभ्य[2]र्च्य यथाक्रमम् ।
तत्पात्रमुत्तरस्यां च कृत्वा सम्पूज्य वै पुनः ॥१०८॥
आज्यस्थालीमथादाय त्वाज्यं यत्प्राग् द्रवीकृतम् ।
विनिक्षिप्याज्यभा[3]ण्डान्तमुच्चस्थेन करेण तु ॥१०९॥
पुन[4]रादाय कृत्वाग्र आधारोपरि यत्नतः ।
दार्भं[5] काण्डचतुष्कं तु द्वादशाङ्गुलसम्मितम् ॥११०॥
तिर्यगुत्तानपाणिभ्यामवष्टभ्य च सान्तरम् ।
अनामाङ्गुष्ठयुग्मेन यथा मध्यं नतं भवेत् ॥१११॥
तैराज्यं चतुरो वारानानयेच्चतुरुन्नयेत् ।
अन्तरान्तरयोगेन ह्यात्मनोऽग्नेस्तु सम्मुखम् ॥११२॥
प्रणवेनोक्त[5]संख्येन कुण्डमध्येऽथ[6] निक्षिपेत् ।

णेत्यर्थः ॥१०६॥

अन्यप्रणीतासंस्कारमाह—प्रणीत इति द्वाभ्याम् ॥१०७–१०८॥

आज्यसंस्कारमाह—आज्यस्थालीमिति सार्धैश्चतुर्भिः । अत्र द्रवीकृतमाज्यमाज्यस्थाल्यां विनिक्षिप्येत्यनेन जयाख्योक्तदशविधाज्यसंस्कारेषु—"उपाधिश्रयणं नाम य[7]दाद्रावणमुच्यते । परिवर्तनमन्यस्मिन् भाण्डे दोषाप[8]नुत्तये ॥ प्रसादीकरणं ह्येतत्" (१५।११७–११८) इत्युक्तसंस्कारद्वयमुक्तं भवति । तैराज्यं चतुरो वारान् आनयेच्चतुरुन्नयेदित्यनेन—

नयेत्तच्चानयेद्विप्र [9]प्रतपाग्नौ क्षिपेत् कुशम् ।
संप्लवोत्प्लवनावेतौ संस्कारौ परिकीर्तितौ ॥ (ज्या० १५।११६)

इत्युक्तसंस्कारद्वयं चोक्तं भवति । अन्ये षड्विधसंस्काराश्च जयाख्योक्ता[10] ईश्वरतन्त्रे संगृहीता ग्राह्याः । उक्तसंख्यानप्रणवेन अष्टवारेणेत्यर्थः । चतुरो वारानानयेत्, चतुरुन्नयेदित्युक्तत्वात् ॥१०९–११३॥

---

१. सपात्रं तु तदत्रार्घ्यं—अ० उ० । २. न्यत्र—उ० । ३. भाण्डेन तूच्च—अ०, आण्डेन उच्च—उ० । ४. राधाय—मु० अटी० । ५. वोक्तेन—मु० अ० उ० । ६. तु—अ०, च—उ० । ७. आद्रा—अ०, यत्तद्—मु० । ८. दोषपुनत्तये—अ० । ९. प्रतापा—म०, तमग्नौ नि—मु० । १०. जयाख्यसंहितायां पञ्चदशे पटलेऽत्रैवोक्ता ईश्वरसंहितायां पञ्चमेऽध्याये द्रष्टव्याः ।

स्रुक्स्रुवावथ चादाय दर्भ[1]पुञ्जीलकेन तु ॥११३॥
रजोपनयनं कुर्यात् प्रक्षाल्योष्णेन वारिणा ।
निर्मलीकृत्य कूर्चेन ज्वालाभिः सम्प्रताप्य च ॥११४॥
प्रोक्षयित्वाऽर्घ्यतोयेन पूजयित्वा निधाय च ।
बहुशाखैरभग्नाग्रैः समूलैः सुसमैः कुशैः ॥११५॥
चतुर्भिर्वामहस्तेन त्वादायाथ पवित्रकम् ।
दक्षिणे[2]नामिकायां तु चतुष्काण्डविनिर्मितम् ॥११६॥
अङ्गुलीयक[3]रूपं च कृत्वा वै तदनन्तरम् ।
संस्कृता[4]ज्यस्य विप्रुड्भिः संस्पृशेदिन्धनादिकम् ॥११७॥
निःशेषदोषशान्त्यर्थमथाग्नेराहृतस्य च ।
शतं शतार्धं पादं वा त्वाहुतीनां स्वशक्तितः ॥११८॥
तिलानां घृतसिक्तानां शुद्धेन हविषा सह ।
होतव्यं कर्मसिद्ध्यर्थं यथा तदवधारय ॥११९॥
आहुत्यामुद्धृतायां च मूलमन्त्रावसानतः ।
प्रणवान्तं पदं ब्रूयादग्निं शोधय शोधय ॥१२०॥

स्रुक्स्रुवसंस्कारमाह—स्रुक्स्रुवाविति द्वाभ्याम् । पूजयित्वेत्यत्र स्रुक्स्रुवाधिदेवतास्तन्मन्त्राश्च जयाख्योक्ता ईश्वरपारमेश्वरयोरेव संगृहीताः ॥११३–११५॥

अथ वामहस्ते वलयपवित्रधारणं दक्षिणानामिकायां पवित्रधारणं चाह—बहुशाखैरिति द्वाभ्याम् । पवित्रलक्षणं तु पारमेश्वरे—

चतुरङ्गुलमात्रं[5] तु सदा विष्णवधिदैवतम् ।
महाविष्णवधिदैवस्तु ग्रन्थिरेकाङ्गुलो भवेत् ॥
विष्णवधिदैवं वलयं द्वयमङ्गुलमुच्यते । (३।२२–२३) इति ।

समिदादिषु संस्कृताज्यसेचनमाह—संस्कृतेति । विप्रुड्भिः बिन्दुभिरित्यर्थः ॥ ११५–११७ ॥

अथाग्निशुद्ध्यर्थं होममाह—निःशेषेति चतुर्भिः । चतुष्पलीं चतुष्पलमितामित्यर्थः । पलप्रमाणं तु पारमेश्वरे—

चत्वारो व्रीहयः कुञ्जस्तेऽष्टौ माञ्जिष्ठमुच्यते ॥
तच्छतं षष्टिरधिकं निष्कं निष्काष्टकं पलम् । इति ।
(१८।१३१– १३२)

---

१. पुञ्जलिकेन–अटी० । २. णेऽना–बक० बख० अ० उ० अटी० । ३. तनुं पञ्च–अ० । ४. त्याज्यस्य–मु० बक० बख० उ० ।५. पूर्वोक्तेष्वेव प्रकरणेषु ।६. मग्रं–मु० ।७. ज्ञास्तेषां मौ–अ० ।

यथावस्थितरूपेण ततस्तेनैव बुद्धिमान् ।
दद्यात् पूर्णाहुतिं पश्चात् कृतेन तु[1] चतुष्पलीम् ॥१२१॥
तस्य संशुद्धदोषस्य पुनरेव समाचरेत् ।
सम्बोधजनकं होमं जडभावप्रशान्तिदम् ॥१२२॥
उच्चार्य मूलमन्त्रं तु प्रणवद्वितयान्वितम्[2] ।
जुहुयादाहुतीनां च सहस्रं शतमेव वा ॥१२३॥
तद्वदाज्येन सन्तर्प्य दद्यात् पूर्णाहुतिं तथा[3] ।
तदा स[4] लब्धसत्तः[5] स्यात् पश्यत्यन्तर्गतं विभुम् ॥१२४॥
प्राणभूतमजं विष्णुं तन्मयत्वमथाश्रयेत्[6] ।
अथ सद्यज्ञनिष्ठस्य कर्मिणोऽस्यापवर्गिणः ॥१२५॥
याति यागाङ्गभावित्वं[7] स्वयमेव तदिच्छया[8] ।
विभजत्यात्मनात्मानं चतुर्धा कुण्डमध्यतः ॥१२६॥
अधिभूतस्वरूपेण समाश्रित्य च दिक्क्रमम् ।
पूर्वमाहवनीयाख्यस्वरूपेणाथ[9] दक्षिणे ॥१२७॥
समास्ते सभ्यवपुषा पश्चिमस्यामनन्तरम् ।
गार्हपत्याख्यभेदेन ततस्तिष्ठति चोत्तरे ॥१२८॥
ओदनम्पचनात्मा तु सर्वात्मत्वेन मध्यतः ।
आधाराधेयभावेन त्वास्ते संवलिताकृतिः ॥१२९॥

अस्मिन्नवसरेऽग्नेर्निषेकादिविवाहान्तसंस्कारा जिह्वाकल्पनाश्चेश्वरपारमेश्वरादिषु संगृहीता ग्राह्याः ॥११८–१२१॥

अथाग्नेः संबोधजनकहोममाह—तस्येति सार्धद्वाभ्याम् ॥१२२–१२४॥

अनेन होमेनाग्निर्लब्धसत्ताको भूत्वाऽन्तर्गतं भगवन्तं दृष्ट्वा तन्मयत्वं प्राप्य स्वयमेव[10] याजककर्तृकयागाङ्गत्वमाश्रित्य चातुरात्म्याराधनार्थं स्वयमपि चतुर्धा आहवनीय-सभ्य-गार्हपत्यौदनंपचनात्मभेदैः प्रागादिषु स्वात्मत्वेन मध्ये चाधाराधेय-[11]भावसंवलिताकृतिस्तिष्ठतीत्याह—तदेति सार्धैः पञ्चभिः ॥१२४–१२९॥

१. च–बक० बख० अटी० । २. द्वितया–बक० बख० अ० । ३. तदा–बक० । ४. स लब्ध''''याति' नास्ति–उ० । ५. सत्तस्य–मु० अटी० । ६. श्रितम्–अटी० । ७. गान्त–मु० अटी० । ८. यद्–मु० अटी० । ९. पूर्व आ–अ० उ० । १०. स्वयमेव स्वयमेक एव–अ० । ११. तस्तुति–अ० ।

अङ्गाराण्यर्चिषश्चैव शक्तिर्या दहनात्मिका ।
त्रिलक्षणोऽयमाधार आधेयो हुतभुग् विभुः ॥१३०॥
आत्मयोनिस्तु[1] विश्वेशो वासुदेवः सनातनः ।
एवं ज्ञात्वा पुरा सम्यक् सत्तां वैश्वानरीं पराम् ॥१३१॥
ततः कर्मणि वर्तेत नैष्ठिकः कृतनिश्चयः ।
कुर्यादुदकपूर्वं तु प्राग्वदावाहनं ततः ॥१३२॥
व्यक्तेर्विगलितेनैव तत्त्वेनाप्यव्ययात्मना ।
सर्वेश्वरस्य वै यस्माद् यद्यन्मान्त्रं[2] महद्वपुः ॥१३३॥
वाच्यवाचकरूपं तद् विज्ञेयममलेक्षण ।
तत्पुनः शुद्धसामान्यमुपचारविधौ[3] स्थितम् ॥१३४॥
यद्भोगदानमन्त्रैस्तु रहितं मान्त्रमैश्वरम्[4] ।
प्राक् चतुर्धा विभक्तो यस्तमादायेध्मसञ्चयम् ॥१३५॥
आज्येनोभयतः[5] सिक्तं ब्रह्मक्षीरद्रुमोद्भवम् ।
कुण्डस्य ब्रह्मभित्तिभ्यां मध्ये भागचतुष्टये ॥१३६॥
निदध्यादुत्तराशान्तं प्राग्भागादादितः क्रमात् ।
ईशानाग्नेयपादाभ्यां पतितं प्राक् चतुष्टयम् ॥१३७॥

आधाराधेयविवरणमाह—अङ्गाराणीति सार्धेन । एवं सम्यगनेन सत्तापरिज्ञानानन्तरमेव कर्मणि प्रवृत्तिमाह—एवमिति । अस्मिन्नवसरेऽभ्यर्चनमीश्वराद्युपबृंहितं[6] ग्राह्यम् ॥१३०–१३२॥

अथाग्निमध्ये भगवदावाहनमाह—कुर्यादिति । व्यक्तेर्विगलितेनेत्यनेन बिम्बादिष्वर्चितस्यैवात्रावाहनमित्यवगम्यते । तत्त्वेन मान्त्ररूपेणेत्यर्थः ॥१३२–१३३॥

मन्त्रशरीरस्यैव मुख्यत्वं तस्य वाच्यवाचकरूपेण द्वैविध्यं चाह—सर्वेश्वरस्येति द्वाभ्याम् । अत्रावाहनमित्यनेन भद्र[7]पीठपरिकल्पनादिलयभोगार्चनान्तविधयोऽप्युपलक्ष्यन्ते । तथैवोपबृंहितमीश्वरादिषु[8] च ॥१३३–१३५॥

ततः पूर्वं प्रणीतासंस्कारकाले चतुर्धा विभक्तस्य षोडशेध्मस्येदानीं कुण्डमध्ये

१. योने–अ०, नोऽग्ने–मु० अटी० बक० बख० । २. यद्यान्मात्रं–मु० अटी०, यद्यान्मान्त्रं–बक० बख० । ३. शब्द–अ० उ० । ४. मात्र–मु० अटी० । ५ दिक्सिद्धं–अ०, दिक्सिक्तं–उ० । ६. सरेऽर्चन–अ० । ७. 'भद्र' नास्ति–अ० । ८. ईश्वरे पञ्चमाध्याये, आदिना पारमेश्वरे सप्तमाध्याये ।

आग्नेयनैर्ऋताशाभ्यां विश्रान्तमपरं न्यसेत् ।
नैर्ऋतानिलसंस्पर्शि[1] तृतीयं विनिवेश्य च ॥१३८॥
वाय्वीशपदसंरुद्धं चतुर्थं तु चतुष्टयम् ।
एवं चतुर्विभक्तेन[2] सामिधेन समासतः ॥१३९॥
कुण्डमेकं चतुर्धा वै चतुर्णां संविभज्य च ।
अग्नीनामेकदेहानां चातुरात्म्यव्यपेक्षया ॥१४०॥
यदा य उपयोग्यः[3] स्यात्[4] यस्मिन् यस्मिन् हि वस्तुनि ।
स्वमूर्तेस्तर्पणार्थं च कर्मणि स्थापनादिके ॥१४१॥
तदा तदा स आदेयः स्वकात् स्थानाच्च यत्नतः ।
द्वितीयमिध्ममादाय त्वष्टकाष्ठमयो हि यः ॥१४२॥
द्विधा कृत्वा पुराज्येन पूर्ववत् सेचयेच्च तम् ।
निधाय दक्षिणस्यां च मध्य आग्नेयदिग्गतम् ॥१४३॥

आ(वाह?हव)नीयादिविभागार्थं प्रागादिषु ब्रह्मस्थानमित्योर्मध्ये तत्तत्कोणद्वयसंरोधेनेध्म[5]-प्रक्षेपमाह—प्राक् चतुर्धेत्यादिभिः स्वकात् स्थानाच्च यत्नत इत्यन्तैः ॥१३५-१४२॥

इध्मविभागादिकमाह—द्वितीयमिति । इध्माष्टकं पुरा द्विधा कृत्वा तदनन्तरं पूर्ववदुभयत आज्येन सेचनीयम् । यद्यपीश्वरपारमेश्वरयोः—"आज्येनोभयतः[6] सिक्तं ब्रह्मक्षीरद्रुमोद्भवम् । समादाय[7] द्विधा कृत्वा" (ई० सं० ५।१८६; पा० सं० ७।१४८) इति चोक्तत्वाद् इध्मानामाज्यसेकानन्तरं द्वेधा विभजनं प्रतीयते, तथापि मूलाविरोधेनार्थस्य वर्णनीयत्वात् मूले च द्विधा कृत्वा पुराज्येन पूर्ववत् सेचयेच्च तमित्युक्तत्वात्, षोडशेध्मप्रकरणेऽपि चतुर्धा विभजनानन्तरमेवाज्यसेकस्योक्तत्वाच्च पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन तयोरपि द्वेधाकरणानन्तरमेवाज्यसेचनमित्यर्थो वर्णनीयः। अत एवास्मत्तातपादैरीश्वरानुसारिण्यपि सात्वतामृते मूलाविरोधेनार्थो वर्णितः। कस्मिंश्चित् पारमेश्वरप्रयोगे—"आज्येन सर्वतः संसिच्य द्विधा कृत्वा" इत्युक्तम्, तद्विरुद्धम् ॥१४२-१४३॥

इध्मप्रक्षेपक्रममाह—निधायेति सपादेन । अग्नौ दक्षिणस्यां मध्ये नैर्ऋताग्नेयको(ण)संरुद्धमिध्मचतुष्टयं निधाय तथैवापरं चतुष्कमुत्तरस्यां मध्ये वायव्येशानकोण-

---

१. र्शं—अ०, र्श—अटी० । २. समिद्धेन—मु० अटी० बख० । ३. ग्यस्य—त्रक० बख० । ४. स्याद्धविरस्मिन्—अ० । ५. रोधेन प्रक्षेप—म० । ६. न सर्वतः—पा० । ७. इध्माष्टकं समा—ई० ।

विश्रान्तं[1] नैर्ऋतपदे चोत्तरस्यां तथाऽपरम् ।
वांग्वीशपदसंरुद्धमाज्यमादाय[2] वै ततः ॥१४४॥
चतुःसंख्येन मन्त्रेण प्रणवालङ्कृतेन च ।
दक्षिणे स्रुक्चतुष्कं तु जुहुयादुत्तरे तथा ॥१४५॥
सूर्यसोमात्मकं चाग्नेर्विद्धि तल्लोचनद्वयम्[3] ।

संरुद्धं निदध्यादित्यर्थः । एवं नैर्ऋताग्नेयसंरुद्धत्वोक्त्या वायव्येशानसंरुद्धत्वोक्त्या चाग्नौ दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च पूर्वपश्चिमायतने वेध्मप्रक्षेपः कार्य इत्यर्थः सिद्ध्यति ।

ननु पूर्वपश्चिमान्तमिध्मप्रक्षेपः स्वतः सिद्ध इति चेन्न, पूर्वं षोडशेध्मप्रक्षेपप्रकरणे—"ईशानाग्नेयपादाभ्यां पतितं[4] प्राक्चतुष्टयम्" (६।१३७) इति, "नैर्ऋतानलसंस्पर्शि[5] तृतीयं विनिवेश्य" (६।१३८) इति च दक्षिणोत्तरायतमपीध्मप्रक्षेपस्योक्तत्वात् । इममर्थमविज्ञाय कस्मिंश्चित् पारमेश्वरप्रयोगे वृथा पाण्डित्यं कृतम् । तथाहि—इध्माष्टकपक्षे कुण्डादन्तः दक्षिणभित्तौ मध्यत ऊर्ध्वाग्रमेकमिध्मं मूलेन संयोज्य तथा कुण्डमध्यत आग्नेये नैर्ऋते चेध्मत्रितयं निधाय तथापरचतुष्कमुत्तरभित्तिकुण्डमध्यवाय्वीशानकोणेषु निदध्यादिति ॥१४३–१४४॥

ततोऽग्नौ दक्षिणे उत्तरे चेध्मप्रक्षेपस्थाने तत्संख्यानुगुणमाज्यहोमं तत्स्थानद्वयस्य सूर्यसोमात्मकाग्निलोचनत्वं चाह—चतुःसंख्येनेति सार्धेन । जयाख्ये[6] तु—सूर्यसोमयोस्तत्तन्मन्त्राभ्यामाहुतिद्वाराऽग्नौ दक्षिणोत्तरयोः संयोजनमुक्तम् । तदपि संगृहीतमीश्वरपारमेश्वरयोः । किञ्च, एवमाज्यभागाभ्यां पूर्वमाघारहोमोऽपि संगृहीतस्तत्रैव—

.... आघाराज्यं[7] ततः क्षिपेत् ।
इध्ममूलादथाक्रान्तमिध्मेध्मोपरि[8] संस्थितम् ॥
स्रुवमाज्येन संपूर्य सूर्यबीजेन चिन्तयेत् ।
सहस्रांशुं[9] च तन्मध्ये दद्यात् कुण्डस्य दक्षिणे ॥
अपरस्मिन् स्रुचि ध्यात्वा सोमाख्येनाक्षरेण तु ।
पूर्णं शशाङ्कबिम्बं च प्रदद्यात् तत[10] उत्तरे ॥ इति ॥१४५–१४६॥
(ई० सं० ५।१८८–१९०; पा० सं० ७।१५०–१५२)

---

१. श्रान्तनै—बक० बख० उ० । २. वारीश—मु०, वागीश—उ० । ३. तं लो—मु० अटी० बक० बख० । ४. 'पतितं' नास्ति—अ० । ५. स्पर्शत्रितयं—अ० । ६. जयाख्यसंहितायां पञ्चदशे पटले, ईश्वरसंहितायां पञ्चमे, पारमेश्वरसंहितायां सप्तमे चाध्याये विषयोऽयं द्रष्टव्यः । ७. आघाराभ्यन्ततः—ई० । ८. ग्रान्त—पा० । ९. स्रांशुश्च—म०, स्रान्तं च—अ० । १०. तु तदुत्तरे—पा० ।

एतयोरन्तरं यद् वै तदग्नेर्वदनं स्मृतम् ।।१४६।।
त[1]त्र वै जुहुयात् पूर्वं[2] समिधां सप्तकं क्रमात् ।
घृतसिक्तां चतुःसंख्यामेकैकां हि सुपुष्कलाम् ।।१४७।।
प्राक् कुङ्कुमादिना लिप्तां काष्ठसंख्यां तु होमयेत् ।
[3]स्रग्धूपं मधुपर्कं च बीजान्नाज्यं यथाक्रमम्[4] ।।१४८।।
तत्रान्नसमिधो दाने विशेषोऽयं विधीयते ।
साधितं संस्कृताऽग्नौ प्राक् तन्निधायाग्रतश्चरुम् ।।१४९।।
समुद्घाट्यावलोक्यादौ सम्प्रोक्ष्यार्घ्याम्भसा ततः ।
दर्भकाण्डचतुष्केण साग्निना तदनुस्पृशेत् ।।१५०।।

एतयोरन्तरालस्य वदनत्वं तत्र सप्तसमिधां होतव्यत्वं चाह—एतयोरिति । समिधां सप्तकं समित्-पुष्प-धूप-मधुपर्क-बीज-चरु-घृतानीत्यर्थः । समिध्यते दीप्यतेऽग्निरनयेति व्युत्पत्त्या समित्पुष्पादीनां सप्तानामपि समिदित्येव व्यवहारात् ।।१४६–१४७।।

तासां होमक्रममाह—घृतसिक्तां चतुःसंख्यामित्यारभ्य आज्याख्यां जुहुयात् तत इत्यन्तम् । घृतसिक्तां घृतेनोभयतः सिक्तामित्यर्थः, "आज्येनोभयतः सिक्तम्" (६।१३६) इति पूर्वोक्तेः । एकैकाम् पूर्वमिध्महोमप्रकरणे चतुश्चतुस्समिधां युगपत् प्रक्षेपस्योक्तत्वादत्रापि तादृशत्वशङ्काया निवृत्त्यर्थमेकैकामित्युक्तम् । सुपुष्कलामित्यनेन क्रमिभक्षितत्वादिदोषराहित्यमुच्यते । प्राग् आसादनकाल इत्यर्थः । कुङ्कुमादिना, आदिशब्देन कर्पूरकस्तूर्यौ[6] गृह्येते, स्रग्धूपमधुपर्कं स्रक् पुष्पमित्यर्थः । "ततः पुष्पमयीं दद्यात्" (४०।६८) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः । धूपः गुग्गुल्वादि । मधुप-(र्क?र्कः) संमिलितपयोदधिमध्वाज्यम् । बीजानि मुद्गादीनि । अन्नानि पायसादीनि । आज्यं गोघृतम् । आहृत्य सप्त समिधो ज्ञेयाः । यथाक्रमम् उक्तक्रममनतिक्रम्येत्यर्थः । पूर्वं काष्ठसमिधम्, ततः पुष्पम्, ततो धूपम्, ततो[7] मधुपर्कम्, ततो बीजानि, ततश्चरुम्, ततस्त्वाज्यं क्रमेण जुहुयादिति यावत् । क्वचित् सात्वतपुस्तकेषु ईश्वर(५।१९४)-पारमेश्वरपुस्तकेषु च "बीजान्याज्यं यथाक्रमम्" इत्यशुद्धपाठो लिखितः । तदनुसारेण केषुचित् पारमेश्वरप्रयोगेषु बीजाहुत्यनन्तरमाज्याहुतिस्तदनन्तरं चर्वाहुतिरिति लिखितम्, तदसंगतम्, यतः पूर्वं सामान्यतोऽन्नसमिद्दानोक्तिमन्तरा तत्रान्नसमिधो दाने विशेषोऽयं विधीयत इत्युक्तेरवतरणासंभवात्, आज्याख्यां जुहुयात् तत इति

१. तत्रैव—उ० । २. पूर्णं—अटी० । ३. स्रुग् धूपं—बक० बख० । ४. क्रमात्—मु० अटी० । ५. तत्रान्ने—मु०, तन्त्रान्ते—अटी० । ६. कस्तूरकर्पूर्यौ—अ० । ७. 'ततो मधुपर्कम्' नास्ति—अ० । ८. मुद्रिते पारमेश्वरपुस्तके 'बीजान्नाज्यम्' (७।१५६) इत्येव पाठः ।

तन्मध्ये स्रुक्चतुष्कं तु मन्त्रैराज्यस्य निक्षिपेत् ।
अथादाय स्रुचं तत्र तद्वद् दद्याच्चतुष्टयम् ॥१५१॥
चतुरङ्गुलमानेनाऽप्यन्नग्रासमथाहरेत् ।
तन्निधाय स्रुचौ[1] दर्भे तदूर्ध्वे पूर्ववद् घृतम्[2] ॥१५२॥
दद्यादग्नौ चतुष्कं तु क्षिपेदन्नाहुतिं ततः ।
[3]भूयोऽग्नौ स्रुक्चतुष्कं तु[4] चाज्यस्यापाद्य यत्नतः ॥१५३॥
ततोऽन्नमाज्यसंसिक्तं प्राग्वत् कृत्वाहुतिं पुनः ।
दद्यात् पूर्वप्रयोगेण त्वेवमेव चतुष्टयम् ॥१५४॥
हुत्वाऽप्यन्नाहुतीनां च[6] ह्याज्याख्यां[7] जुहुयात् ततः ।

चर्वाहुत्यनन्तरमाज्याख्यसमिद्दानस्योक्तत्वाच्च । प्राक् संस्कृताग्नौ साधितमित्यत्र चरुसाधनप्रकारस्तु दीक्षाप्रकरणे वक्ष्यमाणो ज्ञेयः । तन्मध्ये चरुमध्ये । आज्यस्य स्रुक्चतुष्कं निक्षिपेत्, स्रुचाज्येन चतुर्वारमभिघार्येत्यर्थः । अन्नग्रासं कुक्कुटाण्डप्रमाणमन्नकबलमित्यर्थः । "कुक्कुटाण्डप्रमाणं तु ग्रास इत्यभिधीयते" (अ[8]० सं० १२१–१२२) इति स्मृतेः । अथादाय स्रुचं तत्र तद्वद् दद्याच्चतुष्टयमित्यत्र, तदूर्ध्वे पूर्ववद्घृतमित्यत्र, दद्यादग्नौ चतुष्कं तु इत्यत्र च स्रुवेणेति ज्ञेयम् । ततोऽन्नमाज्यसंसिक्तं प्राग्वत् कृत्वा स्रुचाऽज्येन चरुं चतुर्वारमभिघार्येत्यर्थः । पूर्वप्रयोगेणेत्यनेन स्रुचि स्रुवेण चतुरभिघारः, तत्र चरुनिक्षेपः, तदुपरि पुनश्चतुरभिघारस्रुवेणाज्याहुतिचतुष्टयम्, चर्वाहुत्यनन्तरं पुनः स्रुचाऽऽज्याहुतिचतुष्टयं च संगृह्यते । एवमन्नाहुतीनां चतुष्टयं हुत्वेत्यनेनान्नाहुतीनामपि चतुःसंख्याकत्वमेव ज्ञेयम् । एवं काष्ठसमिधोऽन्नसमिधश्च चतुःसंख्याकत्वोक्त्या पुष्पादीनां पञ्चसमिधामपि चतुःसंख्यया होमो ज्ञायते । पारमेश्वरव्याख्याने तत्प्रयोगे च षोडशसंख्ययाऽन्नाहुतयस्तत्संख्ययाऽऽज्याहुतयश्च प्रतिपादिताः । तद्भ्रान्तिमूलकम्, दद्यात् पूर्वप्रयोगेण त्वेवमेव चतुष्टयम् । हुत्वाप्यन्नाहुतीनां त्वित्यन्नाहुतिचतुष्टयस्य कण्ठरवेणोक्तत्वात्, एकैकान्नाहुतेः पुरस्तात् परस्ताच्च चतुश्चतुःसंख्याक्रियमाणाज्याहुतीनां द्वात्रिंशत्संख्याकत्वाच्च ।

वस्तुतस्तु बहुशः पारमेश्वरपुस्तकेष्वस्मिन् प्रकरणे च चतुष्कं तु मन्त्रैराज्यस्य निक्षिपेदित्यादि दद्यादग्नावित्यन्तग्रन्थपातादेवं व्याख्यातारः प्रयोगकाराश्च बभ्रमुरिति ज्ञेयम् । अत एव पारमेश्वरव्याख्याने—"तत्रान्नसमिधविशेषमाह—तत्रान्नसमिधो दान इति पञ्चभिः"[9] इति लिखितम् । मध्ये पतितं श्लोकद्वयं न किञ्चिदपि तेषामाकाङ्क्षापदवीमधिरूढम् ॥१४७–१५५॥

१. स्रुचौ गर्भे–अ० । २. द्रुतम्–अटी० । ३. श्लोकद्वयं नास्ति–बक० । ४. त्वप्याज्य–अ० । ५. न्य–मु० अटी० । ६. चाप्या–अ० । ७. भ्यां–मु० । ८. अष्टादशे परिच्छेदे । ९. पाठान्तरेण सहात्र वचनमेतदुपलभ्यते ।

तदन्ते तोयनिर्मुक्तैः कुसुमैरर्घ्यमिश्रितैः ॥१५५॥
पूजयेच्चतुरो वारान् मन्त्रैर्वा प्रणवैः प्रभुम् ।

ततोऽग्निस्थदेवानां पुष्पैश्चतुर्वारमर्चनमाह—तदन्त इति । अर्घ्यमिश्रितैराज्यार्घ्यमिलितैरित्यर्थः, अन्यथा तोयनिर्मुक्तैरित्यनेन विरोधात् । अत एवाज्येनैवार्घ्यदानादिकमुक्तं पाद्मे—"अर्घ्यपूर्वं निवेद्यान्तं सर्पिषा जुहुयात् सकृत्" इति । मन्त्रैः वासुदेवादिमन्त्रैरित्यर्थः । यद्वा प्रणवैः, बहुवचनेन चतुर्वारमुच्चरितैरित्यर्थः । मूर्तिमन्त्राः प्रतिव्यक्तिविभिन्नाः, प्रणवस्तु व्यापकत्वात् सर्वेषामेक एवेति भावः । अत्र प्रणवैरित्यनेनाष्टाक्षरादयश्चत्वारो मन्त्रा अप्युपलक्ष्यन्ते, तेषामपि प्रणवार्थविवरणरूपतया व्यापकत्वात्, तेषु प्रणवपदमन्त्रत्वेनोक्तत्वाच्च । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

पदमन्त्रास्त्रयोऽस्य स्युर्विधाने पाञ्च[1]रात्रिके ॥
विष्णवे नम इत्येवं नमो नारायणाय च ।
नमो भगवते पूर्वं वासुदेवाय चेत्यपि ॥
जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुष पूर्वज ॥
पदमन्त्रश्चतुर्थोऽयं प्रणवस्य पुरन्दर ।
ओँकारसहितानेतान् मन्त्रान् पूर्वविदो विदुः ॥
केवलस्तारकश्चैव चत्वारश्च तदादिकाः ।
पञ्चैते व्यापका मन्त्राः प[2]ञ्चरात्रे प्रकीर्तिताः ॥ इति ।
(२४।६७–७०, ७४)

अत एव—

संप्रोक्ष्यार्घ्याम्भसा चेध्मान् चतुर्धा संविभज्य च ।
पूजयेदर्घ्यपुष्पाभ्यां द्वादशाक्षरविद्यया ॥ (६।१०६)

इति वासुदेवाद्युद्देशेन चतुर्धा विभक्तानामिध्मानां तन्मन्त्रैरर्चनीयत्वेऽपि द्वादशाक्षरस्य व्यापकत्वाद् द्वादशाक्षरविद्ययेत्युक्तम् । एवं भद्रपीठशोधनप्रकरणेऽपि—"प्रक्षाल्य द्वादशा[3]र्णेन प्रणवाद्यन्तकेन तु" (६।४) इत्युक्तम् ।

नन्वत्रोभयत्रापि व्यापकं वासुदेवद्वादशाक्षरमिति को वा नियमः, तस्य पूर्वमनुक्तत्वात् । उक्तेष्वेव योऽसौ द्वादशाक्षरः, स तु ग्राह्यः । स चाप्ययार्चनप्रकरणोक्तश्चतुर्थमन्त्रः स्यादिति चेन्न, तस्याप्ययक्रमेणार्चनप्रकरण एवोपयुक्तत्वात्, एकव्यक्तिमात्रनियततया चातुरात्म्यार्चनप्रकरणेऽनुपयुक्तत्वाच्च, अत्र केवलप्रणवेनाप्यर्चनोक्त्या उक्तेष्वेवान्यतमो ग्राह्य इति नियमाभावाच्च व्यापकं द्वादशाक्षरमेव ग्राह्यमिति सिद्धम् । एवं पुष्पार्चनान्तं नित्ययागो ज्ञेयः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

---

१. पञ्च—म० । २. पाञ्च—मु० । ३. शास्त्रेण—अ० ।

ततो मोक्षाप्तये होमं यथाशक्ति समाचरेत् ॥१५६॥
शतपूर्वं सहस्रान्तं दद्यात् पूर्णाहुतिं ततः ।
एकं[1] मन्त्रचतुष्केण चतुर्भिश्चतुरोऽथवा ॥१५७॥
प्राग्वत् पूजां पुनः कुर्याद् दर्भैः संमार्ज्य च स्रुचम् ।
यथा भवति निःस्नेहमथ प्राक्स्थापितेन तु ॥१५८॥
पुरतश्चाम्भसाऽऽपूर्य तां च पात्रेण तेन वा ।
प्रागादौ कुण्डबाह्ये तु प्रादक्षिण्येन सेचयेत् ॥१५९॥
पवित्रकेणाथ ऊर्ध्वे विनिक्षिप्य करेण वा ।
शेषं स्वशिरसो दद्यात् स्वस्थानेऽथ त्वधोमुखे ॥१६०॥
निदध्याद्धोमभाण्डे ते भस्मना तदनन्तरम् ।
जलनिर्मथितेनैव ह्यूर्ध्वपुण्ड्रचतुष्टयम् ॥१६१॥

पुष्पाञ्जलिमुपादाय वह्निस्थामर्चयेत्[2] ततः ।
नित्ययागोऽयमेतावानूर्ध्वं[3] कामाहुतिं[4] क्षिपेत् ॥
यदि कामयमानः स्यात् तत्तद्धिध्यनुरूपिणीम् । (४०।७१-७२)

इति ॥१५५-१५६॥

ततः शतादिसंख्यया यथाशक्ति मोक्षार्थं होमम्, तदन्ते वासुदेवमन्त्र[6]चतुष्टयेन सकृदेव[7] पूर्णाहुतिम्, यद्वा प्रतिमन्त्रं पूर्णाहुतिचतुष्टयं जुहुयादित्याह—तत इति सार्धेन । अत्रापेक्षिताः काम्याहुतिभेदा होमद्रव्यप्रमाणादीनि स्विष्टकृत्प्रायश्चित्तपूर्णाहुतिप्रकारादयो बहवो विशेषा ईश्वरादिषु[8] प्रतिपादिता ग्राह्याः ॥ १५६-१५७ ॥

उत्तरपूजापूर्वकं स्रुक्स्रुवसंमार्जनपरिषेचनादिकमाह—प्राग्वदिति सपादैस्त्रिभिः । प्राग् आसादनकाले पुरतः स्वाग्रतः स्थापितेनाम्भसा अर्घ्योदकेनेत्यर्थः, "अर्घ्यपात्रात्तु चापूर्य कुण्डबाह्ये प्रदक्षिणम्" (ई० सं० ५।२७६; पा० सं० ७।२४५) इतीश्वरपारमेश्वरोक्तेः । तां स्रुचमित्यर्थः । चकारेण तस्या अपि दर्भैः संमार्जनमर्घ्यपूरणं चोच्यते । पात्रेण तेन वा स्रुचा स्रुवेणेत्यर्थः । ऊर्ध्वे कुण्डोर्ध्व इत्यर्थः । स्वस्थाने पूर्वं यत्रासादितौ तत्रेत्यर्थः । होमभाण्डे स्रुक्स्रुवावित्यर्थः ॥ १५८-१६१ ॥

---

१. एकां—अ० । २. येद् धिया—मु० । ३. गो ममै—मु० । ४. न् पूर्वं—अ० । ५. हुतीः—अ० म० । ६. 'मन्त्र' नास्ति—अ० । ७. स तदेव—अ० । ८. ईश्वरे पञ्चमाध्याये, आदिना पारमेश्वरे सप्तमाध्याये विषया इमे प्रतिपादिताः ।

हृद्यंसयोर्ललाटे च कुर्याद् दीपशिखाकृति[1] ।
एवं परिसमाप्ते तु अग्निकार्येऽर्पिते सति ॥१६२॥
संविभागः पितॄणां च यथा कार्यस्तथोच्यते ।
कुण्डस्य योनिनिकटे दक्षिणाग्रान् स्तरेत् कुशान्[2]॥१६३॥
भद्रपीठसमीपे तु क्ष्मातले वा तदूर्ध्वतः ।
स्तरोपरि विकीर्याथ[3] तिलान् सरजतोदकान् ॥१६४॥
क्रमेण भावयेत् तत्र पितॄनथ पितामहान्[4] ।
तृप्तये[5] ह्यथ सर्वेषां देवाय[6] विनिवेद्य च ॥१६५॥

होमाङ्गं तिलकधारणमाह—[7]भस्मनेति । अत्र मन्त्राश्चोक्ताः पारमेश्वरे—"शिरस्तनुत्रहृन्मन्त्रैर्ललाटे चांसयोर्हृदि" (७।१४१) इति ।

एवं भस्मना तिलकधारणं वैष्णवानां विरुद्धमिति न शङ्कनीयम्, अग्निकार्याङ्गत्वात् । तथा च सच्चरित्ररक्षायामूर्ध्वपुण्ड्राधिकारे—"तत्र हि पूर्वमेव धृतोर्ध्वपुण्ड्रस्य समाराधितवासुदेवस्याग्निकार्यसमनन्तरमिदं विधीयमानं त[8]त्रैवाग्निकार्यानुप्रविष्टं मन्तव्यमायुष्मता" (पृ० ६९) इति ॥ १६१–१६२ ॥

एवं कृतस्य होमस्य भगवदर्पणानन्तरं पितृसंविभागः कार्य इत्याह—एवमिति । भगवते होमसमर्पणप्रकारस्त्वीश्व[9]रादिषु प्रदर्शितो ग्राह्यः ॥ १६२–१६३ ॥

संविभागस्थानमाह—कुण्डस्येति ॥ १६३–१६४ ॥

तत्र दक्षिणाग्रकुशास्तरणोपरि तिलोदकविकिर[10]णपूर्वकं पित्रादीनां भावनामाह—स्तरोपरीति । अत्र पितृपितामहशब्दाभ्यां प्रपितामहवृद्धप्रपितामहौ चोपलक्ष्येते,

स्तरोर्ध्वे स्वस्वसंज्ञाभिरग्रान्तं तु यथाक्रमम् ।
भावयेत् पुरुषादीनां सारूप्यं समुपागतान् ॥
पितॄन् पितामहांश्चैव तथैव प्रपितामहान् ।
तत्पितॄंश्चाथ शंसन्तः [11]सन्तानं स्वविभागतः ॥ (७।२९४–२९५)

इति पारमेश्वरोक्तेः ॥ १६४–१६५ ॥

---

१. कृतिम्–अ०, कृति–उ० । २. शान्–अ० । ३. कायार्थं–मु० । ४. इतः परम्–'तर्पयेदथ सर्वांश्च देवस्य विनिवेदनात्' इति पाठोऽनावश्यको दृश्यते–उ० । ५. तृप्त्यर्थमथ–अ० । ६. देवस्य– उ० । ७. भस्मेनेति–म० । ८. तत्रत्या–मु० । ९. ईश्वरे पञ्चमाध्यायसमाप्तौ पारमेश्वरे सप्तमाध्यायमध्ये प्रकारोऽयं द्रष्टव्यः । १०. विकीरण–म० । ११. सन्तानमिति पदं त्रुटितम्–अ० ।

प्रोक्षितान्यन्नपात्राणि चत्वारि कबलानि वा ।
स्तरोर्ध्वे तु निधायाथ सम्पूज्यार्घ्यादिना ततः ॥१६६॥
क्रमेण चातुरात्मीयैर्मन्त्रैरप्ययंयोगतः ।
ततस्तु नाम्ना गोत्रेण मन्त्रपूर्वं तिलोदकम् ॥१६७॥

अथ तेषां पिण्डनिर्वापणमर्घ्याद्यर्चनं तिलोदकप्रदानं चाह—तृप्तय इति त्रिभिः। अत्र देवाय विनिवेद्येत्यत्र पाकपात्रावशिष्टान्नादिकमिति ज्ञेयम्, निवेदितस्य पुनर्निवेदनायोगात्। तथा च पारमेश्वरे—

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूनपि तथैव च ।
स्थापितस्त्वनुयागार्थं प्रापणांशः पुरा तु यः ।
तस्मात् किञ्चित् समादाय संविभागं समाचरेत् ।
पितॄणां चैव बन्धूनामाश्रितानां तथैव च ।
संविभागावशिष्टेन स्वानुयागं समाचरेत् ।
यद्वा स्थाल्यवशिष्टं च किञ्चिदादाय पात्रगम् ।
प्राग्वन्निवेद्य देवाय तेन पित्र्यं समाचरेत् ।
ये वैश्वदेवनिरता विप्राद्या वैष्णवाश्च ते ।
यल्लभ्यं भगवद्भुक्तं तस्मादादाय चांशकम् ।
तेन कृत्वा वैश्वदेवमवशिष्टांशकेन तु ।
कुर्युः प्राणादियात्रां तु विधानेन द्विजोत्तम ॥ इति ।

सच्चरित्ररक्षायां (पृ० १२७–१२८) चोदाहृता इमे श्लोकाः । अन्नपात्राणीत्यत्र पारमेश्वरे—

तमालकदलीपूर्वदलेषु क्षालितेषु च ॥
संविभज्य चतुर्धान्नं निधाय प्रणवेन तु । (७।२९९–३००)

इत्युक्तं ज्ञेयम् । स्तरोर्ध्वे निधायेत्यत्र मन्त्रश्चोक्तः पारमेश्वरे—

प्राग्वत् स्वधावसानाद्यैर्मन्त्रैरोङ्कारपूर्वकैः ।
हृन्मन्त्रालङ्कृतैर्विप्र[2] तथा संज्ञापदान्वितैः ॥
पिण्डं प्रकल्पयामीति ततः पूर्ववदाचरेत् । (७।३०३–३०४) इति ।

पिण्डोपरि दर्भैराश्छादनं[3] पूर्वमास्तरणोपरि भावितानां पितृपितामहादीनां तत्रावाहनं च प्रतिपादितं तत्रैव—

प्रणवैर्दक्षिणाग्राणि सेचितानि तिलाम्बुना[4] ॥
नाडीरूपाणि दर्भाणि पिण्डानामूर्ध्वतो न्यसेत् ।
प्रविष्टान् भावयेन् तेषु नाडीमार्गैरनुक्रमात् ॥
पितॄनावाहयामीति स्तरोर्ध्वे प्राक्स्थितांस्ततः । (७।३०४–३०६) इति।

---

१. च–मु० अटी० । २. लिङ्गितैः–मु० । ३. भैश्छा–अ० । ४. णुना–अ० ।

सर्वेषामर्घ्यकलशात् प्रदद्याच्च यथाक्रमम् ।
तादर्थ्येनाथ चतुरो विनिवेश्यासनेषु च ॥१६८॥
लब्धलक्षान् परे तत्त्वे ब्राह्मणान् पाञ्चरात्रिकान् ।
प्राङ्मुखं द्वितयं चैव द्वितयं चाप्युदङ्मुखम् ॥१६९॥
सम्पत्त्यभावेऽप्येकं वा विनिवेश्योत्तराननम् ।
अथ तेषां क्रमात् कुर्यादर्चनं चातुरात्म्यवत् ॥१७०॥
अर्घ्यानुलेपनाद्यैस्तु भोगैर्मात्रावसानिकैः ।
तत्तत्कालोचितैः सर्वैरनुपादेयवर्जितैः ॥१७१॥
तैश्चापि मौननिष्ठैस्तु भवितव्यं सुयन्त्रितैः ।
वाग्यताः शुद्धलक्षाश्चाप्यन्नमूर्तौ जनार्दने ॥१७२॥
येऽश्नन्ति पितरस्तेन तृप्तिमायान्ति शाश्वतीम् ।
अतः सव्यभिचारं तु मौनं वर्ज्यं क्रियापरैः ॥१७३॥
शुभमव्यभिचारं यत् तत् कार्यं सर्ववस्तुषु ।
यदङ्गसङ्केतमयैरव्यक्तैर्नासिकाक्षरैः ॥१७४॥

अर्घ्यादिनेत्यत्रादिशब्देन गन्धादयो ग्राह्याः । अप्य(थ योऽत्र नाव ? ययोगतः पितॄना-वाह)यामीति स्तरोर्ध्वे गतः । चातुरात्मीयैर्मन्त्रैः ॐ पुरुषाय नम इत्यादिभिश्चतुर्भिः पूर्वोक्तैर्मन्त्रैरित्यर्थः । नाम्ना गोत्रेण मन्त्रपूर्वं तिलोदकं दद्यादित्यत्रैवं प्रयोगः—ॐ पुरुषाय नमः, मौञ्ज्यायनगोत्राय नृसिंहशर्मणे पुरुषरूपिणे पित्रे इदं तिलोदकं ददामीति । एवं पितामहादीनामप्यूह्यम् । अर्घ्यादिसमर्पणेऽप्येवमेव मन्त्रा ज्ञेयाः ॥१६५–१६८॥

अथ पितॄनुद्दिश्य ब्राह्मणचतुष्टयमेकं ब्राह्मणं वा भोजयेदित्याह—तादात्म्येनेति । दत्तदृष्टीन्, ब्रह्मज्ञानिन इति यावत् । भोगैः आभ्यवहारिकैरित्यर्थः । मात्रावसानिकैः भोजनानन्तर्यतिलमात्रादानान्तैरित्यर्थः । अत्रापि पितृतृ(प्ति?प्तये) पूर्वोक्त(ा) एव मन्त्राः । अन्यत् सर्वं श्राद्धवज्ज्ञेयम् । अत्रापेक्षिता बहवो विशेषाः पारमेश्वरोक्ता ग्राह्याः ॥१६८–१७१॥

श्राद्धभोक्तॄणां मौनं पितृतृप्तिकरमित्याह—तैरिति सार्धेन ॥१७२–१७३॥

तत्रापि दुष्टस्य मौनस्य त्याज्यत्वमदुष्टस्य ग्राह्यत्वमाह—अत इति ॥१७४॥

---

१. तादात्म्ये–अटी० । २. मन्त्रा–मु० अटी० बक० बख० अ० । ३. बद्ध–अ० । ४. प्यन्ने–मु० अटी० बक० बख० । ५. मयम्–मु० अटी० बक० बख० । ६. पुं–अ० । ७. महाना–अ० । ८. प्येव मन्त्राः–अ० । ९. पारमेश्वरे सप्तमाध्याये उक्ताः ।

कृतमोष्ठपुटैर्बद्धैर्मौनं तत्सिद्धिहानिकृत् ।
[१]स्वयमेव सुबुद्ध्या यत् सर्ववस्तुषु वर्तते[२] ॥१७५॥
शब्दैरनुपदिष्टैस्तु तन्मौनं सर्वसिद्धिदम्[३] ।
तस्माद्वै श्राद्धभोक्तृणां दिव्ये वा पितृ[४]कर्मणि ॥१७६॥
दद्यान्नैवेद्यवत् [५]सर्वं मर्यादाभ्यन्तरे[६]ऽग्रतः ।
येनाचमनपर्यन्तं कालं तिष्ठन्ति[७] वाग्यताः ॥१७७॥
विधिनानेन वै नित्यं यागयज्ञे तु वैष्णवे ।
संविभागः पितृणां च कार्यः सद्द्रविणैर्नरैः ॥१७८॥
कृत्वा तिलोदकान्तं वा फलमूलैः स्वशक्तितः ।
तद[८]र्थं ग्रासमात्रं तु दद्याद् गोष्वथ भैक्षुके ॥१७९॥
यस्माद् दिव्यैर्महामन्त्रैर्दत्तं यत्पूजितेऽच्युते ।
पित्रर्थमल्पं वा भूरि तत्तेषामक्षयं भवेत् ॥१८०॥

मौनस्य दोषगुणावाह—यदिति द्वाभ्याम् ॥१७४–१७६ ॥

[९]अथोत्तराचमनपर्यन्तमङ्गसंकेतादिदोषाभावसिद्ध्यर्थं तदपेक्षितसर्ववस्तून्यपि तत्पुरतो मर्यादान्तराले [१०](त्यादी?स्थापनीयानी)त्याह—तस्मादिति । मर्यादाकल्पनाप्रकारस्तूक्तः पारमेश्वरे—"अथास्त्रपरिजप्तेन भूतिना वाऽथ शङ्कुना । [११]मसृणेनाश्मचूर्णेन परिघां स्वधयाऽथवा ॥ बहिस्तदासने कुर्यादग्रे[१२] दैर्घ्याच्छमाधिकम्[१३] । [१४]वैपुल्याच्छममानं तु प्राग्वत् पावनतां नयेत् ॥ (७।३२७–३२८) इति ॥ १७६–१७७॥

एवंविधपितृसंविभागस्य धनिकविषयतामाह—[१५]विधिनेति ॥१७८॥

तदन्यैस्तु तिलोदकं कृत्वा पितॄनुद्दिश्य यथाशक्ति फलमूलैर्ग्रासमात्रं गवे वा भिक्षवे वा देयमित्याह—कृत्वेति ॥ १७९ ॥

एवं पितॄनुद्दिश्य किञ्चिद् दत्तमपि मन्त्रमहिम्ना तदनन्तं भवतीत्याह—यस्मादिति । एवमेव पितृसंविभागस्त्रिकालेष्वनुष्ठीयमानेष्वपि प्राभातिकार्चनानन्तरं माध्याह्निकार्चनानन्तरं वा सकृदेव कार्य इति ज्ञेयम्, "वह्निसंतर्पणं षष्ठं पितृयागस्तु

१. स्व—बक० बख० अ० उ० । २. वर्त्यते—अटी० । ३. विद्धि सर्वदम्—उ० अ०, विद्धि सर्वदा—बक० बख० । ४. पित्र्य—अटी० । ५. दिकं—उ० । ६. रे गतः—अटी० । ७. ति वाग्यतः—अ० उ० । ८. तदर्धं—अटी० । ९. अत उत्त—अ० । १०. 'त्यादी····शङ्कुना' नास्ति—अ० । ११. स्त्रलयनात्म—अ० । १२. त्वग्रे—मु० । १३. काम्—मु० । १४. वैफल्या—अ० म० । १५. तस्मादिति त्रिभिः—अ० ।

सप्तमम्" (जया० २२।७९) इति । पितृसंविभागस्य भगवदाराधनाङ्गत्वोक्त्या साङ्गानुष्ठानसिद्ध्यर्थं प्रत्याराधनमनुष्ठेयमित्याशङ्का त्वीश्वरपारमेश्वरयोः परिहृता । तथाहि—

यत्र द्वादशकालेज्या कर्तव्या भूतिविस्तरात् ।
तत्र प्राभातिकीं कुर्यात् पूजामष्टाङ्गसंयुताम् ॥
अङ्गद्वयं तु पाश्चात्त्यं विना वा[2] तां समाप्य च ।
पितॄणां संविभागं च अनुयागं यथोदितम् ॥
देशिकः [3]स्वेच्छया कुर्यान्नित्यं माध्यन्दिनेऽर्चने[4] ।
त्रिकालेष्वेकमष्टाङ्गं षडङ्गं चाचरेद् द्वयम् ॥ इति ।
(ई० सं० ६।७६–७८; पा० सं० ७।४३१–४३४)

एतेन स्वार्थपरार्थार्चनद्वयेऽप्येकेनैवानुष्ठिते सत्यपि न प्रत्येकं पितृसंविभागः कार्य इति सिद्धम्, तस्यैकस्मिन्नहनि सकृदेव कर्तव्यत्वात् ।

नन्वभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगरूपपाञ्चकालिकधर्मानुष्ठानं भागवतस्य विहितम्, तत्र परार्थानधिकारिभिः स्वार्थेज्या क्रियते, तदधिकारवतां युष्माकं परार्थसंज्ञकश्रीयादवाद्र्यादिदिव्यस्थलाविर्भूतश्रीमन्नारायणाद्यर्चनेनैव कृतकृत्यत्वात् पुनः किं स्वार्थसंज्ञकस्वगृहार्चनेनेति चेत्, सत्यम्, "परार्थः सूर्यसदृशः स्वार्थस्तु गृहदीपवत्" इतीश्वरोक्तेः, सूर्यप्रकाशेनैव कृतार्थत्वेऽपि स्वगृहेऽपि दीपारोपणवत् स्वार्थार्चनस्याप्यपेक्षितत्वात्,

केशवार्चा गृहे यस्य न तिष्ठति महीपते ।
तस्यान्नं नैव भोक्तव्यमभक्ष्येण समं हि तत् ॥

इति स्वगृहेऽपि भगवद्बिम्बार्चनस्यावश्यकत्वोक्तेः । "स्वार्थस्यापि परार्थस्य पूजायामधिकारिणः" इत्युभयत्राप्यधिकाराच्चास्माकमपि स्वार्थं भगवदाराधनमावश्यकमिति बोध्यम् ।

ननु चाऽस्तु नाम भवतां स्वार्थपरार्थार्चनयोरधिकारः, स्वगृहे भगवदर्चनावश्यकत्वमपि । स्वार्थपरार्थाधिकारिणो भवदीया बहवः सन्ति । न हि सर्वैरपि सर्वदा परार्थयजनं क्रियते । अतः परार्थाराधनं कुर्वतैव स्वार्थाराधनमपि कार्यम् । पितृसंविभागस्तु प्रत्येकं न कार्य इति को वा नियम इति चेत्, केनोक्तं तथा । जनान्तराविद्यमानत्वदशायामेकेनैव स्वार्थपरार्थार्चनद्वयमपि कृतं चेत्, तदा परार्थं भगवन्मन्दिरे स्वगृहे [5]वाऽस्तु देवपितृसंविभागानुष्ठानम्, [6]कर्तृभेदे तु प्रत्येकानुष्ठानमित्यस्माकमप्याशयो ज्ञेयः ।

---

१. सप्तमः—मु० । २. धातां—ई० । ३. स्वेज्यया—ई० । ४. नार्चने—ई० पा० । ५. वा सकृ—अ० । ६. अत्र—अ० ।

नन्वेवं सति परार्थभगवन्मन्दिरेऽपि प्राभातिकार्चनादिषु कर्तृभेदे सति प्रत्यर्चनं पितृसंविभागः स्यादिति चेन्न, तत्र कर्तृभेदस्यानुक्तत्वात्, एकं कर्तारमुद्दिश्यैव प्राभातिकार्चनादिद्वादशकालविभागोक्तेः, प्रत्यर्चनं पितृसंविभागस्य कर्तव्यत्वानुक्तेश्च। न च स्वार्थेऽपि होमः पितृसंविभागश्च नोक्त एव, अत्र तु "कुण्डस्य योनिनिकटे दक्षिणाग्रांस्तरेत् कुशान्" (६।१६३) इति वह्निसमर्पणानन्तरं कुण्डसमीपे कर्तव्यत्वेनोक्तः पितृसंविभागः परार्थार्चनविषय इति वाच्यम्, स्वार्थे चाराधनस्यैकरूप्येणानुष्ठेयत्वात्।

ननु तर्हि भवदुक्तसंप्रदायप्रदीपिकायां स्वार्थार्चने बहुशो वैरूप्यं दृश्यते। होमः पितृसंविभागश्च नोक्त इति चेत्, सत्यम्। तत्र स्वार्थमात्राधिकारिणां सुखबोधाय श्रीमद्भाष्यकारोक्तरीत्यनुसारेणाराधनक्रमः प्रदर्शितः। स्वार्थपरार्थोभयाधिकारिभिरस्माभिस्तु स्वसिद्धान्तस्वे[1]संहितोक्तक्रमेणैवोभयत्राप्याराधनप्रतिष्ठादेरनुष्ठेयत्वं बोध्यम्।

ननु श्रीसात्वताद्युक्तप्रकारेणानुष्ठानं कुर्वद्भिरपि स्वार्थे वह्निसंतर्पणं कुतो न क्रियत इति चेदुच्यते,

> मुख्यकल्पे तु होमान्तां[2] नित्यनैमित्तिकात्मिकाम्[3] ॥
> पूजां क्रमेण वै[4] कुर्यात् तत्तद्धोमावसानिकाम्।
> अनुकल्पे तु जप्यान्ताम्[5] (पा० सं० ९।९-१०)

इति जपान्तानुष्ठानस्यापि पारमेश्वराद्युपबृंहितत्वाज्जपान्तमस्माभिरनुष्ठीयत इति बोध्यमायुष्मता। अत एव नित्ये जपान्तमाराधनमुक्तम्। नित्यानुसारिण्यपि क्रियादीपे होमान्तो मुख्यकल्प एव दर्शितः।

ननु भवत्कृतेश्वरसंहिताव्याख्याने एवं[6] पितृसंविभागः प्राभातिकार्चनमात्रानुष्ठाने होमानन्तरं कार्य इत्युक्तम्, तदसंगतम्,

> प्रातर्मध्यन्दिनं सायं त्रयः काला यथाक्रमम्।
> तदानीमवशिष्टास्तु[7] घटिकाः स्वस्य कर्मणः ॥
> अनुकल्पे तु कालः स्यादेको मध्यन्दिनोऽर्थवा।
> माध्यन्दिनश्च नैशश्च द्वौ कालौ शक्तितो द्विज ॥ (पा० सं० ९।३६-३७)

इति माध्यन्दिनार्चनमात्रस्य पारमेश्वराद्युक्तत्वात् प्राभातिकार्चनमात्रस्य कुत्राप्यनुक्तत्वादिति चेत्, उच्यते—प्राभातिकार्चनमात्रस्याप्यनुष्ठानं द्वादश्यादिषु संभवतीति संतोष्टव्यमायुष्मता ॥१८०॥

---

१. 'स्व' नास्ति—अ०। २. 'न्ता''''त्मिकाः। पूजाः''''निकाः ॥' इति बहुवचनान्तः पाठः—पा०। ३. कात्मनाम्—अ०। ४. वा—अ०। ५. जप्यान्तम्—अ०। ६. प्रति—अ०। ७. ष्टा स्व—अ० म०। ८. न्दिने—अ०।

पश्चाच्छरीरयात्रार्थमभ्यर्थ्य परमेश्वरम् ।
लब्धानुज्ञस्तु वै कुर्यादात्मयागं यथाविधि ॥१८१॥
भोज्यं नैवेद्यपूर्वं तु सर्वमादाय पात्रगम् ।
विनिवेद्य च देवाय पवित्रीकृत्य चाम्भसा ॥१८२॥

अथानुयागविधिमाह—पश्चादिति षड्भिः । आत्मयागम् अनुयागमित्यर्थः ।

अ[1]बात्मतत्त्वं[2] विज्ञेयं विहितं[3] तस्य सर्वदा ।
आत्मनैवात्मसिद्ध्यर्थं यागमन्नेन तेन च ॥
सह यज्ञावशिष्टेन साम्बुना च फलादिना ।
(पौ० सं० ३१।१७१–१७२)

इति पौष्करोक्तेः । पवित्रीकृत्य चाम्भसेत्यत्र सच्चरित्ररक्षायाम्—"अयोग्यजननिरीक्षितत्व-यातयामत्वादिदोषसंभावनायां तन्निवृत्त्यर्थं पवित्रीकरणोक्तिः" (पृ० १२५) इति व्याख्यातम् । विनिवेद्य च देवायेत्यत्राऽन्तरात्मनिवेदनं बोध्यम्। तथा च सच्चरित्ररक्षायाम्—

हृदि ध्यायन् हरिं तस्मै निवेद्यान्नं समाहितः ।
मध्यमानामिकाङ्गुष्ठैर्गृहीत्वान्नं मितं[5] पुनः ॥
प्राणाय चेत्यपानाय व्यानाय च ततः परम् ।
उदानाय समानाय स्वाहेति जुहुयात् क्रमात् ॥ (पृ० ९७)

इति कर्मकाण्डवचनमुदाहृतम् । पारमेश्वरव्याख्याने तु—"देवाय स्वगृहार्चाभूताय विनिवेद्य" इति लिखितम्, तदप्रकृतम्, अस्य वाक्यस्यान्तरात्मनिवेदनपरत्वात् । तथा च सच्चरित्ररक्षायाम्—"ओदनपचने शु[6]च्यन्नं श्रपयित्वा वेद्यां भगवते न[7]यति । वेद्यां भगवन्तमिष्ट्वा तत्कारिभ्यः प्रयच्छति । कारिणोऽ[8]पि प्राप्तेनान्नेन वेद्यां[9] भगवन्तमिष्ट्वा तद्धात्र उपनयन्ति । उपनीतेन [10]धाता स्वयं च कुरुते [11]शिष्टेन च भृत्यान् बिभर्ति" इत्यादिरहस्याम्नायवाक्यार्थविचारणप्रकरणे धात्र उपनयन्तीति वाक्यस्यान्तरात्मपरत्वमुक्त्वा तत्साधकत्वेन च—"विनिवेद्य च देवाय पवित्रीकृत्य चाम्भसा" (६।१८२) (पृ० १२४) इत्यादिसात्वतवचनमुदाहृतम् ।

ननु भवदुदाहृतरहस्याम्नायवाक्येष्वेव भगवन्निवेदितान्नस्य कारिभ्यः प्रदानम्, तेनैवान्नेन कारिभिः स्वार्थभगवद्यजनं कार्यमित्युक्तं खलु, तत्पुनः कथमप्रकृतमिति चेत्, अनभिप्रायज्ञोऽसि । तस्मिन्नर्थे को वा[12] विवादः । तथा कारिप्राप्तान्नेन भगवद्यजनं सर्वसंमतम् । [13]किन्तु विनिवेद्य च देवायेत्यत्र तादृशार्थो वर्णितुं न शक्यते । यत

१. ज्ञः स–बक० । २. असावात्मत्वं–अ० । ३. विहितस्य–अ० म० । ४. नया–मु० । ५. समाहितः–मु० । ६. शुद्धचन्नं–अ० म० । ७. नयेति–अ० म० । ८. 'अपि' नास्ति–मु० । ९. 'वेद्य' नास्ति–अ० म० । १०. याताः–मु०, यातायाः–म० । ११. शिष्येण–अ० । १२. 'वा' नास्ति –अ० । १३. किञ्च–अ० ।

सत्यरूपा ह्यलक्ष्या[1] चाप्यनन्तदोषक्षयङ्करी ।
चेतसा चातुरात्मीया भावनीया च भावना ॥१८३॥
रसात्माऽध्यक्षसंज्ञोऽन्ने[2] स्वादुभावे[3] व्यवस्थितः ।
प्रद्युम्नो भगवान् रूपे चैतद्वीर्ये[4] तु लाङ्गलिन्[5] ॥१८४॥

एतद्वाक्यं नहि कारिणां कर्मानुष्ठाननिरूपकम्, अपि तु भगवन्तमिष्टवतः कारिप्रदानं कृतवतोऽनुयागं कुर्वतस्तत्प्रकारनिरूपकमिति बोध्यम् ।

ननु परार्थमिष्टवता स्वार्थे भगवान् परित्याज्यः किमिति चेत्, ब्रूमः—परिग्राह्य एव पे[6]त्रादिभिः पूजनीयः, स्वेन साष्टाङ्गप्रणामादिना सेव्यश्च । किन्त्वस्यापि साष्टाङ्ग-यजनं कर्तुं स्वस्यानवकाश इति ज्ञेयम् । अत एव पारमेश्वरादिषु द्वादशकालार्चनं कुर्वतः कालत्रयेऽप्याह्निकमात्रस्यावकाश उक्तः[7], न तु स्वार्थाराधनस्य प्रत्येकं कालः प्रदर्शितः । न च द्वादशकालार्चनं कुर्वतः स्वार्थार्चनावकाशो माऽस्तु, त्रिकालाद्यर्चनं कुर्वतः स्वार्थार्चने को विरोध इति वाच्यम्, तदानीमपि स्वार्थार्चनकालस्यानुक्तत्वमेव विरोधः । ननु—

प्रातर्मध्यन्दिनं सायं त्रयः कालाः प्रकीर्तिताः ।
तदानीमवशिष्टास्तु घटिकाः स्वस्य कर्मणः[9] ॥
इति स्वार्थाविरोधेन परार्थाधिकृतस्य च[10] ।
एकायनस्य विदुषः प्रोक्ताः कालाः क्रमेण तु ॥
तथैव[11] दीक्षितस्यापि सिद्धान्तरतचेतसः ।
(पा० सं० ९।३६, १५२–१५३)

इति पारमेश्वरोक्तः किं न श्रुत इति चेत्, ब्रूमः—तत्र स्वस्य कर्मण इत्यनेन स्वार्था-विरोधेनेत्यत्र स्वार्थशब्देन च स्नानादिनित्यकर्माण्येवोच्यन्ते, न स्वार्थाराधनमपि । यतस्तत्परार्थयजनवद् बह्वीभिर्घटिकाभिः कर्त्रन्तरेणैव साध्यम् । (नास्ति? अस्ति) च स्वार्थपरार्थयोरुभयोरप्येकेनैवाराधनं कार्यमिति पूर्वं भवदुक्तं खलु । तत्र किं नियामकमिति, अनुपपत्तिरेव नियामिका ।

ननु तदानीं बहुघटिकासाध्यं स्वार्थार्चनं कथं शीघ्रं साध्यत इति चेदुच्यते—

उत्सवावधिकं श्रेष्ठमाराधनमुदाहृतम् ।
होमान्तं मध्यमं प्रोक्तं प्रापणान्तमथाधमम् ॥
क्षुद्रं तु धूपदीपान्तमिदमाराधनं हरेः ।

---

१. क्ष्यात्मा–अटी० । २. ज्ञो वै–मु० अटी० अ० । ३. साधु–मु० अटी० । ४. एत–बख० अ० उ० । ५. ली–अ० उ० । ६. तत्रा–अ० । ७. नवमाध्याये । ८. यथाक्रमम्–मु० । ९. कर्मिणः–म० । १०. तु–मु० । ११. तथा वै–मु० ।

भोक्ता महात्मा भगवान् वासुदेवः स्वयं ह्यजः[1] ।
चतुःप्रणवसंजप्तं[2] ततोऽम्भश्चुलुकं पिबेत् ॥१८५॥

इति पाद्मोक्तेः,

> संक्षेपविस्तरे कुर्याद् देशकालानुकूलतः ॥
> नैव कुर्यादुपच्छेदं[3] यजेदञ्जलिनापि माम् । (४०।१०४–१०५)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेश्च लघुपक्षः साध्यत इति बोध्यम् । तथा चोक्तं पाञ्चरात्ररक्षायां तृतीयेऽधिकारे—"ईषच्छक्तौ संकुचितपूजनम्, एकोपचारमारभ्य तत्तच्छक्त्याद्यनुसारेण सहस्रोपचारान्तविधानात्" (पृ० १६८) इति । "यत्पुनरुपचारलोपे प्रत्यवायादिक-मुक्तम्—

> गन्धहीने भयोक्तिश्च[4] पुष्पहीने[5] तु संकुलम् ।
> नैवेद्यहीने दुर्भिक्षं मरणं मन्त्रहीनके ॥
> अमन्त्रमविधि चैवमकालं चैव पूजनम् ।
> नित्यं राष्ट्रभयं कुर्यात् तत्तद्ग्रामं तु नश्यति[6] ॥

इत्यादि, तदेतत्सर्वं राजराष्ट्रादिसमृद्ध्यर्थं काम्याराधनेष्वन्येष्वपि पूर्णानुष्ठानशक्तस्य संपूर्णानुष्ठानद्रव्यस्य लोभादिभिस्तत्तद्धानौ मुख्यकल्पसमर्थस्यानुकल्पेन वृत्तौ च दोषमाह, न तु नित्ये कर्मणि निष्कामस्य यथाशक्तिकरणे" (पृ० १७५–१७६) इति च स्पष्ट-मुक्तम् । रसात्माऽध्यक्षसंज्ञोऽन्न इत्यत्रान्नस्य वीर्यरूपरसेषु क्रमेण संकर्षणादीनां केवलं बलवीर्यतेजोरूपेणावस्थानं भाव्यम्, बलादीनां भोज्यगुणत्वात् । भोक्ता वासुदेवस्तु ज्ञानैश्वर्यशक्तिरूपेण भाव्यः, ज्ञानादीनां भोक्तृगुणत्वात् । तथा च पारमेश्वरे महाहविः-प्रकरणे—

> बलं वीर्यं च तेजश्च अर्घ्यपुष्पं समुत्क्षिपेत् ।
> केवलेन[7] च शास्त्रेण[8] नेत्रमन्त्रेण भावयेत् ॥
> ततः स्वदक्षिणे हस्ते विज्ञानैश्वर्यशक्तयः ।
> स्मर्तव्याः स्वस्वमन्त्रेण भोजकाः करणात्मकाः ॥
> स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा यथाभोगं बद्धया ग्रासमुद्रया ॥
> निवेदनीया वै विष्णोरन्नमूर्त्यन्तरस्थिताः ।
> रसवीर्यादि[9]भेदोत्थास्तेजोवीर्यबलात्मकाः[10] ॥ इति ।
> (१८।३७८–३८१)

---

१. त्वजः–अ० उ० । २. संभक्तं–मु० बक०, संभुक्तं–अटी० बख० । ३. दव–अ० म० । ४. त्पत्तिः–मु० । ५. पुष्टि–अ० । ६. तद्ग्रामं तु विनश्यति–मु० । ७. कवचेन–मु० । ८. शास्त्रेण–अ० । ९. रूपादि–मु० । १०. त्मिकाः–अ० म० ।

वक्त्रकुण्डेऽथ तेनैवाप्यन्नाहुतिचतुष्टयम् ।
हुत्वा चाभिमतैर्ग्रासैस्ततोऽश्नीयाद् यथारुचि ॥१८६॥

लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

तारिकामुच्चरन् कुर्यान्मामन्तस्थां[1] विभावयेत् ॥
सोमानन्दमयीं दिव्यां क्रमाद्यन्नाद्यतां गताम् ।
वीर्यरूपरसाकारां तेजोवीर्यबलात्मिकाम् ॥
ऐश्वर्यशक्तिविज्ञानरूपं भोक्तारमव्ययम् ।
आत्मानं पुण्डरीकाक्षं भावयेत् पुरुषोत्तमम् ॥ (४०।९६–९८) इति ।

अम्भश्चुलुकं पिबेदित्यत्र परिषेचनमपि कार्यम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

अस्त्रेण तारया प्रोक्ष्य तारया परिषिच्य च ।
उपस्तीर्य ततश्चापो[2] दद्यात् प्राणाहुतिं[3] ततः ॥ (४०।९५) इति ।

वक्त्रकुण्डेऽथ तेनैवेति प्रणवेनैव प्राणाहुतयः प्रतिपादिताः । अतः प्रसिद्धप्राणाहुतिमन्त्र-परित्यागान्न भेत्तव्यम् । यतः सच्चरित्ररक्षायाम्—"येषां[4] तु तत्र भगवदसाधारण-मन्त्रैर्वक्त्रकुण्डे होमो विहितः, न तेषु वैदिकमर्यादाविरोधः शङ्कनीयः, कल्पसूत्रप्रति-नियतधर्मान्तरवत् तदुपपत्तेः" (पृ० १३०) इति प्रत्यपादि । एवं च प्रणवेनैव प्राणाहुति-रिति नियमोऽपि नास्ति । यतः सच्चरित्ररक्षायाम्—

येन येन तु मन्त्रेण बहिराराधनक्रमे ।
वेद्यादिस्थस्य[5] देवस्य प्रापणं विनिवेदितम् ॥
तेन तेन तु मन्त्रेण जुहुयुर्[6]वक्त्रकुण्डके ।
चतुःपञ्चत्रिधा वापि प्राणपूर्वै[7]र्द्विजोत्तम ॥
केवला भक्तिपूतास्तु त्रयीधर्मरता द्विजाः ।
प्राणापानादिभिर्मन्त्रैर्जुहुयुः पञ्चधा क्रमात् ॥
हृदयस्थाय देवाय विष्णवे सर्वजिष्णवे । (पृ० १३०) इति ।

नन्वेवं प्राणापानादिमन्त्रान् विना साक्षात् तदन्तरात्मभगवदसाधारणमन्त्रै-राहुतिपक्षे निवेदितशेषं विना पृथगनेनानुयाग उदितः । अन्यथा निवेदितनिवेदनाख्यदोषः संभवति । अत एवात्र भोज्यं नैवेद्यपूर्वं तु समादायाथ पात्रगमिति नैवेद्यशब्दः प्रयुक्तः, न निवेदितशब्दः । नैवेद्यम् अन्तरात्मनिवेदनाय कल्पितमित्यर्थः स्वरसः । तथा सति पवित्रीकृत्य चाम्भसेत्युक्तेरपि सार्थक्यं भवतीति चेति सच्चरित्ररक्षादिकं कदापि न श्रुतवानसि, यतस्तत्र[8] सवन्दनाभिषेकन्यायेन निवेदितनिवेदनाख्यदोषः परिहृतः । निवेदितार्थकनैवेद्यशब्दा अपि बहुशस्तत्र तत्रोदाहृताः ॥ १८१–१८६ ॥

---

१. मां चान्तःस्थां–मु० । २. तया चापो–मु० । ३. हुतीस्तया–मु० । ४. एषां–अ० । ५. स्थलदेवस्य–म० । ६. जुहुयाद्–अ० । ७. प्रान्तपर्वै–अ० म० । ८. तत्र सच्चरित्ररक्षायां १२२–१३१ पृष्ठेषु विषयोऽयं प्रपञ्चितः ।

समाचम्य पुनर्यायात् प्रयतो भगवद्गृहम् ।
मनोबुद्ध्यभिमानेन सह न्यस्य धरातले ॥१८७॥
कूर्मवच्चतुरः पादान् शिरस्तत्रैव पञ्चमम् ।
प्रदक्षिणसमेतेन त्वेवंरूपेण सर्वदा ॥१८८॥
अष्टाङ्गेन नमस्कृत्य ह्युपविश्याग्रतः प्रभोः[1] ।
आगमाध्ययनं कुर्यात् तद्वाक्यार्थविचारणम्[2] ॥१८९॥

अथैवमनुयागानन्तरं पुनराचमनपूर्वकं भगवद्गृहप्रवेशं तत्र कर्तव्याष्टाङ्ग-प्रणामप्रकारमागमाध्ययनरूपस्वाध्यायं चाह—समाचम्येति त्रिभिः । अत्राष्टाङ्गेनेत्येक-वचनेन सकृत्प्रणामप्रतिपादकश्लोकद्वयमिदमेवेति[3] सूच्यते । अत एव श्रीमद्भाष्य-कारैरपि नित्यग्रन्थे—"भगवन्तमष्टाङ्गप्रणामेन प्रणम्य" (पृ० १८७) इत्येकवचनमेव प्रयुक्तम्, अष्टाङ्गप्रणामप्रतिपादकश्लोकद्वयमिदमेवोदाहृतं च (पृ० १८८) ।

नन्वत्र समयपरिच्छेदे—

प्रासादं देवदेवीयमाचार्यं पाञ्चरात्रिकम् ॥
अश्वत्थं च वटं धेनुं सत्समूहं गुरोर्गृहम् ।
दूरात् प्रदक्षिणं[4] कुर्यान्निकटात् प्रतिमां विभोः ॥
दण्डवत् प्रणिपातैस्तु नमस्कुर्याच्चतुर्दिशम् । (२१।११-१३)

[5]इति बहुवचनमपि वक्ष्यति । तस्य का गतिरिति चेत्, सत्यम् । तत्र चतुर्दिशमिति स्थानभेदोऽप्यस्तीति ज्ञेयम् ।

ननु च—"एकत्रिपञ्चस[6]प्तादिगणनाविषमं हि यत्" (३७।५३) इति विषम-प्रणामनिषेधकपौष्करोक्तिः, तदनुसा[7]रिणी—"तत्र प्रदक्षिणानि प्रणामांश्च युग्मान् कुर्यात्" (पृ० ११४) इति पञ्चरात्ररक्षोक्तिश्च भवता न श्रुता किमिति चेत्, उच्यते—पौष्करनिष्ठानामेव तदुक्तानुष्ठानम्, सात्वतनिष्ठानां तु सकृदेव प्रणामानुष्ठानं बोध्यम्, "सकृत्ते नमः, द्विस्ते नमः" इत्यादिभिः पक्षद्वयस्यापि श्रुत्युक्तत्वात्, तथैव शिष्टाचा-राच्च । आगमाध्ययनं कुर्यात् तद्वाक्यार्थविचारणमित्यत्र प[8]ञ्चरात्ररक्षायाम्—"तदिह भगवत्प्रीणनस्वचित्तरञ्जकेतिहासपुराणस्तोत्रनिगमान्तद्वयव्यापकमन्त्रादीनां श्रवणमननप्रवचनजपादयो वादसंवादादयश्च यौगिकज्ञानप्रदीपस्नेहायमानाः

---

१. तो विभोः—बक० बख० अ० उ० । २. णाम्—अ० उ० । ३. मिदह्लेः—अ० । ४. क्षिणी—मु० । ५. इत्यपि—अ० । ६. सत्तादि—अ० । ७. सारीणि—अ० । ८. पाञ्च—म० ।

प्राप्ते तु सन्ध्यासमये स्नात्वा वा जघनावधि ।
क्षालयित्वा ततः कुर्याद् वासःसम्परिवर्तनम् ॥१९०॥

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैवं सर्वतः ।
³अनिबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ (मनु० १२।६)

इत्यादिर्निर्दशितवाचिकपापोदयप्रतिबन्धिनश्च सर्वे व्यापारा यथासंभवं संभूय पृथग्भूय वा स्वाध्यायीभवन्ति" (पृ० १४९) इति संगृहीतं द्रष्टव्यम् ॥१८७–१८९॥

अथ सायन्तनस्नानादिनिद्रान्तं कर्तव्यकर्मणां क्रमं संक्षेपेणाह—प्राप्त इति सार्धैस्त्रिभिः । अत्र स्नात्वेत्यादिना सन्ध्योपासनादिकमुपलक्ष्यते । देवमर्चयित्वेत्यत्रार्चनप्रकारः, अग्निं यजेदित्यत्र होमप्रकारश्च पूर्वोक्त एव ग्राह्यः । एतेन स्वार्थपरार्थयोरुभयत्रापि कालद्वयार्चनं मुख्यं भवति, अविशेषेणोक्तत्वात् । सति विभवे पारमेश्वराद्युक्तं द्वादशकालार्चनादिकं परार्थे कार्यम्, तदुद्दिश्यैवोक्तत्वात् । सायमाचमनं चानुयागान्तमिति ज्ञेयम्,

सायंप्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितम् ।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥ (मनु० २।५२)

इति रात्रिभोजनस्यापि शास्त्रीयत्वात् ।

नन्वत्रानुयागः कण्ठरवेण नोक्तः, लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

सन्ध्यामुपास्य विधिवदभिगम्य च मां धिया ।
योगं युञ्जीत विधिवच्छास्त्रशुद्धेन चेतसा ॥ (४०।१०२)

इत्यत्रानुयागो नोक्तः, ईश्वरपारमेश्वरयोरपि—"सायन्तनार्चनं कुर्यात् षडङ्गं बलिपश्चिमम्" (ई० सं० ६।७८; पा० सं० ७।४३७) इति, "त्रिकालेष्वेकमष्टाङ्गं षडङ्गं चाचरेद् द्वयम्" (ई० सं० ६।७८; पा० सं० ७।४३४) इति च वह्निसंतर्पणान्तमेवार्चनमुक्तम् । एवं वचनेषु जागरूकेषु कथं रात्रावनुयागः शास्त्रीयो भवतीति चेत्, सत्यम् । अत्र सर्वत्रापि रात्रिभोजनस्य नैयत्याभावात् तथोक्तमिति ज्ञेयम् । यतः पाद्मे—

ततः पश्चिमसंध्यायां प्राप्तायां तत्र चोदितम् ।
जपहोमादिकं सर्वं कृत्वा परमपूरुषम् ॥
अर्चयित्वा यथान्यायं यथापूर्वमशेषतः ।
भुक्त्वा संविश्य शयने समुत्थाय महानिशि ॥
आचम्य प्रयतो भूत्वा ध्यात्वा परमपूरुषम् ।

---

१. वाससां परि–बक० बख० अ०, द्वाससः परि–उ० । २. चापि सर्वशः–मु० ३. असंबद्ध–मु० । ४. इत्यादीनि–अ० । ५. चापरे–अ० म० । ६. नन्तरं–अ० ।

अर्चयित्वार्घ्यपुष्पाद्यैर्देवमग्निं यजेत् ततः ।
यथाशक्ति जपं कुर्यादासाद्य शयनं ततः ॥१९१॥
समाधाय बहिर्देवं निरालम्बपदे स्थितम् ।
अप्रयत्नेन वै तावदनिरुद्धेन तेजसा ॥१९२॥

इति[1] रात्रिभोजनमप्युक्तम् । ननु रात्रिभोजनस्य नैयत्याभावेन तदप्रतिपादने समर्थित एकादश्याद्युपवासदिवसेषु[2] दिवाभोजनस्यापि नैयत्याभावात् तत् कथं प्रतिपादितमिति चेत्, ब्रूमः—दिवोपवासस्य क्वाचित्कत्वाद् रात्र्युपवासस्य पञ्चपर्वादिषु बाहुल्याद् दिवारात्र्यनुयागयोः प्रतिपादनाप्रतिपादने बोध्ये ।

नित्यग्रन्थेषु[3] दिवानुयागस्याप्यनुक्तिरेवमेव समर्थिता वेदान्ताचार्यैः पञ्चरात्र-रक्षायाम्—"तथाह्युपवासदिवसेष्वेकादश्यादिष्वनुयागस्य लोपो भवति । सप्ताङ्ग-मेव तदानीं यजनम् । अत एवानुयागस्यानियतत्वव्यञ्जनाय भाष्यकाराणां तदनुक्तिः । तदर्थकालश्च तस्मिन् दिवसे स्वाध्याययोगादिष्वन्यतमेन यथोचितं यापनीयः" (पृ० १६७) इति । अत्र सप्ताङ्गमित्यनेनैकादश्यादिष्वपि पितृसंविभागः कार्य इत्युक्तं भवति । स च तिलोदका(न्तरूपं ? न्नरूपो) न ब्राह्मणभोजनरूप इति ज्ञेयम्, यतस्तत्रैव कदाचिद् द्वादश्यादिषु प्रभाते पारणं भवति । तदर्थं[4] पूर्वं यजने कृतेऽपि स्वकालप्राप्तं मध्यन्दिनयजनं सप्ताङ्गमिति[5] भोजनानन्तरमपि पितृसंविभाग उक्तो नान्नश्राद्धरूपः, अपि तु तिलोदका(न्त?न्न)रूप एव ।

ननु भवता द्वादश्यादिषु प्राभातिकार्चनानन्तरमपि पितृसंविभागः कथमुक्त इति चेत्, सत्यम् । तत्[6] परार्थविषयम्, तत्र प्राभातिकार्चनस्याप्युक्तत्वात्, "तत्र प्राभा-तिकीं कुर्यात् पूजामष्टाङ्गसंयुताम्" (ई० सं० ६।७६; पा० सं० ७।४३२) इति कण्ठोक्तेश्च । स्वार्थे माध्याह्निकार्चनमात्रस्योक्तत्वात् । तदनन्तरमेव पितृसंविभागा-नुष्ठानमप्यस्माकमप्यविरुद्धं बोध्यम् ।

ननु च स्वार्थे इज्याकाले माध्याह्निकार्चनमात्रमुचितम् । सायन्तनार्चनमपि भवता कथमङ्गीकृतमिति चेत्, सत्यम् । तद्योगाङ्गं जयाख्यपाद्मादिष्वपि कण्ठरवेणोक्तं द्रष्टव्यम् । यथाशक्ति जपं कुर्यादित्यत्रागमाध्ययनरूपस्वाध्यायमन्त्रजपो बोध्यः, प्रसिद्ध-जपयज्ञस्य हविर्निवेदनानन्तरमेव कर्तव्यत्वात् । तथा च पञ्चरात्ररक्षायां संग्रहः— "अथ लोहितायति भास्करे यथासूत्रं सायंसन्ध्योपासनं सायंहोमः, पुनर्यथाशक्ति भग-वदभिगमनहविर्निवेदनपूर्वकं भोजनम् । केनचिन्निमित्तेन विलुप्ते भोजने प्राणाग्निहोत्र-मन्त्रजपः, ततश्च रात्रियोग्यस्वाध्यायो योगश्चेति क्रमः" (पृ० १५०) इति ।

---

१. इति ननु–अ० । २. सेऽपि–अ० । ३. ग्रन्थे तु–अ० । ४. व्याप–अ० ।
५. संप्राप्ताङ्ग–म० । ६. 'तत्' नास्ति–अ० ।

सह तेनैव वै निद्रा यावदभ्येति साम्प्रतम् ।
समुत्थायार्धरात्रेऽथ जितनिद्रो जितश्रमः ॥१९३॥
कमण्डलुस्थितेनैव समाचम्य तु वारिणा ।
गुरुं देवं नमस्कृत्य [1]ह्युपविश्याजिनासने ॥१९४॥

समाधाय बहिर्देवमित्यत्र तेन सह बहिःस्थितेन भगवता सहेत्यर्थः । निद्रा यावदभ्येति तावदन्तं बहिर्निरालम्बपदे स्थितं देवं समाधाय ध्यात्वेत्यर्थः । इह प्रयत्नपूर्वकं चित्तनिरोधं कृत्वा ध्याने कृते निद्रा न संभवति । तदभावे योगं कर्तुं चित्तस्वास्थ्यं न जायत इत्याशयेनाप्रयत्नेन[2]ानिरुद्धेन चेतसेत्युक्तम् । अ[3]स्य पदद्वयस्यापि समाधायेत्यत्रान्वयः । पारमेश्वरव्याख्याने तु—"अबहिः हृत्कमले" इति व्याख्यातम् । तन्मन्दम्, यतः सात्व[4]तेश्वरपारमेश्वरादिषु पञ्चरात्ररक्षादिषु (पृ० १६४) च समाधाय बहिर्देवमित्येकरूपः पाठो दृश्यते । तथा पाठाङ्गीकारेऽर्थ(ा)सामञ्जस्यमपि न संभवति ॥ १९०–१९३ ॥

अथ योगं दर्शयन् तत्पूर्वकृत्यमाह—समुत्थायेति सार्धेन । अयं श्लोकः पञ्चरात्ररक्षायामेव व्याख्यातः । तथाहि—"एतत्संहितानिष्ठानामेष योगकालनियमः । निश्शब्दे सर्वसुप्तिकाले चैकाग्र्यातिशयसंभावनया च तद्विधिः । तत्तत्पुरुषशक्त्याद्यनुसाराच्च तत्तत्कालविधेर्न विरोध इत्युक्तम् । त[5]त्र—

वै[6]र्णवीं धारयेद् यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ (४।३६)

इत्यादिभिर्मन्वाद्युपदिष्टसोदककमण्डलुधारणादिकं भगवद्योगिनोऽपि[7] विहितमिति ज्ञापनाय कमण्डलुस्थितेनैवेत्युक्तम्, निद्रान्तनिमित्ततयोत्तरकर्माङ्गतया च तन्त्रेणाचमनम् । तुशब्देन स्वशास्त्रोक्तविशेषः, तोयालाभदशायां दक्षिणश्रवणस्पर्शश्च व्य[8]ज्यते । स्मरन्ति हि—

एवमाचमनाशक्तावलाभे सलिलस्य च ।
पूर्वोक्तेषु निमित्तेषु दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥" (प० पृ० ८२–८३) इति ।

अजिनासन इति "चेलाजिनकुशोत्तरम्" (भ० गी० ६।११) इति गीते प्रधानांशग्रहणमिति ॥ १९३–१९४ ॥

---

१. उप–बक० । २. यत्ननिरु०–म० । ३. अद्य–अ० । ४. तपा–अ० । ५. अत्र–मु० । ६. वैष्णवीं–प० अ० म० । ७. नोऽप्यनपोदितमिति–मु० । ८. व्यज्यते–म० ।

न्यासं मन्त्रचतुष्केण कुर्यात् संहारलक्षणम् ।
आपादाज्जानुपर्यन्तमनिरुद्धं च विन्यसेत् ॥१९५॥
प्रद्युम्नाख्यं न्यसेन्मन्त्रं नाभ्यन्तं जानुमण्डलात् ।
नाभेरा[1]कर्णदेशं तु मन्त्रं[2] साङ्कर्षणं न्यसेत् ॥१९६॥
आ[3]कर्णाद् ब्रह्मरन्ध्रान्तं चतुर्थं विनिवेश्य[4] च ।
ततस्त्वभिमतेनैव त्वास्ते पद्मासनादिना ॥१९७॥
स्वात्मना चातुरात्मीयमभिमानं समाश्रयेत् ।
समं कायशिरोग्रीवं सन्धाय[5] सह वक्षसा ॥१९८॥

अथ वासुदेवादिमन्त्रचतुष्टयस्य स्वशरीरे संहारक्रमेण न्यासं पद्मासनादिष्वन्यतमेनोपवेशनं स्वस्मिन् चातुरात्मीयाभिमानावलम्बनं चाह—न्यासमिति सार्धैस्त्रिभिः। चातुरात्मीय[6]मभिमानं समाश्रयेदित्यत्र तत्तन्मन्त्रजपध्यानकाले तत्तन्मूर्तितादात्म्यावलम्बनं बोध्यम्, अन्यथा युगपत्सर्वमूर्तितादात्म्याश्रयणस्याशक्यत्वात् तस्य प्रत्येकमेव वक्ष्यमाणत्वाच्च। अत्र चातुरात्म्यार्चनप्रकरणादेवं[7] चतुर्भिर्मन्त्रैर्योगानुष्ठानादिकमुक्तम्। नह्येकमूर्त्यर्चनविभवार्चनादिप्रकरणेऽप्येतैरेव मन्त्रैर्योगोऽनुष्ठेय इति नियमः, अपि तु तत्तत्प्रकरणानुसारिमन्त्रैरिति बोध्यम्।

ननु [8]पञ्चरात्ररक्षायामत्र मन्त्रचतुष्कादिव्यतिरिक्तं सर्वं संहितान्तरनिष्ठानामपि साधारणमित्युक्तम्। एतेनैतत्संहितानिष्ठानां सर्वप्रकरणेष्वपि मन्त्रचतुष्केणैव योग इति ज्ञायते, यतस्तत्र प्रकरणान्तरनिष्ठानामपीति नोक्तमिति चेत्, ब्रूमः—अत्र[9] चातुरात्म्याराधनस्यैव विस्तरात् प्रकरणान्तरस्य संकुचितत्वात् प्रकरणान्तरेऽपि साधारणमिति नोक्तम्। संहितान्तरनिष्ठानामपि साधारणमित्यनेनैव तदर्थोऽपि किंपुनर्न्यायेन सिद्धो भवतीति ज्ञेयम्। अन्यथा सर्वेषामपि व्यूहचतुष्टयेनैव योगानुष्ठाननियमे—

कैवल्यफलदा ह्येका भोगकैवल्यदा परा।
भोगदैव तृतीया च प्रबुद्धानां सदैव हि॥ (१९।४)

इति वक्ष्यमाणपरादिमन्त्रदीक्षितृफलभेदानुसारेण कैवल्येच्छया केवलं परात्परमन्त्रं प्राप्तवतां काम्येच्छया विभवमन्त्रमात्रमधिकृतवतां च योगानुष्ठानं न संभवेत्। अतो यस्य यस्मिन् मन्त्रेऽभिरतिस्तस्य तेन योगानुष्ठानमिति सिद्धम्॥ १९५–१९८॥

---

१. कण्ठ—उ०। २. साङ्कर्षणं च मन्त्रराट्—बक० बख० अ० उ०। ३. कण्ठा—उ०। ४. योज्य—बक० बख० अ०। ५. धार्य—बक० बख० अ० उ०। ६. त्मिकयाभि—अ०, रात्मीकयाऽभि—म०। ७. णात्, एवं म०। ८. श्रीपञ्च—म०। ९. अतः—अ०।

दृङ्नासाग्रगता कार्या विनिमीलितलक्षणा ।
जिह्वा तालुतलस्था च सान्तरे[1] दशनावली ॥१९९॥
ईषदोष्ठपुटौ लग्नौ धार्ये द्वे बाहुकूर्परे[2] ।
ऊरुमध्यप्रदेशे तु हस्तौ नाभावधो[3] न्यसेत् ॥२००॥
अधरोत्तरयोगेन वामदक्षिणतः क्रमात् ।
अचलं योगपट्टेन त्वेवं सन्धार्य विग्रहम् ॥२०१॥
सङ्कोच्यापानदेशं त्व[4]प्युपरिष्टात् तमेव हि ।
विकास्या[5]वर्णहीनेन हार्णेनालक्ष्यमूर्तिना ॥२०२॥
विषयान्तर्निविष्टं तु क्रमाच्चित्तं समाहरेत् ।
कुर्याद् वै बुद्धिलीनं तु तां[6] च कुर्यात् स्वगोचरे ॥२०३॥

अथ योगानुष्ठानकाले कायशिरःप्रभृत्यवयवानां [7]सन्धारणक्रममाह—सममिति सार्धैश्चतुर्भिः[8] ॥१९८–२०२॥

ततो विषयेभ्यश्चित्तमाकृष्य बुद्धौ संयोज्य बुद्धिं स्वगोचरे भगवति न्यसेदित्याह—विषयेति । तथा च [9]पञ्चरात्ररक्षायां शाण्डिल्यस्मृतौ—

ईदृशः परमात्माऽयं प्रत्यगात्माऽयमीदृशः[10] ।
तत्संबन्धानुसंधानमिति योगः प्रकीर्तितः ॥
योगो नामेन्द्रियैर्वश्यैर्बुद्धेर्ब्रह्मणि सस्थितिः ।
प्रयुक्तैरप्रयुक्तैर्वा भगवत्कर्मविस्तरैः[11] ॥ (पृ० ५९) इति ।
(शा० स्मृ० ५।१३–१४)

तत्रैव तृतीयेऽधिकारे (पृ० १५८) पराशरः—

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥ इति ॥ २०३ ॥
(विष्णु० पु० ६।७।३१)

जाग्रत्पदमारभ्य तुर्यपदान्तं तत्तत्पदस्थितेन परमात्मना सह तत्तन्मन्त्रजपपुरस्सरं प्रत्यगात्मनः संयोगभावनामुक्त्वा तां विस्तरेण वक्ष्यामि शृण्वित्याह—समाधायेति । तथा च पञ्चरात्ररक्षायां दक्षः—

---

१. रा–उ० । २. कोप–बक० बख० अ० उ० । ३. धस्त्यजेत्–अ० उ० । ४. तु उ–बक० बख० अ० । ५. स्य–बक० बख, र्या–अ० । ६. तच्च–मु० अटी० । ७. साधा–अ० । ८. सार्धैः पञ्चभिः–अ० । ९. पाञ्च–अ० । १०. तथेदृशः–मु० । ११. विस्तरः–अ० म० ।

समाधायात्मनात्मानं सह मन्त्रैस्ततः क्रमात् ।
आ जाग्रत्पदभूमेर्वै[1] यथा तद् गदतः शृणु ॥२०४॥
मध्याह्नभास्कराकारैः सर्वैः संशान्तविग्रहैः ।
स्मरेत् पूर्वोदितं पद्मं चातुरात्म्यैरधिष्ठितम् ॥२०५॥
ततो जाग्रत्पदस्थं चाप्यनिरुद्धं च मन्त्रराट् ।
परावर्त्य[2] शतं बुद्ध्या तदभिन्नेन चात्मना ॥२०६॥
तन्मन्त्रजपसामर्थ्यात्[3] तादात्म्यस्थितिबन्धनात् ।
महिमा तु सविज्ञानस्तदीयस्तस्य जायते ॥२०७॥
अभ्यासाद् वत्सरान्ते तु तदद्वैतसमन्वितम्[3] ।
अथ प्रद्युम्नमन्त्रं तु परावर्त्य[4] शतद्वयम् ॥२०८॥
योऽयं सोऽहमनेनैवाप्यद्वैतेन[5] सदैव हि ।
एवमेव समभ्यासाद् मतिमांश्छिन्नसंशयः ॥२०९॥

सर्वभावविनिर्मुक्तं[6] क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत् ।
एतद्ध्यानं च योगश्च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥ (द० स्मृ० ७।२०) इति ।
याज्ञवल्क्यश्च—"[7]वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि[8] न्यसेत्" इति। वृत्तिहीनं बाह्यवृत्तिरहितमित्यर्थः" (पृ० ७६) ॥ २०४ ॥

विस्तरेण योगप्रकारमाह—मध्याह्नभास्कराकारैरित्यारभ्य ब्रह्म संपद्यते तदेत्यन्तम् । अस्यार्थः—स्वहृदयकमलं तत्तत्पदभेदेन चातुरात्म्यैरधिष्ठितं स्मृत्वा जाग्रत्पदस्थेनानिरुद्धेन सह [9]आत्मानमेकीभूतं ध्यायन् प्रत्यहं तन्मन्त्रं शतवारं जपेत्। एवं तन्मन्त्रजपसामर्थ्याच्च तदीयं ज्ञानं माहात्म्यं च स्वस्यापि संभवति। एवमेकं संवत्सरं योगाभ्यासे कृतेऽनिरुद्धतादात्म्यसमन्वितो भवति। तदनन्तरमनिरुद्धं मन्त्रेण सह प्रद्युम्ने[10] संहृत्य प्रद्युम्नोऽहमिति तादात्म्यभावनां कुर्वन् प्रत्यहं तन्मन्त्रं शतद्वयं जपन् पुनरेकं संवत्सरं नयेत् । एतेन प्रद्युम्नप्रभावो[11] भवति । एवंरीत्या संकर्षणमन्त्रं वासुदेवमन्त्रं [12]स्वप्नव्यूहानिरुद्धादिवासुदेवान्तमन्त्रचतुष्टयं तथा सुषुप्तिव्यूहचतुष्टयं च प्रत्येकमेकैकं संवत्सरं जपवृद्धिक्रमेण तत्तादात्म्यभावनया सहाऽभ्यसन् तत्तन्मन्त्रं तदुत्तरमन्त्रे उपसंहरन् सुषुप्तिव्यूहवासुदेवमपि पूर्वोक्तलक्षण-

---

१. पाद—बक० बख० अ० । २. जाप—अ० उ० । ३. तः—अ० उ० । ४. वृत्य—मु० अटी०, वर्ति—बख० । ५. मतो नैव ह्यद्वैतेन सदेव—मु० अटी० । ६. सर्वोपाधि—मु० । ७. एतद्वचनमपि दक्षस्मृतौ (७।१५) समुपलभ्यते । ८. परमात्मनि—मु० । ९. आत्मना एकी—अ० । १०. प्रद्युम्नेन—अ० । ११. प्रकारो—अ० । १२. स्वप्नं—अ० ।

तत्प्रभावाच्च तेनैव तथा कालेन जायते ।
अनेन क्रमयोगेन जपवृद्ध्याऽन्वितेन तु ॥२१०॥
निखिलं चाप्यधी[1]कुर्याद् मन्त्रवृन्दं पुरोदितम् ।
यावदाभाति भगवान् स्थाने पूर्वोक्तलक्षणे ॥२११॥
प्रलीनमूर्तिरम[2]लो ह्यनन्तस्तेजसां निधिः ।
चिदानन्दघनः शान्तो ह्य[3]नौपम्यो ह्यनाकुलः ॥२१२॥
समाधायात्मनात्मानं तत्र त्यक्त्वा जपक्रियाम् ।
ध्यातृध्येयौ[4]विभागेन यावत् तन्मयतां व्रजेत् ॥२१३॥

तुर्य[5]स्थाने स्थिते परात्परवासुदेवे उपसंहरन् तत्तादात्म्यभावनया तन्मन्त्रं ध्यातृध्येयाविभागेन यावत्तन्मयत्वं व्रजेत् तावदन्तं जपन् ततो जपक्रियां त्य[6]जेत् । एवमभ्यासाद् भगवद्यो(गि?गी) वेद्यवेदकभावैं[7]रहिते समाधौ यदा स्थितिं लभते, तदा ब्रह्म संपद्यते । ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । परमसाम्यं भजतीति यावत् । यत्र यत्र योऽयं सोऽहमित्येवंरीत्या तत्तद्व्यूहतादात्म्याश्रयणमर्प्यु[8]क्तम्, तेन स्वस्य तदद्वैतसिद्धिश्च प्रतिपादिता । अत्र[9] सर्वनामस्वरूपैक्यं चिन्तनीयम् । यतः—

[10]योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं न तेन कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥

इत्यन्यथा ज्ञानेन फलवैपरीत्यमुक्तम् । अपि तु तत्र सर्वप्रकारैक्यं बोध्यम्, यतः प्रकारैक्ये चास्ति तत्त्वव्यवहारः—सोऽयं गौरिति[11] ।

ननु "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६।२।१), "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६।८।७) इत्यादिश्रुतिशतसिद्धं स्वरूपैक्यम[12]पलपतां युष्माकमेवान्यथा ज्ञानमिति चेत्, ब्रूमः—किमिदानीमस्माभिस्तत्त्वनिर्णयः क्रियते ? श्रीमद्भाष्यकारप्रभृतिभिर्निर्णीते विषये किमावयोर्विवादेन । नन्वत्र समाधायात्मनात्मानं सह मन्त्रैस्ततः क्रमादिति, तदभिन्नेन चात्मनेति, तदद्वैतसमन्वितवविति, योऽयं सोऽहमनेनैवाप्यद्वैतेन सदैव हीति, ध्यातृध्येयाविभागेन यावत्तन्मयतां व्रजेदिति, ब्रह्म संपद्यते तदेति च सुस्पष्टं शुद्धाद्वैतमसकृदुपदिश्यते । एतद्वाक्यजातं सर्वमद्वैतमनङ्गीकुर्वतां भवतां विरुद्धम्, भवद्भाष्यादिषु न विचारितं च । अतोऽस्मिन् विषये वयं विप्रतिपद्यामहे, इति चेत्, सत्यम् । स्वशास्त्रतया न तद्वचनजातं भाष्यादिषु (न ?) विचारितम्, तथाप्ये-

---

१. प्ययी—अ०, प्यथे—उ० । २. मो—मु०, नो—अटी० । ३. ह्यतु—बक० बख० । ४. ध्येय—मु० । ५. स्तुर्य—अ० । ६. त्यजन्—अ० । ७. पाप—अ० । ८. मुक्तम्—म० । ९. तत्र—अ० । १०. मनुस्मृतौ (४।२५५) स्वरूपान्तरेण दृश्यतेऽयं श्लोकः । ११. गौरीति—अ० । १२. मफलयतां—अ० ।

यदा संवेद्यनिर्मुक्ते समाधौ लभते स्थितिम् ।
अभ्यासाद् भगवद्योगी ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥२१४॥
तत[1]ः श्रमजयं कुर्यात् त्यक्त्वा ध्यानासने क्रमात् ।
समाप्ते शयनस्थश्च का[2]लं रात्रिक्षयावधि ॥२१५॥
ब्राह्मे मुहूर्ते सम्प्राप्ते ह्युत्थाय शयनात् ततः ।
स्नात्वाऽभ्यर्च्य जगन्नाथं समिद्दानं समाचरेत् ॥२१६॥
जुहुयाच्च यथाशक्ति ततस्तिलघृतादि यत् ।
ऊ[3]नातिरिक्तशान्त्यर्थं सर्वकर्मसमाप्तये ॥२१७॥
दद्यात् पूर्णाहुतिं कृत्वा पूर्ववत् सेच[4]नादिकम् ।
त[5]तो देवं तु पीठस्थं कुण्डस्थमनलं ततः ॥२१८॥
न्यासद्वयं च संहृत्य मनसा च स्वविग्रहात् ।
निःशेषस्योपसंहारं कुर्यादर्घ्यादिकस्य च ॥२१९॥

तत्सजातीयश्रुतीतिहासपुराणवाक्यानां विचारितत्वादेषामपि चारिताथ्यं बोध्यम् । विचारितं चैतत् सर्वमपि वेदान्ताचार्यैः प[6]ञ्चरात्ररक्षायां द्रष्टव्यम् ॥२०५–२१४॥

एवं योगानुष्ठानानन्तरं पुन[7]र्ब्राह्ममुहूर्तपर्यन्तं विश्राममाह—तत इति ॥२१५॥

ब्राह्ममुहूर्तमारभ्य कर्तव्यक्रमं संक्षेपेणाह—ब्राह्म इति पञ्चभिः । न्यासद्वयं करन्यासाङ्गन्यासयोर्द्वयमित्यर्थः । एवं न्यासोपसंहारानन्तरमनुयागादिकं कार्यम् । तथा च जयाख्ये—

यागस्थानाच्च तिलकं कृत्वा न्यासं स्वविह्रग्रात् ।
उपसंहृत्य मेधावी कुर्याद् वै भोजनादिकम् ॥ (१५।२६१) इति ।

लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

अर्घ्याद्यमुपसंहृत्य वर्मास्त्रै[8]ः प्रतिगृह्य च ।
उपसंहृत्य च न्यासमनुयागं समाचरेत् ॥ (४०।९४) इति ।

एवं भोजनात् पूर्वं न्यासस्योपसंहृतत्वात् पुनः सायंपूजारम्भे न्यासोऽनुष्ठेय इति ज्ञायते । यद्यपिपारमेश्वरे—

श्रेष्ठः प्रभातकालः स्यात् त्रिषु कालेषु वै पुनः ।
यथावन्मन्त्रविन्यासमात्मनः करदेहयोः ॥
हृद्यागं स्थानसंशुद्धिं सायामां भौतिकीं ततः ।
नित्यं प्राभा[9]तिके कुर्यादन्यत्रेच्छानुसारतः ॥ (९।४–५)

१. तत्र—मु०, तत्राश्रमजपं—बक० । २. काल—बक० । ३. न्यूना—बक० बख० । ४. स्नपना—अ० ।५. कृत्वा—बक० बख०, क्षान्त्वा—अ० उ० । ६. तृतीयाधिकारारम्भे विषयोऽयं विचारितः । ७. 'पुनः' नास्ति—अ० । ८. वर्मास्त्रे प्रतिहृत्य—मु० । ९. प्रभातके—अ० ।

यागोद्देशात्तथा कुण्डात् स्तराद्यस्याखिलस्य च ।
सहोपलेपनेनैव सर्वमम्भसि निक्षिपेत् ॥२२०॥
सकृत् त्र्यहं च सप्ताहं पक्षं मासमथापि वा ।
यो यजेद् विधिनाऽनेन भक्तिश्रद्धासमन्वितः ॥२२१॥
सोऽपि यायात् परं स्थानं किं पुनर्योऽत्र संस्थितः ।
यावज्जीवावधिं कालं बद्धकक्ष्यो महामतिः ॥२२२॥
इत्युक्तं चातुरात्मीयं समासादमलेक्षण ।
सबाह्याभ्यन्तरं सम्यङ्मया ते यजनं शुभम् ॥२२३॥
यज्ज्ञात्वा क्षयमायाति त्वविद्याबीजमक्षयम् ।
अचिरादेव भविनां भक्तानां भावितात्मनाम् ॥२२४॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां चातुरात्म्याराधनं नाम षष्ठः परिच्छेदः ॥

■

इत्युक्तम्, तथापि तन्माध्याह्निकार्चनादिष्वनुपसंहृतन्यासपूजकविषयम्। सायंपूजारम्भे तु न्यासोऽवश्यमनुष्ठेयः, मध्याह्नानुयागात् पूर्वमेव न्यासस्योपसंहृतत्वात्, न्यासं विना पूजनानौचित्याच्च ॥ २१६–२२० ॥

एवमाराधनस्य यथाशक्त्यनुष्ठानेऽपि साफल्यमाह—सकृदिति द्वाभ्याम् ॥ २२१–२२२ ॥

उक्तमर्थं निगमयति—इतीति द्वाभ्याम् ॥ २२३–२२४ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये षष्ठः परिच्छेदः ॥

■

१. यागा–मु० अटी० । २. सहोपलेन केनैव सर्वम्महसि–मु०, सहोपलेन केन वै सर्वं मनसि–अटी०, सहोपलेनैव सर्वं–उ० । ईश्वरसंहिता(६।११५)ऽनुसारी पाठो मूले स्थापितः । ३. विक्षि–उ० । ४. म्यक् प्रभाते–अटी० । ५. क्षरम्–मु० अटी० ६. हविनां–अ० । ७. सो वाक्य–अ० ।

सप्तमः परिच्छेदः

नारद[1] उवाच

प्रसन्नेनाथ विभुना यदुक्तो लाङ्गली पुनः ।
निश्श्रेयस्सकरं कर्म तदाकर्णयत[2] द्विजाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु ब्रह्ममयं पुण्यमपुण्यचयदाहकृत् ।
तत्त्वतः प्रतिपन्नानामचिरादेव सिद्धिदम् ॥ २ ॥
परं ब्रह्म परं धाम चातुरात्मकमव्ययम् ।
जाग्रत्संज्ञे स्वयं यत्तु पदे व्यक्तचतुर्भुजम् ॥ ३ ॥
[3]नूनं कर्मात्मतत्त्वानां भवदुःखप्रशान्तये ।
भावमाक्रम्य रूपेण तेन मोक्षप्रदेन च ॥ ४ ॥
ततस्त्वप्ययययोगेन स्वस्वमूर्तिचतुष्टयम् ।
नीत्वा परिणतिं योगादात्मन्यास्ते च पूर्ववत् ॥ ५ ॥
अनुग्रहार्थं[5] भविनां[4] नानाकृत्या तु वै पुनः ।
देहकान्तिमनुज्झित्य दिक्क्रमेण तु वै सह ॥ ६ ॥

अथ सप्तमो व्याख्यास्यते । नारदो मुनीन् प्रति वासुदेवेन संकर्षणायोपदिष्टं व्रताख्यं[6] कर्म शृणुध्वमित्याह—प्रसन्नेनेति ॥ १ ॥

भगवान् संकर्षणं प्रत्याह—शृण्विति । पुण्यं पुण्यावहम् । अपुण्यचयदाहकृत् पापविध्वंसकम् । कर्मेत्यनुषङ्गः ॥ २ ॥

पूर्वोक्तं परात्परं नित्योदितव्यूहाख्यं वासुदेवादिचतुष्टयमेव पूर्वोक्तजाग्रद्व्यूहरूपेणाविर्भूतम्, तज्जीवात्मनां संसारखेदनिवृत्त्यर्थं तेनैव रूपेण च व्यक्तीभूय जाग्रत्पदे विदिक्ष्वप्ययक्रमेणावतीर्णं पुरुषादिमूर्तिचतुष्टयं स्वात्मन्युपसंहृत्य पुनः संसारिणामनुग्रहार्थं प्रत्येकं त्रिधा त्रिधा वासुदेवः केशवादित्रिकरूपेण, संकर्षणो गोविन्दादित्रिक-

---

१. नारद इत्येव उ० विहाय सर्वत्र पाठः । २. य साम्प्रतम्—बक० बख०, यतः शृणु—उ० । ३. न्यूनं—मु० बक० बख० अ० अटी० । ४. भक्तानां—बख०, हविनां—अ० । ५. न्ति ह्यनु—बक० बख० उ० । ६. वृत्त्याख्यं—अ० ।

पौरुषेण तु रूपेण प्रत्येकेन त्रिधा त्रिधा ।
वासुदेवादिकेनैव [1]व्यक्तचक्रादिना युतम् ॥ ७ ॥
उत्कृष्टा[2]दिगुणाढ्यानामा सृष्टेर्नान्ययाजिनाम् ।
वर्णानां जनकत्वेन व्यक्तिमभ्येति शाश्वतीम् ॥ ८ ॥
यां समालम्ब्य संसारादचिरादेव यान्ति च ।
सुप्रबुद्धै[3]ः परं धाम दानधर्म[4]व्रतादिना ॥ ९ ॥
कर्तव्यमिति वै कर्म[8] त्वैश्[5]वर्यं यः समाचरेत् ।
भक्त्या व्रतच्छलेनैव तस्यायं विहितः क्रमः ॥ १० ॥
कार्तिकस्य दशम्यां तु मासस्य तु निशागमे ।
घृतेन पञ्चगव्येन बिम्बपादाम्भसा तु वा ॥ ११ ॥

रूपेण, प्रद्युम्नस्त्रिविक्रमादित्रिकरूपेण, अनिरुद्धो हृषीकेशादित्रिकरूपेण व्यक्तचक्रादि-लाञ्छनैः सह भगवदेकान्तिनां पोषकत्वेन शाश्वतीमभिव्यक्तिमभ्येतीत्याह—परं ब्रह्मेति षड्भिः । देहकान्तिमनुज्झित्येत्यनेन जाग्रद्व्यूहवासुदेवादिचतुष्टयस्य [6]पूर्वं यादृशो वर्णभेद उक्तः, केशवादित्रिकचतुष्टयस्यापि तादृश एवेत्युक्तं भवति ॥ ३–८ ॥

एवं केशवादिरूपेणाभिव्यक्तेः प्रयोजनमाह—यामिति ॥ ९ ॥

अतो वासुदेवादीनां केशवादीनां च प्रीणनव्रतानुष्ठानक्रमो वक्ष्यत इत्याह—कर्तव्यमितीति । ऐश्वर्यम् ईश्वरसंबन्धि, तत्प्रीणनमित्यर्थः । यद्वा ऐहलौकिकैश्वर्यादि-संपादकमित्यर्थः । उभयथा कर्मणो विशेषणम् ॥ १० ॥

दशम्यां सायंकाले पञ्चगव्यौ(व्य)न्यतमप्राशनेन स्वशरीरशुद्धिमाचमनप्राणायामौ कुशोदकप्रक्षेपपूर्वकं संकल्पं चाह—कार्तिकस्येति सार्धद्वाभ्याम् । घृतेन पञ्चगव्येन बिम्बपादाम्भसा तु [9]वेत्यत्रोत्तरोत्तरं श्रेष्ठं संबोध्यम् । तथा च सच्चरित्ररक्षायां तृतीयेऽधिकारे ब्रह्माण्डे—

"पृथिव्यां यानि तीर्थानि तेषु स्नातेषु[10] यत्फलम् ।
विष्णोः पादोदकं मूर्ध्नि[11] धारयेत् सर्वमाप्नुयात् ॥
मानवो यस्तु गङ्गायां स्नानं पानं समाचरेत् ।
तस्य यादृग् भवेत् पुण्यं तादृक् पादाम्बुधारणात् ॥
त्रिषु लोकेषु यत्तीर्थं प्रयागं पुष्करादिकम् ।
तत्पादयुग्मे कृष्णस्य तत्र तिष्ठति नित्यशः ॥

१. तस्यायं विहितः क्रमः—उ० । २. ष्टद्यादिगुणाढ्यनामकृष्टे—मु० अटी० । ३. प्रबुद्धां—मु०, प्रसिद्धं—अटी० बक०, प्रबुद्ध—बख० । ४. नाम्—बक० बख० अ० उ० । ५. श्वरं—बख० अ० । ६. 'पूर्वं' नास्ति—अ० । ७. गव्यप्राश—म० । ८. क्रत्वे—अ० । ९. त्रोत्तरत्र—अ० । १०. स्नानेषु—अ० म० । ११. मूर्ध्ना—मु० म० ।

कृत्वा स्वकोष्ठसंशुद्धिं निस्सृत्योदरगं[1] मलम् ।
स्मरन् प्रभुं समाचम्य पाणौ कृत्वा कुशोदकम् ॥ १२ ॥
तत्क्षेपपूर्वं सङ्कल्प आवर्तव्यो व्रतं प्रति ।
ॐ व्रताधिपतये देव नित्यनिर्मलमूर्तये ॥ १३ ॥
वत्सरं परिपीडैस्तु[2] त्वामहं तोषयाम्यजम् ।
प्रयतो दर्भशय्यायां क्ष्मातले रजनीं नयेत् ॥ १४ ॥
एकादश्यां प्रभातेऽथ स्नात्वा देवमधोक्षजम् ।
ध्यात्वाऽभ्यर्च्य यथापूर्वं नानानामान्तरैः शुभैः ॥ १५॥

श्रीभागवते—

पादोदकस्य माहात्म्यं जानात्येव हि शङ्करः ।
विष्णुपादोद्भवां गङ्गां शिरसा धारयन्[3] हि सः ॥
प्रायश्चित्तमनुप्राप्तैः[4] कृच्छ्रं वाप्यघमर्षणम् ।
विष्णुपादोदकं पीत्वा शुद्धिमाप्नोति तत्क्षणात् ॥" (पृ० ११०)

इत्यादि । एतदलाभे पञ्चगव्यम्, तस्याप्यलाभे घृतं वा ग्राह्यमिति भावः । तथा च पाद्मे स्नपनाध्याये—

अलाभे पञ्चगव्यानां घृतमेवैकमिष्यते ।
पञ्चगव्येषु यस्य स्यादलाभस्तत्कृते घृतम् ॥ इति ।

प्रभुं स्मरन् उदरगं मलं निस्सृत्येत्यनेन प्राणायामः सूच्यते यथा[5], तथा वक्ष्यति प्राणायामं नृसिंहकल्पपरिच्छेदे—

नाभिदेशस्थितं ध्यात्वा देवं संगृह्य कल्मषम् ।
निस्सृतं वायुमार्गेण द्वादशान्तावधौ क्षिपेत् ॥
निरस्तपापमाकृष्य वातचक्रसमन्वितम् ।
नासाग्रेण तु मन्त्रेशं देहसंपूरणाय च ॥
तं ध्यायेद् हृदयस्थं च गतिरुद्धेन वायुना । (१७।१८–२०)

इति ॥ ११–१३ ॥

संकल्पमन्त्रमाह—ॐ व्रताधिपतय इति । परिपीडैः, उपवासैरित्यर्थः ॥१३–१४॥

एवं संकल्पानन्तरं तस्यां रात्रौ केवलभूतले कुशोपरि शयनमाह—प्रयत इत्यर्धेन । एकादशीप्रभातकृत्यमाह—एकादश्यामिति । नानानामान्तरैः सहस्रनामादिभिरित्यर्थः । स्तुत्वेति[6] शेषः ॥१४–१५॥

---

१. निर्हृत्येति सार्वत्रिकः पाठः, टीकानुसारी पाठो मूले स्थापितः । २. परपिण्डैः–मु०, परपीडैः–उ० । ३. यद्धि–मु० । ४. प्राप्तं–मु० । ५. यतस्तथा–म० । ६. स्तुत्ये–अ० ।

करांभ्यां लम्बमानाभ्यां संस्थितौ दक्षिणादितः ।
पद्मशङ्खौ सुशोभाढ्यौ यथा तदवधारय ॥ १६ ॥
तर्जनीमध्यमाभ्यां तु न[1]म्राभ्यां मध्य[2]तः स्थितम् ।
निषण्णं तलपर्यन्ते[3] शङ्खमूर्ध्व[7]मुखं शुभम् ॥ १७ ॥
सनालं कमलं तद्वत् सितं विकसितं तु वै ।
मणिबन्धादतिक्रान्तं किञ्चिच्छेषलतागणम् ॥ १८ ॥
लम्बमानमधोवक्त्रं साङ्गुष्ठं संस्मरेद् विभोः ।
होमान्तमखिलं कृत्वा ध्यायेदनिमिषस्ततः ॥ १९ ॥
दिनमध्येऽर्चनं कुर्याद् दिनान्ते स्नानवर्जितम् ।
म[4]हार्थैर्विविधैः स्तोत्रैर्गीतवाद्यसमन्वितैः ॥ २० ॥
निशां नीत्वा प्रभातेऽथ स्नानपूर्वमजं यजेत् ।
चतुरात्मानमव्यक्तमनुयो[5]गान्तकर्मणा ॥ २१ ॥
उदितेऽथ निशानाथे चास्तं याते दिवाकरे ।
क्षान्त्यर्थमर्चनं कुर्याद् दण्डवत् प्रणमेत् क्षितौ ॥ २२ ॥

---

[6]वासुदेवस्य लाञ्छनध्यानप्रकारमाह—कराभ्यामिति सार्धैस्त्रिभिः । लम्बमानदक्षिणहस्ते तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यां संगृहीतं तलप्रदेशेऽधोमुखं स्थितं शङ्खवत् सितं विकसितं मणिबन्धादति[8]क्रान्तं किञ्चिच्छेषलतागणं सनालं कमलं तथा वामहस्ते न[9]म्राभ्यां तर्जनीमध्यमाभ्यां मध्यतो गृहीतं तलप्रदेशे ऊर्ध्वमुखं स्थितं शङ्खं च ध्यायेदित्यर्थः ।

ननु जाग्रद्व्यूहवासुदेवस्य पूर्वं चतुर्भुजत्वमुक्तम्, इदानीं लाञ्छनद्वयमात्रस्योक्त्या द्विभुजत्वमेव ज्ञायत इगि चेत्, किं तावता भवतो विरोधः, उभयथापि लक्षणं स्यात् ॥१६–१९॥

ततो होमान्तं सर्वं कृत्वा पुनस्तमेव ध्यायन् प्राप्ते मध्याह्ने यथाविध्यर्चनं कृत्वा सायन्तनार्चनं तु स्नपनवर्जितं कृत्वा गम्भीरार्थगर्भितविविधस्तोत्रगीतवाद्यादिभिः सह तां निशां जागरेण नीत्वा [10]द्वादश्यां प्रभाते स्नानपूर्वकं यथाविधि चतुरात्मानं प्रभुं समभ्यर्च्य पारणान्तं कृत्वा सायन्तनार्चनं च कृत्वाऽपराधक्षमापणं कुर्वन् चतुर्दिक्षु चतु-

---

१, नेत्राभ्यां–बक० । २. मध्यमस्थितिम्–मु० । ३. र्यङ्के–उ० । ४. महाक्षैः–मु० बक० बख० । ५. यागं तु कर्मणः–मु० अटी० । ६. परवासु–म० । ७. मुखस्थितं–म० । ८. क्रान्त–म० । ९. द्वाभ्यां–म० । १०. तादृश्यां–अ० ।

चतुर्धा वै चतुर्दिक्षु ततः कुर्यात् प्रदक्षिणम् ।
एकैकस्याग्र उच्चार्य चतुर्धा तु पदं पदम् ।। २३ ।।
तद्वाचकां[1]स्तोत्रमन्त्रां[2]स्ततः कृत्वा स्वभावगम् ।
तद्व्यक्तिव्यञ्जकेनैव सह वाक्यगणेन तु ।। २४ ।।
जितं ते पुण्डरीकाक्ष वासुदेवामितद्युते ।
रागदोषादिनिर्मुक्तो समस्तगुणमूर्तिमान्[3] ।। २५ ।।
नाथ ज्ञानबलोत्कृष्ट नमस्ते विश्वभावन ।
सङ्कर्षण विशालाक्ष सर्वज्ञ परमेश्वर ।। २६ ।।
देव[4] ऐश्वर्यवीर्यात्मन् प्रद्युम्न जगतांपते ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश सर्वेश्वर जगन्मय ।। २७ ।।

वारं दण्डवत् प्रणम्य चतुर्वारं प्रदक्षिणं कुर्वन् एकैकस्याग्रतः स्थित्वा तत्तद्वाचकस्तोत्र-मन्त्रवाक्यादीनि पठेदिति प्रयोगपद्धतिमाह—होमान्तमित्यादिभिः ।।१९–२४।।

वासुदेवादीनां जितन्ता[5]दिस्तोत्रमन्त्रचतुष्टयं स्वयमेवाह—जितं त इति चतुर्भिः । अत्र प्रथमश्लोके प्रथमं पादम्, द्वितीये द्वितीयम्, तृतीये तृतीयम्, चतुर्थ चतुर्थं च संगृह्यैकश्लोकरूपेण लक्ष्मीतन्त्र(२४।६९)पाद्मादिषु प्रतिपादितम् । तस्याष्टाक्षरादि-व्यापकत्वं चोक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

पदमन्त्रास्त्रयोऽस्य स्युर्विधाने पाञ्चरात्रिके ।।
विष्णवे नम इत्येवं नमो नारायणाय च ।
नमो भगवते पूर्वं वासुदेवाय चेत्यपि ।।
जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुष पूर्वज ।।
पदमन्त्रश्चतुर्थोऽयं प्रणवस्य पुरन्दर ।
ओङ्कारसहितानेतान् मन्त्रान् पूर्वविदो विदुः ।।....
केवलस्तारकश्चैव चत्वारश्च तदादिकाः ।
पञ्चैते व्यापका मन्त्राः प[6]ञ्चरात्रे प्रकीर्तिताः ।। इति ।
(२४।६७–७०, ७४)

इतोऽप्यधिकं पद्मादिषु प्रतिपादितं स्तोत्रश्लोकजातमेतद् जितन्ताख्यमन्त्रस्यार्थविवरण-

---

१. कात्–मु० अटी० । २. मन्त्रात्–मु० अटी० । ३. मूर्तये–बक० बख० अ० उ० ।
४. पङ्क्तिद्वयविपर्ययः–अ० उ० । ५. न्तास्तोत्र–म० । ६. पाञ्च–मु० ।

स्थित्युत्पत्तिलयत्राणहेतवे शक्तितेजसे ।
जयानिरुद्ध भगवन् महापुरुष पूर्वज ॥ २८ ॥
विधिनानेन वै कार्यं पक्षयोरुभयोरपि ।
[1]अब्दान्तमर्चनं विष्णोर्निष्कामेनाग्रजन्मना ॥ २९ ॥
एवं सङ्कर्षणाद्यं तु वासुदेवान्तमर्चनम् ।
विहितं क्षत्रजातेर्वै कर्तव्यत्वेन सर्वदा ॥ ३० ॥
प्रद्युम्नाद्यं तु वैश्यस्य [2]मुसल्यन्तमुदाहृतम् ।
[3]सच्छूद्रस्यानिरुद्धाद्यं प्रद्युम्न्यान्तं सदैव हि ॥ ३१ ॥
मूर्तीनां ध्यानकाले तु विशेषमवधारय ।
सङ्कर्षणेऽब्जवद् रम्यां दक्षिणे तु करे गदाम् ॥ ३२ ॥
गृहीतां चिन्तयेन्मध्यादधोवक्त्रेण पाणिना ।
अङ्गुलिद्वितयेनैव त्वङ्गुष्ठाद्येन लीलया ॥ ३३ ॥
प्राग्वद् वामकरे पद्मं प्रद्युम्नस्य निबो[4]धतु ।
दक्षिणे हेतिराट् तद्वदङ्गुलिद्वितयोपरि ॥ ३४ ॥
पूर्ववत् [5]कमलं वामे चतुर्थस्याधुनोच्यते ।
आदिवद् दक्षिणे पद्मं गदा वामे यथोदिता ॥ ३५ ॥

रूपं बोध्यम् । जितन्ताख्यमन्त्रव्याख्यानमहिर्बुध्न्यसंहितायां[6]मुक्तं द्रष्टव्यम् ॥२५–२८॥

एवं प्रतिमासं पक्षद्वयेऽपि दशम्यां पञ्चगव्यप्राशननियमनपूर्वकमुपवासं जागरणं द्वादश्यां व्रताराधनपूर्वकं पारणं सायमपराधक्षमापणार्थमर्चनादिकं च कुर्वन् संवत्सरान्तं ब्राह्मणो निष्कामं यथा तथा व्रतं कुर्यादित्याह—विधिनेति ॥२९॥

क्षत्रियस्य विशेषमाह—एवमिति । वैश्यस्य विशेषमाह—प्रद्युम्नाद्यमित्यर्धेन । मुसल्यन्तं संकर्षणान्तमित्यर्थः । शूद्रस्य विशेषमाह—सच्छूद्रस्येत्यर्धेन ॥३०–३१॥

पूर्वं वासुदेवलाञ्छनध्यानमात्रस्योक्तत्वादिदानीं संकर्षणादीनां लाञ्छनभेदध्यानमाह—मूर्तीनामित्यारभ्य निःश्रेयसपदाप्तय इत्यन्तम् । अब्जवदित्यनेन पूर्वं वासुदेवस्य दक्षिणकरेऽब्जस्य यादृशः संनिवेशो यादृशो धारणप्रकारश्चोक्तः, इदानीं संकर्षणस्य दक्षिणे[7] करे गदाया अपि तादृश इति बोध्यते, अधोवक्त्रेण लम्बमानेने-

---

१. अब्जा–मु० । २. मुसला–मु० अटी० । ३. शूद्रस्य चानि–ब्रख० अ० उ० । ४. ध च–मु०, ध्य च–अटी०, धय–बख० । ५. कमले–मु० अटी० बक० । ६. जितन्ताख्यमन्त्रार्थनिरूपणात्मके त्रिपञ्चाशेऽध्याये । ७. दक्षिणकरे–म० ।

इति प्रथ[1]ममूर्तीनां ध्यानमुक्तं तु सार्चनम् ।
नित्यनैमित्तिकार्थं तु निःश्रेयसपदाप्तये ॥ ३६ ॥
भक्तिपूर्वात् तु कैवल्याद् य[2]त्नेनाभ्यर्थयन्ति ये ।
वर्णा विप्रादयस्तेषां व्रताचरणमुच्यते ॥ ३७ ॥
श्रावणस्य दशम्यां तु सर्वं पूर्वोक्तमाचरेत् ।
कृ[3]त्वा कुशोदका[4]भ्यङ्गं स्म[5]रन् देवमि[6]दं पठेत् ॥ ३८ ॥
सर्वभूत[7]मयाऽनादे यच्छ मे[8] परमं पदम् ।
छिन्धि सांसारिकान् बन्धानज्ञानतिमिरं हर ॥ ३९ ॥
ततो ध्यात्वा यजन् देवं चतुर्मूर्तिं तु पूर्ववत् ।
गौणमुख्यैर्महच्छब्दैर्जितन्ताद्यैः पदैस्ततः ॥ ४० ॥
व्यस्तैस्ततः समस्तैश्चा[9]प्येकैकं पुनरेव हि ।
वाच्यभेदोक्तियोगेन समस्तेनान्यथात्मना[10] ॥ ४१ ॥
इत्यर्चनं क्रमात् कुर्यान्मूर्तेर्मूर्तेर्महामते ।
प्रणिपातादिकं सर्वमावर्तव्यं[11] यथास्थितम् ॥ ४२ ॥
तुर्यान्तं[12] मौद्गलान्तैस्तु[13] मोक्षैकफललम्पटैः[14] ।
विन्यासं लाञ्छनानां तु ग्रहणेनान्वितं शृणु ॥ ४३ ॥
अस्मिन् व्रते चतुर्णां तु देवानां वस्तुसूचनम् ।
तिर्यक् स्वपक्षदेशाभ्यां [15]स्तनाख्यान्मण्डलाद् बहिः ॥४४॥

त्यर्थः । अङ्गुष्ठाद्येन अङ्गुलीद्वितयेन, तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यामित्यर्थः । प्राग्वदित्यनेन वासुदेवकमलवदधोमुखत्वादिकमुच्यते ॥३२–३६॥

अथ [16]केवलमुमुक्षुभिरनुष्ठेयव्रते कालभेदं संकल्पश्लोकानन्तरं लाच्छनन्यासध्यानभेदं चाह—भक्तिपूर्वादित्युपक्रम्य फलमाप्नोति साधक इत्यन्तम्। तुर्यान्तम् अंनिरुद्धान्तम् । मौद्गलान्तैः[17] शूद्रान्तैरित्यर्थः । दक्षिणे तु गदाद्यस्येत्यत्र आद्यस्य

१. प्रशस्त–अ०, प्रशम–उ० । २. वृत्तें–बक० बख०, व्रते–अ० उ० । ३. स्मृत्वा–मु० अटी० । ४. दकत्यागं–अ० उ० । ५. स्मरेदेव–बख० । ६. मिमं–बख० अ० उ० । ७. व्रत–अ० । ८. ते–मु० अटी० उ० । ९. स्तेन एकै–बख० अ० उ० । १०. त्मनः–मु० अटी० । ११. चर्तें–बख० अ० । १२. र्थं–मु० बक० बख० । १३. लान्नैः–मु० बक० बख० । १४. लक्षणैः–उ० । १५. ध्यानाभ्यां–अटी०, स्थानाभ्यां–मु० बक० । १६. केवलं–म० । १७. लान्नैः शूद्रान्नै–अ० ।

दक्षिणे तु गदाग्रस्य स्पष्टमुष्टिगदा भवेत् ।
वामेन कुक्षिकुहरात् समाक्रान्तश्च शङ्खराट् ॥ ४५ ॥
[1]परिधेर्बाह्यतोऽङ्गुष्ठं निषण्णं सर्वदा स्मरेत् ।
मुख्यहस्ते द्वितीयस्य ध्येयः शङ्खवरस्तथा ॥ ४६ ॥
चक्र[2]मङ्गुष्ठ[3] ऊर्ध्वस्थं वामहस्ते समुष्टिके[4] ।
प्रद्युम्नस्य गदा वामे शब्दपूर्ण[5]स्तु दक्षिणे ॥ ४७ ॥
दक्षिणे त्वनिरुद्धस्य कमलं सूर्यवर्चसम् ।
वामतर्जनिगं चक्रं त्रिष्वङ्गुष्ठं स्मरेत् स्थितम् ॥ ४८ ॥
एवं यथास्थिताद् ध्यानात् फलमाप्नोति साधकः ।
सक्षीरमन्नपात्रं तु विहितं मासि मासि च ॥ ४९ ॥
दानार्थं व्रतपर्यन्ते हेमरत्नतिलान्वितम् ।
निष्कामव्रतिनां नित्य[6]मन्ते गोदानमेव च ॥ ५० ॥
प्रतिमासं सकामानां दधिपात्रं च सोदनम् ।
फलानि हेमयुक्तानि त्वन्ते भूदानमेव च ॥ ५१ ॥
तिलान्यु[7]दककुम्भं च पत्रपुष्पादिनार्चनम् ।
यथाशक्ति दरिद्राणां हिरण्यं गोसमं स्मृतम् ॥ ५२ ॥

वासुदेवस्येत्यर्थः । तिर्यक् स्वपक्षदेशाभ्यां स्तनाख्यान्मण्डलाद् बहिः पार्श्वद्वयेऽपि वक्षस्थलाद् बहिरित्यर्थः । तत्सम इति यावत् । मुख्यहस्ते दक्षिणहस्त इति यावत् । द्वितीयस्य संकर्षणस्य । तथा वासुदेवहस्तवदित्यर्थः । शब्दपूर्णः शङ्खः । त्रिषु तर्जन्यादिष्वित्यर्थः ॥३७–४९॥

निष्कामानां व्रते प्रतिमासं कर्तव्यदानद्रव्यं संवत्सरान्ते देयद्रव्याणि चाह—सक्षीरमिति सार्धेन ॥४९–५०॥

तथा सकामानां देयद्रव्याण्याह—प्रतिमासमिति सार्धेन । अशक्तानां तु गोदानभूदानप्रत्याम्नायत्वेन यथाशक्ति हिरण्यदानमाह—दरिद्राणामित्यर्धेन । गोसममित्यत्र गोशब्देन भूमिरप्युच्यते ॥५१–५२॥

---

१. परितो बा–मु० अटी० बक० । २. क्र अ–मु० अटी० । ३. ष्ठमू–बख० उ० । ४. कम्–मु० अटी० । ५. पूर्णा–मु० अटी० । ६. त्यं त्व–मु० अटी० बक० । ७. नि उद–बख० । ८. स्नानाख्या–अ० । ९. पक्ष–अ० ।

दानेऽर्चने तु शूद्राणां व्रतकर्मणि सर्वदा ।
असिद्धान्नं तु विहितं सिद्धं वा ब्राह्मणेच्छया ॥ ५३ ॥
स्वकर्मणा यथोत्कर्षमभ्येति न तथार्चनात् ।
तस्मात् स्वेनाधिकारेण कुर्यादाराधनं सदा ॥ ५४ ॥
सर्वत्राधिकृतो विप्रो वासुदेवादिपूजने ।
यथा तथा न क्षत्राद्यास्तस्माच्छास्त्रोक्तमाचरेत् ॥ ५५ ॥
नयेन्नक्ताशनैर्भक्त्या दिनान्येतानि मौद्गलः ।
व्रताद्यन्ते तु विहितं परिपीडं हि तस्य वै ॥ ५६ ॥
यथाभिमतमासाद् वै समारभ्य क्रमेण तु ।
इतिकर्तव्यतासक्तैर्मोक्षकामैस्तु चाग्रजैः ॥ ५७ ॥
दशम्यां चैव सङ्कल्पः कार्यो द्वादशवार्षिकः ।
प्राग्वदब्दं[2] तु सम्पूर्य दानैर्मासानुमासिकैः[3] ॥ ५८ ॥
व्रतेश्वरं जगन्नाथं प्रीणयेद् वत्सरे गते ।
पुनरारम्भमासाच्च त्वग्र्यमासस्य तद्दिनात् ॥ ५९ ॥
आरभ्य वत्सरं प्राग्वत् पूजयेत् प्रीणयेत् प्रभुम् ।
क्रमेणानेन सम्पाद्य द्वादशाब्दं व्रतं महत् ॥ ६० ॥

शूद्रैस्तु व्रतान्तेऽपक्वान्नं देयम्, सत्यां ब्राह्मणानुज्ञायां पक्वान्नं वा देयमित्याह—दान इति । "आर्याध्युषिताः शूद्राः पाकं कुर्युः" (आ० ध० २।३।४) इति ब्राह्मणानुज्ञया शूद्राणामपि पाकाधिकारविधानात् सिद्धं वा ब्राह्मणेच्छयेत्युक्तमविरुद्धं ज्ञेयम् । एवं स्वस्ववर्णाश्रमधर्माविरुद्धमेवाराधनं कार्यमित्यर्थः ॥५३॥

स[4]हेतुकमाह—स्वकर्मणेति ॥५४॥

भगवदाराधने ब्राह्मणवत् (न[5]) क्षत्रियादीनामपि स[6]र्वत्राधिकारोऽस्ति, अतो यथाधिकारमनुष्ठेयमित्याह—सर्वत्रेति ॥५५॥

शूद्रस्य प्रतिपक्षमेकादश्यां नक्ताशनम्, व्रताद्यन्तैकादश्योरेवोपवास इत्याह—नयेदिति ॥५६॥

अथ ब्राह्मणस्य द्वादशवार्षिकं व्रतान्तरमाह—यथाभिमतमासादित्यारभ्य यष्टव्यमधिकारिणेत्यन्तम् । पूर्वोक्तैरित्यर्थः । पूर्वं प्रतिमासं यद्दानं विहितं तदत्र

---

१. तु त्यक्ता—अ० । २. व्रतशब्दं—बक० । ३. सकैः—मु० अटी० । ४. स्व—अ० ।
५. मूलानुरोधेन 'न'पदसंयोजनमत्रावश्यकम् । ६. सार्वत्रिका—म० ।

तदन्ते तु यथाशक्त्या दानैर्वस्त्रानुलेपनैः ।
द्विषट्कं ब्राह्मणानां तु यष्टव्यमधिकारिणा[1] ॥ ६१ ॥
स्वमूर्त्याराधनाद्येन कर्मणा ह्येतदेव हि ।
कार्यं [2]व्रतमिदं भक्त्या ज्येष्ठाद्यं क्षत्रियेण तु ॥ ६२ ॥
वैश्येनाश्वयुजादादावा[3]चर्तव्यं समासतः ।
मौद्गलेन तु माघाद्यं पालनीयं यथाक्रमम् ॥ ६३ ॥
इदं व्रतोत्तमं दिव्यमपवर्गफलप्रदम् ।
विहितं सर्ववर्णाना[4]मविरुद्धं च सर्वदा ॥ ६४ ॥
चान्द्रायणायुतसममा सृष्टेः कल्म[5]षापहम् ।
वक्ष्ये व्रतवरं चान्यत् कर्तव्यत्वेन कर्मि[6]णाम् ॥ ६५ ॥
मोक्षैकफलकामानामन्येषां भावितात्मनाम् ।
मोक्षदं देहपाताद् [7]यच्चातुरात्म्यैकयाजि[8]नाम् ॥ ६६ ॥
यथाभिमतमासस्य दशम्यां पातयेज्जलम् ।
नत्वा व्रतेश्वरं प्राग्वद् वत्सरद्वितयस्य च ॥ ६७ ॥
विशेषाच्छ्रावणे कुर्यात् सङ्कल्पं कार्तिकेऽपि च ।
आरम्भमासादारभ्य निष्ठाख्यं यावदेव हि ॥ ६८ ॥
द्विषट्कमुपवासानामेकवृद्ध्या तु वर्धयेत् ।
होमान्तमर्चनं कृत्वा पूर्ववत् तन्म[9]यान् यजेत् ॥ ६९ ॥
ततस्तु[10] परिपीडानां वत्सरं [11]ह्रासमाचरेत् ।
कार्यमारम्भमासे तु पूर्वं द्वादशरात्रिकम् ॥ ७० ॥

प्रतिसंवत्सरं कार्यम् । संवत्सरान्तविहितदानं त्वत्र द्वादशवर्षान्ते कार्यमित्यर्थः ॥५७–६१॥

अस्य व्रतस्य क्षत्रियादीनामपि कालभेदेनानुष्ठानमाह—स्वमूर्तीति त्रिभिः । स्वमूर्त्याराधनाद्येन स्वस्ववर्णोक्तसंकर्षणादिक्रमेणेत्यर्थः ॥६२–६४॥

अथ संवत्सरद्वयानुष्ठेयमुपवासवृद्धिह्रासान्वितं व्रतान्तरमाह—चान्द्रायणा-

---

१. णाम्–अ० उ० । २. व्रतवरं–अ० उ० । ३. वर्त–अटी० । ४. मनि–मु० अटी० बक० बख० । ५. कलुषा–उ० । ६. कर्मणाम्–मु० अटी० बक० बख० । ७. यं च–बक० । ८. नम्–बक० बख० उ० । ९. मयो न्यसेत्–मु० अटी । १०. ततः सु–मु० अटी० बक० बख० । ११. ग्रास–मु० अटी० बक० बख० ।

एकैकं लोपयेत् तावद् यावदब्दः[1] समाप्यते ।
कुर्याद् व्रतसमाप्तिं तु पूर्ववत् पूजनादिना ॥ ७१ ॥
वृद्धिह्रासक्रमेणैतद् व्रतमुक्तं मया च ते ।
अनायासेन[2] वै येन प्राप्यते शाश्वतं पदम् ॥ ७२ ॥
व्रतानामुत्तमं धन्यं द्वादशाख्यमतः शृणु ।
अकामानां सकामानामन्ते तुल्यफलं हि यत् ॥ ७३ ॥
सितपक्षात् तु चैत्रस्य कार्याऽऽद्येऽहनि कल्पना ।
गतेऽर्धरात्रसमये[4] चा[3] प्रभातात् ततोऽच्युतम् ॥ ७४ ॥
उपवासं विनाऽभ्यर्च्य कार्यं[5] वै नक्तभोजनम् ।
एकादश्यन्तमेवं[5] हि पौनःपुन्येन लाङ्गलिन् ॥ ७५ ॥
कार्यमप्ययुक्त्या वै चातुरात्म्यस्य पूजनम् ।
एकादश्यां न भुञ्जीत विहितस्तत्र जागरः ॥ ७६ ॥
द्वादश्यामादिदेवं तु समाराध्य यथाविधि ।
मध्याह्नसमये प्राप्ते विधिवत् तन्मयान्[6] यजेत् ॥ ७७ ॥
भक्त्या शक्त्या तु चतुर एकैकं प्रत्यहं त्वपि ।
गवां ग्रासः स्वसामर्थ्याल्लोपनीयो न सर्वदा ॥ ७८ ॥
सह पूर्वोक्तदानैस्तु[7] व्रतकर्मपरायणैः ।
प्राप्ते तु तद्[8]दिने भूयः कृष्णपक्षस्य लाङ्गलिन् ॥ ७९ ॥

युतसममित्यारभ्य प्राप्यते शाश्वतं पदमित्यन्तम् ॥६५–७२॥

अथ द्वादशाख्यव्रतमाह—व्रतानामुत्तमं धन्यमित्यारभ्य तस्य तुष्यत्यधोक्षज इत्यन्तम् । आद्येऽहनि प्रतिपदि । कल्पना संकल्पः । द्वादश्यामादिदेवं वासुदेवमित्यर्थः । एवं च चैत्रशुक्लप्रतिपदमारभ्य तद्द्वादश्यन्तं पुरुषसत्याच्युतवासुदेवानामेव पुनस्तेषामेव प्रत्यहमेकैकक्रमेणार्चनं कुर्वन् कृष्णप्रतिपदमारभ्य तद्द्वादश्यन्तं तथा केशवादिमूर्तीनामर्चनं च कुर्यात् । पक्षद्वयेऽप्येकादश्यामुपवासो जागरश्च । अवशिष्ट-

१. ब्दं समापयेत्–अ०, ब्दं समाप्यते–उ० । २. निरायासात् तु–बक० बख० अ० उ० । ३. च–अ० । ४. य आ–अ० उ० । ५. श्यां–बक० अ० उ० । ६. मयो न्यसेत्–मु० अटी० । ७. सस्त्व–अ० । ८. 'तद्' नास्ति–अ० ।

अर्चनं केशवादीनां त्रिसन्ध्यं प्राग्वदाचरेत्[१] ।
द्वादश्यां सोपवासस्तु यजेद् दामोदरं प्रभुम् ॥ ८० ॥
दानान्तमर्चनाद्यं तु सितपक्षोक्तमाचरेत् ।
प्राभवेण क्रमेणैव चैवं[२] मूर्त्यन्तरं यजेत् ॥ ८१ ॥
मूर्तिभिश्चाप्ययाख्येन संवत्सरमतन्द्रितः ।
यो योऽधिकारी भक्तो वा तस्य तुष्यत्यधोक्षजः[३] ॥ ८२ ॥
षोडशाख्यमतो[४] वक्ष्ये व्रतं धन्यतमं हि यत् ।
पूर्ववद् रात्रिसमय आषाढस्याद्यवासरे ॥ ८३ ॥
गृहीत्वा नियमं कुर्याद्वा प्रभातादिपूजनम् ।
त्रिसन्ध्यं वामनादीनां विधिवद् द्वादशाहकम्[५] ॥ ८४ ॥
त्रयोदश्यां ततोऽभ्यर्च्य चतुर्वर्गप्रदं प्रभुम् ।
आद्यन्तमनिरुद्धादि तदाद्यमपरेऽहनि ॥ ८५ ॥
तृतीयं पञ्चदश्यां तु [६]संशान्तव्यक्तलक्षणम् ।
एवं मूर्त्यन्तरैर्युक्तं चातुरात्म्यं त्रिधा स्थितम् ॥ ८६ ॥
आराध्य परया भक्त्या चैकादश्यामनश्नतः[७] ।
पूर्णं[८] तदर्चनं कृत्वा पञ्चदश्यां यथाविधि ॥ ८७ ॥
चत्वारस्तन्मयाः पूज्याः श्रद्धापूतेन चेतसा ।
आत्मयागं ततः कुर्याद् दिनान्तेऽर्चनपूर्वकम् ॥ ८८ ॥

दिनेषु नक्तभोजनम् । मध्याह्नसमये ब्राह्मणभोजनम्, तदशक्तौ गोग्रासकल्पनं वा, प्रतिपक्षं पूर्वोक्तदानं च कार्यम् ॥७३-८२॥

अथ व्रतान्तरमाह—षोडशाख्यमिति प्रक्रम्य षोडशानां स्वशक्तित इत्यन्तम् । अत्र केशवादयो द्वादश वासुदेवादयश्चत्वारः, आहत्य षोडशमूर्तयः । एतेषां षोडशानामुक्तक्रमेणार्चनादिकं षोडशाख्यव्रतमित्युच्यते । यद्वा आषाढादिमासचतुष्टये प्रतिमासं वासुदेवादीनां चतुर्णामर्चनात् षोडशाख्यमिति ज्ञेयम् । आषाढे वामनादीनाम्, आश्वयुजे पद्मनाभादीनाम्, पुष्ये नारायणादीनाम्, चैत्रे विष्ण्वादीनां चार्चनं[९] तत्तन्मासे तत्तन्मासाधिपतिमारभ्यार्चनीयत्वादुक्तमिति ज्ञेयम् । केशवादीनां मार्गशीर्षाद्याधिपत्यं

१. न्यसेत्—मु० अटी० । २. एवं—बक० बख० अ० उ० । ३. तुष्येत् तथाक्षजः—अ० ४. मधो—बक० । ५. ह्निकम्—अ० । ६. शान्तिव्यक्ति—मु० अटी० बक० । ७. एका—बक० । बख० अ० उ० । ८. पूर्णान्तम—अ० उ० । ९. 'चार्चनं' नास्ति—अ० ।

एवमाश्वयुजे भूयः पर्वादौ प्रारभेत् क्रियाम् ।
पद्मनाभादिमूर्तीनामर्चनं विहितं क्रमात् ॥ ८९ ॥
एका[1]दश्यामनश्नंस्तु सर्वं निर्वर्त्य पूर्ववत् ।
सम्प्राप्ते च ततः पौषे यजेन्नारायणादिकम् ॥ ९० ॥
द्वादश्यां तद् द्विषट्कं च तथा व्यूहत्रयं त्वपि ।
चैत्रे तद्दिवसादादौ विष्ण्वादीनां समर्चनम् ॥ ९१ ॥
विहितं [2]सद्व्रतज्ञानां सह व्यूहत्रयेण तु ।
विशेषपूजनं कुर्यात् सम्पन्ने वत्सरे सति ॥ ९२ ॥
विभोरग्रे द्विजेन्द्राणां षोडशानां स्वशक्तितः ।
दत्तशिष्टमतृप्तं च दैवीयान्नेन भावितम् ॥ ९३ ॥
हविश्शेषेण संयुक्तं व्रतिनां भोजनं हितम्[3] ।
एवं सितेऽसिते वापि ह्यु[4]भयोरपि पक्षयोः ॥ ९४ ॥
[5]यथाभिमतमासाद् वै समारभ्य यजेत् क्रमात् ।
एकाद[6]श च मासेशान् पर्वादौ तु सकृत् सकृत् ॥ ९५ ॥

प्रसिद्धं खलु । आद्यन्तमनिरुद्धादि पुरुषादिवासुदेवान्तमित्यर्थः । अपरेऽहनि चतुर्दश्यां तदाद्यं वासुदेवाद्यं स्वप्नव्यूहमिति भावः । पञ्चदश्यां पौर्णमास्यां संशान्तव्यक्तलक्षणम् अभिव्यक्तानभिव्यक्तमित्यर्थः । तृतीयं सुषुप्तिव्यूहमित्यर्थः । चातुरात्म्यं त्रिधा स्थितं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदेन त्रिविधमित्यर्थः ॥८३–९३॥

अथैवं व्रतनिष्ठानां भोज्यद्रव्यमाह—दत्तशिष्टमिति । अयं श्लोकः सच्चरित्ररक्षायां व्याख्यातः । तथाहि—"दत्तशिष्टं [7]कारिसंप्रदानावशिष्टम् । [8]दैवीयान्नेन पाककपात्रावशिष्टेन हविःशेषेण चरुशेषेण व्रतिनां भगव[9]द्रूपनिष्ठानां सर्वेषां हितम् अनिष्टनिवर्तकत्वादिष्टप्रापकत्वाच्चावश्यं [10]भोक्तव्यमित्यर्थः । अत्र भोजनमिति कर्मणि ल्युडन्तम्" (पृ० ९४–९५) इति ॥९३–९४॥

पुनर्व्रतान्तरमाह—एवं सितेऽसिते वापीति प्रक्रम्य भैक्षपूर्वेण सर्वदेत्यन्तम् । अस्यार्थः—यथाभिमतमासे शुक्लपक्षे कृष्णपक्षे वोभयोर्वा प्रतिपदमारभ्यैकादश्यन्तं

---

१. निरश्नन्नेकादश्यां तु—बक० बख० अ० उ० । २. सद्व्रतं—मु०, सद्वृत्त—बक० । ३. स्थितम्—उ० । ४. उभयो—उ० । ५. तथा—बक० । ६. दशे—मु० अटी० बक० बख० उ० । ७. कार्य—मु० । ८. देवीया—म०, देवान्नेन—मु० । ९. द्व्रत—म०, च्छास्त्र—मु० । १०. श्यभो—भ० म० ।

द्वादश्यां सोपवासस्तु तन्मासेशमथार्चयेत् ।
तत्कारणादिभेदोत्थं चातुरात्म्येन वै सह ॥ ९६ ॥
पुण्यं व्रतमिदं विद्धि वृद्धस्त्रीबालसिद्धिकृत् ।
नित्यं सद्वैष्णवैः कार्यमविरुद्धमखेददम् ॥ ९७ ॥
प्राक्प्रणीतैर्महाभोगैः शक्त्या दानसमन्वितैः ।
गृहस्थैर्ब्रह्मचर्यस्थैर्वानप्रस्थैस्तु[1] भिक्षुकैः ॥ ९८ ॥
येन केन प्रकारेण वित्तं[2] सम्भृत्य वै पुरा ।
नित्यं धर्माविरुद्धेन भैक्षपूर्वेण[3] सर्वदा ॥ ९९ ॥
कुटुम्बभरणाद्यर्थं लाभे भैक्षादिके तु वै ।
अवज्ञा परमा यत्र बुद्धिमांस्तत्र संवसेत्[4] ॥१००॥
दाता ददाति यत् किञ्चित् पूजापूर्वं हि भक्तितः ।
कृत्स्नं तदीयमशुभं तिष्ठत्यर्थिजनाश्रितम् ॥१०१॥
परिभूते तु वै लाभे सन्तोषो यस्य जायते ।
प्रतिग्रहोत्थितो दोषस्तस्य दूरतरं व्रजेत् ॥१०२॥

तन्मासेशस्योत्तरादिनैकादशमासेशान् प्रत्यहमेकैकक्रमेणाभ्यर्च्यैकादश्यां कृतोपवा(सम् ? सो) द्वादश्यां तन्मासेशम्, तत्कारणभूतो वासुदेवः संकर्षणः प्रद्युम्नोऽनिरुद्धो वा यस्तदादिचातुरात्म्यं च संपूज्य दानादिकं कुर्यात् । एवं चेदं सुस्पष्टं बोध्यम्—चैत्रमासे यदि व्रतमनुष्ठीयते तन्मासेशो विष्णुः, तदुत्तरं मधुसूदनादयो वैशाखाद्येकादशमासेशाः प्रतिपदादिष्वर्चनीयाः । तन्मासेशो विष्णुः, तत्कारणभूतसंकर्षणादिवासुदेवान्ताश्चत्वारश्च द्वादश्यामर्चनीयाः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । केशवादीनां त्रिकं त्रिकं प्रति वासुदेवादीनामेकैकस्य कारणत्वमुत्तरत्र (८।५५–५६) सुस्पष्टं वक्ष्यति ॥९४–९९॥

अथ प्रसक्तं भैक्षादिद्रव्यविचारं विवृण्वन् तल्लाभे प्रतिग्रहीतुर्यत्र बहुशोऽवमानं जायते, तत्रैव बुद्धिमता प्रतिग्रहीत्रा वस्तव्यमित्याह—कुटुम्बेति । भैक्षं याचितम् । "भिक्षा याच्ञार्थनार्दना" (३।२।६) इत्यमरः । अवज्ञा अवमाननम् । "रीढावमाननावज्ञा" (१।७।२३) इत्यमरः ॥१००॥

यतः संमानं[5] प्रतिग्रहीतुरेव बाधकमित्याह—दातेति ॥१०१॥

अतोऽनादरपूर्वकं दत्तेऽपि यः प्रतिग्रहीता संतुष्टो भवति, स प्रतिग्रहो[7] दोषेण विलुप्तो भवतीत्याह—परिभूत इति । लाभे भैक्षादिद्रव्यलाभे । परिभूते तिरस्कृते,

१. वनवासैः—बक० बख० उ० । २. वृत्तं—अटी० । ३. भैक्ष्य—उ० । ४. वदेत्—मु० अटी० बक० बख० । ५. पीडा—अ० म० । ६. संमाननं—म० । ७. ग्रही इह—अ० । ८. निरुक्तो—अ० ।

एवं ज्ञात्वा[1] तु पात्राणां भक्तानां भावितात्मनाम् ।
जनयेद् बुद्धिभेदं तु नेतरेषां कदाचन ॥१०३॥
यत्र दाता ग्रहीता च द्वावेव कलुषात्मकौ ।
दृष्टादृष्टविनाशार्थं दानं द्वाभ्यां हतं तु तत् ॥१०४॥
प्रागेवं[2] चित्त[3]संशुद्धिं[4] भावशुद्धिसमन्विताम्[5] ।
निश्चयीकृत्य यत्नेन दिव्यमायतनं व्रजेत् ॥१०५॥
व्रत[6]संसिद्ध्ये[7] नूनं सिद्धायतनमेव वा ।
अथवाऽऽयतनं रम्यमासन्ननगरादिकम् ॥१०६॥
निर्विघ्नेन व्रतं यस्मान्निष्पद्येतात्र कर्मिणाम् ।
कर्म[9]वाङ्मनसैः शुद्धस्तपोनिष्ठः क्रियापरः ॥१०७॥
यो नान्यदेवतायाजी तत्त्वतो भगवन्मयः ।
कस्मिंश्चिद्वैभवे रूपे व्यूहीये वा सुबुद्धिमान् ॥१०८॥
बद्धलक्ष्यो भवेद् भक्त्या त्वाप्तागमनिदर्शनात् ।
तस्यापि तादृशानां च भविनामनुकम्पया ॥१०९॥
व्यक्ततामगमद् देवः स्वयमेव धरात्मना ।
यत्र मोक्षप्रदं विद्धि दिव्यमायतनं हि तत्[8] ॥११०॥

अनादरपूर्वकं दत्ते सतीति भावः । "अनादर परिभवः" (१।७।२२) इत्यमरः । एवं च आदरपूर्वकं दानं दातुः श्रेयःसंपादकमिति ज्ञात्वादरपूर्वकमनिच्छतां पात्राणां [10]सविनयप्रार्थनादिभिस्तदङ्गीकाराय बुद्धिं जनयेत् । अपात्राणां तां न जनयेदित्याह—एवमिति ॥१०२–१०३ ॥

दातृप्रतिग्रहीत्रोरुभयोरपि कलुषात्मकत्वे दानवैफल्यमाह—यत्रेति ॥१०४॥

एवं भावशुद्धिसंपादितां चित्तशुद्धिं पूर्वं निश्चित्य व्रतानुष्ठानार्थं सैद्धमानुषस्थानेष्वन्यतमं गत्वा तत्र विभवाकृतौ व्यूहाकृतौ वा भगवति व्रतान्तं[11] न्यस्तचित्तो भवेदित्याह—प्रागेवमिति सार्धैश्चतुर्भिः । दिव्यं स्वयंव्यक्तमित्यर्थः ॥१०५–१०९॥

प्रसङ्गाद् दिव्यायतनलक्षणमाह—तस्यापीति सार्धेन ॥१०९–११०॥

---

१. त्वाऽप्यया–मु० अटी० । २. प्रागेव–बक० बख० अ० । ३. वित्त इति सार्वत्रिकः पाठः । ४. द्धि–बक० बख० अ० उ० । ५. ताः–उ० । ६. व्रतं–बक० बख० । ७. शुद्ध–बक० । ८. यत्–अ० उ० । ९. कर–अ० । १०. विनय–अ० । ११. न्तर–अ० ।

मन्त्रसिद्धैश्च[1] विबुधैर्मुनिमुख्यैस्तथामलैः ।
शान्तये देशजानां त्वप्यात्मनश्चापि[2] कीर्तये[3] ॥१११॥
मन्त्राकृतिमयं ध्यात्वा पाषाणं वसुधातले ।
पावनं वा ततं वृक्षं ज्ञात्वा वा देवताश्रयम् ॥११२॥
कृत्वा तच्छक्तिसंरुद्धं विसृज्य च तदाश्रितम् ।
विद्धि सर्वेश्वरस्यैवं स्थितं निलयलक्षणम् ॥११३॥
स्वमन्त्रसन्निधिं तत्र कृत्वा तद्विग्रहान्वितम् ।
पूजितं पत्रपुष्पाद्यैस्तत्सिद्धायतनं स्मृतम् ॥११४॥
फलाप्तये[4] तु विप्राद्यैः स्वकुलोद्धारणाय च ।
स्थापितं भगवद्बिम्बं ज्ञेयमायतनं हि तत् ॥११५॥

सिद्धायतनलक्षणमाह—मन्त्रसिद्धैरिति प्रक्रम्य तत्सिद्धायतनं स्मृतमित्यन्तम् । विसृज्य च तदाश्रितमित्यत्र[6] विसर्जनप्रकारश्चतुर्विशे[7] परिच्छेदे—

इहाश्रितात्मने तुभ्यं नमः सर्वेश्वराय च ।
क्षमस्वावतरान्यत्र संतिष्ठात्र[8] चिदात्मना ॥ (२४।८५)

इति वक्ष्यमाणो ज्ञेयः । अत्र—

स्वयंव्यक्तं तथा सैद्धं[9] विबुधैश्च प्रतिष्ठितम् ॥
मुनिमुख्यैस्तु गन्धर्वैर्यक्षविद्याधरैरपि ।
रक्षोभिरसुरैर्मुख्यैः स्थापितं मन्त्रविग्रहम् ॥····
स्थापितं मनुजेन्द्रैस्तु ह्यनुवेदादिकोविदैः ॥
(पा० सं० १०।३१७–३१८,३२१)

इति पारमेश्वरोक्तसैद्धाद्यष्टविधभेदानामपि सैद्धायतन एवान्तर्भावो बोद्धव्यः, सिद्धगन्धर्वादीनामपि विबुधेष्वन्तर्भावात्, मुनिमुख्यैस्तथामलैरित्यत्रामलशब्देनान्येषामपि सूचितत्वाच्च ॥ १११–११४ ॥

मानुषायतनमाह—फलाप्तय इति ॥ ११५ ॥

उक्तमर्थं निगमयति—क्रियेति ॥ ११६ ॥

---

१. मन्त्रैः–अ० । २. तु आ–बक०, चाप्या–अ० । ३. येत्–बक० बख० अ० उ० । ४. फलप्राये–मु० । ५. द्धर–मु० । ६. तदाश्रय–अ० । ७. विंशति–म० । ८. ष्ठस्वा–अ० म० । ९. सिद्धवि–मु० ।

क्रियाङ्गभोग[1]ं यातस्य[2] सर्वगस्य[3] च वै विभोः ।
विद्धि सर्वेश्वरस्यैवं स्थितं नियतलक्षणम्[4] ॥११६॥[5]
प्रासादद्वारदेशाच्च यत्र शङ्खध्वनिक्षयः[6] ।
पूर्वादि सर्वदिक् तावत् क्षेत्रं भवति वैष्णवम् ॥११७॥[7]
सिद्धावतारिताद् देवात् तदेतद् द्विगुणं स्मृतम् ।
त्रिगुणं च स्वयंव्यक्ताद् देहान्ते भावितात्मनाम् ॥११८॥

मानुषभगवन्मन्दिरस्य परितो वैष्णवक्षेत्रप्रमाणमाह—प्रासादेति । विमानद्वारसमीपे कृतः शङ्खनादो यावद्दूरं श्रूयते, तावदन्तं परितो वैष्णवक्षेत्रमिति भावः ॥ ११७ ॥

सैद्धस्थाने तद्द्विगुणं स्वयंव्यक्तस्थाने तत्त्रिगुणं च वैष्णवक्षेत्रमानमाह—सिद्धावतारितादिति त्रिभिः पादैः । वैष्णवक्षेत्रस्य स्वयंव्यक्तत्वादिभेदेन सालोक्यादिफलप्रदत्वमाह—देहान्त इति त्रिभिः पादैः । यतो वैष्णवक्षेत्रादित्यर्थः । सालोक्यतापूर्वमित्यत्र पूर्वपदेन सामीप्यसारूप्यसायुज्यानि गृह्यन्ते । क्रमाद् मानुषादिक्रमेणेत्यर्थः ।

ननु देवतान्तरप्राप्तौ हि सालोक्यादिभेदावाप्तिः, भगवत्प्राप्तौ तु "परमं साम्यमुपैति" (मुण्ड० ३।१।३), "मम साधर्म्यमागताः" (भ० गी० १४।१), "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" (ब्रह्म० ४।४।११) इति श्रुतिस्मृतिसूत्रैः सालोक्यादिचतुष्टयमप्येकैकस्यैव संभवतीति प्रतिपादितम् । अत्रोक्तं सालोक्याद्येकैकफलभेदमात्रावाप्तिकथनं कथं तदविरुद्धमिति चेत्, सत्यम् । इयमाशङ्का निगमान्तदेशिकैरपि सच्चरित्ररक्षायां परिहृता । तथाहि—"भगवत्प्राप्तावपि विष्णुलोकादिषु द्वारपालादिष्विव[9] तथाविधभेदोऽस्तीति तदपेक्षिणां[10]प्राप्यभेदद्योतनाय पृथङ्निर्देशः । यथाहुः—

लोकेषु विष्णोर्निवसन्ति केचित् समीपमिच्छन्ति च केचिदन्ये ।
अन्ये तु रूपं सदृशं भजन्ते सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः ॥ इति" (पृ० ३१)

---

१. भावं–अ० उ० । २. यागस्य–अ० । ३. स्यापि–अ० उ० । ४. निलय–अ० । ५. इतः परम्–'स्वमन्त्रसन्निधिं तत्र कृत्वा तद्विग्रहान्वितम्' इत्येषा पङ्क्तिः ११४ श्लोकस्था पुनरत्र दृश्यते–मु० अटी० । ६. यम्–अ० उ० । ७. प्रयाति–बक० बख० अ० उ० । ८. वयादेकैक–अ० । ९. द्वारकादिष्विव–अ० म० । १०. प्राप्ति–मु० ।

फलं सालोक्यतापूर्वं परिज्ञेयं क्रमाद् यतः ।
दुष्टेन्द्रियवशाच्चित्तं नृणां यत्कल्मषैर्वृतम्[1] ॥११९॥
तदन्तकाले संशुद्धिं याति नारायणालये ।
व्रतान्येतानि यः कुर्यादभिसन्धाय चेतसा ॥१२०॥
अभीष्टमतितीव्रेण तदाप्नोत्यचिरात् तु सः ।
श्रद्धानैरतस्तस्माद् दृष्टादृष्टफलाप्तये ॥१२१॥
[2]व्रतान्येतानि कर्तव्यान्यभिसन्धाय चेतसा ।
नावसादस्तु कर्तव्यो [3]व्रतभङ्गात् कदाचन ॥१२२॥
सङ्कल्पादेव भगवांस्तत्त्वतो भावितात्मनाम् ।
व्रतान्तमखिलं कालं सेचयत्यमृतेन तु ॥१२३॥

यद्वा क्रमादित्यत्र सालोक्यसामीप्यादिक्रमेणेत्यर्थवर्णने नास्त्येतदाशङ्काया एवावकाशः, सर्वस्यापि क्षेत्रस्य सालोक्यादिफलचतुष्टयप्रदत्वसम्भवात् ॥११८–११९॥

वैष्णवक्षेत्रस्य मनःपरिशुद्ध्यावहत्वं चाह—दुष्टेति त्रिभिः पादैः । यत इत्यस्याप्यनुषङ्गः कार्यः । भगवन्मन्दिरे व्रतानुष्ठानस्य शीघ्रफलप्रदत्वमाह—नारायणालय इति ॥ ११९–१२१ ॥

अत एतेषां व्रतानामवश्यानुष्ठेयत्वमाह—श्रद्दधानैरिति ॥ १२१–१२२ ॥

आरब्धे व्रते मध्ये येन केना[4]पि हेतुना विघ्नितेऽपि ततो न भेत्तव्यम् । यतो व्रतं करिष्यामीति संकल्पमात्रादेवारभ्य व्रतसमाप्तिपर्यन्तं यावदनुष्ठानं संभवति, तावतैव फलसिद्धिर्भवतीत्याह—नावसाद इति सार्धेन । अवसादो न कार्यः, अधैर्यं नाधिगन्तव्यमित्यर्थः । अयमेवार्थो वङ्गिवंशेश्वरैः प्रतिपादितः सच्चरित्ररक्षायामुदाहृतः—

[5]एवमेकदिनं वाथ द्विदिनं त्रिदिनं तु वा ॥
मासं संवत्सरं वापि यावज्जीवितमेव वा ।
वर्तेत भक्त्या परया वैष्णवः सुचिरं [6]सुखी ॥
प्रारब्धे मध्यतो [7]विघ्नाद् विच्छिन्नेऽप्यत्र कर्मणि ।
नानर्थो न च नैष्फल्यं न कृतांशस्य संक्षयः ॥
प्रारब्धेष्वसमाप्तेषु विच्छिन्नेष्वन्यकर्मसु ।
भवत्येवैतदखिलं वैदिकेष्वितरेष्वपि ॥

---

१. र्वृतम्–बक० । २. पङ्क्तिरेषा नास्ति–अ० । ३. ग्लानिभ–अ० उ० । ४. येन केन वा–म० । ५. वङ्गिवंशेश्वरविरचितायामाह्निककारिकायां ५०४–५०८ संख्याका इमे श्लोका द्रष्टव्याः । ६. मुखम्–मु० । ७. घ्नैर्वि–मु० ।

ज्ञात्वैवं बद्धलक्ष्येण भवितव्यं सदैव हि ।
प्राप्तये सर्वकामानां संसारभयभीरुणा ॥१२४॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां व्रतविधिर्नाम
सप्तमः परिच्छेदः ॥

■

कृतः स्वल्पांशकोऽप्यस्य स्थित्वा[1] सुचिरमक्षयः ।
[2]त्रायते च[3] स्वकर्तारं स्वशक्त्या भवभीतितः ॥ इति ।

नन्विदं भगवदाराधनविषयम्, नहि व्रतानुष्ठानविषयमिति चेन्न, अस्य व्रतस्यापि भगवदाराधनरूपत्वात्, भगवदाराधनस्यापि शातवार्षिकव्रतरूपत्वात् । अत एव वङ्गिवंशेश्वरैर्नित्याराधनप्रकरणेऽपि—

[4]त्वदाराधनकामोऽयं व्रतं चरितुमिच्छति ।
संकल्पसिद्ध्यै भगवन् पूरयाऽस्य मनोरथान्[5] ॥ (श्लो० ३९)

इति व्रतविधाने वक्ष्यमाण(८।७–८)श्लोकस्यैव संगृहीतत्वादुभयोरप्यविशेषो बोध्यः ॥ १२२–१२३ ॥

इममर्थं ज्ञात्वा निखि(लं?ल)पुरुषार्थप्राप्त्यर्थं भगवति दृढचित्तेन भवितव्यमित्याह—ज्ञात्वेति ॥ १२४ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये सप्तमः परिच्छेदः ॥

■

१. स्तवः सुषिरमव्ययम्—अ० । २. त्रायेतैव—प० र० । ३. वर्ष—अ०, विश्व—म० । ४. त्वय्या—मु० । ५. रथम्—म० ।

अष्टमः परिच्छेदः

श्रीभगवानुवाच[1]

व्रतमेतदमन्त्रं च सामान्यं सार्वलौकिकम् ।
सितेतरविभागेन प्रोक्तं मन्त्रद्वयं[2] शृणु ॥ १ ॥
प्राग्[3] गुरुं प्रार्थयित्वा तु दृष्टादृष्टप्रदः स हि ।
ज्ञात्वा स्थिरमतिं[4] कुर्यात् तदर्थं चक्रमण्डलम् ॥ २ ॥
तन्मध्ये चतुरात्मा तु यष्टव्यः कर्णिकोपरि ।
चतुर्दिक्ष्वीक्षमाणस्तु वासुदेवादितः क्रमात् ॥ ३ ॥
हृदादिनेत्रपर्यन्तमङ्गषट्कं यजेत् ततः ।
अर्घ्यादिभिः क्रमाद् भोगैर्व्रतज्ञेन पुराहृतैः[5] ॥ ४ ॥

अथाष्टमो व्याख्यास्यते । पूर्वममन्त्रकं व्रतमुक्तम्, इदानीं समन्त्रकं शृण्वित्याह—व्रतमिति । सामान्यं सार्वलौकिकं ब्राह्मणादिचतुर्वर्णानामिति साधारणमित्यर्थः । समन्त्रकं व्रतं तु ब्राह्मणमात्रकार्यम् । उक्तं खलु (प्रथमे ? द्वितीये) परिच्छेदे—

व्यामिश्रयागयुक्तानां विप्राणां वेदवादिनाम् ॥
समन्त्रे तु चतुर्व्यूहे अधिकारो न चान्यथा ।
त्रयाणां क्षत्रियादीनां प्रपन्नानां च तत्त्वतः ॥
अमन्त्रमधिकारस्तु चतुर्व्यूहक्रियाक्रमे । (२।८-१०) इति ॥ १ ॥

प्रथमं शिष्यो गुरुं[6] प्रार्थयेत्, गुरुः शिष्यं स्थिरबुद्धिं ज्ञात्वा तद्व्रतार्थं मण्डलं विलिखेदित्याह—प्रागिति । प्रार्थयित्वा कृतकृत्यो भवेदिति भावः[7] ॥ २ ॥

तन्मण्डलमध्ये कर्णिकोपरि वासुदेवादिचातुरात्म्यार्चनं कार्यमित्याह—तन्मध्य इति ॥ ३ ॥

तदनन्तरमङ्गमन्त्रार्चनं वासुदेवादीनामर्घ्यादिभिः पूजनं चाह—हृदादीति । अङ्गमन्त्राणामर्चनस्थानं तु—

---

१. 'भगवान्'—मु० अटी० बक० बख० । २. मयं—अ० उ० । ३. प्रागग्रं—मु० अटी० बक० । ४. मतिः—मु० बख० अ० उ०, वतः—अटी० । ५. पुरो—मु०, पुरोहि—अटी० । ६. गुरून्—म० । ७. शेषः—म० ।

ततः कुण्डान्तरे चैव संस्कृतेऽग्नौ च विन्यसेत् ।
चक्रं मन्त्रगणोपेतं समिद्भिस्तर्पयेत् क्रमात् ॥ ५ ॥
पश्चात् तण्डुलसंमिश्रैः सघृतैर्बहुभिस्तिलैः ।
अर्घ्योदकेन शिरसा पवित्रीकृत्य साम्प्रतम् ॥ ६ ॥
नतजानुशिरः शिष्यं कृत्वासौ श्रावयेत् प्रभुम् ।
त्वदाराधनकामोऽयं व्रतं चरितुमिच्छति ॥ ७ ॥
सङ्कल्पसिद्ध्यै भगवन् पूरयास्य मनोरथान् ।
इति विज्ञाप्य देवेशं ततः पुष्पाणि दापयेत् ॥ ८ ॥
अष्टाङ्गमथ वै कुर्यात् प्रणामं सप्रदक्षिणम् ।
भूयो भूयोऽनवच्छिन्नं भक्तिश्रद्धापुरस्सरम् ॥ ९ ॥

तदोदितं विभोर्देहाद् हृदयाद्यं चतुष्टयम् ॥
न्यसेत् कमलपत्राणामा पूर्वादुत्तरान्तिमम् ।
अग्नीशरक्षोवायव्यदलेष्वस्त्रं यथाक्रमम् ॥
नेत्रं केसरजालस्थं चक्रं नाभित्रयोपरि । (१७।६५–६७)

इति नृसिंहकल्पे वक्ष्यमाणं ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

सचक्रमण्डलस्य भगवतोऽग्निमध्ये ध्यानं संतर्पणं चाह—तत इति सार्धेन ॥५–६॥

ततः शिष्यं शिरोमन्त्रेण प्रोक्ष्य तं नतजानुशिरस्कं कृत्वा त्वदाराधनश्लोकं विज्ञाप्य शिष्याञ्जलिस्थपुष्पाणि मण्डलोपरि प्रदापयेदित्याह—अर्घ्योदकेनेति सार्धद्वाभ्याम् । यद्यप्यस्मिन् त्वदाराधनकामोऽयमित्यादिश्लोके व्रतशब्दस्य विद्यमानत्वात्, अयमस्येति पदद्वयेन पुरोव(र्ति)शिष्यस्योक्तत्वाच्च व्रतप्रकरण एवाचार्येण विज्ञापनीयोऽयं श्लोकः, तथापि नित्याराधनस्यापि शातवार्षिकव्रतरूपत्वात्, अयमस्येति पदद्वयस्य स्वात्मव्यवहारेऽपि योग्यत्वाच्च वङ्गिवंशेश्वरकृतनित्यार्चनकारिकादिष्वप्ययं श्लोकः प्रतिपादितः । अतोऽस्मत्तातपादैरपि सात्वतामृते चोक्त इति बोध्यम् ॥ ६–८ ॥

प्रदक्षिणप्रणामावाह—अष्टाङ्गमिति । चतुर्मूर्तीनामपि चतुर्वारं प्रणामस्य कर्तव्यत्वाद् भूयो भूय इत्युक्तम्, नैतावताऽसकृत् प्रणामसिद्धिः ॥ ९ ॥

---

१. त्वय्या–मु० अटी० । २. कम्–मु० । ३. 'स' नास्ति–अ० । ४. 'शिष्यं' नास्ति–अ० । ५. नित्यार्चनप्रकरणं नित्यार्चनकारिका वाऽऽह्निककारिकातोऽभिन्नो ग्रन्थः । तत्र ३९ संख्याकोऽयं श्लोकः । ६. मिति–अ० ।

ततस्तस्योपदेष्टव्यं विधानं मन्त्रपूर्वकम् ।
सान्तं[1] षष्ठस्वरारूढमनुस्वारविभूषितम् ॥ १० ॥
बीजमाद्यस्य च विभोर्वासुदेवस्य कीर्तितम्[2] ।
तदेव जीवबीजस्थं षष्ठस्वरविवर्जितम् ॥ ११ ॥
द्वितीयस्वरसंयुक्तं सङ्कर्षणस्य बीजराट् ।
उभयोरन्तरे रेफमाद्यबीजस्य योजयेत् ॥ १२ ॥
बीजं प्रद्युम्ननाथस्य तृतीयं सर्वकामदम् ।
जीवारूढं हकारं[3] तु लान्तस्योपरि विन्यसेत् ॥ १३ ॥

शिष्यस्य व्रतार्थं मन्त्रोपदेशमाह—तत इत्यर्धेन। वासुदेवादिबीजचतुष्टयमाह—सान्तमिति चतुर्भिः। सान्तं सकारान्ते स्थितं हकाराख्यं वर्णं षष्ठस्वरारूढम् ऊकारान्वितम् अनुस्वारविभूषितं बिन्दुसंयुक्तम्। तथा च हूमिति वासुदेवस्य बीजं भवति। तदेव हकाराख्यं वर्णमेव। जीवबीजस्थं सकारान्वितम् षष्ठस्वरविवर्जितम् ऊकाररहितम् द्वितीयस्वरसंयुतम् आकारान्वितम्। तथा च ह्सामिति सङ्कर्षणस्य बीजं भवति। आद्यबीजस्य वासुदेवबीजस्य, उभयोरन्तरे हकारोकारयोरन्तरे, रेफं योजयेत्। तथा च ह्रूमिति प्रद्युम्नस्य बीजं भवति। जीवारूढं सकारस्थं हकारं लान्तस्य वकारस्योपरि न्यसेत्, विसर्गसहितम् अन्तिमस्वरसंयुक्तं च कुर्यात्। कथा च ह्स्वमित्यनिरुद्धबीजं भवति।

ननु मकारस्य जीवबीजत्वं युक्तं प्रसिद्धं च, सकारस्य जीवबीजत्वं कथमिति चेदुच्यते—

त्रिधा हकारं कृत्वादौ जीवबीजं तथैव च ॥
कर्कौरं च क्षकारं च लिखेत् तद्वत् त्रिधा त्रिधा। (८।२२–२३)

इति वक्ष्यमाणश्लोकस्थितजीवबीजशब्दस्य पारमेश्वरे—

नवमं चाष्टमं नेमावराद्यं मातृकान्तिमम् ॥
त्रिधैकैकं क्रमात् कृत्वा बीजद्वादशकं यथा। (२४।७७–७८)

इति सकारपरत्वं सुस्पष्टं व्याख्यातं पश्यतु भवान्। किञ्च,

वासुदेवाख्यया ह्योऽभूत् साख्यः संकर्षणोदयः ॥
प्रद्युम्नः षाख्यया ज्ञेयो ह्यनिरुद्धस्तु शाख्यया। (१९।३१–३२)

---

१. सोऽन्तं–मु० । २. र्तनम्–बक० बख० उ० । ३. अकारं–म०, हकारं–अ० ।

विसर्गसहितं बीजमनिरुद्धस्य वाचकम् ।
द्विभुजाः सर्व एवैते सूर्येन्दुशतसन्निभाः ॥ १४ ॥
तेजसा त्वत्र भेदोऽस्ति स्वरूपेण सितादिना ।
दक्षिणोत्तरपाणिभ्यां तर्जनीमध्यमान्तरे ॥ १५ ॥
आद्यस्य चक्रशङ्खौ द्वौ ध्येयावंसद्वयोपरि ।
स्कन्धसूत्रसमस्थेन दक्षिणेन तु पाणिना ॥ १६ ॥
गृहीत्वा मुष्टिबन्धेन विश्रान्ता पीठपृष्ठतः ।
ध्येया गदा द्वितीयस्य तथाभूते करे परे ॥ १७ ॥
संस्मरेद्वेतिराड् दीप्तं[1] लीलाक्षेपकरोद्यतम् ।
एवं प्रद्युम्ननाथस्य व्यत्ययेन तु ते उभे ॥ १८ ॥
दक्षिणोत्तरहस्ताभ्यां श्रोत्रमण्डलसम्मुखौ ।
शङ्खपद्मौ चतुर्थस्य तथाकृष्टौ तु संस्मरेत् ॥ १९ ॥
किन्तु वै पङ्कजं नालमस्य वै पाणिपृष्ठगम् ।
हकारं च सकारस्थं कृत्वा षोढा निवेश्य च ॥ २० ॥
द्वितीयतुर्यषष्ठाष्टद्विषट्[3]कदशकैः क्रमात् ।
स्वरैर्नियोजयेद् विद्धि हृदाद्यान्नेत्रपश्चिमान् ॥ २१ ॥

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तरीत्या सकारस्य सङ्कर्षणबीजत्वाद् जीवबीजत्वव्यवहारः । जीवाधिष्ठातृत्वात् सङ्कर्षणस्य जीवव्यवहारः "वासुदेवात् सङ्कर्षणो नाम जीवो जायते" (२।२।३९ श्रीभाष्ये) इत्यत्र प्रसिद्धः । तथा च श्रीमद्भाष्ये—

"अत्र जीवमनोऽहङ्कारतत्त्वानामधिष्ठातारः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धा इति तेषामेव जीवादिशब्दैरभिधानमविरुद्धम्" (२।२।४१) इति ॥ १०–१४ ॥

वासुदेवादिमूर्तिध्यानप्रकारमाह—द्विभुजा इत्यारभ्य पाणिपृष्ठगमित्यन्तम् ॥ १४–२० ॥

अथ वासुदेवादीनां चतुर्णामपि साधारणानि हृदयाद्यङ्गमन्त्रबीजान्याह—हकारमिति द्वाभ्याम् । हकारं सकारस्थं कृत्वा षोढा विलिख्य द्वितीयतुर्यषष्ठाष्टद्विषट्कदशकैः स्वरैः, आकारेण ईकारेण ऊकारेण ॠकारेण [6]ऐकारेण ॡकारेण च क्रमेण योजयेत् । तथा च—ह्सां ह्सीं ह्सूं ह्सॄं ह्सैं ह्सॣं इति बीजषट्कं भवति ।

---

१. दीप्त–बक० बख० अ० उ० । २. इवो–मु० बक० बख० अ० उ० । ३. षट्कद्वादशकैः–अ० उ० । ४. रं नि–बक० । ५. द्यन्तेऽत्र–अ० । ६. 'ऐकारेण' नास्ति–अ० ।

चातुरात्मीयमन्त्राणां साधनत्वेन सर्वदा ।
त्रिधा हकारं कृत्वादौ जीवबीजं तथैव च[1] ॥ २२ ॥
ककारं च क्षकारं च लिखेत् तद्वत् त्रिधा त्रिधा ।
द्विषट्कमेव बीजानां क्रमादादौ निवेश्य[2] च ॥ २३ ॥
ततो वायुधरावारिसंज्ञं यच्चाक्षरत्रयम् ।
पौनःपुन्येन सर्वेषामधोभागे नियोजयेत् ॥ २४ ॥

एतद् हृदादिनेत्रमन्त्रषट्[3]के क्रमाद् योजयेत् । एवं कवचमन्त्रादिबीजत्रयेऽष्टमद्वादशदशमस्वराणां संयोजनं क्वाचित्कम्, न सार्वत्रिकम् । यतोऽत्रैव नृसिंहकल्पे—

द्वितीयतुर्[4]यषष्ठैश्च द्वादशेनान्तिमेन च ।
चतुर्दशेनाराद्वर्गात् क्रमाद्वै विनियोजयेत् ॥ (१७।९)

इति कवचादिबीजत्रयस्य स्वरान्तसंयोजनमपि वक्ष्यति ॥२०–२२॥

अथ केशवादीनां द्वादशबीजान्याह—त्रिधेति सार्धैस्त्रिभिः । आदौ त्रिधा त्रिवारं हकारं विलिख्य, तथैव जीवबीजं सकारं विलिख्य, ककारं क्षकारं तद्वत् त्रिधा विलिखेत् । एवं बीजानां द्विषट्कमादौ निवेश्य वायुधरावारिसंज्ञं यदक्षरत्रयं यकारलकारवकारत्रयम्, सर्वेषां पूर्वं विलिखितद्वादशबीजानामधोभागे पौनःपुन्येन योजयेत् । सर्वे षष्ठस्वरारूढा ऊकारान्विताः, अनुस्वारविभूषिता बिन्दुयुक्ताः केशवादिबीजा ज्ञेयाः । तथा चैवं प्रयोगः—ह्यूं ह्लूं ह्वूं स्यूं स्लूं स्वूं क्यूं क्लूं क्वूं क्ष्यूं क्ष्लूं क्ष्वूं इति । अयमेवार्थः पारमेश्वरेऽपि सुस्पष्टमुपबृंहितश्चतुर्विंशेऽध्याये—

क्रमशः केशवादीनां मन्त्राणां लक्षणं शृणु ।
नवमं चाष्टमं नेमावराद्यं मातृकान्तिमम् ॥
त्रिधैकैकं क्रमात् कृत्वा बीजद्वादशकं यथा ।
पौनःपुन्येन सर्वेषां यलवात् योजयेदधः ॥
नाभिषष्ठास[5]नोर्ध्वस्थान[6]ङ्कयेद् बिन्दुनोपरि ।
तारादिहृदयान्तानि संज्ञाभिस्तुर्यया सह ॥
केशवः प्रथमो वाच्यस्ततो नारायणः परः ।
माधवश्चैव गोविन्दो विष्णुश्च मधुसूदनः ॥
त्रिविक्रमो वामनाख्यः श्रीधरः पद्मलोचनः ।
हृषीकेशः पद्मनाभो दामोदर इति श्रुतः ॥
[7]बीजैर्दीर्घस्वरोपेतैः प्राग्वदङ्गानि कल्पयेत् । इति ।
(पा० सं० २४।७७–८२)

---

१. हि–उ० । २. क्रमेणा–उ० । ३. षट्क–अ० । ४. तुरीय–अ० । ५. षष्ठस्वरो–मु० । ६. न्यङ्क–अ० म० । ७. दिव्य–अ० म० ।

सर्वे षष्ठस्वरारूढा अनुस्वारविभूषिताः ।
बोद्धव्याः केशवादीनां बीजास्त्वेते पृथक् पृथक् ।। २५ ।।
क्षसहत्रितयं[1] ह्येतच्चतुर्धा विलिखेत् क्रमात् ।
ततो द्विषट्कं बीजानां तस्याधो विनिवेश्य च ।। २६ ।।
क्रमेण सप्तमाद् वर्गाद् द्वितीयं च चतुर्थकम् ।
पुनस्तृतीयं तुर्यं च द्वितीयं च तृतीयकम् ।। २७ ।।
द्वितीयं च चतुर्थं च चतुर्थं तदनन्तरम् ।
तृतीयमष्टमाच्चाथ[2] तृतीयं सप्तमात् पुनः ।। २८ ।।
नवमद्वादशाभ्यां तु विशेषमिममाचरेत्[3] ।
अथो नियोजयेद् रेफं तत्त्रयाणां तु मूर्धनि ।। २९ ।।
षट्सप्तमाष्टसंज्ञानामीकारमुपरि[4] न्यसेत् ।
सानुस्वारं च सर्वेषामिति देवीगणस्य च ।। ३० ।।

अत्र नेमौ नवमं हकारमित्यर्थः । अष्टमं सकारम् । अराद्यं ककारम् । मातृकान्तिमं क्षकारमित्यर्थः । नाभिषष्ठासनोर्ध्वस्थानि ऊकारान्वितानीत्यर्थः । हृदयान्तानि नमः-पदान्तानीत्यर्थः । एवं च सात्वतोक्तं पारमेश्वरोक्तं चैककण्ठ्यम् । पारमेश्वरे व्याख्याने तु—सं हं कं क्षं सं हं कं क्षं सं हं कं क्षं इति केशवादिबीजानि लिखितानि । तान्य-पहास्यानि, यतो हकारात् पूर्वं सकारलेखनं हकारादीनां प्रत्येकं त्रिधा त्रिधा लेखनं विना परस्परवर्णव्यवहितलेखनं बीजैकदेशमात्रमपि लेखनं चोन्मत्तकार्यम् ।।२२–२५।।

ततः केशवादिदेवीनां बीजद्वादशकमाह—क्षसहत्रितयमित्यादिभिः । क्षसहत्रयं क्षकारसकारहकारत्रयमपि क्रमेण चतुर्धा चतुर्वारं विलिखेत् । एवं कृते बीजानां द्विषट्कं भवति । तेषां बीजानामधस्तात् क्रमेण सप्तमाद्वर्गाद् यरलवात्मकाद् द्वितीयं रेफम्, चतुर्थकं वकारम्, तृतीयं लकारम्, तुर्यं वकारम्, द्वितीयं रेफम्, तृतीयकं लकारम्, द्वितीयं रेफम्, चतुर्थं वकारम्, पुनश्चतुर्थं वकारम् । अष्टमात् शकारादि-वर्णात्मकाद् वर्गात् तृतीयं सकारम् । सप्तमात् पूर्वोक्ताद् वर्गात् तृतीयं लकारं पुन-रित्यनेन पुनश्च लकारमेव नियोजयेत् । नवमद्वादशाभ्यां बीजाभ्यामधो रेफं नियोजयेत् । षट्सप्ताष्टसंज्ञानां बीजानां तु मूर्ध्नि रेफं नियोजयेत् । अयमेव विशेषः । सर्वेषां द्वादश-बीजानामप्युपरि सानुस्वारम् ईकारं न्यसेत् । एवं बीजद्वादशकमुक्तं भवति । एषां

१. क्षहस—मु० । २. मष्टमं चा—मु० अटी० बक० बख० । ३. मिममाम च—मु० अटी० । ४. मिंकार—मु० अटी०, मोकार—अ० ।

बीजद्वादशकं प्रोक्तं यथा चानुक्रमेण तु ।
श्रीश्च वागीश्वरी कान्तिः क्रिया शक्तिर्विभूतयः ॥ ३१ ॥
इच्छा प्रीती रतिश्चैव माया धीर्महिमेति च ।
समुद्रमूर्तये स्वाहा पद्मस्य प्रणवादिकः[1] ॥ ३२ ॥
सर्वान्तश्चारिणे कृत्वा ततो गगनमूर्तये ।
स्वाहान्तः प्रणवाद्यश्च[2] मन्त्रः शङ्खस्य कीर्तितः ॥ ३३ ॥
ॐ कारो वेदमात्रेऽथ विद्ये स्वाहा पदं तु वै ।
गदामन्त्रस्त्वयं प्रोक्तश्चक्रस्याथ निगद्यते ॥ ३४ ॥
ॐकारान्ते पदं दद्यात् पश्चाणं प्रभविष्णवे ।
[3]तदन्ते कालशब्दं तु मूर्तये हुँ ततस्तु फट् ॥ ३५ ॥

बीजानां क्रमेण [4]वाच्याः श्रीवागीश्वर्यादयः । अयमेवार्थः सुव्यक्तमुपबृंहितः पारमेश्वरेऽपि—

> तेषां श्रियादिकान्तानां शृणु मन्त्राननुक्रमात् ॥
> मातृकान्त्यत्रयं[5] क्षाद्यं चतुर्धा प्रस्तरेत् पुरा ।
> द्विषट्सु[6] योज्यान्यर्णानि त्वधोभागे यथाक्रमम् ॥
> अग्न्यम्बुपृथिवीवारिवह्निभूज्वलनाः क्रमात् ।
> वारिद्वयं च सोमं च पार्थिवद्वितयं ततः ॥
> योजयेदनलं वर्गं षट्सप्ताष्टसु मूर्धनि ।
> [7]अथो नवद्वादशयोः सर्वेषां चोर्ध्वतः पुनः ॥
> स्वरशक्त्या समेतेन नाभ्यन्ताद्येन भूषयेत् ।
> स्वरजात्यादियुक्तानि बीजानि [8]सुहृदादयः ॥ (२४।८२-८६)इति ।

तथा चात्रैवं प्रयोगः—क्ष्रीं स्वीं ह्लीं क्ष्वीं स्त्रीं ह्लीं क्ष्रीं स्वीं ह्व्रीं क्ष्सीं स्लीं ह्ल्रीं इति ॥ २६-३२॥

अथ पद्मशङ्खगदाचक्राणां मन्त्रचतुष्टयमाह—समुद्रमूर्तय इत्यादिभिः । तथा चात्रैवं प्रयोगः—ॐ समुद्रमूर्तये स्वाहा, ॐ सर्वान्तिश्चारिणे गगनमूर्तये स्वाहा, ॐ वेदमात्रे विद्यायै स्वाहा, ॐ प्रभविष्णवे कालमूर्तये हुं फट् इति । अत्र समुद्रस्य पद्माधि-

---

१. दिकाः-अटी०, कम्-अ० । २. वान्त-मु० अटी० बक० बख० अ० । ३. पङ्क्तिचतुष्टयं नास्ति-मु० अटी० । ४. वाच्यम्-अ० । ५. कान्तं क्षयं-अ० म० । ६. विष्वक्सु-मु० । ७. अधो-मु० । ८. हृदयादयः-मु० ।

पद्मादीनां चतुर्णां[1] तु एतन्मन्त्रचतुष्टयम् ।
सामान्या सर्वमन्त्राणामेका मुद्राञ्जलिः कृता[2] ॥ ३६ ॥
स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण संयुक्तानां प्रयोजयेत् ।
श्लिष्टौ विकसितौ[3] हस्तौ योज्यौ चामणिबन्धनात् ॥३७॥
तद्बाहुकूर्परौ[4] द्वौ च नाभौ संरोध्य दण्डवत् ।
ईषद् वै डोलयेत् पश्चादथ[5] ऊर्ध्वे च तौ करौ[6] ॥ ३८ ॥
गुप्तिं[7] कृत्वा तु योज्यैषा मुद्राऽऽराधनकर्मणि ।
आसाद्य प्राक्स्थितामर्चां स्वयं वा समपृष्ठताम्[8] ॥३९॥
सर्वलक्षणसम्पन्नां[9] यस्यां चेतः प्रसीदति ।
हेमादिनिर्मितं कुर्यात् पीठं वा लक्षणान्वितम् ॥ ४० ॥

ष्ठातृत्वात्, गगनस्य शङ्खाधिष्ठातृत्वात्, सरस्वत्या गदाधिष्ठातृत्वात्, कालस्य चक्राधिष्ठातृत्वाच्च समुद्रमूर्तादिशब्दैः पद्मादीन्युक्तानीति बोध्यम् ।

समुद्रादीनां पद्माद्यधिष्ठातृत्वं त्रयोदशपरिच्छेदे वक्ष्यमाणं द्रष्टव्यम् । इदं पद्मादिमन्त्रचतुष्टयं वासुदेवादिव्यूहार्चने केशवादिव्यूहान्तरार्चने[10] च कार्यम् । विभवार्चने तु प्रकारान्तरेण वक्ष्यमाणायुधमन्त्रा ग्राह्याः । अत एवास्मत्तातपादैः सात्वतामृते नारायणमूर्त्यर्चनप्रकरणादिदमेव पद्मादिमन्त्रचतुष्टयं प्रतिपादितम् ॥३२–३६॥

अथ सर्वमन्त्रसाधारणाञ्जलिमुद्रामाह—सामान्येति । यद्यप्येवमञ्जलिमुद्राया एव सर्वसाधारणत्वोक्त्या सर्वत्रेयमेव प्रयोक्तव्या, तथाप्यत्रैव कतिपयमुद्राविशेषाणां नृसिंहकल्पादिषु वक्ष्यमाणत्वात् तदनुरोधे(च? न) सात्वतोपबृंहणे ऐश्वरतन्त्रे[11] च केषाञ्चिन्मुद्राविशेषाणां प्रदर्शितत्वाच्च तद्व्यतिरिक्तानां केवलमञ्जलिमुद्रैव प्रदर्शनीयेति बोध्यम् ॥ ३६–३७ ॥

आराधनकाले प्रयोज्यां मुद्रामाह—श्लिष्टाविति द्वाभ्याम् । स्वहस्तौ परस्परसंश्लिष्टौ विकसितौ च[12] कृत्वा तद्बाहुकूर्परौ द्वौ मणिबन्धपर्यन्तं निरन्तरं संयोज्य दण्डवत् स्वनाभौ संरोध्य हस्तौ अ(थ?ध) ऊर्ध्वं च किञ्चिच्चालयेत् । एषा मुद्रा गुप्तिं कृत्वा योज्या, गोप्येत्यर्थः ॥ ३७–३९ ॥

[13]व्रताराधनार्थं स्वयंव्यक्ता[14]न्यतमबिम्बं सलक्षणं सुप्रतिष्ठितं बिम्बं वा स्वेच्छानुसारेण प्राप्यमित्याह—आसाद्येति ॥ ३९–४० ॥

---

१. र्णामप्ये–अ०, र्णां त्वप्ये–उ० । २. स्मृता–अ० उ० । ३. कासि–मु० । ४. कौ सरौ–मु०, कौर्परौ–अ०, कोपरि–उ० । ५. दध–मु० अटी० अ० उ० । ६. तु–बक० बख० अ० उ० । ७. गुप्तिः–मु० अटी० । ८. गाम्–अटी० । ९. सम्पूर्णां–बक० बख० अ० उ० । १०. न्तरेऽर्चनाच्च–अ० । ११. चतुर्विंशेऽध्याये । १२. 'च' नास्ति–म० । १३. वृथा–अ०, वृता–म० । १४. क्तादन्य–म० ।

शमं[1] त्रिभाग[2]न्यूनं वा द्वादशाङ्गुलविस्तृतम् ।
चतुरश्रं चतुष्पादं विस्तरार्धेन चोन्नतम् ॥ ४१ ॥
तृतीयं भागमादाय विस्तराच्च स्व[3]कं स्वकम् ।
तेन तन्मध्यगं कुर्यात् कमलं लक्षणान्वितम् ॥ ४२ ॥
द्विषट्कारं तु तद्बाह्ये चक्रं सर्वाङ्गचिह्नितम् ।
सिद्धामरनरादीनां हृदयस्थाऽक्ष[4]याऽऽच्युती ॥ ४३ ॥
मृदूच्चचरणाक्रा[5]न्तिनिर्मुक्ताऽऽकृतिलक्षणा ।
पा[6]दाम्बुरुहमुद्राऽथ कार्या वै कर्णिकोदरे ॥ ४४ ॥
सम्पाद्य चै[7]वमाधारं पीठं वाऽर्चान्वितं स्मरेत् ।
पादाब्जमुद्रारहितं कुण्डं तदनु कल्पयेत् ॥ ४५ ॥
फुल्लपद्मसमाकारमोष्ठयोनिसमन्वितम् ।
चलमेकदिशिस्थं वा ततो नियममाचरेत् ॥ ४६ ॥

बिम्बं विनाऽर्चनार्थं केवलपीठं वा कुर्यादिति तल्लक्षणमाह—हेमादिनिर्मित-मित्यादिभिः। शमं चतुरङ्गुलविस्तृतमित्यर्थः। "शमः स्याच्चतुरङ्गुलः" (३।१।५२) इति वैजयन्ती। सममिति पाठे समं निम्नोन्नतत्वरहितमित्यर्थः। [8]यद्वा आयामविस्तराभ्यां सममित्यर्थः। त्रिभागन्यूनं वा अष्टाङ्[9]गुलं वेत्यर्थः। द्वादशाङ्गुलस्य त्रिष्वेकभागराहित्येऽष्टाङ्गुलं भवति। एवमुक्तं [10]द्वितीयपरिच्छेदेऽपि—"मृत्काष्ठो[11]पलधातूत्थमेकद्वित्रि-शमं तु वा" (२।४७) इति। द्विषट्कारं द्वादशारमित्यर्थः। सिद्धामरनरादीनां हृदयस्था, तेषां ध्यानविषयीभूतेत्यर्थः। अक्षया [12]अन्तरहिता, आच्युती भगवदीया, चरणाक्रान्ति-निर्मुक्ताकृतिलक्षणा चरणयोराक्रान्तिराक्रमणं [13]पदन्यास इति यावत्, तेन निर्मुक्ता या आकृतिस्तल्लक्षणा, तथेत्यर्थः। भगवत्पादपद्मस्यातिकोमलत्वेऽपि तत्सुखस्पर्शपीठ-पद्मस्य ततोऽप्यतिशयितमृदुत्वात् तदुपरि पादलाञ्छनं स्फुटीभवतीति ज्ञेयम्। पादाम्बु-रुहमुद्रा पद्मसदृशश्रीपादद्वन्द्वलाञ्छनमित्यर्थः ॥४०–४५॥

कुण्डलक्षणमाह—पादाब्जेति सपादेन। कुण्डस्य पादाब्जमुद्रारहितत्वोक्त्या केवलसचक्रपद्मलाञ्छनं कुण्डमध्येऽपि कार्यमित्युक्तं भवति। पादाब्जमुद्रारहितमित्यस्य

१. समं–मु०, सम०–बख० अ० उ०। २. गं–बक० बख० अ० उ०। ३. स्तारा–बख० अ० उ०। ४. स्वरं–मु० अटी०। ५. क्षराच्युति–मु० अटी०। ६. कान्ति–मु० अटी०। ७. पदा–बक० बख०। ८. यतः–अ०। ९. ङ्गमि–अ०। १०. तृतीय–अ०। ११. ष्ठोपलया–म०, ष्ठो वलयात्मार्थमेकद्वित्रिममुं तु वेति–अ०। १२. अन्तर्हिता–अ०, अन्तररहिता–म०। १३. पाद–म०।

संवत्सरस्य पूजार्थं विभोर्वै द्वादशात्मनः ।
मार्गशीर्षात् समारभ्य मासाद्वै कौमुदान्तिमम्[1] ।। ४७ ।।
मासेशमन्त्रसंजप्तं युक्तं हेमकुशाम्बुना[2] ।
दशम्यां पञ्चगव्यं च पिबेत् सम्पूज्य केशवम् ।। ४८ ।।
तन्निवेदितमन्नं च प्राग्भुक्त्वा तु घृतादिकम् ।
नातीव तृप्तिजनकं दन्तकाष्ठमथाचरेत् ।। ४९ ।।
शयनं मन्त्रतोयेन प्रोक्षयेत् सकुशं ततः ।
शयनस्थो जपेन्मन्त्रं शतमष्टाधिकं तु वै ।। ५० ।।
एकादश्यां प्रभातेऽथ मध्याह्ने वा[3] दिनक्षये ।
केशवाय नमस्कुर्याद् बहुशः प्रणवादिकम् ।। ५१ ।।
तस्य वै पूजनं भक्त्या कुर्यात् कालत्रयं तु वै ।
सर्वगं परमं ज्योतिरमूर्तममलं हि यत् ।। ५२ ।।
स एव वासुदेवेति[4] मत्वा सम्यग् यजेत् ततः ।
चेतसामृतसंकाशैः पुष्पाद्यैरखिलैः प्रभुम् ।। ५३ ।।

पूर्वेणैवान्वये पीठलक्षणस्यैव पक्षान्तरमुक्तं भवति । ओष्ठयोनिसमन्वितमित्यत्र तल्लक्षणं कुण्डलक्षणप्रकरणे वक्ष्यमाणं ज्ञेयम् । चलं जङ्गमरूपमित्यर्थः । एकदिशिस्थं स्थावरमित्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—"तस्मात् कुण्डं सदा कार्यं सौत्रं वा जङ्गमं स्थिरम्" (७।३) इति । व्रताचरणमाह—तत इति सपादेन । द्वादशात्मनः केशवादिरूपस्येत्यर्थः ।।४५–४७।।

मार्गशीर्षशुक्लदशम्यां रात्रौ कर्तव्यक्रममाह—मासेति सार्धत्रिभिः । मासेशमन्त्रसंजप्तम् प्रकृतमासेशः केशवः, तन्मन्त्राभिमन्त्रितमित्यर्थः ।।४७–५०।।

एकादश्यां केशवस्य कालत्रयस्यार्चनमाह—एकादश्यामिति सार्धेन । केशवाय नमस्कुर्याद् बहुशः प्रणवादिकमित्यन्तेन ॐ केशवाय नम इति मन्त्रमसकृज्जपेदित्युक्तं भवति ।।५१–५२।।

अथ परात्परवासुदेवस्य मानसार्चनपूर्वकं मूर्तिध्यानम्, तस्माद्वासुदेवादिव्यूहोत्पत्तिकथनम्[5], तेभ्यः केशवादीनामुत्पत्तिभावनां चाह—सर्वगं परमं ज्योतिरित्या-

---

१. कम्—बक० बख० अ० उ० । २. होम—मु० अटी० । ३. दिवस—अ०, वा दिवा—उ० ।
४. वश्च त्विति मत्वा यजेत् ततः—अ० उ० । ५. चिन्तनम्—म० ।

पश्चात् तममलं धाम ध्यायेन्मु[1]क्तमनश्वरम् ।
श्रोणीतटार्पितकरं सानुकम्प[2]मनूपमम् ॥ ५४ ॥
दक्षिणेन तु हस्तेन भक्तानामभयप्रदम् ।
पुष्पाभरणवस्त्राढ्यं शङ्खचक्रद्वयान्वितम् ॥ ५५ ॥
ततस्तस्मात्तु वै धाम्नो युगपन्निस्सृतं स्मरेत् ।
महत्स्फुलिङ्गसंकाशं महस्तु[3] सततोदितम् ॥ ५६ ॥
तेन चाक्रमरावृन्दं समाक्रान्तं च भावयेत् ।
अथ प्रत्येकतेजोंऽशादुद्भूतं भावयेत् क्रमात् ॥ ५७ ॥
त्रयं त्रयं सिता[4]द्यं च केशवाद्यं चतुर्भुजम् ।
दक्षिणोत्तरपाणिभ्यां पृष्ठतः केशवादिषु ॥ ५८ ॥

दिभिः । अ[5]त्र त्रयं त्रयं सिताद्यमित्यनेन केशवादित्रिकस्य वासुदेववत् सितवर्णत्वं गोविन्दादित्रिकस्य संकर्षणवद्रक्तवर्णत्वं चोक्तं भवति । तथा च पौष्करे पञ्च[6]त्रिंशेऽध्याये—

मूर्ति[7]त्रयमिदं दि[8]व्यं कुन्देन्दुस्फटिकप्रभम् ।
भगवद्वासुदेवेन सहास्य चतुरात्म[9]ता ॥....
त्रयमेवं हि देवानां सह वै ज्ञानमूर्तिना[10] ।
चातुरात्म्यद्वितीयं[11] तु पद्मरागोज्ज्वलद्युति ॥
मूर्तित्रितयमेतद् वै स[12]हेजस्वामिना द्विज ।
हेमधामप्रभं ज्ञेयं चातुरात्म्यतया स्थितम् ॥....
अतसीपुष्पसंकाशमिदं मूर्तिगणं स्मृतम् ।
सहानिरुद्धदेवेन अस्यापि चतुरात्मता ॥ इति ।
(३६।१५०, १५६, १६२, १६८)

पारमेश्वरे तु सुदर्शननारसिंहयन्त्रप्रकरणे (२३।७२–७८) पौष्करोक्तक्रमं विहायाहिर्बुध्न्यसंहि(तायामु?तो)क्तरीत्या केशवादीनां वर्णभेदा उक्ताः । तत्रापि तथा ध्यानं यन्त्रमात्रविषयम् । अन्यत्र पौष्करोक्तध्यानमेव सार्वत्रिकं ग्राह्यम्, पौष्करोपबृंहणत्वात् ॥५२–५८॥

१. न्मूर्त–अ०, न्मूर्तं महेश्वरम्–उ० । २. वनो–उ० । ३. समूहं–बक० बख० अ० उ० । ४. सिताद्ये–मु० बक० बख० । ५. अथ–अ० । ६. मुद्रिते पुस्तके षट्त्रिंशेऽध्याये दृश्यन्ते इमे श्लोकाः । ७. मूर्ध्नि–अ० । ८. दिव्य–अ० । ९. त्मना–अ० मु० । १०. मूर्तिनाम्–अ० मु० । ११. रात्म्याद् द्वितीयां तु पद्मरागोत्पलद्युतिम्–मु० । १२. सह च स्वामिना–मु० ।

युग्मं युग्मं परिज्ञेयं क्रमेणोर्ध्वगतं त्विदम्[1] ।
शङ्खचक्रकजं विद्या[2] साथ शङ्खोऽथ[3] हेतिराट् ॥ ५९ ॥
तच्छङ्खं[4] सकजं विद्याऽशङ्खं चक्रं गदा त्वरि[5] ।
गदा चक्रं कजं पद्मं चक्रं शङ्खं ततो गदा ॥ ६० ॥
तद्वद् भूयोऽग्रसंस्थाभ्यामधरस्थं द्वयं द्वयम् ।
ज्ञेयं दामोदरान्तानां द्वादशानामिदं शृणु ॥ ६१ ॥
पद्मं गदा ध्वनिश्चक्रं तत्पद्मं[6] हेतिराड् ध्वनिः ।
विद्या[7] चक्रं च तद्विद्यात् पद्मं शङ्खं च सो[9]ऽम्बुजम् ॥६२॥

केशवादीनां पश्चात्करद्वयस्थितलाञ्छनक्रममाह—दक्षिणोत्तरेति सार्धद्वाभ्याम् । कजं पद्ममित्यर्थः । विद्या गदेत्यर्थः । तद् अम्बुजं सशङ्खमित्यर्थः । विद्याशङ्खमित्यत्र विद्याऽशङ्खमिति पदच्छेदः । अशङ्खं चक्रमित्यर्थः । यतोऽन्यथा त्रिविक्रमस्य शङ्खद्वयसाधारणं भवति । ननु किं तावता प्रत्यवाय इति चेन्न, प्रत्येकमायुधचतुष्टयधारणनियमात् । विद्या चक्रमिति पाठश्चेदेवं क्लिष्टकल्पनश्रम एव[10] नास्ति । अरि चक्रमित्यर्थः ॥५८–६०॥

अथ मुख्यहस्तद्वयस्थितायुधक्रममाह—तद्वदिति सार्धद्वाभ्याम् । ध्वनिः शङ्खमित्यर्थः । तत् चक्रमित्यर्थः । पुनः तच्चक्रमित्यर्थः । स शङ्ख इत्यर्थः । पुनः स शङ्ख इत्यर्थः । एवं च पद्मगदाशङ्खचक्रा[11]ख्यायुध[12]चतुष्टयधारणं केशवादिद्वादशमूर्तीनामपि समानम्, किन्तु हस्तभेदैस्तद्धारणमेव तत्तन्मूर्तेर्विशेषः । स च तन्त्रभेदेन नैकरूपः । वस्तुतस्तु पाद्मोक्त एव प्रायेणैतदेककण्ठो भवति । तथाहि—

केशवस्याम्बुजं शङ्खं चक्रं दण्डस्तथा[13]युधम् ।
प्रादक्षिण्येन बाहूनामन्येषामुच्यते क्रमात् ॥
नारायणः शङ्खपद्मगदाचक्रधरः स्मृतः ।
माधवो गदया सार्धं शङ्खचक्राम्बुजायुधः ॥
गोविन्दश्चक्रदण्डाब्जशङ्खायुधधरो भवेत् ।
विष्णुर्गदाब्जशङ्खारिधरः स्यान्मधुसूदनः ॥
चक्रशङ्खाब्जदण्डास्त्रधरः कार्यस्त्रिविक्रमः ।
पद्मशङ्खारिदण्डास्त्रो वामनः शङ्खचक्रधृत् ॥

---

१. च तम्–मु० अटी०, च तत्–उ० । २. विद्यात्–इति सार्वत्रिकः पाठः । ३. गदाम्बुजम्–बक० बख० अ० उ० । ४. पङ्क्तिपञ्चकं नास्ति–मु० अटी० । ५. त्वरिम्–बक० बख० उ० । ६. तं पद्मं–बक० । ७. गदा–बक० । ८. पद्मः शङ्खश्च–मु० अटी० । ९. सोऽम्बुजम्–इति सार्वत्रिकः पाठः । १०. 'एव नास्ति''' पुन सशङ्ख इत्यर्थः' नास्ति–म० । ११. चक्राद्या–अ० । १२. 'चतु‌ष्टय' नास्ति–अ० । १३. स्तदा–म० ।

पद्मध्वनिगदाशङ्खाः स[1]वि[2]द्याम्बुरुहं त्वरि[3] ।
भूयो धामगणात् तस्मात् संस्मरेन्निस्सृतं [4]महः ॥ ६३ ॥

गदाब्जपाणिश्च तथा श्रीधरो धृतवारिजः ।
सार्धं चक्रगदाशङ्खो हृषीकेशमतः शृणु ॥
गदाचक्राब्जशङ्खास्त्रधरो दामोदरः स्मृतः ।
अब्जशङ्खगदाचक्रधरा द्वादश मूर्तयः ॥ इति ।

अत्र त्रिविक्रमपद्मनाभोक्तलक्षणं विनाऽन्यत् सर्वमेकरूपं ज्ञेयम् ।

नन्वेतदुक्तं नारायणमूर्तिलक्षणं यादवाचलस्थनारायणमूर्तौ न लक्ष्यत इति चेत्, [5]सत्यम् । न तावता प्रत्यवायोऽस्ति, स्वयंव्यक्तस्य निरङ्कुशत्वात् । ननु स च नारायणमूर्तिरेवेत्यत्र किं विनिगमकमिति चेत्, अस्ति पौरा[6]णिकी प्रसिद्धिः । न च पौराणिकनारायणशब्दस्य व्यापकत्वान्न मूर्तिनिर्णायकत्वमिति वाच्यम्,

केशवः केशिहा लोके कुरुक्षेत्रादिषु स्थितः ।
नारायणो मुनिश्रेष्ठाः स्थितो नारायणाचले ॥
(पौ० सं० ३६।३०६; ई० सं० २०।२१–२२)

इति पौष्करेश्वरयोर्मूर्तिविशेषनियतशब्देनैव व्यक्तोक्तेः । किञ्च, पौष्करोक्तं नारायणमूर्तिलक्षणं यादवाचलस्थनारायणे लक्ष्यत एव । तथाहि—

सव्यापसव्यहस्ताभ्यां मुखाभ्यां तु गदाम्बुजे ॥
वामादौ शङ्खचक्रौ तु संधत्ते पश्चिमद्वये ।
नारायणाख्यो भगवान् (पौ० सं० ३६।१४७–१४८) इति ।

ननु तत्र मुख्यदक्षिणहस्तेऽम्बुजमपि न लक्ष्यत इति चेत्, अस्ति सूक्ष्मरेखारूपं कमलं तत्रेति संतोष्टव्यमायुष्मता । वक्ष्यति हि द्वादशे परिच्छेदे—

यस्मात् कार्यवशेनैव मूर्तीनामपि पाणिगाः ।
चतुःपद्मादयो मूर्ता मूर्ताः शान्तास्तथोद्यताः ॥ (१२।१४५) इति ।
नास्त्रैर्वस्त्रैर्ध्वजैर्येषां व्यक्तिर्व्यक्ता जगत्त्रये ॥
तेऽपि लाञ्छनवृन्दं तु धारयन्त्यङ्घ्रिगोचरे ।
ललाटे चांसपट्टे तु पृष्ठपाणितलद्वये ॥
तनूरुहद्वये[7] मूर्ध्नि कर्मिणां प्रतिपत्तये । (१२।१६८–१७०) इति ।

अत एवेश्वरनारायणार्चनप्रकरणे पद्मन्यासादिकमप्युक्तम् । अलं प्रसङ्गेन ॥६१–६३॥

---

१. स्व–मु०, स्त्व–अटी० । २. बुद्ध्या–अ० । ३. हस्त्वरी–मु०, हस्त्वरि–अटी० बख० । ४. महत्–बक० बख० अ० उ० । ५. 'सत्यम्' नास्ति–अ० । ६. णिक–अ० । ७. चये–मु० ।

केशवादिविभागेन श्रियाद्यं च त्रयं त्रयम् ।
कमलादित्रयेणैव त्वन्योन्यत्वेन लाञ्छितम् ॥ ६४ ॥
बद्धपद्मासनस्थं च दिवि[1] दिक्षु च सम्मुखम्[2] ।
संबीजयेत् तु विनयाच्चामरेण सितेन च ॥ ६५ ॥
देवीद्वादशकं चैव तासां रूपमथोच्यते ।
पूर्णचन्द्राननाः सर्वाः सर्वर्तुकुसुमान्विताः ॥ ६६ ॥
सर्वलक्षणसम्पन्नाः[3] सर्वाभरणभूषिताः ।
विद्रुमाभं[4] त्रयं त्वाद्यमपरं चम्पकप्रभम् ॥ ६७ ॥
प्रियङ्गुमञ्जरीश्यामं तृतीयं देवतात्रयम् ।
चतुर्थं[5] त्रितयं ध्यायेज्जातीपुष्पसमप्रभम् ॥ ६८ ॥
आद्यायाः कमलं पाणावन्यस्यां हेतिराट् करे ।
शङ्खं ध्यायेत्तृतीयस्यामेवं[6] ध्यायेत्[7] त्रिषु त्रिषु ॥ ६९ ॥
चतुस्त्रिर्दैवतान्तानामेवमाद्यं त्रयं क्रमात् ।
स्मृत्वा सम्पूजनं कुर्याज्जागरेण समन्वितम् ॥ ७० ॥

अथ केशवादिपत्नीवर्गस्योत्पत्तिमाह—भूय इति । तस्माद्धामगणाद् वासुदेवादिमूर्तिचतुष्टयादित्यर्थः । एवमेवोक्तं पाद्मेऽपि—

सुदर्शनाद्यायुधानि किरीटादिविभूषणम् ।
मूर्त्याविर्भावसमये सहैवैतानि जज्ञिरे ॥
देव्यः श्रियादयस्तत्तन्मूर्तिभेदसमाश्रिताः ।
श्रीवत्सादेव सकला जज्ञिरे दिव्यलाञ्छनात् ॥ इति ॥ ६३–६४ ॥

देवीद्वादशकं विशिनष्टि—कमला(दि?दी)ति सार्धेन ॥६४–६५॥

तद्रूपलाञ्छनादिक्रममाह—तासामित्यादिभिः । आद्यायाः श्रियः, अन्यस्यां वागीश्वर्याम्, तृतीयस्यां कान्त्याम्, त्रिषु त्रिषु क्रियादिकेच्छादित्रिके मायादित्रिके चेत्यर्थः । चतुस्त्रिर्दैवतान्तानां महिमान्तानामित्यर्थः । एवमाद्यं कमलादित्रयमेव पौनःपुन्येन ध्यायेदित्यर्थः ॥६६–७०॥

---

१. दिशि–बक० बख० । २. संभवम्–उ० । ३. सम्पूर्णाः–अ० उ० । ४. विद्युदाभं–अटी० । ५. पङ्क्तिचतुष्टयं नास्ति–उ० । ६. 'यस्या एवम्' इति सार्वत्रिकः पाठः । ७. ध्यात्वा–अ० ।

स्तोत्रैः[1] कथानकैर्वाद्यैर्गीतकैः क्षपयेन्निशाम् ।
रात्रिक्षये ततः स्नायात् सिताम्बरधरः शुचिः ॥ ७१ ॥
[2]मासेशमन्त्रसन्नद्धं कृत्वा देवं स्मरेत् तथा ।
पूजापनयनं कृत्वा स्नानकर्म समाचरेत् ॥ ७२ ॥
मध्यतः केशवस्यादौ[3] केवलस्य[4] महात्मनः ।
वासुदेवस्वरूपस्य चक्रस्थस्य त्वनन्तरम् ॥ ७३ ॥
प्रागरेऽभिनिविष्टस्य[5] सकलस्याव्ययस्य[6] च ।
तदादिद्वादशानां च दद्यात् स्नानादिकं क्रमात् ॥ ७४ ॥
अम्बुना पञ्चगव्येन क्षीरेण तदनन्तरम् ।
दध्ना घृतेन मधुना सर्वौषधिजलेन च[7] ॥ ७५ ॥

एवं ध्यानपूर्वकमेकादश्यां कालत्रयार्चनं कृत्वा जागरणं कुर्यादित्याह—स्मृत्वेति ॥७०-७१॥

द्वादश्यां प्रातः स्वनित्यकर्मानुष्ठानपूर्वकं तन्मासेशकेशवध्यानं रात्रौ तदर्पित-पूजाद्रव्यापनयनादिकं कृत्वाऽर्चनकाले वक्ष्यमाणं स्नपनं[8] कुर्यादित्याह—रात्रिक्षय इति सार्धेन ॥७१–७२॥

केशवादीनामर्चनस्थानान्याह—मध्यत इति द्वाभ्याम् । मध्यतः पीठमध्यस्थ-कर्णिकामध्य इत्यर्थः । केवलस्येत्यनेनारस्थाने देव्या सहार्चनम् । अत्र तु केशवस्येति ज्ञायते । वासुदेवस्वरूपस्येत्यनेन[9] चक्राधिष्ठातुः कालस्यापि प्रागरे केशवेन सहार्चनं ज्ञायते । तदादिद्वादशानां केशवादिद्वादशमूर्तीनामित्यर्थः ॥७३–७४॥

स्नपनद्रव्याण्याह—अम्बुनेति द्वाभ्याम् । अत्राम्बुना मध्यस्थकेशवस्य, पञ्च-गव्येना[10]रस्थकेशवस्य, क्षीराद्येकादशकलशैर्नारायणादिदामोदरान्तानां च स्नपनमिति ज्ञायते ।

नन्वीश्वरपारमेश्वरयोः—

अम्बुना पञ्चगव्येन क्षीरेण तदनन्तरम् ।
दध्ना घृतेन मधुना सर्वौषधिजलेन तु ॥
बीजाम्बुफलतोयेन गन्धपुष्पाम्बुना ततः ।
हेमरत्नोदकेनाथ पूरितं तु यथाक्रमम् ॥

१. स्तोत्रैस्तथा–मु० अटी० । २. मासेशं–अ० । ३. केवल–मु० अटी० । ४. केशवस्य–मु० अटी० । ५. पङ्क्तित्रयं नास्ति–अ० । ६. सकाल–बख० उ० । ७. तु–अ० उ० । ८. स्मरणं–अ० । ९. 'स्वरूप' नास्ति–अ० । १०. न अरके–अ० ।

बीजाम्बुफलतोयेन गन्धपुष्पाम्बुना ततः ।
हेमरत्नोदकेनाथ कुम्भस्थेन पृथक् पृथक् ॥ ७६ ॥

कलशानां द्विषट्कं यत् परमेतदुदाहृतम् ।
(ई० सं० १५।७८–८०; पा० सं० १४।७९–८१)

इतीदमेव स्नपनं द्वादशकलशात्मकत्वेन प्रतिपादितम्, इह भवता त्रयोदशकलशात्मकत्वेन व्याख्यातं कथमेतदविरुद्धं[1] भवतीति चेत्, सत्यम्[2]। अविरोधं ब्रूमः—किमीश्वर-पारमेश्वरयोरम्बुनेत्युक्तमात्रेण विरोधः ? तत्र यथा मूलमम्बुनेत्यादिप्रतिपादनेऽपि तन्न विवक्षितम्, कलशानां द्विषट्कमित्युक्तत्वात्; पञ्चगव्यादीन्येव विवक्षितानि। यथा पारमेश्वरे भोगयागप्रकरणे(५।१३०)"लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु"(१२।८१)इति जयाख्यवचने प्रतिपादितेऽपि तत्र लक्ष्मीर्न विवक्षिता, हृन्मन्त्र एव विवक्षितः, तद्वदिहापि विवक्षाधीनं बोध्यम् । अत एवास्मत्तातपादैः सात्वतामृते पञ्चगव्यादीन्येव प्रतिपादितानि ।

ननु च किमेतावता प्रयासेन, मध्यस्थकेशवस्याप्यभिषेकसिद्ध्यर्थं खलु भवता त्रयोदशकलशात्मकत्वमङ्गीक्रियते, तथा त्रयोदशकलशात्मकत्वं ममापीष्टमेव । अपि तु मध्यस्थितकेशवस्यारस्थितकेशवस्य चैकदेवतात्वादम्बुनैव पृथक् कलशाभिषेकः, नारायणादीनां तु पञ्चगव्यादिभिरिति ज्ञेयम् । एवं चात्र त्रयोदशकलशात्मकमेव स्नपनम् । तत्र तु अम्बुना कलशद्वयपूरणस्याप्रकृतत्वाद् द्वादशकलशात्मकत्वेनैव प्रतिपादितत्वाच्चाम्बुनैक एव कलशः पूर्यः । तथा चाम्बुनेति पदस्यापि सार्थक्यं भवतीति चेन्न, अम्बुनैव कलशद्वयपूरणे पञ्चगव्यादिद्वादशद्रव्येष्वेकतमस्य गत्यभावात् । न[3] च गन्धपुष्पाम्बुनेत्यत्रैकवचनाद् गन्धसहितपुष्पोदकमेवार्थः, न तु द्रव्यद्वयम्[4]। अतः पञ्चगव्यादीन्येकादशैवेति[5] वाच्यम्, हेमरत्नोदकेनेत्यत्राप्येकवचनेन विनिगमनाविरहात् पञ्चविंशतिकलशस्नपनप्रकरणे गन्धपुष्पोदकयोर्हेमरत्नोदकयोश्च पार्थक्येनोक्तत्वाच्च ।

नन्वम्बुना पञ्चगव्येनेत्याद्युक्तद्रव्येष्वेकं परित्यज्य पञ्चगव्यादीनामेव ग्रहणमनुचितमिति चेन्न, श्रीसात्वतषष्ठपरिच्छेदोक्तपञ्चविंशतिकलशस्नपने क्षीरादीनि परित्यज्य धात्रीफलोदकादिभिरेव द्वादशकलशस्नपनमीश्वरपारमेश्वरयोः प्रतिपादितं यथा समुचितं भवति, तद्वदिदमपि बोध्यम् ।

ननु च तत्र निर्विवादं द्वादशैव द्रव्याणि प्रतिपादितानि, अत्र तु[6] त्रयोदशद्रव्याणामप्युक्तत्वात् तन्मध्ये किं त्याज्यम्, कानि ग्राह्याणि, तत्र किं विनिगमकमिति चेदुच्यते, मध्यस्थितस्य[7] केशवस्याभिषेकार्थं यदुक्तं तत् त्याज्यम्, अरस्थकेशवादिक्रमेण यान्युक्तानि, तानि द्वादशद्रव्याण्यपि ग्राह्याणि । केशवादिक्रमेणोक्तानां द्रव्याणां मध्ये

---

१. तम्। कथमेतदुदाहृतमिति । अवि–अ० । २. मपि विरोधं–अ० । ३. 'न च' नास्ति–अ० । ४. चयम्–म० । ५. व्यान्ये–अ० । ६. 'तु' नास्ति–म० । ७. स्थितकेशवाभि–म० ।

सितं विलेपनं पुष्पं धूपं मधु घृतं दधि ।
नैवेद्यं विविधं पूतं व्रीहयो[1] यवसंयुताः[2] ॥ ७७ ॥
निवेद्य राजते पात्रे यथाशक्तिविनिर्मिते ।
पात्राभावाच्च[3] रजतं स्वल्पमात्रं[4] न लोपयेत् ॥ ७८ ॥
पश्चात् तद्भगवत्पूतं मधुपर्कादिकं तु वै ।
प्रतिपाद्य गुरोर्भक्त्या प्रसन्नेनान्तरात्मना ॥ ७९ ॥
यवान्नं व्रीहिजं त्वादौ समश्नीयाद् घृतान्वितम् ।
ततः प्रभृतिकालाच्च प्रत्यहं केशवस्य तु ॥ ८० ॥
स्थानद्वयं[5] निविष्टस्य पूजनं च समाचरेत् ।
प्राग्वन्मध्ये केशवस्य देवीयुक्तस्य बाह्यतः ॥ ८१ ॥
ततो नारायणादीनां सदेवीनां च व क्रमात् ।
सर्वेषां पूजनं कुर्यात् प्रादक्षिण्येन यत्नतः ॥ ८२ ॥
यथासम्भवतो भक्त्या पुष्पधूपादिकेन तु ।
यावदभ्येति दशमी सिता पौषस्य वै तिथिः ॥ ८३ ॥

कस्यचित् परित्यागानौचि[6]त्यमेव तत्र विनिगमकमिति सूक्ष्मदृष्ट्या द्रष्टव्यमायुष्मता ॥ ७५–७६ ॥

अथ केशवादित्रिकस्य सितवर्णत्वात् श्वेतवर्णचन्दनकुसुमादिभिरेव तदर्चनम्, रजतपात्रे यवव्रीहिमात्रानिवेदनम्, पात्रालाभे मात्रादानेन सह किञ्चिद्रजतं वा देयमिति चाह—सितमिति द्वाभ्याम् ॥७७–७८॥

अनन्तरं गुर्वर्चनमाह—पश्चादिति ॥७९॥

व्रतिनो भोज्यद्रव्यमाह—यवान्नमित्यर्धेन ॥८०॥

एवं पुष्यशुद्धदशमीपर्यन्तं प्रत्यहं केशवस्य कर्णिकामध्येऽरप्रदेशे च स्थानद्वयेऽर्चनम्, तत्र मध्ये केवलस्य[7], अरस्थाने देव्या सहार्चनम्, तथैवारस्थितानां नारायणादीनामपि तत्तद्देवीभिः सह प्रादक्षिण्येनार्चनं च कार्यमित्याह—तत इति सार्धैस्त्रिभिः ॥८०–८३॥

१. 'व्रीहयो''''पश्चात्तद्भगवत्पूतं' नास्ति–अ० । २. तम्–मु० अटी० । ३. यत्रा–मु० । ४. मत्र–बक० बख० उ० । ५. द्वये–मु० अटी०, द्वय–अ० उ० । ६. गादौचि–अ० । ७. केशवस्य–म० ।

ततः प्रभृतिकालाच्च प्रागुक्तविधिनाऽखिलम् ।
नारायणाख्यमन्त्रेण व्रतकर्म समापयेत् ।। ८४ ।।
तमर्चयेत् तु प्रथमं मध्ये कारण[1]मूर्तिगम् ।
बहिर्देवीसमेतं च प्राग्वत् स्नानादिना प्रभुम् ।। ८५ ।।
द्वा[2]दश्यन्तं विधानेन केशवेन समन्वितम् ।
कि[3]न्त्वत्र विहितं पश्चात् पूजनं केशवस्य च ।। ८६ ।।
दिनावसाने द्वादश्यां धूपं दत्वा क्षमापयेत् ।
कान्तासमन्वितं देवं केशवं क्लेशनाशनम् ।। ८७ ।।
अथ दामोदरान्ताभिर्मूर्तिभिश्च समन्वितम् ।
[4]देवं नारायणं भक्त्या परेऽहनि समर्चयेत् ।। ८८ ।।
मध्ये केशववत् पश्चाच्चक्रस्थं केशवारके ।
केशवं च तदीयेऽरे यजेत् कान्तासमन्वितम् ।। ८९ ।।
एवं प्रतिदिनं तावद् यावन्मासस्य सा तिथिः ।
ततो माधवमूर्तेर्वै प्राग्वदाराधनं भवेत् ।। ९० ।।

अथ तद्दशमी[5]मारभ्य नारायणमन्त्रेण व्रतानुष्ठानम्, तदर्थं पूर्वोक्तकर्णिकामध्ये केवलस्य स्वकारणभूतवासुदेवाकारनारायणस्यार्चनम्, बहिररस्थाने नारायणस्य तद्देव्या सहार्चनम्, दशम्यादिद्वादश्यन्तं दिनत्रये नारायणस्यार्चनानन्तरं केशवस्यापि स्थानद्वयेऽर्चनम्, द्वादश्यां रात्रौ केशवस्योत्तरपूजां चाह—ततः प्रभृतीति चतुर्भिः ।।८४–८७।।

तदपरदिनमारभ्य माघशुक्लदशम्यन्तं नारायणस्यैव केशववत् स्थानद्वयेऽर्चनम्, तदनन्तरं केशवमाधवादीनां द्वितीयाद्यरेषु क्रमेण पूजनं च कार्यमित्याह—अथेति सार्धद्वाभ्याम् । केशवारके पूर्वकल्पे केशवो यस्मिन्नरे पूजितस्तस्मिन्नित्यर्थः । तदीयेऽरे नारायणः पूर्वं यस्मिन्नर्चितस्तस्मिन्नर इत्यर्थः । माघमासे माधवमन्त्रेण व्रतानुष्ठानं पूर्ववदे[6]वं कार्यमित्याह—तत इत्यर्धेन । अत्र [7](प्रतिपदी?प्राग्वदि)त्यनेन माघशुक्लदशम्यादिद्वादश्यन्तं दिनत्रयेऽपि माधवस्य स्थानद्वयार्चनानन्तरं नारायणस्यापि स्थानद्वयेऽर्चनम्, द्वादश्यां रात्रौ नारायणस्योत्तरपूजनम्, तदपरदिनमारभ्य फाल्गुनशुद्धद्वादश्यन्तं माधवस्यैव स्थानद्वयेऽर्चनम्, द्वितीयाद्यरेषु केशवनारायणगोविन्दा-

---

१. कारुण्य–मु० अटी० । २. द्वादश्यां तं–मु० अटी० । ३. तत्र–बक० बख० मु० अटी० । ४. पङ्क्तित्रयं नास्ति–अ० । ५. मीमित्या–अ० । ६. पूर्वदेव–अ० । ७. प्रापदि–म० ।

तदर्चने समाप्ते तु द्वादश्यां फाल्गुनस्य च ।
सङ्कर्षणं परत्वेन भावयेद् वासुदेववत् ॥ ९१ ॥
तदाश्रितं तु गोविन्दं मध्ये मूर्तं समाह्वयेत् ।
चक्रस्थं सह देव्या वै ततस्तं पूज्य पूर्ववत् ॥ ९२ ॥
रक्तचन्दनयुक्तेन कुङ्कुमेन तथैव च ।
पुष्पस्रग्वाससा तद्वद् रक्तशाल्योदनेन च ॥ ९३ ॥
सुगन्धेन फलै रक्तैर्लिप्तैर्वा रक्तधातुभिः ।
आरक्तरत्नसंसिद्धैर्विद्रुमैः पुरुभूषितैः ॥ ९४ ॥
सक्तूंस्तु ताम्रपात्रे तु कृत्वाऽथ त्रिनिवेद्य तु ।
तदर्चने च होमान्ते सम्पन्ने सति वै व्रती ॥ ९५ ॥
याते मासत्रये चैव प्रसन्नेऽन्तःस्थितेऽच्युते ।
गुरुमूर्तिगतो देवः पूजनीयश्च भक्तितः ॥ ९६ ॥
वस्त्रैर्विलेपनैर्माल्यैः कटकैरङ्गुलीयकैः ।
यथाशक्ति विना शाठ्यं पारणे पारणे ततः ॥ ९७ ॥

दीनामर्चनम्, तद्द्वादश्यां रात्रौ माधवस्योत्तरपूजनं चोक्तं भवति । तद्दशम्यादिद्वादश्यन्तं दिनत्रयेऽपि माधवार्चनात् पूर्वमेव गोविन्दादित्रिककारणभूतस्य संकर्षणस्य कर्णिकामध्ये वासुदेववत् परत्वेन ध्यानम्, तत्र तदाकारस्य गोविन्दस्यार्चनम्, तस्यारस्थानेऽपि देव्या सहार्चनम्, संकर्षणसमुत्पन्नगोविन्दादित्रिकस्य रक्तवर्णत्वेन चन्दनकुसुमवस्त्रभूषणनैवेद्यादीनामपि रक्तवर्णत्वम्, केषाञ्चित् कुसुमादीनामपि रक्तवर्णत्वाभावेऽपि केनचिद्रक्तधातुना तद्रक्तीकरणम्, ताम्रपात्रे सक्तुमात्रनिवेदनं च ॥८८--९०॥

विशेषमाह--तदर्चने समाप्त इत्यादिभिः । अत्र द्वादश्यामित्यनेन दशम्यादिद्वादश्यन्तदिनत्रयमप्युपलक्ष्यते ॥९१--९५॥

एवं होमान्ते गोविन्दार्चनप्रारम्भानन्तरं मार्गशीर्षादिमासत्रयकृतप्रसादगुणार्थं विशेषेण गुर्वर्चनम्, पारणानन्तरं प्रणवनमःपूर्वकश्लोकद्वयात्मकमन्त्रेण दक्षिण-

---

१. मूर्ति--अटी० उ० । २. ततः सं--अ०, समस्तं--उ० । ३. रत्न--बक० । ४. सगुडेन--अ०, संशुद्धेन--उ० । ५. रक्त--बक० बख० मु० अटी० । ६. परि--अटी० उ० । ७. च--बक० बख० अ० उ० । ८. प्रति--मु० अटी० बक० बख० उ० । ९. वास--मु० अटी० ।

प्रीणयेद् वासुदेवं च मूर्तित्रयसमन्वितम् ।
[1]ऐहिकान् धर्मकामार्थान् मम यच्छन्तु शक्तयः ॥ ९८ ॥
मोक्षविघ्नोपशमनं नित्यं कुर्वन्तु मूर्तयः ।
सर्वदा नित्यशुद्धो यः परमात्मा परः प्रभुः ॥ ९९ ॥
पतितस्य भवाम्भोधौ वासुदेवोऽस्तु मे गतिः ।
कृत्वैवं प्रीणनं सम्यग् वासुदेवस्य भक्तितः ॥ १०० ॥
तन्मूर्तित्रितयस्यापि शक्तित्रययुतस्य च ।
अथ त्रितययुक्तस्य [2]द्वितीयस्य महात्मनः ॥ १०१ ॥
सङ्कर्षणाभिधानस्य तत आरभ्य यत्नतः ।
प्राग्वदाराधनं कुर्यात् प्रत्यहं मासभेदतः ॥ १०२ ॥
पश्चान्मासत्रये याते प्राप्ते ज्येष्ठस्य तद्दिने ।
त्रिविक्रमाख्यमन्त्रेण चान्यत् [3]सर्वं पुरोदितम् ॥ १०३ ॥
मध्यतोऽम्बुजगर्भस्थं प्रद्युम्नं सर्वगं स्मरेत् ।
त्रिविक्रमं तदाकारं भावयित्वा ततो यजेत् ॥ १०४ ॥
अनन्तरं च संस्थानादानीय प्रा[4]गेरान्तरम् ।
यष्ट[5]व्यः सविशेषेण त्वनुज्झि[6]ततनुः क्रमात् ॥ १०५ ॥

पाणिस्थसपुष्पार्घ्योदकेन वासुदेवप्रीणनं चाह—तदर्चन इति षड्भिः । शक्तयः श्रियादयस्तिस्र इत्यर्थः । [7]मूर्तयः केशवादयस्त्रय इत्यर्थः ॥९५–१०१॥

अथ तदारभ्य ज्येष्ठशुक्लद्वादश्यन्तं मासत्रये क्रमेण गोविन्दविष्णुमधुसूदनमन्त्रैर्व्रतानुष्ठानम्, तेषां कारणभूतसंकर्षणस्य कर्णिकामध्ये मासत्रयेऽपि परत्वेनार्चनं चाह—अथेति सार्धेन ॥१०१–१०२॥

तन्मासत्रयानन्तरं तद्दशम्यां त्रिविक्रममन्त्रेण व्रतप्रारम्भम्, त्रिविक्रमादित्रिककारणभूतप्रद्युम्नस्य परत्वेन कर्णिकामध्ये ध्यानम्, तदाकारत्वेन ध्या[8]तस्य त्रिविक्रमस्य तस्यार्चनम्, तस्या[9]रस्थानेऽपि देव्या सहार्चनं चाह—पश्चादिति त्रिभिः ॥ १०३–१०५ ॥

---

१. ॐ ऐहि—त्रक० वख० अ०, ॐ ऐहिकं धर्मकामार्थ—उ० । २. तृती—मु०, मूर्तेशस्य—अ० उ० । ३. सर्वं कुर्यात्—अ० उ० । ४. गनन्तरम्—उ० । ५. व्यस्य—मु० अटी० बक० बख० । ६. त्थित—अटी० । ७. 'मूर्तयः केशवादयस्त्रय इत्यर्थः' इत्ययं पाठोऽग्रिमश्लोकव्याख्यानस्थितस्य 'कारणभूत' इति पदस्यानन्तरं स्थापितः—अ० । ८. ध्यानस्य—म० । ९. रस्थापि—अ० ।

श्रीखण्डं च सकर्पूरमीषत् कुङ्कुमभावितम् ।
पीतं विलेपनं चात्र तथा पुष्पफलादिकम्[1] ॥ १०६ ॥
पीतानां फलपुष्पाणामभावे[2] मसृणेन तु ।
[3]पीतेन धातुचूर्णेन रञ्जयेत् कुङ्कुमेन वा ॥ १०७ ॥
सघृतं हेमपात्रं च पूजान्ते विनिवेद्य च ।
[4]पात्राभावे यथाशक्ति काञ्चनं च[5] घृतोपरि ॥ १०८ ॥
ततः सम्पूजनं कुर्याद् व्रतादेष्टरि पूर्ववत्[6] ।
गोहेमवस्त्रपूर्वैस्तु[7] यथा सन्तोषमेति सः ॥ १०९ ॥
तत्पूजान्ते पारणेन द्वितीयं च जगत्पतिम् ।
प्रीणयेत् सङ्कर्षणं च[8] गृहीत्वा पाणिना जलम् ॥ ११० ॥
प्रणवाद्येन तेनैव मन्त्रेणाद्योदितेन च ।
सनमस्केन किन्त्वत्र गतिः[9] सङ्कर्षणोऽस्तु मे ॥ १११ ॥

प्रद्युम्नोत्पन्नत्रिविक्रमादित्रिकस्य पीतवर्णत्वेन तादृशवर्णैरेव गन्धपुष्पादिभिरर्चनम्, केषाञ्चित् पीतानामलाभेऽपि हरिद्राकुङ्कुमादिना पीतीकरणम्, घृतपूरितहेमपात्रदानम्, तदशक्तौ यथाशक्ति काञ्चनान्वितघृतदानं वा कार्यमित्याह—श्रीखण्डमिति त्रिभिः ॥ १०६–१०८ ॥

अथ गुर्वर्चनमाह—तत इति । व्रतादेष्टरि गुरावित्यर्थः ॥ १०९ ॥

अथ पारणानन्तरं पूर्वोक्तरीत्या संकर्षणप्रीणनम्, पूर्वोक्तमन्त्रे वासुदेवोऽस्तु मे गतिरिति वाक्यं विहाय संकर्षणोऽस्तु मे गतिरिति वाक्ययोजनं चाह—तत्पूजान्त इति द्वाभ्याम् । पारणेन ब्राह्मणभोजनेनेत्यर्थः । गृहीत्वा पाणिना जलमित्यत्र सपुष्पं प्रधानार्घ्यजलं ग्राह्यम् । दीक्षापरिच्छेदे—

तदम्भसा चार्हणं तु तथैव परिषेचनम् ॥
कुर्यात् प्रणयनादानं प्रीणनं प्रीतिकर्म च । (१८।७१–७२)

इति प्रधानार्घ्यजलेन प्रीणनस्य वक्ष्यमाणत्वात्, ईश्वरपारमेश्वरयोः—

इत्युक्त्वा सोदकं [10]पश्चात् पुष्पं दक्षिणपाणिगम् ॥
अग्रतो निक्षिपेद् विष्णोर्मूलमन्त्रेण नारद । (१३।२३१–२३२)
(ई० सं० ५।३७–३८; पा० सं० ६।४११–४१२)

इति जयाख्यवचनेनोदाहृतेन[11] सपुष्पस्योक्तत्वाच्च ॥ ११०–१११ ॥

---

१. दयः—बक० बख० अ० उ० । २. मभावान्म—बक० बख० अ० उ० । ३. पूतेन—मु० । ४. पात्राभावात्—बक० बख० अ० उ० । ५. तु—उ० । ६. पूर्वं तु—बक० बख० । ७. वै—बक० बख० अ० उ० । ८. किं चात्र—अ० । ९. सङ्कर्षणोऽस्तु मे गतिः—बक० बख० अ० उ० । १०. पष्पं कृत्वा—ज० । ११. वचनोदाहरणेन—म० ।

अथ त्रिविक्रमं देवं वामनं श्रीधरं प्रभुम् ।
यजेन्मासत्रयं [1]तावद्यावत् स्याद् दशमी सिता ॥ ११२ ॥
तदादि वै हृषीकेशमन्त्रेणाखिलमाचरेत् ।
परत्वमनिरुद्धस्य प्राप्ते चावसरे स्मरेत् ॥ ११३ ॥
तदाकारं हृषीकेशं पद्मोदरगतं स्मरेत् ।
इष्ट्वा सम्यग्विधानेन चक्रारस्थं यथा पुरा ॥ ११४ ॥
अत्र राजो[2]पचारैस्तु षट्पदाभैस्तु [3]चाऽर्चनम् ।
पुष्पौदनाम्बरैः कुर्यादभावादञ्जनादिना ॥ ११५ ॥
पिञ्जरीकृत्य यत्नेन देवाय विनिवेद्य च ।
कृष्णागरुविमिश्रं च लेपनं चात्र कुङ्कुमम् ॥ ११६ ॥
धौतायसमयं पात्रं मणिभिश्चासितै[4]श्चितम् ।
सम्पूर्णं[5] च तिलैः कृष्णैः पूजान्ते विनिवेद्य च ॥ ११७ ॥
सम्यक्[6] तदर्चनं कृत्वा यथासम्पत्ति भक्तितः ।
तृतीयं प्रीणयेत् प्राग्वत् प्रद्युम्नो मेऽस्तु वै गतिः ॥ ११८ ॥
ततो मासानुमासं च हृषीकेशादनन्तरम् ।
पद्मनाभं समभ्यर्च्य ततो दामोदरं तु वै ॥ ११९ ॥
गते मासत्रये ह्येवं सम्प्राप्य पुनरेव हि ।
दशमीं मार्गशीर्षस्य तदा कर्मणि कर्मणि ॥ १२० ॥

अथ त्रिविक्रमादिमन्त्रत्रयेण भाद्रपदशुक्लदशम्यन्तं व्रतानुष्ठानम्, तदारभ्य हृषीकेशमन्त्रेण व्रतारम्भम्, हृषीकेशादित्रिककारणभूतानिरुद्धस्य कृष्णवर्णत्वे कृष्णवर्णैरेव गन्धपुष्पवस्त्ररत्नफलादिभिरर्चनम्, केषाञ्चित् कृष्णवर्णानामलाभेऽप्यञ्जनादिना तत्कृष्णीकरणम्, कृष्णतिलपूरितधूपपात्रमात्रादानम्, गुर्वर्चनम्, ततः पूर्वोक्तरीत्या प्रद्युम्नप्रीणनं चाह—([7]अत्र राजोपचारैरिति चतुर्भिः ? अथ त्रिविक्रममिति सप्तभिः)। सम्यक् तदर्चनं कृत्वेत्यत्र तदर्चनं गुर्वर्चनमित्यर्थः ॥ ११२–११८ ॥

अथ हृषीकेशादिमन्त्रत्रयेण मार्गशीर्षशुक्लदशम्यन्तं मासत्रयं व्रतानुष्ठानम्,

---

१. यावन्नभस्यदशमी—अ० उ० । २. पलाभैस्तु—बक० बख० अ० उ० । ३. वाऽर्च—बक० बख० ।४. र्युतम्—अटी० ।५. वस्त्रैश्च चित्रितैः—मु० अटी०, सम्पूर्णं वासितैः कृष्णं—अ० । ६. ग् गुर्वर्चनं—अ०, ग् देवार्चनं—उ० । ७. 'अत्र' नास्ति—अ० । ८. पलाभैः—म० ।

[1]चतुर्षु चातुरात्मीयं मन्त्राणां विनियोज्य च ।
चतुर्मूर्त्य[2]भिधानं च समालम्ब्य यजेच्च तत् ॥ १२१ ॥
कर्णिकोपरि पत्रेषु प्रागादि हृदयादिकम् ।
विदिक्ष्वस्त्रं[3] विभोरग्रे नेत्रं वै केशराश्रितम्[4] ॥ १२२ ॥
अरान्तरे ततः स्वे स्वे दश द्वौ केशवादिकान्[5] ।
चतुर्वर्णैस्तु[6] कुसुमैस्तथा वस्त्रानुलेपनैः ॥ १२३ ॥
तद्वद् भक्ष्यैश्च[7] नैवेद्यैः पानकैः पावनैः फलैः ।
अथान्यैर्विविधैर्भोगैर्ध्वजाद्यैर्यानवाहनैः[8] ॥ १२४ ॥
मात्राभिः सहिरण्याभिस्ताम्बूलेनात्मना ततः ।
तर्पयेद् वह्निमध्यस्थं मन्त्रग्रामं यथोदितम् ॥ १२५ ॥
ततोऽर्चनं गुरोः कुर्याद् विशेषेण पुरोदितम् ।
ब्राह्मणान् भोजयेत् पश्चात्तेभ्यो दद्याच्च दक्षिणाम् ॥ १२६ ॥
प्रीणनं च पठेत् प्राग्वदनिरुद्धोऽस्तु मे गतिः ।
ततः पूर्णाहुतिं दद्यात् पश्चादिदमुदाहरेत् ॥ १२७ ॥
[9]व्रतोत्तमेनानेनाद्य मया भक्त्या कृतेन च ।
चत्वारो वासुदेवाद्या मूर्तयः शक्तिभिः सह ॥ १२८ ॥

तदारभ्ये द्वादश्यन्तं दिनत्रये कर्णिकामध्ये वासुदेवादीनां चतुर्णामप्यर्चनम्, प्राग्दलादिषु हृन्मन्त्राद्यर्चनम्, अरेषु केशवादिद्वादशमूर्तीनामर्चनं च पूर्वोक्तैश्चतुर्वर्णचन्दनकुसुमादिभिश्चतुर्विधमात्राभिश्च[10] तत्तन्मूर्त्यनुसारेण कार्यमित्याह—ततो मासानुमासं चेत्यादिभिः ॥ ११९–१२५ ॥

एषां सर्वेषामपि वह्निमध्ये संतर्पणम्, ततो गुर्वर्चनम्, ब्राह्मणभोजनम्, अनिरुद्धप्रीणनम्, पूर्णाहुतिम्, वासुदेवादीनां चतुर्णामपि युगपत् प्रीणनं चाह—तर्पयेदिति चतुर्भिः ॥ १२५–१२९ ॥

---

१. चतुष्क–अ० उ० । २. र्मूर्तिवि–उ० । ३. क्ष्वग्रं–अ० । ४. राणि च–मु०, राणि तम्–अ० उ० । ५. दयः–बक० बख० अ० उ० । ६. पङ्क्तिद्वयं नास्ति–उ० । ७. भक्ष्यैः सनैवे–अ० । ८. श्चापि वाहनैः–मु० अटी० । ९. ॐ व्रतो–बक० बख० अ० उ० । १०. मात्रादिभि–अ० ।

प्रयान्तु प्रीतिमतुलां दिशन्तु [1]भविनोऽभयम् ।
धन्यं व्रतमिदं पुण्यं संसाराध्वनिवर्तनम्[2] ॥ १२९ ॥
अल्पक्लेशमसङ्कीर्णमनन्तफलदं नृणाम् ।
नावसादस्त्वतः कार्य एतदाचरणे तु वै ॥ १३० ॥
यथोपसदनैः कार्यमधमैर्मध्यमैर्जनैः ।
अशाठ्येन यथाशक्ति त्वारण्यैः कुसुमादिकैः ॥ १३१ ॥
अद्भिर्दूर्वाङ्कुरैः पत्रैर्जपजागरणादिना ।
दीपेनाभ्युक्षणेनैव मार्जनेनोपलेपनैः ॥ १३२ ॥
व्रीहीन् सक्तूनथाज्यं च तिलान्यन्नान्यथाहरेत् ।
संवत्सरस्य पूजार्थं दानार्थं प्राशनाय च ॥ १३३ ॥
पूर्वं मासत्रयं दद्याद् व्रीहीन् वै विनिवेद्य च ।
द्वादश्यां भोजनात् पूर्वं हितं तत्प्राशनं सदा ॥ १३४ ॥
अपरं सक्तवश्चैव तृतीयं त्रितयं घृतम् ।
तिलानां त्रितयं चान्यत् प्राशनं चैवमेव हि ॥ १३५ ॥

अस्य व्रतस्यासंपूर्णत्वेऽप्यनन्तफलप्रदत्वान्मध्ये विघ्नान्न भेतव्यमित्याह—धन्यमिति सार्धेन ॥ १२९–१३० ॥

इदं व्रतं यथाशक्ति मध्यमकल्पेनाधमकल्पेन वा केवलं पत्रपुष्पफलतोयादिभिर्वा जपजागरणदीपारोपणमार्जनानुलेपनादिकैङ्कर्येण वाऽनुष्ठेयमित्याह—यथोपसदनैरिति द्वाभ्याम् ॥ १३१–१३२ ॥

व्रतार्थं पूर्वं चतुर्विधमात्रा(द्या?)र्जनमाह—व्रीहीनिति ॥ १३३ ॥

मार्गशीर्षादिमासत्रयेऽपि द्वादश्यां भोजनात् पूर्वं व्रीहिमात्रादानम्, ततो व्रीह्यन्नभोजनम्; फाल्गुनादित्रये सक्तुदानम्, तत्प्राशनम्; ज्येष्ठादित्रये आज्यदानम्, तत्प्राशनम्; भाद्रपदादित्रये तिलदानम्, तिलप्राशनं चाह—पूर्वमिति द्वाभ्याम् ॥१३४–१३५॥

१. हविनो—अ० । २. दिनिवृत्तिदम्—अ०, द्विनिवृत्तिदम्—उ० । ३. मसम्पूर्ण—मु० अटी० । ४. यथोक्तं सधनैः—अ० उ० । ५. न् समा—बक० बख० अ० उ० । ६. तृतीयं—उ० ।

स्याद्[1] यद्येकादशी पूर्णा द्वादश्यथ[2] तया सह ।
परेऽहनि तदा कुर्याद् द्वादश्यामर्चनादिकम् ॥ १३६ ॥
संवत्सरस्य वै मध्याद् यस्त्वेकां कर्तुमिच्छति ।
तस्यामपि स्वमन्त्रेण कर्म पूजान्तमाचरेत् ॥ १३७ ॥
यथाप्राप्तैस्तु पुष्पाद्यैः प्रागुक्ताङ्गैः सहार्चनम् ।
पररूपस्य मध्ये तु पूजनं [3]स्वेऽन्वगेव हि ॥ १३८ ॥
केवलस्य तु तस्यैव स्वनाम्ना प्रीणनं हितम् ।
पारणं प्राग्विधानेन त्वेकं भूरिफलप्रदम् ॥ १३९ ॥
तस्माद्द्वे त्रीणि वा कुर्यात् स्वशक्त्या श्रद्धयान्वितः ।
नारी ह्यनन्यशरणा यद्येवं हि समाचरेत् ॥ १४० ॥

द्वादशीनिर्णयमाह—स्यादिति । एकादशी पूर्णा स्याद्यदि द्वादशीदिनेऽप्यवशिष्टा चेदित्यर्थः । तया सह एकादश्या सह द्वादशी च पूर्णा स्याद्यदि त्रयोदशीदिनेऽप्यवशिष्टा चेदित्यर्थः । तदा परेऽहनि द्वादश्यां त्रयोदशीदिनावशिष्टद्वादश्यामेवार्चनादिकं पूर्वोक्त-व्रतार्चनपारणादिकं कुर्यादित्यर्थः । तथा च दशनिर्णये चन्द्रिकायाम्—

संपूर्णैकादशी यत्र प्रभाते पुनरेव सा ।
वैष्णवी च त्रयोदश्यां घटिकैकापि दृश्यते ॥
गृहस्थोऽपि परां कुर्यात् [4]पूर्वां नोपवसेद् गृही ।

इति [5]पूर्णशब्दार्थ उक्तः । अत्रैकादश्याः पूर्णशब्दविशेषणेनैव दशमीवेधराहित्य-मप्युच्यते, यतो दशनिर्णये—

उदयात् प्राग् यदा विप्र मुहूर्तद्वयसंयुता ।
संपूर्णैकादशी नाम [6]तत्रैवोपवसेद् गृही ॥

इति पूर्णशब्दार्थ उक्तः ॥ १३६ ॥

एवमेकं वत्सरं प्रतिद्वादशीव्रतानुष्ठानाशक्तावेकस्यां वा द्वादश्यां तन्मासेश-मन्त्रेण तदनुगुणवर्णफलपुष्पादिवस्तुभिस्तत्कारणभूतवासुदेवाद्यन्यतमाकारस्य केवलस्य कर्णिकामध्येऽर्चनम्, बहिररस्थाने तद्देव्या सहार्चनम्, एकस्य त्र्याणां वा ब्राह्मणानां भोजनम्, तेन तन्मासेशप्रीणनं च कार्यमित्याह—संवत्सरस्येति सार्धैस्त्रिभिः ॥ १३७–१४० ॥

---

१. स्यादद्यै–मु० अटी०, द् दृष्टै–उ० । २. श्याथ–मु० अटी० । ३. स्वैरके बहिः–बक० बख० अ० उ० । ४. तम्–बक० बख०, ता–उ० । ५. पूर्वं–अ० । ६. 'पूर्ण' नास्ति अ० । ७. अत्रैवो–अ० ।

निःस्वामिका वानुज्ञाता पत्या साऽथाप्नुयाच्च तत् ।
अथापवर्गदं वक्ष्ये चातुर्मास्यं व्रतोत्तमम् ॥ १४१ ॥
यत्कृत्वाऽभिमतान् कामानिहैव[1] लभते नरः ।
गृहमासाद्य निर्बाधं देशे वा न[2] जनाकुले ॥ १४२ ॥
यथाविभवविस्तीर्णं तुर्याश्रं वा यथायतम् ।
धूमनिर्गमनोपेतं गवाक्षगणभूषितम् ॥ १४३ ॥
इष्टकाद्यैश्चितं कुर्यात् तन्मध्ये पिण्डिकात्रयम् ।
चतुरश्रं च विच्छिन्नं भूमेः किञ्चित् समुन्नतम् ॥ १४४॥
ततो दक्षिणदिग्वेदेरूर्ध्वे कुण्डं तु पूर्ववत् ।
मध्ये चन्दनमिश्रेण रोचनाकुङ्कुमेन च ॥ १४५ ॥
गोक्षीरमर्दितेनैव मासि मासि लिखेच्छुभम् ।
चक्रं षट्पत्रगर्भं तु स्नानपीठमुदग्दिशि ॥ १४६ ॥
ततस्त्वाषाढमासस्य दशम्यामुदितेन्दुना ।
वासुदेवाख्यमन्त्रेण तोयमादाय पाणिना ॥ १४७ ॥

इदं व्रतं स्त्रीभिरपि सुमङ्गलाभिः पूर्वसुमङ्गलाभिर्वाऽनुष्ठेयमित्याह—नारीति । तद् व्रतफलमित्यर्थः । सुमङ्गलायाः स्त्रियः पत्युरनुज्ञां विना व्रतानुष्ठानानौचित्यात् पत्याऽनुज्ञातेत्युक्तम् । तथा च गारुडे—

नारी खल्वननुज्ञाता पित्रा भर्त्रा सुतेन वा ।
निष्फलं तु भवेत् तस्या यत् करोति व्रतादिकम् ॥
अनापृच्छ्य तु भर्तारमुपोष्य व्रतमाचरेत् ।
आयुष्यं हरते भर्तुः सा नारी नरकं व्रजेत् ॥
नास्ति स्त्रीणां पृथक् कर्म न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
पतिशुश्रूषणं तासां तेन स्वर्गो विधीयते ॥ इति ॥१४०–१४१॥

अथ चातुर्मास्यविधिमाह—अथापवर्गदं वक्ष्य इत्यारभ्य यावत्परिच्छेदपरिसमाप्ति । सुखबोधनायैतद्व्याख्या प्रयोगरूपेण विलिख्यते ।

१. निह वै–अ० । २. जनना–मु० अटी० बक० उ०, जनता–बख० ।

भगवन् पुण्डरीकाक्ष सर्वव्रतपतेऽच्युत ।
व्रतं मे त्वत्प्रसादेन निष्पद्यतु तवाप्तये ॥ १४८ ॥
ततोऽर्चयेद् वासुदेवं द्वादश्यां कमलोदरे ।
प्रागादावथ पत्राणां त्रयं सङ्कर्षणादिकम् ॥ १४९ ॥
प्रादक्षिण्येन विन्यस्य यावद्रक्षःपदच्छदम् ।
ईशानपदपत्रात्[1] तु अनिरुद्धादिकत्रयम्[3] ॥ १५० ॥
अप्ययेन तु सम्पूज्य यावत् पश्चिमदिग्दलम् ।
भूतावासं पुनर्मध्ये ततश्चक्रारकेषु च ॥ १५१ ॥
क्रमेण पूर्वादारभ्य न्यासं पूजनमाचरेत् ।
वामनं चाथ तद्देवीं [4]हृन्मन्त्रं च ततः शिरः ॥ १५२ ॥
श्रीधरस्त्वथ तत्कान्ता शिखा कवचमेव च ।
हृषीकेशश्च तत्पत्नी ह्यस्त्रं तदनु लोचनम् ॥ १५३ ॥

निर्बाधे स्वगृहे विजनेऽन्यत्र वा देशे यथाविभवविस्तारायामं धूमनिर्गमनार्थमूर्ध्वगवाक्षान्वितं परितश्च गवाक्षोपशोभितं यागमण्डपं परिकल्प्य तन्मध्ये इष्टकाभिर्विरचितं चतुरश्रं भूमेः किञ्चिदुन्नतं वेदिकात्रयं निर्माय तत्र दक्षिणदिग्वेदेरूर्ध्वे पूर्वोक्तं कुण्डं कल्पयेत् । मध्यवेद्यां गोक्षीरमर्दितेन चन्दनमिश्रेण रोचनासहितेन कुङ्कुमेन प्रतिमासं षड्दलपद्मगर्भं द्वादशारं चक्रं विलिखेत् । उत्तरवेदेरूर्ध्वं स्नानपीठं स्थापयेत् । अथाषाढशुक्लदशम्यां सायं वासुदेवमन्त्रेण दक्षिणपाणिना तोयमादाय,

भगवन् पुण्डरीकाक्ष सर्वव्रतपतेऽच्युत ।
व्रतं मे त्वत्प्रसादेन निष्पद्यतु तवाप्तये ॥ (८।१४८)

इत्युदकप्रक्षेपपूर्वकं संकल्प्य, एकादश्यां समुपोष्य, द्वादश्यां प्रातः कर्णिकामध्ये वासुदेवं प्रागाग्नेयनैर्ऋतदलेषु प्रादक्षिण्येन संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धान्, ऐशान्यवायव्यपश्चिमदलेष्वप्ययक्रमेणानिरुद्धप्रद्युम्नसंकर्षणांश्च संपूज्य, पुनर्मध्ये वासुदेवमभ्यर्च्य, चक्रस्य प्रागाद्यरेषु वामनं प्रीतिसंज्ञां तद्देवीं हृन्मन्त्रं शिरोमन्त्रम्; श्रीधरं रतिसंज्ञां तद्देवीं शिखामन्त्रं कवचमन्त्रम्; हृषीकेशं मायाख्यां तद्देवीमस्त्रमन्त्रं नेत्रमन्त्रं च क्रमेणाभ्यर्च्य, ध्यानार्चनस्नपननिवेदनहोमजपादिभिः सर्वान् संतोष्य, अथ श्रावणशुक्ल-

१. भूत–मु० बक० बख० अ । २. त्राच्चाप्य–मु० अटी० । ३. दितस्त्रयम्–बक० बख० अ० उ० । ४. भूमन्त्रं–मु० अटी० बक० बख० । ५. धूमे–अ० ।

ध्यानं स्नानं तथा पूजां होमं जपसमन्वितम् ।
क्रमेणानेन सर्वेषां सर्वदैव समाचरेत् ॥ १५४ ॥
द्वादश्यां श्रावणस्याथ मध्ये सङ्कर्षणं यजेत् ।
तत्पत्राभ्यां वासुदेवं चक्रारेष्वथ पूर्ववत् ॥ १५५ ॥
त्रितयं[1] पद्मनाभाद्यं तथा देवीं हृदादि यत् ।
ततो नभस्यद्वादश्यां प्रद्युम्नः कर्णिकांगतः[2] ॥ १५६ ॥
आद्यस्तत्पत्रगोऽराणां त्रयं नारायणादिकम् ।
देव्यश्चैवाङ्गषट्कं तु पूर्ववच्चारकान्तरे ॥ १५७ ॥
ततस्तदग्रद्वादश्यामनिरुद्धं यथा पुरा[3] ।
पत्रयुग्मे तदाद्ये तु आदिदेवं[4] यजेत् क्रमात् ॥ १५८ ॥
त्रिविक्रमान्तं विष्ण्वाद्यं शक्तिरङ्गान्यथादिवत् ।
[5]एवं तावद् यजेद् यावद्[6] द्वादशी[7] कार्तिकस्य तु ॥ १५९ ॥
तत्राखिलैर्मन्त्रवरैः कर्म निश्शेषमाचरेत् ।
द्वादश्यां पूर्ववन्मध्ये षडङ्गं तुल्यरूपधृक् ॥ १६० ॥
मूर्तयोऽरान्तरस्थाश्च नेमिस्थो[8] देवतागणः ।
पूजाहोमं[9] विशेषेण पूर्णान्तं पूर्वचोदितम् ॥ १६१ ॥

द्वादश्यां कर्णिकामध्ये संकर्षणं दलेषु संकर्षणस्थानयोर्वासुदेवमरेषु पद्मनाभदामोदर-केशवान् धीमहिमाश्रीदेवीत्रयं हृन्मन्त्रादिषट्कं चाभ्यर्च्य, भाद्रपदशुक्लद्वादश्यां मध्ये प्रद्युम्नं दलेषु प्रद्युम्नस्थानयोर्वासुदेवमरेषु नारायणमाधवगोविन्दान् वागीश्वरीकान्ति-क्रियाख्यदेवीत्रयं हृन्मन्त्रादिषट्कं चाभ्यर्च्य, आश्वयुजशुक्लद्वादश्यां मध्येऽनिरुद्धं दलेष्वनिरुद्धस्थानयोर्वासुदेवमरेषु विष्णुमधुसूदनत्रिविक्रमान् शक्तिविभू[10](तिच्छाया?ती-च्छाख्य)देवीत्रयं हृन्मन्त्रादिषट्कं च क्रमेणाभ्यर्च्य, कार्तिकशुक्लद्वादश्यां कर्णिकामध्ये वासुदेवादिमूर्तिचतुष्टयं दलेषु हृन्मन्त्रादिषट्कमरेषु केशवादिमूर्तिद्विषट्कं नेमिस्थाने

---

१. तृतीयं–मु० अटी० । २. कां गतः–अ० अटी० । ३. पुरम्–मु०, परम्–अटी० । ४. चादि–मु० अटी० । ५. पङ्क्तिरेषा नास्ति–मु० अटी० । ६. तद्वद्–बक० बख० । ७. दशमोति सार्वत्रिकः पाठः । ८. स्था देवतागणाः–मु० अटी० अ० । ९. होमो–मु० अटी० । १०. तीच्छया–अ० ।

इत्येतत् सविशेषं च व्रतमुक्तं समासतः ।
यत्कृत्वा पुनरप्यत्र जायते न पुनर्भवे ॥ १६२ ॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां संवत्सरव्रतविधिर्नाम
अष्टमः परिच्छेदः ॥

■

श्रियादिदेवीद्विषट्कं च यथाविधि विशेषेणाभ्यर्च्य होमं पूर्णाहुत्यन्तं कुर्यात् ॥ १४१–१६२ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
श्रीयोगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्येऽष्टमः परिच्छेदः ॥

■

१. न पुनर्भूयो जायतेऽस्मिन्–बक० बख० अ० उ० । २. 'व्रत' नास्ति–मु० अटी० ।
३. कमलसेवार्चकस्य–अ० ।

नवमः परिच्छेदः

नारद[1] उवाच

अथ लाङ्गलिना देवश्चक्रधृक् परिचोदितः ।
यत् तच्छृणुत विप्रेन्द्राः कथ्यमानं मयाऽधुना ॥ १ ॥

सङ्कर्षण[2] उवाच

सूक्ष्मव्यूहविभागेन सबाह्याभ्यन्तरं हि यत् ।
परस्य ब्रह्मणः सम्यग् ज्ञातमाराधनं मया ॥ २ ॥
इदानीं श्रोतुमिच्छामि विभोः सद्विभवात्मनः ।
आराधनं यथावच्च भविनामीप्सितप्रदम् ॥ ३ ॥

[3]भगवानु[4]वाच

वैभवीयो महाबुद्धे देवतानिचयो महान् ।
य उक्तस्ते मया पूर्वमेकैकं विद्धि तत्त्रिधा ॥ ४ ॥
चतुर्णां युगसन्धीनां युगानां च तथैव हि ।
विश्वविप्लवदोषाणां विनाशाय समुद्यतम् ॥ ५ ॥

अथ नवमो व्याख्यास्यते । संकर्षणपरिपृष्टेन वासुदेवेन यदुक्तं तच्छृणुध्वमिति नारदो मुनीन् प्रत्याह—अथेति ॥१॥

प्रश्नप्रकारमाह—सूक्ष्मेति द्वाभ्याम् । सूक्ष्मव्यूहविभागेन परव्यूहभेदेनेत्यर्थः । सबाह्याभ्यन्तरं मानसयागबाह्ययागभेदभिन्नमित्यर्थः ॥ २–३ ॥

एवं पृष्टो भगवान् स्थूलसूक्ष्मपरत्वभेदेन विभवावतारस्य त्रैविध्यमाह—वैभवीय इत्यारभ्य आमोक्षान्निर्विचारेणेत्यन्तम् । अत्र युगानां युगसन्धीनामिति षष्ठ्या अधिकरणत्वमर्थः । विश्वविप्लवदोषाणां विनाशाय समुद्यतम् । युगेषु तत्सन्धिकालेषु च ये ये दोषाः संभवन्ति, तेषां प्रशमायाविर्भूतमित्यर्थः । अनेन—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ (भ० गी० ४।८)

---

१. 'नारदः' इत्येव उ० विहाय सर्वत्र पाठः । २. 'सङ्कर्षणः' इत्येव उ० विहाय सर्वत्र पाठः । ३. श्रीभग–अ० उ० । ४. 'उवाच' उ० विहाय कुत्रापि नास्ति ।

सितरक्तादिरूपेण ज्वलदस्त्रकराङ्कितम् ।
कार्यारम्भे तथा मध्ये ह्यवसाने तु सर्वदा ॥ ६ ॥
सन्धत्ते रूपमात्मीयमेकं[1] एव त्वनेकधा ।
श्रेयसे सर्वलोकानां स्थूलं[2] तत् कामरूपधृक्[3] ॥ ७ ॥
अनुद्यतेन वपुषा कुन्देन्दुधवलेन च ।
वीरासनादिना चैव स्थितं मुदितमानसम् ॥ ८ ॥
लीलाविधृतसर्वास्त्रं सौम्यवक्त्रमनाकुलम् ।
धिया दोषगणं सर्वं ध्वंसयन्तं[4] च मोक्षिणाम् ॥ ९ ॥
तद्व्यक्तं शान्तसंज्ञं च रूपं रूपवतांवरम्[5] ।
प्रकाशयति सन्मार्गं समाधिनिरतात्मनाम् ॥ १० ॥

इत्यर्थः स्मारितो भवति । सितरक्तादिरूपेण तत्तद्युगानुसारिवर्णभेदेनेत्यर्थः । तथा च श्रीभागवते—

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥ इति ।
(श्रीमद्भा० १०।८।१३)

कार्यारम्भे मध्येऽवसाने च सृष्टिस्थितिसंहारकालेष्वित्यर्थः । एक एवानेकधा रूपं सन्धत्ते । सृष्टिकाले रक्तं रूपम्, रक्षणकाले शुक्लं रूपम्, संहारकाले कृष्णं रूपं बिभर्तीत्यर्थः । स्थूलं जाग्रत्पदस्थितमित्यर्थः । कामरूपधृक् स्वेच्छया नानारूपधरमित्यर्थः । तद्व्यक्तं शान्तसंज्ञं च रूपमित्यत्र व्यक्तमित्यनेन स्वप्नसुषुप्तिपदाश्रितत्वम्, शान्तसंज्ञमित्यनेन तुर्यपदाश्रितत्वं चोच्यते । [6]यतो लक्ष्मीतन्त्रे—

त्रिविधं चातुरात्म्यं तु सुषुप्त्यादिपदत्रिके ।
सुव्यक्तं तत्पदे तुर्ये गुणलक्ष्यं परं स्थितम् ॥ (१०।४२)

इति स्वप्नसुषुप्तिपदस्थस्य सुव्यक्तत्वं तुर्यपदस्थस्य शान्तत्वं चोक्तम् । एवं स्वप्नसुषुप्तितुर्यपदाश्रितत्वादिना विभिन्नस्यापि रूपस्यैक्यकथनं हृदयान्तःस्थितत्वेन सूक्ष्मत्वेन चाविशेषादिति बोध्यम् । रूपं सूक्ष्मरूपमित्यर्थः । तथा च जयाख्ये चतुर्थे पटले—

स्रष्टा पालयिता चाहं संहर्ता पुनरेव च ।
स्वकीययोगयुक्त्या तु स्थूलरूपेण नारद ॥

---

१. मेकमेव—अ० उ० । २. स्थूलवत्—मु० अटी० । ३. धृत्—मु० अटी० । ४. ध्वंसन्तं तं—बक० बख० । ५. वर—बख० उ०, वरः—अ० । ६. यतः श्री—म० ।

तेजोमयं यत् तद्रूपं वैभवं शान्तसंज्ञकम् ।
उपासकानां भक्तानां सर्वे सर्वफलप्रदाः ॥ ११ ॥
आमोक्षान्निर्विचारेण एकैकस्य[1] महामते ।
आराधनार्थं विहितो वाचको हि चतुर्विधः ॥ १२ ॥
संज्ञानानापदमयः पिण्डाख्यो बीजलक्षणः ।
एभ्यो मध्यात्त्वथैकेन[2] वाच्यमामन्त्र्य भक्तितः ॥ १३ ॥

सूक्ष्मेण सर्वभूतानां निवसामि हृदन्तरे ।
करोम्यनुग्रहं चापि भक्तानां भावितात्मनाम् ॥
परेणानन्दरूपेण व्यापकेनामलेन च ।
व्यासयाम्यखिलं विप्र रसेनेव तरूत्तमम्[3] ॥ (४।२३–२५) इति ।

नन्वत्र व्यूहस्यैव तुर्यसुषुप्तिस्वप्नजाग्रत्पदाश्रितत्वेन चातुर्विध्यमुक्तम्, तद्विभवावतारेऽपि भवता कथमुच्यत इति चेत्, ब्रूमः—

स्वप्नाद्यवस्थाभेदस्तु ध्यायिनां खेदशान्तये ।
तत्तत्पदस्थजीवानां तन्निवृत्त्यर्थमेव च ॥
स्वप्नाद्यवस्थजीवानामधिष्ठातार एव ते ।
कर्मात्मनां च सेनेश तत्पदस्थो ममेच्छया ॥
उपास्योऽहं महाभाग पदभेदप्रयोजनम्[4] ॥
(तत्त्व०, पृ० १३३–१३४)

इत्युक्तस्य फलस्य विभवावतारेऽप्यपेक्षितत्वाद् व्यूहवद् विभवस्यापि तुर्यादिपदभेदेन चातुर्विध्यमुपपन्नम् । अत एवोक्तं जगज्जनन्या—

पराद्यर्चावतारेऽस्मिन् मम रूपचतुष्टये ॥
तुर्याद्यवस्था विज्ञेया इतीयं शुद्धपद्धतिः । (लक्ष्मी० २।६०–६१) इति ।

वैभवं शान्तसंज्ञकमित्यत्र शान्तसंज्ञकं परात्परमित्यर्थः ॥ ४–१२॥

अथ संज्ञापदपिण्डबीजभेदेन मन्त्राणां चातुर्विध्यं तेष्वेकतमेन भगवदावाहनाद्यर्चनं चाह—एकैकस्य महामते इत्यादिना सार्धेन । वाच्यं भगवन्तमामन्त्र्य समावाह्य, अर्चयेदिति शेषः ॥ १२–१३ ॥

बीजपिण्डमन्त्रयोरन्यतरेण संज्ञापदमन्त्रयोरन्यतरेण चोभयेनाप्यभिन्नरूपस्यैकस्यैव भगवतोऽर्चनं यत्र कार्यम्, तत्र तन्मन्त्रद्वयस्यापि संमेलनप्रकारम्, तदाद्यन्तयोः

---

१. त्वेकै–मु० बक० बख० उ० । २. ध्यात्वा त्व–उ० । ३. त्तमान्–अ० । ४. यद–मु० ।

यत्रै[1]कपिण्डवाक्योत्थमन्त्रेणाथोभयात्मना ।
अभिन्नलक्षणो वाच्य एक एवोपचर्यते ॥ १४ ॥
तत्र वै विधिनानेन कुर्यात्ताभ्यां हि कल्पनाम् ।
कृत्वादौ नाममन्त्रस्य बीजं पिण्डाक्षरं तु वा ॥ १५ ॥
नयेत् तेनाभिमुख्यं च वाच्यमाद्यन्त[2]केन वा ।
सं[3]तन्त्र्य पदमन्त्रं तु विधिनानेन वै ततः ॥ १६ ॥
कुर्यात् प्रणवपीठस्थं नमस्कारै[4]ध्वजान्वितम् ।
आभ्यां शान्तस्वरूपत्वादेकत्वमत एव हि ॥ १७ ॥
संज्ञाख्यं पदमन्त्रं च विद्धि संसिद्धिलक्षणम् ।
स्वरोत्थं व्यञ्जनोत्थं वा बीजमेकाक्षरं स्मृतम् ॥ १८ ॥
स्वरव्यञ्जनसंयोगाद् बह्वर्णः पिण्डमन्त्रराट् ।
द्वाभ्यामाद्यात् तथान्ताच्च स्वरवर्गान्महामते ॥ १९ ॥
स्वरूपेण हि मन्त्रत्वमन्येषां सह बिन्दुना ।

प्रणवनमःसंयोजनमन्त्रं चाह—यत्रेति सार्धैश्चतुर्भिः । आद्यन्तकेन वा आदिबीजमन्ते यस्य तत् तथोक्तेन, अन्तेऽपि बीजसहितेनेत्यर्थः । यद्वा अन्त एव बीजसहितेनेत्यर्थः । उभयथाप्युक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

आदौ मध्ये तथान्ते च त्रिषु वान्यतरत्र वा ॥
येषां पिण्डोऽथवा बीजं ते मन्त्राः सार्वकालिकाः । (२१।२२–२३)

इति ॥१४–१८॥

बीजस्वरूपं पिण्डस्वरूपं चाह—स्वरोत्थमिति । स्वरोत्थम् अकारादिस्वरेष्वन्यतमेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा, उत्थम् उत्पन्नमित्यर्थः । तथा चोपबृंहितं लोकमात्रा—

एकस्वरं द्विस्वरं वा स्वरव्यञ्जनयोर्द्वयम् ॥
बीजं बहुस्वरं वापि विज्ञेयं बहुधेश्वर । (लक्ष्मी० २१।११–१२)

इति ॥ १८–१९ ॥

अकारादिषोडशस्वरेष्वाद्यस्वरद्वयस्यान्त्यस्वरद्वयस्य च स्वरूपेणैव मन्त्रत्वम्, अन्येषां स्वराणामनुस्वारसहितत्वे मन्त्रत्वमित्याह—द्वाभ्यामिति । आद्यद्वाभ्याम् अकाराकाराभ्याम्, अन्त्यद्वाभ्याम् अनुस्वारविसर्गाभ्यामित्यर्थः । इदं बीजचतुष्टयं पूर्वं स्वप्नव्यूहमन्त्रचतुष्के च प्रतिपादितं ज्ञेयम् ॥ १९–२० ॥

---

१. विक–अटी० । २. न्तगेनेति सार्वत्रिकः पाठः । ३. स तत्र–अटी० बक० बख० । ४. स्कारं–बख० । ५. सन्निधि–अ० ।

स्वरेणैकेन युक्तस्य स्वरयुग्मान्वितस्य च ॥ २० ॥
सानुस्वारस्य बीजत्वं व्यञ्जनस्यापि लाङ्गलिन् ।
य ॐकाराख्यशब्दस्य विवर्तो दीधितिप्रभः ॥ २१ ॥
चिल्लक्षणस्त्वनाकारो विद्धि तद्वाचकं त्रिधा ।
क्वचित् पिण्डं क्वचिद्बीजं क्वचिच्छब्दमनाहतम् ॥ २२ ॥
तस्य चोद्गीर्यमाणस्य[1] परिणामः स्फुटो हि यः ।
बह्वक्षरो बहुपदः स्तुतिसम्बोधलक्षणः ॥ २३ ॥
अविनाशी स ॐकारो बीजादीनां महर्द्धिदः ।
प्राग्[2] दद्यात् प्रणवेनातः सत्याख्येनासनं महत् ॥ २४ ॥

ककारादिव्यञ्जनस्यापि बिन्दुसहितत्वेनैव मन्त्रत्वमाह—स्वरेणेति ॥२०–२१॥

बीजपिण्डसंज्ञापदमन्त्राश्चत्वारोऽपि प्रणवस्य परिणामाः । तत्राद्यास्त्रयः सूक्ष्मपरिणामाः, अन्त्यः स्थूलपरिणाम इत्याह—य ॐकाराख्यशब्दस्येति सार्धद्वाभ्याम् । ओंकारभेद[3] इति यावत्, दीधितिप्रभः केवलतेजोरूप इत्यर्थः । चिल्लक्षणः चिद्रूपः । अनाकारो गुणलक्ष्य इत्यर्थः । एवमेवोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

शब्दब्रह्मविवर्तोऽयं किरणायुतसंकुलः ॥
चिल्लक्षणः सद्[4]गुणात्मा तस्य भेदश्चतुर्विधः ।
क्वचिद्बीजं क्वचित्पिण्डं क्वचित्संज्ञा क्वचित्पदम् ॥
तुर्यं सुषुप्तिः स्वप्नं च जाग्रद्[5]व्यूहादयः क्रमात् ॥ (२१।९–११)

एवं च मन्त्रप्रतिपाद्यस्य भगवतः पूर्वं प[6]रसूक्ष्म(स्य?)स्थूलभेदेन त्रैविध्यम्, तत्र सूक्ष्मस्य तुर्यसुषुप्तिस्वप्नभेदेन त्रैविध्यं च यथा प्रतिपादितम्, तद्वदिहापि प्रणवस्य परत्वम्, बीजपिण्डसंज्ञामन्त्राणां तुर्यसुषुप्तिस्वप्नक्रमेण सूक्ष्मत्वम्, पदमन्त्रस्य स्थूलत्वं चोक्तं भवतीति ज्ञेयम् ॥ २१–२३ ॥

एवं प्रणवस्य नित्योदितत्वात् सर्वमन्त्राणामप्याधारत्वेनादौ निवेशनम्, तदुपरि तद्विवृत्तस्य बीजस्य न्यासम्, प्रत्यहमाराधनकाले बीजात् तत्परिणामाकारेण संज्ञापदमन्त्रयोरन्यतरस्योत्थानम्, समाप्ते यजने पुनस्तत्रैव लयं चाह—अविनाशीति त्रिभिः । बीजस्य क्षेत्रज्ञरूपत्वात् तदुपरि स्थितानां वर्णानां क्षेत्ररूपत्वाच्च मूर्त्युत्थानमुक्तम् । विप्रलयं स्मरेदित्यनेन मूर्तिरूपस्य मन्त्रस्य बीजे उपसंहारः, बीजस्य तत्कारणे प्रणवे चोपसंहारो बोध्यः । तथा च जयाख्ये—

---

१. चोद्गीयमानस्य–मु० अटी० । २. प्रागवि–बक० बख० उ० । ३. विवर्तपदस्य व्याख्यानमेतत् । ४. षड्–मु० । ५. द्बीजा–मु० । ६. पूर्वापरसूक्ष्मस्य–अ० ।

तस्माद् वै सत्यभिन्नं तु [1]बीजं तदुपरि न्यसेत् ।
स्वविवर्तेन बीजस्य मूर्त्युत्थानं प्रकल्पयेत् ।। २५ ।।
प्राप्तेज्यावसरे नित्यं सम्पन्ने यजने सति ।
तप्तोपले जलं यद्वत् तद्वत् विश्लयं स्मरेत् ।। २६ ।।
भानुप्रसरसंकोचतुल्यमेतद् महामते ।
क्रियावशात्तु किन्त्वत्र भेदमात्रोपलक्षणम् ।। २७ ।।
न यत्र बीजं पिण्डं वा तत्र वै प्रणवादनु ।
प्राग्वर्णं पदमन्त्रस्य यत् तदालोकवाचकम् ।। २८ ।।
तच्छिष्टं विग्रहं वर्णैस्तस्मादुत्थाप्य वृक्षवत् ।
केवलं यत्र वै बीजं पिण्डं वा पदवर्जितम् ।। २९ ।।

भोगस्थानगता मन्त्राः पूजिता ये यथाक्रमम् ॥
मुख्यमन्त्रशरीरं तु संप्रविष्टांश्च संस्मरेत् ।
ज्वाला ज्वालान्तरे यद्वत् समुद्रस्येव निम्नगाः ॥
तं मन्त्रविग्रहं स्थूलं सर्वमन्त्रास्पदं द्विज ।
प्रविष्टं भावयेत् सूक्ष्मे बुद्धयक्षे ह्युभयात्मके ॥
परे प्रागुक्तरूपे तु तं सूक्ष्ममुभयात्मकम् ।
तं परं प्रस्फुरद्रूपं निराधारपदाश्रितम् ॥
सन्धिमार्गेण हृत्पद्मे संप्रविष्टं तु भावयेत् । (१५।२३३–२३७)

इति ॥ २४–२६ ॥

(पृथिवीभिन्नस्य ?) संज्ञापदमन्त्रयोरन्यतरस्य पूजाकाले बीजात् प्रसरणं तत्समाप्तौ तत्र संकोचश्च कथमुपपद्यत इति शङ्कां किरणसादृश्येन परिहरति—भानुप्रसरेति ॥ २७ ॥

बीजेन पिण्डेन वा विरहिते मन्त्रे प्रथमाक्षरस्यैव बीजत्वम्, तदवशिष्टानां वर्णानां तद्विग्रहत्वेन तस्मादुत्पादनं चाह—न यत्रेति सार्धेन । उत्थाप्येत्यत्रार्चयेदिति शेषः । एवमेवोपबृंहितं हरिवल्लभयापि—

बीजं बीजवतां जीवः शिष्टं क्षेत्रं प्रकीर्तितम् ॥
निर्बीजानामादि जीवः क्षेत्रं तु परिशेषितम् । इति ।
(लक्ष्मी० २१।१७–१८)

आदि प्रथमवर्णमित्यर्थः ॥ २८–२९ ॥

---

१. रूपं–मु० अटी० । २. मृत्युस्थानं–मु० अटी० । ३. प्रविलयमिति सार्वत्रिकः पाठः । ४. प्रसव–मु० । ५. आनीय वीर्यपिण्डं वा–उ० । ६. क्रमात्–मु० । ७. तन्मन्त्र–अ० म० । ८. सुधी–अ०, सिद्धिमार्गण–मु० । ९. पृथिवीभिन्नस्येत्यनावश्यकं पदमुभयोर्मातृकयोर्दृश्यते ।

तत्राकाराख्यवर्णस्य क्षेत्रज्ञत्वं विधीयते ।
क्षेत्रत्वमवशिष्टानां वर्णानां पिण्डरूपिणाम् ॥ ३० ॥
केवलस्य हि बीजस्य स्वस्थितिर्ब्रह्मवर्णता ।
स्वभावप्रच्युतिर्बीजं बीजोच्चारस्तथाकृतिः ॥ ३१ ॥

संज्ञापदमन्त्ररहिते बीजे पिण्डे वाऽकारस्य बीजत्वम्, तदवशिष्टानां वर्णानां विग्रहत्वं चाह—केवलमिति सार्धेन । एवमेवोक्तं कमलवासिन्यापि—

बीजानां चैव पिण्डानामस्तु क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥
शिष्टं तु क्षेत्रमुद्दिष्टम् ....(लक्ष्मी० २१।१८–१९) इति ।

बीजानां पिण्डानां पदवर्जितकेवलबीजपिण्डानामित्यर्थः । अस्तु अकारस्त्वित्यर्थः ॥ २९–३० ॥

अकारेणापि रहितं बीजपिण्डविषयमाह—केवलस्येति सार्धेन । केवलस्य बीजस्य स्वस्थितिरेव ब्रह्मवर्णता स्वस्य स्थूलरूपा सूक्ष्मरूपा च स्थितिरेव ब्रह्मता वर्णता च । ब्रह्मता स्थूलता, मूर्तत्वमिति[1] यावत् । वर्णता बीजत्वमित्यर्थः । क्षेत्रत्वं क्षेत्रज्ञत्वमप्यवस्थाभेदेनैकनिष्ठमिति भावः । तथाहि—स्वभावप्रच्युतिः स्थूलताविरहः, मध्यमावस्थेति यावत् । सैव बीजं जीव इत्यर्थः । बीजोच्चारो बीजस्य स्थूलरूपेण स्फुटोच्चारणमेव आकृतिः क्षेत्रमित्यर्थः । एवमेव पिण्डमन्त्राणामप्युदयः परिज्ञेयः, क्षेत्रक्षेत्रज्ञभावो बोध्य इत्यर्थः । लक्ष्मीतन्त्रे त्वेवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञभाव एकमात्रबीजविषये प्रतिपादितः । अकाररहितबीजविषये तु स्वरस्यैव क्षेत्रज्ञत्वमुक्तम् । तथाहि—

.... अकाररहिते पुनः ।
क्षेत्रज्ञ स्वर उद्दिष्टः केवले[2] च[3] स्वरे पुनः ॥
जीवः स्यात् प्रथमा मात्रा द्वितीयादि तनुर्भवेत् ।
एकमात्रे तु जीवः स्यात् संस्कारो[4] भूतलक्षणम् ॥
उच्चार्यमाणं क्षेत्रं स्यान्निःस्वरे पिण्डके पुनः ।
प्रथमो जीव उद्दिष्टः शिष्टं क्षेत्रं प्रचक्षते ॥ (२१।१९–२१) इति ।

संस्कारः शब्दस्य मध्यमावस्थेत्यर्थः । उक्तं खलु तत्रैव—

ततः परो य उन्मेषस्तृतीयः शक्तिसंभवः ।
मध्यमा सा दशा तत्र संस्कार[5]यति संगतिम् ॥
वाच्यवाचकभेदस्तु तदा संस्कारतामयः ॥ (१८।२५–२६) इति ।

---

१. मूर्तित्व–म० । २. केवलं–अ० । ३. चास्वरे–अ० म० । ४. रोऽद्भुतलक्षणः–मु० । ५. संस्कार इति–अ० म० ।

बीजवत् पिण्डमन्त्राणां परिज्ञेयः सदोदयः ।
यद्बीजलक्षणं मन्त्रं [1]सामर्थ्यं वैष्णवं महत् ॥ ३२ ॥
असंख्येयमसंख्यानां वाच्यानां भिन्नरूपिणाम् ।
तद्यथावत् परिज्ञानाज्[2]जपाद् ध्यानात् समर्चनात् ॥ ३३ ॥
हवनात् तन्मयत्वाच्च निर्बीजं पदमृच्छति ।
[3]सहाभिमतसिद्धिः स्यात् साध[4]कानां सदैव हि ॥ ३४ ॥
पिण्डादि[5]भगवन्मन्त्रमूर्तीनामेवमेव हि ।
परिज्ञानाद् भवेत् किन्तु पिण्डात् तत्स्थैर्यमुत्तमम् ॥ ३५ ॥
नानात्वं नाममन्त्राच्च नानालोकान्तरोत्थितम् ।
भवेत् सर्वपदप्राप्तिः परिज्ञानात् पदाभिधात् ॥ ३६ ॥
सबीजं वा सपिण्डं वा मन्त्राणां यत्[6]परं द्वयम् ।
विदधाति [7]फलं स्वं स्वं किन्त्वाद्यं भावयेत् परम् ॥ ३७ ॥

भूतलक्षणं स्थूलरूपम्, उच्चार्यमाणं वैखर्यवस्थापन्नमित्यर्थः । तथा चोक्तं तत्रैव—"वैखरी नाम सावस्था वर्ण[9]वाक् संस्कृतोदया (१८।२७) इति ॥३१–३२ ॥

बीजमन्त्रफलमाह—यदिति सार्धद्वाभ्याम् । वैष्णवं सामर्थ्यं भगवत्सामर्थ्यरूपमित्यर्थः । असंख्येयं मन्त्रप्रतिपाद्यस्य नानारूपतयाऽसंख्यातत्वात् तत्प्रतिपादकमपि तथा नानाविधाकारमित्यर्थः । तद्यथावत् परिज्ञानात् तस्य बीजस्य सप्रकारज्ञानादित्यर्थः । निर्बीजं पदम् अनाद्यन्तं [10]परमं धामेत्यर्थः । ऋच्छति प्राप्नोति, साधक इति शेषः । सहाभिमतसिद्धिः स्यादिति तेन मोक्षरूपफलेन सहाभिमतार्थसिद्धेरुक्तत्वान्मोक्षस्य प्राधान्यमन्येषामानुषङ्गिकत्वमुक्तं भवति ॥ ३२–३४ ॥

पिण्डसंज्ञापदमन्त्राणामप्येवमेव चतुर्विधपुरुषार्थप्रदत्वमस्ति, किन्तु तत्र मोक्षेतरफलस्थैर्यादिकं भवेदित्याह—पिण्डादीति सार्धद्वाभ्याम् । तत् स्थैर्यं मोक्षेतराभिमतार्थस्थैर्यमित्यर्थः । नानात्वं तेषामेव नानाविधत्वमित्यर्थः ॥ ३५–३६ ॥

बीजपिण्डाभ्यां सह संज्ञापदमन्त्रयोः संयोजनमुक्तम् । तत्र फलप्रदत्वं पूर्वस्य वा परस्य वोभयोर्वेत्याकाङ्क्षायां परस्यैव स्वफलप्रदत्वम्, पूर्वस्य तु क्षेत्रज्ञरूपेण भावनामात्रं चाह—सबीजमिति सपादेन ॥ ३७–३८ ॥

---

१. स्वाराध्यं–मु०, स्वाराज्यं–अटी० । २. जपध्या–बख० उ० । ३. सर्वा–मु० अटी० अ० । ४. कस्य–मु० अटी० । ५. दिर्भग–मु० अटी० । ६. यत्पद–उ० । ७. पदं–मु० अटी० । ८. पदम्–बक० बख० । ९. वाक्यस्फुटो–मु० । १०. परं–म० ।

मन्त्रक्षेत्रज्ञरूपत्वाद् यस्मात् सर्वेश्वरोऽच्युतः ।
व्याप्यव्यापकरूपेण वर्ततेऽनुग्रहेच्छया ॥ ३८ ॥
व्याप्यरूपेण भूलोकाद् भोगादारभ्य चाखिलात् ।
षाड्गुण्यमहिमान्तं च ददाति फलमुत्तमम् ॥ ३९ ॥
स्वपदं भोगखिन्नस्य दिव्यदेहस्य कर्मिणः ।
क्षेत्रज्ञबीजपिण्डात्मा निरावरणलक्षणः ॥ ४० ॥
ज्ञानं यदमलं शुद्धं संयच्छत्यात्मलाभदम् ।
शक्तिव्यक्तिमयत्वं च जाग्रद्वृत्तेः पदात्मनः ॥ ४१ ॥
एवं संज्ञात्मनः स्वप्नवृत्तेरेकत्वमस्ति च ।
सुषुप्तिवृत्तेः पिण्डाख्यमन्त्रस्यैव महामते ॥ ४२ ॥
बीजात्मनस्तुर्यवृत्तेः शक्तिव्यक्तित्वमस्ति वै ।
व्यक्तिर्ज्ञानफलोपेता नियता यद्यपि स्मृता ॥ ४३ ॥
भगवन्मन्त्रमूर्तीनां तथापि परमात्मनः ।
आद्यस्य चातुरात्म्यस्य केवलस्याथवा विभोः ॥ ४४ ॥
चतुष्प्रकारं यन्मन्त्रं विद्धि तन्मोक्षभूतिदम् ।

पुनरिममेवार्थं सहेतुकं द्रढयन् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरुभयोरपि भगवद्रूपत्वात् क्षेत्रस्यैव भोगमोक्षप्रदत्वं क्षेत्रज्ञभूतस्य बीजपिण्डान्यतरस्य तु मोक्षसाधकज्ञानप्रदत्वं चाह—यस्मादिति सपादैस्त्रिभिः । व्याप्यव्यापकरूपेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपेणेत्यर्थः । निरावरणलक्षणो व्यापकरूप इत्यर्थः ॥ ३८–४१ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्यावस्थानां पदसंज्ञापिण्डबीजानां च क्रमेण परस्परं शक्तिव्यक्तित्वमाह—शक्तीति द्वाभ्याम् ॥ ४१–४३ ॥

यद्यपि बीजादिभगवन्मन्त्रव्यक्तेर्ज्ञानप्रदत्वं भोगमोक्षफलप्रदत्वं च नियमेनोक्तम्, तथापि तत्सुषुप्तिव्यूहादिमन्त्रव्यक्तिविषयम्, परमन्त्राणां तु चतुर्विधानामपि मोक्षप्रदत्वमेवेत्याह—व्यक्तिरिति त्रिभिः । आद्यस्य चातुरात्म्यस्य, तुर्यव्यूहस्येत्यर्थः । केवलस्य विभोः, परात्परस्येत्यर्थः । अतोऽन्यथा यदुद्दिष्टं सुषुप्तिव्यूहादिक्रमेणोक्तं मन्त्रजातमित्यर्थः । अमिश्रं फलं केवलमोक्षमित्यर्थः । मिश्रं फलं भोगसहितं मोक्षमित्यर्थः । भाववशात् तत्तदभिसन्ध्यनुसारेणेत्यर्थः । ददातीति शेषः । एवं च द्वितीय-

१. कृपया–अ० । २. मभिमानं–मु० अटी० । ३. परा–मु० अटी० । ४. ख्यं–बक० बख० अ० उ० । ५. स्तस्य–मु० अटी० । ६. वलो–मु० अटी० ।

अतोऽन्यथा यदुद्दिष्टममिश्रं मिश्रमेव हि ॥ ४५ ॥
फलं [1]भाववशाच्चैव तत्तथा विद्धि नान्यथा ।
ज्ञात्वैवमर्चयेत् पश्चान्नानामन्त्रैर्महामते ॥ ४६ ॥
गौणमुख्यादि[2]गुह्यैस्तु प्रादुर्भावगणं विभोः ।
महाज्योतिस्वरूपस्य स[3]ह वै चतुरात्मना ॥ ४७ ॥
प्राग् जाग्रत्पदसंस्थस्य लेशेनोक्तं तदर्चनम् ।
इदानीं स[4]विशेषेण मन्त्रध्यानक्रियान्वितम् ॥ ४८ ॥
प्रवक्ष्यामि समासेन शृणुष्वायतलोचन ।
विशाखयूपो भगवान् स्वयं विश्वसिसृक्षया ॥ ४९ ॥
अध्यक्षेण स्वरूपेण समुदेत्येक हि ।
महिमानं तु निश्शेषं शुद्धं[6]संवित्पुरस्सरम् ॥ ५० ॥

परिच्छेदोक्तस्य परमन्त्रस्य पदमन्त्रत्वेऽपि मुख्यतो मोक्षप्रदत्वात्, अत एव तन्मन्त्रस्य योगिभिरुपास्यत्वेन पूर्वमुक्तत्वाच्चेदानीं संज्ञापदमन्त्रसामान्यस्य भोगप्रदातृत्वोक्तिर्विरुद्ध्यतीत्यभिप्रायेणैवं विषयव्यवस्था कृतेति बोध्यम् ॥ ४३–४६ ॥

एवं तत्तन्मन्त्रफलभेदादिज्ञानपूर्वकं भगवदर्चनं कुर्यादित्याह—ज्ञात्वेति । प्रादुर्भावगणं वक्ष्यमाणपद्मनाभाद्यवतारसमूहमित्यर्थः ॥ ४६–४७ ॥

परेण भगवता सह जाग्रद्व्यूहस्यार्चनं पूर्वं संग्रहेणोक्तम्, इदानीं सविशेषं वक्ष्यामीत्याह—महाज्योतिरिति द्वाभ्याम् । महाज्योतिस्वरूपस्य परस्येत्यर्थः । चतुरात्मना सह वासुदेवादिचातुरात्म्येन सहेत्यर्थः । "स्वमूर्तिभिरमूर्ताभिरच्युताद्याभिरन्वितः" (२।७२) इति तत्रापि चातुरात्म्यमुक्तं हि । जाग्रत्पदसंस्थस्य जाग्रद्व्यूहस्येत्यर्थः । प्राक् पूर्वम्, तदर्चनं तथाविधमर्चनम्, लेशेनोक्तं द्वितीयपरिच्छेदे मानसार्चनम्, षष्ठपरिच्छेदे बाह्यार्चनं चोक्तमित्यर्थः ॥ ४७–४९ ॥

आदौ सकलविभवदेवानामधिपतेर्विशाखयूपसंज्ञस्य भगवतः प्रादुर्भावरीतिमाह —विशाखयूप इति द्वाभ्याम् । आद्यपदस्थस्य चातुरात्म्यस्य (च ?) तुर्य[7]व्यूहस्य । शुद्धसंवित्पुरस्सरं महिमानमादाय व्यूहविभवावतारसाधनोपकरणं संगृह्येत्यर्थः । एवमेवोपबृंहितं जगज्जनन्यापि—

---

१. भाग–मु० । २. तिगु–मु० । ३. सहैव–उ० । ४. तु वि–अटी० । ५. आध्य–उ० ! ६. शुद्धं–अ० उ० । ७. तुर्यव्यमहस्य–अ० ।

आदायाद्यपदस्थस्य चातुरात्म्यस्य वै विभोः ।
तथा चाधारभूयिष्ठदेवानां चेष्टितं हि यत् ॥ ५१ ॥
सितादयः कान्तयोऽथ श्र्यादिकं च महामते ।
सलाञ्छनं वैभवीयं सायुधं बीजमेव तु ॥ ५२ ॥
ज्ञानाद्यं गुणषट्कं च तदुक्ताः शक्तयोऽखिलाः ।
अणिमाद्यष्टकं चैव स्थित्युत्पत्तिलयोदयाः ॥ ५३ ॥
शक्तिः सा चातुरात्मीया त्वैश्वरीत्यभिधीयते ।
यथार्ककिरणव्रातं त्यक्त्वा तेजःकणो महान् ॥ ५४ ॥

तुर्याद्येस्वप्नपर्यन्ते चातुरात्म्यादिके हि यत् ॥
तत्तदैश्वर्यसंपन्ने षाड्गुण्यं सुव्यवस्थितम् ।
तदादायाखिलं दिव्यं शुद्धसंवित्पुरस्सरम् ॥
विभजत्यात्मनात्मानं वासुदेवादिरूपकैः । (लक्ष्मी० ११।१५-१७)

इति ॥ ४९-५१ ॥

तदुपकरणानां विवरणमाह—तथा चेति त्रिभिः । श्र्यादिकं श्रीदेव्यादिकं शक्तिजालमित्यर्थः । एषां सर्वेषामपि षाड्गुण्यमयत्वमुक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

परादिविभवान्तानां सर्वेषां देवतात्मनाम् ।
शुद्धषाड्गुण्यरूपाणि वपूंषि त्रिदशेश्वर ॥
यावन्त्यस्त्राणि देवानां चक्रशङ्खादिकानि वै ।
भूषणानि विचित्राणि वासांसि विविधानि च ॥
ध्वजाश्च विविधाकाराः कान्तयश्च सितादिकाः ।
वाहनानि विचित्राणि सत्याद्यानि सुरेश्वर ॥
शक्तयो भोगदाश्चैव विविधाकारसंस्थिताः ।
आन्तःकरणिको वर्गस्तदीया वृत्तयोऽखिलाः ॥
यच्च यच्चोपकरणं सामान्यं पुरुषान्तरैः ।
षाड्गुण्यनिर्मितं विद्धि तत्सर्वं बलसूदन ॥ (११।३२-३६)

इति ॥ ५१-५४ ॥

---

१. यथा-मु० बक० । २. भूयिष्ठं-बक० अ०, भूमिष्ठ-उ० । ३. यो या-अ० उ०, यो यत्-मु० अटी० । ४. यादयः-अ०, लोदयः-उ० । ५. यथार्कः-अ० । ६. तुर्याद्ये-मु० । ७. रूपतः-मु० । ८. शङ्खचक्रा-अ० । ९. संस्थितिः-अ० म० ।

स्वकारणं विना सर्वमापूरयति गोचरम् ।
स्वातन्त्र्यात् परिपूर्णत्वात् तद्वत् स परमेश्वरः ॥ ५५ ॥
विहाय वासुदेवाद्यं मूर्तिशाखाचतुष्टयम् ।
वैभवीयस्य यूथस्य पतित्वेनावतिष्ठते ॥ ५६ ॥
सम्भूतिस्थितिसंहारभोगकैवल्यलक्षणम् ।
प्रेरयन् वै धिया चक्रं पञ्चारमिदमुत्तमम् ॥ ५७ ॥
स्मर्तव्यः स्वपदस्थः स स्वबीजेनामलात्मना ।
आमूर्धतोऽङ्घ्रिपर्यन्तं तदीयं गात्रमण्डलम् ॥ ५८ ॥
रत्नवद् वैभवीयैस्तु बीजैर्भाव्यमलङ्कृतम् ।
क्रमादुच्चार्यमाणैस्तैरमृतौघेन पूर्ववत् ॥ ५९ ॥
पूजनात् परमेशत्वमचिरादेव गच्छति ।
शृणु तद्बीजनिचयं सावधानेन चेतसा ॥ ६० ॥
तत्प्रसादात् परां सिद्धिं प्रयान्ति भगवन्मयाः ।
शुचौ देशे मनोज्ञे च सुलिप्ते पुष्पभूषिते ॥ ६१ ॥
चन्दनक्षोदसंयुक्ते सुधूपेनाधिवासिते ।
विलिख्य मातृकाचक्रं भेदेनानेन वै पुनः ॥ ६२ ॥

सूर्यतेजःकणदृष्टान्तपूर्वकं तस्य विशाखयूपस्यैव विभवदेवताधिपत्यमाह— यथेत्यादिभिः सार्धैः (षड्भिः ? त्रिभिः) । एवमेवोपबृंहितं लोकमात्रापि—

पुनर्विभववेलायां विना मूर्तिचतुष्टयम् ॥
विशाखयूप एवैष विभवान् भावयत्युत । इति ।
(लक्ष्मी० ११।१७–१८)

ननु भवता प्रथमपरिच्छेदव्याख्यानप्रकरणे विभवदेवानामनिरुद्धोत्पन्नत्वमुक्तम्, इदानीं विशाखयूपस्य तत्कारणत्वमुच्यते । कथमुभयोरविरोध इति चेत्, सत्यम् । उभयोरभेदेनाविरोधो बोध्यः ॥ ५४–५७ ॥

विशाखयूपस्य तद्बीजेन स्वपदे ध्यानम्, पद्मनाभादिबीजैस्तदीयगात्रालङ्करणध्यानम्, तदर्चनफलं चाह—स्मर्तव्य इति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ५८–६० ॥

विभवदेवबीजोद्धरणार्थं वर्णचक्ररचनां तदर्चनं चाह—शृण्विति सार्धैः

१. द्यमूर्तीः–अ० । २. श्शाख–बक० बख० । ३. स्वबीजेन स्वामलात्मना–मु० अटी० । ४. यच्छति–अ० उ० । ६. धूपिते–बक० । ६. द्वार–म० ।

येन सन्दृष्टमात्रेण शतधा याति कल्मषम् ।
प्रागादौ पञ्चवर्गान्तं[1] मध्यान्तं मध्यतो लिखेत् ।।६३।।
यादयो नव नाभिस्था आदयः षोडशारगाः ।
कादयो नेमिगाः सर्वे पूर्वचक्रे यदक्षगम् ।।६४।।
तदस्मिन् प्रधिभूतं[2] तु पूजयेद् विधिना ततः ।
शब्दब्रह्ममयं चक्रमर्घ्यपुष्पादिकैः क्रमात् ।।६५।।
तन्मध्यादुद्धरेदादौ सर्वेषां कारणं हि यत् ।
उदक्स्थमक्षरं चाक्षादरान्ताद्येन भूषितम् ।।६६।।
विद्धि सर्वेश्वरस्येदं बीजं निर्बीजकारणम् ।
एतदेवाब्जनाभस्य विसर्गसहितं स्मृतम् ।।६७।।
नेमिवर्गाद् द्वितीयं वै ततोऽरात् षष्ठमक्षरम् ।
अष्टमं नाभिदेशाच्च तत्संख्यं नेमिमण्डलात् ।।६८।।
नेमिपूर्वमतो नाभेः सप्तमं पञ्चमारगम् ।
अराच्चतुर्दशं[3] त्वक्षात् पश्चिमाशागतं हि यत्[4] ।।६९।।
नेमेरेकादशं चाथ षोडशं च त्रयोदशम् ।

पञ्चभिः। वर्गान्ता ङकारञकारणकार[5]नकारमकारा इत्यर्थः। यादवो नव यकारादिक्षकारान्ताः। पूर्वचक्रे द्वितीयपरिच्छेदोक्ते चक्रे। अक्षगं यद्वर्णं प्रणव इत्यर्थः ।। ६०–६५ ।।

बीजोद्धारक्रममाह—तन्मध्यादित्यारभ्य तेजसाऽतीव निर्भरा इत्यन्तम्। अक्षाद् उदक्स्थमक्षरं नकारमुद्धृत्य, अरान्ताद्येनानुस्वारेण भूषितं कुर्यात्। तथा च नमिति प्रयोगः। इदं सर्वेश्वरस्य विशाखयूपस्य बीजम्। एतदेव विसर्गसहितं चेद् अब्जनाभस्य बीजं भवति। ध्रुवबीजं तु नेमिवर्गाद् द्वितीयं खकारः। अनन्तबीजं तु अरात् षष्ठमक्षरम् ऊकारः। एवं क्रमेण षष्ठं नाभेरथाहरेदिति पातालशयन-बीजान्तमर्थो बोध्यः।

सर्वे बीजाः कारणवत् पूर्वोक्तविशाखयूपवत्, मूर्ध्नि अनुस्वारेण योजनीयाः। प्रणवाद्या नमोन्ताश्च ज्ञेयाः। तथा चैषां प्रयोगः—

ॐ नो नमः, ॐ खं नमः, ॐ ऊँ नमः, ॐ हं नमः, ॐ टं नमः, ॐ कं नमः, ॐ सं नमः, ॐ उं नमः, ॐ औं नमः, ॐ णं नमः, ॐ डं नमः, ॐ यं नमः, ॐ

१. न्तात्–बक० बख०, न्तान्–उ० । २. पृथिवीभूतं–अ० । ३. शान् पक्षान्–अ० । ४. तत्–अ० । ५. 'णकार' नास्ति–अ० ।

पञ्चमं नाभिदेशाच्च नेमेरेकोनविंशकम् ॥७०॥
तदन्तं सप्तमं चैव नवमं[1] हि महामते ।
नाभेस्तृतीयं तदनु नेमेस्तत्संख्यमेव च ॥७१॥
द्वादशं च बहिष्ठेभ्यो दशमं षोडशात् परम् ।
नाभिपूर्वं ततो वर्णं नेमेः पञ्चदशं हि यत् ॥७२॥
तुर्यसंख्यमराद्बीजं ततो नाभिचतुर्थकम् ।
षष्ठं नेमेश्चतुर्थं च मध्यमक्षात्[2] तथा हरेत् ॥७३॥
तत्रैव पूर्वदिक्संस्थं यद् बाह्याद्वै पञ्चमं ततः ।
अक्षाद् दक्षिणदिक्संस्थं नेमेरष्टादशं ततः ॥७४॥
द्वितीयं नाभिदेशाच्च तदन्ते सप्तमारगम् ।
चतुर्दशमतो[3] नेमेः षष्ठं नाभेरथाहरेत् ॥७५॥
सर्वे कारणवन्मूर्ध्ना योजनीयाः समासतः ।
प्रणवाद्या नमोन्ताश्च तेजसातीव निर्भराः[4] ॥७६॥
पद्मनाभादयो देवा वाच्यास्तेषां क्रमेण तु ।
पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः शक्त्यात्मा मधुसूदनः ॥ ७७ ॥

तं नमः, ॐ शं नमः, ॐ नं नमः, ॐ अं नमः, ॐ जं नमः, ॐ टं नमः, ॐ लं नमः, ॐ गं नमः, ॐ ढं नमः, ॐ ठं नमः, ॐ पं नमः, ॐ यं नमः, ॐ दं नमः, ॐ रं नमः, ॐ वं नमः, ॐ लं नमः, ॐ धं नमः, ॐ मं नमः, ॐ ङं नमः, ॐ चं नमः, ॐ अं नमः, ॐ फं नमः, ॐ रं नमः, ॐ ॠं नमः, ॐ थं नमः, ॐ षं नमः। इत्यष्टत्रिंशद् बीजानि ॥ ६६–७६ ॥

एषां वाच्यान् पद्मनाभाद्यष्टत्रिंशद्देवान् क्रमेणाह—पद्मनाभादय इति प्रक्रम्य इत्युक्तस्ते समासत इत्यन्तम्। देव इति पदमेकार्णवशयस्य विशेषणम्। पातालधारक इति कूर्मविशेषणम्। दिव्यदेह इति श्रीपतिविशेषणम्। अमृतधारक इति कान्तात्मनो विशेषणम्। महानिति पारिजातहरस्य विशेषणम्। शान्तात्मेति लोकनाथस्य विशेषणम्। महाप्रभुरिति दत्तात्रेयस्य विशेषणम्। भगवानिति न्यग्रोधशायिनो विशेषणम्। देव इति वामनस्य, सर्वव्यापीति त्रिविक्रमस्य च विशेषणम्। ज्वलत्परशुधृगिति रामस्य, धनुर्धर इत्यन्यस्य रामस्य च विशेषणम्। भगवानिति कल्किनः, प्रभुरिति पातालशयनस्य च विशेषणम्। एवं विशेषणविशेष्यमबुध्वा पारमेश्वरव्याख्याने विमानार्चनप्रकरणे एकशृङ्गतन्वादिषु द्वादशमूर्तिषु, कूर्मादिषु द्वादशमूर्तिषु[5] च जागरूका-

१. नवमं–बक० बख० । २. माक्षा–मु० अ० अटी० । ३. मधो–मु०, मथो–अटी० । ४. निर्हराः–अ० । ५. 'द्वादशमूर्तिषु' नास्ति–अ० ।

स्वप्येकश्रृङ्गादिपातालशयनान्तमेकादश मूर्तयः, कूर्मादिन्यग्रोधशाय्यन्तमेकादश मूर्तय इति च लिखितम् । अतः सावधानं बोद्धव्यम्[1] ।

एवं चात्र पद्मनाभादिपातालशयनान्ता अष्टत्रिंशद्विभवदेवा ज्ञेयाः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—"पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः" (११।१९) इति प्रक्रम्य "त्रिंशच्चाष्टाविमे देवाः पद्मनाभादयो मताः" (११।२५) इत्युक्तम् । अहिर्बुध्न्यसंहितायां तु पञ्चमेऽध्याये एवमेव विभवदेवानुक्त्वा "त्रिंशच्च नव चैवैते पद्मनाभादयो मताः" (५।५७) इत्युक्तम्, नैतावता परस्परविरोधः शङ्कनीयः । पद्मनाभादयोऽष्टत्रिंशद्देवाः, तेषामधिपतिर्विशाखयूपस्त्वेकः । तेन सहैकोनचत्वारिंशद्देवा इत्यभिप्रायेण "त्रिंशच्च नव चैवैते" (५।५७) इत्युक्तमिति बोध्यम् । यतो[2] विशाखयूपस्य विभवदेवाधिपत्यं पूर्वमेवोक्तम्—"वैभवीयस्य यूथस्य[3] पतित्वेनावतिष्ठते" (९।५६) इति । अत एवात्र विशाखयूपपुरस्सरमेकोनचत्वारिंशद्बीजान्युक्तानि । किञ्च, ध्यानप्रकरणेऽपि—

> त्रयाणां मुख्यपूर्वाणां ध्रुवान्तानां पुरोदितम् ।
> शेषादीनामशेषाणामिदानीमवधारय ॥
> ध्यानं पातालनिलयपर्यन्तानां यथास्थितम् । (१२।३–४)

इति विशाखयूपस्यापि विभवदेवैः साहचर्यं वक्ष्यति । ननु—"पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः" (५।५०) इति प्रक्रम्य, "त्रिंशच्च नव चैवैते पद्मनाभादयो मताः" (५।५७) इति पद्मनाभादीनामेवैकोनचत्वारिंशत्संख्याकत्वेनोक्तत्वादनुक्तविशाखयूपस्य संख्यापूरणार्थं तत्र संयोजनमनुचितम् । तथा गत्यभावे तद्योजनं कार्यम् । अस्ति च गत्यन्तरम् । तथाहि—"श्रीपतिर्भगवान् देवः" (अहि० ५।५३) इत्यत्र देवशब्देन पौष्करोक्तमन्दरोत्पाटकृद्देवो ग्राह्यः, उभयत्राप्येकरूपदेवशब्दप्रयोगात्, प्रकरणाच्च । पौष्करे हि—

> मन्दरोत्पाटकृद् देवस्त्वमृताहरणस्तथा ।
> सुधाकलशधृक् चैव वनिताकृतिविग्रहः ॥
> भूयो रूपान्तरं चैव राहोश्चिच्छेद मस्तकम् ।
> एवं चतुर्धा भगवान् एष एव महामते ॥
> प्रादुर्भावान्तरोपेतः प्रादुर्भावोत्तमोत्तमः । (३६।२१५–२१७)

इति मन्दरोत्पाटकृदवतारस्य पार्थक्येन निर्देशः कृत इति चेन्न; अहिर्बुध्न्ये—"पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः" (५।५०) इति प्रक्रम्य सात्वतोक्तानुपूर्व्या एव पठितत्वात्, "सात्वते शासने सर्वं तत्तदुक्तं महामते[4]" (५।५९) इति पद्मनाभादिलक्षणानां सात्वते द्रष्टव्यत्वेनोक्तत्वाच्चाहिर्बुध्न्यस्थवाक्यानामपि सात्वतानुसारेणैव व्याख्येयत्वात् । सात्वते हि मन्दरोत्पाटकृद् देवो न पृथग् निर्दिष्टः । तस्मात्—

> आप्तकामः स भगवान् स्वव्यापारवशेन तु ॥
> स्वां शक्तिमवलम्ब्यास्ते पद्मनाभात्मना पुनः । (९।९७–९८)

---

१. बोध्यम्–म० । २. 'यतो' नास्ति–अ० । ३. यूपस्य–म० । ४. मुने–मु० ।

विद्याधिदेवः कपिलो विश्वरूपो विहङ्गमः ।
क्रोडात्मा वडवावक्त्रो धर्मो वागीश्वरस्तथा ।। ७८ ।।

इ(ति पूर्वो ? त्यु)क्तेः पद्मनाभविशाखयूपयोरभेदात् । अत एवेश्वरपारमेश्वरयोरङ्कुरार्पणप्रकरणे—"अब्जनाभं परं चैव पद्मनाभं ध्रुवं तथा" (ई० सं० १०।१७४; पा०सं १५।१५९) इति विशाखयूपस्यापि पद्मनाभशब्देनैव व्यवहृतत्वाच्च । अहिर्बुध्न्ये —"पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः" (५।५०) इत्यत्र पद्मनाभब्देनैव विशाखयूपोऽपि संगृहीत इति सूक्ष्मदृष्ट्या बोध्यम् । नन्वहिर्बुध्न्यवाक्यस्यैवं[1] कथञ्चिद् गतिरुक्ता,

पद्मनाभादिकाः सर्वे वैभवीयास्तथैव च ।
षट्त्रिंशत्संख्यासंख्याताः प्राधान्येन गणेश्वर ।।
षट्त्रिंशद्भेदभिन्नास्तु पद्मनाभादिकाः सुराः ।
अनिरुद्धात् समुत्पन्ना दीपाद्दीपे[2] इवेश्वराः[3] ।। (तत्त्व०, पृ० १३४)

इति विष्वक्सेनसंहितावाक्यस्य का गतिरिति चेत्, तद्गतिकल्पनं तु श्रीमद्रम्यजामातृमुनिभिरेव तत्त्वत्रयव्याख्याने कृतम् । तथाहि—अहिर्बुध्न्यसंहितोक्तैकोनचत्वारिंशद्विभवदेवेषु कपिलदत्तात्रेयजामदग्न्यानां गौणप्रादुर्भावितया मुमुक्षुभिरनर्चितत्वात् तान् विहाय मुमुक्षुभिरर्च्याः पद्मनाभादयो मुख्यप्रादुर्भावाः षट्त्रिंशदिति विष्वक्सेनसंहितायामुक्तमिति ।

नन्वेवं गतिकल्पनमज्ञानमूलकम्, यतः—"पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः" (५।५०) इत्यहिर्बुध्न्योक्तानुपूर्व्यां स्थितस्य वेदविच्छब्दस्य वेदव्यासोऽर्थ इति रम्यजामातृमुनिभिर्न ज्ञातम्, तस्य वेदव्यासपरत्वनिर्णायकसहस्रनामभाष्यवाक्यमपि नाधीतमिति चेत्, किमरे मूढाग्रगण्य ! तेषामाचार्याणामाशयमविदित्वा दूषयसि—

कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम् ।
को ह्यन्यो भुवि मैत्रेय महाभारतकृद् भवेत् ।।
(वि० पु० ३।४।५)

इत्युक्तमहामहिम्नि सूत्रकृति श्रीकृष्णद्वैपायने साक्षाद् भगवदवतारत्वमेव तेषामभिमतम् ।

ननु तर्हि व्यासस्यावेशावतारत्वं मुमुक्षुभिरनुपास्यत्वं च तैरेव कथमुक्तमिति चेत्, सत्यम् । न तत् कृष्णद्वैपायनविषयम्, अपि तु विष्णुपुराणोक्ताष्टाविंशतिसंख्याकव्यासान्तरविषयम्[4] ।

---

१. क्यस्यैव वा–अ० । २. द्वीपा–मु० । ३. इवेश्वरः–अ० । ४. विष्णुपुराणे तृतीयेंऽशे तृतीयाध्याये वर्णिता अष्टाविंशतिसंख्याका व्यासाः ।

देव एकार्णवशयः कूर्मः पातालधारकः ।
वाराहो नरसिंहश्चाप्यमृताहरणस्तु वै ॥ ७९ ॥

नर[1] ... हरण[2]

ननु च सहस्रनामभाष्ये—"तत्र प्रादुर्भावाः केचित् साक्षात्, यथा मत्स्य-कूर्मादयः। अन्ये तु ऋष्यादिविशिष्टपुरुषाधिष्ठानेन; यथा भार्गवरामकृष्णद्वैपायनादयः" (पृ० १८२) इति कृष्णद्वैपायनस्यैवावेशावतारत्वमुक्तम्, तस्य का गतिरिति चेत्, तच्च कल्पभेदेनावतीर्णकृष्णद्वैपायनविषयं बोध्यम्, अन्यथा आचार्योक्तिविरोधात्। यथा तत्त्वत्रयव्याख्याने बुद्धस्य साक्षादवतारत्वमाचार्यहृदये प्रतिपादितम्। विष्वक्सेनसंहितादिषु तस्यावेशावतारत्वमुक्तम्। उभयोर्विरोधः कल्पभेदेन परिहरणीय इति व्याख्यातम्, तद्वदिहापीति[3] संतोष्टव्यमायुष्मता।

ननु "प्रादुर्भावगणो मुख्यः" (९।८४) इति[4] पद्मनाभाद्यष्टत्रिंशद्देवानामपि मुख्यप्रादुर्भावत्वमुक्तम्, तदन्तःपातिकपिलादीनां गौणत्वं कथं वक्तुं शक्यमिति चेत्, ब्रूमः—अत्र "प्रादुर्भावगणो मुख्यः" (९।८४) इत्यत्र स्थितो मुख्यशब्दो विष्वक्सेनसंहितोक्तो मुख्यशब्दश्च न समानार्थकः, यतो विष्वक्सेनसंहितायाम्—

प्रादुर्भावो द्विधा प्रोक्तो गौणमुख्यविभेदतः।
मदिच्छया हि गौणत्वं मनुष्यत्वमिवेच्छया॥
[5]सूकरत्वं च मत्स्यत्वं नारसिंहत्वमेव च।
यथा वा दण्डकारण्ये कुब्जाम्रत्वं ममेच्छया॥
यथा वाजिमुखत्वं च मम संकल्पतो[6] भवेत्।
सेनापते ममेच्छातो गौणत्वं न च कर्मणा॥
प्रादुर्भावास्तु मुख्या ये मदंशत्वाद्विशेषतः।
अजहत्स्वभावा[7]विभवदिव्याः प्राकृतविग्रहाः॥
दीपाद् दीप[8] इवोत्पन्ना जगतो रक्षणाय ते।
अर्च्या एव हि सेनेश अनर्च्यादितरान् विदुः॥
अनर्च्यानपि वक्ष्यामि प्रादुर्भावान् यथाक्रमम्।
चतुर्मुखस्तु भगवान् सृष्टिकार्ये नियोजितः॥
शङ्कराख्यो महारुद्रः संहारे विनियोजितः।
मोहनाख्यस्तथा बुद्धो व्यासश्चैव महानृषिः॥
वेदानां व्यसने तत्र देवेन विनियोजितः।
अर्जुनो धन्विनां श्रेष्ठो जामदग्न्यो महानृषिः॥

---

१. नार—वक० वख० अ० उ०। २. भरण—अ० उ०। ३. 'इति' नास्ति—अ०।
४. 'इति' नास्ति—अ०। ५. शूकर—मु०। ६. ल्पतोऽभवत्—मु०। ७. वा विभवा—मु०।
८. दीपा—मु०।

श्रीपतिर्दिव्यदेहोऽथ कान्तात्माऽमृतधारकः ।
[1]राहुजित् कालनेमिघ्नः पारिजातहरो महान् ॥ ८० ॥

वसूनां पावकश्चापि वित्तेशश्च तथैव च ।
एवमाद्यां[2]स्तु सेनेश प्रादुर्भावैरधिष्ठिताः ॥
जीवात्मानः सर्वे एते नोपा[3]स्तिर्वैष्णवी हि सा ।
आविष्टमात्रास्ते सर्वे कार्यार्थममितद्युते ॥
अनर्च्याः सर्व एवैते विरुद्धत्वान्महामते ।
अहङ्कृतियुताश्चैवं[4] जीवमिश्रा ह्य[5]धिष्ठिताः ॥
(तत्त्व०, पृ० १३०–१३२)

इत्यादिभिर्मुख्यः साक्षादवतारः, गौणस्त्वावेशावतार इति प्रतिपादितम् । अत्र तु साक्षादवतारानावेशावतारांश्च सह पठित्वा प्रादुर्भावगणो मुख्य इत्युभयेषामपि मुख्यप्रादुर्भावत्वप्रतिपादनादुभयसाधारणप्रसिद्धत्वमेव मुख्यशब्दार्थः, न तु साक्षादवतारत्वमिति बोध्यम् ।

किञ्च, "प्रादुर्भावगणो मुख्य इत्युक्तस्ते समासतः" (९।८४) इत्यत्र प्रादुर्भावशब्देन मुख्यप्रादुर्भावा गौणप्रादुर्भावाश्च यथा संगृहीताः, तथा प्रादुर्भावान्तराण्यपि संगृहीतानि बोध्यानि, त्रिविक्रमादीनां प्रादुर्भावान्तरत्वात् । प्रादुर्भावान्तरं नाम तत्तदवताराणामवान्तरभेदाः । तथा च पौष्क[6]रे—

स्वभावमजहच्छश्वदाकारान्तरमाकृतेः ।
यत्तं[7]दंशसमुद्भूतं प्रादुर्भावान्तरं तु तत् ॥ इति । (३६।२०१–२०२)

कण्ठरवेण च प्रतिपादितास्तत्रैव—

तथा वामननाथेन खर्वमूर्तिधरेण च ।
स्नातकब्रह्मचारीयलाञ्छनैर्लाञ्छि[8]तेन च ॥
तस्य रूपान्तरेणैव सुखानां सुखदेन च ।
त्रिविक्रमाख्यसंज्ञेन त्रैलोक्याक्रान्तमूर्तिना ॥ (३६।१९६–१९८)

इत्यादिभिः । विष्वक्सेनसंहितायां चैवमेवोक्तम्—

पूर्वोत्पन्नाद् वैभवीयात् प्रादुर्भू[9]ता महेश्वराः ।
प्रादुर्भावान्तरान् विद्धि तान् गणेश्वर मुख्यतः ॥
उपेन्द्राच्च यथा [10]मुख्यात् त्रिविक्रमतनुर्हरिः । (तत्त्व०, पृ० १३५)

---

१. काल–अ० । २. माद्यैस्तु–मु० । ३. नोपास्या वैष्णवैः सदा–मु० । ४. श्चेमे–मु० । ५. ह्यधि–मु० । ६. 'पौष्करे' नास्ति–अ० । ७. यत्तत्त्वमंशसंभूतं–मु० । ८. भूषितेन–मु० । ९. भूतो महेश्वरः–मु० । १०. मुख्या–म० ।

लोकनाथस्तु शान्तात्मा दत्तात्रेयो महाप्रभुः[1] ।
न्यग्रोधशायी भगवानेकशृङ्गतनुस्ततः ॥ ८१ ॥
देवो वामनदेहस्तु सर्वव्यापी[2] त्रिविक्रमः ।
नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च ॥ ८२ ॥

इत्यादिभिः । लक्ष्मीतन्त्राहिर्बुध्न्यसंहि(ताया?तयो)स्त्वावेशावताराणां प्रादुर्भावान्तरत्व-मुक्तम्—

आविश्याविश्य कुरुते यत्र देवनरादिकम् ।
जगद्धितं जगन्नाथस्तज्ज्ञेयं विभवान्तरम् ॥ इति, (लक्ष्मी० ४।३०)
विभवान्तरसंज्ञं तद् यच्छक्त्यावेशसंभवम् । इति च । (अहि० ८।५१)

वस्तुतस्तु "प्रादुर्भावगणो मुख्य इत्युक्तस्ते समासतः" (९।८४) इति पद्मनाभादीनां मुख्यत्वोक्त्या तदन्येऽमुख्या विभवावतारा बहवः सन्तीति ज्ञायते । अत्र श्रीकृष्णस्य पारिजातहरशब्देनोक्तत्वात् तदनुक्तिर्न शङ्कनीया ।

ननु "नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च" (९।८२) इति कृष्णस्तूच्यत[3] एव, तदनुक्तिः केनोच्यत इति चेन्न, यतोऽत्र प्रतिपादितः कृष्णो न वसुदेवात्मजः, अपि तु धर्मात्मज इति बोध्यम् । तथा च पौष्करे—

धर्मात्मा भगवान् विष्णुः प्रादुर्भावं च शाश्वतम् ।
प्रादुर्भूतं हि वै यस्मान्नराद्यं कृष्णपश्चिमम् ॥ इति । (३६।२०७)

ननु चात्र केवलकृष्णशब्दस्योक्तत्वाद् वसुदेवपुत्रः[4] प्रसिद्धः कृष्ण एव स्यादिति चेन्न, साहचर्यविरोधाद् वक्ष्यमाणध्यानविरोधाच्च । किञ्च, अत्रानन्तस्योक्तत्वाद् बलभद्रलक्ष्मणावप्युक्तप्रायाविति बोध्यम्,

अनन्तः प्रथमं रूपं लक्ष्मणश्च ततः परम् ।
बलभद्रस्तृतीयस्तु कलौ कश्चिद् भविष्यति ॥

इति प्रसिद्धेः ।

ननु भगवदवतारमध्ये शेषावतारयोर्बलभद्रलक्ष्मणयोः कथनं कस्यापेक्षितमिति चेन्न, शेषस्यैव भगवतारत्वात् । अत एवात्र—"पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः" (९।७७) इत्यनन्तस्याप्युक्तत्वाच्च ।

ननु तर्हि मत्स्याद्यवतारदशकेऽप्यन्तर्भूतस्य[5] बलभद्रस्यास्मिन् पद्मनाभाद्यष्टत्रिंशावतारगणे कथमप्रतिपादनमिति[6] चेत्, सत्यम् । यथा श्रीरामस्योक्त्या लक्ष्मणाद्या-

१. प्रभः–अ० उ० । २. प्यति–अ० । ३. स्त्वच्युत–अ० । ४. वासुदेवपुत्रप्रसिद्धः–अ० । ५. हितस्य–म० । ६. मिति प्रति–अ० ।

ज्वलत्परशुधृग्रामो रामश्चान्यो धनुर्धरः ।
वेदविद् भगवान् कल्की पातालशयनः प्रभुः ॥ ८३ ॥

प्रादुर्भावगणो मुख्य इत्युक्तस्ते समासतः ।
शक्तिसंघात्[1] प्रधानो यः शक्तिसंघः स उच्यते ॥ ८४ ॥

स्त्रयोऽप्युक्तप्रायाः, तथा पारिजातहरस्योक्त्या तद्भ्रातृपुत्रपौत्राः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धा अप्युक्तप्राया इति बोध्यम् ।

ननु किं प्रद्युम्नानिरुद्धयोरपि भगवदवतारान्तर्गतत्वमङ्गीक्रियत इति चेत्, निःसंशयमङ्गीक्रियते । ननु तर्हि पुराणार्थानभिज्ञोऽसि, श्रीभागवते दशमस्कन्धे—

कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग् रुद्रमन्युना ।
देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत ॥
(१०।५५।१)

इत्यत्र मुनिभावप्रकाशिकाख्यायां व्याख्यायाम्—"वासुदेवांश इति विशेषणम् । अनेन भाविजन्मप्रभृति संबन्ध उक्तः । न(नु ?तु) चतुर्व्यूहेष्वयं तृतीयव्यूह उच्यते, नामसाम्यं तु तद्विभूतित्वनिबन्धनमिति विवेकः । वासुदेवाधिष्ठितचित्तप्र(भा ?प्र)वत्वाद् वासुदेवांशस्तत्सृष्टिहेतुत्वाद्वा" इति व्याख्यातम् । अतः प्रद्युम्नानिरुद्धयोर्भगवदवतारत्वं न संभवतीति चेन्न, यतस्तद्व्याख्यातृभिः सहस्रनामभाष्यादिकं कदापि न दृष्टम् । भगवच्छास्त्रमपि न श्रुतम् । सहस्रनामभाष्ये हि—"[2]कृष्णत्वेऽप्यजहद्वासुदेवादिचतुर्मूर्तित्वादिति विभवेऽपि तन्मूलं[3]व्यूहं प्रत्यभिज्ञापयति—चतुर्मूर्तिः। बलभद्रवासुदेवप्रद्युम्नानिरुद्धाश्चतस्रो मूर्तयो यदुकुलेऽप्यस्येति व्यूहमूलेन निरुपाधिकपररूपेण देवक्यामवततार" (पृ० ६५८–६५९) इति, "अत्रापि तथैव समस्तव्यस्तषाड्गुण्यावस्थत्वाच्चतुर्व्यूहः" (पृ० ६६०) इति च प्रद्युम्नानिरुद्धयोरपि भगवदवतारत्वमसकृदुक्तम् । भगवच्छास्त्रेऽपि लक्ष्मीतन्त्रे—

अवतारो हि यो विष्णोश्चतुर्धा संभविष्यति ।
मधुरायामहं व्यक्तिं चतुर्धैष्यामि वै तथा ॥
रेवती रुक्मिणी चैव रतिर्नाम्ना तथाप्युषा[4] । (८।४५–४६)

इति बलभद्रादीनां चतुर्णामपि भगवदवतारत्वं सुस्पष्टं प्रतिपादितम् । अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या ॥ ७७–८४ ॥

---

१. संघ–मु० अटी० । २. 'कृष्णत्वेऽप्यजहद्वासुदेवादिचतुर्मूर्तित्वादिति' न दृश्यते–मु० । ३. तन्मूलं–अ० । ४. ह्युषा–मु० ।

लक्ष्मीः पुष्टिर्दया[1] निद्रा क्षमा कान्तिः सरस्वती ।
धृतिर्मैत्री[2] रतिस्तुष्टिर्मतिर्द्वादशमी[3] स्मृता ॥ ८५ ॥
प्रधानभूतांश्छारीरानलङ्कारान्निबोध मे ।
किरीटः कौस्तुभो भोढ्यः[4] श्रीवत्सोऽमृतलक्षणः ॥ ८६ ॥
वनमालेति गरुडः प्रधानान् हेतिकान् शृणु ।
चक्रं शङ्खो गदा पद्मं लाङ्गलं मुसलं शरः ॥ ८७ ॥
शार्ङ्गं च खड्गखेटौ तु दण्डः परशुरीतिहा[5] ।
पाशाङ्कुशौ मुद्गरश्च वज्रः शक्तिसमन्वितः ॥ ८८ ॥

अथ प्रधानं देवीवर्गमाह—शक्तीति सार्धेन । शक्तिसंघादिति जात्येकवचनम् । यतः [6]श्र्यादिदेवीनामेकद्विकचतुष्कषट्काष्टकद्विषट्कभेदैः षोढा संघान् वक्ष्यति द्वादशे परिच्छेदे । अयमपि संघो वक्ष्यमाणान्तर्गत एव । अत्रापि मुख्यतमत्वात् प्रतिपादितः । पद्मनाभादीनां [7]प्रसिद्धा देव्यस्त्वीश्वरलक्ष्मीतन्त्रयोः प्रतिपादिताः । तथाहि—

धीस्तारा वारुणी शक्तिः पद्मा विद्या तथैव च ।
[8]संख्या विश्वा खगा भूर्गौर्लक्ष्मीर्वागीश्वरी तथा ॥
अमृता धरणी च्छाया नारसिंही [9]तथा सुधा ।
श्रीः कान्तिर्विश्व[10]कामा मा सत्या [11]शान्तिः सरोरुहा ॥
माया पद्मासना खर्वा विक्रान्तिर्नरसंभवा ।
नारायणी हरिप्रीतिर्गान्धारी काश्यपी तथा ॥
वैदेही वेदविद्या च पद्मिनी नागशायिनी ।
त्रिंशच्चाष्टाविमा[12] देव्यः पद्मनाभादिशक्तयः ॥ इति॥८४–८५॥
(लक्ष्मी० २०।४५–४८, ई० सं० ७।३३–३७)

अथ किरीटादिभूषणप्रधानचतुष्टयं वाहनं चक्रादिसप्तदशप्रधानायुधानि चोक्त्वा एषामङ्गमन्त्रैः सह भगवद्विग्रहे संलीनत्वमाह—प्रधानभूता इति चतुर्भिः । ईतिहन्तेति ईतिहेति परशोर्विशेषणम् । अत्र विशेष्यभ्रान्त्या पारमेश्वरव्याख्यातृभिर्विमानदेवताकथनप्रकरणे चक्रादिशक्त्यन्ताष्टायुधन्यास इत्युक्तम्, सहस्रकलशाभिषेकप्रकरणेऽपि—

चक्रादिवज्रपर्यन्तमस्त्रषोडशकं यजेत् ॥
कोणस्थेषु चतुष्केषु न्यसेच्छक्तिं ततः परम् । (१४।४४७–४४८)

---

१. शक्ती–अ० । २. भाम्यः–मु० अटी० । ३. शराः–अ० उ० । ४. तौ–उ० । ५. रीरितः–मु० अटी० । ६. श्रियादि–म० । ७. 'प्रसिद्धा' नास्ति–म० । ८. सांख्या–अ० म० । ९. सुधा तथा–ल० । १०. वीरा कामा च–अ० म० । ११. कान्तिः–ल० । १२. मदंशका इमा देव्यो विज्ञेयाः कादिशक्तयः–ल० ।

इत्येतद् देवताचक्रमङ्गमन्त्रगणान्वितम् ।
विग्रहे देवदेवस्य संलीनमवतिष्ठते ॥ ८९ ॥
वक्ष्ये [1]भवोपकरणं गीर्वाणगणमुत्तमम् ।
नानाविभवमूर्तीनां यो[2]ऽवतिष्ठेत शासने ॥ ९० ॥
कालो वियन्नियन्ता च शास्त्रं नानाङ्गलक्षणम् ।
विद्याधिपतयश्चैव स[3]रुद्रः स[4]गणः शिवः ॥ ९१ ॥
प्रजापतिसमूहश्च इन्द्रः सपरिवारकः ।
मुनयः सप्त पूर्वेऽन्ये ग्रहास्तारादिकैर्वृताः ॥ ९२ ॥
जीमूताश्चाखिला नागास्त्वप्सरोगण उत्तमः ।
ओषध्यश्चैव पशवो यज्ञाः साङ्गाखिलाश्च ये ॥ ९३ ॥
विद्या चैवं[5] पराविद्या पावकश्चैव मारुतः ।
चन्द्रार्कौ वारिवसुधे इत्युक्तममलेक्षण ॥ ९४ ॥
चतुर्विंशतिसंख्यं च [7]भवोपकरणं महत् ।
[8]भवः साक्षात् प्रधानं तु व्यापको जडलक्षणः ॥ ९५ ॥
मन्त्रमन्त्रेश्वरन्यासात् सोऽपि पूज्यत्वमेति च ।
इत्येवमादि सर्वेषां [9]भविनां परमेश्वरः ॥ ९६ ॥
स्थितोऽन्तर्यामिभावेन रूपमासाद्य निष्कलम् ।
आप्तकामः स भगवान् स्वव्यापारवशेन तु ॥ ९७ ॥

इति श्लोकव्याख्यावसरे पूर्वोक्तभ्रान्तिजल्पितस्य दृढीकरणार्थं चक्रादिवज्रपर्यन्तमित्यत्रातद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरिति चोक्तम् ॥ ८६–८९ ॥

अथ भवोपकरणदेवतावर्गमाह—वक्ष्य इत्यादिभिः । [10]सरुद्रः सगण इति च शिवस्य विशेषणम् । रुद्रैरेकादशभिः सह वर्तत इति तथोक्तः ॥९०–९५ ॥

एवं भवोपकरणदेवता[11] विवृत्य भवस्यापि पूज्यत्वमाह—भव इति। भवत्यस्मात् सर्वमिति भवः, प्रकृतिरित्यर्थः । प्रधानं [12]प्रधानशब्दवाच्यः । एतद्भवोपकरणादीनां सर्वेषामपि प्रकृतियुक्तानामन्तर्यामिभावेन स्थितोऽपि स्वयं पूर्णकामोऽपि भक्तानुग्रहार्थं

---

१. भावो–बक० मु० । २. वा तिष्ठेत–अटी०, वतिष्ठति–उ० । ३. समुद्रः–मु० अ० उ० । ४. सगणाः शिवाः–मु० अटी० अ० । ५. स्तु–अ० उ० । ६. चैवा–मु० अटी० । ७. भावो–मु० । ८. भावः–उ० । ९. हविनां–अ० । १०. समुद्रः–अ० । ११. देवतां–अ० । १२. तथाशब्द–अ० ।

स्वां शक्तिमवलम्ब्यास्ते पद्मनाभात्मना पुनः ।
धराम्बुहुतभुग्वातमूलनालदलोदरे ॥ ९८ ॥
चतुस्तत्त्वमये पद्मे गगनैकार्णवोदरे[1] ।
मानसेऽनन्तशयने दिव्यबोधतनुर्विभुः ॥ ९९ ॥
सहस्रांशुसहस्राभ उत्तानस्थो[2] हि लीलया ।
ततो विविधरत्नाभे तदीये[3] नाभिपुष्करे ॥१००॥
प्रोद्वहंस्तु स्ववीर्येण विद्यां सामर्थ्यविग्रहाम् ।
मूर्तैर्ध्वजादिकैः सर्वैरावृतस्तत्परायणैः ॥१०१॥
अनन्तचेष्टस्य विभोरित्येवं त्वीश्वरात्मनः ।
भोगापवर्गदं रूपं शान्तव्यक्तं च वैभवम् ॥१०२॥
प्राग्वत् तुर्यपदावस्थं स्मरेद्धृत्कमलाम्बरे ।
तदधः कर्णिकामध्ये त्वभिजातोपलद्युतिम्[4] ॥१०३॥

पद्मनाभाख्यविभवरूपमङ्गीकरोतीत्याह—इत्येवमिति द्वाभ्याम् । निष्कलं निराकारमित्यर्थः ॥ ९५–९८ ॥

तत्पद्मनाभरूपं विशिनष्टि—धरेति सार्धैस्त्रिभिः । धराम्बुहुतभुग्वातमूलनालदलोदरे चतुस्तत्त्वमये पृथिवीतत्त्वस्य मूलत्वम्, अप्तत्त्वस्य नालत्वम्, तेजस्तत्त्वस्य दलत्वम्, वायुतत्त्वस्य कमलोदरत्वं च क्रमेण ज्ञेयम् । गगनैकार्णवोदरे आकाशतत्त्वात्मकसमुद्रमध्य इत्यर्थः । मानसेऽनन्तशयने मनस्तत्त्वात्मकनागपर्यङ्क इत्यर्थः । दिव्यबोधतनुः बुद्धितत्त्वात्मकदिव्यशरीर इत्यर्थः । उत्तानस्थः उत्तानशायीत्यर्थः । तदीये नाभिपुष्करे प्रकृतितत्त्वात्मकनाभिपद्म इत्यर्थः । विद्यां चतुर्मुखमूर्तिरूपां वेदविद्यामित्यर्थः । तस्य विद्यादेहत्वं प्रतिपादितं खलु जयाख्यादिषु—

तन्मध्ये मानवो ब्रह्मा मया सृष्टश्चतुर्मुखः ।
जगतां प्रभवस्तस्माद् विद्यादेहः सनातनः ॥ (२।२७)

इति ॥ ९८–१०१ ॥

एवं पद्मनाभरूपस्य हृदयकमले ध्यानस्थानमाह—अनन्तेति सार्धेन । शान्तं निराकारम्, अन्तर्यामिभावेन स्थितमिति यावत् । व्यक्तं साकारमित्यर्थः । साकारत्वेन निराकारत्वेनोभयथापि ध्येयमिति भावः । प्राग्वत् तुर्यपदावस्थं द्वितीयपरिच्छेदोक्तरीत्या (२।६९) नादावसानगगनस्थितमित्यर्थः ॥ १०२–१०३ ॥

---

१. गगने चा—अ० । २. स्थोऽभि—अ० । ३. मायीये—बक० बख० अ० उ० ।
४. द्युतिः—बक० बख० ।

दिशो दश द्योतयन्तं नानागात्ररुहैश्चितम् ।
सौम्यं द्विरष्टव[1]र्षं च राजीवदललोचनम् ॥१०४॥
[2]भचक्रचक्र[3]भृद्देवं गदादेहं तथैव च ।
शक्तिमाधारसंज्ञां च प्रोद्वहन्तं स्मरेद् ध्रुवम् ॥१०५॥
स्थितो यः स्तम्भभूतस्तु अस्मिन् वै विश्वमन्दिरे ।
नभोऽनिलात्मना चैव भूमिकाभिन्नलक्षणे[4] ॥१०६॥
प्रागादावीशकोणान्तं संस्मरेत् कर्णिकोपरि ।
द्विषट्कं यदनन्ताद्यं सरश्शाग्य्यन्तमग्निगम् ॥१०७॥
तत्संख्यं केसरोर्ध्वस्थं तद्वत् कूर्मादिकं न्यसेत् ।
न्यग्रोधशायिपर्यन्तममृताधारमण्डले ॥१०८॥
सूर्यच[5]क्रसमारूढं दलभूमिगतं ततः ।
पातालशायिपर्यन्तमेकशृङ्गादिकं हि यत् ॥१०९॥

तदधः कर्णिकामध्ये सुषुप्तिस्थाने ध्रुवस्य ध्यानप्रकारमाह—तदध इति सार्धैस्त्रिभिः । नायं प्रसिद्धोऽर्वाचीनो ध्रुव इति मन्तव्यः । अपि तु तस्यापि ध्रुवत्वप्रदः साक्षाद् भगवद्रूपोऽन्य इति बोध्यः । तथा च सहस्रनामभाष्ये—"अतिशयेन धीयते [6]बद्ध्यतेऽस्मिन् ज्योतिश्चक्रमिति व्यवसायः,''''नक्षत्राधारव्योमशरीरत्वात् । अतो हि "गगनमूर्तये" (सा० २३।४४) इति मन्त्रवर्णः । "भचक्रचक्रभृद्देवम्" (सा० ९।१०५) इति हि ध्यानम् । सर्वमस्मिन् संतिष्ठते समाप्यत इति संस्थानः । स एव "परमपदप्रा[7]प्तिहेतुः" (सा० २३।४५) इति[8] मन्त्रवर्णात् स्थानदः । स खलु तुङ्गपदप्रदानेनार्वाचीनं ध्रुवमपि ध्रुवीचकार, अतो ध्रुवः" (पृ० ३६४–३६६) इति ॥ १०३–१०६ ॥

तस्मिन्नेव स्थाने प्रागादीशानान्तमनन्तादिद्वादशमूर्तिध्यानं कार्यमित्याह—प्रागादाविति । अग्निगम् अग्निमण्डलस्थमित्यर्थः ॥ १०७ ॥

केसरस्थाने स्वप्नपदे कूर्मादिद्वादशमूर्तिध्यानं कार्यमित्याह—तत्संख्यमिति । अमृताधारमण्डले चन्द्रमण्डल इत्यर्थः ॥ १०८ ॥

दलस्थाने जाग्रत्पदे एकशृङ्गादिद्वादशमूर्तिध्यानं कार्यमित्याह—सूर्येति । एषामनन्तादिषट्त्रिंशद्देवानां ध्यानप्रकारा वक्ष्यमाणा ज्ञेयाः ॥ १०९ ॥

---

१. शीर्ष–अ० । २. भू–अ०, भा–मु० । ३. युग्–मु० अटी०, धृग्–अ० उ० । ४. लक्षणः–अ० । ५. चन्द्र–मु० अटी० बक० बख० । ६. यद्यस्मिन्–अ० । ७. प्राप्तिरिति–अ० म० । ८. हेतवे इति–म० ।

न्यस्यैवममृतोत्थैस्तु भोगैरभ्यर्च्य मानसैः ।
यथावद् ध्यानयोगेन प्राग्वत् सृष्टिक्रमेण तु ॥११०॥
पुनः संहृतियोगेन पातालशयनात् तु वै ।
यावद् गगनशाय्यन्तमर्चनीयं फलाप्तये ॥१११॥
य[1] उक्तः समुदायेऽस्मिन् हृद्यागे देवतागणः ।
यजेद् भिन्नक्रमेणैव विधिनानेन[2] तं पुनः ॥११२॥
त्रिकं यद्[3] द्विषट्कानां[3] त्रिस्थानस्थं प्रकाशितम् ।
पृथक् पृथक्[4] तदेकैकं न्यस्य न्यस्य यजेत् क्रमात् ॥११३॥
प्रतिद्वादशकस्याद्यं[5] प्रागुक्तेन क्रमेण यत्[6] ।
तं[7] निष्कलात्मना पूर्वमिष्ट्वा वै कर्णिकोदरे ॥११४॥
समुत्थाप्य ततो मध्यात् तमेव सकलात्मना ।
न्यसेदाधारभूतं च सर्वत्र[8] कमलादधः ॥११५॥

पद्मनाभाद्यष्टत्रिंशद्देवानामपि सृष्टिक्रमेण संहारक्रमेण च मानसार्चनं कार्यमित्याह—न्यस्येति द्वाभ्याम् । गगनशाय्यन्तं पद्मनाभान्तमित्यर्थः ॥ ११०–१११ ॥

अनन्तादिद्वादशकस्य कूर्मादिद्वादशकस्य मीनादिद्वादशकस्य च प्रत्येकं प्रत्येकमभ्यर्चनं कुर्यादित्याह—य इति द्वाभ्याम् ॥११२–११३॥

प्रत्येकार्चनप्रकारमाह—प्रतिद्वादशकस्येत्यारभ्य दिव्यैर्भोगैस्तु पूर्ववदित्यन्तम् । प्रतिद्वादशकस्याद्यं यद् अनन्तः कूर्मो मीनश्चेत्यर्थः । द्वितीयं शक्त्यात्मानं वराहं वामनं चेत्यर्थः । तृतीयं मधुसूदनं नारसिंहं त्रिविक्रमं चेत्यर्थः । अष्टकं विद्यादेवाष्टकं श्रीपेत्याद्यष्टकं[9] नराद्यष्टकं चेत्यर्थः । द्वादशाख्यम् एकार्णवशायिनं न्यग्रोधशायिनं पातालशायिनं चेत्यर्थः ।

तथा च प्रयोगः—अनन्तादिद्वादशकार्चनप्रकरणे प्रथममनन्तं स्वहृदयकमलकर्णिकामध्ये निराकारं ध्यात्वाऽभ्यर्च्य, पुनस्तमेव तस्मात् स्थानादुत्थाप्य, हृदयकमलाधस्थाद् आधारभूतं साकारं ध्यात्वाऽभ्यर्च्य, तमेव हृत्कमलदलाग्रेऽप्यभ्यर्च्य, कर्णिकामध्ये

१. उक्ते हि–अ० । २. तेन–उ० । ३. काणां–त्रख० अ० उ० । ४. ग् यदे–बख०, क् सदै–उ० । ५. स्याद्यः–मु० अटी० । ६. यः–मु० अटी० । ७. तं नि–मु० अटी० उ० । ८. दयः–बक० उ० । ९. श्रीपद्मा–म० ।

तमेवार्घ्यादिनाऽभ्यर्च्य कमलच्छदकोटिगम् ।
द्वितीयं कर्णिकामध्ये तदग्रे केसरोर्ध्वगम् ॥११६॥
ध्यात्वा न्यस्य तृतीयं तु ततः पत्राष्टकेऽष्टकम् ।
द्वादशाख्यं[1] हि सर्वत्र गगने पद्मनाभवत् ॥११७॥
भवोपकरणीयाभिर्देवताभिः समावृतम्[2] ।
यस्त्वङ्गदेवतासंघः सर्वः स कमलाद् बहिः ॥११८॥
न्यस्यैवमर्चनं कुर्याद् दिव्यैर्भोगैस्तु पूर्ववत् ।
मूर्तौ[3] मण्डलमध्ये च बहिरग्नौ जलाशये ॥११९॥
स्वमन्त्रेणाम्बरस्थस्य मूर्तं[4] स्रक्चन्दनादिकम् ।
दातव्यं कर्णिकामध्ये न्यस्तमन्त्रस्य मूर्धनि ॥१२०॥
प्रतिबिम्बति तद् यस्मात् तद् ब्रह्मद्वारदर्पणे ।
यस्य यस्य यदा यस्मिन्नाकारे रमते मनः ॥१२१॥

शक्त्यात्मानं तत्पुरतः केसरस्थाने मधुसूदनं दलाष्टके विद्याधिदेवाद्यष्टकं चाभ्यर्च्य, नादावसानगगने पद्मनाभवत् साकारं निराकारं चैकार्णवशायिनं ध्यात्वाऽभ्यर्च्य, लक्ष्म्यादिशक्तिकिरीटादिभूषणचक्रादिलाञ्छनानि कालादिभवोपकरणदेवताश्च कमलाद् बहिरभ्यर्चयेत् । कूर्मादिद्वादशकार्चनप्रकरणे त्वनन्तस्थाने कूर्मम्, शक्त्यात्मस्थाने वराहम्, मधुसूदनस्थाने नृसिंहम्, विद्याधिदेवाद्यष्टकस्थाने श्रीपत्याद्यष्टकम्, एकार्णवशायिस्थाने न्यग्रोधशायिनं चार्चयेत् । मीनादिद्वादशकार्चप्रकरणे तु कूर्मस्थाने मीनम्, वराहस्थाने वामनम्, नृसिंहस्थाने त्रिविक्रमम्, श्रीपत्याद्यष्टकस्थाने नराद्यष्टकम्, न्यग्रोधशायिस्थाने पातालशायिनं चार्चयेत् ॥ ११४–११९ ॥

एवं मानसार्चनमुक्त्वा बिम्बादिबाह्यार्चनेऽप्येवमेव देवतान्यासक्रमः । किन्तु गगनस्थमूर्तेरर्चनार्थं पुष्पचन्दनादिकं कर्णिकामध्यस्थितमूर्तेर्मूर्ध्न्येव समर्पयेत् । यतः कर्णिकामध्यस्थितमूर्तिब्रह्मरन्ध्रदर्पणे गगनस्थमूर्तिः प्रतिबिम्बतीत्याह—मूर्ताविति द्वाभ्याम् । मूर्तौ बिम्बे, मण्डलमध्ये वक्ष्यमाणमण्डले, अग्नौ प्रतिष्ठितेऽग्नौ, जलाशये तीर्थमध्य इत्यर्थः । मानसिकत्वनिवृत्त्यर्थं मूर्तमिति स्रक्चन्दनादिकस्य विशेषणमुक्तम् । मूर्तं बाह्येन्द्रियविषयमित्यर्थः ॥ ११९–१२१ ॥

१. शाख्या–मु० अटी० बक० । २. वृतः–मु० अटी० । ३. मूर्तेर्म–बक० अ० उ० । ४. वा–बक० बख० अ० उ० । ५. पुनः–उ० । ६. नादि–अ० । ७. मध्ये–म० ।

भोगाप्तये वा मोक्षार्थं[6] तं तं मध्येऽर्चयेत् तदा ।
तदुद्देशेऽर्चनं कुर्यात् तत्स्थानप्रच्युतस्य वा ॥१२२ ॥
नानासिद्धिप्रदानाच्च सह संहारमूर्तिना ।
एवमेवाङ्गमन्त्राणामर्चनादीप्सितं लभेत् ॥१२३
तत्रायं हि विशेषः स्याद् विन्यासे तन्निबोध मे ।
भूलोकाखिलसिद्धीनामाप्तये तावदुच्यते ॥१२४॥
प्राग्वद् द्वादशकादन्त्यादेकशृङ्गमथो[2] यजेत् ।
श्र्याख्यं[3] यदङ्गमन्त्रं तु कर्णिकायां न्यसेत् ततः ॥१२५॥
अथ केसरकोटिस्थं स्मरेत् तत्पुरतोऽपरम् ।
पश्चात् क्रमाद्[4] दलान्तस्थं दलाग्रस्थं द्विरष्टकम् ॥१२६॥
पातालशायिनं मध्ये मन्त्रस्योपरि पूर्ववत् ।
ध्यायेन्निश्शेषपातालसिद्धीनामालयं परम्[5] ॥१२७॥
तच्छक्त्यनुगृहीतस्तु मन्त्रेशः कर्णिकागतः ।
समस्तसिद्धिदाने स्यादाश्रितस्याङ्गसंज्ञकः ॥१२८॥

यस्य साधकस्य यस्मिन् भगवदवतारे विशेषेणाभिरुचिः, तेन स एव भगवान् प्राधान्येन कर्णिकामध्ये तदूर्ध्वगगनस्थितार्णवशाय्याद्यन्यतममूर्तिना सह पूजनीयः, तस्य स्थाने तु पूर्वं कर्णिकामध्येऽर्चनीयत्वेन य उक्तः, स पूजनीय इत्याह—यस्येति (सार्ध ?) द्वाभ्याम् । तत्स्थानप्रच्युतस्य कर्णिकामध्यादुत्थापितस्येत्यर्थः । संहारमूर्तिना एकार्णवशायिन्यग्रोधशायिपातालशाय्यन्यतमेनेत्यर्थः ॥ १२१–१२३ ॥

अथ भूलोक एव पातालाद्यखिललोकभोगसिद्ध्यर्थं श्रियादिशक्तिकिरीटादिभूषणचक्रादिलाञ्छनसंज्ञाङ्गमन्त्रानेवार्चयेत्, तदानीं देवताविन्यासप्रकार उच्यत इ(त्युत आ ? त्या)ह—एवमिति सार्धेन ॥ १२३–१२४ ॥

प्रथमं पाताललोकसिद्ध्यर्थं लक्ष्मीमन्त्रस्य प्राधान्येनार्चनक्रममाह—प्राग्वदिति चतुर्भिः । अन्त्याद् द्वादशकाद् एकशृङ्गादिद्वादशकादित्यर्थः । एकशृङ्गं मीनमित्यर्थः । श्रियाख्यं लक्ष्मीसंज्ञमित्यर्थः । अपरं पुष्टिमन्त्रमित्यर्थः । पश्चात् क्रमाद्दलान्तस्थं द्विरष्टकं निद्रादिदशकं किरीटादिचतुष्टयं गरु(डश्च ? डं चक्रं) चाहत्य द्विरष्टकं बोध्यम् । दलाग्रस्थं द्विरष्टकं तु शङ्खादिशक्त्यन्तं ज्ञेयम् ॥ १२५–१२८ ॥

१. च—अ० उ० । २. मथो जयेत्—ब्रख० उ० । ३. श्राव्यं—मु० अटी०, श्र्याख्ये— अ० । ४. दलात् क्रमान्तस्थं—मु० अटी० । ५. महत्—ब्रख० । ६. सिद्धिदमर्थं—अ० ।

एवमेव भुवर्लोकसिद्धीनां प्राप्तये सदा[1]।
स्मर्य ऊर्ध्वे सरश्शायी त्वनन्तः कमलादधः ॥१२९॥
यजेद् गगनसिद्धीनामशेषाणामथाप्तये ।
खस्थं न्यग्रोधशयनं कूर्मं कमलमूलगम् ॥१३०॥
एतेषामपि सञ्चारं[2] नानासिद्धिव्यपेक्षया ।
प्रधानमन्त्रवत् कुर्यात् प्राग्वत् सर्वत्र सर्वदा ॥१३१॥
एवमाद्यैस्तु[3] विधिवद् [4]भोगैर्नानाविधोत्थितैः ।
यः स्थितस्त्रिविधे सर्गे विभवः पारमेश्वरः[5] ॥१३२॥
पौष्कराख्ये च वाराहे प्राजापत्ये महामते ।
सूक्ष्मत्वेन च निश्शेषं प्रत्येकस्मिन्[6] हि वर्तते ॥१३३॥
समाश्रित्य बृहत्त्वं च तृतीयांशेन तिष्ठति ।
यथोक्तक्रमयोगेन युक्तः[7] सर्गत्रये तु वै ॥१३४॥

अथ भुवर्लोकसिद्ध्यर्थमर्चने विशेषमाह—एवमिति। सरश्शायी एकार्णवशय इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

सुवर्लोकादीनां सिद्ध्यर्थमर्चने विशेषमाह—यजेदिति। स्वस्थं कर्णिकामध्यगत-लक्ष्मीयन्त्रस्योपरि स्थितमित्यर्थः ॥ १३० ॥

एवं लक्ष्मीमन्त्रवत् पुष्पाद्यङ्गमन्त्राणामपि तत्तत्फलप्राप्तीच्छया प्राधान्येनार्चनं कुर्यादित्याह—एतेषामिति ॥ १३१ ॥

उक्तमर्थं निगमयति—एवमिति ॥ १३२ ॥

सर्गत्रयविवरणं तत्र सूक्ष्मस्थूलभेदेनावस्थानं चाह—पौष्करा(ख्य) इति सार्धेन। पौष्करे पाद्मकल्प इत्यर्थः। प्राजापत्ये ब्राह्मकल्प इत्यर्थः। यथा च श्रीभागवते—

पूर्वस्यादौ परार्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत्।
कल्पो यत्राऽभवद् ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः॥
तस्यैव चान्ते कल्पोऽभूद् यं पाद्ममभिचक्षते।
यद्धरेर्नाभिसरस आसील्लोकसरोरुहम्॥

---

१. तदा—उ०। २. संचारो—मु० अटी०। ३. मर्च्यै—बख०, मर्च्य—अ० उ०। ४. भेदैः—बख० अ० उ०। ५. पर—बक० बख० अ० उ०। ६. 'कस्मिन् ... भवोप' नास्ति—उ०। ७. उक्त—बक० बख०।

परिवारं समादाय भवोपकरणान्वितम् ।
दिक्पालकगणोपेतं समाक्रम्य तमेव हि ॥१३५॥
अभिधानाक्षरं पूर्वमरान्ताद्येन भूषितम् ।
योक्तव्यमभिधानेन पूर्वोद्दिष्टेन वर्त्मना ॥
पूजार्थं चैव सर्वेषां क्रमेऽस्मिन् सम्प्रकाशितम् ॥१३६॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां विभवदेवतान्तर्यागो नाम नवमः परिच्छेदः ॥

■

अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत ।
वाराह इति विख्यातो यत्रासीत् सूकरो हरिः ॥ (३।११।३४–३६)

इति ॥ १३३–१३४ ॥

पौष्करादिसर्गत्रयेऽपि पूर्वोक्तलक्ष्म्यादिपरिवारसंग्रहणमाह—यथोक्तेति ॥१३४–१३५॥

परिवाराणां बीजपिण्डयोरनुक्तत्वात् तत्तन्नाम्नामाद्याक्षरमेवानुस्वारान्वितं कृत्वा तत्तत्संज्ञामन्त्रैर्योज्यमित्याह—अभिधानेति सार्धेन । अरान्ताद्येन पूर्वोक्तवर्णचक्रे, अरान्तो विसर्गः, तदा(द्य?द्येन) अनुस्वारेणेत्यर्थः ॥ १३६ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
श्रीसात्वततन्त्रभाष्ये नवमः परिच्छेदः ॥

■

---

१. तत्पा–अ० । २. क्षरे–अ० उ० । ३. सद्दो–बक० बख० अ० उ० । ४. शिते–बख० अ० उ० ।

दशमः परिच्छेदः

नारद उवाच[1]

अथ लाङ्गलिना विप्राश्[2]चोदितः परमेश्वरः ।
यत् तदाकर्ण्यतामद्य चेतसा संयतेन तु ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच[1]

मण्डलेऽग्नौ बहिर्नाथ जलमध्ये त्वया[3]ऽर्चनम् ।
नोक्तं विभवदेवानां व्यक्तं कृत्वा तदादिश ॥ २ ॥

भगवानुवाच[1]

सुलक्षणे तु भूभागे समे पूर्वोक्ते[4]लक्षणे ।
तत्र मण्डलमालेख्यं सर्वेषामेकमर्चने ॥ ३ ॥
चतुरश्रं चतुर्द्वारं पीठाद्यवयवान्वितम् ।
[5]षट्त्रिंशद्दलपद्मेन मध्यतश्चाप्यलङ्कृतम् ॥ ४ ॥
वितानध्वजसंवीतं[6] किङ्किणीदर्पणान्वितम् ।
तोरणव्यजनच्छत्रचामरस्रग्विमण्डितम् ॥ ५ ॥
उक्तानुक्तमशेषं तु कृत्वा पूर्वोक्तलक्षणम् ।
ततस्तु करयोर्न्यस्य विग्रहे बीजमैश्वरम् ॥ ६ ॥

अथ दशमो व्याख्यास्यते । पुनः संकर्षणेन वासुदेवो यत्पृष्टस्तच्छृणुध्वमिति नारदो मुनीनाह—अथेति ॥ १ ॥

संकर्षणो बाह्ययागं पृच्छति—मण्डल इति ॥ २ ॥

वासुदेवस्तमुपदिशन् पूर्वं षट्त्रिंशद्दलपद्मगर्भितवक्ष्यमाणपीठाद्यवयवान्वित-मण्डललेखनं यागमण्डलालङ्करणं च कार्यमित्याह—सुलक्षण इति सार्धैस्त्रिभिः ॥ ३–६ ॥

---

१. 'उवाच' उ० विहाय कुत्रापि नास्ति । २. विप्रचो–बक० बख० । ३. त्वया–बख० । ४. त्तरप्लवे–अ० उ० ।-५. पङ्क्तित्रयं नास्ति–अ० । ६. सद्वस्त्र–बक० बख० उ० ।

समालम्ब्य च तादात्म्यम[1]भिमानं सुनिश्चलम् ।
बद्ध्वा च[2] वैभवीं मुद्रां स्पृशेत् सर्वा[3]ङ्गकं तया ॥ ७ ॥
समुच्चार्य धिया सर्वं मन्त्रग्रामं क्रमस्थितम् ।
सर्वदेवमयं देहमेवं स्मृत्वा[4] स्वकं पुरा ॥ ८ ॥
अन्तश्चक्र[5]निविष्टं तु संस्मरेद् भद्रपीठवत् ।
मण्डलं देवताधारं चक्रमन्त्रेण तद् यजेत् ॥ ९ ॥
[6]ततस्तु सर्वमन्त्राणां विन्यासं तत्र चेतसा[7] ।
समाचरेद् यथायोगं पुष्पदानपुरस्सरम् ॥ १० ॥
ध्रुवात्मा भगवान् मध्ये कर्णिकायाम[8]तः क्रमात् ।
दिक्चक्रमभिवीक्षन्तं प्रागुद्दलादादितो न्यसेत् ॥ ११ ॥
पातालशायिपर्यन्तमनन्ताद्यं महामते ।
न्यसेत् कमलबाह्ये तु ईशाद् वह्निपदावधि ॥ १२ ॥

अथ करयोर्देहे च विशाखयूपबीजन्यासम्, विशाखयूपोऽहमिति तत्तादात्म्यावलम्बनम्, वक्ष्यमाण(१०।४१-४४)वैभवमुद्रया सर्वाङ्गस्पर्शम्, पद्मनाभाद्यष्टत्रिंशन्मन्त्रोच्चारणपूर्वकं स्वदेहस्य सर्वमन्त्रमयत्वापादनं चाह—तत इति सार्धद्वाभ्याम् । ऐश्वरं बीजं विशाखयूपबीजमित्यर्थः । नमिति यावत् । विशाखयूपतादात्म्याश्रितस्य पुनः पद्मनाभादिसर्वदेवमयविग्रहत्वम् ।

आमूर्धतोऽङ्घ्रिपर्यन्तं तदीयं गात्रमण्डलम् ॥
रत्नवद् वैभवीयैस्तु बीजैर्भाव्यमलङ्कृतम् । (९।५८-५९)

इति पूर्वोक्तप्रकारेण बोध्यम् ॥ ६-८ ॥

मण्डले भद्रपीठवदन्तर्लीनचक्रराजस्मरणं तदर्चनं चाह—अन्तरिति ॥ ९ ॥

तस्मिन् मण्डले प्रत्येकं पुष्पदानपूर्वकं मन्त्राणां न्यासमाह—तत इति ॥१०॥

मण्डले ध्रुवादीनां स्थानान्याह—ध्रुवात्मेति प्रक्रम्य भासयन्तं निवेश्य चेत्यन्तम् । तथा च प्रयोगः—कर्णिकामध्ये ध्रुवं प्रागादिषट्त्रिंशद्दलेषु दिङ्मण्डलमभिवीक्षतोऽनन्तादीन् पातालशयनान्तान् षट्त्रिंशद् देवान् तद्बहिरैशान्यादिवायव्यन्तकोणचतुष्टये किरीटश्रीवत्सकौस्तुभवनमालाः, ततः पीठे उत्तरदिशि लक्ष्मीम्, दक्षिण-

---

१. महि—मु० अटी० । २. तु—बक० बख० । ३. ङ्गिकं तथा—बक० बख० उ० । ४. कृत्वा—बख० अ० उ० । ५. श्चक्रं—अ० उ० । ६. पङ्क्तित्रयं नास्ति—उ० । ७. चेतसः—अ० । ८. मधः—अ० ।

चतुष्टयं किरीटाद्यं मन्त्राणां पूर्वचोदितम् ।
उदग्दक्षिण आप्याद्ये पैठीये दिक्चतुष्टये ॥ १३ ॥
द्वन्द्वद्वयं तु लक्ष्म्याद्यं विनिवे[1]श्यं यथाक्रमम् ।
तत्रैव चे[2]शकोणात् तु यावद्वायुपदावधि ॥ १४ ॥
द्वयं द्वयं क्षे[3]माद्यं च मत्यन्तं सं[4]न्निवेश्य च ।
बहिः पीठस्य निकटे चा[5]ग्रतो वै पतत्रिराट् ॥ १५ ॥
चक्रात् कमलपर्यन्तं चतुष्कं शाङ्करात् पदात् ।
वायुकोणाव[6]धेर्यावत् पीठबाह्ये तु योजयेत् ॥ १६ ॥
सौम्ययाम्याप्यपूर्वा[7]शावस्थितं च द्वयं द्वयम् ।
लाङ्गलाद्यं परश्वन्तमष्टकं तद्वदेव हि ॥ १७ ॥
याम्यसौम्याप्यपूर्वाशागतं दद्याच्चतुष्टयम् ।
पाशाद्यं वज्रपर्यन्तं शर्क्कि[8]कोणचतुष्टये ॥ १८ ॥
आ ईशकोणनिकटात् पदात् तन्निकटे स्थितम् ।
प्रदक्षिणक्रमेणैव पदं यावद् द्वितीयकम् ॥ १९ ॥
कालादीनां च विन्यासः[9] कार्यश्चानुक्रमेण तु ।
यज्ञान्तानां महाबुद्धे षोडशानां यथास्थितम् ॥ २० ॥
क्रमात् पूर्वोत्तरे कोणे न्यसेद् दक्षिणपश्चिमे ।
विद्याऽविद्याद्वयं यद् वै स्वपदस्थेऽग्निमारुते ॥ २१ ॥
चन्द्रादित्यावुदग्याम्ये द्वारयोर्विनिवेश्य च ।
प्रत्यग्द्वारगतं तोयं प्राग्द्वारे विन्यसेद्[10] धराम् ॥ २२ ॥

दिशि पुष्टिम्, पश्चिमदिशि दयाम्, पूर्वदिशि निद्राम्, ईशानकोणे क्षमां [11]क्षान्तिं च, आग्नेयकोणे सरस्वतीं धृतिं च, नैर्ऋतकोणे मैत्रीं रतिं च, वायव्यकोणे तुष्टिं मतिं च, तद्बहिः पीठसमीपे पुरतो गडरुम्, पीठाद् बहिरैशान्यादिवायव्यान्तकोणचतुष्टये क्रमेण चक्रशङ्खगदापद्मानि, सौम्यदिशि पाशम्, याम्यदिश्यङ्कुशम्, वारुणदिशि मुद्-

१. वेश्य—बख० उ० । २. वेश—मु० अटी०, शेष—बक० । ३. क्षामा—मु० । ४. विनि—बख० । ५. अग्रतो—अ० उ० । ६. धि या—अ० उ० । ७. 'वस्थितं····पूर्वाशा' नास्ति—बक० बख० । ८. शक्ति—मु० अटी० । ९. साः कार्या—अ० । १०. दराम्—बक० मु०, दरान्—अटी० । ११. कान्ति—म० ।

चतुर्णामथ कोणानामव्यक्तं मण्डलाद् बहिः ।
संयजेद् भवनाम्ना वै यस्मान्नान्यो भवः[1] स्मृतः ॥ २३ ॥
ततः का[2]मात्मतत्त्वानां दशकं सिद्धतां गतम् ।
भगवत्तुल्यसामर्थ्यं सर्वज्ञा[3]दिगुणैर्युतम्[4] ॥ २४ ॥
वियुक्तं प्राकृताद् दुःखान्नियुक्तं चेश्वरेण तु ।
भवसन्ता[5]रकत्वेन मण्डलस्य बहिर्न्यसेत् ॥ २५ ॥
उपेन्द्रः पूर्वदिग्भागे दक्षिणे दुरतिक्रमः ।
महाहृ[6]दः पश्चिमे तु वसुरेतास्तथोत्तरे ॥ २६ ॥
न्यस्य[7]स्तेजो धराख्यस्तु पूर्वदक्षिणमध्यगः ।
नैर्ऋते तु महाकर्मा त्वग्राह्यः पश्चिमोत्तरे ॥ २७ ॥
पूर्वोत्तरे वर्धमानः साक्षी गगनगोचरे ।
आधारनिलयं नाम्ना सर्वस्याधोगतं स्मरेत् ॥ २८ ॥
तेषां बहिः स्वमन्त्रेण[8] दिक्क्रमेण तु हेतिराट् ।
स्वमरीचिगणेनैव भासयन्तं निवेश्य च ॥ २९ ॥
न्यस्यैवमर्चनं कुर्यान्मन्त्रमुद्रान्वितेन च ।
निरीक्षणादिशुद्धेन अर्घ्य[9]स्रक्चन्दनादिना ॥ ३० ॥

गरम्, पूर्वदिशि वज्रम्, कोष्टचतुष्टये शक्तिम्, ईशानकोणसमीपस्थपदादारभ्य तत्समीपस्थद्वितीयपदपर्यन्तमर्धशोभापूर्णशोभास्थितनीलोत्पलरक्तोत्पलाख्यषोडशपदेषु प्रादक्षिण्येन कालादियज्ञान्तं भवोपकरणदेवताषोडशकम्, ईशानकोणे विद्याम्, नैर्ऋतकोणेऽविद्याम्, अग्निकोणेऽग्निम्, वायुकोणे वायुम्, उत्तरद्वारे चन्द्रम्, दक्षिणद्वारे सूर्यम्, पश्चिमद्वारे तोयम्, पूर्वद्वारे वसुधां च, मण्डलाद् बहिःकोणेषु प्रकृतिम्, तद्बहिः पूर्वादिदिक्षु विदिक्षु ऊर्ध्वमधश्च उपेन्द्रादिसिद्धदशकं च, तद्बहिः सर्वदिक्षु चक्रराजं च न्यसेत् ॥११–२९॥

एवं मण्डलदेवतान्यासानन्तरं तेषां यथाक्रममर्चनम्, मध्ये उपरिष्टात् पद्मनाभार्चनं च कार्यमित्याह—न्यस्येति द्वाभ्याम् । निरीक्षणादिशुद्धेनेत्यत्रादिशब्देन दहनाप्याय-

१. भवत्–बख० । २. कर्मान्त–अ०, कर्मात्म–उ० । ३. सार्वज्ञ्या–मु० अटी० । ४. वृंतम्–उ० । ५. सन्धा–अ० । ६. ह्लादः–अ० । ७. न्यस्य ते–बक० । ८. तन्त्रेण–उ० । ९. अर्घ्यं–बक० बख० ।

यथाक्रमेणोदितानामादिदेवं यजेत् ततः ।
उपरिष्टात् तु सर्वेषां स्वपदस्थं तु पूर्ववत् ।। ३१ ।।

प्राग्वत् सुसंस्कृते कुण्डे ततः संस्कृत्य पावकम् ।
तन्मध्ये सर्वमन्त्राणां न्यासं कुर्याच्च यागवत् ।। ३२ ।।

प्राक् समित्सप्तकेनैवं तर्पयेद् वै यथाक्रमम् ।
मन्त्रपूतं हि निश्शेषं हवनान्तं सकृत् सकृत् ।। ३३ ।।

भवन्ति सम्मुखा मन्त्राः साधकस्याग्निमध्यगाः ।
सन्तर्प्याथ तथा कुर्यात् सहस्रशतसंख्यया ।। ३४ ।।

एकैकस्य तु वै होमं तिलैराज्यसमन्वितैः ।
दद्यात् पूर्णाहुतिं पश्चात् सर्वेषां तर्पणे कृते ।। ३५ ।।

पुनरप्यर्चनं कुर्यादित्थं वै मण्डलान्तरे ।
यथाक्रमेण सर्वेषां पुष्पधूपैस्तु केवलैः ।। ३६ ।।

सकृद् ध्यानसमेतं तु चतुर्धाप्यथवाष्टधा ।
क्रमात् समस्तमन्त्राणां परावर्तनमाचरेत् ।। ३७ ।।

सुशुभेनाक्षसूत्रेण स्वकैर्वा करपर्वभिः ।
ततोऽर्घ्यकुसुमैर्गन्धैः पूरयित्वा कराञ्जलिम् ।। ३८ ।।

सर्वदेवमयं मन्त्रं स्मृत्वोच्चार्य च तं क्षिपेत् ।
सर्वत्र सर्वदानेन क्रमेणेष्ट्वा च भक्तितः ।। ३९ ।।

प्रदर्श्य सर्वमन्त्राणामेकां मुद्रां च वैभवीम् ।
प्रणवेन सहस्रांशुसन्निभां सर्वसिद्धिदाम् ।। ४० ।।

नादिकं संगृह्यते ।।३०–३१।।

अथैतेषां वह्निमध्ये संतर्पणप्रकारं पुनर्मण्डलार्चनपूर्वकजपयज्ञविधिं पुष्पाञ्जलि-समर्पणपूर्वकमुद्रादर्शनं चाह—प्राग्वत् सुसंस्कृते कुण्ड इत्यादिभिः ।।३२–४०।।

---

१. अर्घ्य–अटी० । २. नैव–अ० । ३. तत्र व्रतं–अ० । ४. गण्डैः–बक०।

श्लेष्य[1] पाणितले [2]द्वे प्राङ्[3]नम्रं कुर्याल्लतागणम् ।
विविक्तमन्तरीकृत्य सहाङ्गुष्ठद्वयेन तु ॥ ४१ ॥
मणिबन्धद्वयं कुर्यात् सुलग्नमतिनिश्चलम्[4] ।
करयुग्मं सगर्भं[5] तु सन्धार्य स्वधिया चलम् ॥ ४२ ॥
ऊरुमध्ये[6] निषण्णे तु कुर्याद् वै बाहुकूर्परे ।
गुप्तं कृत्वा प्रयत्नेन बन्धमस्याः समाचरेत् ॥ ४३ ॥
सर्वदा[7] सर्वसिद्धीनामाप्तये त्वमलेक्षण ।
तीर्थमध्ये स्वहृत्पद्मे बिम्बे वेद्यां स्थले तु वा ॥ ४४ ॥
वह्निगर्भे तु निर्धूमे नित्यमस्मिंश्चतुष्टये ।
मन्त्राणामर्चनं कुर्यात् सिद्ध्यर्थमपि मुक्तये ॥ ४५ ॥
सजलाञ्जलिपूरैस्तु तीर्थेऽथ हृदयाम्बुजे ।
भावनामृतजैर्भोगैर्मूर्तैरर्घ्यादिकैर्बहिः ॥ ४६ ॥

वैभवमुद्रालक्षणमाह—श्लेष्येति सार्धैस्त्रिभिः । द्वे पाणितले संश्लिष्य अङ्गुलिगणं नम्रं कृत्वा अङ्गुष्ठद्वयेन सह विविक्तमन्तरीकृत्य मणिबन्धद्वयं सुसंलग्न(मि?म)तिनिश्चलं कृत्वा सगर्भं करयुग्मं तु स्वधिया चलं संधार्य बाहुकूर्परे ऊरुमध्यनिषण्णे ऊरुमध्ये[8] निषण्णे स(ति ? ती) कुर्यात् । सर्वेषां विभवदेवानां साधारणीयं मुद्रा ॥४१–४४॥

प्रत्यहं तीर्थादिस्थान[9]चतुष्टये भगवदर्चनं कार्यमित्याह—तीर्थेति सार्धेन । वेद्यां बिम्बं विना केवलभद्रपीठ इत्यर्थः । स्थले मण्डल इत्यर्थः ॥४४–४५॥

तत्तत्स्थानोचितार्चन[10]द्रव्य[11]भेदानाह—सजलेति सार्धेन । एवं सजलाञ्जलिभिस्तीर्थमध्ये भगवदर्चनं जयाख्येऽपि विशदमुपपादितम्—

आधारमासनं ध्यात्वा जलमध्येऽच्युतस्य च ।
मन्त्रग्रामसमोपेतमाहूय विनिवेश्य तम् ॥
तर्पयेदुदकेनैव विष्वक्सेनावसानकम् ।
स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण पाणिभ्यामग्रतः क्रमात् ॥ (९।५५–५६)

---

१. श्लेष्ये–अ० । २. द्वै–मु० । ३. विप्रामभ्रं–अ०, चेप्रान्न–उ० । ४. मिति–अटी० । ५. सुगर्तं–अ० । ६. मध्ये–मु० बक० बख० उ० । ७. सर्वथा–मु० । ८. 'ऊरुमध्ये निषण्णे' नास्ति–म० । ९. स्नानादिचतु–अ० । १०. र्चना–अ० । ११. भेदेनाह–म० ।

समित्सप्तकपूर्वैस्तु साज्यैर्वह्निगतं तिलैः ।
पूजयित्वा यथान्यायं प्रत्येकस्मिन् पदे क्रमात् ॥ ४७ ॥
संन्यासं सञ्चयं वापि कृत्वा सम्यक् कृतस्य वै ।
मन्त्ररूपानुकारिण्या मुद्रणीयं च मुद्रया ॥ ४८ ॥

इत्यादिभिः । एवं पारमेश्वरेऽपि करशुद्धिसमोपेतमित्यादिभिरष्टभिः श्लोकैर्जलमध्यार्चनक्रमो विस्तरेणोक्तः । वस्तुतस्तु पारमेश्वरोक्तरीत्या जलमध्येऽर्चनात् पूर्वमेव करशुद्धिप्राणायामभूतशुद्धिमन्त्रन्यासभगवत्तादात्म्यावलम्बनानुष्ठानमुचितम् । बिम्बार्चनप्रकरणे मानसार्चनात् पूर्वं तदनुष्ठानोक्तिस्त्वौदकस्नानाद्यशक्त्या तीर्थमध्ये भगवदर्चनमकृतवद्विषयेति बोध्यम् ।

ननु "नित्यमस्मिंश्चतुष्टये । मन्त्राणामर्चनं कुर्यात्" (१०।४५) इत्युक्त्या जलमध्येऽर्चनं कृतवतैव मानसार्चनादिकं कार्यमिति चेन्न,

यावज्जीवं यथाशक्ति संस्थितो यत्र कुत्रचित् ।
स्थानेषु हृदयाद्येषु कुर्यान्मन्त्रगणार्चनम् ॥
द्रव्यैः पुष्पाम्बुपूर्वैस्तु तदभावात् तु वै हृदि ।
मानसीं पूर्ववत् पूजां निर्वपेन्न्यासपूर्विकाम् ॥
(१७।१२६–१२७)

इत्यशक्तानां हृदयादिस्थानेष्वन्यतममात्रार्चनस्यापि वक्ष्यमाणत्वात् । किञ्च, पारमेश्वरे तीर्थमध्यार्चनं मानसार्चनं च होमान्तमुक्तम् । सात्वतनिष्ठैस्तु जपयज्ञान्तमेव कार्यम् । यतोऽत्र सप्तदशे परिच्छेदे—

ध्यात्वाऽथ भावनाजातैर्भोगैः परमपावनैः ॥
पूजयित्वा जपान्तं चाप्यवतार्य बहिर्यजेत् । (१७।४२–४३)

इति जपान्तमेव वक्ष्यति ॥ ४६–४७ ॥

एवं तीर्थमध्यादिपदेषु क्रमेण भगवन्तमभ्यर्च्य तत्तदर्चनानन्तरं निष्कामश्चेत् कृतस्य कर्मणः परित्यागं कुर्यात्, सकामश्चेत् तदार्जनं कुर्यात् । उभयत्रापि पूर्वोक्तमुद्राबन्धं कुर्यादित्याह—पूजयित्वेति सार्धेन ।

ननु फलान्तरसंपादककर्मणां निष्कामत्याज्यत्वमुचितम्, प्राधान्येन मोक्षसंपादकभगवदाराधनकर्मणोऽपि त्याज्यत्वं कथमुक्तमिति चेन्न, सिद्धोपायनिष्ठैर्भगवदाराधनकर्मणोऽपि स्वयं प्रयोजनतयाऽनुष्ठेयत्वात् ॥ ४७–४८ ॥

---

१. याज्यै—मु० अटी० उ० । २. ससञ्च—बख० । ३. 'त्याज्यत्वं····कर्मणोऽपि' नास्ति—म० ।

फलार्थं प्रसवं येन नैति संन्यासकारिणाम् ।
फलपर्यवसानं च कालमागमचोदितम् ॥ ४९ ॥
[1]हर्तुं नो युज्यते येन सिद्धाद्यै[2]स्तु फलार्थि[3]नाम् ।
कालानुकालमुद्राणां यो बन्धः परिचोदितः ॥ ५० ॥
उक्तप्रयोजनादन्यः स विघ्नविनिवृत्तये ।
मुदं कर्मात्म[4]तत्त्वानां ददत्यमलयाजिनाम् ॥ ५१ ॥
द्रावयि[5]त्री च दोषाणां बाह्याभ्यन्तरचारिणाम् ।
तेन मुद्रा समाख्याता कृतस्यापि च मुद्रणात् ॥ ५२ ॥
तस्मात् स्वाभाविकं कृत्वा बद्धं वा मानसं पुरा ।
स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण स्मरेद्[6] व्याप्तिं सदैव हि ॥ ५३ ॥

ननु संचितकर्मणामुपरि मुद्राबन्धः समुचितः । संन्यस्तकर्मणामुपरि मुद्राबन्धेन किं प्रयोजनमित्याशङ्कायामुभयत्रापि सार्थक्यमाह—[7]फलार्थमिति सार्धेन । येन मुद्राबन्धेन हेतुना संन्यासकारिणां कर्मत्यागिनां फलार्थं प्रसवं पुष्पमेव नैति नोत्पद्यत इत्यर्थः । फलार्थिनां कर्मसंचितवतां तु शास्त्रोक्तफलानुभवकालपर्यन्तं येन मुद्राबन्धेन हेतुना सिद्धाद्यैरन्यैर्हर्तुं नो युज्यते । यथा जतुमुद्रितधनग्रन्थेर्धनमनपहार्यं भवति, तथा कर्माप्यन्यैरनपहार्यं भवतीति भावः ॥ ४९–५० ॥

एवं पूजानन्तरकालीनमुद्राया उक्तं प्रयोजनं संभवति, पूजामध्यकालेषूक्तानां कर्मणां किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां विघ्ननिवृत्तिरूपं फलमाह—कालेति ॥ ५१ ॥

एतदुभयप्रयोजनानुसारेण मुद्राशब्दनिर्वचनमाह—मुदमिति सार्धेन । अमलयाजिनां शुद्धयाजिनामित्यर्थः । कर्मात्मतत्त्वानां यजनादिकर्मनिष्ठचेतनानामित्यर्थः । दोषाणामिति कर्मणि षष्ठी । एवं च मुद्राशब्दे मुदित्यत्र ददातीति शेषः । द्रेत्यत्र दोषानिति शेषः । पूजामध्यकालीनमुद्राणां प्रयोजनानुसारीदं निर्वचनम् । मु(द्राणां? द्रणाद्) मुद्रेति निर्वचनं तु पूजानन्तरकालीनमुद्राया इति ज्ञेयम् ॥ ५१–५२ ॥

कायिकं मानसिकं वा मुद्राबन्धं कृत्वा तत्र तत्तन्मन्त्रव्याप्तिं स्मरेदित्याह—तस्मादिति । मानसार्चने मानसिको मुद्राबन्धः, बाह्यार्चने कायिक इति विवेकः ॥ ५३ ॥

---

१. 'भर्तुर्नो' इति सार्वत्रिकः पाठः । २. थैस्तु–मु० बक० । ३. र्थिना–उ० । ४. कमर्थि–अ० । ५. यन्ती–बख०, यन्ति–उ० । ६. स्मरेत् प्राप्तं [द्व्याप्तं]–मु०, स्मरेदाप्तं–बक०, स्मरेद्व्याप्तं–बख० उ०, स्वरैव्याप्तं–अ० । ७. 'फलार्थमिति सार्धेन' नास्ति–अ० ।

चैतन्येनानुविद्धो यः शाखासंघश्च यद्यपि ।
तत्रापि मन्त्रोऽत्राध्यक्षस्तत्कार्यं सम्प्रयच्छति ॥ ५४ ॥
एवं कृते ततः कुर्यान्मन्त्राणां मण्डलान्तरात् ।
पूर्ववच्चोपसंहारमेकस्मिन् गगनस्थिते[1] ॥ ५५ ॥
स्मृत्वा परात्मना तं च स्वसंविद्गगने हृदि ।
विश्रान्तं भावयेद्[2] देवं स्वभावेन समन्वितम् ॥ ५६ ॥
द्विजातेर्दत्तशिष्टस्य पुष्पपत्रादिकस्य च ।
विहितश्चाम्भसि त्यागो विष्वक्सेनार्चने[3] कृते ॥ ५७ ॥

केवलचैतन्यानुविद्धाङ्गुलिगणस्यैवं विघ्ननिवृत्त्यादिफलप्रदानसामर्थ्यं मन्त्राधिष्ठितत्वात् संभवतीत्याह—चैतन्येनेति ॥५४॥

मण्डलस्थदेवानामुपसंहारक्रममाह—एवमिति द्वाभ्याम् । एकस्मिन् गगनस्थिते पद्मनाभ इत्यर्थः । परात्मना निष्कलरूपेणेत्यर्थः । स्वसंविद्गगने नादान्तैर्[4]गगन इत्यर्थः ॥५५–५६॥

कारिप्रदानाद्यवशिष्टनैवेद्यपत्रपुष्पफलादीनां विष्वक्सेनार्चनानन्तरं जलमध्ये प्रक्षेपमाह—द्विजातेरिति ॥५७॥

तत्र हेतुमाह—धर्तव्यमिति । यद्यस्मात् कारणात् पुरा निवेदितं मन्त्रमूर्तीनां नैवेद्यं भगवन्निवेदितहविरादिकं किञ्चित् पुष्पफलादृते स्वप्राशनोपयुक्तं किञ्चिद् भागं विनाऽन्यत् सर्वं चिरं बहुकालं न[5] धार्यम् । शीघ्रं जलमध्ये प्रक्षेप्तव्यमित्यर्थः । इममेवार्थं सुस्पष्टं वक्ष्यति सप्तदशे परिच्छेदे च—

ततो विसर्जनं कुर्यादुपसंहृत्य चाखिलम् ।
विनिक्षिप्याम्भसो मध्ये पत्रपुष्पफलादि यत् ॥
निष्कामः पावनार्थं तु स्तोकमुद्धृत्य वै पुरा ।
संधार्य मन्त्रपूतं प्राक् तमश्नीयाच्च मौनवान् ॥(१७।१४५–१४६) इति ।

ननु स्तोकमुद्धृत्य वै पुरेत्यत्र किं विष्वक्सेनार्चनात् पूर्वमेव स्तोकोद्धरणम्, अथवा तदर्चनानन्तरं जलप्रक्षेपात् पू(र्वं वेत्या?र्वमि)काङ्क्षायां तत्पक्षद्वयमप्युपपन्नमिति ज्ञेयम् । यतः पारमेश्वरे—

स्वप्राशनार्थमेकांशं स्थापयित्वा निरीक्षितम् ।
शेषाशनाभिधानस्य गणेशस्यार्चनाय वै ।
भागमेकं तु संस्थाप्य भागेनान्येन तोषयेत् ।
ब्राह्मणादीन् शुभाचारान् भक्तान् ग्रामाधिवासिनः ॥

---

१. गगने–बख० अ० उ० । २. येदेवं–बख० अ० । ३. नादृते–मु० ।
४. नादान्तगगन–म० । ५. 'न' नास्ति–अ० ।

धर्तव्यं न चिरं चाग्रे यत्पुरा विनिवेदितम् ।
नैवेद्यं मन्त्रमूर्तीनां किञ्चित् पुष्पफलादृते ॥ ५८ ॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां विभवदेवतार्चनं[1] नाम दशमः[2] परिच्छेदः ॥

■

इति विष्वक्सेनार्चनात् पूर्वमेव स्वप्राशनार्थभागोद्धरणमुक्तम् । तत्रैव महाहविः-प्रकरणे तु—

प्रक्षिपेज्जलमध्ये तु विष्वक्सेननिवेदितम् ॥
जलजानां नीरगाणां जन्तूनां तृप्तयेऽथवा ।
जले किञ्चिद्विनिक्षिप्य शेषमन्नं तदग्रतः ॥
तद्भक्तानां द्विजातीनां निरतानां स्वकर्मसु ।
(पा० सं० १८।४०५–४०७)

इति तन्निवेदितस्वीकारोऽप्युक्तः । अत एव सच्चरित्ररक्षायाम्—"विष्वक्सेननिवेदिते च विकल्पभेदास्तत्तत्संहितानुसारेण प्रयोगपद्धतिरत्नावल्यादिषु भोजराजादिभिः स्थापिता द्रष्टव्याः" (पृ० ११७) इत्युक्तम् ॥५८॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये दशमः परिच्छेदः ॥

■

१. देवा–अ० । २. 'दशमः' नास्ति–उ० ।

एकादशः परिच्छेदः

नारद[1] उवाच[2]

श्रुत्वैवमच्युतमुखाद् वनमाली मुनीश्वराः ।
पुनः सम्भ्रोदयायास यदाकर्णयताद्य तत् ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

यथावज्ज्ञातुमिच्छामि मण्डलध्यानलक्षणम् ।
भगवन् भवभीतानामुपकाराय तद्वद ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

संसाध्य यष्टियोगेन सूत्रात्[3] पूर्वापरे पुरा ।
तद्दिग्द्वयान्तरे दद्यात् प्राग्[4] वै सूत्रचतुष्टयम्[5] ॥ ३ ॥
समांशेन द्विधा कृत्वा स्फुटं[6] मध्यात् तदङ्क्य[7] च ।
साधितेनार्धमानेन प्राक्प्रत्यक्स्थेन तन्तुना ॥ ४ ॥
दक्षिणोत्तरभागाभ्यां समुत्पाद्य चतुष्पथौ ।
सूत्रं पूर्वापरसमं कृत्वा तदुपरि क्षिपेत् ॥ ५ ॥

अथैकादशपरिच्छेदो व्याख्यास्यते । अत्र संकर्षणेन भगवान् यत्संपृष्टस्तदाकर्णयतेत्याह—श्रुत्वेति ॥ १ ॥

संकर्षणः पृच्छति—यथावदिति ॥ २ ॥

तेन पृष्टो भगवान् पूर्वं मण्डललक्षणमाह—संसाध्य यष्टियोगेनेत्यारभ्य क्रमाद् रेखागणं बहिरित्यन्तम् । अस्यैवं प्रयोगः—संसाध्य यष्टियोगेनेत्याद्युक्तप्रकारेण वेदिकोपरिभागं सूत्रपातादिना चतुरश्रीकृत्य तत्क्षेत्रं समैरष्टादशपदैर्विभज्य घटिकारेण

---

१. 'नारदः' नास्ति—अ० । २. 'उवाच' नास्ति उ० विहाय सर्वत्र । ३. सूर्यात्—मु० अ० उ० । ४. प्राग्वत्—अ० । ५. ष्ककम्—बक० बख०, ष्करम्—अ० उ० । ६. स्फुटम—बक० बख० । ७. दन्त्य—मु० बक० ।

पुनरर्धसमं दिक्षु दत्वा कोणचतुष्टयम् ।
चतुष्पथचतुष्केण[1] नयेद् भक्तिं[2] प्रसार्य[3] वै ॥ ६ ॥
समं[4] सूत्रचतुष्कं च चतुरश्राश्रसिद्धये ।
तद्विभज्याष्टदशभिश्चतुर्दिक्षु पदैः समैः ॥ ७ ॥
क्षिपेत् सूत्रगणं तत्र घटिकारेण[5] रञ्जितम् ।
मध्ये पद्मावनिं कुर्याद् भागपङ्क्तित्रये क्रमात् ॥ ८ ॥
तद्बहिः पदपङ्क्त्या तु पीठमष्टदिगन्वितम् ।
तस्य भागचतुष्कोत्थं[7] दिक्चतुष्कं प्रकल्प्य च ॥ ९ ॥
विदिक्चतुष्कं त्रिपदं पङ्क्त्या पीठप्रदक्षिणम् ।
प्रदक्षिणं क्षितेर्बाह्याच्चतुष्कं दिक्चतुष्टयात् ॥ १० ॥
चतुर्णां[8] तु चतुर्णां[9] तु बाह्याद् बाह्यं द्वयं द्वयम् ।
शोधयित्वा तु तद्बाह्याच्चतुष्कं द्वारसिद्धये ॥ ११ ॥
चतुष्टयं क्रमेणैव भूयो दिक्षु पदं पदम् ।
सबाह्याभ्यन्तरगतं शोधनीयं प्रयत्नतः ॥ १२ ॥

रञ्जितं सूत्रगणं तत्र प्रक्षिप्य मध्ये पङ्क्तित्रयस्य षट्त्रिंशत्कोष्ठेषु पद्मं कुर्यात् । [10]तद्बहिरेकया पङ्क्त्या पीठं कुर्यात् । तत्र चतुर्भिश्चतुर्भिः कोष्ठैः प्रागादिदिक्चतुष्टयं त्रिभिस्त्रिभिः कोष्ठैराग्नेयादिविदिक्चतुष्टयं कुर्यात् । तद्बहिरेकया पङ्क्त्या प्रदक्षिणविधिं कृत्वा तद्बहिः पङ्क्तिद्वये पूर्वादिदिक्षु पूर्णशोभाचतुष्टयसिद्धयर्थं प्रागादिष्वन्तःपङ्क्त्यां कोष्ठचतुष्कं बहिःपङ्क्त्यां कोष्ठद्विकं चैकीकृत्य[11] तद्बहिः पूर्वादिषु पङ्क्तिद्वयस्थ-कोष्ठचतुष्केण चतुर्द्वाराणि परिकल्प्य पूर्णशोभापार्श्वयोरर्धशोभासिद्धयर्थं बहिःपङ्क्त्यां कोष्ठद्विकमन्तःपङ्क्त्यामेकं कोष्ठं चैकीकृत्य प्रागादिपूर्णशोभाचतुष्के रक्तोत्पलाष्टक-मर्धशोभाष्टके नीलोत्पलाष्टकं च विलिखेत् । आग्नेयादिविदिक्षु उपशोभयोरन्तरालेऽन्तः-पङ्क्तिस्थं कोष्ठपञ्चकं वीथ्या सहैकीकृल्प बहिःपङ्क्तिस्थकोष्ठसप्तकेन कोणानि तद्बहिः पङ्क्तिद्वये सान्तरं रेखात्रयं कृत्वा मध्ये षट्त्रिंशद्दलसंयुक्तं कमलं लिखेत् ।

---

१. ष्कोर्श–उ० । २. व्यक्ति–मु० बक० बख० अ० । ३. प्रसाध्य–उ० । ४. सम–मु० अटी० । ५. तु–अटी० । ६. रेणु–म० अटी० अ०, कण–मु० । ७. त्थदि–मु० अटी० । ८. द्वयम्–अटी० । ९. तृणं–अ० । १०. 'तद्बहिरेकया······चतुष्टयं कुर्यात्' नास्ति–अ० । ११. कृत्यात–अ० ।

पुनः सर्वपदाभ्यां तु षट्कं षट्कं तु चान्तरात् ।
संमार्ज्य पूर्णशोभार्थं तत्र रक्तोत्पलाष्टकम् ॥ १३ ॥
यथा दिक्षु स्थितं कुर्यात् पूजनाय दिवौकसाम् ।
बाह्यस्थ[1]पदपार्श्वात् तु त्रीणि त्रीणि च[2] लोपयेत् ॥ १४ ॥
त्रयाणामन्तरस्थं यत्पदमेकात्म[3]तां नयेत् ।
उपशोभं तु तं विद्धि कुर्यान्नीलाब्जभूषितम् ॥ १५ ॥
पञ्चकं पञ्चकं कोणाद् वीथौ[4] नीत्वा लयं पुरा ।
शेषैः कोणं तु निर्वर्त्य सान्तरं च ततो बहिः ॥ १६ ॥
दद्यात् सूत्रत्रयं चैव मध्येऽथ[5] कमलं लिखेत् ।
षट्त्रिंशद्दलसंयुक्तं तस्य लक्षणमुच्यते ॥ १७ ॥
पीठावनिसमीपे तु चतुर्थांशपदात् पुरा ।
समुद्धृत्य भ्रमं कुर्याद् ब्रह्मस्थानाच्च तन्तुना ॥ १८ ॥
दिक्सूत्राणां चतुर्णां तु एकैकं हि यदन्तरम् ।
वृ[6]त्तावधेः समैर्भागैः पत्रसंख्यै[7]र्विभज्य च ॥ १९ ॥
षड्भिर्हीनं शतं सार्धं सूत्राणां तत्र निक्षिपेत् ।
सूत्रं प्राक्पदसंस्थं यत् तदाश्रित्याब्जपल्लवम् ॥ २० ॥
कुर्याद् भागचतुष्केण यथा तदवधारय ।
सव्यापसव्ये[8] ये सूत्रे अन्तरस्थं[9] निरन्तरे ॥ २१ ॥

तत्प्रकारः—पीठावनिसमीपे पादाच्चतुर्थांशं विहाय ब्रह्मस्थानगतेन तन्तुना भ्रमणं कृत्वा तद्वृत्तमध्ये पूर्वपश्चिमायतमेकं सूत्रं तदुपरि दक्षिणोत्तरायतमेकं सूत्रं च दत्वा दिक्सूत्राणां चतुर्णामेकैकं यदन्तरालं तद्वृत्तावधेः समैर्भागैर्नवधा नवधा विभज्यैकैकं भागं पुनश्चतुर्धा चतुर्धा विभज्य सूत्राणि प्रक्षिपेत् । आहत्य चतुश्चत्वारिंशदुत्तरशतसूत्राणि भवन्ति । तत्र प्राक्दिक्सूत्रमारभ्य चतुर्भिश्चतुर्भिर्भागैरेकैकं दलं कुर्यात् ।

तत्प्रकारः—एकस्मिन् भागे [10]मध्यमसूत्रस्य दक्षिणभागयोरव्यवहिते ये सूत्रे, तयोरन्तरालं यत्प्रमाणं तत्प्राणसमं दलाग्रान्म[11]ध्यमसूत्रे लाञ्छनं कृत्वा तल्लाञ्छना-

१. पद्मा—बक० बख०, पीठा—मु० । २. तु—बक० बख० अ० उ० । ३. र्णतां—अटी० । ४. द्विधौ—बक० बख० अ० । ५. ध्ये ह—बक०, ध्ये तत्—अ० । ६. कृतावधेः—उ०, वृत्तावधैः—मु० । ७. संघै—मु० अटी० अ० । ८. व्यके—अ०, व्ययोः—अटी० । ९. र्यस्य—बख०, स्थस्य—अ० उ० । १०. मध्यसूत्रस्य—म० । ११. मध्यसूत्रे—म० ।

तयोरंशं[1] समं कुर्याद् दलाग्रादङ्कमन्तरे ।
तदुद्देशात् तु सूत्रेण तदङ्कान्तर्गतेन च ॥ २२ ॥
अर्धचन्द्रद्वयं कुर्यात् तेन सूत्रेण वै समम् ।
पुनरभ्यन्तरे सूत्रं तत्सूत्राभ्यां निरोध्य च ॥ २३ ॥
पत्राग्रमानयेत् तस्माद् बहिस्तं[2] शृङ्गसन्निधेः ।
लाञ्छ्यमानं दलाग्रं तु विधिनानेन सिद्ध्यति ॥ २४ ॥
दलाग्रब्रह्मदेशाभ्यां तुरीयांशेन चान्तरात् ।
भ्राम्य वै कर्णिकावृत्तं द्व्यंशमानेन केसरम् ॥ २५ ॥
दलाग्रगांशं[3] वै मध्याद् व्योमार्थं[4] भ्रामयेत् ततः ।
कृत्वैवं वर्णकैः पूतैः पूरणीयं महोज्ज्वलैः ॥ २६ ॥
उच्चाग्रवितता पीतां सबीजां विद्धि कर्णिकाम् ।
रेखान्वितानि पत्राणि सर्वाणि सुसितानि च ॥ २७ ॥
केसरत्रितयं कुर्यात् पत्रे पत्रेऽरुणप्रभम् ।
दलान्तरालमसितं[5] वृत्तबाह्यं ज्वलत्प्रभम् ॥ २८ ॥
सितानि पीठकोणानि रक्तं तद्दिक्[6]चतुष्टयम् ।
राजोपलप्रभां[7] वीथीं पत्रमालाद्यलङ्कृताम्[8] ॥ २९ ॥
पश्चिमांशाद्[9] विना सर्वद्वाराण्यम्बुजपत्रवत् ।
कृष्णानि सर्वशोभानि द्वारोद्देशस्थितानि च ॥ ३० ॥

न्तर्गतेन सूत्रेण दलाग्रमारभ्य सव्यदक्षिणयोरर्धचन्द्राकाररेखाद्वयं विलिख्य पुनरभ्यन्तरस्थं सूत्रं तद्रेखाभ्यां संयोज्य तस्मात् शृङ्गसंनिधेर्बहिः पत्राग्रं चानयेत् । ततो दलाग्रब्रह्मदेशयोरन्तरालं यत्प्रमाणं तच्चतुर्थांशेन[10] मध्यात् कर्णिकार्थं मण्डलं परिभ्राम्य तद्द्विगुणमानेन केसरार्थं वृत्तं परिभ्राम्य दलाग्रांशमध्येऽपि व्योमार्थमेकं मण्डलं परिभ्रामयेत् । एवं कृत्वा ततो वर्णपूरणं कुर्यात् ।

तत्प्रकारः—कर्णिकां पीतवर्णेन, पीठदिक्चतुष्टयं र(त्ने?क्ते)न, तत्कोणचतुष्कं श्वेतेन, प्रदक्षिणविधि कृष्णवर्णेनापूर्य, वीथ्यां नानावर्णैः पत्रमालादींश्च विलिख्य,

१. रंशसमं–मु० बक० बख० । २. स्थं–अ० उ० । ३. कांशं–बक० बख० । ४. द्योमा–अ० उ० । ५. समितं–मु० अटी० बक० । ६. तद्वच्च–अ० । ७. प्रभावीथी–बक० बख० उ० । ८. तम्–बक० बख० उ० । ९. मांशं–बक० बख० । १०. र्धांशेन–म० ।

तदर्धाकृतितुल्यानि तू[1]पशोभानि गर्भवत् ।
कोणानि केसराभा[2]नि सितशङ्खान्वितानि च ॥ ३१ ॥
[3]शोणहेमादिवर्णं च क्रमाद् रेखागणं बहिः ।
कृत्वैवमनुसन्धाय सर्वात्मत्वेन देहवत् ॥ ३२ ॥
रजांसि विद्धि भूतानि सितपीतादिकानि च ।
तन्मात्राण्युपशोभानि शोभानि करणानि तु ॥ ३३ ॥
एवं सर्वाणि कोणानि सद्वाराणीन्द्रियाणि च ।
बहिरावरणं यद्वै सत्त्वा[4]द्यं त्रितयं हि यत् ॥ ३४ ॥
मनः सुवितता वीथी ग[5]र्वः पीठमुदाहृतम् ।
धीः पद्मं तदधिष्ठाता बीजात्मा चिन्मयः पुमान् ॥ ३५ ॥
अमूर्त ईश्वरश्चात्र तिष्ठत्यानन्दलक्षणः ।
यस्य सन्दर्शनादेव शश्वद्भावः प्रसीदति ॥ ३६ ॥
ससङ्गानामसङ्गानां व[6]पुष्पाते कृते सति ।
प्रायशो मुक्तिभाजां च त्विह जन्मैकशेषिणाम् ॥ ३७ ॥
देव आस्ते ज्ञतां हित्वा बहिरन्तश्च कर्मिणाम् ।
अन्यथा दृष्टमात्राद् वै कथमाह्लादमेति वै ॥ ३८ ॥
अन्तःसंवेदनसमम् अस्तित्वप्रतिपादकम् ।
यद्यत् स्वलक्षणं तत्त्वं तत्तत् सर्वत्र सि[9]द्धिगम् ॥ ३९ ॥

पश्चिमांशं विना सर्वद्वारा(णि) अपि मध्यस्थितकमलदलवत् श्वेतेन, पूर्णशोभाचतुष्टयमपि कृष्णवर्णेन, अर्धशोभाष्टकं कमलगर्भवत् पीतेन, कोणानि केसरवद् रक्तेन चापूर्य, कोणेषु श्वेतरेखाभिः [10]शङ्खांश्च विलिख्य, रक्तपीतश्वेतवर्णैः क्रमेण रेखात्रयं पूरयेत् । एवं मण्डललेखन[11]प्रकारः ॥ ३–३२ ॥

एतन्मण्डलस्य भगवच्छरीरतयाऽत्रापि प्रसिद्धदेहवद् भूततन्मात्राणि[12] दर्शयति—कृत्वैवमित्यादिभिः ॥ ३२–३५ ॥

मण्डले भगवदवस्थानं सहेतुकमाह—अमूर्त इत्यादिभिः ॥ ३६–३९ ॥

१. उप–उ० । २. न्तानि–अटी० । ३. पङ्क्तित्रयं न दृश्यते–उ० । ४. सत्त्वाद्य–मु० अटी० बख० । ५. गर्व–मु० अटी० अ० । ६. पुष्पपाते–अ० उ० । ७. अतः–मु० अटी० । ८. खल–बक० बख० उ० । ९. सिद्धगम्–बक० बख०, सन्धिगम्–मु० अ० । १०. शाखांश्च–अ० । ११. प्रयोगः–म० । १२. मात्रा निदर्श–म० ।

वस्तुत्वेन गृहीत्वैवं मण्डलं पूर्वनिर्मितम् ।
नाम्नाऽब्जनाभभुवनं[1] सर्वदुःखक्षयङ्करम् ॥ ४० ॥
ततस्तस्मिन् क्रमेणैवं[2] ध्यात्वैकैकं निवेशयेत् ।
पूर्वोद्दिष्टेन बीजेन त्वाकारं पारमेश्वरम्[3] ॥ ४१ ॥
अथैवं भाजितात् क्षेत्राच्चतुरश्राद् महामते ।
पूर्वोद्दिष्टानि धिष्ण्यानि यथा कार्याणि तच्छृणु ॥ ४२ ॥
पञ्चमं ब्रह्मकर्माद्यं[4] मर्म प्राग्दिश्यवस्थितम् ।
अंशं दीर्घेण तत्स्थेन कुर्यात् सूत्रेण लाञ्छनम् ॥ ४३ ॥
अर्धचन्द्रसमाकारं भागयुग्मस्य चान्तरे ।
दक्षिणोत्तरभागाभ्यां तदधस्तत्समं तथा ॥ ४४ ॥
लाञ्छनद्वितयं कुर्यात् तिर्यक्संस्थानसंस्थितम् ।
भागद्वादशकस्यैक्यं स्यात् पङ्क्तिद्वितयाद्[5] यथा ॥ ४५ ॥
ब्रह्ममर्म[6] चतुर्थं यत् संख्यामानं च पूर्ववत् ।
मर्म तस्य च पक्षस्थावेकमर्मान्तरीकृतौ[7] ॥ ४६ ॥
ताभ्यामवस्थितेनैव सूत्रेणैतत् प्रजायते ।
पुनर्मध्याद् द्वितीयं यद् मर्म चोर्ध्वं[8] प्रवर्तते ॥ ४७ ॥
तस्माद् वै ह्यन्तरीभूतं चतुर्थं पक्षयोर्द्वयोः ।
मर्म तत्स्थेन सूत्रेण वृत्तार्थे[9] पूर्ववल्लिखेत् ॥ ४८ ॥

एवमब्जनाभभुवनाख्यं[10] मण्डलं परिगृह्य तत्र पूर्वोक्तक्रमेण तद्देवान्[11] तत्तद्बीजादिमन्त्रैर्निवेशयेदित्याह—वस्तुत्वेनेति द्वाभ्याम् ॥ ४०–४१ ॥

एवं मण्डललक्षणमुक्त्वा कुण्डलक्षणं शृण्वित्याह—अथेति । एवं भाजितात् क्षेत्रात् पूर्वं मण्डलोक्तप्रकारेण सूत्रपातैरष्टादशधा विभक्तादित्यर्थः । पूर्वोद्दिष्टानि पूर्वमाराधनप्रकरणादिषूक्तानीत्यर्थः । धिष्ण्यानि वह्निगृहाणि कुण्डानीति यावत् ॥४२॥

प्रथमं शङ्खकुण्डलक्षणं दर्शयन् तत्कुण्डक्षेत्रमध्यखातस्य शङ्खाकारतासिद्ध्यर्थं परितो लाञ्छनक्रममाह—पञ्चममित्यारभ्य धिष्ण्यः शङ्खाकृतिर्भवेदित्यन्तम् ।

---

१. भवनं—अ० । २. णैवं—मु० अटी० अ० । ३. परमे—मु० अटी० बक० अ० उ० । ४. कर्माद्यान् मम—मु० अटी०, मर्माद्यं—ब्रक० बख० । ५. त्तथा—मु० अटी० अ० । ६. कर्म—मु० अटी० बक० बख० । ७. कर्मा—मु० अटी० अ० । ८. चोर्ध्वे—अ० उ० । ९. वृत्तार्धे—अ० उ० । १०. ख्यम—अ० । ११. तत्तद्देवानां—अ० ।

ब्रह्ममर्मणि षष्ठस्य प्रत्यग्दिक्संस्थितस्य च ।
मर्मणोऽप्यथ वै सूत्रं कृत्वा तत्सम्प्रसार्य च ॥ ४९ ॥
यावद् वृत्तार्थबुध्[1]नस्थं शृङ्गकोटेस्तु सन्निधिम्[2] ।
एवं सूत्रद्वये दत्ते धिष्ण्यः शङ्खाकृतिर्भवेत् ॥ ५० ॥
तस्य भागसमा कार्या लाञ्छनैर्मेखला बहिः ।
पूर्वोक्तमर्मगैः सूत्रैर्यथा तदवधारय ॥ ५१ ॥
द्व्यंशदीर्घेण सूत्रेण नवचन्द्रकलासमम् ।
चतुर्णामन्तरेशानां प्राग्दिक् कुर्याच्च लाञ्छनम् ॥ ५२ ॥
ईशवह्निपदाभ्यां तु वृ[3]त्ततुर्यांशसम्मिते ।
द्वे लाञ्छने समे कुर्यादेकभागाधि[4]के ततः ॥ ५३ ॥
तत्समे ह्यपरे द्वे वै यत्तदा[5] लाञ्छ्य लाञ्छनैः ।
दक्षिणोत्तरभागाभ्यां पश्चात् सूत्रद्वयं क्षिपेत् ॥ ५४ ॥
कृत्वा सप्तममर्मस्थं पूर्वोद्दिष्टक्रमेण तु ।
जीवसूत्रस्य पाश्चात्त्ये भागे पार्श्वद्वये स्थितम् ॥ ५५ ॥
भागद्वयं द्वयं लाञ्छ्यं योन्यर्थं[6] चार्धवृत्तवत् ।
तच्छृङ्गकोटिगे सूत्रे कृत्वा ते सम्प्रसार्य च ॥ ५६ ॥
खातभूभागपर्यन्तं तत्पदाद् वटपत्रवत् ।
जायते सर्वकुण्डानां योनिरेवंविधा शुभा ॥ ५७ ॥
भागार्धमानसूत्रेण योने[8]रभ्यन्तरे पुनः ।
अर्धवृत्तद्वयं दद्यात् तद्वत् सूत्रद्वयान्वितम् ॥ ५८ ॥

ब्रह्मकर्माद्यं मध्यमर्म[9]प्रारम्भकमित्यर्थः । मर्म प्राक्पश्चिमायतसूत्रस्य दक्षिणोत्तरायतसूत्रस्य च[10] सन्धिस्थानमित्यर्थः ॥ ४३–५० ॥

तत्खातस्य बहिः शङ्खाकारमेखलानिर्माणप्रकारमाह—तस्य भागसमेत्यारभ्य पूर्वोद्दिष्टक्रमेण त्वित्यन्तम् ॥ ५१–५५ ॥

तद्बहिः पङ्क्तिमारभ्य खातपर्यन्तं प्रागादिषु योनिनिर्माणप्रकारं खातस्य परितः

१. ध्नस्थ–मु० अ०, ध्नस्य–अटी० । २. धिः–मु० अटी० । ३. वृत्तात् कुर्याच्च–अ० । ४. दिके ततम्–मु० अटी० । ५. यदा लाञ्छ्यं–मु० अटी० बक० बख० । ६. न्यर्धं–अ० । ७. तत्पादा–बख० अ० उ० । ८. राभ्य–मु० अटी० बक० बख० । ९. मर्मक–अ० । १०. 'च' नास्ति–अ० ।

खातस्यान्तर्गतो वर्ज्यश्चतुर्थांशस्तु कोष्ठकात् ।
कोष्ठार्धं निखनेच्छेषं तत्समं वा पुरोदितम् ॥ ५९ ॥
दैर्घ्यात् पादाधिका कार्या योनिर्वै[1] पृष्ठतोन्नता ।
गजोष्ठसदृशी चाग्रात् स्पृशन्ती द[2]शनच्छदम् ॥ ६० ॥
पुरोभागचतुर्थांशं योनेरग्राद् विसृज्य तु ।
दद्यात् प्राक्सूत्रसम्बन्धं सूत्राणां द्वितयं परम् ॥ ६१ ॥
अनुपातेन वै ताभ्यामग्रात् सङ्कोचमाचरेत् ।
भागपङ्क्तित्रयेणैव मेखलात्रितयं बहिः ॥ ६२ ॥
सम्पाद्य चतुरश्रं तु शङ्कुं त[3]त्त्रितयोपरि ।
आशङ्कुं मेखलानां तु प्रोन्नतत्वं स्व[4]विस्तृतेः ॥ ६३ ॥
मेखलानां तु शङ्कुस्य यन्मध्ये[5]ऽश्रिचतुष्टयम् ।
तच्चक्रचिह्नितं कुर्यात् तल्लक्षणमथोच्यते ॥ ६४ ॥

कोष्ठचतुर्थांशेनौष्ठनिर्माणप्रकारं चाह—जीवसूत्रस्येत्यारभ्य स्पृशन्ती दशनच्छदमित्यन्तम् । जीवसूत्रस्य मध्यसूत्रस्येत्यर्थः । पार्श्वद्वये मध्यसूत्रस्य दक्षिणवामभागयोरित्यर्थः । तत्समं निखनेत् । खातभूभागविस्तारायामतुल्यं खातं कुर्यादित्यर्थः । अथवा पुरोदितं "त्र्यंशेना[6]र्धेन वांशेन खाताद् व्यासो विधीयते" (६।७७) इति नित्याग्निकार्यप्रकरणो[7]क्तं वेत्यर्थः । एवमेवोक्तं पारमेश्वरेऽपि—

खातार्थमन्तरावृत्तादन्तरं निखनेत् समम् ॥
त्रिपादमर्धपादं वा (२६।१२-१३) इति ।

दशनच्छर्दमोष्ठमित्यर्थः ॥ ५५-६० ॥

पूर्वोक्तलाञ्छनानुसारेण खातार्थमेकं तद्बहिरोष्ठार्थमेकं तद्बहिर्मेखलार्थमेकमिति सूत्रत्रयं दद्यादित्याह—पुरोभागेति ॥ ६१ ॥

ओष्ठाद्यङ्गानां क्रमेण संकोचमाह—अनुपातेनेति । एवमुक्तं पारमेश्वरेऽपि—

"मेखलावधिपर्यन्तं नीचान्यङ्गानि मीलयेत्" (२६।२३) इति ।

मेखलात्रयनिर्माणमाह—भागपङ्क्तित्रयेणेति सार्धेन ॥ ६२-६३ ॥

अथ चक्रकुण्डलक्षणमाह—मेखलानां तु शङ्कुस्येत्यारभ्य शिष्टं पुरोदितं[9] सर्व-

---

१. पृष्ठ उन्नता—मु० अटी० बक० । २. रदन—अ० । ३. तु त्रित—मु० अटी०, तत्र तथो—मु० अटी० । ४. सवि—बख० । ५. ध्ये श्री—अटी० उ० । ६. नार्धांशतो वापि—मु० । ७. णोक्तमिवे—म० । ८. दमिष्ट—अ० । ९. दितमि—अ० ।

ब्रह्ममर्मनिरुद्धेन चतुर्भागसमेन तु ।
खातार्थं प्राग् भ्रमं दद्यात् क्षेत्रमध्ये महामते ॥ ६५ ॥

बहिर्भागसमानाभिस्तद्बहिर्द्व्यंशविस्तृतम् ।
[1]अरक्षेत्रं च तस्यापि नेमिभागसमा बहिः ॥ ६६ ॥

भागेन तद्बहिस्त्वेका चतुरश्रा च मेखला ।
[2]भ्राम्य मध्यादरक्षेत्रं वृत्तेनैकेन वै पुनः ॥ ६७ ॥

[3]ततः सूत्राष्टकं दद्याद् दिग्विदिक्संस्थितं पुरा ।
तस्य चान्तर्गतं पश्चादष्टकं पातयेत् परम् ॥ ६८ ॥

ततस्तेषां समापाद्य[4]म् अरत्वममलेक्षण ।
अन्तर्वृत्तनिरोधेन प्रतिसूत्रस्य पक्षयोः ॥ ६९ ॥

सूत्रेण लाञ्छनं[5] कुर्यान्नाभिनेमिभ्रमावधेः ।
एकांशादर्धमानं च नेमिवृत्तस्य चान्तरे ॥ ७० ॥

द्वाभ्यां द्वाभ्यामराभ्यां तु मध्ये कुर्यात् प्रधिं प्रधिम् ।
विस्तारप्रोन्नता नाभिः कूर्मपृष्ठोप[6]माऽरका ॥ ७१ ॥

नेमिं[7] दर्पणवत् कुर्यात्[8] त्वीषन्निम्नावसानतः ।
शिष्टं पुरोदितं सर्वम् अथ पद्माकृतिं शृणु ॥ ७२ ॥

भागार्धं भ्रामयेन्नाभेर्बहिः केसरसिद्धये ।
भ्रामयेदपरं चार्धमरक्षेत्रस्य बाह्यगम्[9] ॥ ७३ ॥

नीत्वा लोपमनेनैव विधिना नेमिमण्डलम् ।
अरसूत्राश्रितं कुर्यात् ततः[10] पद्मदलाष्टकम् ॥ ७४ ॥

मित्यन्तम् । अत्र प्रतिसूत्र(स्य) पक्षयोः सूत्रेण लाञ्छनं कुर्यादित्यरलक्षणमुक्तम् । पारमेश्वरे—"मत्स्यवल्लाच्छनं कुर्यात्" (२६।२१) इति व्यक्तमुक्तं ज्ञेयम् ॥ ६४–७२ ॥

---

१. अरं क्षत्र–मु०, अरक्षत्रं–अटी० । २. भ्राममध्यावर–मु० अटी० । ३. तत्र–उ० । ४. पाद्या–अ० अटी० । ५. लाञ्छने–मु० अटी० । ६. पमाऽरकः–मु० अटी०, पमाः कराः–बक० बख० । ७. नेमिर्द–बक० बख० अ०, नेमी द–उ० । ८. कार्या–बक० बख० । ९. बाह्यतः–बक० बख०, बाहुकम्–अ० । १०. 'ततः पद्म''''पत्राग्रं कुर्याद्' नास्ति–अ० ।

केसरभ्रमरुद्धेन सूत्रेणार्धेन्दुलक्षणम् ।
तच्छृङ्गकोटिसंस्थेन परिधेर्बाह्यकेन तु ॥ ७५ ॥
सूत्रद्वयेन पत्राग्रं कुर्याद् ब्रह्मभ्रमावनेः ।
निरन्तराणामामूलात् केसराणां महामते ॥ ७६ ॥
कर्णिकोच्छ्रायतुल्यानां विभागं जनयेत् स्फुटम् ।
शङ्कुकोणचतुष्के तु शेषं पूर्ववदाचरेत् ॥ ७७ ॥
योनिमेकेन भागेन चतुर्भिर्मेखलागणम् ।
खातं पूर्वसमं किन्तु वृत्ते वृत्तास्तु मेखलाः ॥
चतुरश्रे तदाकारा इत्युक्तं कुण्डपञ्चकम् ॥ ७८ ॥

पद्मकुण्डलक्षणमाह—अथ पद्माकृति शृण्वित्यारभ्य शेषं पूर्ववदाचरेदित्यन्तम् ॥ ७२–७७ ॥

वृत्तचतुरश्रकुण्डयोर्लक्षणमाह–योनिरिति सार्धेन ॥ ७८ ॥

होमाधिक्यानुसारेण कुण्डविस्ताराभिवृद्धिमाह—कालमिति । अत्रैकहस्तादारभ्याष्टहस्तपर्यन्तमेकैकाङ्गुलवृद्ध्या नवषष्ट्युत्तरशतसंख्याकमानभेदा ज्ञेयाः । पारमेश्वरे द्वादशाङ्गुलमारभ्याष्टहस्तपर्यन्तमेकाशीत्यधिकशतसंख्याकमानभेदा उक्ताः—

आद्वादशाङ्गुलान्मानादेकैकाङ्गुलवर्धनात् ।
द्विचतुर्हस्तपर्यन्तमेकाशीत्यधिकं शतम् ॥
एतेष्वेकतरं प्रोक्तमन्येषामेवमेव हि । (२६।२८–२९) इति ।

द्वादशाङ्गुलमारभ्य कुण्डमानाभिवृद्धिरवश्यमपेक्षिता । यतोऽत्र प्रतिष्ठाप्रकरणे—

ह्रासादङ्गुलयुग्मस्य यावद्वै षोडशाङ्गुलम् ।
स्यात् षट्करे गृहे कुण्डं कार्या वा मेखलाधिका ॥ (२५।१४)

इति षोडशाङ्गुलकुण्डमप्युक्तम् । एवमेतावत्संख्याकहोम एतावन्मानमितं कुण्डमिति व्यक्तमुक्तं जयाख्ये—

शतार्धसंख्याहोमे च कुण्डं स्याद् द्वादशाङ्गुलम् ॥
होमे सौष्टशते चैव मुष्ट्यरत्निसमं भवेत् ।
होमे चार्धशते चैव सारत्निः सकनिष्ठिकः ॥

---

१. गेन–उ० । २. वने–बक० बख० उ० । ३. च्छ्रय–मु० अटी० बक० बख० । ४. नव–अ० । ५. मारभ्य पर्य–अ० । ६. ह्रदा–अ०, ह्लादा–म० । ७. चाष्ट–अ० । ८. सार्ध–मु० । ९. ष्ठिका–मु० ।

कालमाहुतिसंख्यां च होमद्रव्यप्रभूतताम् ।
ज्ञात्वैवमेकहस्तात् तु कुर्यादष्टकरावधि ।। ७९ ।।

इति श्रीपाञ्चरात्रे[1] श्रीसात्वतसंहितायां यागकुण्डविधिर्नाम[2]
एकादशः परिच्छेदः ।।

हस्तं सहस्रहोमे तु अयुताख्ये द्विहस्तकम् ।
लक्षहोमे चतुर्हस्तं कोटिहोमेऽष्टहस्तकम् ।। (१५।१२-१४) इति ।

द्वादशाङ्गुलादिकुण्डानां मेखलाप्रमाणमपि तत्रैव स्पष्टमुक्तम्—

प्रमाणं मेखलानां च यैवद्वादशसंमितम् ।।
द्वादशाङ्गुलमानस्य कुण्डस्य परिकीर्तितम् ।
विस्तारतुल्यमुच्छ्रायो मेखलानां महामते ।।
मेखलात्रितयं चैवमेकीकृत्य तु जायते ।
विस्तारस्तु ततोच्छ्रायः[5] सार्धं तु चतुरङ्गुलम्[6] ।।
रत्निमात्रस्य कुण्डस्य मेखलाद्व्यङ्गुलाः स्मृताः ।
अङ्गुलं सकनिष्ठस्य कुण्डस्यार्धोत्तरं द्वयम् ।।
त्र्यङ्गुला हस्तमात्रस्य कुण्डस्य समता स्मृता ।
द्विहस्तस्य द्विजश्रेष्ठ मेखलाश्चतुरङ्गुलाः ।।
चतुर्हस्तस्य कर्तव्याः सर्वाश्चैव षडङ्गुलाः ।
अष्टाङ्गुलिश्च कुण्डस्य अष्टहस्तस्य कीर्तिताः ।। (१५।१६-२१)

इति ।।७९।।

तथा चैवं कुण्डनिर्माणप्रकारः—कुण्डस्थानं पूर्वं मण्डलोक्तप्रकारेण सूत्रपातैरष्टादशधा विभज्य तत्र मध्यमा[10]न्मर्मस्थानात् पञ्चमं प्राक्दिक्स्थं[11] यन्मर्म तत्संस्पर्शानामेककोष्ठदीर्घेण सूत्रेण कोष्ठद्वयेऽर्धचन्द्राकारं लाञ्छनं कृत्वा तदधःपङ्क्तिद्वये कोष्ठद्वादशकस्यैक्यसिद्ध्यर्थं तद्दशकाद् बहिर्दक्षिणकोष्ठद्वये तदुत्तरकोष्ठद्वये च पूर्ववदर्धचन्द्राकारं लाञ्छनद्वयं तिर्यग्विलिख्य मध्याच्चतुर्थं यन्मर्म तद्दक्षिणभागस्थ[12]मर्मद्वयावस्थितेन सूत्रेण तद्वामभागमर्मद्वयावस्थितेन सूत्रेण च पूर्वं विलिखितमर्धचन्द्राकारलाञ्छनत्रयं चैकीकृत्य पुनर्मध्याद् द्वितयमूर्ध्वस्थं यन्मर्म तस्मात् त्र्यन्तरीभूतं

---

१. पञ्च—उ० । २. विधिरेका—उ० । ३. अष्टं—अ० । ४. यावद् द्वा—अ० म० । ५. च्छ्राये—अ० म० । ६. लैः—अ० म० । ७. ला—अ० म० । ८. द्वयं—अ० । ९. स्पृहा—अ० । १०. मध्यमान—अ० । ११. दिक्संस्थं—अ० । १२. गस्थं मर्म—अ० ।

चतुर्थं दक्षि(णं?ण)पार्श्वस्थं वामपार्श्वस्थं च यन्मर्म तदवस्थितेन सूत्रेण पूर्ववद् दक्षिण-कोष्ठद्वये वामकोष्ठद्वये चार्धचन्द्राकारं लाञ्छनद्वयं तिर्यग्विलिखेत्। एवं कृते पूर्वोक्त-द्वादशकस्याधःपङ्क्तिद्वयेऽपि भागद्वादशकस्यैक्यं भवति। अथ पश्चिमदिशि मध्यात् षष्ठस्य मर्मणः सूत्रद्वयं प्रसार्य पूर्वोक्तयोर्दक्षिणोत्तरभागस्थार्धचन्द्राकारलाञ्छनयोः शृङ्गाग्राभ्यां सह योजयेत्। एवं कृते शङ्खाकारता सिद्ध्यति।

एवं खातार्थं परितो लाञ्छनं कृत्वा तद्बहिस्तथैव शङ्खाकारैकभागमिति मेखलासिद्ध्यर्थं प्राग्दिशि कोष्ठद्वयदीर्घेण सूत्रेण कोष्ठचतुष्टयेऽर्धचन्द्राकारं लाञ्छनं कृत्वा तथैवै[1]शान्यकोण आग्नेयकोणे च कोष्ठपञ्चके लाञ्छनद्वयं कृत्वा तदधः पार्श्व-द्वयेऽपि कोष्ठचतुष्टये पूर्ववद् द्वे लाञ्छने विलिख्य पूर्वोक्तरीत्या पश्चिमभागस्थसप्त-मर्मणः सूत्रद्वयं प्रसार्य पूर्वोक्तलाञ्छनद्वययोः शृङ्गाग्राभ्यां सह योजयेत्। एवं कृते मेखलारूपं सिद्ध्यति।

अथ पाश्चात्ये भा[2]गे योनिसिद्ध्यर्थं मध्यसूत्रदक्षिणभागकोष्ठद्वये वामभागकोष्ठ-द्वये चार्धचन्द्राकारलाञ्छनद्वयं विलिख्य दक्षिणलाञ्छनस्य दक्षिणशृङ्गाग्र एकं सूत्रं वामभागस्थलाञ्छनस्य वामशृङ्गाग्रेणैकं सूत्रं संयोज्य तद्द्वयमपि वटपत्रवत् खात-भागपर्यन्तं प्रसारयेत्। एवं कृते योनिः सिद्ध्यति। इयं योनिर्वक्ष्यमाणकुण्डानामपि साधार[3]णा।

पुनस्तद्योनेरभ्यन्तरे मध्यसूत्रस्य दक्षिणकोष्ठे च कोष्ठार्धमानसूत्रेण पूर्ववदर्ध-चन्द्राकारं लाञ्छनद्वयं विलिख्य पूर्ववत् तयोः शृङ्गाग्राभ्यां सूत्रद्वयं प्रसारयेत्। अथ खातस्य परित ओष्ठसिद्ध्यर्थं खातस्यान्तः परित एकं कोष्ठं चतुर्धा विभज्य तेष्वेकं भागं विसृज्य शेषं सर्वमपि खातभागविस्तारसमं तत्त्र्यंशमर्धं वा निखनेत्। पूर्वोक्त-योनिदैर्घ्यात् सपादकोष्ठद्वयमि[4]ता पृष्ठतो ग[5]जोष्ठसदृशी पूर्वोक्तमोष्ठं स्पृशन्ती स[6]ती कर्तव्या। एवं च खातप्रदेशे परितो योन्यग्रे पूर्वोक्तरीत्या कोष्ठचतुर्थांशं विसृज्य खातार्थं शङ्खाकारं सूत्रं पूर्ववद् दत्वा तदनन्तरमोष्ठार्थमेकं सूत्रं मेखलार्थमेकं सूत्रं च दद्यात्। ऊर्ध्वे ओष्ठं तदधो मेखला यथा स्यात् तथा तत्सूत्रयोः पातं संकुचितं कुर्यात्। तद्बहिः परितः पङ्क्तित्रयेण चतुरश्रं मेखलात्रयं कुर्यात्। शङ्खान्तानां मेखलानामौन्नत्यं तु कुण्डविस्तारसमं कुर्यात्।

इति शङ्खकुण्डलक्षणम्॥

अथ चक्रकुण्डलक्षणमुच्यते—पूर्वोक्तप्रकारेणाष्टादशधा विभक्ते चतुरश्रे क्षेत्रे[7] मध्ये मर्मस्थाने सूत्रं संस्थाप्य मध्यात् पञ्च[8]मरेखास्पर्शिना सूत्रेणैकं मण्डलं विलिख्य पुनः षष्ठरेखास्पर्शिना सूत्रेणैकं वृ[9]त्तमापाद्य पुनर्नवमरेखास्पर्शिना सूत्रेणैकं वृत्तं कुर्यात्।

१. तथैवे–अ०। २. भागयोनि–अ०। ३. रण–अ०। ४. मिति–अ०। ५. 'गज' नास्ति–अ०। ६. सति–अ०। ७. क्षेत्रमध्ये–अ०। ८. पञ्चरेखा–अ०। ९. 'वृत्तमापाद्य ··· सूत्रेणैकं' नास्ति–अ०।

तेषु प्रथमं मण्डलं खातार्थं द्वितीयं नाभिस्थानं तृतीयमरस्थानं चतुर्थं नेमिस्थानमिति ज्ञेयम् । तद्बहिः पङ्क्तौ चतुरश्रा एकैव मेखला कर्तव्या । पूर्वोक्तमरस्थानं मध्यात् पुनरेकेन वृत्तेन परिभ्राम्य तत्र प्रागादिदिक्ष्वाग्नेयादिविदिक्षु च सूत्राष्टकं दत्वा तेषामरत्वसिद्ध्यर्थमन्तर्वृत्तनिरुद्धेन[1] सूत्रेण प्रतिसूत्रस्य पक्षयोर्नाभिवृत्तपर्यन्तं नेमिवृत्तपर्यन्तं च मत्स्यवल्लाञ्छनं कृत्वा नेमिवृत्तस्यान्तरे द्वयोर्द्वयोररयोर्मध्ये एकैकं प्रधिं कुर्यात् । अत्र नाभिः कुण्डविस्तारसदृशोच्छ्राया कूर्मपृष्ठसदृशी कार्या । नेमिर्दर्पणसदृश्यग्रे ईषन्निम्ना च कर्तव्या । अन्यत् सर्वं पूर्ववत् कुर्यात् ।

इति चक्रकुण्डलक्षणम् ॥

अथ पद्मकुण्डलक्षणमुच्यते—तत्रापि चक्रकुण्डवत् प्रथमं मण्डलं खातार्थं कृत्वा द्वितीये नाभिमण्डले भागार्धं[2] कर्णिकासिद्ध्यै अपरार्धं[3] केशरसिद्ध्यै द्वेधा मण्डलीकृत्याऽरक्षेत्रस्य बहिरेवमेव नेमिमण्डलं द्वेधा कृत्वा प्रथमभागमरक्षेत्रेण सहैकीकुर्यात् । उत्तरभागं पत्राग्रसिद्ध्यै स्थापयेत् । अरक्षेत्रेऽष्टदलसिद्ध्यर्थं प्रागाद्यष्टदिक्ष्वपि केसरमण्डलरुद्धेन सूत्रेणाऽर्धचन्द्राकारं लाञ्छनद्वयं (द्वयं ?) परस्पराभिमुखं कृत्वा तच्छृङ्गाग्रसंस्थितेन दलमण्डलबाह्यगेन[4] सूत्रद्वयेन पत्राग्रं कुर्यात् । आमूलान्निरन्तराणां कर्णिकोच्छ्रायतुल्यानां केसराणां व्यक्तं यथा तथा विभागं जनयेत् । पत्राग्रमण्डलाद् बहिश्चतुष्कोणेषु शङ्खचतुष्टयं कुर्यात् । शेषं पूर्ववत् ।

इति पद्मकुण्डलक्षणम् ॥

अथ वृत्तचतुरश्रयोर्लक्षणमुच्यते—पूर्वोक्तरीत्याऽष्टादशधा विभक्ते क्षेत्रे मध्ये पूर्ववच्चतुःषष्टिकोष्ठानि खातार्थं विहाय तद्बहिरेक(धा?या) पङ्क्त्या योनिकल्पनं चतुर्भिः पङ्क्तिभिर्मेखलाचतुष्टयकल्पनं च कुर्यात् । किन्तु खातं मेखलाश्च वृत्ते कुण्डे वृत्ताकाराश्चतुरश्रे तदाकारा इति ज्ञेयम् । ओष्ठं योनिं चानयोः कुण्डयोरपि पूर्ववदेव कुर्यात् ।

इति कुण्डपञ्चकलक्षणानि ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये एकादशः परिच्छेदः ॥

■

---

१. मन्तर्वृद्धिनिरुवतेन–अ० । २. भागार्धं–अ० । ३. रार्धं–अ० । ४. केन–अ० ।

द्वादशः परिच्छेदः

नारद उवाच[1]

एवमाकर्ण्य स त्वेवं[2] मुसली मुनिनायकाः ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा पप्रच्छ जगतां पतिम् ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच[3]

यथाक्रमस्थितानां च मन्त्राणां[5] लक्ष्मिनन्दन ।
त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि सर्वेषां[4] ध्यानलक्षणम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच[6]

त्रयाणां मुख्यपूर्वाणां ध्रुवान्तानां पुरोदितम् ।
शेषादीनां[7] च शेषाणामिदानीमवधारय ॥ ३ ॥
ध्यानं पातालनिलयपर्यन्तानां यथास्थितम् ।
एक एव जगन्नाथः स्वरूपाद्यैस्तु शक्तिभिः ॥ ४ ॥
नानात्वेनाप्यनन्तो यो भक्तानुग्रहकाम्यया ।
तस्याभिमानिकं रूपं शृणु सर्वेश्वरस्य तु ॥ ५ ॥

अथ द्वादशो व्याख्यास्यते। इह संकर्षणो वासुदेवं विभवदेवध्यानं पप्रच्छेत्याह—एवमिति ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—यथाक्रमस्थितानामिति। लक्ष्मीं नन्दयति संतोषयतीति लक्ष्मीनन्दनेति वासुदेवसम्बोधनम् ॥ २ ॥

एवं पृष्टो भगवान् प्रत्याह—त्रयाणामिति सार्धेन। मुख्यपूर्वाणां विशाखयूपादीनामित्यर्थः। त्रयाणां विशाखायूपपद्मनाभध्रुवाणामित्यर्थः। पूर्वं नवमपरिच्छेदे—"विशाखयूपो भगवान् स्वयं विश्वसिसृक्षया" (९।४९) इत्यादिभिर्विशाखयूपध्यानम्, "इत्येवमादिः सर्वेषाम्" (९।९६) इत्यादिभिः पद्मनाभध्रुवध्यानं च प्रतिपादितमित्यर्थः। शेषाणाम् अवशिष्टानामित्यर्थः। शेषादीनामनन्तादीनां पातालनिलयपर्यन्तानां पातालशाय्यन्तानां षट्त्रिंशद्विभवदेवानामित्यर्थः ॥ ३–४ ॥

तत्रादावनन्तस्य रूपं शृण्वित्याह—एक इति सार्धेन ॥ ४–५ ॥

---

१. नारद इत्येव उ० विहाय सर्वत्र। २. त्वेव—मु० अटी० बक० बख०। ३. सङ्कर्षण इत्येव उ० विहाय सर्वत्र। ४. सर्वेषां—मु० अटी०। ५. मन्त्राणां—मु० अटी०। ६. भगवानित्येव उ० विहाय सर्वत्र। ७. नामशे—मु० अटी०।

तुहिनाचलसंकाशं पूर्णचन्द्रसमाननम् ।
स्वमणि[1]व्यञ्जितेनैव युक्तं फणगणेन तु ॥ ६ ॥
प्रोद्वहन्तं हलं चक्रमपसव्यद्वयेन तु ।
वामहस्तद्वयेनैव शङ्खं मुसलमेव च ॥ ७ ॥
नित्यसन्निहिताशे[2]षशक्तिं सर्वज्ञमच्युतम् ।
मनस्यन्तर्मुखानां यत् कर्मिणां पूरयेच्च तत् ॥ ८ ॥
शक्तीशोऽप्यथ सञ्चिन्त्यः पुण्डरीकनिभेक्षणः ।
इच्छारूपधरश्चैव सौम्यः प्रहसिताननः ॥ ९ ॥
व्यक्तये च फलादीनां भक्तानामनुकम्पया ।
पीडयन् स्वाङ्घ्रियुग्मेन वसुधां च करद्वयम् ॥ १० ॥
युगानुसारिकान्तिश्च चतुर्वक्त्रश्चतुर्भुजः ।
मूर्तचक्रगदाहस्तः [3]अमूर्ता[4]ब्जाम्बुजाङ्कितः ॥ ११ ॥
शमं नयति सन्तापं कमलेनेन्दुकान्तिना ।
नानामन्त्रमयीं विद्यां [5]व्यञ्जयत्यमलात्मनाम् ॥ १२ ॥

तस्य ध्यानप्रकारमाह—तुहिनेति त्रिभिः। शेष[6]कृत्यं भगवत्कैङ्कर्यधुरीणमित्यर्थः। नन्वनेनानन्तस्य भगवदाविष्टत्वमात्रं ज्ञायते, न साक्षादवतारत्वम्, कथं तस्य मुख्यप्रादुर्भावेष्वन्तर्भाव इति चेन्न, भगवदधिष्ठितबद्धचेतनानामेव मुख्येष्वनन्तर्भावात्। अन्तर्मुखानां निजभक्तानां मनसि यद्वाञ्छितमस्ति तत् पूरयेत् प्रयच्छेदित्यर्थः। अनन्तस्थानं तु श्रीविष्णुपुराणे—

आस्ते पातालमूलस्थः शेषोऽशेषसुरार्चितः ॥
तस्य वीर्यं स्वभावं च स्वरूपं रूपमेव च ।
नहि वर्णयितुं शक्यं ज्ञातुं वा त्रिदशैरपि ॥
[7]यस्य सा सकला पृथ्वी फणामणिशिखारुणा ।
आस्ते कुसुममालेव कस्तद्वीर्यं वदिष्यति ॥ (२।५।२०–२२)

इति ॥ ६–८ ॥

अथ शक्त्यात्मध्यानमाह—शक्तीश इत्येकादशभिः। इच्छारूपधरः, वक्ष्यमाणवाहनदेवीभुजास्त्रभेदैर्नानारूपधर इत्यर्थः। अमूर्ताब्जाम्बुजाङ्कितः, अमूर्तः केवल-

---

१. रञ्जिते–अ० । २. शेषकृत्यं–अ०, शेषवृत्ति–म० । ३. स्वेति सार्वत्रिकः पाठः । भाष्यानुरोधी 'हस्तो ह्यमू' इति पाठः शोभनः स्यात् । ४. र्ताच्छेति सार्वत्रिकः पाठः । ५. भाव–मु० अटी० । ६. वृत्ति–म० । ७. यस्यैषा–मु० ।

सम्यग् वाक्पतिना चैव कम्बुना शब्दमूर्तिना[1] ।
आज्ञाप्रतीक्षकेणैव गदाचक्रद्वयेन तु ।। १३ ।।
प्रेरितेन हिनस्त्याशु साधुसन्तापकारिणाम्[2] ।
नारसिंहेन वक्त्रेण[3] भवभीतिविघातकृत् ।। १४ ।।
पुष्णाति सर्वभूतानि वाराहेणामृतात्मना ।
कुरुते पश्चिमस्थेन कापिलेनोपसंहृतिम् ।। १५ ।।
भक्तिश्रद्धापराणां च स्मृतमात्रः सदैव[4] हि ।
हृन्मध्ये गगने भूमौ वह्निमध्ये जलान्तरे ।। १६ ।।
चतुर्णां ब्राह्मणादीनां स्वयमेवानुकम्पया ।
चातुरात्म्येन रूपेण चतुर्धा व्यक्तिमेति च ।। १७ ।।
आत्मतुल्येन देहेन शङ्खपद्माङ्कितेन तु ।
मूर्तिमद्भिर्हलाद्यैस्तु युक्तेन बदनैर्विना ।। १८ ।।
वर्णानुरूपवर्णेन समेनाप्यसमेन तु ।
अन्योन्यानुगतेनैव पूर्वोद्दिष्टेन नान्यथा ।। १९ ।।

रेखारूपः, अब्जः शङ्खः, अम्बुजं कमलम्, ताभ्यामङ्कितः । एवं शक्तीशावतारो व्यूहाद् विभवाद्वा संभवतीति बोध्यम् । यतोऽस्मिन्नेव परिच्छेदे वक्ष्यति—

चातुरात्म्यसमूहं[5] तु यत्पद्मदलभूस्थितम् ।
तथा विभवदेवानां मध्यात् पद्मदलेक्षण ।।
एकस्त्वनुग्रहार्थं तु शक्त्यात्मा भावितात्मनाम् ।
बिभर्ति बहुभेदोत्थं रूपं सद्वाहनस्थितम् ।। (१२।१७५–१७६)

इति । अंशावतारत्वमेवोक्तमस्य सहस्रनामभाष्ये—"अथांशावताराः—युगानुसारिकान्तिश्चेति । एवं व्याप्तिनियमनादिशक्तिद्वारा विश्वस्य व्याप्तेर्विष्णुः, "सर्वशक्त्यात्मने" (सा० सं० २३।४८) इति मन्त्रवर्णात्" (पृ० ५७६) इति । एवं च त्रिमूर्तिष्वयमेकतम इति बोध्यम्, "नारायणावतारो यः शक्तीशो नाम नामतः" (८।१९) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः ।। ९–१९ ।।

१. शक्ति–उ० । २. कारिणा–अटी०, कारिणः–अ० उ० । ३. चक्रेण–अ० । ४. समेत्य वै–मु० अटी० । ५. हात्तु–मु० ।

प्रलयानलसूर्याभः स्मर्तव्यो मधुसूदनः ।
अष्टबाहुर्विशालांसो[1]ऽप्यग्निष्टोम[2]मकराङ्कितः ॥ २० ॥
शङ्खचक्रधरश्चैव बाणकार्मुकधृक् तथा ।
रजस्तमोभ्यां मूर्ताभ्यां सम्प्रवृत्तिनिवृत्तये ॥ २१ ॥
कर्णपीठनिविष्टं च ध्येयं पाणियुगं विभोः ।
विद्याधिदेवं भगवच्चतुर्वक्त्रं चतुर्भुजम् ॥ २२ ॥

अथ मधुसूदनध्यानमाह—प्रलयानलेति सार्धद्वाभ्याम् । अस्यावतारस्य प्रादुर्भावान्तरत्वमुक्तं पौष्करे—

मधुकैटभमाथी च प्रादुर्भावेश्वरस्य च ।
प्रादुर्भावान्तरं विद्धि पद्मनाभस्य वै विभोः ॥ (३६।२१४) इति ।

अस्य स्थानमप्युक्तं तत्रैव—

मधुकैटभमाथी च संस्थितः सोऽवनीतले ॥
क्षीरोदकक्षितिक्षेत्रे सुरासुरनिषेविते । (३६।३४३–३४४)

इति ॥ २०–२२ ॥

अथ विद्याधिदेवध्यानमाह—विद्याधिदेवमिति सार्धेन । यद्यपि चतुर्वक्त्रमित्यस्य श्रुतीर्वक्त्रेभ्यः प्रोद्गिरन्तमित्यस्य चैककण्ठयाद् "वेदविदे" (सा० सं० २३।५०) इति विद्याधिदेवमन्त्रवर्णलिङ्गाद् उत्तरत्र स्मरेद् ध्यायेदिति पौनरुक्त्यप्रसङ्गासंभवाच्च "श्रुतीर्ऋग्गाद्या वक्त्रेभ्यः प्रोद्गिरन्तमतः स्मरेत्"(१२।२४) इति वाक्यस्यापि पूर्वेणान्वयः स्वरसः, तथापि सर्वज्ञैः श्रीमत्पराशरभट्टारकैः सहस्रनामभाष्ये (पृ० ४८३) तस्य वाक्यस्य कपिलध्यानपरत्वेनोत्तरत्र योजितत्वादस्मादृशैस्तच्चलयितुं न शक्यम् । किञ्च, यद्यप्यस्य विद्याधिदेवस्य चतुर्वक्त्रत्वजटाकमण्डलवक्षसूत्रधरत्वादिलक्षणानामुक्तत्वादयं विरिञ्चिरिति ज्ञायते, तथापि सहस्रनामभाष्ये (पृ० १८३) नियमेन तेषां ब्रह्मादीनां भगवदवतारगणनास्वपरिगणनात्, देवमनुष्यादिवत् सृष्टिप्रकरणेषु सृज्यतया परिगणनात्, प्रत्युत तेषां प्रादुर्भावेभ्यो भेदव्यपदेशात्, प्रादुर्भावविलक्षणेन प्रादुर्भावान्तरशब्देन निर्देशात्, भगवद्विभूतिलेशोद्भवत्वतत्प्रादुर्भावविशेषाधीनप्रवृत्तित्वादिव्यवहाराच्च ब्रह्मणः प्रादुर्भावत्वं निह्नुतम् । किञ्च,

कालो[3] वियन्नियन्ता च शास्त्रं नानाङ्गलक्षणम् ।
विद्याधिपतयश्चैव सरुद्रः सगणः शिवः ॥
प्रजापतिसमूहस्तु इन्द्रः सपरिवारकः । (९।९१–९२)

---

१. लांशो–मु० अटी० उ० । २. ष्यग्नीषोम–उ० । ३. कालोऽपि–म० ।

लम्बकूर्चं[1] जटादण्डकमण्डल्वक्षसूत्रिणम्[2] ।
फुल्लरक्ताम्बुजाभासं श्वेतपद्मकराङ्कितम् ॥ २३ ॥
श्रुतीर्ऋगाद्या वक्त्रेभ्यः प्रोद्गिरन्तमतः[3] स्मरेत् ।
निर्धूमाङ्गारवर्णाभं शङ्खपद्माक्षसूत्रिणम्[4] ॥ २४ ॥
[5]फुल्लरक्ताब्जविभवं देवताद्यात्मसूत्रकम् ।
ध्यायेदभयपाणिं तं कपिलं तेजसां निधिम् ॥ २५ ॥

इत्यादिपूर्वोक्तभवोपकरणदेवतावर्ग एव प्रजापतिसमूह इत्यत्र चतुर्मुखस्याप्यन्तर्भावश्चोक्तः । तस्मात् "परमात्मने" (सा० सं० २३।५१) इति मन्त्रवर्णलिङ्गाच्च नायं विद्याधिदेवो विरिञ्चिः, अपि तु साक्षात् प्रादुर्भाव इति ज्ञेयम् ।

ननु श्रीपौष्करे—

> मधुकैटभमाथी च प्रादुर्भाविश्वरस्य च ।
> प्रादुर्भावान्तरं विद्धि पद्मनाभस्य तद्विभोः ॥ (३६।२१४)

इत्यादिभिर्मधुसूदनादीनामपि प्रादुर्भावान्तरत्वं बहुशः कण्ठरवेणोक्तम्, किं तावता तेषामपि प्रादुर्भावत्वविरोध इति चेन्न, समुच्चितैः पूर्वोक्तैर्हेतुभिश्चतुर्मुखादीनां प्रादुर्भावत्वविरोधात्, मधुसूदनादिषु तथाविधहेतुसमुच्चयस्यानवकाशाच्च ॥२२–२३॥

अथ कपिलध्यानमाह—श्रुतीरिति द्वाभ्याम् । वक्त्रेभ्य इति पूजायां बहुवचनं बोध्यम् । यद्वा तस्याप्यैच्छिकं चतुर्मुखत्वं वक्तव्यम् । अस्य श्रुतिप्रवर्तकत्वं तु सहस्रनामभाष्य एव प्रतिपादितम् "सत्यवृत्तिस्त्रिविक्रमः । महर्षिः कपिलाचार्यः" (५७–५८ श्लो०) इत्यत्र—"ईदृशेन महामहिम्ना वाच्येन विक्रान्तत्रिवेदस्त्रिविक्रमः ।

> त्रिरित्येवं त्रयो वेदाः कीर्तिता मुनिसत्तमैः ।
> क्रमसे तांस्तथा सर्वान् त्रिविक्रम इति स्मृतः ॥" (पृ० ४८१–४८२)

इति, "यथोक्तवेददर्शनान्महर्षिः" (पृ० ४८२) इति च । अस्य पातालतलवासित्वं सुप्रसिद्धम् । अर्चारूपस्थानं तु श्रीपौष्करे—

> प्राक्समुद्रापयाने तु भूभागे शुभलक्षणे ॥
> कापिलीं मूर्तिमासाद्य वासुदेवः स्थितः प्रभुः । (३६।३५७–३५८)

इति प्रतिपादितम् ॥ २४–२५ ॥

---

१. कूर्च–मु० अटी०, कण्ठ–मु० । २. सूत्रकम्–मु० अ० उ० । ३. मनु–मु० अटी० बक० बख० । ४. सूत्रकम्–उ० । ५. पङ्क्तिरेषा न दृश्यते–बख० अ० उ० ।

योऽन्तः सर्वेश्वरो देवः साक्षिभूतो व्यवस्थितः ।
स्फटिकोपलवद् भावान् स्वशक्त्युत्थान् बिभर्ति च ॥ २६ ॥
अविद्याविष्कृतानां तु भक्तानां [1]सत्पदाप्तये ।
तमनादिं जगन्नाथं बहिः स्थूलतरा[2]त्मनाम् ॥ २७ ॥
द्यावापृथिव्योरन्तःस्थं विश्वरूपमनुस्मरेत् ।
अनेकवक्त्राङ्घ्रिकरम् अनेकमकराङ्कितम् ॥ २८ ॥
यद्यप्यनेकवदनम् अनेकभुजभूषितम् ।
तथापि वै त्रयस्त्रिंशद् वदनैर्विविधैर्युतम् ॥ २९ ॥
चतुरभ्यधिकैर्दिव्यैश्चत्वारिंशन्महाभुजैः ।
ब्रह्मरुद्रेन्द्रदक्षार्कचन्द्रसिद्धास्तथा [3][4]श्रुतिः ॥ ३० ॥
पौरुषस्य तु वक्त्रस्य चोर्ध्ववक्त्रस्थितास्त्वमी ।
पिशाचाग्निमरुच्छैलद्वी[5]पगन्धर्ववारिभिः ॥ ३१ ॥
वक्त्रैरूर्ध्वस्थितैर्ध्यायेद् दक्षिणं वदनं विभोः ।
[6]पातालदिङ्महामेघलोकराशिग्रहोत्थितैः ॥ ३२ ॥
[7]वक्त्रैस्तारासमेतैस्तु ध्यायेद् वक्त्रं तु पश्चिमम् ।
यक्षान्तकाम्बु[8]नागाद्यैर्वसुनक्षत्रगोगणैः ॥ ३३ ॥
वक्त्रैर्वराहवक्त्रोर्ध्व[9]स्थितैर्ध्यायेच्च दक्षिणम् ।
पद्माद्यं चातुरात्मीय[10]मस्त्राणां दशकं महत् ॥ ३४ ॥

अथ विश्वरूपध्यानमाह—योऽन्तः सर्वेश्वरो देव इत्यारभ्य स्मरेद् हृत्कमलादिष्वित्यन्तम् । प्राङ्मुखस्य पौरुषस्य वक्त्रस्योर्ध्वे ब्रह्मादिश्रुत्यन्तवक्त्राष्टकम्, दक्षिणस्य नारसिंहवक्त्रस्योर्ध्वे [11]पिशाचादि(वारि)पर्यन्तवक्त्रसप्तकम्, पश्चिमस्य कपिलवक्त्रस्योर्ध्वे पातालादितारान्तवक्त्रसप्तकम्, औत्तरस्य [12]वाराहवक्त्रस्योर्ध्वे [13]यक्षादिगोगणान्तवक्त्रसप्तकम्, आहत्य त्रयस्त्रिंशद्वक्त्राणि ज्ञेयानि । तारासमेतैरित्यत्र ताराशब्देन[14] अश्विन्यादिप्रधाननक्षत्राणि, नक्षत्रशब्देन तदन्यानि नक्षत्राणि ज्ञेयानि, अन्यथा

---

१. सम्पदा—बक० अ० उ० । २. त्मना—अ० उ० । ३. मतः—अ० उ० । ४. शुचिः—अटी० । ५. द्विप—मु० अटी० बक० बख० अ० । ६. पाताला—मु० अटी० बक०, पातालादिर्म—बख० अ० । ७. वर्णै—मु० अटी० बक० बख० । ८. ब्जनाभाद्यैरिति सार्वत्रिकः पाठः । ९. ध्वं ध्यायेच्चैवमतः शुभैः—बक० बख० अ० उ० । १०. यं मन्त्राणां—अटी० । ११. विशाखादि—म० । १२. वराह—म० । १३. यक्षादिदिक्कोणगणान्त—अ० । १४. 'ताराशब्देन' नास्ति—अ० ।

प्रोच्छ्रितं हि सुवर्णाद्यं[1] तल्लाञ्छनचतुष्टयम् ।
लोकेशास्त्राष्टकं चैव पुस्तकं चाक्षसूत्रकम् ॥ ३५ ॥
दर्वी कमण्डलुर्हैमश्चाभयं हि वरान्वितम् ।
दर्भाजिनं ततश्छत्रं सुशुभं चामरं सितम् ॥ ३६ ॥
स्रुक्स्रुवौ चापि कलशौ वेदिर्वह्निसमन्विता ।
चन्द्रार्कमण्डले पूर्णे नागेन्द्रो मणिदर्पणः[2] ॥ ३७ ॥
पुष्पस्रग् व्यजनं दिव्यं विश्वपत्रलता तथा ।
स्मर्तव्यास्तु भुजेष्वस्य विभोः संस्थानकैः समैः ॥ ३८ ॥
यथोदितक्रमेणैव व्यत्ययो न भवेद् यथा ।
भाभिर्नानाप्रकाराभिर्देहोत्थाभिरिदं जगत् ॥ ३९ ॥
भासयन्तं जगन्नाथं स्मरेद् हृत्कमलादिषु ।
हंसमूर्तिमथात्मानं ज्ञानयज्ञभुजं स्मरेत् ॥ ४० ॥
कुन्देन्दुस्निग्धकान्तिं च हेम[3]तुण्डं[4] महातनुम्[5] ।
रजस्तमोऽङ्घ्रिं सत्सत्त्वविग्रहं परमेश्वरम् ॥ ४१ ॥
धर्माधर्मेक्षणं ध्यायेदग्नीषोमात्मकेन तु ।
दक्षिणोत्तरसंस्थेन पक्षयुग्मेन राजितम् ॥ ४२ ॥

पौनरुक्त्यात् । एवं वारिभिरित्यत्र वारिधिर्विवक्षणीयः । अम्बुशब्देन केवलमुदकं विवक्षणीयम् । नागाद्यैरित्यत्र नागानामाद्यः प्रथमोऽनन्त इत्यर्थः । चातुरात्मीयं वासुदेवादिव्यूहीयमित्यर्थः । पद्माद्यमस्त्राणां दशकं पद्मशङ्खचक्रगदाखड्ग[6]लाङ्गलमुसलशरशार्ङ्गखेटाख्यमायुधदशकमित्यर्थः । एतेषामायुधानां पूर्वं जाग्रद्व्यूहवासुदेवचतुर्मूर्तिलाञ्छनत्वेनोक्तत्वाच्चातुरात्मीयत्वं सुस्पष्टम् । लोकेशास्त्राष्टकं तु वज्रशक्त्यादिकं प्रसिद्धमीश्वरादिषु (९।११६–११७) प्रतिपादितं च । विश्वरूपस्थानं तु श्रीपौष्करे—

श्वेतद्वीपे कुरुक्षेत्रे हिमवन्ताचलेऽब्जज ।
वेदिकायामपि तटे विश्वरूपः स्थितः प्रभुः ॥ (३६।३३७)

इति ॥ २६–४० ॥

अथ हंसध्यानमाह—हंसेति सार्धैस्त्रिभिः । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—"सिद्धा-

१. स्वपर्णाद्यं–अ०, हिमवर्णाद्यं–उ० । २. णम्–मु० अटी० बख० । ३. होम–मु० अटी० । ४. कुण्ड–मु० अटी० बक० बख० । ५. ननम्–उ० । ६. 'खड्ग' नास्ति–अ० ।

बहिस्तमेवोदकस्थं तुहिनाचलसन्निभम् ।
ध्यात्वाऽर्चयेत् तु विधिवद् हंसविग्रहमच्युतम् ॥ ४३ ॥
बहिर्द्रव्यमयस्त्वेकः सामान्येनैकलक्षणः ।
सम्यङ्निर्वर्तितः[1] स्वर्गं पूर्वमृच्छति चार्थिनाम् ॥ ४४ ॥
अन्तर्वेद्यां चतुर्धा यस्त्वेक एव महामखः ।
[2]तपोयागजपध्यानस्वरूपः शश्वदेव हि ॥ ४५ ॥
याजिनामपवर्गं तु विदधाति समापनात् ।
तं यज्ञपुरुषं[3] ब्रह्म वासुदेवमजं हरिम् ॥ ४६ ॥
ध्यायेद् वै सूकरात्मानमञ्जनाद्रिसमप्रभम् ।
यज्ञाङ्गचिह्निताङ्घ्रिं च महाव्याहृतिदंष्ट्रिणम् ॥ ४७ ॥
भूर्भुवः स्वः शरीरं च शब्दब्रह्मैकमानसम् ।
निर्णुदन्तं प्रपन्नानामविद्यापङ्कमञ्जसा ॥ ४८ ॥
वैद्येन पोत्रप्रान्तेन त्वक्षयेनामलेन च ।
वासनावासितानां च जीवानां भवशान्तये ॥ ४९ ॥

मरार्चितं विद्धि श्वेतद्वीपे[4] तु हंसराट्" (३६।३१७) इति ॥ ४०-४३ ॥

अथ वराहध्यानमाह—बहिर्द्रव्यमयं इत्यादिभिः । वैद्येन विद्यामयेन । पोत्रप्रान्तेन वराहवक्त्राग्रेणेत्यर्थः । एवं यज्ञाङ्गदेहत्वं विष्णुपुराणेऽपि स्पष्टमुक्तम्—

पादेषु वेदास्तव यूपदंष्ट्र दन्तेषु यज्ञाश्चितयश्च वक्त्रे ।
हुताशजिह्वोऽसि तनूरुहाणि दर्भाः प्रभो यज्ञपुमांस्त्वमेव ॥
विलोचने रात्र्यहनी महात्मन् सर्वात्मैदं ब्रह्मपदं शिरस्ते ।
सूक्तान्यशेषाणि सटाकलापो घ्राणं समस्तानि हवींषि देव ॥
[8]स्रुक्तुण्ड सामस्वरधीरनाद प्राग्वंशकायाखिलसत्त्रसन्धे ।
पूर्तेष्टधर्मश्रवणोऽसि देव सनातनात्मन् भगवन् प्रसीद ॥ इति ।
(१।४।३२-३४)

अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—

"सौकरीयेन रूपेण क्षेत्रे तत्संज्ञके तु वै" (३६।३१९)

इति ॥४४-४९॥

---

१. निवेदितः–अटी० । २. पङ्क्तित्रयं नास्ति–उ० । ३. वपुषं–मु० । ४. चिता–अ० । ५. रूपे–अ० । ६. मधः–म० । ७. श्रयं ब्रह्म परं–मु० । ८. स्रक्कुण्ड–अ० म० । ९. शास्त्र–अ० म० ।

महाविभूतिर्भगवान् पूर्णषाड्गुण्यविग्रहः ।
स्व[1]कान्छान्तराद् ब्रह्मतत्त्वादादाय चाञ्जलिम् ॥ ५० ॥
करोति से[2]चनं दो[3]षदग्धानां च स्वतेजसा ।
स्थूलरूपेण तमजं बहिराराधनाविधौ ॥ ५१ ॥
आध्मातं वायुना यद्वन्निर्धूमाङ्गारपर्वतम् ।
ध्यायेत् तद्वन्महादीप्तं वाजिवक्त्रमलाञ्छनम् ॥ ५२ ॥
बद्धब्रह्माञ्जलिं क[4]स्थं द्रवत्कनकलोचनम् ।
घोणाग्रेणाहरन्तं च त्रैलोक्योत्थं[5] जलेन्धनम् ॥ ५३ ॥
कृत्वा तद् भस्मसात् सम्यक् [6]स्फूक्कुर्वन्तं मुखेन तु ।
धर्मसामान्यममलमनादिनिधनं विभुम् ॥ ५४ ॥
दुर्लभं यत् प्रबुद्धानां य[7]त्प्रसादधिया विना ।
तस्य स्थूलतरं रूपं शृणु तत्प्राप्तये परम् ॥ ५५ ॥
तुहिनाचलसंकाशं सौम्यवक्त्रं चतुर्भुजम् ।
कामार्थावुद्वहन्तं च शङ्खपद्मच्छलेन तु ॥ ५६ ॥
साधुमार्गे स्थितानां तु सं[8]यच्छन्तं धिया च तौ[9] ।

वडवानलध्यानमाह—महाविभूतिरित्यादिभिः । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—"अश्वात्मा[10] वडवामुखे[11]" (३६।३१८) इति ॥ ५०–५४ ॥

अथ धर्मध्यानमाह—धर्ममिति सार्धैस्त्रिभिः । तौ कामार्थावित्यर्थः, कामार्थावुद्वहन्तमिति पूर्वोक्तेः । अनेन प्रसिद्धस्यैव धर्मस्य भगवदवतारत्वमिति न भ्रमितव्यम्, तस्य तदुपकरणत्वमात्रात् । तथा च सहस्रनामभाष्ये—"[12]तच्छीलभगवदुपकरत्वाद्धि प्रसिद्धस्यापि धर्मस्य ताच्छील्यमिति, प्रसिद्धोऽपि धर्मोऽस्य सर्वसाधारणोपकरमिति धर्मी" (पृ० ४३५) इति । किञ्च,

धर्मात्मा भगवान् विष्णुः प्रादुर्भावं च शाश्वतम् ।
प्रादुर्भूतं हि वै यस्मान्नराद्यं कृष्णपश्चिमम् ॥
सपञ्चकालषट्कर्ममखधर्मैः समन्वितम् ।
जपध्यानसमोपेतमेवं यः पाति सर्वदा ॥

---

१. स्वकराब्जान्तराद्—मु० अटी० बक० बख० । २. वचनं—अ० । ३. दधानां—मु० अटी० बक० बख० । ४. लीकस्थं—बक० बख० उ०, लीखस्थं—अटी० । ५. त्थमलेन्धनम्—मु० अटी० । ६. स्फूत्कु—बक० बख० उ० । ७. तत्—उ० । ८. प्रय—मु० अटी० बक० । ९. वतौ—मु० अटी० । १०. अब्जात्मा—अ० । ११. मुखः—अ० । १२. अत्रत्यं प्रथमं वाक्यं प्रस्तुतस्थले नोपलभ्यते ।

सिताक्षमालं धर्मं[१] तु वरपाणिमतः स्मरेत् ॥ ५७ ॥
वाङ्मयं निखिलं यस्य वस्तुजातमनश्वरम् ।
शक्तित्वेन स्वभावस्थं चिद्रूपस्यामलद्युतेः ॥ ५८ ॥
वरवाजिमुखं ध्यायेदथ वागीश्वरं विभुम्[१] ।
सूर्यकान्ताग्नि[२]संकाशमनेकभुजभूषितम् ॥ ५९ ॥
कमलं चाक्षसूत्रं च वेदिं त्रेताग्निभूषिताम् ।
साज्यधारौ स्रुक्स्रुवौ तु विष्टरं सोमसंयुतम् ॥ ६० ॥
दर्भाजिनं मेखलां चाप्य[३]पसव्येषु षट्स्वमी[४] ।
स्मरेद् वामकरेष्वस्य पुस्तकं शङ्खमेव च ॥ ६१ ॥
दण्डं कमण्डलुं दर्वीमेकस्मिंस्त्रितयं करे ।
पूर्णं ग्राम्यैस्तथारण्यैश्चरुबीजैस्तु पञ्चमे ॥ ६२ ॥
[५]स्रुङ्मूलफलपत्रैस्तु यज्ञद्रव्यैः सदक्षिणैः ।
सर्वाश्रमोपकरणैर्युक्तं चमसभाजनम् ॥ ६३ ॥

चतुर्मूर्तिमयो विप्र नरो नारायणो हरिः ।
कृष्णसंज्ञश्च भगवान् प्रादुर्भावान्तरं विभोः ॥ (३६।२०७–२०९) इति,
धर्ममूर्तिर्महात्मा वै धर्मारण्ये सुरार्चिते ।
अनुग्रहपरस्त्वास्ते लोकानां लोकपूजितः ॥ (३६।३३२)

इति च श्रीपौष्करे सुस्पष्टं प्रतिपादितम् ॥५४–५७॥

अथ हयग्रीवध्यानमाह—वाङ्मयमित्यादिभिः । सोमसंयुतं सोमलता[६]न्वितमित्यर्थः । ग्राम्यारण्यबीजभेदास्त्वीश्वर[७]पारमेश्वरयोर्हविःपाकप्रकरणे प्रतिपादिता द्रष्टव्याः । विष्णुपुराणे च—

व्रीहयः सयवा माषा गोधूमा अणवस्तिलाः ।
प्रियङ्गुसप्तमा ह्येते अष्टमास्तु कुलुत्थकाः ॥
श्यामाकास्त्वथ नीवारा जर्तिलाः सगवेधुकाः ।
तथा वेणुयवाः प्रोक्तास्तद्वन्मर्कटका[८] मुने ॥
ग्राम्यारण्याः स्मृता ह्येता ओषध्यस्तु चतुर्दश ।
(१।६।२४–२६) इति ।

---

१. प्रभुम्—बक० बख० । २. कान्ताद्रि—अ० उ० । ३. च व्यप—बक० बख० । ४. स्वमूः—मु० अटी० । ५. स्रङ्—अटी०, सृक्—बख० । ६. तान्वय—अ० । ७. ईश्वरे पञ्चविंशेऽध्याये पारमेश्वरे चाष्टादशेऽध्याये । ८. मत्क—अ० ।

ध्येयमस्य भुजे षष्ठे वृत्त[1]भूतैर्ऋगादिभिः ।
वेदाङ्गैरुपवेदैस्तु संस्का[2]रैः समखैस्तथा ॥ ६४ ॥
विकारवसुधाधारे[3] ह्यभावे तु गुणोदधौ ।
स्वशक्तिभावितं कृत्वा मनःपूर्वं चतुष्टयम् ॥ ६५ ॥
प्रकृत्यन्तं समास्ते यः सर्वज्ञः पुरुषात्मना ।
निषण्णं भो[4]गिशय्यायां तपनीयरुचिं स्मरेत् ॥ ६६ ॥
देवमर्णवशाय्याख्यं [5]मूर्तैश्चक्रादिकैर्वृतम् ।
लक्ष्म्या संवाह्यमानं च समाक्रान्तं च निद्रया ॥ ६७ ॥
वीज्यमानं हि[6] वै प्रीत्या गीयमानं हि विद्यया ।
कूर्मात्मा कूर्मवद्[7] बुद्ध्या ध्यातव्यस्त्वथ लाङ्गलिन् ॥ ६८ ॥

एतैर्बीजैः पूर्णं पात्रं चतुर्थे, यज्ञद्रव्यैः पूर्णं पात्रं पञ्चमे, आश्रमोपकरणैर्युक्तं चमसभाजनं षष्ठे हस्ते च ध्येयम् । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—"कृष्णाश्वेऽश्वशिरोदेवो क्षितिक्षेत्रे [8]मर्मार्चिते" (३६।३२१) इति ॥ ५८–६४ ॥

एकार्णवशायिध्यानमाह—विकारेति सार्धैस्त्रिभिः । मनःपूर्वं चतुष्टयं मनोबुद्ध्यहङ्कारप्रकृतिचतुष्टयमित्यर्थः । अस्य लक्ष्म्यादि[9]शक्तिचतुष्टयान्वितत्वं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि प्रतिपादितम्—

> अवतारो हि यो विष्णोः सिन्धुशायीति संज्ञितः ।
> स्थिताऽहं परितस्तस्य चतुर्धा रूपमेयुषी[10] ॥
> लक्ष्मीर्निद्रा तथा प्रीतिर्विद्या चेति विभेदिनी । (८।३०–३१) इति ।

ननु किमयं चतुर्मुखरूपो भगवदवतारः । यतः श्रीविष्णुपुराणे—

> एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः ।
> भोगिशय्यागतः शेते त्रैलोक्यग्रासबृंहितः ॥ (१।३।२४)

इति ब्रह्मण एवैकार्णवशायित्वं प्रतिपादितमिति चेन्न, यतो ब्रह्मणोऽप्याधारभूतोऽयमर्णवशाय्यवतारः । ब्रह्मणस्तु तदानीं तन्नाभिकमलशायित्वम् । भोगिशय्यागतवचनं तु "भगवन्नाभिसरोरुहव्यवधानसहम्" (१।३।२४) इति विष्णुचित्तीये[11] प्रतिपादितम् ॥ ६५–६८ ॥

---

१. व्रतमूर्त्तै–मु० बक० बख०, व्रतभूतैः–अटी० । २. संस्कारः–मु० अटी० बक० बख० । ३. रेऽप्य–अ० । ४. भोग–अ० उ० । ५. मूर्तै–मु० बक० बख० । ६. चैव–उ० । ७. द्देवो–बख०, द्देहो–अ० । ८. क्षमा–मु० । ९. 'शक्ति' नास्ति–अ० । १०. मीयुषी–अ०म० । ११. विष्णुचित्तविरचिते विष्णुपुराणव्याख्यान इत्यर्थः ।

द्रवत्कनकवर्णाभः स्वसामर्थ्याज्जलाश्रयः ।
[1]शक्त्यादिक[2]कलाद्वन्द्व[3]द्वितयाङ्घ्रिः सनातनः[4] ॥ ६९ ॥
[5]शक्त्यादिककलाढ्यश्च प्रोद्गिरंस्तु श्रुतित्र[6]यम् ।
अतसीपुष्पसंकाशः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ७० ॥
मखोपकरणाङ्गश्च निमग्नोद्धरणक्षमः ।
स्वशक्तिविभवाधारमिच्छाज्ञानक्रियार्चिषम् ॥ ७१ ॥
नानाविशेषविज्ञानस्फुलिङ्गोर्मिसदोदितम् ।
[7]दारयन्तं स्थितं हार्दमनूनं मोहमुल्बणम् ॥ ७२ ॥
नदन्नादमनाख्येयं तमजं परमेश्वरम् ।
निष्टप्तकनकाभं च ध्यायेद् देवं नृकेसरिम् ॥ ७३ ॥
ज्वलदग्निस्फुलिङ्गाभिः स्वदेहोत्थाभिरावृतम् ।
रथाङ्गशङ्खधातारं बृहन्मूर्तिं सुभीषणम् ॥ ७४ ॥

अथ कूर्मध्यानमाह—कूर्मात्मेति द्वाभ्याम् । अस्य स्थानं तु—"रसातले तु कूर्मात्मा" (३६।३१८) इति पौष्करे दर्शितम् । अयं तु निखिलजगदाधारभूतकूर्मावतारः, "भुवनधृते" (२३।६४) इति मन्त्रवर्णात्, "द्वन्द्वद्वितयाङ्घ्रिः" (१२।६९) इति ध्यानाच्च । केवलकूर्मवक्त्रावतारश्च विद्यते । तथा च पौष्करे—

लवणोदधिपर्यन्ते भूभागे सिद्धसेविते ।
कूर्मवक्त्रश्च भगवान् संस्थितः शङ्खचक्रधृक् ॥ (३६।३२२)

इति ॥६८–७०॥

वराहध्यानमाह—अतसीपुष्पसंकाश इति त्रिभिः । पूर्वोक्तो वराहस्तु साक्षाद् वराहः, अयं नृवराह इति ध्येयम्; "शङ्खचक्रगदाधरः" (१२।७०) इति ध्यानात्, "कोकामुखे वराहस्तु वाराहे तु नगोत्तमे" (३६।३२४) इति पौष्करे पुनर्वराहस्थानप्रदर्शनाच्च ॥७०–७३॥

अथ श्रीनृसिंहध्यानमाह—निष्टप्तेति सार्धद्वाभ्याम् । मूर्तं ब्रह्म साकारं परंब्रह्मेत्यर्थः । ब्रह्ममूर्तिमिति पाठे बृहत्कायमित्यर्थः । सत्सत्त्वकरजश्रेणीदीप्तेनोभय-

१. शान्त्या–अ० उ० । २. 'कलाद्वन्द्व'''शक्त्यादिक' नास्ति–उ० । ३. द्वितीया–मु० अटी० बक०, वितता–अ० । ४. इतः परम्—"अनभिव्यक्तवाग्वर्णकदम्बाकृतिविग्रहः । तदुत्थध्वनिसन्तानगोग्रीवो विश्वरूपधृक् ॥ वराहमूर्तिर्भगवानथ हृत्कमलान्तरे ।" इत्यधिकं पङ्क्तित्रयं दृश्यते–अ० । एतदनुसारं कूर्मात्मध्यानं पङ्क्तित्रयात्मकं वराहध्यानं च श्लोकपञ्चकात्मकं बोध्यम् । ५. ध्यातव्योभयपाणिश्च–अ० । ६. द्वयम्–अटी० । ७. धार–मु०अटी० बक० अ० । ८. मूर्तं ब्रह्मेति ब्रह्ममूर्तिमिति वा भाष्यव्याख्यातः पाठः । ९. बोध्यम्–म० ।

सत्सत्त्वकरजश्रेणी[1]दीप्तेनोभयपाणिना ।
संयच्छन्तं धिया सम्यग् भविनां[2] साभयं वरम् ॥ ७५ ॥
अमृताध्मातमेवाभममृताहरणं विभुम् ।
पीताम्बरधरं ध्यायेदेकवक्त्रं चतुर्भुजम् ॥ ७६ ॥
श्रोणीतटार्पितकरं शङ्खचक्रविभूषितम् ।
मध्यतो दक्षिणेनैव वहन्तं गिरिरूपधृक्[3] ॥ ७७ ॥
शुद्धज्ञानानुविद्धं च कर्मसम्भवभीतिहम् ।
दिशन्तं[4] स्वधिया सम्यग् भक्तानां भक्तवत्सलम् ॥ ७८ ॥
मन्थामथित[5]दुग्धाब्धिं क्षोभयित्वा प्रकाशितम् ।
अमृतं क्षुत्तृषादीनां प्रतिपक्षमनामयम् ॥ ७९ ॥
शुद्धं चानश्वरं भाव्यं मायाख्यार्णवमध्यगम् ।
आत्मामृतमनौपम्यम् आहारध्वंसकर्मणा ॥ ८० ॥

पाणिना साभयं वरं संयच्छन्तं शुद्धसत्त्वमयनखपङ्क्तिविराजिताभ्यां कराभ्यामभय-वरदमुद्रान्वितमित्यर्थः । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—

नृहरिः कृतशौचे तु उज्जयिन्यामपि द्विज ।
विशाखमूलसंज्ञे तु स्थाने त्वेवं स्थितस्त्रिधा ॥ (३६।२२३) इति ।

केवलनृसिंहावतारस्थानमपि तत्रैव प्रतिपादितम्—"विन्ध्यारण्ये तु पौष्कर । विज्ञातव्यो मृगेन्द्रात्मा पापहा सर्वदेहिनाम्" (३६।३१८–३१९) इति ॥७३–७५॥

अमृताहरणध्यानमाह—अमृतेत्यादिभिः । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—

क्षीरोदकक्षितिक्षेत्रे सुरासुरनिषेविते ।
मन्दराद्रिकरो देवो वर्तते देवपूजितः ॥
तत्रैवामृतजिद् देवः संस्थितः सिद्धसेवितः ।
कान्तारूपधरश्चैव सुधाकलशधृक् तथा ॥
सिद्धानां च मुनीनां च देवानां मृत्युजित् स्थितः । (३६।३४४–३४६)
इति ॥७६–८०॥

---

१. श्रेणि–मु० बक० बख० । २. हविनां–अ० । ३. धृत्–मु० । ४. इतः पूर्वम्–'मध्यतो दक्षिणेनैव' इत्यधिकः पाठः–अ० । ५. मया–बक० बख० अ० उ० । ६. यथेमं–अ० उ० ।

ध्यायेत् कमलगर्भाभं देवदेवं[1] श्रियः पतिम् ।
कमलालयहेतीशविभूषितकरद्वयम् ॥ ८१ ॥
द्वयं देवीपरिणये लीलयैव समर्पयन् ।
प्रकाशयन्ननादित्वमात्मनः प्रकृतेः सह ॥ ८२ ॥
मत्करैरनुविद्धेयं प्रकृतिः प्राकृतैरहम् ।
यतोऽहमाश्रयश्चास्या मूर्तेर्मध्येतदात्मिका[2][3] ॥ ८३ ॥
यामालम्ब्य सुखेनेमं दुस्तरं हि गुणोदधिम् ।
निस्तरन्त्यचिरेणैव व्यक्तं[4] ध्यानपरायणाः ॥ ८४ ॥
मदविह्वलनेत्रं[5] च देवमुद्भिन्नयौवनम् ।
फुल्लरक्ताम्बुजाभासमत्यजन्तं निजां स्मृतिम् ॥ ८५ ॥
त्रैलोक्यविस्मयकरं कान्ताकृतिधरं स्मरेत् ।
आनन्दामृतसम्पूर्णवदनेनेन्दुकान्तिना ॥ ८६ ॥
कलशाकृतिरूपेण करस्थेन विराजितम् ।
लीलाकटाक्षवाग्बाणैः सूदयन्तं सुरद्विषः ॥ ८७ ॥
द्विरेफपटलाक्रान्तसहकारलताकरम् ।
कलामूर्त्यभिमानात्मा राहुसंज्ञो विभीषणः ॥ ८८ ॥

श्रीपतिध्यानमाह—ध्यायेदित्यादिभिः । "प्रकृतिर्जगन्माता लक्ष्मीः" (पृ० ३५१) इति सहस्रनामभाष्ये व्याख्यातम् ॥८१–८४॥

कान्तात्मध्यानमाह—मदविह्वलनेत्रैरिति सार्धैस्त्रिभिः । अस्यावतारस्य लक्ष्मीनारायणोभयात्मकत्वमुक्तं जगज्जनन्या—

यत्तु तन्मोहनं रूपं श्रूयतेऽमृतधारकम् ॥
भवद्भावौ तदा तत्र रूपे तुल्योपलक्षितौ ।
देवैः पुरुषरूपेण स्त्रीरूपेण सुरेतरैः ॥
सह सिद्धं[10] मयीत्येतज्जन्म मे महदद्भुतम् । (८।४८–५०)

इति ॥ ८५–८८ ॥

१. देवं लक्ष्मीपतिं ततः–अ० उ० । २. मध्ये तदा–अटी० । ३. नैनं–अ० उ० । ४. व्यक्त–मु० बक० बख० अ० उ० । ५. नेत्रैश्चेति भाष्यानुसारी पाठः । ६. नात्म रा–मु० बक० बख० । ७. मे मो–मु० । ८. श्रीयते–अ० । ९. तथे–मु० । १०. पृथक् सिद्धमित्येतज्जन्म मेऽद्भुतम्–मु० ।

मूर्तामूर्तेन रूपेण संग्रसत्यनिशं किल ।
अग्नीषोममयीं मूर्तिं कर्मिणामुपकारिणीम्[1] ॥ ८९ ॥
योऽन्तःप्राणादिरूपेण चन्द्रादित्यात्मना बहिः ।
स्थितस्तद्विजयेऽध्यक्षः सत्यध्यानरतात्मनाम् ॥ ९० ॥
निष्पन्दं[2] बोधभावेन तं तु व्यक्तं स्मरेद् बहिः ।
नीलनीरदवर्णाभं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥ ९१ ॥
मध्याह्नभास्कराकारं द्वादशारकरोद्यतम् ।
श्रोणीतटनिविष्टेन वामहस्तेन लीलया ॥ ९२ ॥
ध्रियमाणं गदां गुर्वीं निषण्णां[3] धरणीतले ।
अविद्याख्या च या नेमिः कालचक्रस्य दुर्धरा ॥ ९३ ॥
सामाधीयं[4] समाश्रित्य विग्रहं विधुनोति च ।
जपयज्ञक्रियादीनां तामसेन बलेन च ॥ ९४ ॥
ध्यायेत् तत्प्रसरघ्नं च देवं राजोपलद्युतिम् ।
विज्ञानरश्मिभिर्दीप्तं सत्सत्त्वगरुडासनम् ॥ ९५ ॥
नानास्त्ररूपभूतात्मसद्विद्याभुजभूषितम्[5] ।
चक्रं पद्मं[6] गदां बाणमङ्कुशं कुन्तमेव च ॥ ९६ ॥
षट्सु दक्षिणहस्तेषु शक्तिं पाशौ[7] च कार्मुकम् ।
मुसलं मुद्गरं भीमं खेटकं वामबाहुषु ॥ ९७ ॥

राहुजिद्ध्यानमाह—कलामूर्तीत्यादिभिः । अस्यापि क्षीरोदकक्षितिक्षेत्रे[8]वासित्वमेव बोद्धव्यम्, "सिद्धानां च मुनीनां च देवानां मृत्युजित् स्थितः" (३६।३४६) इति पौष्करोक्तेः ॥८८–९३॥

कालनेमिघ्नध्यानमाह—अविद्याख्येत्यादिभिः ॥९३–९७॥

१. रिणाम्–मु० अटी० अ० । २. स्पन्दबोध–बक० बख० अ० उ० । ३. निषण्णं–अ० उ० । ४. समाधीयं–मु० अटी०, सामाधियं–बक० बख०, सामयीयं–अ० । ५. तात्मा–बख० अ० उ० । ६. खड्गं–बख० अ० उ० । ७. शक्तिपाशौ–मु० अटी० । ८. क्षेत्रे–म० ।

देव आम्र[1]द[2]लाभश्च स्मर्त[3]व्यः पारिजातजित् ।
अक्लिष्टकर्मा देवेशस्त्वनेकाद्भुतविक्रमः ॥ ९८ ॥
प्रबन्धप्रतिपन्नानां भक्तानामपि देहिनाम् ।
यो बोधभूमौ संरूढो ह्यनित्यश्चानुरञ्जकः ॥ ९९ ॥
न्यग्रोधविटपाकारोऽप्यविद्याबन्धलक्षणः ।
कर्मवृक्षः सुविततो मोहमायाफलावृतः ॥ १०० ॥
तदुत्पाटनसिद्ध्यर्थमनुग्राह्यं[4] जनं सदा ।
आविश्याऽऽस्तेंऽशमात्रेण कृपया स जगत्प्रभुः ॥ १०१ ॥
स विवेकात्मना भूत्वा ज्ञानबाहुवितानधृक्[5] ।
ऐश्वर्यधर्मवैराग्यशमास्यश्चितिशक्तिभृत्[6] ॥ १०२ ॥
आदाय संयमास्त्रौघं नियमास्त्रगणं तथा ।
इन्द्रियादिगणं जित्वा कर्मिणां दोषदो[7] हि यः ॥ १०३ ॥
यदस्य सुरजिद्रूपं तद् द्वादशभुजं स्मरेत् ।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्याभरणभूषितम् ॥ १०४ ॥
चतुर्वक्त्रं सुनयनं वामोत्सङ्गार्पितप्रियम् ।
खड्गं चक्रं गदां बाणं मुसलं च तरूत्तमम् ॥ १०५ ॥
षट्सु दक्षिणहस्तेषु शङ्खमङ्कुशकार्मुके[8] ।
छत्रं च फणभृत्पाशं विभोर्वामभुजेष्वमी ॥ १०६ ॥
षष्ठेनालिङ्गिता देवी सारविन्देन बाहुना ।
तदं[9](श?स)लग्नकरया देव्या तच्चित्तयाऽनिशम् ॥ १०७ ॥

पारिजातहरध्यानमाह—देव आम्रफलाभ इत्यादिभिः। दोषदः दोषच्छेदक इत्यर्थः। "दो अवखण्डने" (११४८ दि०) इति धातोः। अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—

आसाद्य सूकरक्षेत्रं देवो गरुडवाहनः।
संस्थितो गरुडारूढः पारिजातकराङ्कितः॥
सिद्धैः सुरगणैः सार्धं गगने चापि पौष्कर। (३६। ३५३–३५४)

इति ॥ ९८–१०८ ॥

१. आमृद–मु० बक० बख०। २. फलाभश्चेति भाष्यानुसारी पाठः। ३. संस्मार्य.–बक० बख० अ० उ०। ४. ग्राह्यं–बक० बख० उ०। ५. कृत्–उ०। ६. धृक्–बक० बख० अ० उ०। ७. दोषहा–अटी० बक० बख०। ८. कम्–बक० बख० अ० उ०। ९. तदङ्ग–अ०।

संवीज्यमानं विनयाच्चामरेण सितेन तु[1] ।
लोकनाथं विशालाक्षं सर्वदेवनमस्कृतम् ।। १०८ ।।
नरसिंहासनारूढं ध्यायेन्मीलितलोचनम्[2] ।
पद्मासनेनोपविष्टं पद्मगर्भोपमद्युतिम् ।। १०९ ।।
करुणाविष्टबुद्धिं च शङ्खपद्मकराङ्कितम् ।
ज्ञानवैराग्यसद्धर्ममार्गत्रयनिदर्शकम् ।। ११० ।।
संस्मरेदथ दत्ताख्यं ज्ञानमूर्तिमलेपकम् ।
मनुष्यमुनिदेवानां समाधिनिरतात्मनाम् ।। १११ ।।
ईषल्लब्धरसानां च ब्रह्ममार्गानुसारिणाम्[3] ।
स्वप्रभानिकरेणैव भासयन्तं च तत्पथम् ।। ११२ ।।
मनसा सह वायूनामाकृतिप्रतिषेधकृत्[4] ।
श्रुतीनां मानसानां चाप्याचाराणां तथैव च ।। ११३ ।।
वर्णानामाश्रमाणां च परिरक्षक एव हि ।
मानसैकार्णवान्तस्थे निष्कम्पे बुद्धिपादपे ।। ११४ ।।
अभिमानलताढ्ये चाप्युपरिस्थमनुस्मरेत्[5] ।

लोकनाथध्यानमाह—लोकनाथमिति सार्धद्वाभ्याम् । अस्य रूपान्तरं बुद्धावतार इति बोध्यम्,

लोकेश्वरः शान्ततनुर्बौद्धं[6] यस्यापरं वपुः ।
नियन्ता बुद्धिधर्माणां हिंसादोषस्य दूषकः ।। (३६।२२६)

इति पौष्करोक्तेः । अस्य स्थानं तु—

मगधामण्डले विप्र महाबोधधराश्रितः ।
संस्थितो लोकनाथात्मा देवदेवो जनार्दनः ।। (३६।३५९–३६०)

इति पौष्करे ।। १०८–११०।।

अथ दत्तात्रेयध्यानमाह—संस्मरेदथ दत्ताख्यमित्यादिभिः । संस्मरेदित्यस्य

---

१. च–अ०, तम्–मु० अटी० । २. ध्यानोन्मी–बक० बख० अ० उ० । ३. मागति–बख० उ० । ४. नामागमानां च आचा–अ० उ० । ५. तु उ–अ०, त्वप्यु–उ० । ६. तनुः सौद्धं–अ० ।

प्रावृड्गिरिरिव श्यामं तेजसा ज्वलनोपमम्[1] ॥ ११५ ॥
ध्वंसकृद् विघ्नजालस्य निन्द्रालस्य वयस्य यः[2] ।
उत्कृष्टद्विजरूपेण विकसत्पद्मरूपिणा ॥ ११६ ॥
स एव द्विभुजो ध्येयो दण्डदर्भाक्षसूत्र[3]भृक्[4] ।
दन्तज्योत्स्नाजिताज्ञानं न्यग्रोधशयनं विभुम् ॥ ११७ ॥
निषण्णमीषदुत्तानं द्विभुजं शिशुरूपिणम् ।
[5]एवमेव निरस्तास्त्रं शान्तनिद्रा[6]रसं स्थितम् ॥ ११८ ॥
अनुज्झितस्वभावं च योगमायाबलेन च ।
त्यजन्तमाहरन्तं च श्वासोच्छ्वासद्वयेन तु ॥ ११९ ॥
आब्रह्म[7]भुवनं सर्वं कर्म प्राधानिकं हि यत् ।
अपौरुषेण रूपेण [8]संवृतावयवात्मना ॥ १२० ॥
स्वमायाजलमध्यस्थम् अध्यक्षमथ संस्मरेत् ।
ज्ञानादिगुणवृन्देन पक्षभूतेन भूषितम् ॥ १२१ ॥

पूर्वेणैवान्वयः ॥ १११–११७ ॥

न्यग्रोधशयनध्यानमाह—दन्तज्योत्स्नेति त्रिभिः । प्राधानिकं प्राकृतमित्यर्थः । पूर्वोक्त एकार्णवशायी नैमित्तिकप्रलयकर्ता, अयं तु प्राकृतिकप्रलयकर्तेति बोद्धव्यम् । नैमित्तिकप्राकृतिकयोर्लक्षणं तु श्रीविष्णुपुराणे—

> ब्राह्मो नैमित्तिकस्तत्र [9]यच्छेते जगतः पतिः ।
> प्रयाति [10]प्रकृतिं चैव ब्रह्माण्डं [11]प्राकृतो लयः ॥ (१।७।४२)

इति ॥ ११७–१२० ॥

अथ मत्स्यावतारध्यानमाह—अपौरुषेणेति चतुर्भिः । [12]नौरूपां तरणिरूपामित्यर्थः । "स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः" (१।१०।१०) इत्यमरः । तदानीं महालक्ष्मीरेवैवं [13]नौरूपं बिभर्तीति ज्ञेयम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

> अवतारो हि यो विष्णोर्नाम्ना मीनधरः शुभः ।
> [14]अनुग्रहक्रमात् तत्र साऽहं नौरूपधारिणी ॥ (८।३३–३४) इति ।

---

१. पमः—मु० अटी० । २. च—अ० उ० । ३. धृत्—मु० अटी० । ४. श्रुतीनामित्यादिपङ्क्तिपञ्चकमितः परं स्थापितम्—अ० । ५. एष एव—अटी० । ६. रस—बक० बख० उ० । ७. भवनं—मु० अटी० बक० । ८. संहृता—अटी० । ९. शेतेऽयं जगतीपतिः—मु० । १०. प्राकृते—मु०, प्रकृतं—अ० । ११. प्रकृतौ लयम्—मु० । १२. ननु रूपान्तराणि—अ० । १३. 'नौ' इत्येव—अ०, नौरूपा—म० । १४. अनुभ्रमामि तं तत्र—मु० ।

स्वोत्थं सन्निःसृतं ब्रह्म एकशृङ्गविराजितम् ।
कल्पावसानसमये वहन्तं चैव चिन्तयेत् ॥ १२२ ॥
नौरूपां विततां क्षोणीं[1] प्रजापतिगणान्वितम् ।
मुक्ताफलगणेनैव[2] वपुषा निर्मलेन च ॥ १२३ ॥
अनिमीलितनेत्रः स[3] मीनात्मा भगवानथ ।
यो नित्यं भवभीतानां बुधानां कृपया स्वयम् ॥ १२४ ॥
हृत्स्थो नियतिदण्डेन[4] मार्ताण्डायुतसन्निभः ।
जित्वाऽज्ञानबलं भीममिन्द्रियारिगणान्वितम् ॥ १२५ ॥
संयच्छत्यचिराद् ब्रह्मनन्दनं सत्सुखाय च ।
ध्यायेत् तमेव ह्रस्वाङ्गं श्यामं पद्मदलेक्षणम् ॥ १२६ ॥
अन्तर्निविष्टभुवनं जटावल्कलभूषितम् ।
छत्रं तद्वामहस्तेऽस्य दण्डमन्यत्र वैष्णवम्[5] ॥ १२७ ॥
आक्रम्य जाग्रदादित्यः[6] सूर्येन्दुहुतभुक्प्रभाम्[7] ।
तिष्ठत्यनन्तो भगवांस्तुर्याख्यश्चिद्विभूतिधृक्[8] ॥ १२८ ॥

अस्य स्थानं तु पौष्करे—"मत्स्यात्मा भगवानप्सु[9]" (३६।३१८) इति । मीन-वक्त्रस्थानमप्युक्तं तत्रैव—"नौबन्धनगिरावेव मीनवक्त्रः स्थितः प्रभुः" (३६।३२१) इति ॥ १२०–१२४ ॥

वामनध्यानमाह—यो नित्यमित्यादिभिः । अज्ञानं जित्वा अविद्यामपोह्येत्यर्थः । ब्रह्म नन्दयतीति ब्रह्मनन्दनं ज्ञानमित्यर्थः ।

अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—

कन्दमाले विवैतस्ते कुलकुक्षौ हिमाचले ॥
वामनं खर्वमूर्तिं च वैश्वरूप्येण संस्थितम् । (३६।३२४–३२५)

इति ॥ १२४–१२७ ॥

त्रिविक्रमध्यानमाह—आक्रम्येत्यादिभिः । आह्लादजननीं शक्तिं गङ्गामित्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

---

१. क्षोणि–मु० अटी० बक० बख० । २. निभे–अ० उ० । ३. सन्–बक० बख० अ० । ४. नियम–उ० । ५. वैणवम्–बक० बख० । ६. दित्य–मु० अटी० बक० बख० । ७. भान्–बख०, प्रभः–अ० । ८. धृत्–मु० अटी० । ९. वान् विष्णुरप्सु–अ० ।

सम्प्रेरयन्ननिच्छातः स्वपदादमृतप्रभाम् ।
आह्लादजननीं शक्तिं कर्मिणां भावितात्मनाम् ॥ १२९ ॥
त्रैलोक्यपूरकं ध्यायेत् तमेव हरितद्युतिम् ।
नानामुद्रास्त्रयुक्तेन भुजवृन्देन भूषितम् ॥ १३० ॥
[1]खेटकेनाङ्घ्रिदण्डेन वहन्तमरिसूदनम् ।
[2]वहन्तं सद्वैजयन्तीं देवानां च जयार्थिनाम् ॥ १३१ ॥
[3]खड्गचक्रगदादण्डबाणाङ्कुशसमुद्गराः ।
शक्तिः परशुशैलेन्द्रौ दश दक्षभुजेष्वमी ॥ १३२ ॥
शङ्खतोमरशार्ङ्गं च पाशशूलमहीरुहाः ।
कुलिशं क्षुरिका चैव लाङ्गलं मुसलं महत् ॥ १३३ ॥
वामहस्तेष्वमी ध्येया अन्ये मुद्रान्विता दश ।
भयविस्मयहृद्[4] वेणीकण्ठग्रहणलक्षणाः ॥ १३४ ॥
ध्येया मुद्रा विभोः पञ्च सव्ये तु करपञ्चके ।
वराख्यां भूतिसंज्ञां च युक्ताख्यां साभयां तु वै ॥ १३५ ॥
गोपनीं दक्षहस्तेषु तत्संख्येषु च संस्मरेत् ।
जगत्सूत्रं सहाक्षैस्तु येनोक्तममितात्मनाम्[5] ॥ १३६ ॥

त्रैविक्रमाह्वयो[6] विष्णोरवतारः परः स्मृतः ॥
आह्लादजननी गङ्गा तत्पादात् प्रभवाम्यहम् । (८।३४–३५) इति ।

अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—

मध्यदेशे तु गङ्गायाः कुरुक्षेत्रे तु पौष्कर ॥
यामुनं कूलमासाद्य प्रादुर्भावान्तरं महत् ।
स्थितं त्रिविक्रमाख्यं यस्त्रैलोक्याक्रान्तविग्रहः ॥ (३६।३२५–३२६)

इति ॥ १२८–१३६ ॥

---

१. खे गतेना–बक० बख० उ० । २. द्युसिन्धुं–अ० उ० । ३. खड्गं चक्रं गदां दण्डं बाणं मुसलमुद्गरान्–अ० । ४. मृद्–मु० अटी० बक० बख० । ५. मसितात्मना–अ० उ० । ६. त्रैविक्रमोदयो–मु० ।

गुणषट्कस्वरूपेण पूर्वोक्ताकृतिभिर्विना ।
स्मर्तव्यः स चतुर्धा वै लाञ्छनास्त्रविवर्जितः ॥ १३७ ॥
सर्वदा परिरक्षन्तु जपपूर्वं चतुष्टयम् ।
योगक्रियातपोऽन्तं[1] च सद्भिभूत्यपवर्गदम्[2] ॥ १३८ ॥
नराद्यः कृष्णनिष्ठश्च पृथगेकत्र चेच्छया ।
नरं तत्र प्रवालाभमर्धोन्मीलितलोचनम् ॥ १३९ ॥
अन्तर्निविष्टभावं च शब्दब्रह्मैकमानसम्[3] ।
पदोपलक्षणं[4] मन्त्रं लपमानमलक्षितम् ॥ १४० ॥
स्फाटिकेनाक्षसूत्रेण करस्थेन च शोभितम् ।
गणयन्नक्षसूत्रीयानावर्तान् वामपाणिना ॥ १४१ ॥
अथ नारायणं देवं ध्यायेत् कुमुदपाण्डरम्[5] ।
बद्धब्रह्माञ्जलिं शान्तं हृत्पद्मार्पितमानसम् ॥ १४२ ॥
युञ्जानं च स्वमात्मानं परस्मिन्नव्यये पदे ।
कमण्डलुधरं ध्यायेत् काञ्चनाभमतो हरिम् ॥ १४३ ॥
त्रिष्टराविष्टपाणिं च क्रियाकाण्डप्रदर्शकम् ।
पठन्तमनिशं शास्त्रं पञ्चरात्रपुरस्सरम् ॥ १४४ ॥
कृष्णमिन्दीवरश्याममूर्ध्वबाहुं[6] जटाधरम् ।
पादेनैकेन तिष्ठन्तमाहरन्तं च मारुतम् ॥ १४५ ॥

अथ नरादीनां चतुर्णां ध्यानमाह—जगत्सूत्रमित्यादिभिः । जप-योग-क्रिया-तपः-परिरक्षकत्वं नर-नारायण-हरि-कृष्णानां क्रमेण बोध्यम् । एषां स्थानानि तु—

नरसंज्ञो जगन्नाथः सिद्धैः संपूजितेषु च ।
भूभागेषु च रम्येषु नित्यं संनिहितः स्थितः ॥
गिरौ गोवर्धनाख्ये तु देवः सर्वेश्वरो हरिः ।
संस्थितः पूजिते स्थाने गवां निष्क्रमणेषु च ॥

१. तपोऽन्ते–अटी० । २. वर्गदः–बक० उ० । ३. मासनम्–बक० बख० ।
४. यदोम–बक० बख०, यदोप–मु० अटी० । ५. पाण्डु–मु० अटी० । ६. भवान्निष्क्र–अ० म० ।

एकत्रिषड्द्विषड्रात्राद्यतिकृच्छ्रपरायणम्[1] ।
पक्षमासोपवासांश्च दिशन्तमनुचिन्तयेत् ॥ १४६ ॥
कृष्णाजिनोत्तरीयाश्च सर्वे काषायधारिणः ।
ब्रह्मलिङ्गधराः सर्वे सर्वे ब्रह्मपरायणाः ॥ १४७ ॥
मुख्यमेकपरिक्रान्ताः[2] साधूनां प्रेरणाय च ।
कालानुकालमाश्रित्य सर्वे सर्वपरायणाः ॥ १४८ ॥
असङ्गशक्त्या भगवान् सत्कुठाराभिधानया ।
छिनत्ति बद्धमूलान् यः कर्मवृक्षांस्तु कर्मिणाम् ॥ १४९ ॥
तमेव द्विभुजं ध्यायेदुदयादित्यवर्चसम् ।
कृष्णैणचर्मवसनं सत्कुठारकराङ्कितम् ॥ १५० ॥
दशेन्द्रियाननं घोरं यो मनोरजनीचरम् ।
विवेकशरजालेन शमं नयति योगिनाम् ॥ १५१ ॥
ध्येयः स एव विश्वात्मा सतोयजलदप्रभः ।
रक्तराजीवनयनो धनुश्शरकराङ्कितः ॥ १५२ ॥

सालिग्रामे च भगवान् राजेन्द्राख्ये वने द्विज ।
तथैव वसुधांशेन स्थितो देवव्रताभिधे ॥
कृष्णोऽपरश्चतुर्मूर्तिरवतीर्य धरातले ।
स्थितः पिण्डारके विप्र मोचयन् दुष्कृताज्जनान् ॥ इति ॥१३६–१४८॥
(पौ० सं० ३६।३३३–३३६)

परशुरामध्यानमाह—असङ्गशक्त्येति द्वाभ्याम् । अस्य स्थानं तु—

नगोत्तमे महेन्द्राख्ये परश्वथकरो द्विजः ।
रामसंज्ञश्च भगवान् संस्थितः क्षत्रियान्तकः ॥ इति ॥ १४९–१५० ॥
(पौ० सं० ३६।३२७)

श्रीरामध्यानमाह—दशेन्द्रियाननमिति द्वाभ्याम् । अस्य स्थानं तु—

धराधरे चित्रकूटे रक्षःक्षयकरो महान् ।
संस्थितश्चापरो रामः पद्मपत्रायतेक्षणः ॥ (पौ० सं० ३६।३२८)

इति ॥ १५१–१५२ ॥

---

१. एकरात्रद्विषड्रात्रा–उ० । २. पङ्क्तिद्वयं नास्ति–अ० ।

वाग्वेदमण्डलं[1] यो वै स्वरूपद्युतिलक्षणम् ।
स्वयं स्वोत्थं[2] विभजति त्रिधा पश्यन्तिपूर्वकम् ॥ १५३ ॥
बोधमारुतहृत्पूर्व[3]स्थानेष्वभ्युदितं क्रमात् ।
स्मर्तव्यः सोऽपि भगवानतसीकुसुमद्युतिः ॥१५४ ॥
वहन् वै वामहस्तेन सर्वशास्त्रार्थपुस्तकम्[4] ।
दक्षिणेन तु शास्त्रार्थमादिशंश्च यथास्थितम् ॥ १५५ ॥
युगानुसारि[5]बोधानामखेदजननाय च ।
विभजंस्तु चतुर्धा वै वेदमेकं त्रिकालवित् ॥ १५६ ॥

अथ वेदव्यासध्यानमाह—वाग्वेदमण्डलमित्यादिभिः । स्वरूपद्युतिलक्षणम्, अन्तःस्थितज्योतिःस्वरूपमित्यर्थः, "स्वरूपज्योतिरेवान्तर्भावयन् संस्थितं हृदि"(३४।६३) इति पौष्करोक्तेः । केवलशान्तरूपमिति यावत् । वाग्वेदमण्डलं शब्दब्रह्मेत्यर्थः । पश्यन्तीपूर्वकं त्रिधा विभजति पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीभेदैस्त्रेधा विभक्तं करोतीत्यर्थः । एताः[6] शब्दब्रह्मणोऽवस्थाः सुव्यक्तमुक्ता लक्ष्मीतन्त्रे—

बोधोन्मेषः स्मृतः शब्दः शब्दोन्मेषोऽर्थ उच्यते ।
उद्यच्छब्दोदयः शक्तेः प्रथमः शान्ततात्मनः ॥
स नाद इति विख्यातो वाच्यतामसृणस्तदा ।
नादेन सह शक्तिः सा सूक्ष्मेति परिगीयते ॥
नादात् परो य उन्मेषो द्वितीयः शक्तिसंभवः ।
(बिँन्दुरित्युच्यते सोऽत्र वाच्योऽपि मसृणः स्थितः ॥)[7]
पश्यन्ती नाम साऽवस्था मम दिव्या महोदया ।
ततः परो य उन्मेषस्तृतीयः शक्तिसंभवः ॥
मध्यमा सा दशा तत्र संस्कारयति सङ्गतिम् ।
वाच्यवाचकभेदस्तु तदा संस्कारतामयः ॥
चतुर्थस्तु य उन्मेषः शक्तेर्माध्यमिकात्[8] परः ।
वैखरी नाम साऽवस्था वर्णवाक्यस्फुटोदया[9] ॥
अस्ति शक्तिः क्रियात्मा मे बोधरूपाऽनुसारिणी[10] ।
सा प्राणयति नादादिं शक्त्युन्मेषपरम्पराम् ॥
शान्तरूपाऽथ पश्यन्ती मध्यमा वैखरी तथा[11] । (१८।२२-२९) इति ।

बोधमारुतहृत्पूर्वस्थानेष्वभ्युदितं क्रमादिति पश्यन्त्याद्यवस्थात्रयस्य विशेषणं बोध्यम्,

१. वाग्देवममलं—मु० अटी० बक० अ० उ० । २. स्वार्थं—अ०, खोत्थं—उ० । ३. हृत्पद्म—उ० । ४. दुस्तरम्—उ० । ५. सारी—अ० उ० ! ६. एतच्छब्द—अ० । ७. उभयोर्मातृकयोर्न दृश्यते पङ्क्तिरेषा । ८. र्मध्यात्मिका परा—अ० म० । ९. वाक्-संस्फुटोदयः—अ० म० । १०. नुयायिनी—मु०, नुशाधिनी—म० । ११. तदा—म० ।

दानधर्मरतानां च यागयज्ञानुयाजिनाम् ।
तपःस्वाध्यायसं[1]क्तानां[2] मुक्तानां वै पुनर्भवात् ॥ १५७ ॥
संरक्षणाय योग्यत्वविज्ञानव्यक्तयेऽपि च ।
समुदेति जगन्नाथस्तेषां हृत्कमलावने[3] ॥ १५८ ॥
मनोवाजिनमाक्रम्य त्वादायात्मगुणायुधान्[4] ।
नूनमुत्पा[5]टयत्याशु जन्मान्तरशतोत्थितम् ॥ १५९ ॥
वैषयं वासनाजालं शुद्ध[6]विज्ञानसिद्धये ।
ध्यायेद् वराश्वगं तं वै तनुत्रावृतविग्रहम् ॥ १६० ॥
सितोष्णीषललाटं च नातिदीर्घजटाधरम् ।
द्रवत्कनकवर्णाभम् इषुधिद्वयमध्यगम् ॥ १६१ ॥
शरचापकरै[7]र्व्यग्रं खड्गकुन्तकुठारिणम्[8] ।
यज्ञाध्ययनदाना[9]नि परिरक्षन्तमेव हि ॥ १६२ ॥
शातयन्तमवर्णा[10]श्चाप्यधर्मनिरतात्मनः[11] ।

वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा बुद्धिसंयुता ।
द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥ इत्युक्तेः ॥१५३–१५६॥

अथ कल्किध्यानमाह—दानधर्मरतानां चेत्यादिभिः। अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—

कल्की विष्णुश्च भगवान् स्तूयमानो द्विजैः स्थितः ।
समासाद्य विपाशां च नदीं नियतमानसः ॥ (३६।३३१)

इति ॥१५७–१६३॥

---

१. रक्तानां—अटी० । २. नाममुक्तानां—अ० । ३. सने—अ० । ४. युतान्—मु० अटी० बक० बख० । ५. त्पाद—मु० अटी० बक० बख० अ० । ६. नाशयत्यात्म—मु०अटी० बक० बख० अ० । ७. करं—अ० उ० । ८. रिणाम्—मु० । ९. दानादि—मु० अटी० बक० बख० अ० । १०. मवर्णानाम—बक० बख० अ० उ० । ११. त्मनाम्—बक० बख० अ० उ० अटी० । अस्मिन् पाठेऽधर्मनिरतात्मनामवर्णान् परीवादान् शातयन्तमित्यर्थः, "अवर्णाक्षेपनिर्वादपरीवादापवादवत्" (१।६।१३) इत्यमरकोशात् । मूलस्थस्य पाठस्याधर्मनिरतात्मनो वर्णाश्रमाचारहीनान् शातयन्तमित्यर्थः, वर्णाश्रमव्यवस्थार्थं हि कल्क्यवतारः प्रवर्तते ।

सर्वतत्त्वाश्रयं तत्त्वं सर्वशक्तिमयं विभुम् ॥ १६३ ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
आधारं[1] भुवनानां च ध्यातव्यः[2]स्तदधः स्थितः ॥ १६४ ॥
अनन्तशयनारूढः[3] कल्पान्तहुतभुक्प्रभः[4] ।
ज्वलज्ज्वालावलीयुक्तो[5] ज्वलनांशुक[6]वेष्टितः[7] ॥ १६५ ॥
चक्राद्यायुधवृन्देन मूर्तेन परिवारितः[8] ।
स्थिताङ्घ्रिदेशतो लक्ष्मीश्चिन्ता दक्षिणतो विभोः ॥ १६६ ॥
मूर्धदेशगता निद्रा पुष्टिस्तद्वामतः स्थिता ।
प्रधानदेवताध्यानमिदमुक्तं समासतः ॥ १६७ ॥

पातालशयनध्यानमाह—सर्वतत्त्वाश्रयमित्यादिभिः । पद्मनाभपातालशाय्येकार्णवशायिन्यग्रोधशायिनां स्थानानि श्रीपौष्करे प्रतिपादितानि—

क्षीरोदधौ पद्मनाभः शेषाहिशयनो हरिः ।
स्थितो नाभ्यब्जसंभूतो यस्माच्चैव[9] पितामहः ॥
चतुर्धा रूपमाश्रित्य विश्वेऽस्मिन् सैव वर्तते ।
हिताय सर्वलोकानां [10]यथा तदवधारय ॥
आसाद्य शयनं ब्रह्मन् पातालतलसंस्थितः ।
वटमादाय चाग्नेयं योऽन्ते संहरते जगत् ॥
वटमूलं समाश्रित्य प्रयागे सुरपूजिते ।
जगदेकार्णवं कृत्वा दिव्यमासाद्य पादपम् ॥
संतिष्ठते स भगवान् तस्मिंस्तीरे क्षितौ द्विज ।
न्यग्रोधशयनं[11] चैव ध्यायेद् दिव्यगतिप्रदम् ॥ (३६।३३८–३४२)

अस्यैवं शक्तिचतुष्टयान्वितत्वं लक्ष्मीतन्त्रेऽप्युक्तम्—

अनन्तशयनो नाम योऽवतारो हरेरहम् ॥
स्थिता चतुर्दिशं तस्य चातुरात्म्यमुपेयुषी ।
लक्ष्मीश्चिन्ता तथा निद्रा पुष्टिश्चेत्याख्यया युता ॥ (८।३५–३६)

इति ॥१६३–१६७॥

---

१. निःशेष—बक० बख० अ० उ० । २. व्यं तदधः स्थितम्—बक० बख० अ० उ० । ३. रूढम्—बक० बख० अ० उ० । ४. प्रभुः—मु०, प्रभुम्—बक० बख० अ० उ० । ५. युक्तम्—बक० बख० अ० उ० । ६. ङ्कुश—अ० । ७. तम्—बक० बख० अ० उ० । ८. तम्—बक० बख० अ० उ० । ९. च्चेदं—अ० म० । १०. यथावद—मु० । ११. शायिनं—मु० ।

यज्ज्ञात्वा विनिवर्तन्ते जन्ममृत्युजरारुजः ।
नास्त्रैर्वस्त्रैर्ध्वजैर्येषां व्यक्तिर्व्यक्ता जगत्त्रये ॥ १६८ ॥

तेऽपि लाञ्छनवृन्दं तु धारयन्त्यङ्घ्रिगोचरे ।
ललाटे चांसपट्टे[1] तु पृष्ठे पाणितलद्वये ॥ १६९ ॥

तनूरुहचये मूर्ध्नि कर्मिणां प्रतिपत्तये ।
अपि संसारिणो जन्तोः स्वभावाद् वैष्णवस्य च ॥ १७० ॥

न जहात्यच्युतं लिङ्गं किं पुनर्विभवाकृतेः ।
सर्वेषां कामचारित्वं यदुक्तं वै मया पुरा ॥ १७१ ॥

तदङ्घ्रिभुजवर्णास्यबृहन्मध्याणुलक्षणम् ।
एकानेकसंख्यं च दृश्यं सर्वत्र सर्वदा ॥ १७२ ॥

फलकथनेन सहोक्तमर्थं निगमयति—प्रधानेति । एषां विभवदेवानामुक्तक्रमेण हस्तादिषु तत्तन्मूर्तिज्ञापकायुधादिलाञ्छनराहित्येऽपि तेषामङ्घ्रिललाटादिषु लाञ्छनमस्ति, तत्सावधानं परीक्षितव्यमित्याह—नास्त्रैरिति द्वाभ्याम् । इदं श्लोकद्वयमीश्वर-(३।१८२–१८३)-पारमेश्वर(१०।९३–९५)योरपि विमानार्चनप्रकरणे प्रतिपादितम् । किन्तु तयोः केषुचित् कोशेषु—"अस्त्रैर्वस्त्रैर्ध्वजैर्येषाम्" इति नैकारो[2] न दृश्यते । तल्लेखकप्रमादकृतम्, मूलविरुद्धत्वात् । यद्वा ईश्वरव्याख्याने तत्पाठस्यापि गतिर्दर्शितैव । पारमेश्वरव्याख्याने—"अङ्घ्रिगोचरे स्थित्यासनादिना, ललाटे नेत्रत्रयादिना, अंसपट्टे भुजभेदेन, पृष्ठे शरै[3]चक्रादिना" इत्यादिक्रमेण व्याख्यातम् । तदसंगतम्, लाच्छनशब्दस्य चक्रादिपरत्वेनैव सार्वत्रिकप्रसिद्धेः । उत्तरश्लोक एव "न जहात्यच्युतं लिङ्गम्" (१२।१७१) इति कण्ठरवेणात्र वक्ष्यमाणत्वाच्च ॥१६७–१७०॥

उक्तमर्थं किंपुनर्न्यायेन द्रढयति—अपीति । जन्तोरिति, विभवाकृतेरिति च कर्मणि षष्ठी । केवलवैष्णवजनस्यैव सामुद्रिकलक्षणपरीक्षणकाले हस्ताद्यवयवेषु चक्रादिलाञ्छनं दृश्यते । साक्षाद्विष्णोर्विभवावतारस्य तथा लाञ्छ(नस्त्वेकः?ने कुतः) संदेह इति भावः । उक्तानां विभवदेवानां सर्वेषामपि "कृष्णरूपाण्यसंख्यानि" इतिवद् भुजवर्णायुधादिभिरसंख्यातकामरूपधरत्वमाह—सर्वेषामिति सार्धेन ॥१७०–१७२॥

---

१. चाङ्ग–मु० वक० बख० अ० उ० । २. नकरो–अ०, नाकरो–म० ।
३. शिरश्च–अ० ।

न त्वन्यरूपता कार्या करणं[1] कामरूपता[2] ।
यस्मादस्ति पृथग्भूतो व्यापारो विश्वमन्दिरे ।। १७३ ।।
देवानां स्थितिसंहारसृष्टिकाले स्वकः स्वकः ।
सत्येवं नियमे सिद्धे तथापि भगवद्वशात् ।। १७४ ।।
चातुरात्म्यसमूहात् तु यत्पद्मदलभूस्थितम् ।
तथा विभवदेवानां मध्यात् पद्मदलेक्षण ।। १७५ ।।
एकस्त्वनुग्रहार्थं तु शक्त्यात्मा भावितात्मनाम् ।
बिभर्ति बहुभेदोत्थं रूपं सद्वाहनस्थितम् ।। १७६ ।।
यदनुस्मरणाद् ध्यानादर्चनादचिरात् पुमान् ।
प्राप्नोति मनसोऽभीष्टं तन्मे निगदतः शृणु ।। १७७ ।।
सत्यः सुपर्णो गरुडस्तार्क्ष्यश्च विहगेश्वरः ।
पञ्चात्मकस्य प्राणस्य विकारस्त्वेष पञ्चधा ।। १७८ ।।

एवं सर्वेषां कामरूपवत्तापि नहि मूर्तिविपरीतज्ञानजननी, तत्तन्मूर्तिनिर्णायकविजातीयस्वस्वव्यापारसत्त्वादित्याह—न त्विति सार्धेन । यद्यप्येवं सर्वेषां[4] कामरूपधरत्वनियमः सिद्धः, तथापि सर्वे देवा[5] युगपत् कामरूपधरा न भवन्ति, जाग्रद्व्यूहवासुदेवादीनां मध्ये पद्मनाभादिविभवदेवानां मध्ये वा एको जगद्रक्षणार्थं वक्त्रभुजास्त्रशक्तिवाहनभेदैर्बहुधा रूपं बिभ्रन्[6] शक्त्यात्मसंज्ञां भजतीत्याह—सत्येवमिति सार्धद्वाभ्याम् । यत्पद्मदलभूस्थितं जाग्रद्व्यूहसं(ज्ञां?ज्ञं) चातुरात्म्यमित्यर्थः,

तत्पत्रमध्ये भगवान् जाग्रत्संज्ञे पदे त्वथ ।
यष्टव्यो भावनीयश्च यथा तदधुनोच्यते ।। (५।४)

इति जाग्रद्व्यूहस्य हि पद्मदलभूस्थितत्वमुक्तम् ।।१७३–१७६।।

अथ प्रसक्तस्य वाहनस्य भेदान् तल्लक्षणं चाह—यदनुस्मरणादित्यादिभिर्भगवन्मयमित्यन्तैः । आ चाङ्घ्रिगोचरात् चरणादारभ्य यस्य सर्वो देहः पौरुषः समस्तोऽपि कायः पुरुषाकृतिरित्यर्थः । प्राणदैवतं प्राणाधिपतिरित्यर्थः । केकराक्षः केकरे वक्रे अक्षिणी यस्य स तथोक्तः । "वलिरः केकरे" (२।६।४९) इत्यमरः । केकरपदेनैव वक्राक्षत्वे सिद्धेऽप्यत्र पृथगक्षिपदनिर्देशात् केकरशब्दस्य वक्रमात्रपरत्वं बोध्यम् ।

---

१. कारणं—मु० अटी० बक० बख० । २. ताम्—मु० अटी० बक० बख० । ३. भूषितम्—अ० । ४. 'सर्वेषां' नास्ति—अ० । ५. वेदा—अ० । ६. बिभ्रत् सन्—म० । ७. त्वधः—अ० । ८. केकरः—अ० ।

आचाङ्‌घ्रिगोचरात् सर्वो यस्य देहस्तु पौरुषः ।
द्विभुजस्तुहिनाभश्च स सत्यः प्राणदैवतम्[1] ॥ १७९ ॥
सुपर्णः पद्मरागाभो निर्मलः स्वर्णलोचनः ।
गरुडः काञ्चनाभस्तु कुटिलभ्रवरुणेक्षणः ॥ १८० ॥
केकराक्षस्तु ताक्ष्यो वै प्रावृड्जलदसन्निभः ।
द्रवत्कनकनेत्रस्तु शबलाभश्च[2] पञ्चमः ॥ १८१ ॥
चतुर्भुजाः सुपर्णाद्याः सौम्यरूपास्त्वनाकुलाः ।
पतत्रिचरणाः सर्वे पक्षमण्डलमण्डिताः ॥ १८२ ॥
लम्बोदराः सुपीनाङ्गाः कुण्डलाद्यैस्तु भूषिताः ।
कुटिलभ्रूसुवृत्ताक्षा[4] वक्त्रतुण्डाः स्मिताननाः ॥ १८३ ॥
अपानादिसमीराणामाधिपत्येन संस्थिताः ।
महाबला महाकाया रक्ततुण्डोऽत्र पञ्चमः ॥ १८४ ॥

पारमेश्वरव्याख्याने तु—"केकराक्षो भगवद्ध्यानवशादर्धोन्मीलितलोचनः" इति लिखितम् । तद्विचारणीयम् । शबलाभः चित्रवर्णाभ इत्यर्थः । आद्यस्य सत्यस्य सव्यः करो वामहस्तः । आधेयचरणाधस्थः आधेयस्य निजस्कन्धाधिरूढस्य भगवतः पादपद्माधः स्थित इत्यर्थः । दक्षिणस्तु अक्षसूत्रेण भासितः । अत्र चकारद्वयेन कदाचिद्वामहस्तस्याप्यक्षसूत्रभासितत्वम्, दक्षिणस्याप्याधेयचरणा(धः)स्थितत्वं च संभवतीत्यर्थः सूच्यते—

आधेयचरणाक्रान्तो यदि वै दक्षिणः करः ।
संचारो विहितो वामे त्वक्षसूत्रस्य वै तदा ॥ (१२।१८९–१९०)

इत्युक्तेः । ननु[5]—

स्वस्वाङ्गुष्ठद्वयप्रोतगणित्रोभयपाणिना ।
पुष्पाञ्जलिधराः सर्वे मुख्येन विहगोत्तमाः ॥
(ई० सं० ८।४८; पा० सं० ८।४७–४८)

इतीश्वरपारमेश्वरोक्तेः करद्वयेऽप्यक्षसूत्रधारणं स्यात्, किन्तु दक्षिणहस्ते भगवच्चरणाक्रान्ते सति तदा वामहस्तस्थितस्याक्षसूत्रस्य संचारो गणनार्थं संचालनं स्यादित्यर्थः सरस इति चेन्न,

१. दैवतः–बक० । २. भस्तु–अ० उ० । ३. नीला–अ० । ४. क्षपत्र–मु० । ५. 'ननु' नास्ति–अ० ।

आधेयचरणाधःस्थः सव्य आद्यस्य वै करः ।
दक्षिणश्चाक्षसूत्रेण सुसितेन च भासितः ॥ १८५ ॥
एवमेव सुपर्णस्य परिज्ञेयं भुजद्वयम् ।
नाभ्युद्देशेऽपरो[1] वाम उत्तानस्तु सविस्मयः[2] ॥ १८६ ॥
पुष्पस्तबकसम्पूर्ण ऊर्ध्ववक्त्रस्तु दक्षिणः ।
गरुडस्य द्वयं विद्धि हृद्देशेऽञ्जलिरूपिणम् ॥ १८७ ॥
तत्रैव सम्पुटाकारं चतुर्थस्य करद्वयम् ।
दक्षिणेऽमृतकुम्भस्तु वामे तु विषमः फणी ॥ १८८ ॥

आधेयचरणाधःस्थं यस्य पाणितलद्वयम् ।
निरस्तसूत्रं तं विद्धि वाहनं भगवन्मयम् ॥ (१२।१९०–१९१)

इति वचनविरोधात् । भ(ग?)वदुक्तार्थे सिद्धे निरस्तसूत्रसंचारं तं विद्धीति वचनं (कथं) प्रवर्तेत । स्वस्वाङ्गुष्ठद्वयप्रोक्तगणित्रोभयपाणिनेत्यत्रापि पुष्पाञ्जलिप्रकरणादङ्गुष्ठद्वयप्रोतमेकमेवाक्षसूत्रमिति ज्ञायते । यद्वा दक्षिणे वामे वाऽङ्गुष्ठेऽक्षसूत्रं धार्यमिति ज्ञापनार्थमङ्गुष्ठद्वयमप्युक्तमिति ज्ञेयम् ।

सुपर्णस्य भुजद्वयं मुख्यहस्तद्वयमेवमेव सत्योक्तलक्षणमेवेत्यर्थः । अपरो वामः पाश्चात्त्यो वामहस्तः सविस्मयः, विस्मयमुद्रान्वित इत्यर्थः । दक्षिणः पाश्चात्त्यो दक्षिणहस्तस्तु पुष्पस्तबकसंपूर्णः, मन्दारपुष्पस्तबकान्वित इत्यर्थः । ऊर्ध्ववक्त्र उत्तानश्चेत्यर्थः । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

सुपर्णः पश्चिमाभ्यां तु पाणिभ्यां दक्षिणादितः ।
मन्दारपुष्पस्तबकं दधद् विस्मयमुद्रिकाम् ॥ इति ।
(ई० सं० ८।४९; पा० सं० ८।४८–४९)

गरुडस्य द्वयं पश्चात्करद्वयमित्यर्थः । चतुर्थस्य करद्वयं तार्क्ष्यस्य पश्चात्करद्वयमित्यर्थः । पञ्चमस्य विहगेश्वरस्य दक्षिणे पश्चाद्दक्षिणकरे । वामे पश्चाद्वामकर इत्यर्थः । त्रयाणां गरुडतार्क्ष्यविहगेश्वराणाम् । शेषं द्वयमवशिष्टं मुख्यहस्तद्वयम् । द्वयोः समं सत्यसुपर्णयोः समम्, तन्मुख्यहस्तयोः सदृशमिति यावत् ।

ननु गरुडस्य द्वयमित्याद्युक्तमेव मुख्यहस्तद्वयं स्यात् । त्रयाणां शेषं पश्चात्करद्वयं द्वयोः सुपर्णपश्चात्करयोः सदृशमित्यर्थः सरस इति चेन्न, तथाऽर्थवर्णने तत्त-

---

१. द्देशपरो–मु० अटी० । २. इतः परम् 'आधेयचरणाधःस्थः' इति श्लोकार्धस्य पुनरावृत्तिरत्र दृश्यते–मु० अटी० बक० बख० ।

पञ्चमस्य द्वयं शेषं त्रयाणां च द्वयोः समम् ।
आधेयचरणाक्रान्तो यदि वै दक्षिणः करः ॥ १८९ ॥
सञ्चारो विहितो वामे त्वक्षसूत्रस्य वै तदा ।
आधेयचरणाधःस्थं यस्य पाणितलद्वयम् ॥ १९० ॥
निरस्तसूत्रं तं विद्धि वाहनं भगवन्मयम् ।
अनुग्रहपरस्त्वास्ते पक्षिपक्षाब्जविष्टरे ॥ १९१ ॥

त्स्कन्धाधिरूढभगवच्चरणारविन्दयोराधारासिद्धेः, "पञ्चमो विहगेश्वरः । दक्षिणेन सुधाकुम्भं वामेन तु फणीश्वरम्" (ई० सं० ८।५१; पा० सं० ८।५०–५१) इतीश्वरपारमेश्वरोपबृंहणविरोधाच्च ।

ननु किं तर्हि मूलोपबृंहणयोः सर्वत्रैकार्थ्यं संभवति ? अत्र भवदुक्तरीत्या विरोधे परिहृतेऽपि,

> तथाविधाभ्यां गरुडस्ते धत्ते व्यत्ययेन तु ।
> तार्क्ष्यः पश्चिमयोर्नित्यं धत्ते दक्षिणवामयोः ॥
> कद्रू तथाऽमृतं कुम्भम् (ई० सं० ८।५०–५१; पा० सं० ८।४९–५०)

इति वचनम्,

> स्वस्वाङ्गुष्ठद्वयप्रोतगणित्रोभयपाणिना ।
> पुष्पाञ्जलिधराः सर्वे मुख्येन विहगोत्तमाः ॥
> (ई० सं० ८।४८; पा० सं० ८।४७–४८)

इति वचनं च मूलविरुद्धं भवति । तत्र का गतिरिति चेत्, सत्यम् । उपबृंहणवचनविरोधेऽपि न प्रत्यवायः । तथाहि—तत्र सत्यादीनां प्रधानपक्षीश्वरपरिवारत्वदशाप्रकरणाद् भगवद्वाहनत्वस्य तदानीमप्राप्तत्वाच्च सर्वेषामपि मुख्यहस्ताभ्यां पुष्पाञ्जलिधरत्वमेवोक्तम्, सुपर्णविहगेश्वरयोर्मूलानुसारेणैव सामञ्जस्यात् । पश्चात्कराभ्यां पुष्पस्तबकविस्मयमुद्रिकाधारणं सुधाकुम्भफणीश्वरधारणं चोक्तम् । गरुडतार्क्ष्ययोस्तु मुख्यहस्ताभ्यामेव पुष्पाञ्जलिधारणस्योक्तत्वात् पुनः पश्चात्कराभ्यामञ्जलिपुटधा[1]रणस्यासामञ्जस्यात् सुप[2]र्णविहगेश्वरोक्तलाञ्छनयोरेवाभ्यां व्यत्ययेन धारणमुक्तमिति ज्ञेयम् । भगवद्वाहनत्वदशायां स[3]त्यादीनां ध्यानं तु यथामूलं विलिखितमीश्वरे[4] ॥१७७–१९१॥

---

१. वारण—अ० । २. सुवर्ण—अ० । ३. स्यादीनां तु—अ० । ४. अष्टामाध्यायेऽस्मिन्नेव प्रकरणे ।

स्वतेजोनिजसामर्थ्यमसूरकवरान्विते ।
पद्मासनादिना चैव केवलं वा श्रियान्वितः ॥ १९२ ॥
सुव्यक्तावयवस्थित्या विद्धि तं गरुडासनम् ।
मेढ्रभूः सोदराऽस्यैव गोपिता वेगगामिना ॥ १९३ ॥
वीर्यपातात् स्वशिरसा गच्छतश्चाण्डजेन तु ।
लोकान्तराणां कार्यार्थं वात्सल्याद् ध्यायिनामपि ॥ १९४ ॥
प्रत्यक्षदर्शनार्थं तु स्मृतो गरुडवाहनः ।
तस्माद् भगवतो विष्णोरेवंरूपधरस्य तु ॥ १९५ ॥
समाहूतस्य सिद्ध्यर्थमासीनां संस्मरेत् स्थितिम् ।
उपसंहृतवामाङ्घ्रिः कञ्जस्थो वा खगस्थितः ॥ १९६ ॥
वाममिच्छाफलानां यो ध्वंसयत्यन्यचिन्तितम् ।
आजानोर्दक्षिणस्यैवमविक्षिप्तः स्मृतोऽच्युतः ॥ १९७ ॥
आमोक्षात् सर्वसिद्धीनां दक्षिणोऽध्यायिनां भवेत् ।
सर्वमेव ऋजुस्थित्या संस्थितश्चार्थिना स्मृतम् ॥ १९८ ॥

एवमुक्तलक्षणे वाहने भगवदवस्थानक्रममाह—अनुग्रहेति द्वाभ्याम् । स्वतेजोनिजसामर्थ्यमेव मसूरकवरमास्तरणोत्तमं तेनान्विते ॥१९१–१९३॥

भगवन्मेढ्रप्रदेशस्य पक्षीश्वरशिरसा गोपने प्रयोजनमाह—मेढ्रभूरिति । सोदरा उदरसहितेत्यर्थः । वीर्यपातादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । अण्डजेन पक्षिणा गरुडेनेत्यर्थः ॥ १९३–१९४ ॥

भगवतो गरुडारोहणप्रयोजनमाह—लोकेति ॥ १९४–१९५ ॥

साधकेन तत्तत्फलसिद्ध्यर्थं भगवदासनभेदः स्मर्तव्य इत्याह—तस्मादिति ॥ १९५–१९६ ॥

आकुञ्चितवामपादो भगवाननिष्टं निवारयतीत्याह—उपसंहृतेति । वामं प्रतिकूलमित्यर्थः । कुञ्चितदक्षिणाङ्घ्रिस्त्विष्टं प्रापयतीत्याह—आमोक्षादिति । दक्षिण उदार इत्यर्थः । तदुभयं विना ऋजुस्थितो भगवाननिष्टनिवारमिष्टप्रदानं च सर्वं

१. संसूचककरान्वितः—मु० अटी० । २. पङ्क्त्योर्विपर्यस्तः पाठः—अटी० । ३. नं—मु० अटी०, ना—बक० बख० । ४. स्थितिः—बक० बख० । ५. स्मृतः—मु० अटी० । ६. रवमुमास्तरेणोक्तमन्तेना—अ० ।

स्वस्तिकाद्यैर्भवत्येवं[1] किन्तु ते वाहनं विना ।
विहिताः पीठकह्लारसिंहासनगतस्य च ॥ १९९ ॥
विहगाधिपतिश्चात्र योगैश्वर्याद् बिभर्ति च ।
सवक्त्रं भुजवृन्दं तु नागेन्द्रास्त्रवरान्वितम् ॥ २०० ॥
विभोराज्ञावशेनैव तुष्ट्यर्थं वा स्वयं विभोः ।
जगज्जयोदयार्थं तु शान्तये शरणैषिणाम् ॥ २०१ ॥
विभिन्नेन च रूपेण नानालोकान्तरेषु च ।
अनिरुद्धगतिर्वीरो विचरत्येक एव हि ॥ २०२ ॥
तदारूढस्य यद् रूपं शक्तीशस्य च सम्प्रति[2] ।
अनेकभेदभिन्नं तु निबोध गदतो मम ॥ २०३ ॥
संयच्छन्तं सदा शान्तिं भविनां दक्षिणेन तु ।
प्रोद्वहन्तं च वामेन शङ्खं पूर्वोक्तलक्षणम् ॥ २०४ ॥
द्विभुजस्य त्विदं रूपं शक्तीशस्य तु केवलम् ।
रूपेणानेन च पुनः षोढा समुपयाति[3] च ॥ २०५ ॥
सह कान्तागणेनैव त्वेकाद्येन पृथक् पृथक् ।
प्राग्वल्लक्ष्म्या समेतं यत्तदेकं रूपमैश्वरम् ॥ २०६ ॥
श्रीपुष्ट्योरथ मध्यस्थं द्वितीयं परिकीर्तितम् ।
श्रियादिमायानिष्ठेन चतुष्केणावृतं[4] परम् ॥ २०७ ॥

करोतीत्याह—सर्वमित्यर्धेन । एवं स्वस्तिकाद्यासनभेदा वाहनं विना पीठाधिरूढस्यापि संभवन्तीत्याह—स्वस्तिकाद्यैरिति ॥ १९६–१९९ ॥

स्वाधिरूढशक्तीश इव पक्षीशोऽपि तदाज्ञया निखिलजगत्संरक्षणार्थं वक्त्रभुजायुधादिभिर्विविधस्वरूपः स्वयमेक एव सर्वत्र विचरतीत्याह—विहगाधिपतिरिति त्रिभिः ॥ २००–२०२ ॥

शक्तीशस्य रूपभेदान् शृण्वित्याह—तदारूढस्येति ॥ २०३ ॥

पूर्वं केवलं द्विभुजरूपं तस्य लक्ष्म्यादिभिः षोढा भेदांश्चाह—संयच्छन्तमित्यादिभिः ॥ २०४–२०७ ॥

---

१. त्येव–मु० अटी० । २. साम्प्रतम् अटी० उ० । ३. यान्ति–मु० अटी० । ४. ष्केण वृतं–मु० अटी० बक० बख० ।

शुद्ध्[1]यादिकेन षट्केन चतुर्थं[2] विद्धि संवृतम् ।
पुष्टयन्तेन श्रियाद्येन त्वष्टकेन तु पञ्चमम् ॥ २०८ ॥
लक्ष्म्याद्येन द्विषट्केन षष्ठं विद्धि समन्वितम् ।
[3]श्रीदेवी कीर्तिदेवी च जयादेवी हलायुध ॥ २०९ ॥
चतुर्थी भगवन्माया विश्वस्यास्य निबन्धनी ।
शुद्धिर्निरञ्जना नित्या ज्ञानश[4]क्त्यपराजिते ॥ २१० ॥
प्रकृतिः सुन्दरी षट्कमित्युक्तं सर्वसिद्धिदम् ।
लक्ष्मीः शब्दनिधिः सर्वकामदा प्रीतिवर्धनी ॥ २११ ॥
यशस्करी शान्तिदा च तुष्टिदा पुष्टिदाष्टकम् ।
द्विषट्कं वैभवे योगे देवीनां कीर्तिदं हि यत् ॥ २१२ ॥
लक्ष्म्याद्यं तच्च बोद्धव्यं भेदेऽस्मिन् पारमेश्वरे ।

श्रियादिचतुष्टयस्य शुद्ध्यादिषट्कस्य लक्ष्म्याद्यष्टकस्य च नामधेयान्याह—श्रियेति (त्रिभिः ? पञ्चभिः) । शब्दनिधिः सरस्वतीत्यर्थः ॥ २०७–२१२ ॥

लक्ष्म्यादिद्विषट्कं पूर्वं नवमपरिच्छेद (९।८५) एवोक्तं द्रष्टव्यमित्याह—द्विषट्कमिति । वैभवे योगे विभवदेवताकथनप्रकरण इत्यर्थः ।

नन्वेवं व्याख्यानं सात्वतोपबृंहणलक्ष्मीतन्त्रविरुद्धम्, यतस्तत्र—

एकधा द्विचतुर्धा च षोढा चैव तथाष्टधा ।
पुनर्द्वादशधा चैव तत्र नामानि मे शृणु ॥
श्रीर्नाम द्विभुजस्याहमङ्क[5]स्था वरवर्णिनी ।
तस्यैवोभयतो रूपे श्रीश्च पुष्टिश्च वासव ॥
चतुर्दिशं तु तस्यैव श्रीः कीर्तिश्च जया तथा ।
मयेति कृत्वा रूपाणि भुज्येऽहं[6] तेन विष्णुना ॥
तस्यैव कोणषट्कस्था षोढाऽहं शृणु नाम च ।
शुद्धिर्निरञ्जना नित्या ज्ञानशक्तिश्च वासव ॥
तथाऽपराजिता चैव षष्ठी तु प्रकृतिः परा ।
तस्यैव चाष्टधा दिक्षु साहं रूपैर्व्यवस्थिता ॥

---

१. मध्यादिकोण–अटी० । २. साम्प्रतम्–मु० अटी० । ३. श्रिया विमलकीर्तिर्जय-लक्ष्मीर्जलाशयः–बक०, श्रिया विमलकीर्तिर्वै जया लक्ष्मीर्हलायुधः–अ० उ० । ४. मुक्ति चेत्य–मु० अटी० । ५. मङ्ग–अ० म० । ६. भुज्येयं–अ० म० ।

लक्ष्मीः सरस्वती सर्वकामदा प्रीतिवर्धनी।
यशस्करी शान्तिदा च तुष्टिदा पुष्टिरष्टमी॥
[1]कोणद्विषट्के तस्यैव स्थिता द्वादशधाऽस्म्यहम्।
श्रीश्च वागीश्वरी कान्तिः क्रियाशक्तिविभूतयः॥
इच्छा प्रीती रतिश्चैव माया धीर्महिमेति च। (८।२०–२७)

इति श्रीसात्वताष्टमपरिच्छेदोक्तं (८।३१–३२) लक्ष्मीवागीश्वर्यादिद्विषट्कमेव प्रतिपादितम्, अतो वैभवयोग इत्यत्रापि विभोरयं वैभव इति भगवत्संबन्धिनि व्रतार्चन इत्येवार्थो वर्णनीय इति चेन्न, सत्यं तन्नायं भवद्दोषः, किन्तु लक्ष्मीतन्त्रलेखकदोषः। यतस्तेन "लक्ष्मीः पुष्टिर्दया निद्रा" (९।८५) इत्यादिश्लोकस्थाने प्रमादात् "श्रीश्च वागीश्वरी कान्तिः" (८।३१–३२) इत्यादिश्लोको विलिखितः। यद्यपि तदेव भवता समर्थितम्, तथापि त्रयोदशपरिच्छेदे ध्यानप्रकरणे (१३।३६–४३) नवमपरिच्छेदोक्तलक्ष्मीपुष्ट्यादिद्विषट्कस्यैव कण्ठरवेण वक्ष्यमाणत्वान्न भवतोऽभिमतं सिद्ध्यति।

ननु च लक्ष्मीतन्त्रकोशेषु सर्वत्राप्येकरूपः पाठः परिदृश्यते, कथं तस्य प्रामादिकत्वमिति चेन्न, प्रथमकोशानुसारेण सर्वत्रापि प्रामादिकस्यैव प्रसृतत्वात्। यथा पारमेश्वरकोशेषु सर्वत्राप्यावरणदेवतालक्षणाध्याये—"कुन्दावदातं कमलम् (६।२५९) इत्यादिप्रसिद्धकमलध्यानश्लोक एव "कुन्दावदातं मुसलम्" इति मुसलध्यानपरत्वेन विलिखितः प्रामादिकः परिदृश्यते, तथाऽयमपीति ज्ञेयम्।

ननु कुन्दावदातं कमलमिति कुत्र प्रसिद्धमिति चेत्, पारमेश्वरार्चनाध्याय (६।२५९) एव पश्यतु भवान्।

ननु च किं तावता, कमलमुसलयोरेक एव ध्यानश्लोकः स्यादिति चेत्, किं मुसलकिसलयमपेक्षसे। यतः कमलमुसलादीनां प्रत्येकं ध्यानश्लोकानत्रैव [2]वक्ष्यति। एतदनुसारेणैव पारमेश्वरे समस्तायुधध्यानश्लोका विलिखिताः।

[3]ननु पारमेश्वरोक्तं न प्रामादिकम्, अपि तु संहिताकारस्यैवाभिमतम्। तथाहि पौष्करे—"शिशिरास्त्रकरं स्मरेत्" (४।१५५) इति सोमस्य शिशिरम्[4], "दण्डहस्तं प्रजापतिम्" (४।१५८) इति प्रजापतेर्मु[5]सलं च प्रतिपादितम्। जयाख्ये (७।८४–८७) तु—सोमस्य मुद्गरं प्रजापतेः कमलं च प्रतिपादितम्। उभयत्राऽप्यायुधध्यानमुक्तम्। तदेव पारमेश्वरे शिशिरकमलयोः प्रतिपादितमिति चेत्, सर्मज्ञोऽसि। तथापि शिशिरमुद्गरयोः पर्यायत्वबुद्ध्या कदाचित् [6]तथा ध्यानकथनं संभवेत्। तथा कमलमुसलयोरभेदबुद्धेरवतरणासंभवात्। तल्लेखकप्रमादकृतमेव। अथवा जयाख्योक्तपक्षान्तरज्ञापनार्थं मुद्गरध्यानश्लोके शिशिरपदप्रक्षेपश्चैवमेव बोध्यः। एवं चोभयथापि प्रामादिकत्वं सिद्धम्। अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या। प्रकृतमनुसरामः॥ २१२–२१३॥

---

१. कोशषट्के कृत–अ०, कोशषट्के तु–म०। २. कामे–मु०। ३. त्रयोदशे परिच्छेदे। ४. ननु च–म०। ५. शीलं–अ०। ६. र्महदं च–अ०। ७. तदा–अ०।

पुनश्चतुर्भुजस्यैवं विज्ञेयं भेदसप्तकम् ॥ २१३ ॥
किन्तु वै शङ्खचक्रे द्वे वामहस्ते[1] द्वयेन तु ।
जगत्यस्मिन् हि यच्छन्तं शान्तिमाद्येन शाश्वतीम् ॥ २१४ ॥
प्रोद्वहन्तं द्वितीयेन त्वपसव्येन वै गदाम् ।
भूयः करचतुष्केण पूर्वोक्तेन क्रमेण तु ॥ २१५ ॥
चतुर्णामब्जपूर्वाणामन्योन्यत्वेन धारणात् ।
धत्ते द्वादशधा रूपं निःशक्तिकं[2] च केवलम् ॥ २१६ ॥
पुनर्द्वादशकं तच्च सह शक्तिचयेन[3] तु ।
स्थितमेकाधिकेनैव षोढा कमललोचन ॥ २१७ ॥

चतुर्भुजस्यापि द्विभुजवत् केवलरूपमेकम्, लक्ष्म्यादिभिः सहितं रूपं षोढा चाहत्य सप्तधा रूपं ज्ञेयमित्याह—पुनरित्यर्धेन[4]। चतुर्भुजस्य लाञ्छनचतुष्टयधारणक्रममाह—किन्त्विति सार्धेन[5]। शान्ति यच्छन्तमित्यनेनैव कमलधारणं सूचितं हि भवति, "शमं नयति संतापं कमलेनेन्दुकान्तिना" (१२।१२) इति पूर्वं शक्त्यात्मलक्षणोक्तेः ॥ २१३–२१५ ॥

एषां कमलादीनां परस्परव्यत्यस्तधारणेन चतुर्भुजरूपं द्वादशधा संभवतीत्याह—भूय इति सार्धेन। द्वादशधा पद्मादिधारणक्रमस्तु मुख्यदक्षिणहस्तमारभ्य मुख्यवामकरान्तम्[6]—१. पद्मगदाचक्रशङ्खाः, २. पद्मशङ्खचक्रगदाः, ३. पद्मगदाशङ्खचक्राणि, ४. पद्मचक्रशङ्खगदाः, ५. पद्मचक्रगदाशङ्खाः, ६. पद्मशङ्खगदाचक्राणि, ७. शङ्खगदाचक्रपद्मानि, ८. शङ्खपद्मचक्रगदाः, ९. शङ्खचक्रगदापद्मानि, १०. शङ्खपद्मगदाचक्राणि, ११. शङ्खगदापद्मचक्राणि, १२. शङ्खचक्रपद्मगदाश्च क्रमेण ज्ञेयाः ॥ २१५–२१६ ॥

इदमेकैकं रूपं पुनः प्रत्येकं लक्ष्म्यादिशक्तिभेदैः षोढा भवतीत्याह—पुनर्द्वादशकमिति सार्धेन। शक्ति(द्व?च)येन देवीसमूहेनेत्यर्थः। अत्र चयेनेति जात्येकवचनम्, द्विकचतुष्कषट्काष्टकद्विषट्कभेदभिन्नानां शक्तिसमूहानामुक्तत्वात्। एकाधिकेन लक्ष्म्याधिकेनेत्यर्थः। "प्राग्वल्लक्ष्म्या समेतं यत्तदेकं रूपमैश्वरम्" (१२।२०६) इति पूर्वोक्तेः। समूहस्यानेकात्मकत्वादेकाधिकेनेति शक्ति(द्व?च)यस्य पृथग्विशेषणमुक्तमिति ज्ञेयम्। एवं चतुर्भुजेनैव वपुषा बहुधा स्थितः। केवलरूपैर्द्वादशभिर्लक्ष्म्यादिशक्तिसहितैर्द्विसप्ततिरूपैराहत्य चतुरशीतिरूपभेदैरन्वित इत्यर्थः ॥ २१७–२१८ ॥

१. हस्तद्व—अ० । २. क्तीकं—अ० । ३. शक्तिद्वयेनेति सार्वत्रिकः पाठः । ४. पुनरिति द्वाभ्याम्—अ० । ५. 'सार्धेन' नास्ति—अ० । ६. मुखं—अ० ।

एवं चतुर्भुजेनैव वपुषा बहुधां स्थितः ।
सप्तधा षड्भुजाद्येन भुजाधिक्येन वै पुनः ॥ २१८ ॥
स्थितस्त्वनेकधा देवो यथा तदवधारय ।
षड्बाहुरष्टबाहुश्च दशद्वादशबाहुधृक्[1] ॥ २१९ ॥
द्विसप्तषोडशकरस्तथाष्टादशभूषितैः[2] ।
केवलादिश्च सर्वेषां प्राग्वद् भेदस्तु सप्तधा ॥ २२० ॥
तन्मे शृणु यथावस्थमस्त्रविन्यासचिह्नितम् ।
षड्भुजो दक्षिणैर्धत्ते निस्त्रिंशं कमलं गदाम् ॥ २२१ ॥
सशरं कार्मुकं शङ्खं वामैरस्त्रोत्तमं त्रिभिः ।
गदामुसलचक्रासीनष्टबाहुस्तु दक्षिणैः ॥ २२२ ॥
शङ्खमङ्कुशपाशौ च वामैस्तु सशरं धनुः ।
खड्गबाणगदापद्मशक्तियुक्तास्तु दक्षिणाः ॥ २२३ ॥
दशबाहोर्धनुश्शङ्खचक्रखड्गाश्च साभयाः ।
षण्णां दक्षिणहस्तानां द्विषट्कभुजभूषितः ॥ २२४ ॥
सन्धत्ते कमलं खड्ग[3]चक्रबाणगदाङ्कुशान् ।
शङ्खपाशाभयान् शक्तिं सव्यानां मुसलं धनुः ॥ २२५ ॥
चतुर्दशभुजो धत्ते वामे तु भुजसप्तके ।
शङ्खं गदाङ्कुशौ[4] पाशं मुसलं मुद्गरं हलम् ॥ २२६ ॥
दण्डाब्जकुलिशान् चक्रं खड्गशक्तिपरश्वधान् ।
बिभृयात् षोडशभुजो मुख्यहस्तैः समुद्गरान् ॥ २२७ ॥

पुनः षड्भु(जाः?जाद्यान्) अष्टादशभुजान्तान् सप्तरूपभेदान् शृण्वित्याह—सप्तधेति ॥ २१८–२१९ ॥

षड्भुजादीनां सप्तानामपि प्राग्वत् केवलत्वेन सशक्तिकत्वेन च सप्तधा भेदाः संभवन्तीत्याह—षड्बाहुरिति सार्धेन ॥ २१९–२२० ॥

षड्भुजादीनां आयुधभेदानाह—तन्मे शृणु यथावस्थमित्यारभ्य साधूनां

१. धृत्–मु०, भाक्–अटी० । २. भेदतः–अटी० । ३. खड्गं–अ० । ४. ङ्कुशं–बख० अ० उ० । ५. शम्–उ० ।

अभयं कमलं खड्गं शक्तिदण्डवराङ्कुशान्[1] ।
शङ्खचक्रगदावज्रपाशलाङ्गलकार्मुकान्[2] ॥ २२८ ॥
वरं कराष्टकेनैव धत्ते सव्येन विश्वजित् ।
पद्मखड्गगदावज्रचक्रबाणवराङ्कुशान् ॥ २२९ ॥
दण्डं दक्षिणहस्तैस्तु धत्तेऽष्टादशबाहुभृत्[2] ।
शङ्खाभयौ[3] हलं शक्तिं मुद्गरं मुसलं धनुः ॥ २३० ॥
कुठारमतुलं पाशं विभुर्वामभुजैरमून् ।
बिभर्ति दुष्टशान्त्यर्थं साधूनां पालनाय च ॥ २३१ ॥
भूयो विशेषरूपाणि त्वेतान्येव[4] विशेषतः ।
स्ववक्त्रद्वयमात्रेण नयत्यमितविक्रमः ॥ २३२ ॥
सिंहतेजोऽसहिष्णूनां पितृयाणरतात्मनाम्[5] ।
अज्ञानादिकसंसारभीतानां वै हिताय च ॥ २३३ ॥
आमृते[6] वै ग्रहे[7] भागे तैजसे नित्यदक्षिणे ।
वामदक्षिणवक्त्राभ्यां कुर्याद् वै व्यत्ययं प्रभुः ॥ २३४ ॥
वृद्धयेऽपि च शान्त्यर्थं तेजसः पद्मलोचनः[8] ।
हेतुनानेन[9] भगवान् बहिरन्तर्गतेन वै ॥ २३५ ॥

पालनाय चेत्यन्तम् ॥ २२१–२३१ ॥

उक्तान्येतानि रूपाणि पुनर्वक्त्रद्वयमात्रेण विशेषत्वं प्रापयतीत्याह—भूय इति[10] ॥ २३२ ॥

दक्षिणोत्तरवक्त्रयोर्व्यत्यासभेदमाह—सिंहेति[11] [12]सार्धद्वाभ्याम् । स्वदक्षिणभागस्यैव तेजोमयत्वात् पुनस्तत्रातितेजोमयं सिंहवक्त्रमप्यस्ति चेत्, उपासकास्तदुभयं तेजः संमिलितं सोढुं न शक्नुवन्तीति तेषां मुमुक्षूणामुपासकानां हितार्थं तेजोमयं सिंहवक्त्रममृतम(यैः ? ये) स्ववामभागे, वराहमुखं तैजसे दक्षिणभागे च प्राप्नोतीति भावः ॥ २३३–२३५ ॥

---

१. शरा–अ० उ० । २. धृत्–मु० अटी० । ३. भयं–उ० । ४. एता–उ० । ५. गता–बक०, तरा–बख० । ६. अमृते–मु० अटी० बक० बख० । ७. ग्रहैर्भोगैस्तै–मु० । ८. चनः–अ० उ० । ९. तेन–अ० उ० । १०. इति सार्धेन–म० । ११. सिंहस्येति–अ० । १२. 'सार्ध' नास्ति–म० ।

अग्नीषोमौ समीकृत्य त्वास्ते साधारणात्मना[1] ।
व्यक्तं[2] वागीशवक्त्रं तु नीत्वैवं शिरसोपरि ॥ २३६ ॥
पञ्चवक्त्रेण वपुषा त्वामूलाद् यात्यनेकधा ।
शब्दब्रह्मरतानां च ध्यायिनामात्मसिद्धये ॥ २३७ ॥
आ पातालाच्च सर्वेषां लोकानां पूरणाय च ।
नानावपुर्धरो भूयस्[3]त्वेकैकेनैष याति च ॥ २३८ ॥
भेदेन रूपमाश्रित्य दशधा च सितादिकम् ।
विना वक्त्रैर्नृसिंहाद्यैः सर्वज्ञमहिमान्वितः[4] ॥ २३९ ॥
बिभर्ति रूपाण्येतानि त्वनिरुद्धस्तु तार्क्ष्यकम्[5] ।
एवमाक्रम्य गरुडं प्रद्युम्नो बिभृयात्तनुम्[6] ॥ २४० ॥
नानात्वमपि[7] चाभ्येति सङ्कर्षणः सुपर्णगः[8] ।
देवः सत्योपरि स्थित्वा विश्वात्मा यात्यनेकधा ॥ २४१ ॥

एवं मुखद्वयव्यत्ययेन हेतुना समीकृततेजोऽमृतमयविग्रहः सन् सर्वसेव्यो भवतीत्याह—हेतुनेति ॥ २३५–२३६ ॥

शब्दब्रह्मासक्तोपासकानुग्रहार्थमूर्ध्वचतुर्मुखमध्ये हयग्रीववक्त्रं च बिभर्तीत्याह—व्यक्तमिति सार्धेन ॥ २३६–२३७ ॥

वर्णभेदं चाह—आपातालादिति सार्धेन। पातालादिसमस्तलोकेषु स्वयमेव गत्वा गत्वा संरक्षितुमिच्छारूपधर एष भगवान् एकैकेन भेदेन भुजास्त्रशक्तिवक्त्रभेदेनैकैकं रूपमाश्रित्य दशधा सितादिकं च याति। "युगानुसारिकान्तिश्च" (१२।११) इति पूर्वोक्तक्रमेण तत्तद्युगानुसारिण्याऽवस्थया सितरक्तादिवर्णभेदं च प्राप्नोतीत्यर्थः। एवं च पूर्वोक्तैर्भुजवक्त्रवर्णैः शक्तीशस्याशीत्युत्तरचतुःशताधिकसहस्रहरूपभेदा भवन्तीति ज्ञेयम् ॥ २३८–२३९ ॥

अथ "चातुरात्म्यसमूहात्तु यत्पद्मदलभूस्थितम्" (१२।१७५) इत्याद्युक्तप्रकारेण वासुदेवादीनां मध्येऽन्यतमस्य शक्त्यात्मत्वे तस्य नृसिंहादिवक्त्रद्वयं विना भुजास्त्रशक्तिभेदान्वितत्वं सर्वं प्राग्वदेव, वाहनं तु सत्यादिक्रमेण विभिन्नमित्याह—विना वक्त्रैरिति त्रिभिः ॥ २३९–२४२ ॥

---

१. त्मनाम्—मु० बक० बख० उ० । २. व्यक्तिमिति सार्वत्रिकः पाठः । ३. स्त्वधिके—मु० अटी० बक० बख० । ४. न्वितम्—बक० । ५. तार्क्ष्यकः—बक० बख० अ० । ६. तनुः—म० अ० । ७. मभि चात्येति—मु० अटी० । ८. सत्रर्णकः—अ०, सुपन्नगः—उ० ।

सुरसिद्धमनुष्यादिभूतानां दुःखशान्तये ।
चतुर्णां[1] योनिजा वर्णास्ते तु मूर्त्यन्तरेषु च ॥ २४२ ॥
चतुर्भुजस्यादिमूर्तेर्विष्णोर्मूर्त्यन्तरस्य च ।
वर्णलाञ्छनतुल्यत्वे भेदकृत् तद्ध्वजद्वयम् ॥ २४३ ॥
अपसव्यस्थितेनैव तत्तालाख्यध्वजेन तु ।
स्वरूपभेदमाप्नोति[2] स्वमूर्तिः सह सर्वदा ॥ २४४ ॥
यस्मात् कार्यवशेनैव मूर्तीनामपि पाणिगाः ।
चतुःपद्मादयोऽमूर्ता मूर्ताः शान्तास्तथोग्रताः ॥ २४५ ॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां विभवदेवताध्यानं नाम द्वादशः परिच्छेदः ॥

■

वासुदेवाद्युक्तं शुक्लादिवर्णचतुष्टयं शक्त्यात्ममूर्त्यन्तरेष्वपि संभवतीत्याह— चतुर्णामित्यर्धेन ॥ २४२ ॥

चतुर्भुजस्य वासुदेवस्य तथाविधशक्त्यात्ममूर्तेश्च वर्णलाञ्छनतुल्यत्वेन मूर्तिसंदेहे प्राप्ते तत्तद्ध्वजद्वयं तत्तन्मूर्तिभेदज्ञानजनकं भवतीत्याह—चतुर्भुजस्येति ॥२४३॥

सर्वत्रैवं तद्दक्षिणभागस्थध्वजेन तन्मूर्तिभेदो ज्ञेय इत्याह—अपसव्येति ॥ २४४ ॥

तत्र हेतुमाह—यस्मादिति । वासुदेवादीनां हस्तस्थितपद्मादिलाञ्छनानि प्रकृतकार्यानुसारेण कदाचित् शान्तरूपमङ्गीकृत्यामूर्तानि[3] भवन्ति, कदाचिदिच्छा[4]रूपमङ्गीकृत्य मूर्तीभूतानि भवन्ति । तस्माल्लाञ्छनैर्भेदो न ज्ञायते, तत्तद्ध्वजेनैव तत्तन्मूर्तिभेदो ज्ञातव्य इत्यर्थः ॥ २४५ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये द्वादशः परिच्छेदः ॥

■

१. सद्–अटी०, स–मु० बक० बख० अ० उ० । २. मिद–मु० अटी० बक० बख० । ३. पद्म–उ० । ४. दितर–म० ।

त्रयोदशः परिच्छेदः

श्रीभगवानुवाच[1]

[2]यागेऽस्मिं[3]स्त्वेकपीठे वै सर्वसामान्यलक्षणे ।
ध्येया विशेषरूपेण किरीटाद्याखिलास्तु वै ॥ १ ॥
चतुर्भुजाश्चतुर्वक्त्रा वस्त्रस्रग्भूषणान्विताः ।
पुनर्विशेषया[4]गानामर्चनावसरे [5]वपुः ॥ २ ॥
एकाननं च सर्वेषां द्विभुजं विहितं सदा ।
किरीटः सौम्यवदनः काञ्चनाभो महातनुः ॥ ३ ॥
भाभिराकृतियुक्ताभिर्नानारूपाभिरावृतः ।
स्थितो वैद्याधरीयेण स्था[6]नकेनान्तरिक्षगः ॥ ४ ॥

अथ त्रयोदशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । अत्र प्रथमं किरीटादिभूषणानां लाञ्छनानां च सर्वेषामपि स्वातन्त्र्येतण्णार्चनप्रकरणे चतुर्मुखत्वं चतुर्भुजत्वं च ध्येयम्, पारतन्त्र्येणार्चनप्रकरणे तु[7] द्विभुजत्वमेकमुखत्वमेव[8] ध्येयमित्याह—याग इति सार्धद्वाभ्याम् । अत एव जयाख्य[9](१३।१५१)लक्ष्मीतन्त्रादिषु (३८।६८) भोगयागप्रकरणे कौस्तुभादीनां द्विभुजत्वमेवोक्तम् ।

ननु तर्हीश्वरपारमेश्वरयोर्भोगयागप्रकरणेऽपि श्रीवत्सकौस्तुभयोश्चतुर्भुजत्वम्, "उद्गिरन्तं स्वकैर्मुखैः" (ई० सं० ४।१२०; पा० सं० ६।३६३) इत्यनेन शङ्खस्य चतुर्मुखत्वं चोक्तम् । तस्य का गतिरिति चेत्, सत्यम् । तत्र सात्वतोक्तस्वतन्त्रार्चनपरध्यानश्लोका एव यथावस्थितं विलिखिताः । तथापि तत्रैवोत्तरत्र—

ध्येयाः स्वरुचिसंयुक्ता द्विभुजाः पुरुषोपमाः ॥
सास्त्राः [10]किरीटपूर्वा ये गदामालाङ्गनाकृतीः ।
(ई० सं० ४।१२०–१२१; पा० सं० ६।२६९–२७०)

इत्युक्तत्वान्न विवादावकाशः ॥ १–३ ॥

किरीटध्यानमाह—किरीट इति सार्धेन ॥ ३–४ ॥

---

१. भगवानित्येव उ० विहाय सार्वत्रिकः पाठः । २. योगो–मु०, योगे–बक० उ० । ३. स्मिन् स्वेन–मु० अटी० बक० । ४. योगा–मु० अटी० बक० बख० अ० । ५. पुनः–मु० अटी० बक० बख० उ० । ६. स्थाना–मु०, स्थानगेन–बक० । ७. 'तु' नास्ति–अ० । ८. 'एव' नास्ति–अ० । ९. याख्ये–अ० । १०. 'कौस्तूभपूर्वा ये गदामालेऽङ्गनाकृती' (१७।८८–८९) इत्येवं पाठभेदेन सहाऽत्रापि समुपलभ्यतेऽयं श्लोकः ।

पद्मरागा[1]चलाकारं कौस्तुभं रत्ननायकम् ।
दिशो दश द्योतयन्तं संलग्नाङ्घ्रि[2]स्थितं स्मरेत् ॥ ५ ॥
वहन्तं वक्षसो मध्ये स्वहस्तकृतसम्पुटम् ।
सन्धारयन्तमपरं तथा वै शिरसोपरि ॥ ६ ॥
स्फटिकाद्रिप्रतीकाशं श्रीवत्समथ भावयेत् ।
बद्धपद्मासनासीनं न्यस्तहस्तं स्वपार्श्वयोः ॥ ७ ॥
वहन्तं कूर्ममुद्रां च मुख्य[3]हस्तद्वयेन तु ।
ध्येया भगवती माला चित्ररूपा मनोहरा ॥ ८ ॥
सर्वगन्धान्विता सौम्या ईषद्विक[4]सितानना ।
स्वरश्मिमण्डलान्तःस्थं वल्गन्तं हेतिपं स्मरेत् ॥ ९ ॥
विभोराज्ञां प्रतीक्षन्तं ह्रस्वाङ्गं रक्तलोचनम् ।
कुन्दावदातकमलं सौम्यमीषत्स्मिताननम् ॥ १० ॥
रवं रवन्तं[5] मधुरं श्रोत्रेन्द्रियसुखावहम् ।
गदां हेमाद्रिसंकाशां तन्वीं कुवलयेक्षणाम् ॥ ११ ॥
स्वोत्थेन रश्मिजालेन भासयन्तीं नभस्थलम् ।
तुहिनाचलसंकाशं शङ्खं कमललोचनम् ॥ १२ ॥
सहागमादिसारं तमुद्गिरन्तं स्वकैर्मुखैः ।
सन्ध्याजलदसंकाशं लाङ्गलं भीमलोचनम् ॥ १३ ॥
क्षामा[6]ङ्गमुन्नतांसं च वज्रकायं बलोत्कटम् ।
कृशोदरं च मुसलं[7] रश्मिज्वालावलीवृतम् ॥ १४ ॥

कौस्तुभध्यानमाह—पद्मरागेति द्वाभ्याम् ॥ ५–६ ॥

श्रीवत्सध्यानमाह—स्फटिकेति सार्धेन । कूर्ममुद्रा अविद्यादलिनी मुद्रेत्यर्थः, "अविद्यादलिनीं मुद्रां कूर्माख्यां संस्मरेद् विभोः" (१७।८४) इति नृसिंहकल्पे वक्ष्यमाणत्वात् । तल्लक्षणमपि तत्रैव वक्ष्यमाणं ज्ञेयम् ॥ ७–८ ॥

वनमालाध्यानमाह—ध्येयेति ॥ ८–९ ॥

चक्रादिशक्त्यन्तानां सप्तदशायुधानामेकैकस्यैकश्लोकक्रमेण ध्यानमाह–स्वरश्मि-

१. रागचया–उ० । २. नाङ्घ्रि–मु० । ३. मुख–अ० उ० । ४. द्विह–अ० उ० । ५. सुवन्तं–मु० अटी० । ६. क्षौमा–मु० अटी० । ७. लमग्नि–अ० उ० ।

अङ्गारराशिसदृशं प्रलम्बमतिनिष्ठुरम् ।
नीलोत्पलदलश्याममिष्वस्त्रं [1]बाणविग्रहम् ॥ १५ ॥
नानारूपं च निशितं दीर्घदृक्चण्डविक्रमम् ।
कार्मुकं हेमगौरं च किङ्किणीजालमण्डितम् ॥ १६ ॥
आस्फोटयन्तं [2]स्वकरं महाजलदनिस्वनम् ।
स्वरश्मिखचितं ध्यायेन्नृत्यमानं च नन्दकम् ॥ १७ ॥
शरदाकाशसंकाशं दशन्तं दशनावलिम् ।
सूर्यमण्डलसंकाशं खेटकं सौम्यमूर्तिकम् ॥ १८ ॥
ग्रसन्तमस्त्रपूगानि स्ववक्त्रेणानिशं बलात् ।
बद्धमुष्टिं स्मरेद् दण्डं रक्ताङ्गं रक्तलोचनम् ॥ १९ ॥
क्रोधमूर्तिं स्वदशनैर्दशन्तमधरं स्वकम् ।
शक्रकार्मुकवर्णं च परशुं भीमविक्रमम् ॥ २० ॥
द्रवत्कनकनेत्रं च ज्वलज्ज्वालाजटाधरम् ।
पाशं [3]फणिगणाकीर्णं विद्युज्जिह्वं भयानकम् ॥ २१ ॥
हेमालिपाण्डराभं च घोरास्यं रक्तलोचनम् ।
कृशाङ्गं दीर्घबाहुं च पिङ्गलाक्षं तु [4]चाङ्कुशम् ॥ २२ ॥
विकरालमुखं रौद्रं भिन्नाञ्जनगिरिप्रभम् ।
मुद्गरं शतधामाभं पीनांसं पृथुविग्रहम् ॥ २३ ॥
जटाकलाप[5]धृक् सौम्यं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ।
वज्रं वज्रोपलाभं तु सितदीर्घनखाङ्कि[6]तम् ॥ २४ ॥
दंष्ट्राकरालवदनं ज्वलत्कनकलोचनम् ।
सौदामिनीं [7]प्रभाशक्तिं शान्ताग्निवदनेक्षणाम् ॥ २५ ॥
घनघर्घरनिर्घोषमुद्गिरन्तीं मुहुर्मुहुः ।
एतेऽस्त्रनायकाः सर्वे विभोराज्ञाप्रतीक्षकाः ॥ २६ ॥

मण्डलान्तःस्थमित्यादिभिः सप्तदशभिः ॥ ९–२६ ॥

---

१. बाल–मु० अटी०, बहु–मु० अ० । २. स्वकरौ–अ० उ० । ३. फणा–अ०, फण–मु० अटी० । ४. साङ्कु–अटी० अ० । ५. धृत्–मु० । ६. न्तिकम्–मु० अटी० । ७. प्रभां–अ० उ० ।

प्रोत्थिता विचलन्तश्च सुसमैः स्थानकैः स्थिताः ।
श्रोणीतटार्पितकराश्चामरव्यजनोद्यताः ॥ २७ ॥
सपद्मं तु किरीटाद्यं वर्जयित्वा चतुष्टयम् ।
तर्जयन्तं च दुष्टौघमन्येषां दक्षिणं करम् ॥ २८ ॥
स्मर्तव्यं ध्यानकाले तु सर्वेषामथ मस्तके ।
ध्येयं स्वकं स्वकं चिह्नं सुप्रसिद्धं निराकृति ॥ २९ ॥

सर्वेषां सामान्यलक्षणमाह—एतेऽस्त्रनायका इति सार्धैस्त्रिभिः । एते किरीटादय इत्यर्थः । अस्त्रनायकाश्चक्रादय इत्यर्थः । श्रोणीतटार्पितकराः श्रोणीतटन्यस्तवामहस्ता इत्यर्थः । चामरव्यजनोद्यताः सचामरव्यजनदक्षिणहस्ता इत्यर्थः । आयुधानां भूषणानां च किञ्चित् तारतम्यमुक्तम्—सपद्ममित्यादिना । सपद्मं पद्मसहितम्, किरीटाद्यं चतुष्टयं किरीटकौस्तुभश्रीवत्सवनमालाचतुष्टयम्, वर्जयित्वाऽन्येषां चक्रादीनां दक्षिणं करं दुष्टौघं तर्जयन्तं च ध्यायेदिति योर्जना । चक्रादीनां चामरव्यजनसमर्पणकैङ्कर्य-मात्रोद्योगे दुष्टानामसुरादीनां यथेच्छं दुष्कृत्येष्ववकाशो भवतीति भिया चामरादि-समर्पणसमयेऽपि दुष्टौघतर्जनमुक्तम् । यद्वा तर्जयन्तं चेत्यत्र चकारो विकल्पनार्थकः । चक्रादीनां दक्षिणं करं चामरव्यजनोद्यतं तर्जनीमुद्रान्वितं वा स्मरेदित्यर्थः । चामर-व्यजनोद्यतमिति पाठे तु नैतावान् क्रमः । सपद्मकिरीटादिचतुष्टयस्यैव चामरोद्यत-दक्षिणकरत्वम्, अन्येषां तर्जनीमुद्रान्वितत्वमेवेत्यर्थः सरसो भवति । कस्मिंश्चित् पारमेश्वरप्रयोगे चक्राद्यायुधानामेव चामरव्यजनोद्यतत्वं सपद्मकिरीटादिचतुष्टयस्य तर्जनीमुद्रान्वितत्वमुक्तम् । तदसंगतम्, तर्जयन्तमित्यस्य चतुष्टयमित्यस्य चाविभिन्न-लिङ्गकत्वात्, आयुधानामेव दुष्टौघतर्जनसामर्थ्याद् भूषणानां तदसंभवाच्च । अत एव पद्मस्यायुधकोटिपरिगणितत्वेऽपि तस्य लीलाकमलत्वात् सौम्यत्वाच्च दुष्टौघतर्जनं (न) संभवतीत्यभिप्रायेण सपद्ममिति भूषणैः सह वर्णनं कृतमिति च ज्ञायते ।

ननु पूर्वं कौस्तुभश्रीवत्सयोर्दण्डयोश्च कार्यान्तरविनियुक्तहस्तत्वमुक्तम्, इदानीं पुनस्तेषामपि श्रोणीतटनिविष्टहस्तत्वं चामरपाणित्वतर्जनीमुद्रान्वितत्वयोरन्यतरत्वं च कथं संभवतीति चेन्न, पूर्वमुक्तस्य लक्षणस्य चतुर्भुजविषयत्वादिदानीमुक्तस्य द्विभुज-विषयत्वात् ॥ २६–२९ ॥

१. कुसुमैः—मु० अटी०, सुसंस्थैः—मु० । २. ध्यानकैः—मु० । ३. दुष्टघ्नं—अ० उ० । ४. योजनम्—म० । ५. मात्राद्योगे—अ० ।

किरीटो हुतभुग् वेद्यः कौस्तुभस्तु प्रभाकरः ।
स्वयं शशाङ्कः श्रीवत्सो माला [1]षण्माधवादयः ॥ ३० ॥
[2]प्राणं पतत्रिराड् विद्धि कालचक्रं महामते ।
अपाम्पतिर्वै कमलं गदा देवी सरस्वती ॥ ३१ ॥
खं शङ्खः सीरमोषध्यो मुसलं [3]नागनायकः ।
शब्दादयः [4]सायकास्तु धनुर्विद्धि समीकरणम् ॥ ३२ ॥
नन्दकं सर्वशास्त्राणि खेटकं वसुधा स्मृता ।
ज्ञेयो हि दण्डो नियतिर्वैराग्यं परशुः स्मृतः ॥ ३३ ॥
पाशो मायाङ्कुशः कामोऽप्यहङ्कारस्तु मुद्गरः ।
विज्ञानममलं वज्रं समाधिः शक्तिरुच्यते ॥ ३४ ॥
भिन्नरूपस्य च विभोर्य उक्तः सुन्दरीगणः ।
साधारश्चाप्य[5]नाधारस्तासां ध्यानं क्रमाच्छृणु ॥ ३५ ॥
चिन्ताऽऽखण्डलचापाभा लक्ष्मी रक्ताम्बुजप्रभा ।
पुष्टिः कनकगौरा च कीर्तिः कुमुद[6]पाण्डरा ॥ ३६ ॥

अथ किरीटादीनामधिष्ठातॄनाह—किरीट इत्यादिभिः । [7]माधवादयः····सन्ता···· प ? इत्यर्थः । पारमेश्वरेऽपि—

अपांपतिर्वै कमलं गदा देवी सरस्वती ।
चक्रं लोकप्रतिष्ठा [8]वै शब्दब्रह्म तु शङ्खराट् ॥ (६।२७८-२७९)

इति गदापद्मयोरधिष्ठातृदेवौ सात्वतोक्तशब्दाभ्यामेव प्रतिपादितौ, चक्रशङ्खयोरधिष्ठातारौ तु शब्दान्तराभ्यामुक्तौ । अतस्तत्रापि लोकप्रतिष्ठा काल इत्यर्थः, सर्वाधारः काल इति प्रसिद्धेः[9] । शब्दो (बृ ? बृं)हत्यस्मिन्निति शब्दब्रह्म आकाशमित्यर्थश्च बोध्यः । पारमेश्वरव्याख्याने तु लोकप्रतिष्ठा [10]भूमिरित्युक्तम् । तद्विचारणीयम् ॥३०-३४॥

अथ पूर्वोक्तानां चिन्तादिदेवीनां वर्णध्यानक्रममाह—भिन्नरूपस्येत्यादिभिः । चिन्ता नाम पातालशायिनो दक्षिणभागस्था पूर्वोक्ता देवीति ज्ञेया । [11]श्र्यादिद्विके श्र्यादिचतुष्टये शुद्ध्यादिषट्के लक्ष्म्याद्यष्टके लक्ष्म्यादिद्विषट्के च चिन्ताया अनन्तर्गतत्वात् प्रथमं तद्ध्यानमुक्तमिति सूक्ष्मदृष्ट्या बोध्यम् ।

---

१. चैव पतत्रिराट्—मु० अटी० । २. कालं चैव महाबुद्धे विद्धि चक्रं तु हेतिपम्—मु० अटी० । ३. चाङ्ग—बक०, नग—मु० । ४. साधका—मु० अटी०, सायकास्त्रं—उ० । ५. प्यसाधा—बक० बख० अ० । ६. पाण्डुरा—मु० । ७. माधवादयः संताप—अ० । ८. ष्ठायै—अ० म० । ९. न्यायवैशेषिकादि शास्त्रेष्विति शेषः । १०. भूरि—म० । ११. श्रियादि—म० ।

जयाऽर्ककान्तिसदृशी¹ मायाऽञ्जननिभा स्मृता ।
शुद्धिः किंशुकसंकाशा गुञ्जाभा² तु निरञ्जना ॥ ३७ ॥
बन्धुजीवोज्ज्वला नित्या ज्ञानशक्तिः सिताऽरुणा ।
फुल्लेन्दीवरवर्णा च परिज्ञेयाऽपराजिता ॥ ३८ ॥
रक्तोत्पलाभा प्रकृतिः सितपीता सरस्वती ।
सर्वकामप्रदा³ सिद्धिस्त्विन्द्रनीलसमप्रभा⁴ ॥ ३९ ॥
सिन्दूरपुञ्जवर्णाभा विज्ञेया प्रीतिवर्धनी ।
यशस्करी च दुग्धाभा शान्तिदा विद्रुमोज्ज्वला ॥ ४० ॥
तुष्टिस्तुहिनसंकाशा दया वैडूर्यसन्निभा ।
निद्राऽयस्कान्तसदृशी⁵ क्षमा पीतारुणप्रभा ॥ ४१ ॥
कान्तिर्दर्पणसंकाशा धृतिर्गोरोचनोज्ज्वला ।
मैत्री बन्धूकपुष्पाभा रतिर्गैरिकसन्निभा ॥ ४२ ॥
मतिर्मरकताभा वै सर्वाः प्रमुदिताननाः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा नानालङ्कारभूषिताः ॥ ४३ ॥
दिव्यस्रग्वेष्टनोपेता वीक्षमाणाः स्वकं पतिम् ।
चतस्रः शक्तयो यास्तु विभोः शयन⁶गस्य तु ॥ ४४ ॥

नन्वेकार्णवशायिनः परितःस्थितदेवीचतुष्टयान्तर्गतप्रीतिविद्ययोरप्यत्र द्विकादि-समूहेष्वनन्तर्गतत्वात् तयोरपि ध्यानं कुतो नोक्तमिति चेत्, पामरोऽसि, विद्यासरस्वती-शब्दयोः पर्यायत्वं स्तनन्धयोऽपि जानीते। "तुष्टिदापुष्टिदाष्टकम्" (१२।२१२) इत्यत्र तुष्टिदाशब्देनोक्तायाः "तुष्टिस्तुहिनसंकाशा" इति पुनस्तुष्टिशब्देनात्रैव ग्रहणाद् यथा तुष्टिदातुष्टिशब्दयोः पर्यायत्वं ज्ञायते, तथा ⁷प्रीतिप्रीतिवर्धनीशब्दयोः पुष्टिदापुष्टि-शब्दयोः शान्तिदाशान्तिशब्दयोश्च पर्यायत्वं निरङ्कुशम्। अतः प्रीतिविद्ययोरपि द्विकादि-समूहान्तर्गतत्वादेव पृथग् ध्यानं नोक्तमिति संतोष्टव्यमायुष्मता। लक्ष्मीध्यानस्य प्रथममेवोक्तत्वात् पुनर्द्विके चतुष्टयेऽष्टके द्विषट्के च तद्ध्यानं नोक्तम्। एवमष्टक एव तुष्टेः सरस्वत्याश्च ध्यानस्योक्तत्वात् पुनर्द्विषट्के नोक्तमिति ध्येयम् ॥३५–४३॥

देवीनां सर्वासामपि सामान्यं लक्षणमाह—दिव्यमाल्येति ॥ ४३–४४ ॥

---

१. सदृशा—बक० बख० अ० उ० । २. कुन्दाभा—उ० । ३. प्रदां विद्धि त्विन्द्र—मु० अटी० । ४. प्रभाम्—मु० । ५. सदृशा—बक० बख० अ० उ० । ६. नकस्य—मु० बक० बख० । ७. 'प्रीति' नास्ति—अ०, 'प्री' नास्ति—म० ।

प्रागुक्तास्तत्र पूर्वाशावस्थिता वीजय[1]न्त्यजम् ।
त्रयं यद् दिक्त्रयस्थं तु तत्संवाहनतत्परम् ।। ४५ ।।
य[2]त्रैका श्रीर्विभोस्तत्र सन्निवे[3]शः पुरोदितः ।
य[4]त्रैका श्रीर्विभोस्तत्र वामे वा दक्षिणेऽपि वा ।। ४६ ।।
श्रीपुष्टयाख्यद्वयं यत्र तत्र तद् दक्षिणोत्तरे ।
पद्मासनेनोपवि[5]ष्टौ पक्षिपक्षद्वये स्थि[6]तौ ।। ४७ ।।
नलिनीनालहस्ताढ्या मृदुकुम्भकराऽपरा ।
अ[7]ग्नीषोममयो देह आद्यो यः सर्वगस्य च ।। ४८ ।।
तस्य शक्तिद्वयं तादृगमिश्रं भिन्नलक्षणम् ।
भोक्तृशक्तिः स्मृता लक्ष्मीः पुष्टिर्वै कर्तृसंज्ञिता ।। ४९ ।।
भोगार्थमवतीर्णस्य तस्य लोकानुकम्पया ।
उदितं सह तेनैव शक्तिद्वितयमव्ययम् ।। ५० ।।

पातालशायिनः परितः स्थितस्य लक्ष्म्यादिशक्तिचतुष्टयस्य हस्तव्यापारानाह—चतस्र इति सार्धेन ।। ४४-४५ ।।

लक्ष्मीर्मात्रविषयमाह—यत्रेति । पुरोदितः पूर्वम्

"पद्मासनादिना चैव केवलं वा श्रियान्वितः" (१२।१९२) इत्यत्र ।

षष्ठेनालिङ्गिता देवी सारविन्देन बाहुना ।
तदंसलग्नकरया देव्या तच्चित्तयाऽनिशम् ।।
संवीज्यमानं विनयाच्चामरेण सितेन तु । (१२।१०७-१०८)

इत्यत्र वोक्त इत्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—"श्रीर्नाम द्विभुज[10]स्याहमङ्कस्था वरवर्णिनी" (८।१२) इति ।।४६।।

श्रीपुष्टिद्विकस्य लक्षणमाह—श्रीपुष्टयाख्यद्वयमिति सार्धैश्चतुर्भिः । यस्य शक्तिद्वयस्य[11] परिणामो नानात्वेन प्रकाशितः, चिन्ताकीर्तिजयामायादिरूपभेदैः प्रदर्शित

---

१. यन्ति च–अ० । २.नास्त्येषा पङ्क्तिः–अटी० । ३. वेशपरोदिता–मु० । ४. सर्वत्र परिदृश्यमानाऽपीयं पङ्क्तिरनावश्यका प्रतीयते, भाष्यकारेण च न व्याख्याता । ५. विष्टं–अ० उ० । ६. तते–अ०, येन तु–उ० । ७. अग्निष्टोम–अ० । ८. मातृ–अ० । ९. न्तया–म० । १०. स्याङ्कं–म० । ११. द्वितयस्य–म० ।

नानात्वेन हि वै यस्य परिणामः प्रकीर्तितः[1] ।
दिक्पत्रचतुरन्तःस्थं यद् वै देवीचतुष्टयम्[2] ॥ ५१ ॥
शक्तिः परशुपाशास्त्रमङ्कुशं तत्करे क्रमात् ।
षट्कं केसरजालस्थं तत्र प्राक्पश्चिमे द्वयम् ॥ ५२ ॥
द्वयं द्वयं सौम्ययाम्ये तासां वामकरेषु च ।
शङ्खं चक्रं गदा सीरमिष्वस्त्रं नन्दकं शिवम्[3] ॥ ५३ ॥
पत्रमध्य[4]निविष्टं तु यत्कान्ताष्टकमुत्तमम् ।
तस्य वामकराणां च विज्ञेयं त्वादितोऽष्टकम् ॥ ५४ ॥
श्रीफलं चाक्षसूत्रं स्रग् दर्पणः[5] पुष्पमञ्जरी ।
विष्टरं [6]किङ्किणी चास्त्रसञ्चयः कमलेक्षण ॥ ५५ ॥
विज्ञेयः शान्तिदः पाणिर्द्वादशानां तु साभयः ।
अन्तरान्तरयोगेन सर्वाश्चामरलाञ्छिताः ॥ ५६ ॥
स्वस्तिकेनोपविष्टाश्चाप्यन्तर्मुदितमानसाः ।
द्वयादिकस्यास्य संघस्य द्वादशान्तस्य लाङ्गलिन् ॥ ५७ ॥

इत्यर्थः ॥ ४७–५१ ॥

लक्ष्मीकीर्त्यादिशक्तिचतुष्टयलक्षणमाह—दिक्पत्रेति ॥ ५१–५२ ॥

शुद्ध्यादिदेवीलक्षणमाह—षट्कमिति सार्धेन । प्राक्पश्चिमे द्वयम् । प्राग्भागे एका शक्तिः, पश्चिमभागे एका शक्तिरित्यर्थः । [7]द्वयं द्वयं सौम्ययाम्ये । उत्तरकोणद्वये शक्तिद्वयम्, दक्षिणकोणद्वये शक्तिद्वयमित्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

"तस्यैव कोणषट्कस्था षोढाऽहं शृणु नाम च" (८।२३) इति ॥५२–५३॥

शक्त्यष्टकलक्षणमाह—पत्रमध्येति द्वाभ्याम् । श्रीफलं बिल्वफलमित्यर्थः ॥५४–५५॥

लक्ष्म्यादिद्विषट्कलक्षणमाह—विज्ञेय इत्यर्धेन । सर्वसाधारणं लक्षणमाह—अन्तरेति । अन्तरान्तरयोगेन दक्षिणहस्तधारणेनेत्यर्थः ॥ ५६–५७ ॥

शक्तीशवत् शक्तीनामपि सितादिवर्णपद्मादिलाञ्छनव्यत्ययतुल्यलाञ्छनत्वादि-भेदैर्बहुधा भेदा विज्ञेया इत्याह—द्व्यादिकस्येति सार्धद्वाभ्याम् । द्व्यादिकस्य श्रीपुष्टि-

१. प्रकाशितः–अ० उ० । २. देवि–मु० बक० बख० । ३. गितम्–बक० बख० उ०, शितम्–अ० अटी० । ४. मध्ये–मु० अटी० बक० बख० । ५. किरणं–उ० । ६. शास्त्र–अ०, शास्त्रं–उ० । ७. 'द्वयं द्वयं' नास्ति–अ० ।

सितादिकेन वर्णेन लाञ्छनव्यत्ययेन तु ।
तुल्यलाञ्छनयोगेन तन्निरासे च वै सति ॥ ५८ ॥
वाराभयाभ्यामन्योन्यपाणिभ्यामथ केवलात् ।
बहुधा भेदवृन्दं तु परिज्ञेयं तु पूर्ववत् ॥ ५९ ॥
शेषं भवोपकरणं देवानां निचयो हि सः ।
सुप्रसिद्धो महाबुद्धे किन्त्वब्जाद्यैस्तु पूर्ववत् ॥ ६० ॥
ध्यातव्या लाञ्छिताः सर्वे पाणिपादतलेषु[1] च ।
भक्तिश्रद्धाव्रतपरः सर्वेषां यः सदैव हि ॥ ६१ ॥
ध्यात्वैवमर्चनं कुर्याद् भोगैः संस्पर्शपूर्वकैः ।
सोऽचिरान्मोक्षनिष्ठं तु फलं[2] प्राप्नोत्यभीप्सितम् ॥ ६२ ॥
किरीटाद्यस्त्रनिष्ठेन परिवारेण चावृतम् ।
भक्त्या ह्यभीप्सितं रूपमर्चनीयमथापि वा ॥ ६३ ॥
निर्मुक्तपरिवारं वा स्वेन ध्यानेन लक्षितम् ।
विदधात्यर्चनान्नूनं स्वं[3]पदं फलसंयुतम् ॥ ६४ ॥

द्विकपूर्वकस्येत्यर्थः । द्वादशान्तस्य लक्ष्मीपुष्टिदयादिद्विषट्कस्येत्यर्थः । संघस्येति जात्येकवचनम् । पञ्चसंघा[4]नामित्यर्थः । भवोपकरणदेवानां प्रसिद्धत्वात् तल्लक्षणानि सर्वत्र प्रसिद्धानि द्रष्टव्यानीति ॥ ५७–५९ ॥

नास्त्रैर्वस्त्रैर्ध्वजैर्येषां व्यक्तिर्व्यक्ता जगत्त्रये ॥
तेऽपि लाञ्छनवृन्दं तु धारयन्त्यङ्घ्रिगोचरे ।
ललाटे चांसपट्टे तु पृष्ठे पाणितलद्वये ॥ (१२।१६८–१६९)

इत्याद्युक्तप्रकारेण शक्तिभूषणास्त्रलाञ्छनानामप्यस्पष्टत्वे तत्पाणिपादतलादिषु तानि द्रष्टव्यानीति चाह—शेषमिति सार्धेन ॥ ६०–६१ ॥

एतेषामर्चनफलमाह—भक्तीति सार्धेन ॥ ६१–६२ ॥

एवं किरीटादिपरिवारध्यानैः सहितं वा तैर्विना केवलतत्तद्भगवन्मूर्तिध्यानमात्रेण वाऽन्वितमर्चनं कार्यमित्याह—किरीटेति सार्धेन ॥ ६३–६४ ॥

१. तलादिषु—अ० उ० । २. लमाप्नो—बक० बख० अ० उ० । ३. स्वं—अ० । ४. संख्याना—म० ।

ज्ञात्वैवं साधकः कुर्याद् यथाभिमतमर्चनम् ।
आत्मशक्तिसमैर्भोगैरखिलैः शुद्धविग्रहैः[1] ॥ ६५ ॥
हृदि वेद्यां बहिर्मूर्तौ प्रासादे स्वगृहे तु वा ।
बहुप्राकारनिर्मुक्ते धूमदाहादिनोज्झिते ॥
शरणे रमणीये च निःसम्पर्के तु भाविते ॥ ६६ ॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे[2] श्रीसात्वतसंहितायां भूषणाद्यस्त्र[3]देवताध्यानं[4] नाम त्रयोदशः परिच्छेदः ॥

■

उभयथाऽर्चनेऽपि भगवान् चतुर्विधपुरुषार्थानपि प्रयच्छतीति ज्ञात्वा स्वेच्छानुसारेण यथाशक्त्यार्जितैर्भोगैर्मनसि बहिर्वेद्यां बिम्बे वाऽऽलये स्वगृहे वाऽर्चनं कुर्यादित्याह—विदधातीति त्रिभिः ॥ ६४-६६ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये त्रयोदशः परिच्छेदः ॥

■

१. विग्रहः—अ० उ० । २. पञ्च—उ० । ३. णास्त्र—अ० उ० । ४. ध्यानो—बक० बख०, ध्यायो—अ० ।

चतुर्दशः परिच्छेदः

नारद[1] उवाच[2]

अखण्डनाय नित्यस्य तथा नैमित्तिकस्य च ।
कर्मणश्चोदयामास हली विष्णुं मुनीश्वराः ॥ १ ॥

[3][4]सङ्कर्षण उवाच

यैराजीवावधिं कालं नित्यमाराधनं प्रति ।
धीः कृता पुण्डरीकाक्षे[4] श्रद्धापूतेन चेतसा ॥ २ ॥
तेषामाकस्मिकाल्लोपाद् भोगानामप्यसम्भवात् ।
य[5]ः स्यात् तस्योपशमनं ज्ञातुमिच्छामि साम्प्रतम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवानुवाच[2]

[6]लोभ[7]बुद्धिं विना यस्य भोगानामप्यसम्भवः ।
सामर्थ्येन विना यस्य कृच्छ्रादीनां परिच्युतिः ॥ ४ ॥
ज्वरादिव्याधिदोषेण जातो[8] यस्याह्निकक्षयः ।
चातुर्मास्य[9]स्य [10]चाप्राप्तिर्यस्य स्वातन्त्र्यतो विना ॥ ५ ॥

अथ चतुर्दशः[11] परिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह नित्यनैमित्तिककर्मणामखण्डनो[12]वहं कर्म संकर्षणो वासुदेवं पृच्छतीत्याह—अखण्डनायेति ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—यैरिति द्वाभ्याम् । तेषां भागवतानाम्, आकस्मिकाल्लोपाद् अबुद्धिपूर्वकादाह्निकव्रतादिलोपादित्यर्थः । भोगानामसंभवाद् औपचारिकादीनां लोपादित्यर्थः । यः स्याद् यो दोषः संभवेदित्यर्थः । तस्योपशमनं ज्ञातुमिच्छामीति [13]प्रश्नः ॥ २-३ ॥

एवं पृष्टो वासुदेवस्तांस्तान् दोषहेतून् स्वयमपि विविच्य तत्तदुपशामकानाह—[14]लोभबुद्धिमित्यादिभिः । लोभबुद्धिं विना द्रव्यलोभं विना । अनुपपत्तिविनाशादिति

---

१. भगवान्—मु० अटी०, नारदः—बक० बख० । २. उवाच—उ० विहाय कुत्रापि नास्ति । ३. नास्ति—मु० अटी० । ४. काक्षे—बख० । ५. यत् स्या—मु० अटी०, यस्य—बक० बख० अ० । ६. पङ्क्तित्रयं नास्ति—उ० । ७. लोप—बक० बख० अ० । ८. जातं यस्याह्निकं क्षयम्—बक० बख० अ० । ९. सस्य—अ० उ० । १०. वेति सार्वत्रिकः पाठः । ११. र्दशपरि—म० । १२. खण्डाना—अ० । १३. प्रश्नम्—म० । १४. लोप—म० ।

तस्य तस्य महाबुद्धे शृणु यद्विहितं हितम् ।
सांस्पर्शिकानां भोगानां मात्रावित्तं हि पूरणम् ॥ ६ ॥
हृदयङ्गमसंज्ञानामन्नं च हविषा प्लुतम् ।
औपचारिकभोगानां बीजानि विहितानि वै ॥ ७ ॥
कृच्छ्रचान्द्रायणादीनां व्रतानां परिपूरकः ।
विशेषार्चनसंयुक्तश्चातुर्मास्यैस्तु संयमः ॥ ८ ॥
सौत्रं प्रतिसरं चित्रं मुक्ताहारोपमं शुभम् ।
शमं नयति भक्तानां सर्वदा लोपमाह्निकम् ॥ ९ ॥

भावः । यस्य पुरुषस्य यत्पुरुषकर्तृक इत्यर्थः । भोगानाम् औपचारिकसांस्पर्शिकाभ्यवहारिकाणाम्, असम्भवो लोपः संभवति । स्वातन्त्र्यतो विना पारतन्त्र्याद्यस्य पुरुषस्य चातुर्मास्यस्य व्रतस्य चाप्राप्तिर्लोपः संभवति, तस्य तस्य पुरुषस्य यद्धितं प्रायश्चित्तरूपं हितं विहितं शास्त्रचोदितं तच्छृण्वित्यर्थः[3] । सांस्पर्शिकानां भोगानां स्रक्चन्दनादीनाम्, मात्रावित्तं प्रत्यहं पूजाकाले दीयमानं सहिरण्यशालितण्डुलतिलादिकम्, पूरणं भोगलोपदोषजनितच्छिद्रपूरकमित्यर्थः । हृदयंगमसंज्ञानाम् आभ्यवहारिकाणाम्, हविषा प्लुतम् आज्याक्तमन्नं पूरकम् । औपचारिकभोगानां छत्रचामरादीनाम्, विविधानि बीजानि मात्रार्थं कल्पितानि मुद्गादीनि पूरकाणि ॥ ४–७ ॥

एवं भोगलोपप्रायश्चित्तमुक्त्वा कृच्छ्रादिलोपप्रायश्चित्तं दर्शयति—कृच्छ्रचान्द्रायणादीनामिति । कृच्छ्रचान्द्रायणादीनां व्रतानां विशेषार्चनसंयुक्तश्चातुर्मास्यस्य संयमः अष्टमपरिच्छेदोक्तचातुर्मास्यव्रतनियमै[4]ः पूरकः । अथ क्रमप्राप्तमाह्निकलोपप्रायश्चित्तं दर्शयति—मुक्ताहारोपमं चित्रं शुभं सौत्रं[5] क्षौमादिसूत्रकृतं प्रतिसरं पवित्राख्यं भूषणं भक्तानामाह्निकं लोपम् आह्निकलोपजन्यं दोषं शमं नयति शान्ति प्रापयतीत्यर्थः । चातुर्मास्यव्रतलोपस्यापीदं प्रायश्चित्तमिति ज्ञेयम्, तस्याह्निकेष्वेवान्तर्भूतत्वात् । अत एव तस्य प्रत्येकं प्रायश्चित्तानुक्तेः । एवं च मन्त्रलोपक्रियालोपद्रव्यलोपा[6]दिसंभवे हि कृच्छ्रचान्द्रायणादिव्रतान्यनुष्ठीयन्ते । तेषामपि पूरकश्चातुर्मास्यव्रतः[7], तस्यापि पूरकं पवित्रारोपणम् । अतोऽस्य सर्वप्रायश्चित्तत्वमुक्तं भवति । तथा च वक्ष्यति कण्ठ[8]रवेण—

तपोदानव्रतानां च विहितस्याह्निकस्य च ।
निःशेषयागभोगानां कृत्वा संपूरणक्रियाम् ॥ (१५।१) इति ॥८–९॥

---

१. हृदङ्गमं च—बक० बख० । २. सस्य संयमम्—बक० बख० उ० । ३. र्थः संबन्धः—म० । ४. मपू—अ० । ५. सूत्रं—अ० म० । ६. लोभादि—म० । ७. व्रतम्—अ० । ८. कण्ठी—अ० ।

तच्च मासचतुष्कस्य मध्ये कुर्याच्छुभे दिने ।
आषाढपञ्चदश्यास्तु यावद् वै कार्तिकस्य च ॥ १० ॥

[1]सम्पूर्णचन्द्रदिवसं तं कालं चान्द्रमन्तिमम् ।
आ कर्कटकसंक्रान्तेस्तुलाभोग[2]क्षयावधि[3] ॥ ११॥

[4]कालं तं चाष्टपक्षं [5]तु सौरं मध्यमसंज्ञितम् ।
एकादश्यादि [6]चान्तो यश्चातुर्मास्योपलक्षितः ॥ १२ ॥

कालं तं वैष्णवं विद्धि तूत्तमं सर्वसिद्धिदम् ।
अप्राप्तेरस्य कालस्य त्वन्तरायेण केनचित् ॥ १३ ॥

तस्मादस्य विधानं विस्तरेण दर्शयन् प्रथमं तदनुष्ठानकालमाह—तच्चेत्यादिभिः । आषाढपञ्चदश्या आषाढ[8]पूर्ण[9]मासीमारभ्य कार्तिकस्य मासस्य सम्पूर्णचन्द्रदिवसं पौर्णमासीति यावत् । तावन्तं कालं चान्द्रं चान्द्रमानसंज्ञम् अन्तिमम् अधमं सन्तं विद्धि । [10]आ कर्कटकसंक्रान्तेस्तुलाभोगक्षयावधि सूर्यस्य कर्कटकप्रवेशमारभ्य तुलाधिष्ठानभोगावसानपर्यन्तम् । अथवा तुलायां तुलामासे ये भोगाः शालिव्रीह्यादीनां फलानि तेषां क्षयावधि तल्लवनसंग्रहणपर्यन्तमित्यर्थः । यद्वा तुलामासस्याभोगो विस्तारस्तदवसानपर्यन्तमित्यर्थः । अष्टपक्षम् अष्टौ पक्षा यस्य तं तथोक्तं कालं सौरं सौरमानसंज्ञं मध्यमं विद्धि । चातुर्मास्योपलक्षित एकादश्यादि चान्तो यः काल आषाढशुक्लैकादशीमारभ्य कार्तिकशुक्लैकादश्यन्तं मासचतुष्टयात्म[11]कं इत्यर्थः। तं कालं वैष्णवं वैष्णवमानसंज्ञम्, [12]उत्तमं तं विद्धि । पारमेश्वरव्याख्याने—"एकादश्यादि चान्तो य इत्यत्र एकादश्यामादिरारम्भस्तत्र तीर्थं वा" इति विलिखितम् । तद्विचारणीयम् ॥ १०–१३ ॥

---

१. सम्पूर्णश्चन्द्रदिवसः स कालश्चान्द्र उच्यते—मु० अटी० । २. भागक्षया—मु० अटी०, भोगक्रिया—बक० । ३. इतः परम्—"पवित्रारोपणे चान्द्रं त्वधमं परिकीर्तितम्" इति श्लोकार्धः प्रायः सर्वेषु कोशेषु दृश्यते । एष च भाष्यकारेण न व्याख्यातः, न च दृश्यत ईश्वरपारमेश्वरयोरिति न मूले स्थाप्यते, पूर्वश्लोकेनैव गतार्थत्वात् । ४. कालः स चाष्टपक्षस्तु सौरो मध्यमसंज्ञितः—मु० अटी० । ५. च—बख० अ० उ० । ६. निशान्त इति सार्वत्रिकः पाठः। ७. उत्तमं—बक० बख० अ० । ८. पूरण—म० । ९. मास—अ० । १०. 'आ' नास्ति—अ०, आकस्मिक—म० । ११. त्मकमि—अ० । १२. उत्तमं····तं—म० ।

निर्वाहणीयोऽप्यपरः कालश्चान्द्रायणादिना ।
सम्पाद्यं चैव तन्मध्ये विधिवद् यागपूरकम्[1] ॥ १४ ॥
दिनत्रये तु पूर्वोक्ते पूर्णिमाद्युपलक्षिते[2] ।
सोपवासैः क्रियापूर्वं कर्म प्रातिसरीयकम् ॥ १५ ॥
दशम्यामर्चनं कृत्वा हुत्वाग्निं च निशामुखे ।
आनिमन्त्र्य च देवेशं धूपं दत्वाऽर्घ्यपूर्वकम् ॥ १६ ॥
निजानन्दमयैर्भोगैर्नित्यतृप्तस्त्वमव्ययः ।
तथापि भक्त्या तृप्तोऽहं त्वां यजाम्यात्मसिद्धये ॥ १७ ॥
निवेद्य मुखवासादीनित्युक्त्वा दन्तधावनम् ।
सम्पूज्याथ सुगन्धैस्तु सितसूत्रसमूहजम्[3] ॥ १८ ॥
शुभं प्रतिसरं त्वेकं तत्तुल्यानि बहूनि वा ।
कुङ्कुमाद्यैर्यथाशोभं[4] रञ्जयित्वा स्वशक्तितः ॥ १९ ॥

उत्तम[5]कालालाभेऽधमादिकाले वेदमनुष्ठेयमित्याह—अप्राप्तेरिति ॥ १३–१४ ॥

उत्तमकालेष्वन्यतमे दिनत्रये पवित्रारोपणं कार्यमित्याह—संपाद्यमिति । संपाद्यं कर्तव्यमित्यर्थः । तन्मध्ये उत्तमादिकालत्रयमध्ये, यागपूरकं भगवदाराधनच्छिद्र[6]पूरकमित्यर्थः । पौर्णिमाद्युपलक्षिते पौर्णमास्या एकादश्या संक्रान्त्या वाऽन्वित इत्यर्थः । प्रातिसरीयकं[7] पावित्रकमित्यर्थः ॥ १४–१५ ॥

अथ दशम्येकादश्योः कर्तव्यं पवित्र[8]दिवसाख्यं कर्माह—दशम्यामित्यारभ्य जागरेण नयेन्निशामित्यन्तम् । अर्चनं कृत्वा कुम्भमण्डलबिम्बेषु यथाविधि संपूज्येत्यर्थः। अग्निं च हुत्वा अग्नौ च देवं संतर्प्येत्यर्थः । एवमधिवासदिनादिषु चतुःस्थानार्चनस्येश्वर-पारमेश्वरादिषु[9] प्रतिपादितत्वात् । यद्वाऽर्चनं कृत्वेत्यत्र केवलबिम्बार्चनमेव विवक्षितम्,

यदा तु केवलं[10] बिम्बे पवित्रारोपणं भवेत् ॥
तदा स्याद् बिम्बकस्यैव[11] अधिवासोक्तपूजनम् ।
तथा वह्निगतस्यापि वर्जयेत् कुम्भमण्डले ॥ (१२।४७८–४७९)

इति पारमेश्वरोक्तेः । इत्थं दिनद्वयेऽप्यधिवासकरणाशक्तस्यैकादश्यामेवाधिवासनम्,

---

१. पूर्व—मु० अटी० उ० । २. पौर्णिमेति भाष्यानुसारी पाठः । ३. हनम्—मु० अटी० । ४. योगं—मु० अटी० । ५. उक्त—अ० । ६. 'द्रपू' इत्यक्षरद्वयं त्रुटितम्—अ० । ७. प्रातिसर्यकमित्युभयमातृकापाठः । स च छन्दोभङ्गदोषदुष्टः । ८. पवित्रादिवसाख्यं—म० । ९. ईश्वरे चतुर्दशाध्याये पारमेश्वरे च द्वादशाध्याये विषयोऽयं द्रष्टव्यः । १०. केवले—मु० । ११. गस्यैव—मु० ।

जाम्बूनदमयैः पुष्पैर्नानारत्नोपशोभितैः ।
सनालैर्भूषणीयं च रम्यैर्वा रजतोत्थितैः ॥ २० ॥
[1]धूपितेऽभिनवे भाण्डे कृत्वाच्छाद्यास्तरेण[2] तु ।
प्रणवेनार्चयित्वा तु संस्थाप्य पुरतो विभोः ॥ २१ ॥
देवागारं बहिश्चान्तर्मन्दिरं[3] यागसंज्ञितम् ।
संवेष्ट्य सितसूत्रेण चतुर्धा तद्गुणेन तु ॥ २२ ॥
ततोऽभ्यर्थ्य समूहं तु पञ्चकालपरायणम्[4] ।
षट्कर्मनिरतं चापि यतिवृन्दं तु वैष्णवम् ॥ २३ ॥
समक्षं भवतां भक्त्या श्वः प्रभुं पूजयाम्यहम्[5] ।
सन्निधानमतः कार्यं[6] मदनुग्रहकाम्यया ॥ २४ ॥
स्नानाद्यमेकादश्यां वै सविशेषं समाचरेत्[7] ।
हवनान्तं क्रियाकाण्डं जपस्तुतिपरैस्ततः ॥ २५ ॥

तत्राप्यशक्तस्य सद्योऽधिवासनम्, अधिवासात् पूर्वमङ्कुरार्पणं रक्षाबन्धनं चोक्तमीश्वरे—

पूर्वं दशम्येकादश्योः कुर्यात् कर्माधिवासनम् ।
एकादश्यां वानुकल्पे अधिवासनमाचरेत् ॥
सद्योऽधिवासं द्वादश्यां कुर्याद्वा शक्त्यभावतः ।
अधिवासदिनात् पूर्वदिने कृत्वाङ्कुरार्पणम् ॥
अधिवासदिने कुर्याद् रक्षाबन्धं च देशिकः । (१४।१६७–१६९) इति ।

एवमेवोक्तं पारमेश्वरेऽपि—

प्राक्सप्त(मे) दिने कृत्वा प्राग्वदङ्कुररोपणम् ।
प्राग्वत् कृत्वाधिवासं तु पुरस्ताद् वासरद्वये ॥ (१२।४७५) इति ।
द्रव्याभावो द्विजश्रेष्ठ! अशक्तिर्यदि वा भवेत् ।
सद्योऽधिवासं द्वादश्यां कृत्वा शक्त्यनुसारतः ॥ (१२।४९८–४९९) इति ।

अधिवासदिने चतुःस्थानार्चनानन्तरम् "आनिमन्त्र्य च देवेशम्" (१४।१६) इत्यत्रैकैकं पवित्रं समर्पणीयम् । तथा चोक्तमीश्वरे पारमेश्वरे च—

---

१. धूषिते–मु०, धुषिते–अटी० । २. च्छान्या–मु०, चान्या–अटी० । ३. मन्दिरम्–मु० अटी० । ४. यणः–बक० । ५. समर्चयेत्–अ० । ६. परः स्मृतः–बक० बख० अ० उ० । ७. शक्त्या तु कारयेत्–मु० ।

आराध्यस्याग्रतः स्थित्वा जागरेण नयेन्निशाम् ।
पुनरभ्यर्च्य देवेशं प्रभाते विधिपूर्वकम् ।। २६ ।।
भूषयेद् भूषणेनैव त्वामूर्ध्नः प्रणवेन तु ।
यथारूपैश्च बहुभिर्ब्रूयाद् बद्धाञ्जलिस्त्विदम् ।। २७ ।।
नावलेपान्न मोहाच्च कर्मत्यागो मया कृतः ।
त्वमेव सर्वं जानासि सर्वेशं हृदये स्थितः ।। २८ ।।
यथाशक्त्या त्वनिच्छातस्तत्रापि परमेश्वर ।
तन्निमित्तमिदं कर्म कृतं त्वत्प्रीतये मया ।। २९ ।।

प्रणम्य देवदेवेशं ततस्त्वेकं पवित्रकम् ।
दहनाप्यायसंशुद्धं प्रोक्षितं चार्घ्यवारिणा ।।
वासितं गन्धधूपाभ्यां चतुःस्थानस्थितस्य च ।
निवेद्य च क्रमेणैव धूपं दत्वाऽर्घ्यपूर्वकम् ।। इति ।
(ई० सं० १४।१८०–१८१; पा० सं० १२।२६१–२६२)

पवित्रनिर्माणप्रकरणेऽपि—

चतुःस्थानावतीर्णस्य विभोरामन्त्रणाय वै[3] ।
पवित्रमाद्यसदृशमेकैकं वा द्वयं द्वयम् ।। इति ।
(ई० सं० १४।११२–११३; पा० सं० १२।१४१–१४२)

अत्र पवित्राणां तन्तुसंख्याग्रन्थिकल्पनगर्भरचनादिकं नोक्तमपीश्वरपारमेश्वराद्युक्तं ग्राह्यम् । अथवा—

यथेच्छाकल्पितैः सूत्रैर्ग्रन्थिभिस्तु यथेच्छया ।
निशारोचनया वापि पवित्राणां च धातुना ।।
केनचिद् ग्रन्थयो विप्रा[4] विधिवत् परिरञ्जयेत् ।
पुष्पपूर्णानि गर्भाणि कृत्वा वा केवलान्यतः ।।
(ई० सं० १४।२६७–२६८; पा० सं० १२।५००–५०१)

इतीश्वरपारमेश्वरयोर्लघुपक्षस्याप्युक्तत्वात् तन्तुग्रन्थिनियमादीनामन्यतो ग्रहणाभावेऽपि न प्रत्यवायः[5] ।

---

१. च–अ० उ० । २. सर्वेषां–मु० अटी० । ३. च–मु० । ४. विप्र–पा० । ५. इतः परम्–"ननु यथेच्छाग्रन्थिकल्पनस्यापि मूलोक्तत्वात् तन्तुग्रन्थिनियमादीनामन्यतो ग्रहणाभावेऽपि न प्रत्यवायः" इति द्विरावृत्तिप्रायः पाठो दृश्यते–अ० ।

एवमुक्त्वा समभ्यर्च्य चतुरः पा[1]ञ्चरात्रिकान् ।
भगवत्प्रतिपत्त्या तु शक्त्या प्रावरणै[2]र्धनैः ।। ३० ।।
तथा प्रतिसरान्तै[3]स्तु ब्रह्मचा[2]रीन् यतीन् गुरून् ।
तर्पयित्वाऽथ चान्नेन पूतेन विविधेन तु ।। ३१ ।।
क्षान्त्वाऽनुव्रज्य नैवेद्यपूर्वं कुर्याच्च भोजनम् ।
अपरेऽहनि संन्यासमाचरेद् विधिपूर्वकम् ।। ३२ ।।
अपनीय तु माल्यादीन् प्रदद्याद् वा दिने दिने ।
नो याति म्लानतां यावच्चतुर्थेऽहनि वा त्यजेत् ।। ३३ ।।

ननु यथेच्छाँ[4]ग्रन्थिकल्पनस्यापि मूलेऽनुक्तत्वात् तदपि वाऽन्यत्र ग्राह्यं खल्विति चेन्न, "मुक्ताहारोपमम्" (१४।९) इत्यनेनैव ग्रन्थिकल्पनसिद्धेः । "संवेष्ट्य सितसूत्रेण चतुर्धा तद्गुणेन तु" (१४।२२) इत्यत्र तद्गुणेन चतुर्गुणेनेत्यर्थः,

चतुर्गुणेन संवेष्ट्य[5] ह्यन्तराद् यागमन्दिरम्[6] ।
प्रदक्षिणचतुष्कं तु वर्ममन्त्रं तु संस्मरन् ।। (१२।२६९–२७०)

इति पारमेश्वरे[7]स्पष्टोक्तेः ।। १६–२६ ।।

अथ द्वादश्यां प्रातर्नित्यार्चनचतुःस्थानार्चनपूर्वकं पवित्रसमर्पणम्, हविर्निवेदनाद्यनन्तरं नावलेपादिति श्लोकद्वयेन प्रार्थनम्, भगवत्प्रतिपत्त्या चतुर्णां कारिणां ब्रह्मचार्यादीनां भागवतानां च पवित्रसमर्पणहविर्भोजनान्तमर्चनमपराधक्षमापणादिकं स्वानुयागं चाह—पुनरभ्यर्च्य देवेशमित्यादिभिः । प्रावरणैर्वस्त्रैरित्यर्थः ।। २६–३२ ।।

तदपरेद्युरेव पवित्रविसर्जनमाह—अपरेऽहनीत्यर्धेन ।

अथवा पुष्पाणामेव प्रत्यहं विसर्जनं कुर्वन् पवित्राणां विसर्जनं तु चतुर्थेऽहनि विशेषेण कारिपूजनपूर्वकं कुर्यादित्याह—अपनीयेति सार्धेन । एतदूर्ध्वमपि पवित्रस्थापनमुक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

एकरात्रं त्रिरात्रं वा [10]पञ्च वा सप्तरात्रकम् ।
पवित्रकं स्थापयित्वा ततः संन्यासमाचरेत् ।।
अथवार्चा[11]गतं विप्र[12] तावत्संस्थाप्य भूषणम् ।
यावदेकादशी शुक्ला संवृत्ता कार्तिकस्य तु ।। इति ।
(ई० सं० १४।२५०–२५१; पा० सं० १२।४४६–४४७)

अन्ये च बहवो विशेषा अत्रापेक्षिता ईश्वरादिषु[13] द्रष्टव्याः ।। ३२–३३ ।।

१. पञ्च–अ० उ० । २. चारि–मु० अटी० । ३. वै–मु० अटी० । ४. यथेच्छ–म० । ५. ष्टचाभ्य–मु० । ६. मण्डपम्–मु० । ७. श्वरे–म० । ८. प्रत्यङ्गं–म० । ९. पूजा–म० । १०. सप्तरात्रं तु वा द्विज–पा० । ११. वार्च–अ०, वार्चन–म० । १२. विप्राः–ई० । १३. ईश्वरे चतुर्दशाध्याये पारमेश्वरे च द्वादशाध्याये ।

विशेषयागपूर्वं तु कारिभ्योऽवसरे स्वके ।
एवं कृते सति त[1]दा सिद्धिर्भवति शाश्वती ॥
स[2]र्वथाऽऽराधकानां तु चेतसोऽभीप्सितं तथा[3] ॥ ३४ ॥

इति श्रीपा[4]ञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां पवित्रारोपणविधिर्नाम[5]
चतुर्दशः परिच्छेदः ॥

■

एतत्फलमाह—एवमिति ॥ ३४ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये चतुर्दशः परिच्छेदः ॥

■

१. सदा—अ० । २. सर्वार्थी—बक० उ० । ३. तदा—बक० बख० अ० उ० । ४. पञ्च—अ० उ० । ५. रोहणं नाम—अ० उ० ।

पञ्चदशः परिच्छेदः

श्रीभगवानुवाच[1]

तपोदानव्रतानां च विहितस्याह्निकस्य च।
निश्शेषयागभोगानां कृत्वा सम्पूरणक्रियाम्॥ १॥
अपरेऽहनि वै कुर्याच्चतुर्थे सप्तमे तु वा।
स्नपनं पूज्यमन्त्रस्य तीर्थोद्देशे[2] च सङ्गमे॥ २॥
नद्यां समुद्रगामिन्यां देवखाते ह्रदे[3] तु वा।
प्रीतये परमेशस्य[4] त्वात्मनो दुःखशान्तये॥ ३॥
आह्लादायामराणां च पितॄणां तृप्तये तु वै।
आप्यायनार्थं भूतानां भुवनानां च भूतये॥ ४॥
देश[5]दोषप्रशान्त्यर्थं गोब्राह्मणहिताय च।
बहुशाखमभग्नाग्रं समूलं यदपुष्पितम्॥ ५॥
प्राङ्मुखो दर्भमादाय प्रणवेन पुरा क्षितेः[6]।
ततस्तेनैव तन्मूलं प्राग्वत् कुर्यादधिष्ठितम्॥ ६॥

अथ पञ्चदशपरिच्छेदो व्याख्यास्यते। एवं सर्वच्छिद्रपूरकं पवित्रारोपणाख्यं कर्म कृत्वा तदवरोपणदिने तदनन्तरं देवस्यावभृथं कार्यमित्याह—तप इत्यादिभिः॥ १–५॥

तदर्थं कुशकूर्चनिर्माणप्रकारमाह—बहुशाखमित्यादिभिः। बहुशाखम् अनेककाण्डान्वितमित्यर्थः। तेनैव प्रणवेन, तन्मूलं दर्भमञ्जरीमूलम्, अधिष्ठितं कुर्याद् व्याप्तं भावयेदित्यर्थः। परमात्मीयं विवर्तं भगवदाकारान्तमित्यर्थः। अध्यक्षाख्यमिति विवर्तस्य विशेषणम्। अध्यक्षं नाम भगवत्सूक्ष्मरूपभेदः। तथा चोक्तं जयाख्ये—

तन्[7]महाविग्रहं स्थूलं सर्वमन्त्रास्पदं द्विज।
प्रविष्टं भावयेत् सूक्ष्मे ह्यध्यक्षे[8] ह्युभयात्मके॥

---

१. भगवानित्येव–मु० अटी० बक० बख०। २. शेऽथ–अ०। ३. ह्रदे तथा–मु० अटी०, तेऽथवा तटे–अ०, तवातले–उ०। ४. शाय–बक० बख० अ० उ०। ५. देशे–बख०। ६. क्षितैः–बक० बख०, क्षिते–अ०। ७. तं मन्त्र–मु०। ८. 'बुद्ध्यक्षे' इति ज० पाठश्चिन्त्यः।

तस्य मध्यमनालं यन्न्यग्भूतमवतिष्ठते ।
आराध्य मन्त्रनाथेन स्मरेद् व्याप्तं महात्मना ॥ ७ ॥
विवर्तं [1]परमात्मीयमध्य[2]क्षाख्यं च विद्धि तम् ।
अनेकगर्भमुच्चं यत्काण्डं काण्डेषु चोत्तमम् ॥ ८ ॥
अणिमादिगुणैर्युक्तं [3]पुंस्तत्त्वं तेन कल्प्यते ।
वाचकं तस्य योक्तव्यं हंसयुक्तं द्विलक्षणम् ॥ ९ ॥
बहिःकाण्डचतुष्केण चित्त[4]पूर्वं[5] चतुष्टयम् ।
ग्रथनीयमधोवक्त्रमव्यक्तान्तं स्वकैः पदैः ॥ १० ॥
प्रणवादिनमोऽन्तैस्तु व्यापकं सूक्ष्मलक्षणम् ।
एवं श्रोत्रादिकान् पञ्च स्वनाम्ना ग्रथयेत् तथा ॥ ११ ॥
कर्मेन्द्रियाणि तदनु ततस्तन्मात्रपञ्चकम् ।
पञ्चकं त्वथ भूतानां बद्ध्वा वै क्ष्माऽवसानिकम् ॥ १२ ॥
[6]अवशिष्टैस्तु तत्काण्डैर्बध्नीयात् तत् [7]तरण्डवत् ।
विना शिखासमूहेन समुत्तानावधेरथ ॥ १३ ॥

परे प्रागुक्तरूपे तु तं सूक्ष्ममुभयात्मकम् ।
तं परं प्रस्फुरद्रूपं निराधारपदाश्रितम् ॥
[9]सिद्धिमार्गेण[10] हृत्पद्मे संप्रविष्टं तु भावयेत् । (१५।२३५–२३७) इति ।

पुस्तत्त्वं जीवात्मेत्यर्थः । तस्य वाचकं जीवमन्त्रमित्यर्थः । हंसयुक्तं हंसाक्षरयुक्तमित्यर्थः । द्विलक्षणं पदद्वयात्मकमित्यर्थः । तथा च तन्मन्त्रोद्धारो जयाख्ये—

अप्रमेयेण [11]सूत्रेण व्योमाख्येनामृतेन च ।
[12]परमेश्वरयुक्तेन त्रि[13]तारोक्तात्मना तु वा ॥ (७।२५) इति ।

अयमेवार्थः सुस्पष्टमुपबृंहितो लक्ष्मीतन्त्रे—"प्रत्यगात्मपरामर्शि[14]शब्दः सोमोऽथ सर्गवान्" (३३।४७) इति । एवं च 'अहं सः' इति जीववाचकमन्त्रो ज्ञेयः । चित्तपूर्वकमव्यक्तान्तं चतुष्टयं मनोबुद्ध्यहङ्कारप्रकृत्याख्यं तत्त्वचतुष्टयमित्यर्थः । प्रणवादिनमोन्तैः स्वकैः पदैः

---

१. पार–मु० अटी०, परमार्थी–बक० । २. ध्यक्षं चापि–मु० अटी० । ३. पुंस्कत्वं–मु०, पूतत्वं–बक० । ४. पूर्व–मु० अटी० बक० बख० । ५. कथ–मु० अटी० । ६. अथ–अ० उ० । ७. तदण्ड–मु० बक०, तत्र दण्ड–अटी० । ८. त्थाना–अ० उ० । ९. विद्धि–अ० । १०. मार्गण–मु० । ११. सूर्येण–मु० । १२. पार–अ० । १३. धारो–अ० । १४. मर्श–अ०, मर्शी–म० ।

किञ्चित् तदूर्ध्वदेशाच्च यथा नो याति वै पुनः ।
बहुधा काण्डसंघस्तु[1] कल्पितस्तत्त्वसंख्यया ॥ १४ ॥
विभिन्नानां च काण्डानां भङ्गादेकतमस्य च ।
उत्पद्यतेऽन्यथात्वं च तस्मात् तद्[2] ग्रथयेद् दृढम् ॥ १५ ॥
दर्भमञ्जरिजं त्वेवं[3] सम्पाद्यादौ पवित्रकम् ।
अनुसन्धीयते तत्र मन्त्रध्यानं यथास्थितम् ॥ १६ ॥
पूजयित्वाऽर्घ्यपुष्पाद्यैरलङ्कृत्य पठेदिदम् ।
त्वमेव तीर्थं भगवंस्त्वमेवायतनं परम् ॥ १७ ॥
त्वय्येवाधिष्ठितं सर्वमिति जानामि तत्त्वतः ।
तत्रापि च त्वयाऽऽदिष्टं क्रियाकाण्डं शुभप्रदम् ॥ १८ ॥
यत्तन्निर्वाहयाम्यद्य त्वदनुग्रहकाम्यया ।
एवं [4]विज्ञाप्य भगवन् ! मन्त्रमूर्तिं परावरम् ॥ १९ ॥
तं पत्रपात्रगं कृत्वा ब्रह्मयानगतं तु वा ।
वेदगेयध्वनीशङ्खशब्दमङ्गलपूर्वकम् ॥ २० ॥

ॐकारनमस्कारसंपुटितैश्चतुर्थ्यन्तैस्तत्तन्नामभिरित्यर्थः । कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादवायूपस्थानि । तन्मात्रपञ्चकं शब्दतन्मात्रादिपञ्चकम् । भूतानां पञ्चकम् आकाशादिभूतपञ्चकम् । क्ष्मावसानि(का?कं)पृथिव्यन्तमिति तद्विशेषणम् । अवशिष्टैस्तत्काण्डैः पञ्चविंशतिकाण्डेभ्योऽतिरिक्तैः कुशकाण्डैरित्यर्थः ॥ ५–१५ ॥

एवंविधं पवित्रं परिकल्प्य तत्र ध्यानपूर्वकं भगवन्तमभ्यर्च्य प्रार्थयेदित्याह— दर्भमञ्जरिजमिति सार्धेन । तीर्थबिम्बाद्यभावे त्वेवं दर्भपवित्रकल्पनं कार्यम् । तत्सत्त्वे तस्यैव तीर्थस्नानं बोध्यम् । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

यथावत् स्नपनं कुर्यात् तीर्थबिम्बे विशेषतः ।
नित्यस्नपनबिम्बे वा कुर्यात्तत्तदसन्निधौ ॥
नित्योत्सवपरे बिम्बे ह्याचरेत्तदसन्निधौ ।
तदभावे पवित्रे तु दर्भमञ्जरिजे शुभे ॥ इति ॥ १६–१७ ॥
(ई० सं० १४।२८०–२८१; पा० सं० १२।५३५–५३७)

प्रार्थनाश्लोकद्वयमाह—त्वमिति ॥ १७–१९ ॥

एवं विज्ञाप्य तत्पवित्रं पात्रे ब्रह्मयाने वा समारोप्य वेदवाद्यघोषैः सह तीर्थ-

---

१. संघः संक–अ०, संघः स क–उ० । २. तं ग्रथ–अ० उ० । ३. देवं–अ० । ४. विज्ञाप्य एव भगवान् मन्त्रमूर्तिः परावरः–मु० अटी० ।

नीत्वा तीर्थान्तिकं तत्र तीरदेशे निधाय च ।
पूर्वामुखं च तं यानमथादाय पवित्रकम् ॥ २१ ॥
वामहस्ततले[1] कुर्यात् क्ष्मामण्डलगतं त्विव[2] ।
विधृयान्मध्यभागाच्च पाणिना दक्षिणेन तु ॥ २२ ॥
अवतीर्याम्भसो मध्ये निमज्जेत् सह तेन वै ।
सन्निधिं तत्र तत्कालं प्रकु[3]र्वन्त्यचिरात् तु वै ॥ २३ ॥
निश्शेषाणि च तीर्थानि लोकत्रयगतानि च ।
मन्त्रात्मा यत्र रक्षार्थं क्षणमास्ते जलाशये ॥ २४ ॥
तत्रायतनतीर्थानां सर्वेषां स्यात् समागमः ।
किं पुनर्यत्र भगवान् मन्त्रमूर्तिरधोक्षजः ॥ २५ ॥
साधकाभ्यर्थितः स्नायात् सर्वानुग्रहया धिया ।
विद्वान् योऽनेन विधिना तीर्थमासाद्य तत्त्ववित् ॥ २६ ॥
स्नापयेद् बन्धु[5]मित्रादीन् प्राप्नुवन्त्यचिराच्च ते ।
तैर्थं[4] फलमनायासान्मन्त्रमूर्तेः प्रसादतः ॥ २७ ॥
किन्तु तद्यानवादित्रवर्जितस्तु भवेद् विधिः ।
इमं विद्धि महाबुद्धे विशेषं चात्र कर्मणि ॥ २८ ॥

समीपं नीत्वा तत्र प्राङ्मुखमवरोप्य पवित्रमादाय वामकरतले भूमण्डलगतमिव निधाय तन्मध्यं दक्षिणपाणिना गृहीत्वा तीर्थमध्येऽवतीर्य तेन सह स्नायादित्याह—एवमिति चतुर्भिः ॥ १९-२३ ॥

तत्काले तत्तीर्थे सर्वतीर्थसान्निध्यप्रभावमाह--सन्निधिमिति त्रिभिः ॥२३-२६॥

एवं कूर्चद्वारा दूरदेशगतानां जनानामपि तीर्थस्नानं फलाधायकमित्याह—विद्वानिति सार्धेन। बान्धवादीनामिति कर्मणि षष्ठी। ते बान्धवादय इत्यर्थः ॥ २६-२७ ॥

अत्र विशेषमाह—किन्त्विति। यानारोपणं मङ्गलवाद्यान्वितत्वं च भगवत एवार्हम्, नान्यस्येति भावः ॥ २८ ॥

---

१. हस्ते–मु० अटी० बक० बख०। २. त्विह–अटी०। ३. विकु–बक०। ४. गतिः–मु० अटी०। ५. बान्धवादीनामिति भाष्यकारसंमतः पाठः।

सामान्यमविनाशं यच्चिन्मयं रूपमैश्वरम् ।
विशेषसंज्ञासम्बन्धं[1] जीवहंसं विभाव्य[2] तम् ॥ २९ ॥
पवित्रकं तदा[3]कारं स्मृत्वा स्नाप्यें[4]स्ततोऽम्भसा ।
एवं तेनैव चान्येषां बहूनां बहुभिस्तु वा ॥ ३० ॥
सम्पाद्यं विष्टरैः स्नानं दूरस्थानां सदैव हि ।
सम्पन्ने स्नपने त्वेवं द्वितीयेऽह्नि महामते ॥ ३१ ॥
रथे कृत्वार्चिते तं वै प्रपूज्य च यथाविधि ।
यात्राख्यमुत्सवं कुर्यादन्नदानपुरस्सरम् ॥ ३२ ॥
सनृत्तगेयवादित्रं जागरेण समन्वितम् ।
एकरात्रं द्विरात्रं वा त्रिरात्रं भक्तिपूर्वकम् ॥ ३३ ॥
सकृत् संवत्सरस्यान्ते उ[5]त्सवं स्नपनादिकम् ।
कुर्याद् यो मन्त्रनाथस्य स सिद्धिं लभते पराम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीप[6]ञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां पवित्रस्नानविधिर्नाम
पञ्चदशः परिच्छेदः ॥

अस्य शरीरस्य[7] भगवच्छरीरभूतत्वादेनमपि भगवदात्मकं स्मृत्वा पवित्रद्वारा स्नानं कारयेदित्याह—सामान्यमिति सार्धेन ॥ २९-३० ॥

तेनैकेनैव पवित्रेण बहूनां बान्धवादीनां यद्वा पृथक् पवित्रैः स्नानं कारयेदित्याह—एवमिति । दूरस्थानां ग्रामान्तरगतानां लोकान्तरगतानां वेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

एवमवभृथानन्तरं ब्रह्मरथे पवित्रस्थं देवमारोप्याभ्यर्च्य तदीयाराधनपूर्वकं ग्रामप्रादक्षिण्येन यात्रोत्सवं कुर्यादित्याह—सम्पन्न इति सार्धद्वाभ्याम् । उत्सवानन्तरं तद्रात्रौ जागरणं च कार्यमिति भावः । द्विरात्रं त्रि[8]रात्रमावृत्तिरुत्सवस्यैव न तु स्नानस्य ॥ ३१-३३ ॥

पवित्रोत्सवप्रकरणे फलमाह—सकृदिति ॥ ३४ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये पञ्चदशः परिच्छेदः ॥

१. सम्बन्ध–अ० उ० । २. विभाव्यताम्–मु० अटी० । ३. तथा–मु० अटी० बक० बख० । ४. स्नाप्य त–मु० अटी० बक० बख० उ० । ५. षूत्सव–मु०, उत्सव–अटी०, ह्युत्सवं–बक० बख० उ० । ६. पञ्च–उ० । ७. चेतनस्य–अ० । ८. त्रिरात्रं त्रिरात्र–म० ।

षोडशः परिच्छेदः

नारद उवाच[1]

प्रभुर्मुनीश्वरा भूयश्चादितो वनमालिना ।
सर्वलोकहितार्थं तु यत् तद्वक्ष्याम्यतः परम् ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच[1]

देव सम्प्रतिपन्ना ये क्रमेऽस्मिन् ब्राह्मणादयः ।
दीक्षणीयाः कथं ते वा[2] एतदिच्छामि वेदितुम् ॥ २ ॥

भगवानुवाच[1]

यथाक्रमेणोदितानां वर्णानां शृणु लाङ्गलिन् ।
त्रिविधं दीक्षणोपायं संक्षेपात् सर्वसिद्धिदम् ॥ ३ ॥
पूर्वोक्तलक्षणो ज्ञात्वा कश्चिद् दृढतरः पुमान् ।
संसारभयभीतस्तु निर्वाणमभिवाञ्छति ॥ ४ ॥
वैराग्यधीरचपलश्चिरकालं गुरोर्गृहे ।
संस्थितो दासभावेन खेदोद्वेगविवर्जितः ॥ ५ ॥

अथ षोडशपरिच्छेदो व्याख्यास्यते । अत्र संकर्षणेन वासुदेवो यत्पृष्टस्तद्वक्ष्यामीत्याह—प्रभुरिति ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—देवेति ॥ २ ॥

एवं पृष्टो वासुदेवस्त्रिविधदीक्षोपायं शृण्वित्याह—यथाक्रमेणेति ॥ ३ ॥

दीक्षार्थं प्रथमं गुरुकुलवासः कार्य इत्याह—पूर्वोक्तेति द्वाभ्याम् ॥ ४–५ ॥

---

१. 'उवाच' उ० विहाय कुत्रापि नास्ति । २. वै—अ० उ० । ३. तरम्—मु० अटी० अ० उ० ।

ज्ञात्वा तस्यार्थितां नूनमाहूयाग्रे निवेश्य च ।
कृताकृतं[1] च प्रष्टव्य आ स्मृतेस्तत्क्षणावधि ॥ ६ ॥
ज्ञात्वा दोषबलं सम्यक् प्रायश्चित्तैर्यथोदितैः ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रपूर्वैस्तु[2] शोधनीयं प्रयत्नतः ॥ ७ ॥
बहूनां परिपीडानामसामर्थ्यात् तु लाङ्गलिन् ।
मनःप्रसादपर्यन्तं कालं वा द्वादशाह्निकम् ॥ ८ ॥
नियोक्तव्यो मिते पूतेऽयाचिते नक्तभोजने ।
स्तुतिसम्मार्जनस्नानपुष्पाद्याहरणोद्यमे[3][4] ॥ ९ ॥
आश्रमे वैष्णवानां तु दिव्याद्यायतने[5] विभोः ।
अनिशं भगवद्बिम्बमा[6] पीठादवलोकने ॥ १० ॥
अभिजाततनुर्यः प्राग् दुष्कृतैर्मलिनीकृतः ।
साम्प्रतं भगवद्भक्त्या पवित्रीकृतमानसः ॥ ११ ॥
अहोरात्रोषितो भूत्वा नखकेशादिलुण्ठितः[7] ।
पञ्चगव्यमथार्घाद्यं[8] हृदाद्यैः सकुशोदकम् ॥ १२ ॥
मन्त्रैस्तद्[9] वासुदेवाद्यैः समावर्त्य चतुश्शतम् ।
एवं दिनचतुष्कं तु स्नापयेत् तेन तं सुधीः ॥ १३ ॥

आचार्यस्तद्दोषबलाबले ज्ञात्वा यथोदितैः प्रायश्चित्तैस्तच्छान्तिं कुर्यादित्याह—ज्ञात्वेति द्वाभ्याम् ॥ ६–७ ॥

बहुदिनमुपोषणाशक्तौ मनःप्रसादपर्यन्तं द्वादशदिनं वा मिते[10] नक्तभोजने भगवत्स्तोत्रादिसत्कार्येषु च नियोजयेदित्याह—बहूनामिति त्रिभिः । भगवद्बिम्बमापीठादवलोकने आपीठान्मौलिपर्यन्तं भगवद्बिम्बदर्शन इत्यर्थः,

आपीठान्मौलिपर्यन्तं पश्यतः पुरुषोत्तमम् ।
[11]पातकान्याशु[12] नश्यन्ति किं पुनस्तूपपातकम्[13] ॥ (शा० स्मृ० २।८८)

इति प्रसिद्धेः ॥ ८–१० ॥

ब्रह्मकूर्चसहितं प्रायश्चित्तमाह—अभिजाततनुरित्यादिभिः ॥ ११–१७ ॥

१. तश्च–अ० उ० । २. स्तच्छो–अ०, स्तु छेद–बक० । ३. भरणो–बक० उ० । ४. द्यमैः–मु० अटी० । ५. व्ये चा–मु० अटी० । ६. बिम्बस्या–मु० अटी०, द्वीजमा–बक० बख० उ० । ७. ण्ठितम्–बक० बख० अ०, लुंणितः–उ० । ८. पाद्य–बक० बख० । ९. तमा–अटी० । १०. मितेन–अ० । ११. जपतः पातकान्याशु नश्यन्ति सफलाः क्रियाः–मु० । १२. काश्चाशु–म० । १३. पातकाः–म० ।

प्रत्यहं चतुरो वाराना प्रभाते[1]निशागमम् ।
ब्रह्मतीर्थं चतुष्कं सं[2] त्वापूर्यापूर्य संपिबेत् ॥ १४ ॥
क्रमात् संचोदितैर्मन्त्रैः समाचम्यान्तराऽन्तरा ।
अतृप्तमशनं कुर्यादन्ते क्षीराज्यभावितम् ॥ १५ ॥
क्षपयेत् फलमूलैर्वा अहोरात्रचतुष्टयम् ।
इति भक्त्या प्रपन्नानामा जीवमपि दुष्कृतात् ॥ १६ ॥
कथितं विरतानां च देहशुद्धिकरं परम् ।
ब्रह्मकूर्चसमेतं तु प्रायश्चित्तं मयाऽद्य ते ॥ १७ ॥
ज्ञात्वा महत्त्वं दोषाणां त्रिविधानां तु वै पुरा ।
सम्भवे सति हे[4]मादिदानं सततमाचरेत् ॥ १८ ॥
पूर्वोक्ताद् विहितात् कालाल्लघुदुष्कृति[5]ना क्रमात् ।
चतुर्थांशेन ह्रासस्तु ब्रह्मकूर्चं पिबेत् ततः ॥ १९ ॥
कालेन वर्णोत्कर्षेण सह सामान्यमुच्यते ।
प्रायश्चित्तं हि सर्वेषां सर्वकल्मषनाशनम् ॥ २० ॥
उत्तरोत्तरतां बुद्ध्वा प्रथमं दुष्कृतस्य च ।
क्षं[6]पयेत् तद् द्वि[7]जेन्द्रस्तु मासैर्द्वित्रिचतुर्गुणैः ॥ २१ ॥

दोषाधिक्ये हे[8]मदानादिकमपि कार्यमित्याह—ज्ञात्वेति । त्रिविधानां कायिकवाचिकमानसिकाना[9]मित्यर्थः ॥ १८ ॥

दोषकाले पूर्वोक्तब्रह्मकूर्चप्रायश्चित्तकालस्य चतुर्थांशेन ह्रासं कुर्यादित्याह—पूर्वोक्तादिति । एवं ब्रह्मवर्णस्य सामान्यतः प्रायश्चित्तमुक्तम् ॥ १९ ॥

दोषाधिक्ये तत्रापि द्वित्रिचतुर्गुणमासाभिवृद्धिः कार्येत्याह—कालेनेति द्वाभ्याम् । तद्दुष्कृतं क्षपयेद् नाशयेदित्यर्थः ॥ २०–२१ ॥

---

१. तान्निशा–अ० उ० । २. तु प्रा–अ० उ० । ३. सेव–बक० बख० उ० । ४. होमादि–अटी० । ५. तिनां–अ० । ६. क्षिप–बक० बख० अ० उ० । ७. द्वित्र–उ० । ८. होम–अ० । ९. नामपी–म० ।

नृपविट्छूद्रजातीय एकैकं वर्धयेत् क्रमात् ।
मासमेका[1]दिकात् कालात् समारभ्य यथाक्रमम् ॥ २२ ॥
दुराचारो[3]ऽपि सर्वाशी कृतघ्नो नास्तिकः पुरा ।
समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं य[4]दि ॥ २३ ॥
निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं [5]प्रभावात् परमात्मनः ।
किं पुनर्योऽनुतापार्तः शासनेऽस्मिन् हि संस्थितः ॥ २४ ॥
विरतो[6] दुष्कृताच्चैव भक्तिच्छायां समाश्रितः ।
एवं संशुद्धदोषाणां बहुजन्मार्जितस्य च[7] ॥ २५ ॥
कल्मषस्य विघातार्थं नरसिंहीं महामते ।
कृत्वा वै साम्प्रतं दीक्षां दद्याद् वै मन्त्रपूर्वकम् ॥ २६ ॥
आराधनं हि तस्यैव वैभवीयस्य वै विभोः ।
सबाह्याभ्यन्तरं चैव सम्यङ्मासचतुष्टयम् ॥ २७ ॥
मासाष्टकं वत्सरं वा बुद्ध्वा भावबलं पुरा ।
ज्ञात्वा भव्याशयानां च प्रसादं [8]पारमेश्वरम् ॥ २८ ॥
विभवव्यूहसूक्ष्माख्यां दीक्षां कुर्या[9]दनन्तरम् ।

नृपादीनां द्विगुणत्रिगुणचतुर्गुणक्रमेण प्रायश्चित्ताभिवृद्धिमाह—नृपेति ॥ २२ ॥

भगवच्छासनोल्लङ्घनपरोऽपि तच्छरणागत्या निर्दोषो भवति। एतच्छासननिष्ठस्य शरणागतस्य निर्दोषत्वं किंपुनर्न्यायसिद्धमित्याह—दुराचार इति सार्धद्वाभ्याम्। कृताकृताद्विरत इत्यनेन सर्वधर्मपरित्यागः सूचितो भवति। भक्तिच्छायां भक्तेश्छायेव छाया यस्यास्तां शरणागतिमित्यर्थः ॥ २३–२५ ॥

पूर्वोक्तब्रह्मकूर्चादिप्रायश्चित्तानां इह जन्मनि संपादितदोषमात्रशामकत्वात् प्राग् बहुजन्मार्जितदोषशमनार्थं नृसिंहमन्त्रदीक्षामपि दत्त्वा तेन नृसिंहाराधनं च कारयेत्। तन्मनःपरिशुद्ध्यादिकं तस्मिन् भगवदनुग्रहं च ज्ञात्वा परव्यूहविभवमन्त्रदीक्षां दद्यादित्याह—एवमिति चतुर्भिः ॥ २५–२९ ॥

१. धिकात्–अ० । २. मात्–बक० बख०, समः–उ० । ३. रो हि–बक० बख० अ० उ० । ४. स्वयम्–बक० बख० अ० उ० । ५. मत्प्रभावात् परार्थतः–अ० । ६. तः कुकृ–अ० उ० । ७. तु–उ० । ८. परमे–बक० अ० उ० । ९. आकूताद्–म० ।

सङ्कर्षण उवाच[1]

परिज्ञेयो हि कैर्लिङ्गैः साधकानामघक्षयात् ॥ २९ ॥
सम्यगाराधनान्मन्त्रप्रसादः कमलापते ।

श्रीभगवानुवाच

चित्तप्रसादस्त्वतुलस्तेजोवृद्धिरतीव हि ॥ ३० ॥
धैर्यमुत्साहसन्तोषावकार्पण्यादयो गुणाः ।
येषां तेषां हि बोद्धव्यं मन्त्रात्माऽभिमुखः स्थितः ॥ ३१ ॥
प्रयुक्तिः शान्तिकादीनां कर्मणामचिरादपि ।
प्रयाति यदि साफल्यं विज्ञेयं तेन हेतुना ॥ ३२ ॥
सम्पन्नः पापदाहश्च प्रसन्नश्चापि मन्त्रराट् ।
ददाति धर्मकामार्थानचिराद् यदि योजितः ॥ ३३ ॥
अणिमाद्यष्टकं चापि विविधा योगसिद्धयः ।
आत्मसिद्धिसमेताश्च परितुष्टास्तदा स्मृताः ॥ ३४ ॥
यस्मिन् वै वैभवे रूपे यस्याभिरमते मनः ।
तस्य कल्मषशान्त्यर्थं दीक्षां कुर्याच्च तेन वै ॥ ३५ ॥
तमाराध्य हि पूर्वोक्तं कालं तमनुयोज्य च ।
योग्यतायाः परीक्षार्थमा शान्तेः सर्ववस्तुषु ॥ ३६ ॥

तस्मिन् भगवदनुग्रहो जात इति कथं ज्ञेय इति पृच्छति संकर्षणः—परिज्ञेय इति ॥ २९–३० ॥

एवं पृष्टस्तज्ज्ञाने हेतूनाह—चित्तप्रसाद इत्यादिभिः ॥ ३०–३४ ॥

एवं नारसिंहमन्त्रेणैव दुरितक्षयार्थदीक्षाराधनादिकं कार्यमिति नियमो नास्ति। वैभवमन्त्रेषु यस्य यस्मिन्नभिरुचिस्तेनैव तत्कार्यमित्याह—यस्मिन्निति सार्धेन। पूर्वोक्तं कालं मासचतुष्टयं मासाष्टकं संवत्सरं वेत्यर्थः ॥ ३५–३६ ॥

दीक्षितस्य मुमुक्षुत्वेन सर्वविषयेष्वप्याशाविरहे सति शान्तिकादिकर्मणामपि

---

१. 'उवाच' उ० विहाय कुत्रापि नास्ति । २. षस्त्व—अ० उ० । ३. तुष्टस्तदा स्मृतः—अ० उ० । ४. 'यस्मिन्' 'योग्यतायाः' नास्ति—उ० । ५. पूर्वोक्त—मु० अटी० बक० वख० । ६. चेत्यर्थः—अ० ।

नारसिंहेन वान्येन मन्त्रेणाभिमतेन च ।
दीक्षया[1]ऽऽराधनेनैव होमजापव्रतादिना ।। ३७ ।।
कर्मणा केवलेनैव शान्तिकाद्युच्छ्रितेन[2] च ।
विनाऽणिमादिसिद्धिभ्यो बुद्ध्वा पापं[3] क्षयं गतम् ।। ३८ ।।
भावयेत् तेन कालेन ततः पद्मदलेक्षण ।
सिद्धीनां वैभवीयानां षाड्गुण्यमहिमाप्तये ।। ३९ ।।
निश्श्रेयसविभूत्यर्थं ग्राह्यं दीक्षात्रयं वरम्[4] ।
अभ्यर्थितात्[5] सुप्रसन्नात् प्रतिपन्नाच्च देशिकात् ।। ४० ।।
सानुकम्पेन वा तेन स्वयमप्रार्थितेन च ।
कार्यं[6] संशुद्धपापानां भीतानां शरणैषिणाम् ।।
संस्कृतानां हि युक्तानामघक्षालनकर्मणि ।। ४१ ।।

इति श्रीपाञ्चरात्रे[7] श्रीसात्वतसंहितायामघशान्तिकल्पो[8] नाम षोडशः परिच्छेदः ।।

■

विरहात् तत्तत्सिद्धिलिङ्गानि विना चित्तप्रसादादिलिङ्गैरेव पापक्षयो ज्ञातव्य इत्याह— योग्यताया इति त्रिभिः ।। ३६–३९ ।।

तदनन्तरं गुरुं प्रार्थ्य तत्सकाशात् परव्यूहविभवदीक्षात्रयं ग्राह्यमित्याह— सिद्धीनामिति सार्धेन ।। ३९–४० ।।

अप्रार्थितोऽपि गुरुः स्वयमेव कृपया योग्यानां शिष्याणां दीक्षां कुर्यादित्याह— सानुकम्पेनेति सार्धेन ।। ४१ ।।

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये षोडशः परिच्छेदः ।।

■

१. दीक्षा–बक० बख० । २. काद्यु–उ० । ३. पाप–उ० । ४. परम्–बक० बख० अ० उ० । ५. अभ्यर्चि–अ० । ६. नियम–मु० अटी० । ७. पञ्च–उ० । ८. करो–अ० उ० ।

सप्तदशः परिच्छेदः

नारद[1] उवाच[2]

अथ सञ्चोदितो भूयः श्रीपतिर्मुनिसत्तमाः ।
हितार्थं भवभीतानां विभुना सीरपाणिना ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच[2]

भगवन् विधिना केन प्रसादमधिगच्छति ।
नृणामाराधकानां तु विश्वत्राता नृकेसरी ॥ २ ॥
श्रुत्वैवमाह भगवान् शृणुष्व गदतो मम ।
सिद्धिमोक्षप्रदं मन्त्रं वैभवं मूर्तिमोहजित् ॥ ३ ॥
कामरूपधरं नित्यं नृसिंहस्य महात्मनः ।
वर्णचक्रं तु पूर्वोक्तं सुगुप्ते वसुधातले ॥ ४ ॥
उपलिप्ते तु संलिख्य पूजयित्वा यथाविधि ।
समुद्धरेत् ततो मन्त्रमनेकाद्भुतविक्रमम् ॥ ५ ॥
प्रणवं पूर्वमादाय तदन्ते विनियोज्य च ।
नवमं नाभिवर्णेभ्यस्तदूर्ध्वेऽराच्चतुर्दशम् ॥ ६ ॥

अथ श्रीनृसिंहकल्पपरिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह संकर्षणेन वासुदेवः परिपृष्ट इत्याह—अथेति ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—भगवन्निति ॥ २ ॥

एवं पृष्टो वासुदेवः प्रथमं नारसिंहमन्त्रं शृणुष्वेत्याह—श्रुत्वेति सार्धेन ॥ ३–४ ॥

वर्णचक्ररचनापूर्वकं नृसिंहबीजोद्धारं तदङ्गमन्त्रप्रकारान् द्वादशाक्षरमन्त्रं चाह—वर्णचक्रमित्यादिभिः । पूर्वोक्तं नवमपरिच्छेदोक्तमित्यर्थः । तदूर्ध्वे क्षकारोर्ध्वे अराच्चतुर्दशम् औकारम् तस्योपरि तदन्तःस्थमनुस्वारमित्यर्थः । तथा च ॐ क्षौं नम इति

---

१. श्रीनारदः–अ० उ० । २. 'उवाच' उ० विहाय कुत्रापि नास्ति । ३. संगुप्तं–मु० अटी०, संगुप्ते–वक० । ४. विग्रहम्–मु० अटी० उ० । ५. मातृकाचक्रनाम्ना ६२–७५ श्लोकेषु समुद्धृतम् ।

तस्योपरि तदन्तःस्थं वर्णं गोलकवन्न्यसेत् ।
नमोऽन्तं वर्णमेतद् वै वाचकं परमात्मनः ॥ ७ ॥
ज्ञानादयो गुणाः षड् वै[1] प्रागुक्ता हृदयादयः ।
तदर्थमेव वर्णं तं षोढा संलिख्य केवलम् ॥ ८ ॥
द्वितीयतुर्यषष्ठैश्च द्वादशेनान्तिमेन च ।
चतुर्दशेने[2]रात् वर्गात् क्रमाद् वै विनियोजयेत् ॥ ९ ॥
बीजवच्छिरसा सर्वान् लाञ्छयेत् पञ्चमं विना ।
सर्वेषां प्रणवः पूर्वः स्वसंज्ञान्ते नियोज्यं[4] च ॥ १० ॥
स्वकीया[5] जातयश्चान्ते वौषडन्ताः क्रमेण तु ।
ॐ नमो भगवते नारसिंहायेत्यनेन तु ॥ ११ ॥
द्वादशाक्षरमन्त्रेण स्मृत्वा विग्रहवत् पुरा ।
सबाह्याभ्यन्तरस्थेन साङ्गेनाद्येन पूजयेत् ॥ १२ ॥
अथ लब्धाधिकारस्तु मन्त्रेणानेन दीक्षितः ।
भक्तिश्रद्धापरो नित्यं मतिमांश्छिन्नसंशयः ॥ १३ ॥
गुर्वाज्ञाभिरतो[7] नित्यं तर्कवाग्जालवर्जितः ।
स्वकर्मनिरतो नित्यं वानप्रस्थोऽथवा गृही ॥ १४ ॥
मन्त्रमाराधयेद् येन विधिना तं निशामय ।
उपार्ज्य भोगानखिलान् न्याय्योपायेन वै पुरा ॥ १५ ॥

भवति । तं केवलं क्षकारमात्रमित्यर्थः । द्वितीयतुर्यषष्ठैः आकार-ईकार-ऊकारैः । द्वादशेन ऐकारेण । अन्तिमेन विसर्गेण । चतुर्दशेन (ओ?औ)कारेणेत्यर्थः । अराद्वर्गादित्यस्य सर्वत्रान्वयः । शिरसा अनुस्वारेणेत्यर्थः । पञ्चमं विना विसर्गसहितं बीजं विनेत्यर्थः । स्वकीया जातयो नमःस्वाहादिषड्जातयः । तथा[9] च—ॐ क्षां ज्ञानाय हृदयाय नमः । ॐ क्षीं ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा । ॐ क्षूं शक्त्यै शिखायै वौषट् । ॐ क्षैं बलाय कवचाय हुम् । ॐ क्षः वीर्याय अस्त्राय फट् । ॐ क्षौं तेजसे नेत्रत्रयाय वौषट् इत्यङ्गमन्त्रा भवन्ति ॥ ४–१२ ॥

पूर्वमनेन मन्त्रेण दीक्षितो भगवदाराधनं कुर्यादित्याह—अथेति सार्धद्वाभ्याम् ॥ १३–१५ ॥

---

१. ये–उ० । २. न अ–बख० अ० । ३. ज्ञां च–उ० । ४. युज्य–मु० अटी० अ० । ५. स्वकीय–मु० बक० बख० । ६. नर–उ० । ७. मतो–उ० । ८. स्वकर्मधर्मनिरतो–मु० अ० उ० । ९. 'तथा च' नास्ति–म० ।

स्नातो बद्धकचो मौनी शुद्धवासोऽर्घ्यपुष्पधृक्[1] ।
कृत्वा द्वास्थार्चनाद्यं तु उपविश्यासने ततः ॥ १६ ॥
सायामां भूतसंशुद्धिं धारणाभ्यां समाचरेत् ।
केवलेन तु मन्त्रेण भावनासहितेन तु ॥ १७ ॥
नाभिदेशस्थितं ध्यात्वा देवं संगृह्य कल्मषम् ।
निस्सृतं वायुमार्गेण द्वादशान्तावधौ क्षिपेत् ॥ १८ ॥
निरस्तपापमाकृष्य वातचक्रसमन्वितम् ।
नासाग्रेण तु मन्त्रेशं देहसम्पूरणाय च ॥ १९ ॥
तं ध्यायेद् हृदयस्थं च गतिरुद्धेन वायुना ।
चित्तोपशमनार्थं तु नूनं वायुजयाय च ॥ २० ॥
शनैः शनैरथ बहिः केवलं मारुतं क्षिपेत् ।
विनाऽन्त्यरेचकेनैवमन्येषामुत्तरोत्तरम् ॥ २१ ॥
कालाद्[2] ह्रासं यथाशक्ति नित्यमेव समाचरेत् ।
द्वादशान्तेऽथ मन्त्रेशं तप्तहाटकसन्निभम् ॥ २२ ॥

तदाराधनविधिं दर्शयन् प्रथममाराधनसामग्रीसंपादनम्, आराधकस्य स्नानादिनियमम्, द्वारदेवार्चनपूर्वकमासनोपवेशनं चाह—उपार्ज्येति सार्धेन । पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन स्नानाद्यनन्तरमेव भोगोपार्जनमिति बोध्यम् । यद्वा पुरा पूर्वदिनेष्वित्यर्थो वर्णनीयः, पुष्पादीनि विना तण्डुलादीनां भोगानां पूर्वदिनेष्वपि संग्राह्यत्वात् ॥ १५–१६ ।

अथ प्राणायामपूर्विकां भूतशुद्धिं कुर्यादित्याह—सायामामिति । धारणाभ्यां दहनाप्यायनात्मिकाभ्यामित्यर्थः । तथा चोक्तं पारमेश्वरे—

धारणापञ्चकं चैव संक्षिप्तं विहितं द्वयम्[3] ॥
दहनाप्यायनाच्चैव यदा[4] देहात् स्वशुद्धये । (३।२२३–२२४)

इति ॥ १७ ॥

प्राणायामप्रकारमाह—नाभिदेशस्थि(त इ?तमि)ति सार्धैश्चतुर्भिः । वायुमार्गेण प्रथमप्राणायामान्त्यरेचकवायुमार्गेणेत्यर्थः । वातचक्रसमन्वितं द्वितीयप्राणायामपूरकवायुसहितमित्यर्थः । गतिरुद्धेन वायुना तृतीयप्राणायामकुम्भकेनेत्यर्थः । एवमेवैतद्व्याख्यातं नित्यव्याख्याने ।। १८–२२ ॥

१. धृत्–मु० अटी० । २. कालाग्रासं–अटी० । ३. विहितद्वयम्–अ० म० । ४. यथा दाहस्वशुद्धये–अ० म० । ५. मेत–अ० ।

सहस्ररविसंकाशं वृत्त[1]मण्डलमध्यगम्[2] ।
स्मृत्वाथ मुक्तं[3] तन्मात्रैर्निर्दहेद्[4] विग्रहं स्वकम् ॥ २३ ॥
दक्षिणाङ्घ्रेरथाङ्गुष्ठ[5]प्रान्तदेशे शिखाक्षरम् ।
ध्यात्वा युगान्तहुतभुग्रूपं[6] ज्वाला[7]समावृतम् ॥ २४ ॥
तेन स्वविग्रहं ध्यायेत् प्रज्वलन्तं समन्ततः ।
देहजां भावयेज्ज्वालां मन्त्रनाथे लयं गताम् ॥ २५ ॥
दिव्यं प्रशान्ता[8]कारं तु तमधिष्ठाय चेतसा[9] ।
स्वमन्त्रादमृतौघेन सेचयेद्[10] विग्रहं स्वकम् ॥ २६ ॥
[11]ततः समन्त्रं तद्बिम्बमाकृष्य हृदि विन्यसेत् ।
अथ हस्तद्वये न्यसेद्[12] दीप्तिमद् द्वादशाक्षरम् ॥ २७ ॥
मणिबन्धान्नखाग्रं तु मूलमन्त्रपुरस्सरम् ।
हृदादयोऽस्त्रपर्यन्ता अङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीषु च ॥ २८ ॥

भूतशुद्धिप्रकारमाह—द्वादशान्त इति [13]पञ्चभिः । द्वादशान्ते स्वमूर्ध्नो द्वादशाङ्गुलोपरीत्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—

सौषुम्नाद् दक्षिणद्वा[14]रान्निर्गमय्य हरिं बहिः ॥
सहस्ररविसंकाशं[15] वृत्तमण्डलमध्यगम् ।
तप्तकाञ्चनवर्णाभमासीनं परमे पदे ॥
मन्त्रात्मानं तु तं ध्यात्वा ह्युपरि द्वादशाङ्गुलेः[16] ॥ इति ।
(३।१४३–१४५)

तन्मात्रैर्मुक्तं तत्त्वसंहारक्रमेण गन्धतन्मात्रादिभि[17]र्मुक्तमित्यर्थः । स्वमन्त्रात् तन्मन्त्रप्रतिपाद्यद्वादशान्तस्थितभगवतः सकाशादित्यर्थः । तद्बिम्बं स्वै[18]र्मन्त्रं द्वादशाङ्गुलोपरि वृत्तमण्डलमध्यस्थं देवमित्यर्थः ॥ २२–२७ ॥

करन्यासमाह—अथेति [19]द्वाभ्याम् । द्वादशाक्षरं पूर्वोक्तनृसिंहद्वादशाक्षरमित्यर्थः ।

---

१. वृत्तं–अटी० । २. मध्यगः–बक० । ३. मुक्तस्त–मु० अटी० बक० बख० । ४. ग्रहेद्–अटी० । ५. ङ्गुष्ठं–अ० । ६. पज्वा–मु० अटी० । ७. ज्ञात्वा–अ० । ८. न्तरागं–मु० अ० उ०, न्ताङ्गारं–मु० । ९. तेजसा–बख० । १०. घेन सेच–अ० उ० । ११. श्लोकोऽयं दिव्यमित्यादिकाच्छ्लोकात् पूर्वं स्थाप्यते–मु०, बक० पुस्तके तु दिव्यमित्यादिकः श्लोको नास्त्येव । १२. न्यस्येदादिम–मु० अटी० । १३. चतुर्भिः–अ० । १४. रा नि–अ० म० । १५. शवृ–अ० म० । १६. ङ्गुलैः–अ० म० । १७. विमुक्त–म० । १८. समन्त्रमिति सार्वत्रिको मूलपाठः । १९. त्रिभिः–अ० ।

सर्वासु युग्मयोगेन नेत्रं नखमुखाश्रितम् ।
आमूर्ध्नश्चरणान्तं तु द्वादशार्णं न्यसेत् तनौ ॥ २९ ॥
जीवभूतं तदन्तःस्थं मूलमन्त्रं तथा न्यसेत्[1] ।
हृदाद्यं नेत्रपर्यन्तमङ्गषट्कं स्वगोचरे ॥ ३० ॥
स्वस्वाङ्गुलि[2]युगेनैव तेजोरूपं विनाऽऽकृतेः[3] ।
श्रीवत्सं वक्षसो वामे पूर्णेन्दुसदृशद्युतिम् ॥ ३१ ॥
कौस्तुभं हृदये न्यस्य[4] चण्डदीधितिलक्षणम् ।
नानाब्जवनपुष्पोत्थां वनमालां च कण्ठतः ॥ ३२ ॥
पद्मं दक्षिणपाणौ तु शङ्खं वामकरे न्यसेत् ।
गदां[5] पद्मकरे भूयः शङ्खपाणौ तु चक्रराट् ॥ ३३ ॥

मूलमन्त्रपुरस्सरं पूर्वोक्तनृसिंहबीजपुरस्सरमित्यर्थः। युग्मयोगेन हस्तद्वयेऽपि युगपदित्यर्थः ॥ २७–२९ ॥

अङ्गन्यासमाह—आमूर्ध्न इति द्वाभ्याम् । स्वगोचरे हृदयादिस्थानेष्वित्यर्थः । स्वस्वाङ्गुलियुगेन वक्ष्यमाणहृदादिमुद्रयेत्यर्थः । आकृतेर्विना निराकारमित्यर्थः ॥ २९–३१ ॥

भूषणायुधशक्तिन्यासमाह—श्रीवत्समित्यादिभिः । एवं भूषणादीनां न्यासो हस्तयोरपि कार्यः, सर्वमन्त्राणामपि करन्यासं विनाऽङ्गन्यासमात्रस्याविहितत्वात् । तथा च पारमेश्वरे—

या विभोः परमा शक्ति[6]र्हृत्पद्मकुहरान्तगा[7] ॥
वायव्यं रूपमास्थाय दशधा संव्यवस्थिता ।
ई[8]च्छया सप्रवाहेण पाणिमार्गेण निर्गता ॥
नाडीदशकमाश्रित्य ता एवाङ्गुलयो मताः ।
अत एव द्विजश्रेष्ठ श(क्त्या)ख्ये प्रभुविग्रहे ॥
पूर्वं मन्त्रगणं न्यस्य ततो भूतमये न्यसेत् । (४।२०–२३) इति,
व्यापारो मानसो ह्येष न्यासाख्यो यद्यपि स्मृतः ।
न बध्नाति स्थितिं सम्यक् तथापि क्रियया विना ॥
कराधीना पुनः साऽतः प्राङ्न्यासस्तु तयोः स्मृतः । (४।४–५)

---

१. तदा–उ० । २. ली–उ० । ३. कृते–सार्वत्रिको मूलपाठः । ४. न्यस्येच्च–मु० अटी० । ५. पङ्क्तिद्वयं नास्ति–अ० । ६. क्तिः स्रक्–अ० म० । ७. न्तका–अ० । ८. इच्छायाः–अ० म० ।

खड्गं दक्षिणहस्तेऽथ धनुर्वामकरे न्यसेत् ।
आचांसाद् दक्षिणे भागे न्यस्या श्रीरुत्तरे तथा ।। ३४ ।।
पुष्टिर्गुल्फावसानं च वक्त्रमध्ये सरस्वती ।
पृष्ठतो विन्यसेन्निद्रां ततः पाणिद्वयेन तु ।। ३५ ।।
मुद्रां बद्ध्वा स्मरेद् ध्यानं देवोऽहमिति भावयेत् ।
अथ प्रणवपूर्वेण स्वनाम्ना नतिना सह ।। ३६ ।।

इति च । अत एवेश्वरपारमेश्वरादिषु (ई० सं० २।५७; पा० सं० ४।१७) हस्तयोरपि किरीटादिन्यास उक्तः । स तु मूलकारस्याप्यभिमतः । अन्यथाऽत्र हस्तयोर्हृन्मन्त्रादिन्यासोऽपि तेन नोच्येत ।। ३१-३५ ।।

मूलादिमुद्राप्रदर्शनपूर्वकं स्वस्मिन् देवत्वभावनामाह—मुद्रामित्यर्धेन । एवमेव व्यक्तमुक्तं जयाख्येऽपि—

अहं स भगवान् विष्णुरहं नारायणो हरिः ।
वासुदेवो ह्यहं व्यापी भूतावासो निरञ्जनः ।।
एवंरूपमहङ्कारमासाद्य सुदृढं मुने । (११।४१-४२) इति ।

नैतावता जीवात्मपरमात्मनोः स्वरूपैक्यं शङ्कनीयम्, यतः श्रीपञ्चरात्ररक्षायां तृतीयेऽधिकारे—"एतेन लाञ्छनन्यासाद्यनन्तरम् "मुद्रां बद्ध्वा स्मरेद्देवं देवोऽहमिति भावयेत्" (सा० सं० १७।३६) इति समाराधनग्रन्थोऽपि निर्व्यूढः । "बद्ध्वा मूलादिकां मुद्रां देवोऽहमिति भावयेत्" इत्यादिसंहितान्तरग्रन्थाश्चात्र[२] तुल्यन्यायाः[३] । अत्र "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" (छा० उ० ३।१८।१) इत्यादिष्विवेतिकारादिवशाद् दृष्टिविधित्वं[४] सुस्पष्टम् । अत एव हि तथाविधभावनयाऽग्र्यनन्तरयोग्यतापादनमात्रमुक्तम्—

न्यासेन देवमन्त्राणां देवतादात्म्यभावनात् ।
अप्राकृताङ्गकरणात् पूजामर्हति साधकः ।। इति ।

अन्यथा—

देवतारूपमात्मानमर्चयेदर्घ्यधूपकैः ।
धूपावसानिकैर्भोगैर्ध्यात्वा नारायणं हृदि ।।

इति समनन्तरकर्तव्यं कथं संगच्छते । नहि स्वरूपैक्यभावनायां हृदि पुनर्नारायणध्यानमिति किञ्चित् स्यात् । न च शेषवृत्तौ प्रवर्तमानस्य स्वरूपैक्यभावनं जाघटीति । अतो दृष्टिविधिपक्षोऽत्र स्वीकार्यः । यद्वा गत्यन्तरे संभवति दृष्टिविधिविवक्षा च न युक्ता । अतस्तच्छरीरतया तादधीन्यादिभिः सर्वानुवृत्तस्तद्व्यपदेशः । तदभिप्रायेण च स्वनियाम्येत्यादिकं वक्ष्यति भाष्यकारः" (पृ० ८६-८७) इति सुस्पष्टमुपपादितम् ।।३६।।

---

१. पङ्क्तिद्वयमेतद् ब्रह्मस्वरूपमिति पङ्क्त्युत्तरं स्थापितम्—अ० । २. च्चात्र—अ० म० । ३. न्यायः—म० । ४. करणादि—मु० । ५. दृष्टिविधत्वं—अ०, दृष्टिमाधित्वं—म० ।

शेषपूर्वं[2] तु वह्न्यन्तमासनं परिकल्पयेत्[1] ।
तदाक्रम्याथ तस्यैव कार्या स्वहृदि कल्पना ।। ३७ ।।
ब्रह्मस्वरूपममलं स्वचैतन्यं तदूर्ध्वतः ।
विकल्पोपरतं कृत्वा इच्छया तु विवर्तते ।। ३८ ।।
परध्वनिस्वरूपेण तत्प्रकाशात्मना पुनः ।
व्यक्तिभावेन तच्चापि एवं प्रविलये सति ।। ३९ ।।
विसर्जनं तु बोद्धव्यं सम्पन्ने तु क्रियाक्रमे ।
क्रम एष क्रमोक्तानां मन्त्राणामवतारणे ।। ४० ।।

अथ मानसाराधनार्थं स्वहृदये प्रणवादिनमोऽन्तैश्चतुर्थ्यन्तैस्तत्तन्नामभिरनन्तादिवह्न्यन्तपीठपरिकल्पनं कार्यमित्याह—अथेति सार्धेन । पारमेश्वरे तु जयाख्योक्तरीत्या "नाभिमेढ्रान्तरे ध्यायेत्" (ज० सं० १२।२; पा० सं० ५।५) इत्यादिभिर्हृदि जाग्रदासनकल्पनमुक्तम् । अत्र तु स्वप्नासनस्योक्तत्वात् तत्रोक्तस्थानविभागोऽत्रापि यथासंभवं बोध्यः । स्वप्नजाग्रदासनभेदस्तु पारमेश्वर एव दर्शितः —

स्वप्नः शेषाहिपूर्वं तु वह्निपर्यन्तमासनम् ।
क्षीरार्णवादितो भावासनान्तं जाग्रदासनम् ।। (३।५७)

इति ।। ३६–३७ ।।

तदासनोर्ध्वे भगवदभिव्यक्तिक्रममाराधनानन्तरं विसर्जनक्रममाह—ब्रह्मस्वरूपमिति सार्धद्वाभ्याम् । विकल्पोपरतं विशेषणै[2]रहितमित्यर्थः । केवलज्ञानस्वरूपमिति यावत्,

ज्ञानेन्द्रियगणे[3] चैव विकल्पं तनुते मनः ।
विकल्पो विविधः[4] क्लृप्तस्तच्च प्रोक्तं विशेषणम् ।।
धर्मेण सह संबन्धो धर्मिणश्च स उच्यते ।
विकल्पः पञ्चधा ज्ञेयो द्रव्यकर्मगुणादिभिः ।। (५।६८–६९)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः । विवर्तते पुनर्विशेषणसंबन्धेन व्यक्तीभवतीत्यर्थः ।। ३८–४० ।।

---

१. इतः परम्—"शेषं तु पूर्ववन्न्यस्यासनं च परिकल्पयेत्" इति श्लोकार्धोऽधिको दृश्यते—मु० अटी० । एतच्च पुनरावृत्तिमात्रम् । २. विशेषेण—म० । ३. गणैश्चैतद्—मु० । ४. धा क्लृप्ति—मु० ।

लाञ्छनादिक्रियाध्यानमेषां चैव हि कल्पना ।
ज्ञातव्याऽऽराधकेनैव नित्यं कर्मणि कर्मणि ॥ ४१ ॥
मन्त्रन्यासमतः कुर्याद् हस्तन्यासं विना विभोः ।
ध्यात्वाऽथ भावनाजातैर्भोगैः परमपावनैः ॥ ४२ ॥
पूजयित्वा जपान्तं चाप्यवतार्य बहिर्यजेत् ।
दक्षिणोत्तरहस्ताभ्यां हृद्बीजेन विचिन्त्य च ॥ ४३ ॥
सूर्यसोमौ ततः कुर्याद् द्रव्यदाहसमुद्भवौ ।
तोयमादाय पात्रेऽथ तत्र हृन्मन्त्रितं क्षिपेत् ॥ ४४ ॥
पुष्पगन्धसमोपेतं सुसितं शालितण्डुलम् ।
मन्त्रयेत् प्रणवाद्येन बहुशो हृदयेन तु ॥ ४५ ॥
तदुद्धृतेनाम्भसा वा अस्त्रमन्त्रं समुच्चरन् ।
प्रोक्षयेत् स्वासनस्थानं यागोपकरणं तथा ॥ ४६ ॥
चित्रस्थाद् भगवद्बिम्बाद् भुक्तं पुष्पादिकं हि यत् ।
अपनीय तु तत्कुर्याद् वाससा रेणुमार्जनम् ॥ ४७ ॥
धातुद्रव्यमये कुर्यात् क्षालनं गन्धवारिणा ।
उपलिप्याथ भूभागं साम्भसा गोमयेन तु ॥ ४८ ॥

सर्वमन्त्राराधनेष्वप्ययमेवावाहनादिक्रमो ज्ञेय इत्याह—क्रम इति सार्धेन ॥ ४०–४१ ॥

अथ स्वहृदये भगवतोऽङ्गन्यासपूर्वकं जपयज्ञान्तं मानसैरुपचारैरभ्यर्च्य बहिर्यागं च कुर्यादित्याह—मन्त्रन्यासमिति सार्धेन ॥४२–४३ ॥

बहिर्यागविधिं दर्शयन् प्रथममर्घ्यादीनां दहनाप्यायनमुद्रादर्शनमाह—दक्षिणेति ॥ ४३–४४ ॥

पूजोपकरणानां प्रोक्षणमाह—तोयमिति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ४४–४६ ॥
चित्रबिम्बशोधनमाह—चित्रस्थादिति ॥ ४७ ॥
लोहमयस्य शोधनमाह—धात्विति ॥ ४८ ॥

१. ढ्यानामेषा–अ० उ० । २. न्ते च अ–अ० । ३. मण्ड–उ० । ४. वै–अ०, चैव–ख० उ० । ५. रेत्–अ० उ० । ६. त्वथ–अ० उ० ।

तत्र मण्डलमालेख्यं[1] सूत्रयित्वा पुरा[2] समम् ।
चतुरश्रं चतुर्द्वारं मार्गपीठाब्जभूषितम् ॥ ४९ ॥
त्रिनाभिनेमिषडरं चक्रं तु कमलाद् बहिः ।
[3]मेध्यैः सितादिकै रागैः[4] पुष्पैर्वा तैश्च[5] तैः शुभैः ॥ ५० ॥
चन्दनाद्यैः सुगन्धैस्तु सर्षपैस्तिलतण्डुलैः ।
सर्वौषधिमयेनैव चूर्णेन परिपूर्य वा ॥ ५१ ॥
पुष्पैरथार्घ्यपात्रं तु मन्त्रैः सम्पूज्य निष्कलैः ।
पात्रेऽपरस्मिंस्तस्माद् वै स्तोकमुद्धृत्य चोदकम् ॥ ५२ ॥
योगपीठार्चनं कुर्यादनुसन्धानपूर्वकम् ।
स्वनाम्ना प्रणवाद्येन नमोऽन्तेन यथाक्रमम् ॥ ५३ ॥
अनन्तेशं स्मरेन्मध्ये[6] सर्वाधारमयं प्रभुम् ।
आग्नेयादौ तु धर्माद्यमैशान्यान्तं[7] चतुष्टयम् ॥ ५४ ॥
प्रागादावप्यधर्माद्यमुत्तरान्तं न्यसेत् परम् ।
तदूर्ध्वे कमलं ध्यायेत् स्वनाम्नाऽथ तथोपरि ॥ ५५ ॥
स्मरेत् तत्राश्रितं सूर्यं शशाङ्कं केसरावनौ ।
कर्णिकास्थं हुतभुजं ततो गन्धादिना यजेत् ॥ ५६ ॥
गणेशाद्यर्चनं कृत्वा प्रथमं गुरुसन्ततेः[9] ।
प्राप्तानुज्ञोऽथ कलशमादाय शुभलक्षणम् ॥ ५७ ॥

मण्डलरचनाप्रकारमाह—उपलिप्येत्यादिभिः ॥ ४८–५१ ॥

पीठपरिकल्पनप्रकारमाह—पुष्पैरित्यादिभिः ॥ ५२–५६ ॥

अथ विष्वक्सेनादिगुरुपङ्क्त्यर्चननदनुज्ञापूर्वकं महाकुम्भस्थापनप्रकारमाह—गणेशाद्यर्चनमित्यादिभिः । नन्वत्र गणेश इति सामान्यशब्दप्रयोगाज्जयाख्यलक्ष्मीतन्त्र-पारमेश्वराद्युक्तो विनायकस्तदर्थः स्यादिति चेन्न,

अथ शिष्टैस्तु नैवेद्यैर्यजेद् गणपतिं प्रभुम् ।
विष्वक्सेनाभिधानं चाप्यादावेवार्चितो हि यः ॥ (१७।१४२)

---

१. लिख्य—अ० उ० । २. यथा पुरम्—बक० बख० । ३. मध्यैः—मु० अटी० बक० बख० अ० । ४. रङ्गैः—उ० । ५. तच्छदैः—अ० उ० । ६. न्निनद्यं—अ० । ७. न्यन्तं—मु०, न्यां तच्च—अ० उ० । ८. दौ त्वप्य—अ० उ० । ९. सन्ततौ—अ० उ० ।

तमम्भसाऽस्त्रजप्तेन सम्पूर्यादौ तु निक्षिपेत् ।
तद्गर्भे काञ्चनं रत्नं बीजान्योषधिसत्फलम् ॥ ५८ ॥
चूतादिविटपोद्भूतां सपत्रां पुष्पमञ्जरीम् ।
कौशेयवस्त्रस्रक्[१]कण्ठं कृत्वा चन्दनचर्चितम्[२] ॥ ५९ ॥
तन्मध्ये पूजयेन्मन्त्रं साङ्गं सावरणं क्रमात् ।
प्राग् दिङ् मण्डलबाह्येऽथ दत्वा वै पुष्पचक्रिकाम्[३] ॥ ६० ॥
पीठमन्त्रोपजप्तां च तदूर्ध्वे[४] स्थापयेच्च तम् ।
अथाऽवतार्यो हृदयान्मन्त्रो विमलदीधितिः ॥ ६१ ॥
कर्मणा मनसा वाचा सिद्धिमार्गेण साधकैः ।
अनुज्झितस्वरूपं च सूर्यबिम्बमिवाम्भसि ॥ ६२ ॥
कर्मणा प्रेरयेच्चैव वाचा तं मन्त्रमुच्चरेत् ।
आगच्छपदसंयुक्तं संस्मरेन्मनसाकृतिम् ॥ ६३ ॥

इति विशेषशब्दस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अत एवेश्वरतन्त्रे—

विष्वक्सेनं गणाधीशं गुरूंश्च तदनन्तरम् ।
गुरून् परमसंज्ञांश्च यजेत् सर्वगुरूंस्तदा ॥
आदिसिद्धसमूहं तु भगवद्ध्यानतत्परम् ।
नित्याधिकारिणश्चाप्तान् भगवत्तत्त्ववेदिनः ॥
चत्वारो मनवश्चान्ये ऋषयः सप्त पूर्वकाः । (४।३३-३५)

इति गुरुपङ्क्तिरुक्ता । प्राक्दिक्[९] पूर्वदिशीत्यर्थः । विभक्तिलोपश्छान्दसः । मण्डलबाह्ये पूर्वोक्तमण्डलाद् बहिरित्यर्थः । पीठमन्त्रोपजप्तामिति चक्रिकाया विशेषणम् । पीठमन्त्रैः पूर्वोक्तैरनन्तादिमन्त्रैः, उपजप्ताम् अर्चितामित्यर्थः ॥ ५७-६१ ॥

तत्र भगवदावाहनक्रममाह-अथेति सार्धद्वाभ्याम् । करणत्रयेणाप्यावाहनं कार्यमित्युक्त्वाऽऽवाहनकाले करणत्रयस्यापि प्रेरणोच्चारणस्मरणाख्यकार्यत्रयमपि प्रतिपादितम् । प्रेरणं चात्रार्घ्यपुष्पाञ्जलिसमर्पणमन्त्रन्याससंनिधिसंनिरोधसांमुख्यमुद्रादर्शनादिकं ज्ञेयम् । उच्चारणं चतुर्वारं बोध्यम् । मन्त्रं पूर्वोक्तं नृसिंहमन्त्रमित्यर्थः ॥ ६१-६३ ॥

---

१. मुत्कण्ठं-अ० । २. चर्चितचन्दनम्-मु०, चार्चित-अटी० । ३. पत्रपुष्पिकाम्-मु० । ४. तदूर्ध्वं-अ० । ५. मथा-उ० । ६. तन्मन्त्र-अटी० उ० । ७. स्तथा-मु० । ८. पूर्विकाः-अ० म० । ९. दिशि-अ० ।

एवमाहूय वै दद्यादर्घ्यपाद्ये च भक्तितः ।
आमूलात् सर्वमन्त्राणां व्यक्तिस्थानां समर्चनम्¹ ॥ ६४ ॥
अर्घ्यपुष्पादिना कुर्यात् स्वेन स्वेन स्वके पदे ।
तदोदितं विभोर्देहाद् हृदयाद्यं चतुष्टयम् ॥ ६५ ॥
न्यसेत् कमलपत्राणामा पूर्वादुत्तरान्तिकम् ।
अग्नीशरक्षोवायव्यदलेष्वस्त्रं² यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥
नेत्रं केसरजालस्थं चक्रं नाभित्रयोपरि ।
श्रीवत्सकौस्तुभौ चैव वनमालां तथैव च ॥ ६७ ॥
उदक्पश्चिमभागस्थे चाक्रीये त्वप्यरत्रये³ ।
कमलं निशिताग्रं च नन्दकं विन्यसेत् क्रमात् ॥ ६८ ॥

एवमाहूतस्य भगवतोऽर्घ्यपाद्याद्युपचारानुपूर्वीं कथयन् प्रथमं लययागमाह—एवमिति सार्धेन । व्यक्तिस्थानां भगवद्दिव्यमङ्गलविग्रहविन्यस्तानामित्यर्थः । अनेनावाहनानन्तरं स्वशरीरवद् भगवदवयवेष्वपि मूलमन्त्रादीनां न्यासः कार्य इत्युक्तं भवति । अर्घ्यपुष्पादिनेत्यत्रादिशब्देन गन्धधूपौ ग्राह्यौ । स्वेन स्वेन स्वस्वमन्त्रेणेत्यर्थः ॥ ६४–६५ ॥

अथ भोगयागक्रममाह—तदोदितमित्यारभ्याग्रभागे सरस्वतीमित्यन्तम् । चाक्रीये चक्रसंबन्धिनीत्यरत्रयस्य विशेषणम् । निशितान्यग्राणि यस्य तं तथोक्तं गदामित्यर्थः । अनयोरर्चनयोर्मन्त्राणां निराकारत्वसाकारत्वभेदं लयभोगसंज्ञाकत्वं च जयाख्ये प्रतिपादितम्—

शक्तयश्चाङ्गषट्कं च लाञ्छनं कमलादिकम् ॥
भूषणं कौस्तुभाद्यं च वदनानां तथा त्रयम् ।
सत्याद्या मूर्तयश्चैव देवे⁴ देहस्य भाविताः ॥
⁵व्यापकस्य तथात्वेन स्वे स्वे स्थाने प्र⁶भात्मकाः ।
तद्देहसंस्थिताः सर्वे पूजनीयाः क्रमेण तु ॥
परिवारं विना मन्त्रैः स्वैः स्वैः पुष्पानुलेपनैः ।
लययागो ह्ययं विप्र लक्ष्म्यादिष्वनुकीर्तितः ॥
तस्माद् हृत्कर्णिकाधारे⁷ मूर्तौ वा यत्र कुत्रचित् ।
मूलमन्त्रशरीरस्थं परिवारं यजेत् सदा ॥
याग एष लयाख्यस्तु संक्षिप्तः सर्वसिद्धिदः ।

१. मम्–अटी० । २. वायुवादि–मु० अटी० । ३. त्वपर–मु० अटी० । ४. देहे देवस्य–मु० । ५. व्यापय्य च–मु० । ६. तथा–मु० । ७. कारे–अ० ।

प्राग्भागदक्षिणस्थाभ्यां त्रितयं चाथ विन्यसेत् ।
कार्मुकं हेतिराट् शङ्खं ततो देवस्य दक्षिणे ॥ ६९ ॥
नेमिभागे श्रियं देवीं पुष्टिमुत्तरतो न्यसेत् ।
पृष्ठदेशे[1] स्थितां निद्रामग्रभागे सरस्वतीम् ॥ ७० ॥

मन्त्रराट् कर्णिकामध्ये लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु ॥
साकाराः केवलाः सर्वे यत्र भोगाभिधः स तु ।
केवलेन[2] च यागेन पृथग्भूतेन नारद ॥
पूजनं कमलादीनामधिकाराभिधः स तु । (१२।७६–८३) इति।

प्र[3]भात्मकास्तेजोरूपाः, निराकारा इति यावत् । परिवारं विना तत्तत्परिवारं विनेत्यर्थः । परिवारस्यापि परिवारकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गादिति भावः । एत एव श्लोका ईश्वरे[4]पारमेश्वरयोरपि स्वस्वोक्तमन्त्रन्यासानुसारेण प्रतिपादिताः । पारमेश्वरव्याख्याने तु[5] "अन्या मूर्तय इत्यनेनाष्टाद्यनेकभुजभूषितायुधमूर्तिविषया द्रष्टव्याः" इति व्याख्यातम् । तदसंगतम्, अत्रत्यमूर्तिशब्दस्य सत्यादिमूर्तिपरत्वात्, "सत्याद्या मूर्तयश्चैव" (ज० सं० १२।७७) इति मूलोक्तेश्च । परिवारं विनेत्यत्रापि परिवाराकारत्वकल्पनां विनेति व्याख्यातम् । तदप्यप्रकृतम्, प्रभात्मका इत्यनेनैव तदर्थसिद्धेः । "मूलमन्त्रशरीरस्थं परिवारं यजेत् सदा" (जया० १२।८०) इत्यनेन तदानीमपि परिवारत्वस्य दुर्निरोधत्वाच्च । पारमेश्वरे लययागः स्वोक्तन्यासानुसारेण हृन्मन्त्रक्रमेणैवोक्तः । भोगयागस्तु केवलजयाख्यवचनेनैव प्रतिपादितः । तथापि पारमेश्वरसंहितानिष्ठैर्हृन्मन्त्रादिक्रमेणैव भोगयागः कार्यः, तस्यापि पूर्वोक्तन्यासानुसारेणैव कर्तव्यत्वात्, तथैव बाह्ययागे वक्ष्यमाणत्वाच्च । पारमेश्वरव्याख्यानेऽप्येवमेवोक्तम् । लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु । तत्र लक्ष्म्यादयः, अ[6]त्र हृदादय इति विशेष इति । उत्तरत्रापि पारमेश्वरे मानसयागानन्तरं "भोगस्थानगतानां च लक्ष्म्यादीनां क्रमेण तु" (ज० सं० १२।११३; पा० सं० ५।१४८) इति जयाख्यवचनमेवोदाहृतम् । तत्रापि व्याख्याकारैर्लक्ष्म्यादीनामिति नारदश्रुतग्रन्थे लक्ष्म्यादित्वमन्त्रहृदयादिति[7] विवेक इत्युक्तम् । एतदबुद्ध्वैव कैश्चित् पारमेश्वरप्रयोगकारैर्यथेच्छं पाण्डित्यं प्रदर्शितम् । केषुचित् पारमेश्वरप्रयोगेष्वस्मिन्नवसरेऽधिकारयागस्यापि कर्तव्यत्वम्, तस्य स्वबुद्धिकल्पितस्थानान्तरं चोक्तम् । तैरधिकारयागशब्दार्थ एव न ज्ञात(व्य?)ः, व्याख्यानपङ्क्तिरपि न दृष्टा, पृथग्भूतेनेति विशेषणमपि न स्मृतम् । अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या ॥ ६५–७० ॥

---

१. देशस्थि–अ० उ० । २. केवलेनानुभागेन–म० । ३. जयाख्यवचनानां व्याख्यानमेतत् । ४. ईश्वरे (२।१००–१०५), पारमेश्वरे (५।१२५–१३२) चैते श्लोका द्रष्टव्याः । ५. 'तु' नास्ति–म० । ६. पुत्र–अ० । ७. दीति–अ० ।

वामदक्षिणभागाभ्यां [1]वीथिस्थमिषुधिद्वयम् ।
द्वारेष्वस्त्रं न्यसेद् भूयो मुद्रां[2] कोणचतुष्टये ॥ ७१ ॥
सायुधानथ दिक्पालान् स्वस्थाने मण्डलाद् बहिः ।
एवं न्यस्य[3] ततो ध्यायेन्मन्त्रव्यूहं यथास्थितम् ॥ ७२ ॥
सर्वदेवमयं देवं सर्वेषां तेजसां निधिम् ।
सर्वलक्षणसम्पूर्णं [4]सार्वज्ञादिगुणैर्युतम्[5] ॥ ७३ ॥
निष्टप्तकनकाभं च सम्पूर्णाङ्गं महाद्भुतम् ।
घोरशार्दूलवदनं [6]चण्ड[7]मार्तण्डलोचनम् ॥ ७४ ॥
सौदामिनीचयप्रख्यैर्लोमभिः परिपूरितम् ।
अरुणाम्भोजपत्राभं वज्राधिककरोरुदम्[8] ॥ ७५ ॥
चलत्फणीश्वरसटं चन्द्रकोटिशतद्युतिम्[9] ।
वमन्तमान्तरं वह्निं खरैर्[10]न्ध्रैर्मारुतानुगैः ॥ ७६ ॥
प्रलयाम्बुदनिर्घोषमुद्गिरन्तं स्ववाचकम् ।
युगान्तहुतभुग्ज्वालामण्डलान्तर्व्यवस्थितम् ॥ ७७ ॥
[11]षडस्त्रं चाप्यष्टबाहुं व्याप्य लोकान् स्थितं प्रभुम् ।
दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गं दिव्याम्बरधरं तथा ॥ ७८ ॥
दिव्यस्रग्वेष्टनोपेतं दिव्यालङ्कारमण्डितम् ।
कौस्तुभेनोरसिस्थेन श्रीवत्सेनाप्यलङ्कृतम् ॥ ७९ ॥

मण्डलवीथ्यादिष्वर्चनीयान् परीवारानाह—वामदक्षिणेति सार्धेन । इषुधिद्वयं तूणीरद्वयमित्यर्थः । द्वारेष्वस्त्रं चक्रमित्यर्थः । पूर्वं भोगयागे चक्रगदयोरुक्तत्वाद् भूय इत्युक्तम् ॥ ७१–७२ ॥

मूलमन्त्रादीनां ध्यानान्याह—एवं न्यस्त्वा ततो ध्यायेदित्यारभ्य वस्त्रालङ्कार-

---

१. विधि–मु० अटी० बक० बख० । २. गदां–बक० बख० । ३. न्यस्त्वेति भाष्यकार-संमतः पाठः । ४. सर्वज्ञादि–अटी० उ० । ५. गुणान्वितम्–अ० । ६. चन्द्र–उ० । ७. मार्तण्ड–अ० अटी० । ८. करेरु–मु० अटी० । ९. त्विषम्–उ० । १०. स्वमुखैः–बक० बख० । ११. षडस्त्रभृच्चाष्टभुजं–मु० उ० ।

रत्नकाञ्चनसन्मुक्तायुक्तया वनमालया ।
[1]सब्रह्मसूत्रया चैव शोभितं परमेश्वरम् ॥ ८० ॥
भुजान्यस्त्रवरैर्दीप्तैः कमलाद्यैर्युतानि च ।
क्षीरसागरवच्छुभ्रं ततः पद्मं तु दक्षिणे ॥ ८१ ॥
प्रणवध्वनिगर्भं तु हिमाद्रिशत[2]शोऽधिकम् ।
[3]वामे शङ्खवरं ध्यायेद् गदाखड्गौ ज्वलत्प्रभौ ॥ ८२ ॥
दक्षिणे पाणियुग्मेऽथ चक्रं कालानलद्युतिम् ।
सधनुर्वामहस्ताभ्यां ततः पाणिद्वयेन तु ॥ ८३ ॥
अविद्यादलिनीं मुद्रां कर्माख्यां संस्मरेत् प्रभोः ।
एवमेव हि हृन्मन्त्रं ध्यायेत् कुमुदपा[4]ण्डुरम् ॥ ८४ ॥
पद्मरागाचलाकारमारक्तं च शिरः स्मरेत् ।
अञ्जनाश्मप्रतीकाशं शिखामन्त्रं तथाकृतिम् ॥ ८५ ॥
परितः सूर्यस[5]न्तप्तं यथा कनक[6]पर्वतम् ।
तथा कवचमन्त्रं च ध्यानकाले विचिन्त्य च ॥ ८६ ॥
[7]वृतो ज्वालासहस्रैस्तु अयस्कान्तसमद्यु[8]तिः ।
सर्वास्त्रशक्तिसम्पू[9]र्णश्चास्त्रमन्त्रः प्रकीर्तितः ॥ ८७ ॥
निर्धूमाङ्गारशिखरसदृशो नेत्रमन्त्रराट् ।
ध्येयाः स्वरुचिसंयुक्ता द्विभुजाः पुरुषोत्तमाः ॥ ८८ ॥
सास्त्राः कौस्तुभपूर्वा ये गदा[10]माले[11]ङ्गनाकृतीः ।
फुल्लपद्मोदराभा श्रीर्नलिनीनालसंयुता ॥ ८९ ॥
चन्द्ररश्मिप्रतीकाशा श्वेतचामरधारिणी ।
पूर्णेन्दु[12]सदृशी पुष्टिरुद्वहन्ती च पाणिना ॥ ९० ॥
सम्पूर्णममृतेनैव कलशं काञ्चनोत्थितम् ।
विज्ञानपुस्तककरा [13]स्फटिकाभा सरस्वती ॥ ९१ ॥

---

१. सद्ब्र–अ० । २. शोधितम्–उ० । ३. हैमं–उ० । ४. ण्डुरम्–मु० उ० । ५. न्तप्तो–मु० अटी० । ६. पर्वतः–मु० अटी० । ७. वृतं–अ० उ० । ८. तिम्–अ०, ति–उ० । ९. र्णमस्त्रमन्त्रं प्रकीर्तितम्–अ० उ० । १०. माला–बक० बख० अ० उ० । ११. कृति–अ०, कृतीन्–उ० । १२. सदृशा–अ० उ० । १३. स्फाटि–बक० उ० ।

फुल्लेन्दीवरसंकाशा त्वक्षसूत्रकराङ्किता ।
ध्येया भगवती निद्रा सर्वाश्चामरलाञ्छिताः ॥ ९२ ॥
सम्मुखा देवदेवस्य वस्त्रालङ्कारमण्डिताः ।
एवं ध्यात्वा ततः कुर्यात् पूजनं कुसुमादिकैः ॥ ९३ ॥
स्नानैर्विलेपनैर्वस्त्रैर्माल्यैर्धूपैश्च दीपकैः ।
दध्ना च मधुमिश्रेण क्षीरेणाज्यान्वितेन च ॥ ९४ ॥
हृद्यैर्मृष्टैः स्थिरैर्मेध्यैर्नैवेद्यैर्विविधैः शुभैः ।
यथाकालोद्भवैः सर्वैः फलमूलैस्तु षड्रसैः ॥ ९५ ॥
पूजितैर्मुक्तदोषैस्तु मुद्रामन्त्रो[1]पलक्षितैः ।
मूर्तैर्ध्यानैस्तथा स्विन्नैर्बीजैर्हो[2]मादिनाऽथवा[3] ॥ ९६ ॥
ततः स्वहस्तौ संस्कृत्य अम्भसाऽऽलम्भ[4]नादिना ।
बद्ध्वा प्रदर्शयेन्मुद्रां त्रिशिखां सम्मुखे[5] विभोः ॥ ९७ ॥
ध्यात्वा त्रेताग्निरूपं तु दक्षिणादङ्गुलि[6]त्रयम् ।
स्पष्टमूर्ध्वशिखं सैव ज्येष्ठाक्रान्ता कनीयसी ॥ ९८ ॥
[8]अथोऽखिलस्वरूपश्चं[9] ध्वान्तातीतोऽग्निरूपधृक्[10] ।
देवो गुणत्रयातीतस्तथा मार्गत्रयातिगः ॥ ९९ ॥
धर्मैः [11]स्थूलतरैर्मुक्तो योऽयं व्यक्तो धियार्चितः ।
सम्पुटं हृदयोद्देशे बद्ध्वा हस्तद्वयेन तु ॥ १०० ॥

मण्डिता इत्यन्तम् । अविद्यादलिनी[12] मुद्रा वक्ष्यमाणा (१७।१०५--१०६) ज्ञेया ॥७२–९३

षष्ठपरिच्छेदे विस्तरेणोक्तत्वादिहोपचारानुपूर्वीं संक्षेपेणाह—एवं ध्यात्वेत्यादिभिः ॥ ९३–९६ ॥

मूलमुद्रादर्शनमाह—तत इति सार्धैस्त्रिभिः । अम्भसा अर्घ्यजलेनेत्यर्थः । "मुद्राबन्धे [13]कराभ्युक्षाम्" इत्यर्घ्यविनियोगस्य वक्ष्यमाणत्वात् । आलम्भनादिना चन्दनादिनेत्यर्थः । आदिशब्देन कर्पूरकुङ्कुमादिकं गृह्यते । दक्षिणहस्तेऽङ्गुष्ठेन कनिष्ठिकामाक्रम्य तर्जन्याद्यङ्गुलित्रयमृज्वीकृत्य भगवदभिमुखं दर्शयेदिति फलितोऽर्थः ॥ ९७–१०० ॥

१. मात्रो–मु० बक० बख० । २. हैमा–मु० अ०उ० । ३. यवैः–बक० बख०, ऽथ वै–अ०, तथा–उ० । ४. लभना–बक० बख० अ० उ० । ५. संमुखां–अ० उ० । ६. ल–बक० बख० । ७. मुखं–अ० उ० । ८. अधो–अ० । ९. श्चाप्यध्वा–बख० अ० उ० । १०. धृत्–मु० अटी० । ११. स्थूलादिकैर्युक्तो–अ० । १२. नलिनी–अ० । १३. ईश्वरे (३।९६), पारमेश्वरे (६।११७) च दृश्यते वचनमेतदर्घ्यप्रकरणं, सात्वते (१८।७०–७७) तु नावलोक्यते ।

निरन्तराभ्यां शाखाभ्यां मुद्रैषा हार्दिकी स्मृता ।
अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं शाखायुग्मं पृथक् पृथक् ॥ १०१ ॥
सान्तरं सम्पुटादस्मात् कनिष्ठादौ तथा भवेत् ।
शिरश्शिखातनुत्रास्त्रनेत्रमुद्रा यथाक्रमम् ॥ १०२ ॥
अस्यामङ्गुष्ठयुग्मं तु मुद्रायां करमध्यगम् ।
प्रदेशिन्या ततो विद्धि कनिष्ठान्तं श्रियादिषु ॥ १०३ ॥
स्वमन्त्रयुक्ता चान्येषामर्चितानां यथाक्रमम् ।
पुनः पुनः प्रयोक्तव्या हार्देयं शिरसा सह ॥ १०४ ॥

हृन्मन्त्रमुद्रामाह—संपुटमिति । हार्दिकी हृदयसंबन्धिनीत्यर्थः ॥ १००-१०१ ॥

शिरोमन्त्रादिमुद्रापञ्चकमाह—अङ्गुष्ठादीति सार्धेन । पूर्ववत् करद्वयेन संपुटं कृत्वाऽङ्गुष्ठयुग्मं तर्जनीयुग्मं मध्यमायुग्ममनामिकायुग्मं कनिष्ठिकायुग्मं च सान्तरालं यथा तथा पृथक् पृथग् विभज्य कनिष्ठाद्यङ्गुष्ठान्तमङ्गुलियुग्मपञ्चके क्रमेण शिरःशिखाकवचास्त्रनेत्रमुद्रा इति विज्ञेयाः ॥ १०१-१०२ ॥

श्रियादिशक्तिमुद्राचतुष्टयमाह—अस्यामिति । अस्यां मुद्रायां पूर्वोक्तरीत्या पृथग्विभक्ताङ्गुलिद्विकपञ्चकविशिष्टायां मुद्रायामङ्गुष्ठयुग्मं करमध्ये कर्णिकारूपेण संस्थाप्य तर्जन्यादिद्विकचतुष्टये क्रमेण लक्ष्मीपुष्टिसरस्वतीनिद्रामुद्राचतुष्टयं बोध्यम् ॥ १०३ ॥

अन्येषां हृन्मुद्रैव शिरोमुद्रया सह तत्तन्मन्त्रेण प्रयोक्तव्येत्याह—स्वमन्त्रयुक्तेति । अन्येषामित्यनेन श्रीवत्सादिभूषणानां चक्रादिलाञ्छनानामनन्तादिपीठदेवानां विष्वक्सेनादिगुरूणां द्वारावरणस्थपरिवाराणां च ग्रहणं बोध्यम् ।

ननु जयाख्ये[5] एतेषामपि मुद्राः प्रतिपादिताः । तत्राप्यनुक्तमुद्राणामेव हृ(न्मन्त्रा-?न्मुद्रा)प्रदर्शनं सरसमिति चेन्न, तत्तत्संहितानिष्ठैस्तत्तदुक्तप्रकारेणैवानुष्ठेयत्वात् ।

ननु तर्हि सात्वतोपबृंहणे जयाख्योक्ताः श्रीवत्सादिमुद्राः संगृहीता इति चेत्, सत्यम् । तत्र—

सामान्या सर्वमन्त्राणामेका मुद्राञ्जलिः स्मृता ॥
स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण संयुक्तां तां प्रयोजयेत् ।
(ई० सं० २३।४१-४२)

इति सात्वतोक्तपक्षस्यापि प्रतिपादितत्वान्न भेतव्यमायुष्मता ॥ १०४ ॥

---

१. सम्पुटं त–अ० । २. पङ्क्तित्रयं नास्ति–बख० । ३. न्यादितो–अ० उ० । ४. हार्देयी–अ० उ० । ५. अष्टमे पटले ।

परस्परमुखौ[1] श्लिष्टौ शाखाक्रान्तौ परस्परम् ।
किन्तु वै दक्षिणं हस्तमूर्ध्वं चाप्यधरेऽपरम् ॥ १०५ ॥
अविद्यादलिनी ह्येषा मुद्रा पूर्वमुदाहृता ।
एवं मुद्राचयं कृत्वा पूजां कृत्वा पुनः प्रभोः[2] ॥ १०६ ॥
यथाशक्ति जपं कुर्याच्छतमष्टाधिकं तु वै ।
एकैकं हृदयादीनां सर्वेषां विहितं त्वथ ॥ १०७ ॥
क्रियाङ्गत्वान्न दोषोऽस्ति अन्यथा तज्जपं[3] विना ।
तमर्चयित्वाऽष्टाङ्गेन प्रणम्य परमेश्वरम् ॥ १०८ ॥
स्मृत्वा[4]ऽनुज्ञां समादाय यजेद् वह्निगतं ततः ।
कुण्डं सुलक्षणं कृत्वा संस्कारैः संस्कृतं पुरा ॥ १०९ ॥
पूजयित्वार्घ्यपुष्पाद्यैस्तत्राग्निमवतार्य च ।
सुसमिद्धं च निर्धूमं[5] संशुद्धं ताडनादिना ॥ ११० ॥
अर्घैर्निम्बुरैकुसुमैः पूजयित्वा च भावयेत् ।
न्यस्तो गुणगणः[6] षष्ठस्तेजो नाम गुणो हि यः ॥ १११ ॥

अथ भगवतो हस्तस्थितताया अविद्यादलिन्या मुद्राया लक्षणमाह—परस्परेति सार्धेन । हस्तौ परस्पराभिमुखौ संश्लिष्टौ परस्पराङ्गुलिभिराक्रान्तौ च कृत्वा । दक्षिणमुत्तरं[7] अपरमधरं कुर्यादित्यर्थः ॥ १०५–१०६ ॥

पूर्वोक्तां त्रिशिखामुद्रामिमामविद्यादलिनीमुद्रां च भगवते प्रदर्श्य पुनरर्घ्यादिभिरभ्यर्च्याष्टोत्तरशतवारं यथाशक्ति वा मूलमन्त्रं जपेदित्याह—एवमिति । हृन्मन्त्रादीनामेकैकवारं जपः कार्यः । तेषां मूलमन्त्राराधनाङ्गभूतत्वात् सकृज्जपेऽपि न प्रत्यवायः ॥ १०६–१०७ ॥

सकृज्जपस्याप्यकरणे प्रत्यवाय इत्याह—एकैकमिति ॥ १०७–१०८ ॥

एवं जपयज्ञानन्तरं साष्टाङ्गप्रणामजितन्तादिस्तोत्रपठनपूर्वकं[8] भगवदनुज्ञया वह्निसंतर्पणं कुर्यादित्याह—तमिति ॥ १०८–१०९ ॥

वह्निसंतर्पणक्रममाह—कुण्डमित्यारभ्य होमसंख्यां निवेद्य चेत्यन्तम् । सुलक्षणम् एकादशपरिच्छेदोक्तलक्षणान्वितमित्यर्थः । संस्कारैः षष्ठपरिच्छेदोक्तैः, उपलेपनादिभि-

---

१. खाश्लि–अ० उ० । २. प्रभो–मु० वख० अ० । ३. तं जपं–उ० । ४. स्तुत्वा–अ० उ० अटी० । ५. निरम्ब–मु० वक० वख० । ६. गणात्–अ० उ० । ७. उत्तर–अ० । ८. पूर्वक–अ० ।

परस्य ब्रह्मणः सोऽयं सामान्यं सर्वतेजसाम् ।
ध्यात्वैवं नेत्रमन्त्रेण निक्षिपेत् कुण्डमध्यतः ॥ ११२ ॥
पावनैरिन्धनैः शुष्कैः कृत्वा निर्धूममेव तम् ।
समिद्भिरर्चयित्वाऽथ तन्मध्ये मन्त्रमण्डलम् ॥ ११३ ॥
ध्यात्वाऽभ्यर्च्य यथापूर्वं सन्तर्प्य सघृतैस्तिलैः ।
परिवारयुतं देवं सहस्रशतसंख्यया ॥ ११४ ॥
दद्यात् पूर्णाहुतिं सम्यग् होमसंख्यां निवेद्य च ।
ततः शुचीन् सोपवासान् शोधितान् बद्धलोचनान् ॥ ११५ ॥
भक्तान् प्रवेशयेत् तत्र गृहीतकुसुमांस्तु वै ।
प्रक्षेपयेन्मण्डलान्तर्नेत्रबन्धं विमुच्य च ॥ ११६ ॥
अष्टाङ्गप्रणिपातैस्तु प्रदक्षिणयुतैस्ततः ।
देवश्चाग्निर्गुरुः कुम्भः पूजनीयः पुनः पुनः ॥ ११७ ॥

रित्यर्थः । पूजयित्वाऽर्घ्यपुष्पाद्यैरित्यत्रापि—"तदभ्यर्च्यार्घ्यपुष्पाद्यैर्ध्यायेत् तद्भद्रपीठवत्" (६।८३) इत्याद्युक्तप्रकारो ज्ञेयः । संशुद्धं ताडनादिनेत्यत्र—

संताड्य चास्त्रमन्त्रेण प्रोक्षयेच्छिखया च तम् ॥
अर्चयेत् कवचेनैव कवचेनावकुण्ठ्य च ।
प्लावयेदमृतेनैव नेत्रमन्त्रेण नारद ॥
पूरकेणोपहृत्याथ स्वात्मन्युपशमं नयेत् । (१५।६०–६२)

इति जयाख्योक्तास्ताडनादिसंस्कारा ग्राह्याः । संगृहीताश्चैवमीश्वरतन्त्रेऽपि[३] । समिद्भिः पूर्वोक्तसप्तसमिद्भिरित्यर्थः । मन्त्रमण्डलं मूलमन्त्रादिमन्त्रसमूहमित्यर्थः । होमसंख्यां निवेद्य, मण्डलस्थाय भगवत इति शेषः ॥ १०९–११५ ॥

अस्मिन्नवसरे कर्तव्यं शिष्याणां नृसिंहमन्त्रदीक्षाक्रममाह—ततः शुचीनित्यारभ्य भक्तानामनुकम्पयेत्यन्तम् । शोधितान् पूर्वोक्तब्रह्मकूर्चप्रायश्चित्तादिभिः संशुद्धानित्यर्थः । प्रक्षेपयेत्, तदञ्जलिस्थपुष्पाणीति शेषः । देवो मण्डलस्थो देव इत्यर्थः । तत्कालं भक्तिभावेन वक्ष्यमाणोत्पुलकानन्दबाष्पादिभक्तिसूचकेनेत्यर्थः । व्यक्तसंशुद्धौ

---

१. च—अ० । २. सृत्या—मु० । ३. पञ्चमाध्याय इति शेषः । ४. रोमाञ्चौत्सुक्यहर्षाढ्यमानन्दाश्रुसमन्वितम् (१८।११९) इत्यत्र । ५. सूचकैरि—म० । ६. वृत्त—म० ।

तत्कालं भक्तिभावेन विज्ञाता योग्यता यदा[1] ।
तीव्रमन्दादिकां[2] तेषां तदा दीक्षां समाचरेत् ॥ ११८ ॥
जुहुयाद् व्यक्तसंशुद्धौ[3] शतमष्टाधिकं तु वै ।
तिलानां तद्वदाज्यस्य द्वादशार्णेन बुद्धिमान् ॥ ११९ ॥
दद्यात् पूर्णाहुतिं पश्चान्मन्त्रमर्घ्यादिनार्च्य च ।
ततश्चाङ्गसमूहेन प्रागुक्तपरिसंख्यया ॥ १२० ॥
कुर्यादव्यक्तशुद्ध्यर्थं दद्यात् पूर्णाहुतिं ततः ।
स्वरूपापादनार्थं तु मूलबीजेन वै तथा[4] ॥ १२१ ॥
प्रणवादिनमोऽन्तेन कुर्याद् होममतन्द्रितः ।
ध्यात्वा निरस्तबन्धं तं शुद्धं शान्तं तु सर्वगम् ॥ १२२ ॥
समस्तसंवित्पूर्णं[5] च दद्यात् पूर्णाहुतिं ततः ।
मूलमन्त्रेण मन्त्रज्ञो भक्तानामनुकम्पया ॥ १२३ ॥
समयान् श्रावयेत् पश्चात् कुम्भेऽग्नौ मण्डले ततः ।
भक्त्या यया[6] तु सम्प्राप्तमैहिकामुष्मिकं त्वया ॥ १२४ ॥
नास्याः कुर्याः परित्यागं कर्मणा मनसा गिरा ।
साध्यं विना न कुर्याद्[7] वै स्नानादीनां च लोपनम् ॥ १२५ ॥
यावज्जीवं यथाशक्तिः संस्थितो यत्र कुत्रचित् ।
स्थानेषु हृदयाद्येषु कुर्यान्मन्त्रगणार्चनम् ॥ १२६ ॥
द्रव्यैः पुष्पाम्बुपूर्वैस्तु तदभावे[8] तु वै हृदि ।
मानसीं पूर्ववत् पूजां निर्वपेन्न्यासपूर्विकाम् ॥ १२७ ॥

महदादिरूपेण स्थूलावस्थापन्नप्रकृतिशुद्ध्यर्थमित्यर्थः । द्वादशार्णेन[9] नृसिंहद्वादशाक्षरेणेत्यर्थः । अङ्गसमूहेन हृन्मन्त्रादिषट्केन । अव्यक्तशुद्ध्यर्थं सूक्ष्मावस्थापन्नप्रकृतिशुद्ध्यर्थमित्यर्थः । स्वरूपापादनार्थं चेतनशुद्ध्यर्थमित्यर्थः । मूलमन्त्रेण नृसिंहबीजेनेत्यर्थः ॥ ११५–१२३ ॥

अथ शिष्याणां समयोपदेशप्रकारमाह—समयान् श्रावयेत् पश्चादित्यारभ्य प्राप्नु-

१. यथा—मु० अ०, तथा—अटी० । २. मन्दधिया—बक० बख० । ३. संयुक्तौ—उ० । ४. ततः—बक० बख० । ५. त्सम्पूर्णं—बख० अ० उ० । ६. ऽनया—मु० अटी०, यथा—उ० । ७. कुर्यास्तु—मु० अटी० । ८. भावात्तु—अ० उ० । ९. 'द्वादशार्णेन''''प्रकृतिशुद्ध्यर्थमित्यर्थः' नास्ति—अ० ।

मन्त्रनाथं गुरुं मन्त्रं[1] समत्वेना[2]भिवीक्षयेत् ।
मन्त्रमण्डलमुद्राणां परां गुप्तिं समाचरेत् ॥ १२८ ॥
दूरादेव नमस्कार्यो मृगराड् व्याघ्र एव वा ।
तदाकृतिर्मृगोऽन्यो वा तच्चर्म क्वापि नारुहेत् ॥ १२९ ॥
न चाक्रमेत पादेन न च तल्पादिकं[3] स्पृशेत् ।
पद्मपत्रैस्तथाश्वत्थपर्णैर्भोजनभाजनम् ॥ १३० ॥
वर्जनीयं तथा शङ्खपद्माद्यङ्कितमासनम् ।
नक्तं वा परिपीडं[4] वाऽप्येकादश्यां समाचरेत् ॥ १३१ ॥
विशेषपूजनं कुर्याद् द्वादशीष्वखिलासु च ।
अयनादिषु चान्येषु सूर्यसंक्रमणेषु च ॥ १३२ ॥
न भूतग्रहदुष्टानां व्याधीनां वा कदाचन ।
असिद्धेन स्वमन्त्रेण कुर्यादुत्सारणं तु वै ॥ १३३ ॥
मन्त्रजं सिद्धिलिङ्गं यत् स्वप्ने प्रत्यक्षतोऽपि वा ।
अनुभूतं न वक्तव्यं कस्यचिद् गुरुणा विना ॥ १३४ ॥

यान्मन्त्रजं फलमित्यन्तम् । कुम्भमण्डलादिस्थितभगवद्विषयकया यया[6] भक्त्या ऐहिकामुष्मिकफलसिद्धिर्भवति, तां भक्तिं करण[7]त्रयेणापि न त्यजेदिति प्रथमनियमार्थः । साध्यं विना औषधि[8]सेवनादिकं विनेत्यर्थः । तल्पादिकं व्याघ्रचर्मकृततल्पादिकमित्यर्थः । न स्पृशेदित्यत्रापि पादेनेत्यनुषङ्गः । परिपीडं शुद्धोपोषणमित्यर्थः । आ नाभिवर्धनात् कालाद् अन्यत्र नाभिनालच्छेद[9]नानन्तरमित्यर्थः । तत्पूर्वं सूतकाभावादिति भावः । तथा च जैमिनिः—

यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम् ।
छिन्ने नाले ततः पश्चात् सूतकं तु विधीयते ॥ इति ।

---

१. शास्त्रं—बख० उ० । २. नानुभावयेत्—त्रख० अ० उ० । ३. तत्पावके क्षिपेत्—मु० अटी०, तद्घातकं स्पृशेत्—अ० उ० । ४. परपिण्डं—मु० बक० बख० । ५. दनं—मु० अ० । ६. 'यया' नास्ति—अ० । ७. करेण त्रयेणापि—म० । ८. ओषधि—अ० । ९. च्छेदा—म० ।

व्यक्तं नृसिंहबीजं[1] तु दृश्यते यत्र कुत्रचित् ।
नमस्कुर्यात् समभ्यर्च्य वाक्पुष्पैः सप्रदक्षिणैः ।। १३५ ।।
कृत्वाऽश्रुपातं शोकं वा विप्रयोगनिमित्ततः ।
स्नानादृते न कुर्याद् वै देवाग्निपितृतर्पणम् ।। १३६ ।।
आ नाभिवर्[2]धनात् कालादन्यत्र सति सङ्करे[3] ।
सूतकाख्ये न कर्तव्यं प्रागुक्तं चैव यत्नतः ।। १३७ ।।
स्वानुष्ठानं हि वै यस्मादागमात् समुपागतम् ।
तस्य सम्पूजनं यत्नाद् गोपनं च समाचरेत् ।। १३८ ।।
ब्राह्मणादीन् यथाशक्ति दीनानाथांश्च पालयेत् ।
एवं हि समयान् दद्याद् भक्तानां भावितात्मनाम् ।। १३९ ।।
सम्पालनाच्च येषां वै प्राप्नुयान्मन्त्रजं फलम् ।
इष्ट्वैवं हि ततः कुर्यात् सेचनं कलशेन तु ।। १४० ।।
आत्मनश्चानु भक्तानां नैवेद्यं प्रार्थयेत्[5] ततः ।
ब्राह्मणाय च तद्द्याद् न्यस्तमाहृत्य[4] मन्त्रराट् ।। १४१ ।।

एवं च—

अत्र दद्यात् सुवर्णं वा भूमिं गां तुरगं रथम् ।
छत्रं छागं वस्त्रमाल्ये शयनं वासनं गृहम् ।।
धान्यं गुडं तिलं सर्पिरन्यद्वास्ति गृहे वसु ।
आयान्ति पितरो देवा जाते पुत्रे गृहं प्रति ।।
तस्मात् पुण्यमहः प्रोक्तं भारते चादिपर्वणि ।

इत्युक्तप्रकारेणापि स्पष्टमेव श्रीनृसिंहो भजनीय इति फलितोऽर्थः । मन्त्रमण्डलमुद्राणां गोपनं पूर्वमुक्तम् । स्वानुष्ठानमित्यनेन शास्त्रस्यैव गोपनमुक्तमिति ज्ञेयम् ।।१३८-१४०।।

शिष्यस्य महाकुम्भोदकेनाभिषेकमाह—इष्ट्वेत्यर्धेन । एतत्क्रमो विस्तरेण वक्ष्य[6]माणो ग्राह्यः ।

स्वानुयागार्थं कारिप्रदानार्थं च देवं हविः प्रार्थयेदित्याह—आत्मन इत्यर्धेन ।

१. बिम्बं—अ० उ० । २. भिर्व—अ० । ३. संकटे—अ० । ४. तत्समाहृत्य—अ० उ०, हृद्यं मेध्यं च शोभनम्—मु० अटी० बक० बख० । ५. स्याऽर्गो—म० । ६. शिष्यस्याभिगमदीक्षाभिषेकादयो विषया अग्रिमेषु त्रिषु (१८–२०) अध्यायेषु विस्तरेण प्रतिपादिताः ।

क्षमापयेत् ततो देवं यत्र यत्रावतारितम्[1] ।
अथ शिष्टैस्तु नैवेद्यैर्यजेद् गणपतिं प्रभुम् ॥ १४२ ॥
विष्वक्सेनाभिधानं चाप्यर्घ्याद्यैरर्चितो हि यः[2] ।
चरुरूपेण[3] चान्नेन सोदकेन हृदा ततः ॥ १४३ ॥

कारिप्रदानमाह—ब्राह्मणायेत्यर्धेन। अत्रैकमूर्तेर्नृसिंहस्याराधनप्रकरणाद् ब्राह्मणायेत्येकवचनमुक्तम्, पूर्वं चातुरात्म्यार्चनप्रकरणात्—

संपूज्य गन्धधूपैश्च ततस्तु भगवन्मयान् ॥
यथाक्रमं समभ्यर्च्य नैवेद्यं प्रतिपाद्य च। (६।७४–७५) इति,
एवमुक्त्वा समभ्यर्च्य चतुरः पाञ्चरात्रिकान् ॥ (१४।३०)

इति च चत्वारः कारिणः प्रोक्ता इति ज्ञेयम्। तत्राप्यशक्तावेक एवोक्तः सप्तमपरिच्छेदे (७।७८)। तदानीमेकस्यैव चतुर्मूर्त्यात्मकत्वं बोध्यम्। न्यस्तमन्त्रराडाहृत्य हविषि न्यस्तं मन्त्रत्रयमुपसंहृत्येत्यर्थः। एवमेवोक्तं[4] पारमेश्वरादिष्वपि—

विनिवेश्य[5] च देवाय विन्यस्तानोदनोपरि ॥
बलवीर्यादिसन्मन्त्रान् रसवीर्यादिवर्जितान्।
ओमित्युपाहरेन्मन्त्री ततः संहृतिमुद्रया ॥ इति,
(१८।३८७–३८८)

अत्यन्तज्ञानसंपन्नान् यथोक्ताचारनिष्ठितान्।
समाहूयार्घ्यगन्धाद्यैः समभ्यर्च्य यथाक्रमम् ॥
भगवच्छेषमादाय न्यस्तमाहृत्य मन्त्रपम्।
प्राङ्निवेदनकाले तु चतुर्धा संविभज्य तम् ॥
प्रापणं मधुपर्काद्यमन्यच्चाभ्यवहारिकम्।
तेभ्यो दद्यादेकभागमर्घ्योदकपुरस्सरम् ॥ इति।

पूर्वं होमात् पूर्वं कारिप्रदानमुक्तम्, इदानीं होमानन्तरमपि कारिप्रदानस्योक्तत्वात् तस्य कालद्वयेऽन्यतरकर्तव्यत्वमुक्तं भवति ॥ १४०–१४१ ॥

अपराधक्षमापणमाह—क्षमापयेदित्यर्धेन। यत्र यत्र कुम्भे मण्डलेऽग्नौ चेत्यर्थः।
विष्वक्सेनार्चनमाह—अथेति। शिष्टैः कारिप्रदानावशिष्टैरित्यर्थः,

नैवेद्यैर्मधुपर्काद्यैर्मुख्यमूर्तेर्निवेदितैः ॥
द्विजप्राशनशिष्टैस्तु स्वयं प्राशनवर्जितैः। (२०।१३–१४)

इति पौष्करे विष्वक्सेनार्चनप्रकरणे व्यक्तोक्तेः ॥ १४२–१४३ ॥

---

१. णम्–उ०। २. वाप्यादावेवा–उ०। ३. चरुस्थेनापि–अ०उ०।
४. एवमेवोपबृंहितं–म०। ५. विनिवेद्य–मु०, संनिवेश्य–म०। ६. प्रदान–मु०।

बहिराराधनस्थानात् प्रादक्षिण्येन निक्षिपेत् ।
पूर्वादीशानपर्यन्तं मन्त्री भूतबलिं तदा[1] ॥ १४४ ॥
ततो विसर्जनं कुर्यादुपसंहृत्य चाखिलम् ।
विनिक्षिप्याम्भसो मध्ये पत्रपुष्पफलादि यत् ॥ १४५ ॥
निष्कामः पावनार्थं तु स्तोकमुद्धृत्य वै पुरा ।
सन्धाय[3] मन्त्रपूर्वं प्राक् तमश्नीयाच्च मौनवान् ॥ १४६ ॥
भोजनान्ते ततः कुर्यात् सम्प्राप्ते तु निशामुखे ।
मन्त्रजापं ततो ध्यानं तोयतर्पणपूर्वकम् ॥ १४७ ॥

ततः कुमुदादिभूतेभ्यो बलिदानमाह—चरुरूपेणेति सार्धेन ॥ १४३–१४४ ॥

विसर्जनमाह—तत इत्यर्धेन । विसर्जनमत्र विष्वक्सेनस्येति बोध्यम् । भगवद्विसर्जनं तु विष्वक्सेनार्चनात् पूर्वमेव कार्यम्, तच्च—"क्षमापयेत् ततो देवं यत्र यत्रावतारितम्" (१७।१४२) इत्यनेनैव सूचितं भवति । यतो मण्डलेऽग्नौ च भगवद्विसर्जनानन्तरं तस्मिन्नेव स्थाने विष्वक्सेनः पूजनीय इति जयाख्यपञ्चदशपटले (१५।२४२–२५०) विस्तरेण एतद्विधानमुक्तम्, अत्रापेक्षितं च । उपसंहृत्य चाखिलं परिवारदेवतासमूहं च विसृज्येत्यर्थः ।

विष्वक्सेनार्चनानन्तरं पत्रपुष्पफलान्नादीनां जलमध्ये प्रक्षेपम्, स्वप्राशनार्थं किञ्चिदंशस्य तत्पूर्वमेव प्रत्येकं स्थापनम्, तदर्चनानन्तरं प्राशनं चाह—विनिक्षिप्येति सार्धेन । अत्र निष्काम इत्यनेन सकामस्य विष्वक्सेनार्चनानन्तरं प्रत्येकमुद्धृतस्यापि प्राशनं वर्ज्यमिति ज्ञायते । तथा च पञ्चरात्ररक्षायामागमप्रामाण्यवचनम्[6]—

यतो भगवदर्थेन[7] त्यक्तं स्रक्चन्दनादिकम् ।
पश्चादभोग्यतां[8] याति विष्वक्सेनपरिग्रहात्[9] ॥
अत एव निवेद्यादि[10] ततः[11] प्रागेव सात्वतैः ।
[12]सेव्यते तेन तत् तेषामुत्कर्षस्यैव कारणम् ॥ (पृ० ८२–८३)

इति ॥ १४५–१४६ ॥

१. सदा–अ० । २. पत्रपुष्पादि निक्षिपेदिति सार्वत्रिकः पाठः । १०।५८ भाष्ये समुद्धृतः पाठो मूले स्थापितः । ३. सन्धार्य–अ० उ० । ४. पूतं–अ० उ० । ५. यत्तद–अ० । ६. आगमप्रामाण्यवचनमेतत् पञ्चरात्ररक्षायां नोपलभ्यते, अतः पञ्चरात्ररक्षापदमत्र आगमप्रामाण्यस्य विशेषणतया योजनीयम् । ७. र्थ्येन–अ० । ८. योग्य–अ० म० । ९. निवेदनात्–मु० । १०. द्यानि–अ० म० । ११. ततोऽर्वागेव–मु० । १२. सेव्यन्ते–अ० म० ।

तथैव[1] रात्रिशेषं तु कालं सूर्योदयावधि ।
कर्तव्यं सजपं ध्यानं नित्यमाराधकेन तु ॥ १४८ ॥
एवमेव विधानेन पूजयित्वा दिने दिने ।
जपेल्लक्षाष्टकं मन्त्री ततः सिद्ध्यति मन्त्रराट् ॥ १४९ ॥
ददाति मनसोऽभीष्टाः सिद्धीः सर्वानुरूपकाः ।
रुद्रादित्येन्द्रऋषिभ्यो भक्तेभ्य[2]श्च मयोदितम् ॥ १५० ॥
लोकचित्तानुसारेण शास्त्रं वै युगभेदतः ।
यागो यागोपकरणं विमलं प्रतिमादिकम् ॥ १५१ ॥
ज्ञातव्यं तत् त्वया सम्यगविरोधेन सर्वदा ।
आगमेभ्योऽथ तज्ज्ञेभ्यः सकाशादात्मसिद्धये ॥ १५२ ॥
अ[3]थोक्तमिह संक्षेपाद् वदेदन्यत्र विस्तरात् ।
अथ संसाधितं मन्त्रं ब्रह्मचर्यादिसंयमैः ॥ १५३ ॥
पयोयावकशाकाम्बुघृतमूलफलाशनैः ।
मन्त्री यथा प्रयुञ्जीयाच्छान्तिकादिषु तच्छृणु ॥ १५४ ॥

अथ भोजनानन्तरमा सायं सद्ध्यानमन्त्रजपं सायंकाले जलमध्ये स्वमन्त्रार्चनतर्पणं तदारभ्य सूर्योदयावधि च सध्यानजपमाह—भोजनान्त इति द्वाभ्याम् ॥१४७–१४८ ॥

एवं प्रत्यहं भगवदर्चनपूर्वकं शिष्यैर्लक्षाष्टसंख्याके जपे कृते मन्त्रसिद्धिर्भवति, ततः स्वेष्टसिद्धिश्च भवतीत्याह—एवमेवेति सार्धेन ॥ १४९–१५० ॥

अनुक्तमन्यतो ग्राह्यमित्याह—रुद्रादित्येत्यादिभिः । अविरोधेन स्वोक्तार्थाविरोधेनेत्यर्थः ॥ १५०–१५२ ॥

एवं पयोयावकादिप्राशनब्रह्मचर्यनियमैः साधितस्य मन्त्रस्य शान्तिकादिषु प्रयोगक्रमं शृण्वित्याह—अथेति द्वाभ्याम् ॥ १५३–१५४ ॥

---

१. तथैवं–मु० अटी० । २. भ्यो यन्म–अ० उ० । ३. यथो–मु० बक० बख० ।

ज्ञात्वादौ स्वशरीरोत्थैर्लौकिकैरपि लक्षणैः ।
प्राप्तेन स्वप्नयोगेन संस्थितिं जीवितस्य च ।। १५५ ।।
ततः शल्यविनिर्मुक्तं[1] स्थानमासाद्य शोभनम् ।
संच्छन्नं शरजालेन साम्बरेणाथवा गृहम् ।। १५६ ।।
तत्र[2] मण्डलमालिख्य सर्वोपकरणान्वितम् ।
चन्दनक्षोदयुक्तेन शशिना सहितेन च ।। १५७ ।।
सुगन्धशालिचूर्णेन प्रागुदीरितलक्षणम् ।
निर्व्रणं[3] लक्षणाढ्यं च पूरितं गालिताम्भसा ।। १५८ ।।
हेमरत्नौषधीवृक्षशाखादूर्वाफलोदरम् ।
धूपिताहतशुष्केण[4] वाससा परिवेष्टितम् ।। १५९ ।।

पूर्वं शान्तिविधिमाह—ज्ञात्वेत्यारभ्य इति शान्तिविधानं चेत्यन्तम् । शशिना कर्पूरेण । नाम साध्यनामधेयमित्यर्थः । साध्यनामधेयप्रकारः पारमेश्वरे प्रतिपादितः—

साध्यनामस्वरूपं तु व्यापकं वक्ष्यते पुनः ॥
तारान्ते बीजशक्तिश्च दैवतं तस्य चेत् ततः ।
शान्तिं पुष्टिं च वश्यं च विजयं चैवमादिकम् ॥
द्वितीयान्तं समुच्चार्य कुरुवीप्सान्वितं ततः ।
यच्छ-यच्छ-पदान्तं[5] वा प्राक्स्थितैः प्रणवान्तिमैः ॥
अङ्कयेदवसाने च साध्यलक्षणमीरितम् ।। (२४।११६–११९) इति ।

सान्तर्गतं सकारान्तर्गतमित्यर्थः । अरान्तोपगतेन बीजेन, अनुस्वारेणेत्यर्थः । नाभितुर्यं वकारम्, तच्चतुर्थान्तं नाभिचतुर्थान्तम्, वकारान्तमिति यावत् । मन्त्रेशं श्रीनृसिंहबीजम् । नेमिनवमं टकारमित्यर्थः ।

तथा च प्रयोगः—आदौ स्वशरीरोत्थैर्लौकिकैर्लक्षणैः प्राप्तेन स्वप्नयोगेन च जीवितस्य संस्थितिं ज्ञात्वा सर्वशल्यविनिर्मुक्तं शोभनं स्थानमासाद्य केवले(न) शरजालेन सवस्त्रेण वा समाच्छादितं यागगेहं परिकल्प्य तत्र मध्ये वेदिकायां चन्दनचूर्णमिश्रेण कर्पूरसहितेन सुगन्धशालिचूर्णेन—

चतुरश्रं चतुर्द्वारं मार्गपीठाब्जभूषितम् ॥
त्रिनाभिनेमिषडरं चक्रं तु कमलाद् बहिः । (१७।४९–५०)

---

१. शल्यादिनि—मु० वक० वख०, कल्पा—अ०, शाल्या—अटी० । २. मन्त्र—बक० ।
३. निर्घृणं—अ० अटी० । ४. शुक्लेन—अ० । ५. यच्च यच्च—अ० म० ।

सुसमाधारसंस्थं च बाह्यतो मण्डलस्य च ।
विन्यसेत् समसूत्रेण दिग्विदिक्कलशाष्टकम् ॥ १६० ॥
सुधाचन्दनलिप्ताङ्गं[२] लाजतण्डुलपूरितम् ।
श्वेतपट्टगलोपेतं सितपुष्पस्रगन्वितम् ॥ १६१ ॥
मुक्ताफलोदरं चैव बीजमल्लकभूषितम्[३] ।
उपकुम्भाष्टकं त्वेवं कुम्भानामुपरि न्यसेत् ॥ १६२ ॥
श्वेतचामरसंयुक्तं सितमूर्ध्ववितानकम् ।
बद्ध्वा सितेन सूत्रेण सप्तधा कलशाष्टकम् ॥ १६३ ॥
संवेष्ट्य कण्ठदेशान्तं त्वच्छिन्नेन दृढेन च ।
कृत्वैवं च ततः स्नायात् कुर्यान्न्यासादिकं ततः ॥ १६४ ॥
निशाम्बुना चन्दनेन श्वेतदूर्वाङ्कुरेण च ।
सुश्लक्ष्णभूर्जपत्रे तु नाम सान्तर्गतं लिखेत् ॥ १६५ ॥

इत्युक्तलक्ष(ण?णं) मण्डलमालिख्य नि(पु?व्रणं) सलक्षणं गालितोद(कं?क)पूर्णं हेमरत्नसर्वौषधिपल्लवदूर्वाफलपूरितं सुधूपिताहतशुक्लवस्त्रपरिवेष्टितं महाकु(म्भ?म्भं) मण्डलस्य वहिः पूर्वभागे आधारचक्रिकोपरि संस्थाप्य तत्परितोऽष्टदिक्ष्वपि तथाविधं कलशाष्टकं विन्यस्य सुधाचन्दनलिप्ताङ्गं तण्डुलपूरितं शुक्लकौशेयपरिवेष्टितकण्ठं शुक्लपुष्पमालिकालङ्कृतं मुक्ताफलोदरं बीजपूरितशरावपिहितमुपकुम्भाष्ट(क?कं) दिक्कलशानामुपरि विन्यस्य यागगेहं श्वेतचामरसंयुक्तसितदुकूलवितानकैरलङ्कृत्याच्छिन्नेन दृढेन सितेन सूत्रेण कलशाष्टकं कण्ठदेशान्तं सप्तवारं परितः संवेष्टयेत् । एवं सर्वोपकरणानि संपाद्य यथाविधि स्नात्वा मन्त्रन्यासादिकं कृत्वा हरिद्रोदकविमिश्रितेन चन्दनेन दूर्वाङ्कुरेण लेखिन्या सुश्लक्ष्णे भूर्जपत्रमध्ये सकारान्तर्गतं साध्यनाम विलिख्य तद्बहिः सकर्णिकमष्टपत्रं कमलं विलिख्य पत्राष्टकेऽधोवक्त्रं वकारं विलिख्य तदन्तः प्रणवनमःसंपुटितं वकारान्वितं नृसिंहबीजं विलिख्य कमलाद् बहिरूर्ध्वमुखमधोमुखं च संख्याहीनं टङ्कारमूर्मिकारूपेण परितः संलिख्य तद्यन्त्रं सितसूत्रेण संवेष्टयार्घ्यकुम्भे निधाय मण्डलाग्रे शालिचूर्णपरिकल्पिते स्थण्डिले तं कुम्भं निधाय मण्डले स्वहृदयान्मन्त्रनाथमावाह्य तत्र श्वेतैरुपचारैरभ्यर्च्य पूर्णेन्दुमण्डलान्तस्थं सुधारसमुद्-

१. कमला—मु० अटी० बक० बख० । २. ङ्गला—मु० अटी० बक० बख० । ३. मल्लिक—अ०, जामलक—मु० । ४. नमसा—अटी० । ५. तं हत—अ० । ६. वितत—म० । ७. पत्रे—म० ।

अरान्तोपगतेनैव कुर्याद् बीजेन संयुतम् ।
कमलं तद्बहिर्लेख्यमष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥ १६६ ॥
नाभितुर्य[1]मधोवक्त्रं व[2]र्णपत्राष्टकं लिखेत् ।
तदन्तस्तच्चतु[3]र्थान्तं मन्त्रेशं च लिखेत् परम् ॥ १६७ ॥
नतिप्रणवगर्भं[4] तु ततः कमलबाह्यगम् ।
विलिख्य नेमिनवमं द्विधोर्ध्वाधोमुखं तु वै ॥ १६८ ॥
संवेष्ट्य सितसूत्रेण अ[5]र्घ्यकुम्भे निवेशयेत् ।
आधारे शालिचूर्णीये मण्डलाग्रे निधाय तम् ॥ १६९ ॥
आवाह्य मण्डले मन्त्रं प्राग्वद् हृदयकोटरात् ।
ततः श्वेतोपचारेण[6] तत्र मन्त्रेश्वरं यजेत् ॥ १७० ॥
पूर्णेन्दुमण्डलान्तस्थमुद्गिरन्तं सुधारसम् ।
शशाङ्कशतसङ्काशं ध्यात्वा सपरिवारकम् ॥ १७१ ॥
य[7]च्छ यच्छ महाशान्तिं पूजान्ते समुदीरयेत् ।
ततः शशाङ्कदिग्भागे कुण्डे पूर्णेन्दुलक्षणे ॥ १७२ ॥
क्षीरतण्डुलमध्वाज्यै[8]र्गु[9]ग्गुलेन तिलेन च ।
सचन्दनेन होमं तु सप्तरात्रं समाचरेत् ॥ १७३ ॥
पयोभुक् परमेशं च प्रहराष्टकमर्चयेत् ।
होमान्ते कलशस्थस्य पयसा शीतलेन तु ॥ १७४ ॥

गिरन्तं शशाङ्कशतसंकाशं सपरिवारं मन्त्रनाथं ध्यात्वा पूजान्ते महाशान्ति यच्छ यच्छेति प्रार्थयेत् । तत उत्तरदिग्भागे पूर्णेन्दुसदृशे वृत्तकुण्डे क्षीरतण्डुलमधुघृतगुग्गुल-तिलचन्दनैः सप्तभिर्द्रव्यैः सप्तरात्रं होममाचरन्, केवलपयःप्राशनं कुर्वन्, परमेशं मन्त्रनाथं प्रत्यहं प्रहराष्टकेऽप्यर्चयन्, होमान्ते कलशस्थस्य भगवतः पयसा शीतलोदकेन च प्रहराष्टकेऽपि सेचनं कुर्वन्, प्रत्यहं स्नानान्ते साधकस्य ब्रह्मरन्ध्रोपर्यमृतं स्रवन्तं मन्त्रनाथं स्मरेत् । अनेन शान्तिर्भवति ।

---

१. मथो–अटी० । २. वर्णं–अ० उ० । ३. र्थ्यन्तं–मु० अटी० बक० बख०, र्थस्थं–अ० उ० । ४. कम्–बक० बख० अ० उ० । ५. अपि–मु०, अवि–अटी०, उप–अ०, अप्कुम्भेऽपि–उ० । ६. ततश्चेतोपचारेणातन्त्रं–मु० अटी० । ७. यच्च यच्च–मु० अटी० बक० बख० । ८. ध्वाज्यगु–उ० । ९. छन्दैः–अ० ।

सेचनं चाम्भसा कुर्यात् प्रत्यहं प्रहराष्टकम् ।
स्नानान्ते ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्वे संस्मरेन्मन्त्रनायकम् ॥ १७५ ॥
स्रवन्तममृतं त्वेवं[1] शान्तिर्भवति शाश्वती ।
अथवाऽऽदाय[2] मृत्पात्रं वैदलं वाऽथ काष्ठजम् ॥ १७६ ॥
तत्र पङ्कजवत् कुर्याद् रचनामोदनेन च ।
पिष्टनिर्मितपात्राणां सम्प्रज्वाल्य घृतेन तु ॥ १७७ ॥
दीपाष्टकं ततः पूजां कुर्यात् पूजादिकैर्बलैः ।
स्विन्नानि सप्तबीजानि विकीर्य च तदूर्ध्वतः ॥ १७८ ॥
ततोऽर्चिते तोयकुम्भे धूपपात्रं तु विन्यसेत् ।
अच्छिन्नधूपप्रसरं त्रैकाल्यं च बलिं हरेत् ॥ १७९ ॥
शान्त्यर्थं[3] देशपालानां भूतानामेवमेव हि ।
पृष्ठे चोदकधारां वै अच्छिन्नां पदसप्तकम् ॥ १८० ॥
शान्तये बलिमन्त्राणां[4]मस्त्रमन्त्रेण पातयेत् ।
इति शान्तिविधानं च पौष्टिकं च निबोधतु ॥ १८१ ॥
कुङ्कुमक्षोदमिश्रेण कुसुम्भरजसा तु वै ।
पूर्ववन्मण्डलं कुर्याद् रक्तचन्दनभूषितम् ॥ १८२ ॥

अथवा मृण्मयं वैदलं काष्ठजं वा पात्रमादाय तत्र केवलान्नेनाष्टपत्रं कमलं विरचय्य तद्दलाष्टके पिष्टनिर्मितघृतपूरितप्रज्वालि[5]तदीपाष्टकं विन्यस्य पुष्पादिभिरभ्यर्च्य स्विन्नानि[6] सप्तविधबीजानि तदुपरि विकीर्यैकं तोयकुम्भमभ्यर्च्य तदुपरि धूपपात्रं निधायाच्छिन्नधूपप्रसरं यथा तथा कालत्रयेऽपि देशपालानां[7] भूतानां बलिं हरेत् । बलिधर्तॄणां पृष्ठे सप्तपदावधि शान्त्यर्थमच्छिन्नां करकोदकधारामस्त्रमन्त्रेण सेचयेत् ॥ १५५–१८१ ॥

इति शान्तिविधिः ॥

अथ पौष्टिकविधिमाह—पौष्टिकं च निबोधतु इत्यारभ्य विधिनानेन सर्वदेत्यन्तम् । नाम साध्यनामधेयम् । पूर्ववत् पद्मगर्भस्थं लिखेत्, कर्णिकामध्ये लिखेदित्यर्थः ।

---

१. चैवं–अ०, चैव–उ० । २. अथादाय तु–अ०, अथादाय च–उ० । ३. शान्त्यर्थी–अ० । ४. धर्तॄणां–अ० उ० । ५. प्रज्व–अ० । ६. स्विन्नादि–अ० । ७. कालानां–अ० ।

नीवारतण्डुलैनैव ताम्रवर्णैस्तिलैः[1] शुभैः ।
सम्पूर्य बदरोपेतैरुपकुम्भाष्टकं हि यत् ॥ १८३ ॥
सोपकुम्भानि कुम्भानि रक्तसूत्रेण वेष्टय च ।
शेषं यद्विहितं चात्र तत्तद् रक्तं प्रकल्पयेत् ॥ १८४ ॥
ततः स्नातः कृतन्यासो नाम रोचनया लिखेत् ।
अलक्तकाम्बुयुक्तेन सान्द्रदर्भाङ्कुरेण तु[2] ॥ १८५ ॥
पूर्ववत् पद्मगर्भस्थं ततः पत्रेष्वधोमुखम् ।
बीजं नियोजयेत् तन्मे गदतश्चावधारय ॥ १८६ ॥
नेमेरेकोनविंशाख्यवर्णस्याधोगतं न्यसेत् ।
बीजं नाभितृतीयं यत् तदधः पञ्चमारगम् ॥ १८७ ॥
शिरसाऽरान्तपूर्वेण युक्तं बाह्याद् दशादिना ।
तदन्तस्थं न्यसेद् बीजं नाभितुर्यासनस्थितम् ॥ १८८ ॥
नाभिसप्तमगर्भेऽथ विन्यसेत् कमलं तु तत् ।
बीजं पुष्टिपदोपेतं कुरुवीप्सासमन्वितम् ॥ १८९ ॥
लिखेत् प्रणवपूर्वं तु बहिरष्टासु दिक्षु वै ।
संवेष्टय रक्तसूत्रेण मधुतोयघटे न्यसेत् ॥ १९० ॥

नेमेरेकोनविंशाख्यवर्णस्य बकारस्य नाभितृतीयं बीजं लकारं पञ्चमारगम् उकारमरान्तपूर्वेणानुस्वारेण बाह्याद् दशादिना टकारेणेत्यर्थः । नाभितुर्यासनस्थितं पूर्ववद् वकारस्योपरि स्थितं बीजं नृसिंहबीजं तदन्तस्थं न्यसेत्, कर्णिकामध्ये विलिखेदित्यर्थः । नाभिसप्तमगर्भे सकारगर्भे इत्यर्थः । बीजं नृसिंहबीजम् । पुष्टिपदोपेतं कुरुवीप्सासमन्वितं पुष्टिं कुरु कुरु इत्यनेनान्वितमित्यर्थः ।

तथा च प्रयोगः—कुङ्कुमक्षोदमिश्रेण कुसुम्भरजसा पूर्ववन्मण्डलमालिख्य रक्तचन्द्रकभूषितं[3] कृत्वा कुम्भस्थापनादिकं सर्वं पूर्ववत् कृत्वोपकुम्भाष्टकं तु नीवारतण्डुलैस्ताम्रवर्णैस्तिलैर्बदरीफलैरापूर्य दिक्कुम्भानामुपरि संस्थाप्य (तां?तान्) रक्तसूत्रेण सप्तधा संवेष्टयेत् । अन्यच्चोपयुक्तं यद्यत् तत्सर्वमपि कल्पयेत् । ततः स्नात्वा कृतन्यासादिकोऽलक्तकाम्बुमिश्रया रोचनया दृढदूर्वाङ्कुरेण लेखिन्या भूर्जपत्रे पद्मगर्भमध्ये साध्यनाम विलिख्याष्टपत्रेष्वधोमुखं ब्लूमिति बीजं विलिख्य परितः पूर्ववत् टङ्कारं

---

१. सितैः—मु० । २. च—बख० उ० । ३. चन्दनेति मूलस्थः पाठः ।

निधाय पूर्ववत् कुर्याद् दिग्बन्धं हृदयादिकैः ।
अस्त्रेण तु विदिग्बन्धं [1]नेत्रेणोर्ध्वमधस्तथा ॥ १९१ ॥

ततो विद्रुमसंकाशं मन्त्रमावाह्य संयजेत् ।
[2]अथो मन्त्रगणं सर्वं लोके शास्त्रान्तसंयुतम् ॥ १९२ ॥

रक्तैरकण्टकैर्हृद्यैरर्चनं कुसुमैर्हितम् ।
राजमुद्गैस्तु नैवेद्यं युक्तमत्र गुलोदनम् ॥ १९३ ॥

गुलरञ्जितभक्ष्याणि कुर्यान्नानाविधानि वै ।
सम्भवे सति वै रक्तं सर्वं कार्यमसम्भवे ॥ १९४ ॥

रञ्जयेत् कुङ्कुमाद्येन केनचिद् रक्तधातुना ।
सर्वं जपावसानं तु कृत्वा होमं समाचरेत् ॥ १९५ ॥

घृतैस्तिलैस्तु पूर्वोक्तैः शर्कराबदरान्वितैः ।
दत्वा पूर्णाहुतिं कुर्यात् सेचनं शर्कराम्भसा ॥ १९६ ॥

पूर्ववन्मन्त्रनाथस्य साध्यगर्भीकृतस्य च ।
ततः पूर्वोक्तविधिना बलिकर्म समाचरेत् ॥ १९७ ॥

विलिख्य पूर्ववद् वकारान्वितं नृसिंहबीजं वर्णिकान्तर्विलिख्य तत्कमलं सकारगर्भे विन्यस्य तदष्टदिक्षु ॐ पुष्टिं कुरु कुर्विति विलिख्य तद्यन्त्रं रक्तसूत्रेण संवेष्ट्य मधूतोयकुम्भे विन्यस्य तं पूर्वोक्तस्थाने निधाय हृदादिभिश्चतुर्मन्त्रैः प्रागादिदिक्चतुष्टय-मस्त्रमन्त्रेण विदिक्चतुष्टयमस्त्रमन्त्रेणाध ऊर्ध्वं च बद्ध्वा ततो देवमावाह्य [3]विद्रुमाभं ध्यात्वा पूर्वं मण्डलोक्तेन परिवारमन्त्रगणेन सह रक्तवर्णैः कुसुमादिभी राजमुद्गाख्यै-र्बीजैर्गुलोदनैर्गुलरञ्जितै[4]र्भक्ष्यैश्च यथाविधि देवं यजेत् । एवं च सर्वमुपचारगणं रक्तवर्णं कुर्यात् । तदसंभवे कुङ्कुमादिना गैरिकादिधातुना वा रक्तीकुर्यात् । एवं जप-यज्ञान्तमभ्यर्च्य घृतैः शर्कराबदरफलान्वितैस्ताम्रवर्णैस्तिलैश्च यथाविधि पूर्णाहुत्यन्तं हुत्वा पूर्ववत् कुम्भस्थस्य देवस्य शर्कराम्भसा सेचनं कृत्वा पूर्वोक्तरीत्या बलिकर्म

---

१. नेत्रेण तु अधोर्ध्वतः—अ० उ० । २. अथ—ब्रह्म० उ०, तथा—अ० ।
३. विद्रुमाङ्गं—अ० । ४. रञ्जिते—अ० ।

सप्तरात्रं त्रि[1]रात्रं वा पुष्टिरुत्पद्यते महत् ।
प्रभावान्मन्त्रराजस्य विधिनानेन सर्वदा ॥ १९८ ॥
अथानेन हि मन्त्रेण कुर्यादाप्यायनं तु वै ।
प[2]रस्य चात्मनो मन्त्री यथा तदवधारय ॥ १९९ ॥
मण्डलं म[3]ण्डनायुक्तं चतुर्वर्णकभूषितम् ।
वस्त्रस्रग्दर्पणोपेतं किङ्किणीर्व्यंजनान्वितम् ॥ २०० ॥
घृतेन मधुना दध्ना पयसा सुश्रितेन च ।
व्यस्तेन उपकुम्भौ तु द्वौ द्वौ सम्पूर्य यत्नतः ॥ २०१ ॥
मधूकफलकर्पूरद्राक्षामलफलैस्ततः ।
पात्राण्यापूर्य कुम्भानां वक्त्रदेशे निधाय च ॥ २०२ ॥
साङ्कुराणि शरावाणि सिक्तानि शिशिराम्भसा ।
सुधाचन्दनलिप्तानि सितपुष्पान्वितानि च ॥ २०३ ॥

च कुर्यात् । एवं सप्तरात्रं त्रिरात्रं वा कृते मन्त्रमहिम्ना महती पुष्टिरुत्पद्यते ॥ १८१–१९८ ॥

इति पौष्टिकविधिः ॥

अथाप्यायनविधिमाह—अथानेन हि मन्त्रेणेत्यारभ्य कुर्यादाप्यायनं भवेदित्यन्तम् । सार्णमध्यगं सकारान्तर्गतमित्यर्थः । संज्ञापदं साध्यनामधेयमित्यर्थः । नाभिसप्तमवर्णं यत् सकारः, नाभितुर्योपरि स्थितं वकारोपरि स्थितमित्यर्थः । इदं प्रथमबीजम् । उत्तराश्रयोगेन तदेवादाय वैः पुनः । सकारस्याधो वकारं संयोज्येत्यर्थः । इदं द्वितीयबीजम् । नाभितृतीयं लकारं द्वाभ्यामधः, वक्ष्यमाणसकारवकारयोरित्यर्थः । तत्रापि नाभेः सप्तमं सकाराख्यं वर्णम्, अधःस्थम्, तच्चतुर्थं वकाराख्यं वर्णं मूर्धनि । इदं तृतीयबीजम् । सप्तमं सकारम्, तृतीयं लकारम्, नेमिवर्गादूनविंशकं बकारम् । इदं चतुर्थबीजम् । भूयो नेमेर्स्तमादाय सकारमादायेत्यर्थः । नाभिसप्तमपृष्ठगं सकारोपरि स्थितमित्यर्थः । नाभिदेशात् तृतीयं लकारमित्यर्थः । इदं पञ्चमबीजम् । सर्वेषां पञ्च(म?)बीजानामित्यर्थः । पञ्चमारगसंयुतम् उकारान्वितं नाभिपूर्वं यकारम् आसनं निदध्याद् अधः संयोजयेदित्यर्थः । अरोपान्त्यगतेन अनुस्वारा-

---

१. द्विरात्रं–अ० । २. परस्येवा–मु०, परस्यैवा–अटी०, परस्य वा–अ०, परमस्यात्मनो–उ० । ३. मधुना–मु० अटी० । ४. व्यञ्जन–मु० । ५. युतम्–बक० बख० अ० उ० । ६. युतः–अ० । ७. माधाय–म० । ८. स्तदादाय–म० ।

चर्चितानि सिताघ्र्येण[1] योज्य कुम्भान्तरावनेः ।
सितरक्तं तु हेमाभं पुष्पाद्यमखिलं हि यत् ॥ २०४ ॥
उपचारे तु विहितं तदादृत्याखिलं तु वै ।
कृताह्निकः शुद्धवासाः[2] सिंहमन्त्राभिधानधृक् ॥ २०५ ॥
सकुङ्कुमेन क्षीरेण ईषदिक्षुरसेन च ।
तथा च मधुना भूर्जे वस्त्रे वा सार्ण[3]मध्यगम् ॥ २०६ ॥
दत्वा संज्ञापदं[3] कुर्याद् बाह्ये पद्मं चतुर्दलम् ।
तद्बहिर्द्विगुणैः पत्रैः कर्णिकाकेसरान्वितम् ॥ २०७ ॥
द्विषट्कपत्रं तदनु तद्बहिः षोडशच्छदम् ।
ततस्त्रिरष्टपत्रं तु तद्बाह्ये वृत्तमालिखेत् ॥ २०८ ॥
अधोमुखं तु सर्वेषां दलानां बीजपञ्चकम् ।
क्रमेण पूर्वपद्मात् तु योजनीयं हि तच्छृणु ॥ २०९ ॥
नाभिसप्तमवर्णं[6] यन्नाभितुर्यो[4]परि स्थितम् ।
उत्तराधरयोगेन तदेवादाय वै पुनः ॥ २१० ॥
अथ नाभितृतीयं तु [5]अधो द्वाभ्यां तु विन्यसेत् ।
अधःस्थं सप्तमं नाभेस्तच्चतुर्थं तु मूर्धनि ॥ २११ ॥

न्वितेन नेमेर्नवमेन टकारेण शिरसा लाञ्छयेत् टकारमुपरि न्यसेदित्यर्थः । नाभीय-तुर्यवर्णान्तं प्राग्वन्मध्येऽत्र मन्त्रराट् । प्राग्वत् शान्तिकपौष्टिकोक्तवदित्यर्थः । मध्ये कर्णिकामध्ये नाभीयतुरीयवर्णान्तं वकारान्तमित्यर्थः । मन्त्रराट् नृसिंहबीजमित्यर्थः । वौषट्पदद्वयान्तस्थमित्यपि मन्त्रराडित्यस्यैव विशेषणम् । केवलं बीजं वकाररहितं नृसिंहबीजमित्यर्थः । अरावसानसंभिन्नं विसर्गान्तमित्यर्थः । नाभिसप्तमं सकारम्, तेन युक्तं नृसिंहबीजमित्यर्थः । नाभेः सप्तमबीजं सकारम्, तच्चतुर्थासनस्थितं वकारोपरि स्थितम् । अराच्चतुर्दशेन औकारेण, तदन्तेनानुस्वारेण । एतत्संपुटमध्यस्थं स्वामित्य-क्षरद्वयसंपुटितं नृसिंहबीजमित्यनुषङ्गः । नाभितुर्यं वकारम्, तत्सप्तमोपरि स्थितं सकारोपरि स्थितमित्यर्थः । नेमेर्नवमबीजेन टकारेण, अरान्ताद्येन अनुस्वारेणेत्यर्थः ।

---

१. द्येन–उ० । २. शुक्ल–मु० अटी० बक० बख० । ३. पर्न–बक० बख० उ० । ४. दयस्थि–अ० । ५. अधोर्ध्वाभ्यां–अ० उ० । ६. तुर्य–म० ।

ततः सप्तममादाय तृतीयं तदधो न्यसेत् ।
तदधो नेमिवर्णाच्च योजयेदूनविंशकम् ॥ २१२ ॥
भूयो नेमेस्तथादाय नाभिसप्तमपृष्ठगम् ।
तस्याप्यधस्तृतीयं तु[1] नाभिदेशाच्च विन्यसेत् ॥ २१३ ॥
सर्वेषां नाभिपूर्वं तु पञ्चमारगसंयुतम् ।
निदध्यादासनं पश्चाच्छिरसा लाञ्छयेत् क्रमात् ॥ २१४ ॥
नवमेन तु वै नेमेरुपान्त्यगतेन तु ।
नाभीयतुर्यवर्णान्तं[2] प्राग्वन्मध्येऽत्र[3] मन्त्रराट् ॥ २१५ ॥
वौषट्पदद्वयान्तस्थमथ[4] बीजं हि केवलम् ।
दलान्तरालभूमौ तु चतुष्पत्रस्य योजयेत् ॥ २१६ ॥
अरावसानसंभिन्नं कृत्वा वै नाभिसप्तमम् ।
तेन युक्तं तथा दद्यादष्टपत्रस्य सन्धिषु ॥ २१७ ॥
तेनैव नाभितुर्यं[5] तु भेदयित्वा तदन्तगम्[6] ।
कृत्वा[7] बीजवरं कुर्याद् द्विषट्पत्रान्तरालगम् ॥ २१८ ॥
वषट्कारपदोपेतं बीजं शीताम्बुसन्निभम्[8] ।
न्यसेत् षोडशपत्रस्य सन्धिदेशगतं ततः ॥ २१९ ॥

अथ प्रयोगः--अत्र पूर्वोक्तमेव मण्डलं चतुर्वर्णभूषितं परिकल्प्य तद्यागस्थानं वितानपुष्पमालादर्पणकिङ्किणीचामरव्यजनादिभिरलङ्कृत्य घृतेन मधुना दध्ना सुश्रितक्षीरेण च प्रत्येकं द्वौ द्वावुपकुम्भौ संपूर्य मधूकफलकर्पूरद्राक्षामलकफलैः शरावाण्यापूर्य तान्युपकुम्भमुखेषु संस्थाप्य शिरोमन्त्रेणाम्भसा सिक्तानि सुधाचन्दनलिप्तानि सितपुष्पान्वितानि सितार्घ्येणार्चितानि साङ्कुराणि शरावाणि दिक्कुम्भान्तरालेषु संस्थाप्यात्रोपयुक्तं पुष्पादिकं सर्वं सितरक्तं हेमाभं चाहरेत् । ततः कृताह्निकः शुद्धवासाः साधको मन्त्रन्यासादिकं कृत्वा नृसिंहोऽहमिति तदभिमानमाश्रित्य सकुङ्कुमेन क्षीरेणेषदिक्षुरसमधुभ्यां विमिश्रितेन भूर्जपत्रे सकारान्तर्गतं साध्यनामधेयं विलिख्य तद्बहिश्चतुर्दलपद्मं तद्बहिः कर्णिकाकेसरान्वितमष्टदलं पद्मं तद्बहिर्द्वादशदलं पद्मं तद्बहिः षोडशदलं पद्मं तद्बहिश्चतुर्विंशतिदलं पद्मं[9] तद्बहिरेकं वृत्तं चालिख्य चतुर्दलेषु स्म्युंट् इति

१. च—बक० बख० उ० । २. वर्णानामिति सार्वत्रिकः पाठः । ३. ध्येऽथ—अ० । ४. पदा—अ० । ५. र्यस्तु—अ० । ६. कम्—अटी०, रम्—अ० । ७. पङ्क्तिरेषा नास्ति—उ० । ८. पीता—मु० अटी० । ९. 'पद्मं' नास्ति—अ० ।

नाभेः सप्तमबीजं तु तच्चतुर्थासनस्थितम् ।
[1]अराच्चतुर्दशेनैव तदन्तेनाभिभूषितम् ॥ २२० ॥
एतत्सम्पुटमध्यस्थं क्षरन्तममृतं महत् ।
पूर्ववद् बाह्यपद्मस्य प्रादक्षिण्येन विन्यसेत् ॥ २२१ ॥
नाभितुर्यमथादाय स्थितं तत्सप्तमोपरि ।
नेमेर्नवमबीजेन [2]अरान्ताद्येन चाङ्कयेत् ॥ २२२ ॥
बीजमेतन्नियोक्तव्यं संख्याहीनं निरन्तरम् ।
ऊर्मिभूतं बहिष्ठस्य [3]पयोजावरणस्य च ॥ २२३ ॥
[4]लिख्यैवं सितरक्तेन पीतसूत्रेण वेष्टयेत् ।
माध्विक्षुरस [5]आम्राम्बुपूर्णकुम्भे[6] नियोज्य च ॥ २२४ ॥
चन्दनेन समालिप्तं[7] कृत्वा पुष्पस्रगन्वितम् ।
तन्निधायोदिते स्थाने ततो मन्त्रेश्वरं यजेत् ॥ २२५ ॥
हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं परिवारसमन्वितम् ।
स्वच्छस्फटिकवर्णाभं हिमादधिकशीतलम् ॥ २२६ ॥
ध्यायेत् तं ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्वे सितं पद्ममधोमुखम् ।
तत्कर्णिकोदरे लीनं स्मरेद् गगनमण्डलम् ॥ २२७ ॥
प्रकाशितं [9]निशानाथमयूखाखिलतारकैः ।
विक्षिप्तवाहैराकीर्णं[8] सुरसिन्धुविनिर्गमैः ॥ २२८ ॥
अथार्घ्यपुष्पपूर्वाणां भोगानामर्चने विभोः ।
प्रागुक्तानां क्रमेणैव [10]अनुसन्धानमाचरेत् ॥ २२९ ॥

बीजम्, अष्टदलेषु प्स्युंट् इति बीजम्, द्वादशदलेषु स्फयुट् इति बीजम्, षोडशदलेषु स्प्युट् इति बीजम्,[11] चतुर्विंशतिदलेषु स्फयुट् इति बीजं चाधोमुखं विलिखेत्, कर्णिकामध्ये वौषट् स्वौं वौषट् इति विलिख्य चतुर्दशान्तरालेषु क्षौं इति केवलं नृसिंहबीजं विलिख्याष्टपत्रान्तरालेषु क्षः इति बीजं विलिख्य, द्वादशपत्रान्तरालेषु क्ष्वः इति विलिख्य, [12]षोडशदलान्तरालेषु वषट् क्षौं वषट् इति विलिख्य, चतुर्विंशतिदलान्तरालेषु स्वौं क्षौं

---

१. आरा–मु० । २. अन्तरा–बक० उ० । ३. वयो–अ० । ४. पङ्क्तिद्वयं नास्ति–उ० । ५. दूर्वा–बक० बख०, आर्द्रा–अ० । ६. कुम्भं–अ० । ७. लब्धं–अ० उ० । ८. समावृतम्–अ० उ० । ९. नाथं–बक० बख० उ० । १०. त्वनु–अ० उ० । ११. 'बीजम्' नास्ति–अ० । १२. 'षोडशदलेषु स्प्युट् इति चतुर्विंशतिदलेषु स्फयुट् इति बीजम्' वारद्वयं लिखितम्–अ० ।

यं यं संकल्पयेद् भोगं तं तं भाव्य सुधामयम् ।
पतन्तमम्बराद् वेगादमृतांशुपरिप्लुतम् ॥ २३० ॥
साक्षादमृतरूपस्तु[1] तैस्तैरमृतसम्भवैः ।
बृंहितं मुदितं मग्नं संप्लुतं मन्त्रराट् स्मरेत् ॥ २३१ ॥
ततोऽवतार्य हृदयात् साधनेन यजेद् बहिः ।
इष्ट्वाऽथ[2] वह्निगर्भस्थं ध्यात्वा सन्तर्पयेत् ततः ॥ २३२ ॥
सामलैराज्यसिक्तैस्तु विल्वैर्दूर्वाङ्कुरैर्नवैः ।
तिलैर्गोक्षीरसंयुक्तैर्लाजतण्डुलमिश्रितैः ॥ २३३ ॥
सिताज्यपुष्पसंयुक्तैर्दद्यात् पूर्णाहुतिं ततः ।
मधुक्षीरोदकेनाथ कुर्याद् द्वै मन्त्रसेचनम् ॥ २३४ ॥
घृतेन पायसान्नेन[3] पायसेन फलैः शुभैः ।
पूर्ववद् बलिदानं तु कुर्यादाप्यायनं भवेत् ॥ २३५ ॥

स्वौं इति विलिख्य, वृत्ताद् बहिः प्लंट् इति बीजं प्रादक्षिण्येन निरन्तरं संख्याहीनमूर्मिभूतं विलिख्य तद्यन्त्रं सितरक्तेन पीतसूत्रेण संवेष्टय मध्विक्षुरसपू(र्वा?र्ण)पूर्णकुम्भे निधाय तं कुम्भं चन्दनैरालिप्य पुष्पमाल्यैरलङ्कृत्य पूर्वोक्ते स्थाने निधाय स्वहृदयकमले समस्तपरिवारसमन्वितं स्वच्छस्फटिकसंनिभं हिमादधिकशीतलं श्रीमन्नृसिंहं ध्यात्वा तद्ब्रह्मरन्ध्रोपरि स्थितमधोमुखं पद्मं ध्यात्वा तत्कर्णिकायां परिपूर्णेन्दुमण्डलनक्षत्र-वृन्दमन्दाकिनीप्रवाहैराकीर्णं गगनमण्डलं संस्मृत्य

ततः खाब्जकमध्यात्तु ह्यूर्ध्वस्थां संस्मरेच्च्युताम् ।
गङ्गां भगवतो मूर्ध्नि तेनामृतजलेन तु ॥ (२।७४)

अर्घ्यादिभोगैरभ्यर्च्य ततः स्वहृदयाद् देवमवतार्य कुम्भे मण्डले च यथाविधि सम-भ्यर्च्याग्नौ देवमावाह्य सामलकैराज्यसिक्तैर्विल्वैर्दूर्वाङ्कुरैर्गोक्षीरसंयुक्तैर्लाजतण्डुल-मिश्रितैः सिताज्यपुष्पसंयुक्तैस्तिलैश्च संतर्प्य पूर्णाहुतिं दत्वा प्राग्वन्मधुक्षीरोदकेन यन्त्रस्थस्य मन्त्रनाथस्य सेचनं कृत्वा घृतेन पायसान्नेन पायसेन फलैश्च पूर्ववद् बलि-दानं कुर्यात् । अनेन आप्यायनं भवति ॥ १९९–२३५ ॥

(इत्याप्यायनविधिः ॥)

---

१. रूपैस्तु–अ०उ० । २. दृष्ट्वा–उ० । ३. पयसा–मु० अटी० वक० वख० अ० ।
४. तेन–अ० । ५. कुम्भम–अ० । ६. पयसा–अ० ।

अथ रक्षाविधानं तु वक्ष्ये सम्यग् यथास्थितम् ।
येन विज्ञातमात्रेण नीरुजः सर्वदा भवेत् ॥ २३६ ॥
सामान्यं सर्वदोषाणां ज्ञातानां च निवारणे ।
अज्ञातानां विशेषेण तत् सम्यगवधारय ॥ २३७ ॥
ताराग्रहोपतापेन धातुवैषम्यमेति वै ।
तद्वैषम्यात् प्रकुप्यन्ति व्याधयस्तु ज्वरादयः ॥ २३८ ॥
तत्कोपावसरेणैव ब्रह्मरक्षोमुखा ग्रहाः ।
शाकिन्यो[1] भूतवेतालाः संक्रामन्ति हि देहिनः[2] ॥ २३९ ॥
निमित्तं विद्धि सर्वेषां कर्म यद् वै पुरा कृतम् ।
सामर्थ्येन तु मन्त्रेण ज्ञानेन तपसा च[3] वै ॥ २४० ॥
जपा[4]ऽध्ययनहोमेन दानेन विविधेन च ।
मन्त्रौषध्युपयोगेन सहसा नाशमेति तत् ॥ २४१ ॥
प्राधान्येन तु सर्वेषां मन्त्र[5]मत्रानुतिष्ठति ।
यस्य स्मरणमात्रेण नाविशन्ति ग्रहादयः ॥ २४२ ॥
कृत्वाधारं यथोक्तं तु यजनार्थं नृकेसरेः ।
बीजैः सिद्धार्थकोपेतैरुपकुम्भानि पूर्य च ॥ २४३ ॥

अथ रोगार्तानां रक्षाविधिमाह—अथ रक्षाविधानं त्विति प्रक्रम्य सरुजानामुदाहृतमित्यन्तम् ।

प्रयोगः—श्रीनृसिंहाराधनार्थं पूर्ववन्मण्डलं कुम्भं च संस्थाप्योपकुम्भांस्तु श्वेतसर्षपोपेतैर्बीजैरापूर्य (तदपियानशरीरान् ? तत्पिधानशरावान्) सफलसर्षपतिलैरापूर्य तद्बहिरष्टदिक्षु सुसमं लोहमयं बाणाष्टकं निधाय तान् दृढेन तन्तुना कण्ठदेशे बद्ध्वा बर्हिपक्ष[6]समायुक्तं[7] सर्पनिर्मुक्तकञ्चुकभूषितं महौषध्या भूतजटया शमीशाखया च समन्वितं तद् बाणाष्टकं पञ्चवर्णेन सूत्रेणोत्तरदिशमारभ्य प्रादक्षिण्येन त्रेधा संवेष्ट्याष्टानां पूर्णकुम्भानामन्तरालेषून्नतासनस्थितं राजिकाख्येन तैलेन पूरितं ताम्रपात्रस्थितं महाराजतरञ्जितवर्तियुक्तं दीपाष्टकं विन्यस्य स्नातो बद्धशिखो मौनी साधकः प्राग्वद् दिग्बन्धं कृत्वा सर्वदोषपलायनं संकल्प्य मन्त्रनाथं श्रीमन्नृसिंहं काम्यैर्बहुविधैः शुभैः पुष्पैर्धूपैः

१. डाकिन्यो—बक० बख० अ० उ० । २. नम्—अ० । ३. महत्—अ० उ० ।
४. द्विजाय ध्यान—अ०, द्विजे च ध्यान—उ० । ५. मन्त्रं मात्रा—अ०, मन्त्रमात्रा—उ० ।
६. वक्ष—अ० । ७. युक्त—अ० ।

वक्त्रेष्वप्युपकुम्भानां स[1]फलानि नियोज्य च ।
तिलै[2]सर्षपपूर्णानि पा[3]त्राणि वित[4]तानि च ॥ २४४ ॥
सुसमं तद्बहिर्दद्याद् दिक्षु लोहशराष्टकम् ।
क[5]ण्ठदेशेषु बध्नीयाच्छ[6]राणां दृढतन्तुना ॥ २४५ ॥
ब[7]र्हिपक्षसमायुक्तां सर्पकञ्चुकभूषिताम् ।
महौषधीं भूतजटां शमीशाखासमन्विताम् ॥ २४६ ॥
पञ्च[8]रागेण सूत्रेण उदगाशादितः क्रमात् ।
प्रादक्षिण्येन तु त्रेधा वेष्टयेत् तच्छ[9]राष्टकम् ॥ २४७ ॥
अष्टानां पूर्णकुम्भानामन्तरान्तरयोगतः ।
दद्यादुच्चासनस्थं तु दीपाष्टकमनुक्रमात् ॥ २४८ ॥
तैलेन राजिकाख्येन ताम्रपात्रस्थितास्तु वै ।
दीपानां वर्तयो देया महाराज[10]तरञ्जिताः ॥ २४९ ॥
अथ[11] बद्धशिखो मौनी प्राग्वद् दिग्बन्धमाचरेत् ।
अभिसन्धाय मनसा सर्वदोषपलायनम् ॥ २५० ॥

फलैर्मूलैर्नैवेद्यैर्भक्ष्यैश्च यथाविधि समभ्यर्च्याग्निमध्ये च देवं सिद्धार्थान्वितैः सर्वबीजै राजिकाघृतयुक्तैः सफलैस्तिलैश्च सन्तर्प्यातुरमापादाद् मस्तकावध्यस्त्रपुष्पैः संताड्य नेत्रमन्त्रेण संनिरीक्ष्य नतजानुशिरः कृत्वा भगवते निवेद्य परिघान्वितेऽस्त्रेणाभिमन्त्रितेऽर्घ्याद्यभ्यर्चिते आसने तं समुपवेश्य षडङ्गेन श्रीमन्नृसिंहमन्त्रेण तस्य हस्तयोर्देहे च यथाविधि न्यासं मनसा कृत्वा तस्याग्रे सचक्रं षट्कोणं मण्डलमालिख्य तत्र पूर्वोक्तं रचनापरिष्कृतं गन्धवारिणा पूर्णं कलशसप्तकं मध्ये षट्कोणेषु च संस्थाप्य कोणान्तरालेषु पूर्वोक्तरीत्या दीपाष्टकं च निधाय मध्यकुम्भे साङ्गं मन्त्रनाथं समभ्यर्च्य कोणस्थकलशेषु ॐ नृसिंहभूतेभ्यो नम इति सर्वदोषनाशनं नृसिंहभूतगणं समभ्यर्च्यास्त्राभिमन्त्रितैः सिद्धार्थैर्दिग्बन्धं कृत्वा पुनरातुरं पुष्पैः संताड्य स्वपाणिव्यजनेन तद्दोषगणं सर्वं तद्देहान्मनसा समाकृष्य गगने धरातले वा विनिक्षिप्य निर्धूममतिदीप्तिमदग्निपात्रमादाय निरिन्धने तस्मिन्नग्नौ सिद्धार्थकैस्तिलैश्चाष्टोत्तरशतसंख्ययाऽमुकं रक्ष रक्ष स्वाहेत्य-

१. सु—उ० । २. सर्षपतिल—बक० बख० अ० उ० । ३. पत्राणि—मु० अटी० बक० बख० । ४. विविधानि—उ० अटी० । ५. क्रोडदेशे तु—अ० उ० । ६. च्चाराणां—अटी० । ७. बहिः—बक० बख० अ० । ८. रङ्गेण—बक० बख० अ० उ० । ९. तच्चरा—अटी० । १०. राजित—अटी० । ११. स्नात इति भाष्यानुसारी पाठः ।

संयजेन्मन्त्रनाथं तु काम्यैर्बहुविधैः शुभैः ।
पुष्पैर्धूपैस्तु नैवेद्यैर्भक्ष्यैः स[1]फलमूलकैः ॥ २५१ ॥
हु[2]त्वाऽथ सर्वबीजानि सिद्धार्थकयुतानि च ।
राजिकाघृतयुक्तानि तिलानि सफलानि च ॥ २५२ ॥
ध्या[3]त्वा पूर्णाहुतिं दद्यान्मध्याह्नसमये ततः ।
रक्ष्यं सुनिर्मलं कृत्वा पूर्वमभ्यञ्जनादिकैः ॥ २५३ ॥
हेमर(क्तौ?त्नौ)षधिस्नानैः प्रोक्षयित्वा प्रवेश्य च ।
ताडयित्वाऽस्त्रपुष्पेण आपादात् [4]संनिरीक्ष्य च ॥ २५४ ॥
नतजानुशिरः कृत्वा देवाय विनिवेदयेत् ।
उत्तराभिमुखं कृत्वा आसने परि[5]धान्विते ॥ २५५ ॥
अस्त्रोपलक्षिते चैव तथार्घ्यादिसमन्विते ।
षडङ्गेनाथ मन्त्रेण तस्य न्यासं समाचरेत् ॥ २५६ ॥
मनसा करशाखासु स्वस्थानेष्वथ विग्रहे ।
सचक्रमथ तस्याग्रे षट्कोणं मण्डलं लिखेत् ॥ २५७ ॥

न्तेन मूलमन्त्रेणास्त्रमन्त्रेण वा जुहुयात् । प्रत्याहुत्याहुतिद्रव्यं तन्मूर्ध्नः परितो भ्रामयेत् । सिद्धार्थकसमन्वितं महिषाक्षगुग्गुलुमादाय मूलमन्त्रेण धूपयित्वाऽऽतुरं वाससाऽऽच्छाद्य सजलं पात्रमग्निपात्रसमीपे निधायाऽन्यस्मिन् पात्रे नैवेद्यशेषं सर्वं निधाय कुङ्कुमादिना रक्तीकृत्य सोदकं तदन्नं समुद्धृत्याऽऽतुरस्य धात्वाश्रितानां दोषाणामयं पशुप्रतिनिधिर्बलिरिति मनसा संकल्प्य,

यदीयमस्य वै बाधमिन्द्रियाणां च धातुषु ॥
आदाय च बलिं शश्वत् सिंहसत्येन मुञ्चतु । (१७।२६९–२७०)

इत्युच्चरन् बलिं दद्यात् । बलेर्मध्ये मध्ये वामदक्षिणपाणिनाऽसंख्यातं होमं च कुर्वन् बलिदानार्थं प्रदक्षिणीकुर्यात् । अथास्त्रजप्तेन वारिणा पाणिं प्रक्षाल्याथ कुण्डस्थां भूतिं दग्धगोमयजां भूतिं वाऽऽदाय बहुशोऽस्त्रमन्त्रेणाभिमन्त्र्य आतुरस्य ललाटादङ्घ्रिपर्यन्त-

---

१. 'सफल…तिलानि' नास्ति–उ० । २. जुहुयात्–अ०, भुक्त्वाऽथ–अटी० ।
३. पङ्क्तित्रयं नास्ति–बक० बख० उ० । ४. सुनि–मु० अटी० । ५. परिखा–उ० ।

वृतं ज्वालागणेनैव ततस्तत्र निवेशयेत् ।
प्रागुक्तरच[1]नाढ्यं तु सु[2]पूर्णं गन्धवारिणा ॥ २५८ ॥
सप्तकं कलशानां तु मध्ये योज्यं तदाक्षिषु ।
अश्रिभ्यामन्तरालस्थं दीपषट्कं यथा पुरा ॥ २५९ ॥
कृत्वा म[3]ध्यमकुम्भे तु साङ्गं मन्त्रेश्वरं यजेत् ।
नमो नृसिंहभूतेभ्यः प्रणवाद्येन पूजयेत् ॥ २६० ॥
कोणेषु भगव[4]द्भक्तनिचयं दोषनाशनम् ।
पूजयित्वा यथान्यायं पुष्पधूपादिकेन वै ॥ २६१ ॥
दिग्बन्धमथ वै कुर्यात् सास्त्रैः सिद्धार्थकैः क्रमात् ।
ताडयेदातुरं पश्चादा पादान्मस्तकावधि ॥ २६२ ॥
स्वपाणिव्यजनेनाथ समाकृष्य विनिक्षिपेत् ।
दोषजालं च त[5]द्देहाद् गगने वा धरातले ॥ २६३ ॥
ततोऽग्निपात्रमादाय निर्धूममतिदीप्तिमत् ।
तस्मिन्निरिन्धने कुर्याद् होमं सिद्धार्थकैस्तिलैः[6] ॥ २६४ ॥

मूर्ध्वपुण्ड्राणि कृत्वा ॐ क्षौं नमः, ॐ नमो भगवते नरसिंहाय स्वस्त्यस्तु ते इति कुम्भोदकसमन्विताघ्योदकबिन्दुभिः संप्रोक्ष्य तद्ब्रह्मरन्ध्रे पूर्णचन्द्रमण्डलमध्यस्थं पूर्णचन्द्रायुतोपमं महदमृतं स्रवन्तं मन्त्रनाथं ध्यात्वा तदमृतेन तच्छरीरं संसि[7]क्तं च ध्यात्वा कुम्भस्थं मण्डलस्थं च देवं पुनरभ्यर्च्य सदिक्कुम्भं सोपकलशं तं महाकुम्भमातुरस्य शयनागारे शिरःप्रदेशे वस्त्र[8]पीठोपरि नि[9]धाय वस्त्रेणाच्छाद्याऽविच्छिन्नप्रसरं धूपपात्रं दीपपात्राणि च यथापूर्वं निधाय[10] फलपुष्पौषधीदीपलाजकसिद्धार्थकदधिपात्राणि तत्पुरतो निधाय निशामुखे प्राप्ते बलिहरणं कुर्यात् ।

तत्प्रकारः—पूर्वं षट्कोणमण्डलस्थापितकलशेषु मध्यकुम्भस्थस्य भगवतोऽर्चनार्थं पुष्पधूपदीपादिकं यद्यत् परिकल्पितं तत्सर्वमेकस्मिन् पात्रे संगृह्य तत्परितः षट्कलशस्थितानां नृसिंहभूतानां दत्तं पुष्पधूपदीपादिक[11]मस्मिन् पात्रे पृथक् पृथक् षट्सु

१. रञ्च—बक० बख० अ० । २. सम्पूर्णं—उ० । ३. च मध्यकुम्भे—अ० । ४. वद्भूत—बक० बख० अ० उ० । ५. तद्दोषान्—मु० अटी० । ६. कैः क्रमात्—मु० अटी० । ७. समसिक्तं—अ० । ८. अस्त्र—अ० । ९. निधाय वस्त्रोपरि निधाय—अ० । १०. पौष्पौ—अ० । ११. अन्यस्मिन्—अ० ।

मूलमन्त्रेण वा[1]स्त्रेण शताष्टाधिकसंख्यया ।
अमुकं रक्ष रक्षेति स्वाहा[2]शब्दसमन्वितम् ॥ २६५ ॥
मन्त्रान्ते तु पदं कुर्याद् भ्रामयेन्मूर्ध्नि चाहुतिम् ।
महिषाक्षमथादाय सिद्धार्थकसमन्वित[4]म् ॥ २६६ ॥
प्रजप्य धूपयेत् तं वै कृत्वा च्छन्नं तु वाससा ।
निधाय सजलं पात्रमग्निपात्रोपगं ततः ॥ २६७ ॥
नैवेद्यशेषमन्यस्मिन् सर्वमुद्धृत्य सोदकम् ।
पशुप्रतिनिधिं चैव गन्जितं कुङ्कुमादिना ॥ २६८ ॥
ध्या[5]त्वाश्रितानां दोषाणां मनसा परिकल्पितम् ।
य[7]दीयमस्य वै बा[8]धमिन्द्रियाणां च धातुषु ॥ २६९ ॥
आदाय च बलिं शश्वत् सिंहस[9]त्येन मुञ्चतु ।
अन्तरान्तरयोगेन वामदक्षिणपाणिना ॥ २७० ॥
असंख्यमाचरेद् होमं बलियुक्तं प्रदक्षिणैः ।
बलिपाणिमथ क्षाल्य अस्त्रजप्तेन[10] वारिणा ॥ २७१ ॥

पात्रेपु वा निधाय तत्तत्पात्रं स्वस्वदीपालङ्कृतं कृत्वा तत्तत्कुम्भोपरि विन्यस्य ॐ क्षः वीर्यायास्त्राय फट्, अमुकं रक्ष रक्षेति मन्त्रं स्मरन् तत्कुम्भान् रक्ष्यस्य शिरसि यथाक्रमं पृथक् पृथक् परिभ्राम्य सात्त्विकान् भगवद्भक्तान् बलिवाहकानाहूय तेषां करेऽस्त्राभिमन्त्रितान् सिद्धार्थकान् दत्वाऽस्त्रमन्त्रेण भस्मना ललाटे तिलकं दत्वा तैर्बलिं वाहयित्वाऽगाधजले चत्वरे वृक्षमूले ग्रामान्नगराद् वा बहिश्च देवभूतबलिक्षेपं कुर्यात् । सिद्धार्थैर्धूमायमानं पूर्वोक्तं वह्निपात्रं जलपात्रं च तेन बलिपात्रेण सहैव त्यजेत् । एवं कूपसमीपे वापीसमीपे वृक्षसमीपे बलिं प्रक्षिप्य पाणिपादौ प्रक्षाल्याऽऽचम्य सुलिप्तायां भूमौ शायितस्य रक्ष्यस्य परितस्तन्मूर्ध्नि दीपमात्रे चास्त्रमन्त्रेण सिद्धार्थान् प्रक्षिप्य मूलमन्त्रसंपुटितेन चास्त्रमन्त्रेण बहुशोऽभिमन्त्रितं सिद्धार्थं सप्तरात्रं प्रत्यहं रक्ष्यस्य वस्त्रे च बध्नीयात् । एवं कृते व्याधिपीडितानां रक्षणं सिद्ध्यति । ततो रक्ष्यस्य गृहे

१. चा–मु० अटी०, सा–अ० उ० । २. शक्ति–मु० अटी० । ३. षाक्षी–मु० अटी० । ४. ताम्–मु० अटी० । ५. ध्यात्वेति सार्वत्रिकः पाठः । ६. पङ्क्तिद्वयं नास्ति–उ० । ७. या चास्य–मु० अटी० । ८. बाधा–मु० अटी० । ९. वक्त्रे तु–मु० अटी० । १०. दीप्तेन–बक० बव० उ० ।

भूतिमादाय वै कुण्डाद् दग्धगोमयजं तु वा ।
प्रजप्य बहुशोऽस्त्रेण ललाटादङ्घ्रिगोचरम् ॥ २७२ ॥
कार्याणि चोर्ध्वपुण्ड्राणि पृष्ठे पार्श्वद्वयेऽपि वा ।
स्वस्त्यस्तु ते युतेनाथ मन्त्रेणार्घ्योदकेन तु ॥ २७३ ॥
मन्त्रकुम्भात् समेतेन विप्रड्भिर्ह्लादयेदनु ।
ध्यात्वा पूर्णेन्दुगं मन्त्रं पूर्णचन्द्रायुतोपमम् ॥ २७४ ॥
ब्रह्मरन्ध्रे[5] तु साध्यस्य स्रवन्तममृतं महत् ।
शरीरविटपं तेन सेचयेच्च नखावधि ॥ २७५ ॥
एवं कृत्वाऽर्चयेद् भूयो मन्त्रं मण्डलकुम्भगम् ।
कुम्भं तं शयनागारे ऊर्ध्वदेशे निधाय वै ॥ २७६ ॥
वस्त्रपीठोपरिस्थं तु च्छन्नं कृत्वा तु वाससा ।
तत्रापि दिग्विदिक्स्थं च दद्यात् पूर्णघटाष्टकम् ॥ २७७ ॥
अच्छिन्नप्रसरं धूपं दीपपात्रं घृतादिना ।

प्रलिप्ते भूभागे कुशाजिनासने स्वयं समुपविश्य कृतमन्त्रन्यासः सहायवान् पयोभुग् निराहारो वा जपध्यानपरायणः सन् रात्रेरादिमध्यावसानेषु पूर्वोक्तप्रकारेण पूजनं हवनं बलिदानं च कुर्यात् ।

बलिदाने विशेषः—रात्रेः पूर्वभागे मोदकेन सक्तुना मधुना घृतेन च बलिं दद्यात् । मध्यरात्रौ यवगोधूमशालिचूर्णेन गुडोदकमिश्रितेन वृत्ताकारदीपशिखाकाराम्रफलीकाराणि[11]त्रिप्रकाराणि मोदकानि पाणिना कृत्वा क्षीरयुक्तैरपक्वैस्तैर्मोदकैर्बलिं दद्यात् । रात्र्यवसाने त्वपक्वैः संमर्दितैः कृष्णैस्तिलैर्बीजैस्तण्डुलैर्हरिद्राचूर्णैर्दधिदूर्वाङ्कुरफलैश्च रक्षागृहाद् बहिर्मार्गैकदेशे चत्वरे वा शोधिते स्थले बलिं दद्यात् ।

अथ सप्तधान्यान्यादाय मूलमन्त्रेणाभिमन्त्र्य शरावे निधाय द्विजेन्द्रकन्यायै दत्वा तत्सकाशादेकस्मिन् पात्रे त्रिप्रसृतिमितानि बीजान्यन्यस्मिन् पात्रे सप्तप्रसृतिमितानि पुनरन्यस्मिन् पात्रे एकादशप्रसृतिमितानि च बीजानि समाहरेत् । ततस्तत्पात्रत्रयं क्रमेणोदकैरापूर्यास्त्रमन्त्रसंपुटितेन श्रीनृसिंहबीजेन प्रथमं कुम्भमष्टोत्तरशतवारं

१. अथ—मु० अटी० । २. पृष्ठ—मु० अटी० । ३. गे तु च—मु० अटी० उ० । ४. ह्लादयेन तु—अ० उ० । ५. रन्ध्रेण—मु० अटी० । ६. मन्त्रमण्डलमध्यगम्—अटी० । ७. कम्—अ० उ० । ८. कुम्भस्थं—बक० बख० अ० उ० । ९. 'पूजनं हवनं' नास्ति—अ०, पूजनं भवनबलि—म० । । १०. फलकाराणि—अ० । ११. 'त्रिप्रकाराणि' नास्ति—म० ।

फलपुष्पौषधीदीपलाजा[1]सिद्धार्थकं दधि[2] ॥ २७८ ॥
पात्रसङ्घं तदग्रे तु कृत्वा चाथ बलिं हरेत् ।
निशामुखे तु सम्प्राप्ते सर्व[3]दोषप्रशान्तये ॥ २७९ ॥
एकस्मिन् वै समादाय पात्रे यत् कल्पितं विभोः ।
आयुष्यधूपदीपाच्च उपसंगृह्य यत्नतः ॥ २८० ॥
तद्[4]भूतदत्तमन्यस्मिन् षण्णां वा[5] तत्पृथक् पृथक् ।
स्वदीपालङ्कृतं कृत्वा स्वघटो[6]परि विन्यसेत् ॥ २८१ ॥
रक्षरक्षपदोपेतं मन्त्रमस्त्रयुतं स्मरेत् ।
रक्ष्यस्य शिरसि भ्राम्य यथा दत्तं क्रमेण तु ॥ २८२ ॥
सत्त्वशुद्धांस्तथा भूयो मद्भक्तान्[7] बलिवाहकान् ।
अस्त्राभिमन्त्रितान्[8] दद्यात् तेषां सिद्धार्थकान्[9] करे ॥ २८३ ॥
प्रजप्य भस्मना कुर्याल्ललाटे तिलकं तु वै ।
प्रवाहयेद्[10] बलिं [11]मन्त्री ह्यगाधेऽम्भसि वै पुरा ॥ २८४ ॥
चत्वरे वृक्षमूलेऽथ ग्रामाद् वा नगराद् बहिः ।
देवभूतबलिक्षेपो विहितश्चात्र कर्मणि ॥ २८५ ॥

द्वितीयं द्विगुणं तृतीयं त्रिगुणं चाभिमन्त्र्य तेष्वेकं कुम्भमुद्धृत्य प्रातःकाले स्थले निक्षिपेत् । अन्यं कुम्भमुद्धृत्य मध्याह्ने जले निक्षिपेत् । पुनरन्यं कुम्भमुद्धृत्य सायंकालेऽपि जले निक्षिपेत् । समाप्तिदिनपर्यन्तं प्रत्यहमेवं सामान्यतो भूततर्पणं कुर्यात् ।

ततोऽपरस्मिन् दिने यथाविधि मण्डलस्थं देवमभ्यर्च्याग्नौ च देवं पूर्णाहुत्यन्तं संतर्प्य गोमयोपलिप्ते[12] स्थले सितेन चूर्णेन मण्डलमालिख्य तन्मध्ये शङ्खं तन्मध्ये षड्दलकमलं च विलिख्य पूर्वं शयनागारे शिरःप्रदेशे स्थापितदिक्कुम्भाष्टकमस्मिन् मण्डलेऽष्टाश्रेषु दीपैः सह संस्थाप्य मध्यकुम्भं मण्डलमध्ये निधाय तस्मात् पूर्वदिना-

१. जाल—मु० अटी०, लाज—अ० । २. दधौ—मु० अटी० । ३. सम्यग्—बक० । ४. तद्वद् भूदत्त—अ० । ५. वाथ—अ० । ६. कटो—मु० अटी० ! ७. भक्तांश्च—बक० अ० उ०, भक्तान् स्व—बख० । ८. तं—मु० अटी० । ९. कं—मु० अटी० । १०. प्रभाव—बक० बख० उ० । ११. मान्त्रम—बक० बख० अ० उ० । १२. योल्लिप्तस्थले—अ० ।

धूमायन्तं[1] च सिद्धार्थैर्वह्निपात्रं पुरोदितम् ।
तेनैव बलिपात्रेण सोदकेन समन्वितम् ॥ २८६ ॥
त्यजेत् कूपसमीपे तु वाप्यां वा निकटे तरोः ।
बलिं[2] क्षिप्त्वा समाचम्य धौताङ्घ्रिकरपल्लवः ॥ २८७ ॥
रक्ष्यावनौ सुलिप्तायां परितः शोधितस्य च ।
तन्मूर्ध्नि दीपपात्रे[3] च सिद्धार्थक्षेपमाचरेत् ॥ २८८ ॥
प्रजप्य बहुशोऽस्त्रेण मूलसम्पुटितेन च ।
बध्नीयात् सप्तरात्रं तु प्रत्यहं तस्य चाम्बरे ॥ २८९ ॥
कृतेनानेन विधिना पीडितानां सदैव हि ।
रक्षणं रसधातूनां[4] शश्वदेव हि जायते ॥ २९० ॥
ततः प्रलिप्ते भूभागे कुशाजिनसमावृते ।
कृतन्यासः स्वयं तिष्ठेद् रक्ष्यागारे सहायवान् ॥ २९१ ॥
पयोभुग् वा निराहारो ध्यानजप्यपरायणः ।
आदिमध्यावसानस्थं[6] रात्र्यंशेषु[7] समाचरेत् ॥ २९२ ॥
पूजनं हवनं[8] सम्यग् बलिदानसमन्वितम् ।
सक्तुना सोदकेनैव मधुनाऽथ[9] घृतेन च[10] ॥ २९३ ॥
पूर्वभागे तु यामिन्यामतीते[11] विहितो बलिः ।
यवगोधूमशाल्युत्थचूर्णेन सगुडाम्भसा ॥ २९४ ॥
त्रि[12]प्रकाराणि संवर्त्य मोदकानि तु पाणिना ।
वृत्तदीपशिखाकारैस्तुल्यान्याम्रफलस्य च ॥ २९५ ॥

पिताघ्र्यपुष्पमाल्यादीन्यपनीय तत्कुम्भस्थले शोषिते सति शीतलोदकधारया पूर्ववत् पूरयेत्, कुम्भस्थमुदकं प्रत्यहं यथा यथा शोषं याति, तथा तथा रक्ष्यस्य धातुवृद्धिर्भवति । अथाभिनवैः स्रग्वस्त्रार्घ्यगन्धाद्यैरलङ्कृत्य तत्र मन्त्रनाथं यथापूर्वं संपूज्य रक्तधातुवृद्धि-

१. यितं—अ०, धूमायमानमिति भाष्यानुसारी पाठः । २. बलं—मु० । ३. पात्रैश्च—मु० अटी०, पात्रेण—अ० । ४. तोऽन्तः—अ० उ० । ५. विमले—मु० अटी० । ६. नेषु—इति शोभनः पाठः स्यात् । ७. रात्रिशेषं—बक० बख० उ० । ८. वहनं—मु० अटी० । ९. ना च—अटी० अ० । १०. वा—अ० । ११. मतीतो—मु० अटी० अ० । १२. त्रिः—बक० बख० ।

क्षीरयुक्तैरपक्वैस्तैर्मध्ये[1]रात्र्यां[2] बलिं हरेत् ।
सुं[3]मर्दितैस्तिलैः कृष्णैर्बीजैः पाकविवर्जितैः ॥ २९६ ॥
तण्डुलै रजनीचूर्णैर्दध्ना दूर्वाङ्कुरैः फलैः ।
व्यतीतायां तु शर्वर्यां बलिं रक्षागृहाद् बहिः ॥ २९७ ॥
मार्गैकदेशे निक्षिप्य चत्वरे[4] वापि शोधिते ।
अथाभिमन्त्र्य बीजानि सप्तधान्यानि मल्लके ॥ २९८ ॥
दद्याद् द्विजेन्द्रकन्यायै[6] तत्सकाशात् समाहरेत् ।
तिस्रः प्रसृतयः पात्र एकस्मिन् सप्त चापरे ॥ २९९ ॥
एकादश ततोऽन्यस्मिन् घटे पात्रत्रयं ततः[7] ।
अस्त्रसम्पुटितेनैव सिंहबीजेन मन्त्रवित् ॥ ३०० ॥
शतमष्टाधिकं चैव द्विगुणं त्रिगुणं क्रमात् ।
तेन तोयघटानां तु उद्धृत्योद्धृत्य निक्षिपेत् ॥ ३०१ ॥
एकं स्थले जले चान्ये प्रातर्मध्यं दिनक्षये ।
आ समाप्तेरिदं कुर्यात् सामान्यं भूततर्पणम् ॥ ३०२ ॥
ततोऽपरस्मिन्नहनि इष्ट्वा मन्त्रं तु मण्डले ।
हुत्वा यथाविधानेन दत्वा पूर्णाहुतिं तु वै ॥ ३०३ ॥
सितेन[8] शालिचूर्णेन अष्टाश्रं मण्डलं लिखेत् ।
तन्मध्ये शङ्खमध्यस्थं कमलं लिख्य षड्दलम् ॥ ३०४ ॥

करैर्मन्त्रपूतैः सुरभिनैवेद्यैर्देवं संतर्प्य पूजानन्तरमर्घ्यपुष्परजोधूपदीपादिकं सर्वमुपसंहृत्य नित्यमगाधेऽम्भसि निक्षिपेत् । शेषस्य विनियोगं च प्रागुक्तरीत्या कुर्यात् ।

ततस्तृतीयेऽह्नि चतुरश्रं मण्डलमालिख्य तत्र षट्कोणं पुरं विलिख्य तन्मध्ये पद्मं च विलिख्य तत्र कलशसमूहं पूर्ववत् संस्थाप्य तदन्तरालेषु दीपांश्च निधाय यथापूर्वं समभ्यर्च्य भगवन्निवेदितैर्हविरादिभिर्ब्राह्मणान् संतर्पयेत् । चतुर्थेऽह्नि वृत्तमण्डलमालिख्य[10] तत्र नाभिनेमिसमन्वितं पञ्चारं चक्रं विलिख्य तत्र मध्ये महाकुम्भं परितो

---

१. मध्ये—बक० बख० अ० उ० । २. रात्र्या—अ० उ० । ३. संम—बक० बख० उ० । ४. रे पापशो—अ० । ५. दत्वा—मु० अटी० बक० बख० अ० । ६. यास्त—मु० अटी० बक० बख० उ० । ७. तु तत्—अ० उ० । ८. नालिख्य चू—बक० बख० उ० । ९. गर्भस्थं—अ० उ० । १०. अत्र ग्रन्थपातः प्रतीयते, इतः परं श्लोकत्रयव्याख्यानं परित्यज्य पञ्चमदिवसीयकृत्यस्य व्याख्यानात्, अड्यारमातृकायामनुपदमेव तदुल्लेखाच्च ।

दद्याद् घटाष्टकं बाह्ये प्राग्वद् दीपसमन्वितम् ।
अवतार्य च तन्मध्ये रक्षाकुम्भं शिरःस्थितम् ॥ ३०५ ॥
अपनीय पुरा तस्मादर्घ्यमाल्यानुलेपनम् ।
शीतलोदकधारां[1] च पूरणार्थं परां[2] क्षिपेत् ॥ ३०६ ॥
यथा यथा क्षयं याति तत्रस्थमुदकं तु वै ।
तथा तथा भवेद् वृद्धी रक्ष्यस्याखिलधातुषु ॥ ३०७ ॥
स्रग्वस्त्राद्या[3]नुलेपाद्यैर्नैवैः[4] कृत्वार्चितं तु तम् ।
ततः सम्पूज्य तन्मध्ये मन्त्रनाथं यथा पुरा ॥ ३०८ ॥
रक्तधातोर्भवेद् येन नृणामुपचयो महान् ।
मन्त्रदत्तेन सुरभिनैवेद्येनाथ तर्पयेत् ॥ ३०९ ॥
अर्घ्यं पुष्पं रजो धूपं दीपं यन्मन्त्र[5]योजितम् ।
तत्सर्वमुपसंहृत्य नित्यमम्भसि निक्षिपेत् ॥ ३१० ॥
शेषस्य विनियोगं तु प्रागुक्तं सर्वमाचरेत् ।
तृतीयेऽह्नि ततः कुर्याच्चतुरश्रं तु मण्डलम् ॥ ३११ ॥
षट्कोणं चैव तन्मध्ये पुरमुल्लिख्य साम्बुजम् ।
तत्र कुम्भसमूहं तु तस्माद् दीपान्तरीकृतम् ॥ ३१२ ॥
इष्ट्वा तु मन्त्रदत्तेन तर्पयेद् ब्राह्मणांस्तु वै ।
वृत्तमण्डलमध्ये तु चतुर्थेऽहनि संलिखेत् ॥ ३१३ ॥

दिक्कुम्भान् तयोर्मध्ये मध्ये दीपांश्च विन्यस्य विविधैर्नैवेद्यैः पुष्पादिभिश्च तत्र देवमभ्यर्च्य तदुपभुक्तं हविरादिकं सर्वमग्नौ प्रक्षिप्यान्यत् सर्वं पूर्ववत् कुर्यात् ।[6]

अथ षष्ठे दिने त्रिकोणं मण्डलमालिख्य तन्मध्ये सप्तारं महाचक्रं विलिख्य तदन्तरे चतुर्दिक्षु गदाचतुष्टयं विलिख्य तन्मध्ये महाकुम्भस्थं देवं यथाविधि समभ्यर्च्य

---

१. धाराश्च—मु० अटी० बक० बख० । २. परि—बक० बख०, परं—अ० उ० । ३. ख्या—मु० बक० बख० । ४. नैव—मु० अटी० बक० बख० । ५. तन्म—उ० । ६. मातृकामामत्र ग्रन्थपातः—अ० । वस्तुतस्त्वत्र नास्त्येव ग्रन्थपातः, आनुपूर्व्या श्लोकानां व्याख्यानदर्शनात्, म० मातृकायां ग्रन्थपातस्यानुल्लेखाच्च । अतः पूर्वत्र श्लोकत्रयव्याख्यानस्थल एव ग्रन्थपातः संभाव्यते ।

[1]अष्टारं दीप्तिमच्चक्रं वह्निवेश्म तदन्तरे ।
तत्रेष्ट्वा मन्त्रमूर्तिं तु कृत्वा रक्षां यथा पुरा ॥ ३१४ ॥
द्विजेन्द्रजां कुमारीं च तथा ब्राह्मणदारि[2]काम् ।
पूजयित्वा यथान्यायं ताभ्यां यच्छेन्निवेदितम् ॥ ३१५ ॥
अथाष्टकोणं कुर्वीत मण्डलं पञ्चमेऽहनि ।
शङ्खं तदन्तरे कुर्याच्छङ्खस्योदरगं लिखेत् ॥ ३१६ ॥
सनाभिवेदिपञ्चारं भूतावासं च हेतिराट् ।
सकुम्भानां च दीपानां प्राक् कृत्वा विनियो[6]जनम् ॥ ३१७ ॥
विविधैः पूजयेद् देवं नैवेद्यैः कुसुमादिकैः ।
देवोपभुक्त[7]मन्नं तु क्षिप्त्वा प्रागुक्तमाचरेत् ॥ ३१८ ॥
अथ षष्ठे दिने कुर्यात् त्रिकोणं[8] भुवनान्तरे ।
सप्तारं तु महाचक्रं सप्तलोकमयं हि यत् ॥ ३१९ ॥
तदन्तरे [9]चतुर्दिक्षु गदाद्वन्द्वद्वयं लिखेत् ।
तन्मध्ये तद्घटान्तःस्थं यजेन्मन्त्रं यथाविधि ॥ ३२० ॥
इष्ट्वा नैवेद्यमादाय उच्चस्थाने निधाय [10]तत् ।
उपभोगं [11]यदाऽऽयाति काकादेः खेचरेषु च ॥ ३२१ ॥
चतुरश्रं चतुर्द्वारं मण्डलं सप्तमेऽहनि ।
कुर्यात् कोणचतुष्के तु लिखेच्छङ्खचतुष्टयम् ॥ ३२२ ॥

तन्निवेदितान्नादिकं काकादिपक्षिणामुपभोगार्थमुन्नतस्थाने निक्षिपेत् । अथ सप्तमेऽहनि चतुरश्रं चतुर्द्वारं मण्डलमालिख्य तत्कोणचतुष्टये शङ्खचतुष्टयं विलिख्य तन्मध्येऽसंख्यातदलं पद्मं विलिख्य तत्कर्णिकाश्रितं द्वादशारं चक्रं विलिख्य तत्राष्टदिक्षु दीपान्तरितानष्टकुम्भान् मध्ये महाकुम्भं च निधाय तत्र यथाविधि देवमभ्यर्च्य तन्निवेदितान्नादे-

१. पङ्क्तिषट्कं नास्ति—बक० बख० उ० । भाष्यकारेणापीमे त्रयः श्लोका न व्याख्याताः, किन्तु तत्र पञ्चमदिवसीयं कृत्यं किमिति न दृश्यते । श्लोकानामेतेषामाधारेण ज्ञायते यद्भाष्यकारेण पञ्चमदिवसीयं कृत्यमेव चतुर्थदिवसीयकृत्यरूपेण व्याख्यातमिति । २. का:—मु०अटी० । ३. तदङ्कुशे—अ० । ४. नेमि—बक० बख० उ० । ५. जातावासं—मु० अटी० । ६. योजयेत्—बक० बख० अ० उ० । ७. मग्नौ—अ० उ० । ८. कोणभु—मु० अटी० बक० बख० अ० । ९. च तद्दिक्षु—मु० अटी० बक० बख० । १०. यत्—बक० बख० अ० उ० । ११. याति चैव—मु० अटी० ।

तत्र मध्ये लिखेत् पद्ममसंख्यदलभूषितम् ।
तत्कर्णिकाश्रितं चक्रं द्वादशारं विलिख्य च ॥ ३२३ ॥
अष्टदिक्ष्वष्टकं दद्यात् कलशानां सदीपकम् ।
तत्र षड्दिवसोर्ध्वं तु विनियोगं समाचरेत् ॥ ३२४ ॥
नैवेद्यस्य च मन्त्रज्ञो दक्षिणाभिः समन्वितम् ।
एवं मांसादिधातूनां क्रमादुपचयो भवेत् ॥ ३२५ ॥
महिषोऽजो गुडं चैव हरिणः शशकस्तथा ।
मयूरश्चक्रवाकस्तु सप्ताहं सप्तकं[1] तु वै ॥ ३२६ ॥
देहं[2]धात्वाश्रितानां तु सत्त्वानां पिशिताशिनाम् ।
रसाद्यपीष्टैः सम्पाद्यं न सजीवं हि [4]जङ्गमम् ॥ ३२७ ॥
स्वार्थतो वा परार्थेन श्रेयसेऽभिनिवेशिना ।
प्राणिहिंसा न कार्या वै विशेषाज्जीवितैषिणाम् ॥ ३२८ ॥
आयुषः क्षयमायाति नूनं प्राणिवधान्नृणाम् ।
भूताभयप्रदानेन आयुषो वृद्धिमाप्नुयात् ॥ ३२९ ॥
आयुरारोग्यमैश्वर्यमपमृत्युजयं महत्[6] ।
बलमोजो धृतिर्धैर्यं स्यान्मन्त्रान्नं[7] परायुषः ॥ ३३० ॥
मन्त्रपूजा जपो होमो दानं हेमगवादिनाम् ।
ऐहिकामुष्मिकीं वृद्धिं सत्त्वस्थानां करोति च ॥ ३३१ ॥
मण्डलस्थं ततः क्षान्त्वा[9] ह्यतीते सप्तमे दिने ।

विनियोगं षष्ठदिनोक्तवत् कुर्यात् । एवं सप्तदिनार्चनादिभिः—"रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्लानि धातवः" (अ० हृ० सू० १।१८) इत्युक्तानां सप्तधातूनां क्रमेण वृद्धिर्भवति । देहधात्वाश्रितानां मांसाशनानां सत्त्वानां बल्यर्थं सप्तदिनेष्वपि **क्रमेण** महिषमजं गुडं हरिणं शशकं मयूरं चक्रवाकं च संपादयेत् । किन्त्वेतान् महिषादीन्—

---

१. तन्तु—उ० । २. देवं—मु० अटी० बक० बख० उ०, देयं—अ० । ३. रसाद्यभीष्टैः—अटी०, रसादिविष्टैः—बक० बख०, रसाद्यपिष्टैः—अ० उ० । ४. सज—अ० । ५. षिणा—उ० । ६. अत्रैव सप्तदशपरिच्छेदसमाप्तिः—अ० । इतः परमष्टादशपरिच्छेदसमाप्तिपर्यन्तो भागस्तत्र न दृश्यते । ७. त्रान्तरप—बक०, त्रात्तप—बख०, न्मन्त्रं न—उ० । ८. होमगवादिकम्—बक०, हेमगवा—बख० उ० । ९. क्षिप्त्वा—मु० अटी० ।

रजांसि बलयो वान्यत् प्राग्वदादाय संत्यजेत् ॥ ३३२ ॥
इति रक्षाविधानं तु सरुजानामुदाहृतम् ।
नीरुजानां विशेषेण [1]रक्षणं भोगसेविनाम् ॥ ३३३ ॥
क्रियारतानां भक्तानामास्तिकानां हितैषिणाम् ।
[5]कार्यं क्रियापरेणैव मन्त्रज्ञेन सदैव हि ॥ ३३४ ॥
यत्रानेन विधानेन शरीरमपि रक्ष्यते ।
तत्र भूताः प्रयच्छन्ति कल्याणं [2]सर्वलौकिकम् ॥ ३३५ ॥
अथ सन्धारणीं रक्षां वक्ष्ये विग्रहभूषणम् ।
या सम्पन्ने क्रियामात्रे धारणादेव रक्षति ॥ ३३६ ॥
प्रणवा[3]द्यन्तसंरुद्धं प्राग्वत् संज्ञापदं लिखेत् ।
[4]संज्ञाधारं हि तद्बीजं विन्यसेत् प्रणवोदरे ॥ ३३७ ॥
तेनावर्तं त्रिधा कुर्यात् सर्वं तत् सिंहकु[illegible]गम् ।
नेमेर्दशमबीजेन बीजराट् परिवेष्ट्यते ॥ ३३८ ॥
औकाररहितं बीजं नाभिसप्तमसंस्थितम् ।
भिन्नं सर्वारसंस्थैस्तु कृत्वा तेन प्रपूर्य तम् ॥ ३३९ ॥
कमलं तद्बहिः कुर्यात् षड्दलं व्योमभूषितम् ।
हृदाद्यं नेत्रपर्यन्तं पत्रषट्के तु विन्यसेत् ॥ ३४० ॥
प्रणवेन चतुर्दिक्षु संरुद्धं नाम संलिखेत् ।
रक्षवीप्सापदोपेतं पत्रसन्धिषु षट्[6]स्वथ ॥ ३४१ ॥

पशुप्रतिनिधिं चैव रञ्जितं कुङ्कुमादिना ॥
धात्वाश्रितानां दोषाणां मनसा परिकल्पितम् । (१७।२६८–२६९)
इति पूर्वोक्तप्र(करणे?कारेण) पिष्टपशुरूपान् कुर्यात् । साक्षात् प(शु?शू)नायुष्कामो न हन्यात् । ततः सप्तमे दिनेऽतीते मण्डलादिस्थितं देवं क्षान्त्वा मण्डलीयरजांसि बल्यादीं-श्चादाय प्राग्वत् त्यजेत् ॥ २३६–३३३ ॥

इत्यातुराणां रक्षाविधानमुक्तम् ॥

अथानातुराणामपि रक्षाविधिमाह—नीरुजानां विशेषेणेत्यारभ्य यागहोम-जपादिनेत्यन्तम् । दैवदोषविमुक्त आधिदैविकतापविमुक्त इत्यर्थः । आधिदैविको नाम

---

१. आढ्यानां—उ० । २. सार्व—मु० । ३. द्यं तु—उ० । ४. पङ्क्त्यष्टकं नास्ति—मु० अटी० । ५. क्रिया—वक० बख० । ६. स्वधा—त्रक० बख० ।

द्वादशारं बहिश्चक्रं नाभिनेमियुतं लिखेत् ।
नाभेरष्टमबीजं यत् [1]तदरेष्वन्तरा न्यसेत् ॥ ३४२ ॥
सप्तमाद् दशमं [2]यावद् वर्जयित्वा [3]अराक्षरम् ।
क्रमेण भेदयेच्छेषैस्[4]तदराणैः सबिन्दुकैः ॥ ३४३ ॥
जहिवीप्सापदं दोषानमुकस्येति विन्यसेत् ।
सर्वेषामन्तरालेषु अस्त्रमन्त्रं तु पूर्ववत् ॥ ३४४ ॥
अमुकं पाहि पाहीति द्वादशाक्षरमध्यगम् ।
चक्रनाभौ तु विन्यस्य नेमिदेशे तथैव हि ॥ ३४५ ॥
क्रमादथ बहिर्[5]लिख्यं मन्त्रचक्रस्य यत्नतः ।
वृत्तत्र्यश्रार्ध[6]चन्द्राणि चतुरश्रपुराणि च ॥ ३४६ ॥

शीतोष्णवातवर्षाम्बुवैद्युतादिसमुद्भवस्तापः । शोकवर्जित आध्यात्मिकतापविमुक्त इत्यर्थः । शोकपदमाध्यात्मिकानामन्येषामप्युपलक्षणम् । आध्यात्मिको नाम—

कामक्रोधभयद्वेषलोभमोहविषादजः ।
शोकासूयावमानेर्ष्यामात्सर्यादिमयस्तथा ॥ (वि० पु० ६।५।५)
शिरोरोगप्रतिश्यायज्वरशूलभगन्दरैः ।
[7]गुल्मार्शःश्वयथुश्वासच्छर्द्यादिभिरनेकधा ॥
तथाक्षिरोगातीसारकुष्ठाङ्गामयसंज्ञितैः । (वि० पु० ६।५।३–४)

इत्युक्तस्तापः । अधिभूतमयैर्मुक्त आधिभौतिकतापविवर्जित इत्यर्थः । आधिभौतिको नाम—

पशुपक्षिमनुष्याद्यैः पिशाचोरगराक्षसैः ।
सरीसृपाद्यैश्च नृणां [8]जन्यन्ते चाधिभौतिकाः ॥ (वि० पु० ६।५।७)

इत्युक्तस्तापः । तथा च प्रयोगः—

---

१. तमरं ष्वन्तरे—बक० बख० उ० । २. ताव—बक० बख० उ० । ३. क्षराष्टकम्—मु० अटी०, क्षराक्षरम्—उ० । ४. तदरान्तैः सवर्णकैः—बक० बख० उ० । ५. लेख्या—मु० अटी० । ६. चक्राख्य—बक० उ० । ७. 'गुल्माश्वास' इति शब्दचतुष्टयमेवास्यां पङ्क्तौ—म०, गुल्माशिश्वासयवदुच्चद्यद्यादिभिः—अ० । ८. जायते चाधिभौतिकः—मु० ।

बिन्दुस्वस्तिककह्लारवज्रसंलाञ्छितानि च ।
नाभिपूर्व[1]द्वितीयेन चतुर्थेन तदादिना ॥ ३४७ ॥
क्रमाद् वर्णचतुष्केण तानि युक्तानि कारयेत् ।
सषडङ्गेन बीजेन नाम रक्षपदानुगम् ॥ ३४८ ॥
सम्पुटीकृत्य वृत्ताख्यं मण्डलं परिपूरयेत् ।
द्वादशार्णेन बाह्यस्थं तृतीयं पूर्य पूर्ववत् ॥ ३४९ ॥
द्वितीयं वा चतुर्थं[2] तु बहिर्दिक्ष्वष्टके क्रमात् ।
रक्षवीप्सापदोपेतं नामवर्जं नियोजयेत् ॥ ३५० ॥
सह रोचनया[3] योज्य कर्पूरं कुङ्कुमं तु वै ।
क्षीरेण का[4]पिलेनाथ तद्गोमयरसेन च ॥ ३५१ ॥

शुभेऽनुकूले नक्षत्रे शुभे ग्रहेऽभ्युदिते सुलग्ने स्नातः कृतमन्त्रन्यासः साधको रोचनाकर्पूरकुङ्कुमानि कपिलाक्षीरेण तद्गोमयरसेन च हरिद्रोदकेन नदीजलेन च समालोड्य तत्कुङ्कुमादिपङ्कं बर्हिपक्षलेखिन्या समादाय भूर्जपत्रादौ वक्ष्यमाणप्रकारेण विलिखेत् । प्रणवसंपुटितं साध्यनामधेयं श्रीनृसिंहबीजगर्भं विलिख्य तद्बीजं प्रणवगर्भं यथा भवेत् तथा विलिख्य पुनस्तत्प्रणवं बीजगर्भस्थं कृत्वा पुनस्तद्बीजं प्रणवमध्यगतं कृत्वैवं त्रिधावर्तानन्तरं तत्सर्वं बीजगर्भगतं कृत्वा तद्बीजं नेमेर्दशमबीजेन लकारेण परिवेष्ट्यौकाररहितं नृसिंहबीजं नाभिसप्तमसंस्थितं सकारोपरि संस्थितं सर्वारसंस्थितैरकारादिविसर्गान्तैः स्वरैर्विभिन्नं च कृत्वा तेन तं प्रपूर्य तद्बहिर्व्योमभूषितं षड्दलं कमलं विलिख्य तद्दलेषु हृदादिनेत्रान्तान् षण्मन्त्रान् विलिख्य चतुर्दिक्ष्वपि प्रणवसंपुटितं रक्ष्यस्य नामधेयं रक्ष रक्षेति पदान्वितं पत्रसन्धिषट्केऽपि विलिख्य तद्बहिर्नाभिनेमिसमन्वितं द्वादशारं चक्रं विलिख्य नाभेरष्टमबीजं हकारं सप्ताष्टमनवमदशमस्वरान् विहायावशिष्टैरकारादिविसर्गान्तैर्द्वादशस्वरैर्भिन्नं कृत्वा द्वादशारेष्वपि क्रमेण लिखेत् । अराणामन्तरालेषु ॐ क्षः वीर्याय अस्त्राय फट् अमुकस्य दोषान् जहि जहीति विलिखेत् । चक्रस्य नाभिदेशे नेमिभागे च नृसिंहद्वादशाक्षरसंपुटितममुकं पाहि पाहीति विलिखेत् । ततस्तन्मन्त्रचक्रस्य बहिर्बिन्दुभूषितं वृत्तमण्डलं तद्बहिः स्वस्तिकभूषितं त्र्यश्रमण्डलं तद्बहिः कह्लारभूषितमर्धचन्द्राकारं मण्डलं तद्बहिर्वज्रलाञ्छितं चतुरश्रं मण्डलं च विलिख्य नाभिपूर्वं यकारं वायुबीजं पूर्वोक्ते वृत्तमण्डले

१. विना–उ० । २. वै–बक० बख०, च–उ० । ३. गोरोचना योज्या–मु० अटी० । ४. कपि–बख० उ० ।

निशाम्बुना समालोड्य निम्नगासलिलेन वा ।
विलिख्य भूर्जपत्रे[1] वा बर्हिपक्षेण वासरे[2] ॥ ३५२ ॥
शुभेऽनुकूले नक्षत्रे सुलग्नेऽभ्युदिते ग्रहे[3] ।
पूज्य संवेष्टय सूत्रेण ततः सद्धातुना तु वै ॥ ३५३ ॥
सन्धार्य[4] मूर्ध्नि कण्ठे[5] वा सततं दक्षिणे भुजे ।
दैवदोषविमुक्तस्तु वर्द्धते शोकवर्जितः ॥ ३५४ ॥
अधि[6]भूतैर्भयैर्मुक्तो यावज्जीवं हि तिष्ठति ।
परार्थतो वा स्वार्थेन कृतकृत्यो यदा भवेत् ॥ ३५५ ॥
दोषवाँन् शान्तिदेनैव कर्मणाऽनेन साधुना ।
मन्त्री तदा मन्त्रवरं प्रयत्नेन क्षमापयेत् ॥ ३५६ ॥
सिद्ध्यर्थमन्यसिद्धीनां यागहोमजपादिना ।
अथ मन्त्रवराद् धर्मसाधनं योऽभिवाञ्छति[7] ॥ ३५७ ॥
तत्प्राप्तये विधानं च संक्षेपादवधारय ।
पितृणां लुप्तपिण्डानां पिण्डनिर्वापणाय च ॥ ३५८ ॥

तद्द्वितीयं रेफमग्निबीजं त्रिकोणमण्डले तच्चतुर्थममृतं बीजमर्धचन्द्राकारमण्डले तत्तृतीयं पार्थिवबीजं चतुरश्रमण्डले च विलिख्य वृत्तमण्डले सषडङ्गेन बीजेन संपुटीकृतममुकनामधेयं रक्षेति पदद्वयं विलिखेत् । तथैवार्धचन्द्राकारमण्डलेऽपि द्वादशाक्षरसंपुटितममुकं रक्षेति पदद्वयं विलिखेत् । पुनस्त्र्यश्रमण्डले वृत्तमण्डलवच्चतुरश्रमण्डलेऽर्धचन्द्राकारमण्डलवच्च विलिख्य बहिः प्राच्याद्यष्टदिक्षु रक्ष रक्षेति केवलं नामवर्जितं[8] विलिखेत् । अथेदं यन्त्रं यथाविधि संपूज्य सूत्रेण संवेष्टय सुवर्णादिधातुना विधाय मूर्ध्नि कण्ठे दक्षिणभुजे वा सततं धारयेत् । अनेन यावज्जीवमाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकतापत्रयभयविमुक्तो भवति । एवं स्वार्थतः परार्थतो वा यन्त्रोद्धारादिकं कृत्वा यागहोमसमाधिभिर्देवं सविशेषं समाराध्य क्षमापयेत् ॥ ३३३–३५७ ॥

इति संधारिणी रक्षाविधिः ॥

अथानेन नृसिंहमन्त्रेण धर्मार्थकाममोक्षाख्यचतुर्विधपुरुषार्थसाधनविधिमाह—अथ मन्त्रवराद्धर्मेति प्रक्रम्य यावत् परिच्छेदपरिसमाप्ति। सुगमस्तदर्थः ॥ ३५७–४५८ ॥

---

१. भूर्जे पात्रे–बक०, भूर्जे वस्त्रे–उ० । २. वामने–मु० अटी० । ३. गृहे–मु० । ४. सन्धार्या–मु० अटी० । ५. कर्णे–बक० उ० । ६. आधि–मु०, आदि–अटी०, अधिभूतमयैर्मुक्त इति भाष्यानुसारी पाठः । ७. भृच्छा–बक० बख०, हृच्छा–उ० । ८. विवर्जितं–म० ।

प्रीतयेऽपि जगद्धातुः परित्राणार्थमात्मनः ।
कृतोपवासोऽमावास्यां मण्डलान्तर्गतं विभुम् ॥ ३५९ ॥
आवाह्य पूर्वविधिना योजयेद् भक्तिपूर्वकम् ।
पाद्यार्घ्यपुष्पधूपैस्तु दानै[1]र्हैमगवादिकैः ॥ ३६० ॥
तिलयुक्तैस्तु नैवेद्यैः सकुशैस्तु तिलान्वितैः ।
विमलैरम्बुपात्रैश्च स्वयमञ्जलिपूरकैः ॥ ३६१ ॥
सोऽचिरान्मन्त्रमूर्तेर्वै[2] प्रसादा[3]च्छाश्वतं पदम्[4] ।
प्राप्नोति नरकस्थांश्च पितॄनपि नयेद् दिवम् ॥ ३६२ ॥
पत्रपुष्पफलान्नाद्यसस्यदध्योदनादिना ।
रसैरन्नैश्च सद्गन्धैर्वस्त्रोत्कृष्टैस्तु धातुभिः ॥ ३६३ ॥
प्रवालमुक्तामाणिक्यैर्भक्त्या च विभवे सति ।
बिम्बस्थं मण्डलस्थं वा सर्वैर्यो[5] मन्त्रि[6]राड् यजेत् ॥ ३६४ ॥
षडशीतिमुखोत्थायां पूर्णायां सोपवासकः ।
यज्ञधर्मफलाकाङ्क्षी स नूनं तदवाप्नुयात् ॥ ३६५ ॥
यो[7] हि वाञ्छति सद्धर्मतीर्थाभिगमनं[8] महत् ।
स यथावत् क्रमात् पूर्वं[9] मण्डले मन्त्रराड् यजेत् ॥ ३६६ ॥
ततः सम्भृतसम्भारः स्नानपूर्वं समर्चयेत् ।
सिद्धप्रतिष्ठितं बिम्बं सैद्धं वाथ स्वयं कृतम् ॥ ३६७ ॥
पञ्चगव्यदधिक्षीरघृतमध्विक्षुवारिभिः[10] ।
सर्वौषधीगन्धरत्नै[11]फलपुष्पान्वितैर्घटैः ॥ ३६८ ॥
साङ्गेनामन्त्र्य मन्त्रेण शताष्टफलपूरितैः ।
अन्तरीकृतशुद्धाम्भःकुम्भैरर्घ्यसमन्वितैः ॥ ३६९ ॥
श्रद्धापूतेन मनसा एवं निष्पाद्यते यदि ।
प्रसादं[12] मन्त्रनाथस्य प्रागुक्तमचिराल्लभेत् ॥ ३७० ॥

---

१. दानहोम—बक० । २. अथवा—उ० । ३. प्रासा—मु० अटी० बक० ।
४. परम्—बक० बख० उ० । ५. पुरैः—बक० बख० उ० । ६. मन्त्र—बख० उ० ।
७. योऽभि—उ० । ८. सद्धर्म—उ० । ९. नान्म—उ० । १०. वारिणा—बक० बख० उ० ।
११. रत्नैः—बक०, रक्तैः—बख०, मिश्रैः—उ० । १२. दान्म—उ० ।

संक्रान्त्यां सोपवासस्तु मण्डले मन्त्रनायकम् ।
समावाह्य यजेद् यस्तु फलपुष्पैर्यथर्तुजैः ॥ ३७१ ॥
सप्ताहं फलमूलाशी त्रिकालं स्नानतत्परः ।
बहुशोऽष्टाङ्गपातैस्तु प्रदक्षिणसमन्वितैः ॥ ३७२ ॥
स नूनं [1]समवाप्नोति शश्वद्[2] यस्तद् व्रतोद्भवम् ।
अथाभिमतदानाद् वै यो धर्ममभिवाञ्छति ॥ ३७३ ॥
[3]विषुवस्थं दिनं प्राप्य सोपवासस्तु संयतः ।
अभिसन्धाय मनसा धर्मं दानादभीप्सितम् ॥ ३७४ ॥
निर्वर्त्य मण्डलं रम्यमग्न्यगारसमन्वितम् ।
गोसम्भवैस्तु नैवेद्यैर्भक्ष्यैः सफलमूलकैः ॥ ३७५ ॥
स्रग्वरैर्धूपदीपैस्तु तिलै[4]र्होमाम्बुभाजनैः ।
सम्यगिष्ट्वाऽथ सन्तर्प्य ज्वलनान्तर्गतं ततः ॥ ३७६ ॥
समिद्भिराज्येन तिलैः सघृतैस्तण्डुलान्वितैः ।
[5]ततोऽभिवर्धते धर्मो [6]मूर्तादानाच्छताधिकम् ॥ ३७७ ॥
दक्षिणे वायने [7]वाथ शुभं निर्वर्त्य मण्डलम् ।
मन्त्रनाथं तु चावाह्य विधिना संयजेत् ततः ॥ ३७८ ॥
माल्यैर्विलेपनैर्धूपैर्महादीपैर्घृतादिकैः ।
गुडखण्डचितैर्भक्ष्यैः पयसा कृसरेण तु ॥ ३७९ ॥
नालिकेरोदकेनैव सक्तुना च घृतेन च ।
सन्तर्प्य हुतभुङ् मध्ये मन्त्रमाज्यादिकैस्ततः ॥ ३८० ॥
[8]विधिनानेन वै धर्ममिष्टापूर्तमवाप्यते ।
चन्द्रसूर्योपरागे [9]चाप्यहोरात्रोषितः शुचिः ॥ ३८१ ॥
सर्वोपकरणोपेतमादौ निर्वर्त्य मण्डलम् ।
न्यस्य मन्त्रवरं तत्र विभवेन यजेत् ततः ॥ ३८२ ॥

---

१. धर्ममा—च० । २. द्यत् सद्—बख० उ० । ३. विष्टपस्थ—मु० अटी० ।
४. र्हेमा—उ० । ५. ततो हि—उ० । ६. मूर्त—उ० । ७. वामे—बक० बख० उ० ।
८. तेन—उ० । ९. वा अ—बक० बख० ।

सन्तर्प्य वह्निमध्येऽथ समिद्भिर्वा घृतादिकैः ।
जपेन्मन्त्रवरं पश्चान्मनसा ध्यानसंयुतम् ॥ ३८३ ॥
अक्षसूत्रकरो मन्त्री यावच्चन्द्रार्कदर्शनम् ।
पूजाहोमजपानां च फलानन्त्यमवाप्नुयात् ॥ ३८४ ॥
भक्तानामर्थहीनानां मन्त्रैकनियता[1]त्मनाम् ।
साधनाङ्गविहीनानां फलेप्सूनामिदं स्मृतम् ॥ ३८५ ॥
स्नानाद् ध्यानात्तथा योगाज्जपाद्धोमाच्च[2] सद्व्रतात् ।
सदन्नपानाद् दानाच्च सर्वलोपाच्च सामयात् ॥ ३८६ ॥
धर्मसाधनमित्युक्तं सवित्तानां विशेषतः ।
अर्था[3]र्थसाधनं मन्त्रादभिवाञ्छति योऽचिरात् ॥ ३८७ ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथवा यतिः ।
कृत्वा यागं यथा सम्यक् सप्ताहं तत्र मन्त्रराट् ॥ ३८८ ॥
यजेत् स विभवेनैव त्रिस्नायी नक्तभोजनः ।
त्रैकाल्यं हुतभुङ्मध्ये सन्तर्प्याज्येन [4]कालजैः ॥ ३८९ ॥
विल्वैरामलकैः पद्मैस्तदभावे कुशाङ्कुरैः ।
य इच्छेत् तस्य कालं तु मन्त्रं मन्त्रेश्वरात् फलम् ॥ ३९० ॥
वैशाख्ये हि सिते प[5]क्षे सौम्यश्रवणसंयुते ।
सोपवासेन कर्तव्यं मन्त्रेशस्यार्चनं महत् ॥ ३९१ ॥
स्थ[7]ले वा मण्डले बिम्बे साम्भःकुम्भेऽथवा ततः ।
दक्षिणोत्तरपादाभ्यां मन्त्रनाथस्य पूजयेत् ॥ ३९२ ॥
गङ्गां च यमुनां चैव [8]नतिना प्रणवेन तु ।
तदङ्घ्रिजलमिश्रेण घटमापूर्य चाम्भसा ॥ ३९३ ॥
अलङ्कृत्य यथाशोभं पुष्पवस्त्रानुलेपनैः ।
विनिवेश्य च तद्वक्त्रे तिलहोमफलान्वितम्[9] ॥ ३९४ ॥

---

१. निरता–उ० । २. र्चनाद्–उ० । ३. यथार्थ–मु० अटी० । ४. तत्तिलैः–उ० । ५. मन्त्री–उ० । ६. तेन–मु० अटी० उ० । ७. इत आरभ्याऽष्टादशपरिच्छेदसमाप्तिपर्यन्तं ग्रन्थपात उदयपुरमातृकायाम् । ८. नदीनां–बक० बख० । ९. न्वितः–मु० अटी० ।

मध्वाज्यशर्कराद्येन पूर्णं दध्योदना(नि?दि) च ।
महत्पूर्णघटं चैव पात्रं वा वैदलं[1] ततः ॥ ३९५ ॥
निवेद्य मन्त्रमूर्तौ प्राक् सदुपानहसंयुतम् ।
तत्रा[2]तपत्रसहितं पात्रमाहूय वै ततः ॥ ३९६ ॥
स्रक्चन्दनार्घ्यधूपैस्तु तमलङ्कृत्य वाससा ।
मन्त्रेणार्घ्योदकं पाणौ दत्वा तदनु तद्घटम् ॥ ३९७ ॥
प्रतिपाद्य जगद्योनेः प्रीत्यर्थमपि तेन वै ।
प्रसक्तेन[3] परां[4] प्रीतिं वाच्यो मन्त्री महामते ॥ ३९८ ॥
एवमेव प्रपन्ना ये नारायणमनामयम् ।
वर्णा ब्राह्मणपूर्वा[5] ये ते स्वदुष्कृतशान्तये ॥ ३९९ ॥
स्नात्वाऽभ्यर्च्य पितॄन् देवान् सन्नदीभ्यां तु सङ्गमे ।
आ नाभिमवतीर्याऽथ विमलाञ्जलिपूरकैः ॥ ४०० ॥
निर्वर्त्य भगवद्यागं दद्याद् विप्रवराय च ।
आप्त्यर्थं विबुधानां च सर्वलोकनिवासिनाम् ॥ ४०१ ॥
पितॄणां स्वकुलोत्थानां सततं श्राद्धकाङ्क्षिणाम् ।
श्वेतद्वीपाप्तये चैव वृद्ध्यर्थं च स्वसन्ततेः ॥ ४०२ ॥
आस्तां सितासिता चैव द्वादशी त्वमलेक्षण ।
भगवद्भावपूतानां या काचिदपरा तिथिः ॥ ४०३ ॥
सा चैव[6] श्रवणोपेता युता[7] चाभिजिता तु वै ।
सा तेषामङ्गभावं च याति सर्वफलाप्तये ॥ ४०४ ॥
तस्मात् कृतोपवासस्तु तस्यामभ्यर्च्य मन्त्रराट् ।
विभवेनाथवा शक्त्या मन्त्रसाम्मुख्यसिद्धये[8] ॥ ४०५ ॥
यानि यानीह[9] दानानि गोभूहेमादिकानि च ।
दत्तानि चानुरूपाणि जनानां कृतकर्मणाम् ॥ ४०६ ॥

१. वैदलकं—बक० बख० । २. तता—बक० बख० । ३. प्रपन्नेन—बख० ।
४. परा प्रीतिर्वाच्या—बक० बख० । ५. पूर्वे तु—मु० अटी० । ६. च वै—मु० अटी० ।
७. युक्ता—बख० । ८. मन्त्रं शान्त्याख्य—मु० अटी० । ९. यानीहि—मु० ।

फलदानि च दातॄणां भवदार्ढ्यकराणि च ।
सम्यग् दत्तानि तान्येव भक्तानां भावितात्मनाम् ॥ ४०७ ॥
भगवत्[1]पादलिप्सूनां भवन्ति भवशान्तये ।
अपिवादमिदं तावद् यत् सर्वत्राच्युतो हरिः ॥ ४०८ ॥
विष्णुर्नारायणो हंसः सर्वशक्तिमयः प्रभुः ।
द्रव्यात्मना विभक्तश्च ज्ञातव्यो ज्ञानकर्मणि ॥ ४०९ ॥
त्रिविधेन तु भेदेन बुद्बुदा[2]द्या यथाम्भसि ।
एवं दानं स्वमात्मानं पात्रं नारायणात्मकम् ॥ ४१० ॥
बुद्ध्वा सामान्यबुद्ध्या प्राक् पुनस्तत्त्रिविधं पृथक् ।
सविशेषं परिज्ञेयं दानकाले ह्युपस्थिते ॥ ४११ ॥
उपायलक्षणं द्रव्यमभ्यूह्यादौ स्वचेतसा ।
अनन्तशक्तेः सामर्थ्यमिदं किञ्चिदनश्वरम् ॥ ४१२ ॥
दानाभिमानदेहस्तु प्रत्यगात्मा त्वहं प्रभुः ।
पात्रभावत्वमापन्नो मदनुग्रहकाम्यया ॥ ४१३ ॥
देवः पञ्चतनुः साक्षात् पञ्चभूतात्मना त्विदम् ।
[3]ज्ञात्वैवं द्वादशार्णेन स्वेन वा न्यस्तविग्रहः ॥ ४१४ ॥
प्रत्ययं मन्त्रमालम्ब्य द्रव्यहोमादिकं त[4]तः ।
स्वरूपमजहद् ध्यायेन्म[6]हद्रश्मिकदम्बवत् ॥ ४१५ ॥
अमन्त्रेण यजेत् पश्चादर्घ्यपुष्पानुलेपनैः ।
[7]सिंहद्विषट्कमन्त्रेण स्वकेनाङ्गोज्झितेन [8]वा ॥ ४१६ ॥
सकलीकरणं कुर्यात् पात्रभू[9]तपरात्मना ।
तमर्चयित्वा विधिवद् वस्त्रस्रगनुलेपनैः ॥ ४१७ ॥
भगवत्प्रीतिपूर्वं तु दानं दद्याच्च सोदकम् ।
तेनापि प्रीणनं कार्यं भगवद्भावितात्मना[10] ॥ ४१८ ॥

---

१. त्पद–बक० बख० । २. बुद्बुदेभ्यो यथाम्बुधिः–मु० अटी० । ३. ज्ञात्वेदं–बक० बख० । ४. तथा–बक० बख० । ५. पं च जगद्–बख० । ६. ज्जगद् दृश्य–बक० । ७. विय–मु० अटी० । ८. वै–मु० अटी० । ९. भूते परात्मनः–मु० अटी० । १०. नाम्–अटी० ।

दानं ज्ञानात्मतां येन प्रयात्यच्युतवेदिनाम्[1] ।
नारायणः परंब्रह्म प्रतिशब्दत्वमागतः ॥ ४१९ ॥
संसारानलतप्तानां भक्तानां मोहशान्तये ।
अतस्तस्य स्वमन्त्रेण मूर्तिदानं समाचरेत् ॥ ४२० ॥
द्वादशाक्षरपूर्वेण त्वथवाऽन्येन केनचित् ।
अनन्तं त्वमलं त्वेवं क्रोडीकृत्य तदात्मना ॥ ४२१ ॥
समर्चनीयं विधिवन्मन्त्राकृति यथा सदा ।
एवं दानप्रदानेन यजेन्मन्त्रात्मना परम्[2] ॥ ४२२ ॥
महन्मन्त्रात्मना[3] चैव पुनः सद्व्रतसिद्धये ।
ब्रह्मत्वमेति वै येन व्रतिना [4]भगवद्व्रतम् ॥ ४२३ ॥
अनेकभेदभिन्नं च सदानं यत्पदार्थिनाम् ।
तपो यज्ञं हि विधिवद् ब्रह्मभावनयाऽर्चयेत् ॥ ४२४ ॥
यथा स्यान्मोक्षफलदमचिराद् विष्णुयाजिनाम् ।
नानाद्रव्याङ्गदेहं यद् यज्ञं चानेकलक्षणम् ॥ ४२५ ॥
मूर्तितां यज्ञमन्त्रेण नीत्वैवं प्राक् समर्चयेत् ।
जुहुयादा समाप्त्यन्तं पूर्णान्ते हेमम्[5]ृच्छति ॥ ४२६ ॥
दानानां च व्रतानां च तपसां यज्ञकर्मणाम्[6] ।
निवेदितव्यं यद् द्रव्यं दत्तं वा यत्र यत्पुरा ॥ ४२७ ॥
कर्तव्यमनुयागार्थं प्राक् तदेव हि केवलम् ।
तद्भावितमतोऽश्नीयात् पावनं प्रापणान्वितम् ॥ ४२८ ॥
भवेत् त्रिरात्रं फलदं भक्तानां शुभकारिणाम् ।
किं पुनस्तु समर्थानां चोदनाश्रयिणां तु वै ॥ ४२९ ॥
दानधर्मरतानां च व्रतिनां यज्ञयाजिनाम् ।
परत्र भवभीरूणामल्पार्थानां शुभार्थिनाम् ॥ ४३० ॥

---

१. त्युदितवेदिना—बक० बख० । २. तम्—बक० बख० । ३. महाम—बख० ।
४. मभवद्—मु० अटी० । ५. अनेन—मु० अटी० । ६. याचना—मु० अटी० ।
७. मोह[क्ष]—मु० अटी० ।

शमीपलाशश्रीवृक्षैः समिद्भिश्चामलद्रुमैः ।
अम्भसा चाम्बुमध्ये च मन्त्रतर्पणमाचरेत् ॥ ४३१ ॥
सप्ताहे समतीते तु मन्त्रमुत्थाप्य[1] मण्डलात् ।
ध्यानयुक्तं[2] जपं कुर्याल्लक्षसंख्यं समाहितः ॥ ४३२ ॥
ब्रह्मचर्यस्थितो मौनी[3] दुष्टाहारविवर्जितः ।
क्षारारनालतैलानां परित्यागी ह्यलोलुपः ॥ ४३३ ॥
नित्यं कुशाजिनेशायी मौनमात्सर्यवर्जितः ।
तप्तहाटकसंकाशं परिभ्रमणविग्रहम् ॥ ४३४ ॥
भूरिधारासमाकीर्णं वक्त्रमग्रे खगं स्मरेत् ।
तन्नाभिसंस्थितं मन्त्रमचलं चैव सम्मुखम् ॥ ४३५ ॥
नानारत्नप्रभाकान्तिमुद्गिरन्तं स्वविग्रहात् ।
हेमादि[4]धातुनिचयं चन्द्रकान्तादिसन्मणीन् ॥ ४३६ ॥
एवं ध्यायेज्जपेच्चापि पूजयेदन्तरान्तरा[5] ।
नियमादा समाप्त्येव जपान्ते वित्तपः स्वयम् ॥ ४३७ ॥
आज्ञावश्यो विधेयः स्यादात्मना च धनेन च ।
प्रयच्छत्यर्थिनां कामं भुङ्क्ते सोऽविरतं[6] स्वयम् ॥ ४३८ ॥
आयुरारोग्यसंयुक्तो मन्त्रेशस्य प्रभावतः ।
प्रवर्ततेऽर्थयुक्तानां काम आशु च भोगिनाम्[7] ॥ ४३९ ॥
तत्साधनमथो वक्ष्ये साधकानां हिताय च ।
मण्डलं पूर्ववत् कृत्वा शुचौ देशे मनोरमे ॥ ४४० ॥
सङ्क्लृप्ते तत्र मन्त्रेशं समाहूय च संयजेत् ।
त्रिरात्रं सप्तरात्रं वा जुहुयात् तदनन्तरम् ॥ ४४१ ॥
प्रागुक्तेन विधानेन जपध्याने समाचरेत् ।
सर्वाधारं[8] हरिं ध्यायेत् पद्मरागरुचिं[9] महत् ॥ ४४२ ॥

१. त्थाय–मु० । २. युक्तः–अटी० । ३. मौनी सङ्गविव–बक० बख० । ४. हेमाद्रि–मु० अटी० बक० । ५. न्तरे–बक० बख० । ६. रतः–अटी० । ७. मधो–मु० । ८. धारमरिं–मु०, धारमयं–अटी० । ९. रुचा–मु० अटी० ।

तन्मध्ये विद्रुमाभं च बन्धुजीवनिभोज्ज्वलम्[1] ।
ध्यायेन्मन्त्रवरं मन्त्री जपेत् पूर्वोक्तसंख्यया[2] ॥ ४४३ ॥
स्त्रीभोगं चेतसः कृत्वा जपान्ते साधकस्ततः ।
प्रार्थयन्तेऽत्र भीताश्च सन्तप्ता मदविह्वलाः ॥ ४४४ ॥
देवकिन्नरनार्यस्तु यक्षगन्धर्वकन्यकाः ।
सिद्धाः सुराङ्गनाश्चान्या नरनागस्त्रियोऽखिलाः ॥ ४४५ ॥
आजीवावधि वै सम्यक् कर्मणा मनसा गिरा ।
सेवन्ते साधकेन्द्रं तं मन्त्रस्यास्य प्रभावतः ॥ ४४६ ॥
यं यं समीहते कामं पातालोत्तिष्ठपूर्वकम् ।
लक्षजापात् तथा होमात् तं तं यच्छति मन्त्रराट् ॥ ४४७ ॥
अथ कामोपभोगात् तु विरतस्य च मन्त्रिणः ।
मोक्षदं सम्प्रदायं च कथयिष्ये यथार्थतः ॥ ४४८ ॥
कृत्वा यागवरं भूयः प्रसन्नेनान्तरात्मना ।
पूर्वोक्तं तु यजेत् कालं तत्र मन्त्रवरं क्रमात् ॥ ४४९ ॥
तर्पयित्वा विधानेन कुण्डे वाऽथ जलेऽम्भसा ।
सर्वदोषनिवृत्त्यर्थं प्रायश्चित्तार्थमेव च ॥ ४५० ॥
जपेदयुतमेकं तु प्रागुक्तं वा स्वशक्तितः ।
हृत्पुण्डरीकमध्येऽथ स्मरेन्मन्त्रं समाहितः ॥ ४५१ ॥
रोमकूपगणैः सर्वं रत्नज्वालाशतावृतम् ।
तन्मयं च स्वचैतन्यं कृत्वा तद् वह्निरश्मिभिः ॥ ४५२ ॥
भूतदेहं दहेत् कृत्स्नं तद्वियुक्तश्च साम्प्रतम् ।
मार्तण्ड इव पक्षीश आस्ते मन्त्रस्वरूपधृक् ॥ ४५३ ॥
अथ मन्त्राकृतिं स्वाँ वै ध्यायेत् परिणतां शनैः ।
तेजोगोलकसंकाशं सर्वाङ्गावयवोज्झितम् ॥ ४५४ ॥

---

१. ज्वलन्–मु० । २. संग्रहम्–अटी० । ३. लादिव–बक० बख० ।
४. पूर्वमुक्तं तु यत्कालं–बक० बख० । ५. स्मरन् मन्त्रं–बख० । ६. मन्त्रकृतिं–मु० ।
७. स्वं–बख० । ८. णतं–मु० अटी० ।

तत्तेजोगोलकं पश्चाद् बृहत्परिमितं च[1] यत् ।
सर्वगं[2] शब्दरूपं च भावरूपं तु चिन्मयम् ।। ४५५ ।।
तस्मादप्यभिमानं तु ह्यस्मिताख्यं शनैः शनैः ।
विनिवार्य यथा शश्वद् ब्रह्म सम्पद्यते स्वयम् ।। ४५६ ।।
इत्येवं वैभवीयस्य[3] नृसिंहस्य महात्मनः ।
आराधनं च संक्षेपादुक्तं[4] सिद्धिसमन्वितम् ।। ४५७ ।।
नित्यक्रियापराणां च संसारोद्विग्नचेतसाम् ।
मद्भक्तानामिदं वाच्यं शुद्धानां संयतात्मनाम् ।। ४५८ ।।

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां वैभवीयनृसिंहकल्पो नाम[5] सप्तदशः परिच्छेदः ।।

■

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये सप्तदशः परिच्छेदः ।।

■

१. त्वपि–मु० अटी० । २. सर्वाङ्ग–बख० । ३. वैभवं–बक० बख० ।
४. सर्वेषामुक्तं–मु० अटी० । ५. 'नाम' नास्ति–बख० ।

अष्टादशः परिच्छेदः

नारद उवाच[1]

एवमुक्ते सति पुनः कामपालो मुनीश्वराः ।
उवाचेदं हरिं वाक्यं लोकानुग्रहकाम्यया ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच[1]

सम्प्राप्तप्रत्ययानां च द्विजातीनां च साम्प्रतम् ।
सम्यक् प्रक्षीणपापानामारूढानामिह क्रमे ॥ २ ॥
दीक्षात्रयस्य भगवन् ज्ञातुमिच्छामि निर्णयम् ।
यत्प्राप्य भगवद्भक्तः कृतकृत्योऽचिराद् भवेत् ॥ ३ ॥

श्रीभगवानुवाच[1]

शुभेऽनुकूले नक्षत्रे तिथौ लग्ने ग्रहे[2]क्षिते ।
भक्तानामधिवासार्थं क्ष्मापरिग्रहमाचरेत् ॥ ४ ॥
पुण्ये देशेऽनुकूले च मनोज्ञे साधुसेविते ।
मृद्वारिफलपुष्पाढ्ये समित्कुशसमन्विते ॥ ५ ॥
गोसस्यशालिसुभगे क्षुद्रप्राणिविवर्जिते ।
तत्र वर्णानुरूपां क्ष्मां गच्छेत् पूर्वोक्तलक्षणाम् ॥ ६ ॥
सर्वदोषविनिर्मुक्तां सत्पक्षिमृगसेविताम् ।
या शुभायतनोद्देशै[3]र्मठैर्गोष्ठापणैर्गृहैः ॥ ७ ॥

अथाष्टादशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । संकर्षणः पृच्छतीत्याह—एवमिति ॥ १ ॥
प्रश्नप्रकारमाह—सम्प्राप्तेति द्वाभ्याम् ॥ २–३ ॥

एवं पृष्टो वासुदेवः प्रथमं क्ष्मापरिग्रहपूर्वकं दीक्षा[4]मण्डपनिर्माणप्रकारमाह—

---

१. 'उवाच' नास्ति–मु० अटी० । २. गृहे–मु० । ३. शे मठगो–बक० बख० ।
४. 'मण्डपनिर्माण' नास्ति–अ० ।

तोयाशयाश्रमैः क्षेत्रैः सद्वृत्तैरन्तरीकृता ।
जलौघभयनिर्मुक्ता बलाद् भुक्ता च सज्जनैः ॥ ८ ॥
वनैरुपवनैर्ग्रामैर्नगराङ्गैः समावृता ।
अलाभे सति लाभे वा स्वभूमेर्ब्राह्मणादिषु ॥ ९ ॥
स्वमन्त्रेणार्चनात् स्वत्वं कुर्याद् वर्णव्यपेक्षया ।
उद्धृतां कृतखातां च ज्ञात्वा दोषोज्झितां पुरा ॥ १० ॥
शुभमृत्पूरितां कृत्वा लघ्वश्मभिरथान्तरा ।
ततस्त्वाकुट्टयेत् पश्चात् पञ्चगव्येन सेचयेत् ॥ ११ ॥
युक्तां हेमादिसद्रत्नैः समीकृत्योपलिप्य च ।
तत्रार्चनं विभोः कुर्याद् ध्यानान्तं चैव पूर्ववत् ॥ १२ ॥
भूतानां बलिदानं च सुरभीणां च तर्पणम् ।
द्विजानां दक्षिणान्तं वै ततस्तत्र समापयेत् ॥ १३ ॥
प्राग्दिक्षु सिद्धिपूर्वं तु मण्टपं मण्डनान्वितम् ।
सुस्तम्भद्वितयेनैव कोणगेनोपशोभितम् ॥ १४ ॥
पार्थिवेन च पीठेन मध्यगेन विराजितम् ।
विस्तरात्तु द्विजातीनां शूद्रान्तानां समं स्मृतम् ॥ १५ ॥
अष्टाश्रमथवा वृत्तं तुर्याश्रं सोपपीठकम् ।
अष्टाङ्गुलात् समुत्सेधादेकापायेन लक्षितम् ॥ १६ ॥
स्वोन्नत्यर्थेनोपपीठं सर्वेषां परिकल्पयेत् ।
विस्तारमुपपीठानां पीठोच्छ्रायाद् द्विसंगुणम्[1] ॥ १७ ॥
उपपीठस्य संलग्ना तन्मानेन तु चोन्नता ।
आप्यदिक् साग्रहस्ता च सम्पाद्याऽऽसनपिण्डिका ॥ १८ ॥
नैवेद्यमुपपीठे तु विनिवेद्य निधाय च ।
तस्य दक्षिणदिग्भागे त्वन्तर्गमनसंयुतम् ॥ १९ ॥

---

१. द्विगुणं समम्—बक० बख० ।

विविक्तलोचनोपेतं पिण्डिकाकुण्डभूषितम् ।
सुकवाटार्गलोपेतं कुर्याद् हवनमण्टपम् ॥ २० ॥
उपलिप्यास्त्रजप्तेन वारिणा गोमयेन तु ।
विधिवच्छोभनं कुर्यादित्येवं मण्टपद्वयम् ॥ २१ ॥
विहितो वित्तविरहादधिवासो द्विजालये ।
शिष्यैर्वाऽऽचार्यभवने तत्र कुर्यात् परिग्रहम् ॥ २२ ॥
प्राग्वदर्चनपूर्वं तु भूततर्पणपश्चिमम् ।
ओदनं दधिलाजाज्यं मधुतोयपरिप्लुतम् ॥ २३ ॥
भूततर्पणमित्युक्तं तद्विना तत्र तेऽनिशम् ।
सन्तिष्ठन्ते बहिः क्रुद्धाः काङ्क्षमाणाः परं वधम् ॥ २४ ॥
अतश्च विहितं यत्नात् स्थाने क्षेत्रे कृते सति ।
निर्विघ्नसिद्धये दद्याद् बलिं सर्वत्र सर्वदा ॥ २५ ॥
कृत्वैवं मङ्गलार्थं तु दीर्घं घण्टारवं शुभम् ।
स्वपदात् प्राग्वदुत्थाप्य प्रोच्चार्य प्रणवं महत् ॥ २६ ॥
प्रवेशयेत् ततस्तस्मिन् लाजान् सिद्धार्थकान् शुभान् ।
फलानि श्रीफलादीनि चन्दनादीनि रोचनाम् ॥ २७ ॥
श्वेतपूर्वाः सुमनसस्तन्महीरुहमञ्जरीम् ।
साग्रान् हरितदर्भांश्च सर्वरत्नानि काञ्चनम् ॥ २८ ॥
सर्वौषधीत्वगेलाद्यं सुगन्धिनिचयं शुभम् ।
पद्मकं शङ्खपुष्पं च विष्णुक्रान्तां च कुन्दरम् ॥ २९ ॥
सप्त सप्त च धान्यानि बीजानि च समानि षट् ।
शालिश्यामाकनीवारतण्डुलं भूरिसंस्कृतम् ॥ ३० ॥

शुभेऽनुकूले नक्षत्र इत्यारभ्य बलिं सर्वत्र सर्वदेत्यन्तम् ॥ ४-२५ ॥

सम्भारार्जनमाह—कृत्वैवमित्यादिभिः । सप्त सप्त च धान्यानि ग्राम्यारण्य-

---

१. सत्क—वक०, सक—बख० । २. जाज्य—मु० अटी० । ३. तेऽनिशाम्—मु०, ते निशाम्—अटी० । ४. दीर्घघण्टारवोपमम्—बक० बख० । ५. नसः सन्म—मु० अटी० । ६. क्रान्तां च कुन्दकम्—बक० बख० ।

गोसम्भवानि वै पञ्च पात्रेष्वौदुम्बरेषु च ।
तत् स्रावर्जितान्यानि तान्येव सुबहून्यपि ॥ ३१ ॥
प्रतिक्षणोपयोगार्थं भाण्डेष्वपि नवेषु च ।
पाद्याचमनकार्यार्थं दध्यन्नं[1] विनिवेदने ॥ ३२ ॥
हेमाद्युत्थानि पात्राणि मृदुपर्णपुटानि वा ।
पौण्डराणि[2] दुकूलानि वस्त्रयुग्मद्वयं नवम् ॥ ३३ ॥
उपवीतं सोत्तरीयं सुसिते धौतवाससी ।
कौशेयानि पवित्राणि कङ्कणं साङ्गुलीयकम् ॥ ३४ ॥
स्फाटिकं चाक्षसूत्रं च पत्राक्षं तु गणित्रकम्[3] ।
पञ्चलोहमयं चक्रं सशङ्खं द्वादशारकम् ॥ ३५ ॥
कुतपं योगपट्टं च नेत्रवस्त्रं मृगाजिनम् ।
ब्रुंसीकाशांशुकं[4] पट्टं पादुके च उपानहौ ॥ ३६ ॥
दण्डं प्रतिग्रहं छत्रं पूर्णगोधूमकाष्टकम्[5] ।
चतुर्वर्णानि माल्यानि सुन्दरं पावनं लघु ॥ ३७ ॥
नीलशाद्वलसम्मिश्रं हरितं पत्रसंचयम् ।
गुग्गुलं मृष्टधूपं च दीपतैलं च वर्तयः ॥ ३८ ॥
दर्पणं धूपपात्रं च घण्टामर्घ्यादिपात्रकम् ।
रजांसि करणीयुग्मं पालिकां[6] घटिकां सिताम् ॥ ३९ ॥
पञ्चाङ्गुलं तु सुदृढं हेमाद्यं कुशपञ्चकम् ।
अलक्तरञ्जितं सूत्रं सुसितं[7] कर्तरी क्षुरम् ॥ ४० ॥
काण्डान्यष्टौ तु साग्राणि बर्हिपक्षान्वितानि च ।
प्रोन्नतानि स्थिराग्राणि लोहमृत्[8]काष्ठजानि वा ॥ ४१ ॥

भेदभिन्नानीश्वरपारमेश्वरयोर्हवि:पाकप्रकरणोक्तानि (ई० सं० २५।५८–५९; पा० सं० १८।१३४–१३६) ज्ञेयानि। अस्मिन्नवसरेऽङ्कुरप्रतिसरावीश्वरोक्तौ (२१।७५) ग्राह्यौ,

१. दध्यन्नं विनिवेदयेत्–मु० अटी० । २. पाण्डु–अटी० । ३. गुणि–मु०, गुणा–अटी० । ४. ब्रूसिका–अटी०, ब्रुसिकां शाटकं–बक० बख० । ५. माषजे–बक० बख० । ६. शालिकां–मु० अटी० । ७. सुशिता–मु० अटी० । ८. हूत्–मु० अटी० ।

रञ्जितानि सुधाद्यैस्तु तदाधाराणि यानि च।
कुल्लिकान्यम्बुकुम्भानि भृङ्गारं करवीं शुभाम् ॥ ४२ ॥
अकालमूलनिर्गर्भं[1] साधारं कलशं तथा।
स्थालीं कमण्डलुं दर्वीं तत्पिधानं तु चुल्लिकाम्[2] ॥ ४३ ॥
भद्रपीठं चतुष्पादं चतुरश्रायतं नवम्।
मात्रावित्तं सताम्बूलं दन्तधावनसञ्चयम् ॥ ४४ ॥
शुष्कगोमयसंयुक्तामरणिं चाग्निजं[3] मणिम्।
पालाशदूर्वा[4]समिधः साग्राः परिधयस्तु वै ॥ ४५ ॥
प्रभूतमिन्धनं शुष्कमाज्याक्तं तिलतण्डुलम्।
प्रागुक्तं स्रुक्स्रुवाद्यं च होमोपकरणं च यत् ॥ ४६ ॥
सर्वं[5] पक्ष्मकपर्यन्तं बृहत्पात्रद्वयान्वितम्।
पूर्वोक्तानां च भोगानां मध्याद् यः स्थण्डिलार्चने[7] ॥ ४७ ॥
संयाति चाङ्गभावं तद् ज्ञात्वा सर्वं[5] प्रवेशयेत्।
अनुग्रहधियाऽऽचार्यो भक्तानां भाविनां[6] विभोः ॥ ४८ ॥
दिव्यभोगोपलिप्सूनां निःश्रेयसपदार्थिनाम्।
प्रत्येकैकं हि यद्[8] गाङ्गे वर्धयेद् द्रव्यमूर्तिना ॥ ४९ ॥
नित्येनाव्यक्ततत्त्वेन सन्मन्त्रब्रह्मणा[9] सह।
सार्थं[10] सप्त्यादिकं दद्यान्मन्त्रव्यूहं यथागमम् ॥ ५० ॥
फलदं स्यात् सकामानामकामानां हि मोक्षदम्।
ससहायस्[11]ततस्तत्र प्राग्वत् स्नात्वा कृताह्निकः ॥ ५१ ॥

अत्रापि सम्भारवर्गे "[12]पालिकां घटिकाम्" (१८।३९) इत्युक्तत्वात् ॥ २६–४८ ॥

शिष्याणां बहुत्वे प्रत्येकं यागद्रव्याणा(मप्य?मपि) वृद्धिमाह—अनुग्रहधियेति त्रिभिः ॥ ४८–५१ ॥

---

१. निर्गभं–मु०, निर्द्गभं–बक० बख०। २. पुल्लि–बक० बख०। ३. चाग्निभं–अटी०। ४. पूर्वाः–बक० बख०। ५. द्यत्–मु०। ६. भाविनां–मु०। ७. भोगफले–बक० बख०। ८. या–बक० बख०। ९. ब्राह्मणा–बक० बख०। १०. स्वात्मकर्म द्रुमद्रव्यं मन्त्र–बक० बख०। ११. सह साध्यः–मु० बक० बख०। १२. पालिकायां–अ० म०।

सम्प्रविश्याप्यदिक्संस्थः प्राङ्मुखः प्रविशेत् ततः ।
पद्मासनादिना मार्गे चर्मण्याचामपूर्वकम् ॥ ५२ ॥

कुर्याद् यदधिकारेण मन्त्रेणानुग्रहं शिशोः ।
तेनाङ्गसहितेनैव सर्वं कर्म समाचरेत् ॥ ५३ ॥

समस्तैर्वैभवैर्मन्त्रैः कार्यो वाऽनुग्रहो यदि ।
सर्वाराधनदानार्थं वा द्विषट्काप्तये तदा ॥ ५४ ॥

विशाखयूपमन्त्रेण कुर्यात् तद्धारणाद्वयम् ।
तद्बीजेन तनुं व्याप्य प्राग्वत् तदभिमन्त्रितैः ॥ ५५ ॥

पुराहृतैर्यथाशक्ति मण्डलं च समाचरेत् ।
प्राक् समालभनैर्वस्त्रैः कटकाद्यङ्गुलीयकैः ॥ ५६ ॥

सितोर्णाषेण महता सितमाल्येन वै सह ।
मुखवासैः सताम्बूलैर्ललाटतिलकेन च ॥ ५७ ॥

कृत्वा शुभेन शारीरं योगपट्टेन संस्थितम् ।
हृत्पुण्डरीकमध्ये तु संन्यसेद् बीजमैश्वरम् ॥ ५८ ॥

अथ स्नानाह्निकादिपूर्वकं स्वासनोपवेशनमाह—ससहाय इति । ससहायः सपरिचारक इत्यर्थः । मार्गे चर्मणि एणाजिन इत्यर्थः ॥ ५१–५२ ॥

येन मन्त्रेण दीक्षा क्रियते, तेनैवाङ्गसहितेन सर्वकर्माचरणमाह—कुर्यादिति ॥ ५३ ॥

सर्वाराधनादियोग्यतासिद्ध्यर्थं समस्तैरपि वैभवमन्त्रैर्युगपदेव दीक्षाप्रकरणे समस्तविभवदेवानामपि कारणभूतस्य विशाखयूपस्य मन्त्रेण दहनाप्यायनाख्यधारणद्वयात्मकभूतशुद्ध्यनुष्ठानं पूर्वोक्तेन विशाखयूपबीजेनैव स्वशरीरे व्यापकन्यासं तदभिमन्त्रितैरेव सितादिरागैर्मण्डलपूरणं चाह—समस्तेति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ५४–५६ ॥

आदौ स्वस्य गन्धाद्यलङ्करणादिकमाह—प्रागिति द्वाभ्याम् ॥ ५६–५८ ॥

---

१. ण्यास्यात् प्रपू—बक० बख० । २. वषट्कारा—बक० । ३. मण्डनं—मु० अटी० ।

करयोः पद्मनाभीयं ध्रुवाख्यमथ विग्रहे ।
शेषैरालभ्य पादान्तमामूर्ध्नश्चापि पूर्ववत् ॥ ५९ ॥
हस्तयोर्विग्रहे साङ्गं विन्यसेद् बीजमैश्वरम् ।
मुद्रावसानं कृत्वैवं[1] सम्यक् तदनु चाहरेत् ॥ ६० ॥
पाणिभ्यां शङ्खचक्रे द्वे स्वमन्त्रेणाभिमन्त्रिते ।
भूत्वा तदात्मना पश्चात्ते निधाय धरातले ॥ ६१ ॥
अवलोक्याखिलं तत्स्थं प्रवर्तेताथ कर्मणि ।
अस्त्राभिमन्त्रितं कृत्वा कर्म[2] भूम्यान्तरे स्थितम् ॥ ६२ ॥
तेनोपलिप्य सम्मार्ज्य यागस्थानं निघृष्य च ।
तद्ब्रह्माख्यावथौ[3] भूयस्तेजसो[4] हि विवृद्धये ॥ ६३ ॥
हेमपूर्वाणि रत्नानि बीजानि विनिवेश्य च ।
गालितेनाम्भसाऽऽपूर्य ततः पात्रचतुष्टयम् ॥ ६४ ॥
एकस्मिन् चन्दनादीनि पूर्वं सिद्धार्थकानि च ।
साक्षतानि कुशाग्राणि तण्डुलानि तिलांस्तु वै ॥ ६५ ॥
सरत्नानुत्तमान् धातून् सफलान् विनिवेशयेत् ।
द्वितीये दधिमध्वाज्यक्षीरबिन्दुचतुष्टयम् ॥ ६६ ॥

हृदये विशाखयूपबीजन्यासं करयोः पद्मनाभबीजन्यासं शरीरे ध्रुवबीजन्यासमवशिष्टैरनन्तादिषट्त्रिंशद्बीजैरामूर्ध्नः पादान्तमभिमर्शनं पुनर्हस्तयोर्विग्रहे च विशाखयूपबीजेन षडङ्गन्यासं विभवमुद्रादर्शनं हस्ताभ्यां शङ्खचक्रादानं तन्मन्त्राभ्यां तयोरभिमन्त्रणं स्वस्य तादात्म्यावलम्बनादिकमखिलसम्भाराणामपि चक्रशङ्खान्तर्गतत्वेनावलोकनपूर्वकं कर्मप्रारम्भं चाह—हृत्पुण्डरीकेति चतुर्भिः ॥ ५८–६२ ॥

यागगेहशोधनालङ्करणमाह—अस्त्राभिमन्त्रितमिति द्वाभ्याम् ॥ ६२–६४ ॥

अर्घ्यादिपरिकल्पनक्रममाह—गालितेनेत्यादिभिः । पात्रचतुष्टयम् अर्घ्यद्वितीयार्घ्यपाद्याचमनपात्रचतुष्टयमित्यर्थः । एकस्मिन् प्रधानार्घ्ये । चन्दनादीनीत्यत्रादिपदेन कर्पूरकुङ्कुमे ग्राह्ये, "चन्दनं शशिबाह्लीकौ (६।४२) इति पारमेश्वरे विवृतत्वात् । सिद्धार्थकं श्वेतसर्षपः । साक्षतानि शोभनाक्षतसहितानि । पारमेश्वरव्याख्याने तु

---

१. कृत्वैव—मु० अटी० । २. कर्मागारा—बक० बख० । ३. ख्य वयो—बक० बख० । ४. सोऽभिवि—बख० अटी० ।

कुशाग्रेण सबाह्लीकं सपुष्पं [1]तिलतण्डुलम् ।
दूर्वां सं[2]विष्णुक्रान्तां च श्यामाकं शङ्खपुष्पिकाम् ॥ ६७ ॥
पद्मकं च तृतीये तु कुन्दरेणु[3]समन्वितम् ।
त्वगेलाद्यचयं सर्वं सकर्पूरं च चन्दनम् ॥ ६८ ॥
विनिक्षिप्य चतुर्थे तु द्रव्यं सर्वमिदं शुभम् ।
हृन्मन्त्रेण चतुर्णां तु कुर्याद् वै द्रव्ययोजनम् ॥ ६९ ॥
सास्त्रेण मूलमन्त्रेण सर्वं[4] तच्चाभिमन्त्र्य तु ।
सषडङ्गेन तेनैव कुर्यात् पुष्पादिनाऽर्चनम् ॥ ७० ॥
यथाक्रमेण सर्वेषां ध्येयं सर्वं सुधोपमम् ।
आवाहने सन्निधाने सन्निरोधे तथार्चने ॥ ७१ ॥

क्षतिरहितानीति कुशाग्रविशेषणं कृतम् । उत्तमान् धातून् सुवर्णरजतताम्रान् । तथा विवृतं पारमेश्वरे—"काञ्चनं रजतं ताम्रम्" (६।४३) इति । सफलान् कदल्यादिफलान्वितानित्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—"कदलीफलपूर्वाणि प्रधानार्घ्ये विनिक्षिपेत्" (६।४३) इति । सबाह्लीकं सकुङ्कुमम् । विष्णुक्रान्ता प्रसिद्धा । श्यामाकः मुनिप्रियः । श्याम[5] अरिशि, "श्यामाको नील[6]पुष्पः स्यात् स्मयाकश्च मुनिप्रियः" (३।८।५८) इति वैजयन्ती । शङ्खपुष्पं कर्णाटभाषायां विषप्रहरी । पद्मकं वैद्यग्रन्थे प्रसिद्धम् । कुन्दरेणुः कुन्देन सहिता रेणुः, कुन्दो नाम वालुक्याख्यस्तृणविशेषः । "वालुकं चाथ वालुक्यं मुकुन्दः कुन्दकुन्दरू" (अ० २।४।१२१) इति नैघ[7]ण्टुकाः । कर्णाटभाषायां कर्णिकेय हल्लु[8] । रेणुर्नाम रेणुका, तथैव प्रसिद्धो गन्धद्रव्यविशेषः । "हरेणू[9] रेणुका कौन्ती"(२।४।१२०) इत्यमरः । अथवा "कुन्दरेण समन्वितः" इति पाठे कुन्दरः पूर्वोक्तः कुन्द एव । वस्तुतस्तु तथैव पाठः सरसः । पूर्वं सम्भारार्जनप्रकरणे "विष्णुक्रान्ता च कुन्दरम्" (१८।२९) इति कुन्दमात्रस्योक्तत्वात्, रेणुकाया अनुक्तत्वाच्च । त्वगेलाद्यचयं त्वग् लवङ्गः, "त्वक्पत्रमुत्कटं भृङ्गम्" (२।४।१३४) इत्यमरः । एला प्रसिद्धा । तदाद्यानां द्रव्याणां चयं समूहम् । अत्राद्यशब्देन तक्कोलजातिफले ग्राह्ये । तथोक्तं पारमेश्वरे—"एलालवङ्गतक्कोलैः सह जातीफलानि च" (६।४६) इति । एषामर्घ्यादीनां स्थाननियमादिकं षष्ठपरिच्छेदे (६।९-११) प्रदर्शितम् । दहनाप्यायनादिकं तु नृसिंहकल्पपरिच्छेदे (१७।१७-२७) प्रदर्शितम् । तत्सर्वं संगृह्येश्वरादिषु[10] सुव्यक्तमुक्तं द्रष्टव्यम् ॥६४-७१॥

१. सित—मु० अटी० । २. च वि—बख० । ३. कुन्दरेण—मु० अटी० बक० बख० । ४. षडङ्गेन च—मु० । ५. शामेधरिशि—म० । ६. पुष्पा स्यान्मायाकच—अ० म० । ७. नैखण्डुकाः—अ० । ८. हुल्लु—म० । ९. हरेणु—अ० म० । १०. ईश्वरे तृतीयाध्याये पारमेश्वरे च षष्ठाध्याये विषयोऽयं द्रष्टव्यः ।

विसर्जनेऽर्घ्यदानं तु प्राक्पात्रान्नित्यमाचरेत् ।
तदम्भसा चार्हणं तु तथैव परिषेचनम् ।। ७२ ।।
कुर्यात् प्रणयनादानं प्रीणनं प्रीतिकर्म च ।
प्रोक्षणं सर्ववस्तूनाम् अन्यस्मादुदकेन तु ।। ७३ ।।
आरम्भे सर्वकार्याणां तत्समाप्तौ तथैव हि ।
न्यूनाधिकानां शान्त्यै तु ज्ञानव्यत्ययशान्तये ।। ७४ ।।
कार्यं तदर्घ्यदानं च नित्यं मन्त्रात्मना विभोः ।
कुम्भोपकुम्भकुण्डानां मन्त्रास्त्रकलशार्चने ।। ७५ ।।

प्रधानार्घ्यस्य विनियोगमाह—आवाहन इति । प्रणयनादानं प्रणयनं पात्रान्तरे सेचनम्, तत्पूर्वकमादानं ग्रहणम् । तच्च "तर्पणं संप्रतिष्ठाप्य वासितं चार्घ्यवारिणा" (६।३७६) इति पारमेश्वराद्युक्तप्रकरणेषूपयुक्तं ज्ञेयम् ॥ ७१–७३ ॥

द्वितीयार्घ्यविनियोगमाह—अन्यस्मादित्यारभ्योक्तानुक्तार्चनं प्रतीत्यन्तम् । न्यूनाधिकानां कार्याणामित्यनुषङ्गः । एवं च सर्वकार्येष्वपि समाहितस्यापि कर्मज्ञान-वैपरीत्याद् दोषः संभवत्येव । तच्छान्त्यर्थं सर्वकार्याणामारम्भेऽवसाने च भगवते सकृत् सकृत् समर्पणीयमिति भावः ।

कुम्भोपकुम्भकुण्डानां कुम्भस्य महाकुम्भस्य ये उपकुम्भास्तेषां कुण्डस्य चेत्यर्थः। यद्वा कुम्भा महाकुम्भस्य प्रागादिषु स्थापिताः कलशाः, उपकुम्भाः शान्तिकादिर्षूक्त-प्रकारेण तदुपरि स्थापिताः कलशा इत्यर्थः । मन्त्रास्त्रकलशार्चने मन्त्राणामुपकुम्भेषु कुण्डमेखलास्थितकूर्चादिषु च संस्थितवासुदेवादिमन्त्राणामस्त्रकलशस्य चार्चन इत्यर्थः। महाकुम्भस्थायार्घ्यदानं तु प्रधानार्घ्यजलेनैवेति ज्ञेयम् । भूतानां संपूजने कुमुदाद्यर्चन इत्यर्थः । "संपूजने च भोगानाम्" (६।११५) इति पाठान्तरमुक्तं पारमेश्वरे, तथैव विवृतं तद्व्याख्याकारैरपि । गुर्वादीनामित्यत्र दक्षशिष्यात्मपूजार्थमित्यत्र च तत्तद्विग्रह-विन्यस्तमन्त्रार्चनविषयमिति बोध्यम् । उक्तानुक्तार्चनं प्रतीति संक्षेपेणोक्तम् ।

---

१. दानान्तं–अटी० । २. पात्रं नित्य–बक० बख० । ३. यनं दानं–मु० अटी० । ४. सदैव–बख० । ५. ऊना–मु० अटी० बक० । ६. साम्ये–मु० अटी० । ७. ज्ञातव्यं त्वघ–मु० अटी० । ८. षूक्ते प्रकरणे–अ० । ९. शस्यार्चने–अ० ।

सम्पूजने च भूतानां गुर्वादीनां महामते ।
दक्षशिष्यात्मपूजार्थमुक्तानुक्तार्चनं[2] प्रति[1] ॥ ७६ ॥
पाद्यदानं तृतीयात् तु नित्यं पात्रात् समाचरेत् ।
चतुर्थात् तु यथाकालं दद्यादाचमनं ततः ॥ ७७ ॥
मुख्यार्घ्यवारिणा प्रोक्ष्य पृथग् भाण्डस्थितं पुरा ।
पञ्चगव्यं ततः प्राग्वत् कल्पनीयं हृदादिकैः ॥ ७८ ॥
कुशोदकं तदस्त्रेण दत्वाद्येनाभिमन्त्र्य च ।
अथ पाणिद्वयेनैव अग्नीषोमात्मकेन च ॥ ७९ ॥
योग्यतापदवीं नीत्वा प्रोक्षयेद् यत् पुराहृतम् ।
साम्भसा तेन वै सर्वं विष्टराग्रगतैः कुशैः ॥ ८० ॥
सर्वबीजानि धान्यानि सिद्धार्थकयुतान्यथ ।
कृत्वास्त्रपरिजप्तानि ध्यात्वा चास्त्रसमानि च ॥ ८१ ॥

विशदीकृतमीश्वरपारमेश्वराभ्याम्—

दक्षशिष्यात्मपूजार्थं[2] द्वास्थानामर्चनं प्रति ।
प्रासादासनदेवानां गुरूणां सन्ततेस्तथा ॥
लाञ्छनाङ्गपरीवारशक्तिभूषणरूपिणाम् ।
मण्डलावरणस्थानां देवानां चार्चने तथा ॥
मुद्राबन्धे कराभ्युक्षं[3] तदर्चा[4] क्षालनं तथा ।
जपकालेऽक्षसूत्रस्य कुर्यात् तत्क्षालनं[5] तथा ॥ इति ॥ ७३–७६ ॥
(ई० सं० ३।९४–९६; पा० सं० ६।११५–११८)

पाद्यविनियोगमाह—पाद्यदानमित्यर्धेन ।

आचमनविनियोगमाह—चतुर्थादित्यर्धेन ॥ ७७ ॥

मुख्यार्घ्यवारिणा पञ्चगव्यप्रोक्षणं तत्संयोजनं चाह—मुख्येति सार्धेन । आद्येन हृन्मन्त्रेणेत्यर्थः ॥ ७८–७९ ॥

सर्वोपकरणानां दहनाप्यायनमुद्रादर्शनपूर्वकं पञ्चगव्यप्रोक्षणमाह—अथेति सार्धेन । तेन पञ्चगव्येनेत्यर्थः ॥ ७९–८० ॥

विघ्नोपशमनार्थं दशदिक्ष्वस्त्राभिमन्त्रितबीजधान्यश्वेतसर्षपविक्षेपादिकमाह—

---

१. नि च–बक० बख० । २. र्थमुक्तानुक्तार्चनं–अ० म० । ३. भ्युक्षां–पा०, सुक्षि–ई० । ४. तदर्था–अ० म० । ५. नास्त्येषा पङ्क्तिः–ई० । ६. तत्पूजनं–पा० ।

विघ्नोपशान्तये वेगाद्[1] दशदिक्षु विनिक्षिपेत् ।
संहृत्य बर्हिकूर्चेन प्राच्यां दिशि निधाय वै ॥ ८२ ॥
तद् गर्भीकृत्य संलिख्य हेतिराट् चन्दनादिना ।
करकं[2] कुम्भसंयुक्तमलङ्कृत्य यथा[3] पुरा ॥ ८३ ॥
भोगैः प्रावरणान्तैश्च मूर्तीभूतौ[4] विचिन्त्य च ।
तद्देवताशरीरं तु पश्येदम्बरवच्छुभम् ॥ ८४ ॥
विशाखयूपं[5] तन्मध्ये समावाह्य यजेत् ततः ।
क्रमान्मुद्रावसानं तु तस्य दक्षिणदिग्गतम् ॥ ८५ ॥
अस्त्रविग्रहरूपं च स्मृत्वा कुरवकं तु तत् ।
अस्त्रमन्त्रं तु तन्मध्ये ध्यात्वाऽभ्यर्च्य यथाविधि ॥ ८६ ॥
ध्वंसयन्तं च विघ्नानां कालं कर्मावसानकम्[6] ।
इदमभ्यर्थयेद्[7] विद्वान् सास्त्रो[8] बद्धाञ्जलिस्थितः ॥ ८७ ॥
यागालयं हि विश्वेश गृहाण रचितं मया ।
आ समाप्तेर्भज[9] विभो क्रियाङ्गानां च सन्निधिम् ॥ ८८ ॥

सर्वबीजानीति सार्धद्वाभ्याम् । हेतिराड् हेतिराजं चक्रमित्यर्थः । विभक्तिनियमश्छान्दसः ॥ ८१-८३ ॥

अथ कुम्भमण्डलाग्निषु भगवदर्चनक्रममाह—करकं कुम्भसंयुक्तमित्यारभ्य प्राग्वत् कुम्भेऽथ पूजित इत्यन्तम् । यथापुरमलङ्कृत्य, "प्राप्तानुज्ञोऽथ कलशमादाय शुभलक्षणम्" (१७।५७) इत्यादिसप्तदशपरिच्छेदोक्तप्रकारेणालङ्कृत्येत्यर्थः । एवमेवोक्तं जयाख्येऽपि दीक्षापटले—

अथादाय दृढं शुभ्रमेकरूपं च निर्व्रणम् ॥
कलशं मृण्मयं रम्यं सौवर्णं वाऽथ राजतम् ।
रत्नहाटकसद्गन्धपुष्पसर्वौषधीयुतम् ॥
शुं[10]भपादपशाखाढ्यं पट्टस्रक्कण्ठभूषणम् ।
गालितोदकसंपूर्णं वारिधारान्वितं शुभम् ॥
चन्दनाद्युपलिप्तं च परितश्चार्घ्यचर्चितम् । (१६।९५-९८) इति ।

---

१. योगाद्–बक० बख० । २. करवीं कुम्भसंयुक्तां–मु० । ३. यथापुरमिति भाष्यानुसारी पाठः । ४. मूर्ति–मु० अटी० । ५. पङ्क्तिचतुष्टयं नास्ति–त्रक० बख० । ६. निकम्–अटी० । ७. र्थ्य भगवान्–बक० बख० । ८. देवं सास्त्रमिति भाष्यानुसारी पाठः । ९. सिं भज–बख० । १०. उपपादपशाकाढ्यं–अ०, शूपपादकशाखाढ्यं–म० ।

[1]ततोऽस्त्रोदकधारां चाप्यच्छिन्नां [2]भित्तिकां नयेत् ।
[3]प्रादक्षिण्येन प्राग्भागात् तत्पदान्तं च संस्मरेत् ॥ ८९ ॥
तन्निधायाऽथ कुम्भेन सह कुर्यात् प्रदक्षिणम् ।
अर्घ्यदानं तयोः कृत्वा प्राग्भागे [4]चाधरोर्ध्वगम् ॥ ९० ॥
पूजितं वाससाच्छन्नं चक्रमन्त्राभिमन्त्रितम् ।
निदध्याद् भद्रपीठं तु तत्राधारगतं न्यसेत् ॥ ९१ ॥
सास्त्रं हि मन्त्रकलशमर्चयित्वा प्रणम्य च ।
दिगीश्वर[5]गणं दिक्षु पूर्वोक्तं विन्यसेत् ततः ॥ ९२ ॥
[6]ततः समर्चनं तेषां कृत्वाऽस्त्रेण हृदा सह ।
प्रणवेन स्वनाम्ना च नमस्कारानुगेन वै ॥ ९३ ॥

प्रावरणान्तैर्भोगैर्वस्त्रान्तैरुपचारैरित्यर्थः । मूर्तीभूतौ विचिन्त्य कुम्भकरकौ मन्त्रनाथ-सुदर्शनयोः शरीरत्वेन ध्यात्वेत्यर्थः, "तद्देवताशरीरं तु [7]पश्येदमलवर्चसम्" (ई० सं० ११।१९५; पा० सं० १२।२२४) इतीश्वरपारमेश्वरोक्तेः । विचिन्त्य चेत्यत्र चकारेण पूर्वं महाकुम्भमध्ये भगवदर्चनमपि सूचितं भवति । अन्यथा—"इदमभ्यर्थयेद् देवं सास्त्रं वद्धाञ्जलिस्थितः" (१८।८७) इत्युक्तिविरोधात् । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

कुम्भमध्ये विभोः प्राग्वदासनं परिकल्प्य च ॥
तन्मध्ये पुण्डरीकाक्षं समावाह्य विधानतः ।
संनिधिं सन्निरोधादि भोगयागावसानकम् ॥
पूर्ववत् सकलं कृत्वा तस्य दक्षिणदिग्गतम् ।
अस्त्रविग्रहरूपं च ध्यात्वाऽभ्यर्च्य यथाविधि ॥
ध्वंसयन्तं च विघ्नानां जालं कर्मावसानकम् । इति ।
(ई० सं० ११।११८–१२१; पा० सं० १२।२२७–२२९)

जयाख्ये (१६।१०२) ईशानदिशि महाकुम्भस्थापनमुक्तम् । अतस्त्वेतत्पक्षद्वय-मपीश्वरपारमेश्वरयोर्महोत्सवप्रकरणे पवित्रोत्सवप्रकरणे च प्रदर्शितम्—

[8]प्रादक्षिण्येन प्राग्भागात् तत्पादान्तं च तत् स्मरेत् ॥
अथवेशानदिग्भागात् तत्पादान्तं द्विजो[9]त्तमाः । इति ।
(ई० सं० ११।१२४–१२५; पा० सं० १२।२३२)

---

१. तदेवास्त्रक–बक० बख० । २. भक्तिगां–बक०, भित्तिगां–बख० । ३. प्रदक्षिणेन–मु० अटी० । ४. विकिरो–बक० बख० । ५. गणात्–बख० । ६. निरोधं सार्चनं–बक० बख० । ७. वश्यदं बल–पा० । ८. प्रद–ई० पा० । ९. त्तम–पा० ।

तोरणध्वजपूर्वाणां कार्यमर्घ्यादिनार्चनम् ।
ततो ह[1]वनभूमध्ये ध्यात्वा पीठं पुरोदितम् ॥ ९४ ॥
तत्रार्चनं विभोः कुर्यात् पूर्वोक्तेन क्रमेण तु ।
पूर्णान्तं तर्पणं कुर्यात्[2] प्राग्वत् कुण्डे[3]ऽथ पूजिते ॥ ९५ ॥
ततस्तु भगवद्भूतान् क्षेत्रनाथसमन्वितान् ।
अर्घ्यपुष्पादिनाऽभ्य[4]र्च्य बलिमादाय पात्रगम् ॥ ९६ ॥
इदमुक्त्वा च तदनु क्षिपेद् यागगृहाद् बहिः ।
ये विष्णुभाविनो भूता ये च तेष्वनुयानिनः[5] ॥ ९७ ॥
आ[6]हरन्तु बलिं तुष्टाः प्रयच्छन्तु शुभं मम ।
प्रक्षालिताङ्घ्रिस्त्वाचान्तः संविशेद् यागमन्दिरम् ॥ ९८ ॥
अ[7]ग्निगेहेऽथ संस्कृत्य चुल्लीं प्राग्दिश्यवस्थिताम् ।
पचनाल[8]यमुत्सृज्य स्वदेशात् कुण्डमध्यगाम् ॥ ९९ ॥
स्थालीं चा[9]स्त्रेण संक्षाल्य बाह्यतो गोमयेन[10] तु ।
विलिप्यान्तः सुगन्धैस्तु प्रताप्य ज्वलितैः कुशैः ॥ १०० ॥

अत्र तन्निधायाथ कुम्भेन सह कुर्यात् प्रदक्षिणमिति पूर्वं प्रादक्षिण्येन कनकधारया भित्तिसेचनानन्तरं महाकुम्भस्य प्रादक्षिण्येन भ्रामणमुक्तम्, जयाख्ये तु करककुम्भयोर्युगपदपि प्रदक्षिणमुक्तम्—"पृष्ठतः कलशो भ्राम्यस्तुल्यकालं[11] तु वा पृथक्" (१६।१०१) इति । अत्र महाकुम्भार्चनानन्तरं तोरणध्वजाद्यर्चनोक्तावपि पूर्वोत्तरसंगत्यनुसारादीश्वराद्युपबृंहणानुसाराच्च महाकुम्भार्चनात् पूर्वमेव तत्कार्यम् । किञ्च, महाकुम्भार्चनं मण्डलार्चनस्याप्युपलक्षणं बोध्यम् । यतः—"पुराह्णे[12] तैर्यथाशक्ति मण्डलं च समाचरेत्" (१८।५६) इति मण्डललेखनमुक्तम् । उत्तरत्रापि—"स्थण्डिले कलशाग्नौ च विनियुज्य यथाविधि" (१८।११०) इति कुम्भमण्डलाग्नीनां हविर्विभागं च वक्ष्यति ॥ ८३–९५ ॥

अथ भगवद्भूतबलिदानमाह—तत इति त्रिभिः ॥ ९६–९८ ॥

हविःपाकविधानं तद्विभागनिवेदनादिक्रमं चाह—अग्निगेहेऽथ संस्कृत्येत्यारभ्य

१. भवन–मु० अटी० । २. प्राग्वत् कृत्वा–मु०, कृत्वा प्राग्वत्–अटी० । ३. कुम्भे–अटी० । ४. चार्च्य–बक० बख० । ५. मानिनः–मु० अटी० । ६. आहारं तु–मु० । ७. अथ गेहे तु–मु० । ८. लाय–मु० । ९. चार्घ्येण–बक० बख० । १०. यादिना–बक० बख० । ११. काली–अ० म० । १२. हूतै–अ० म० ।

सन्ताड्य कुसुमास्त्रेण सितसूत्रेण कण्ठतः ।
चतुर्धा [1]वर्मजप्तेन संवेष्ट्याघ्यार्दिनाचर्य च ॥ १०१ ॥
चुल्ल्यां कृत्वा समारोप्य तस्यां मधु घृतं पयः ।
परिशुद्धे [2]शृते क्षीरे त्वस्त्रेणारोप्य तण्डुलान् ॥ १०२ ॥
[3]चालयेन्मूलमन्त्रेण दृष्ट्वा नेत्रेण संस्कृतम् ।
हृदावतार्याभिघार्य[4] शिखामन्त्रेण घट्टयेत् ॥ १०३ ॥
शिरसालिप्य संक्षाल्य सुप्रसन्नेन वारिणा ।
भूतिना चन्दनाद्येन भूषयेदूर्ध्वपुण्ड्रकैः ॥ १०४ ॥
विष्टरोपरि चान्यत्र निदध्यान्मण्डलान्तरे ।
होमं तत्सिद्धये कृत्वा पूर्णान्तमथ वै चरोः ॥ १०५ ॥
[5]आधारदानमाज्येन कुर्यात् तेजोमृतात्मकम् ।
ईशाब्जनाभरुद्धेन हंसार्णेन सबिन्दुना ॥ १०६ ॥
तद्वद् वौषड्वषट्कारप्रणवद्वितयेन च ।
[6]यतोऽविनाभाविनोऽत्र स्थितिद्वाभ्यां च साम्प्रतम् ॥ १०७ ॥
अतः पुरोदितेनैव तदन्नं सम्पुटेन च ।
अँ(थ?ध) ऊर्ध्वे च संच्छन्नं स्मरेदादाय वै हृदि ॥ १०८ ॥
द्रव्यसम्पातहोमेऽथ पूर्णान्ते तु कृते सति ।
उद्धृत्याहुतियोगेन [8]पात्रत्रयगतं तु तत् ॥ १०९ ॥
स्थण्डिले [9]कलशेऽग्नौ च विनियुज्य यथाविधि ।
तदाद्यभावितं शेषं कुशाक्रान्तं विघस्य च ॥ ११० ॥

पूर्णया पुनरेव हीत्यन्तम् । ईशाब्जनाभरुद्धेन ईशः पूर्वोक्तो विशाखयूपः, अब्जनाभः पद्मनाभः, ताभ्यां रुद्धेन तद्बीजाभ्यां संपुटितेनेत्यर्थः । हंसार्णेन हकारेणेत्यर्थः । तद्वद् ईशाब्जनाभबीजवत् स्थिताभ्यां वौषड्वषट्काराभ्यां प्रणवाभ्यां च संरुद्धेनेत्यनुषङ्गः । सात्वतामृते तु व्यापकमन्त्रदीक्षाप्रकरणादेतन्मन्त्रस्थाने मूलमन्त्र एव प्रतिपादितः ॥ ९९–१११ ॥

१. वर्ण–अटी० । २. श्रिते–मु०अटी० । ३. पाच-बख० । ४. यविंघ्रस्य–बक० । ५. आघारा–बख० । ६. यतोऽपि न भातोऽत्र–मु० अटी० । ७. अत–बक० बख० । ८. पत्रे कुत्रयगन्तु–मु०, पत्रे तु त्रयगं तु–अटी० । ९. कलशे तौ–मु०, कलशेशौ–अटी०, कलशाग्नौ–भा० ।

क्रमान्मूलास्त्रनेत्रेण जुहुयाच्च शतत्रयम् ।
नीत्वा सम्पूर्णभावं च पूर्णया पुनरेव हि ।। १११ ।।
ततश्चोत्तरदिक्[1] कुर्यान्मण्डलं[2] गोमयादिना ।
प्राक्प्रान्तं[3] विष्टरं तत्र दद्याद् दर्भं[4] हृदन्तरे ।। ११२ ।।
तन्मध्ये विन्यसेच्छिष्यं समाङ्घ्रिं स्तब्धविग्रहम् ।
प्राङ्मुखं यतवाक्चित्तवृत्तिं[5]रूपं धृताञ्जलिम् ।। ११३ ।।
अस्त्रेण[6] पूर्ववत् कुर्यात् प्रोक्षणं तस्य चाम्भसा ।
तेनैव ताडयेन्मूर्ध्नि दीप्तैः सिद्धार्थकैस्तिलैः ।। ११४ ।।
अनादिवासनोत्थानां बन्धानां[7] चालनाय[8] च ।
फडन्तेनाथ चास्त्रेण कुशाग्रेणाङ्घ्रिगोचरात् ।। ११५ ।।
समुल्लिख्य शिखान्तं च ऋज्वर्थं[9] मार्गसन्ततेः ।
जालवन्मन्त्रजालेन व्याप्तं स्मृत्वा च[10] संवृतम् ।। ११६ ।।
बध्नीयान्नेत्रमन्त्रेण तस्य नेत्रे च वाससा ।
[11]वैस्वर्घ्यकुसुमैर्गन्धैः कृत्वा पूर्णाञ्जलिं पुरा ।। ११७ ।।

अथ शिष्यस्य विष्टरोपरि स्थापनं प्रोक्षणं सिद्धार्थतिलैस्ताडनं कुशाग्रेण तद्विग्रहोल्लेखनं मन्त्रव्याप्तिं नेत्रबन्धं पुष्पाञ्जलिप्रक्षेपणमच्युतकरेणालम्भनं[12] मण्डलार्चनं तत्पुरतः पृथिव्यादिभूतसप्तकस्य तदधीशमन्त्रसंघस्य च पूजनमग्निसंनिधौ शिष्येण सहोपवेशनं शिष्यस्य कर्मवासनाविश्लेषसिद्ध्यर्थं होमं संपातस्पर्शं विज्ञापनं प्रायश्चित्त-होमं शिष्यस्य सूत्रात्मकशरीरकल्पनं गुल्फादिषु पृथिव्यादिव्याप्तिक्रमं पृथिव्यादिषु भुवनाध्वादीनां संस्थितिं पातालशयनादीनामवस्थानं तत्र विभवव्यूहपरमन्त्रदीक्षा-भेदेन पृथिव्यादिभूतसप्तकविन्यासभेदं पुनः कुम्भार्चनं शिष्यस्य पञ्चगव्यप्राशनं चरुभोजनं दन्तधावनं तत्काष्ठपतनपरीक्षां तच्छान्तिं मण्डलस्थस्य देवस्य कुम्भादौ विसर्जनं स्वप्नलाभाय शिष्यस्य शयनं तत्परितो रक्षाकरणम् आचार्यस्यापि दन्त-धावनादिकं भगवत्प्रार्थनापूर्वकं प्रस्वापं चाह—ततश्चोत्तरदिक् कुर्यान्मण्डलं गोमयादिने-

---

१. रतः—मु०, दिक्ष्वस्य—बख० । २. कुर्युर्म—बक० । ३. प्रान्त—बक० बख० । ४. दार्भं—बख० । ५. वित्ति—मु० अटी० । ६. मन्त्र—मु० अटी० । ७. बाधानां—बख० । ८. वच—बक०, चल—बख० । ९. कूर्वा—बक० बख० । १०. साम्प्र—बक० बख० । ११. वस्त्व—बक०बख० । १२. लम्भनं—म० ।

पाणिनादाय चा[1]ग्रे वा निधायाग्रस्थितं बटुम् ।
प्रक्षेपयेद् देवधाम्नि नत[2]मूर्ध्नाऽञ्जलिं च तम् ॥ ११८ ॥
तस्योद्घाटितनेत्रस्य त्वदृष्टस्येतरैर्जनैः ।
कुशलाध्वनिविष्टस्य दृष्ट्वा वै भक्तिलक्षणम् ॥ ११९ ॥
रोमाञ्चौत्सुक्यहर्षाढ्यमानन्दाश्रुसमन्वितम् ।
सप्रणामजपालापदिक्प्रदक्षिणसंयुतम् ॥ १२० ॥
शु[3]द्धान्तःकरणं बुद्ध्वा योग्योऽयमिति भावयेत् ।
यदा तदाऽच्यु[4]तात्मानमात्मानं भावयंस्ततः ॥ १२१ ॥
स्मरेद् दक्षिणपाणौ तु चक्राम्बुरुहमध्यगम् ।
प्रधानदेवतावृन्दं स्वे स्वे धाम्नि परे स्थितम् ॥ १२२ ॥
स्वमरीचिगणेनैव द्योतयन्तं तु चाखिलम् ।
तेनाच्युतकरेणैव सोदकेनालभेत तम् ॥ १२३ ॥
पुष्पपूर्णाञ्जलौ पृष्ठे तस्य तत्त्रितयाश्रितम् ।
कृत्वा मन्त्रग[5]णान्तं वै मोक्ष[6]विघ्नोपशान्तये ॥ १२४ ॥
पुनरभ्यर्चयेन्नीत्वा मन्त्रेण परमेश्वरम् ।
आधाराधेयभावेन बुद्ध्वाऽन्तःसंस्थितिं[7] पुरा ॥ १२५ ॥
क्ष्मादीनां बुद्धिनिष्ठानां वासनानां तथात्म[8]नः ।
ततः कुर्याच्च विश्लेषं तेषां ध्यानार्चनादिना ॥ १२६ ॥
आत्मत[9]त्त्वं समाश्रित्य कर्मचक्रं हि वर्तते ।
तच्चक्रमवलम्ब्यास्ते बुद्धिनिष्ठं हि सप्तकम् ॥ १२७ ॥
[10]अज्ञानं[11] व्यापकत्वं च सुखदुःखादि[12] वेदनम् ।
सर्वज्ञस्यात्मतत्त्वस्य कर्मचक्रावलम्बनात् ॥ १२८ ॥
चपलं कर्मचक्रं तद् वर्धमानं सदैव हि ।
क्ष्माद्यमाधारमाश्रित्य तावदेवावतिष्ठते ॥ १२९ ॥

१. चाम्नेति–बक० बख० । २. मूर्ध्वं जलाञ्जलिम्–बक० बख० । ३. वृता–बक० बख० । ४. ख्यायाऽनुगृहीतो धिया तथा–बक० बख० । ५. गणं तं–मु० अटी० । ६. विघ्नवि–मु० अटी० । ७. स्थितं–बख० । ८. त्मनाम्–बक० बख० । ९. सत्त्वं–बख० । १०. श्लोकोऽयं स्पन्दप्रदीपिकायाम् (पृ० ९८) उद्धृतो वर्तते । ११. अज्ञता–सा० । १२. दुःखनि–बख० ।

यावत् [1]सर्वज्ञशक्त्या वै कर्मात्मा न प्रबोधितः ।
प्रबुद्धस्तस्य संरोधं कर्तुं शक्नोति सर्वदा ॥ १३० ॥
मन्त्राराधनपूर्वेण[2] [3]ज्ञाननिष्ठेन कर्मणा ।
अतो य आश्रयः क्ष्माद्यः [4]सत्त्वसारो हि पौरुषः ॥ १३१ ॥
[5]नीरसं [6]चेरिणीभूतं कुर्यात् संस्थाप्य साम्प्रतम् ।
[7]निर्मुक्तचित्फलो येन कर्मवृक्षो विनश्यति ॥ १३२ ॥
शुद्ध्यर्थमात्मनस्तस्मात् सर्वज्ञस्याग्रतः स्थले ।
[8]भूताधिदेवमन्त्राणां कुर्याद् वै पूजनं क्रमात् ॥ १३३ ॥
[9]चिन्तानुविद्धं सामान्यं मन्त्रनाथै[10]रधिष्ठितम् ।
क्ष्माद्यध्वानं च बुद्ध्यन्तं ध्यात्वा षट्पत्रवत् पुरा ॥ १३४ ॥
तत्र मध्येऽब्जनाभं तु प्राग्भागे केसरोर्ध्वगम्[11] ।
षट्कं च विश्वरूपाद्यं क्ष्मा[12]धरान्तं तु विन्यसेत् ॥ १३५ ॥
नीत्वा स्वनाम्न आद्यर्णं क्ष्मान्तानां बीजतां पुरा[13] ।
तेन तेषां [14]दलान्तस्थं [15]प्राग्वन्न्यासं स्मरेत् क्रमात् ॥ १३६ ॥
क्ष्माबीजं च दलाग्रेषु मूलनिष्ठेषु [16]षट्सु च ।
[17]इष्ट्वा सर्वेन्द्रियाधारमित्यभिन्नं पुरा ततः ॥ १३७ ॥
चिद्धातुस्क[18]न्धवृन्देन [19]खस्थितेनान्तरीकृतम् ।
उपर्युपरि योगेन बुद्ध्यन्तं समुपस्थितम् ॥ १३८ ॥
भेददृष्ट्या यजेत् सम्यग् भूयः संहारवर्त्मना ।
सवज्रं स्वेन बीजेन पीतं [20]तुर्याभिलक्षणम् ॥ १३९ ॥

त्यारभ्य यावत्परिच्छेदपरिसमाप्ति । विश्वरूपाद्यं क्ष्माधरान्तं षट्कं विश्वरूपवागीश-खगाननन‍ृसिंहसरश्शायिवराहाख्यदेवताषट्कमित्यर्थः ।

---

१. स सर्व–बख० । २. रूपेण–बख० । ३. ज्ञानानुष्ठान–मु० अटी० ।
४. स साधारो–बक० बख० । ५. निरासं–बख० । ६. चोरि–बक० बख० ।
७. निर्मुक्ता–बख० । ८. भूतादि–बख० अटी० । ९. चिन्तनं विधि–बक० बख० ।
१०. रनु–बक० बख० । ११. द्रहम्–मु० अटी० । १२. धारा–मु० अटी० ।
१३. गतम्–बक० बख० । १४. दलानां तु–बक० बख० । १५. प्राग् विन्यासं–बक० बख० ।
१६. सत्सु वा–बक० । १७. सर्वं–बक० बख० । १८. स्कन्द–अटी० बक० बख० ।
१९. खभूते–बक० बख० । २०. तुर्याद्य–अटी०, तुर्याश्र–बख० ।

हेमाब्जभूतं[1] तद्ध्यात्वा क्ष्मातत्त्वं तत्र मध्यतः ।
वाराहं संयजेन्मन्त्रं साङ्गं सावरणं क्रमात् ॥ १४० ॥
तत्कारणाश्रितं कृत्वा परि[2]धानसमन्वितम्[3] ।
अथ[4] क्ष्मामण्डलोर्ध्वस्थमर्धेन्दुसदृशं स्थितम्[5] ॥ १४१ ॥
पुरं पद्माङ्कितं स्मृत्वा सितपद्मोदरं महत् ।
सरश्शयं[6] तदन्तःस्थमभिसन्धाय संयजेत् ॥ १४२ ॥
तेजोमयं तदूर्ध्वे तु त्रिकोणं भावयेत् पुरा[7] ।
[8]रत्नज्वालाकणाकीर्णं[9] स्वस्तिकैरुपलाञ्छितम् ॥ १४३ ॥
नृसिंहं पूजयेत् तत्र मध्ये [10]रत्नारविन्दगम् ।
तस्योपरि सित[11] वृत्तं पुरं तारागणाङ्कितम् ॥ १४४ ॥
स्मृत्वा नीलाम्बुजाकान्तं स्मरेत् तत्र खगासनम् ।
नीरूपं खं[12] तदूर्ध्वे तु स्मरेच्छब्दैकलक्षणम् ॥ १४५ ॥
ध्यायेत् तदन्तः सूर्याभं [13]प्राग्वर्णं तु सपङ्कजम् ।
तत्र वागीश्वरं देवमभ्यर्च्य विधिवत् ततः ॥ १४६ ॥
तत्कर्णिकोदराकाशे नानारत्नरुचिं ततः ।
संस्मरेत् कमलाकारं चित्तवृत्तिमयं तु यत् ॥ १४७ ॥
यजेत् तन्मध्यगं विश्वरूपं तु मनसस्पतिम् ।
तदूर्ध्वेऽमृतगर्भं तु शीतांशुकरकोटिवत् ॥ १४८ ॥
पद्मं स्वेनात्मनात्मानं धारयन्तं विभाव्य च ।
समभ्यर्च्यस्तदन्तःस्थो[14]ऽप्यब्जनाभो धियांपतिः ॥ १४९ ॥
एवं गन्धरसरूपस्पर्शशब्दमनोधियाम् ।
क्रमेणाधीशसङ्घं तु अवतार्य परात् यजेत् ॥ १५० ॥

---

१. भूषितं ध्यात्वा—बक० बख० । २. वार—बक० बख० । ३. तः—बक० ।
४. अधस्तान्म—बक० बख० । ५. सितम्—बख० । ६. शायीं—बक० बख० । ७. पुरम्—बक० बख० ।
८. रक्त—बक० बख० । ९. गणा—बक० बख० । १०. रक्तच्छविं विभुम्—बक० बख० ।
११. पर्यसितं—बक० बख० । १२. च—मु० अटी० । १३. प्राग्वद् वर्णं तु—बक० बख० ।
१४. स्थो ह्य—बख० ।

अर्चयित्वाऽर्चयित्वा च न्यसेत् तत्रैव तं पुनः ।
ये वर्णा भूतयोनीनां [1]रश्मयः कमलोपमाः ॥ १५१ ॥
संस्थितिं संस्मरेत् तेषामस्मिं[2]शक्तौ तथागतिम्[3] ।
[4]अनादिवासनारूपां स्वभेदेनात्मनि स्थिताम् ॥ १५२ ॥
निश्शेषबीजैरभ्युत्थां[5] पद्मनाभविधारणीम् ।
निर्गतां वैषयात् [6]सर्वाद् वियुक्तां स्वामिना कृताम् ॥ १५३ ॥
[7]स्फुरद्रूपां परिभ्रष्टां निराधारां च संस्मरेत् ।
प्रणवेन समभ्यर्च्य दी[8]क्षाका[9]लेऽभ्युपस्थिते ॥ १५४ ॥
साधिभूताधिदैवं च इष्ट्वैवं भूतसप्तकम् ।
स्वयमभ्यर्चयेत् पश्चात् शिष्यमञ्जलिना च तम् ॥ १५५ ॥
ततोऽग्नेः सन्निधिं गत्वा ध्यात्वा [10]यामत्रयोपरि ।
दक्षिणेनात्मनो [11]दार्भे विष्टरे चक्रमन्दिरे[12] ॥ १५६ ॥
[13]सकुशेन स्वहस्तेन दक्षिणं चरणं गुरोः ।
अवलम्ब्य [14]समास्ते वै स्पर्शनाद्येकतात्मना ॥ १५७ ॥
बीजेनाङ्घ्रेः शिखान्तं च स्मरेत् [15]तेजोमयं विभुम् ।
[16]विश्लेषयन्तं सहसा ह्यना[17]द्युत्थमर्विग्रहम् ॥ १५८ ॥
[18]संस्कारचक्रं विविधं प्रेरकं दुःखवर्त्मनि ।
[19]नाड्यैक्यमभिसन्धानमभिसन्धानचेतसा ॥ १५९ ॥
विश्लेषं कर्मणां तद्वद् वर्मणास्त्रेण होमयेत् ।
क्रमेण सघृतानां च तिलानां द्वादशाहुतीः[20] ॥ १६० ॥

---

१. राश्मीयाः—मु० अटी० । २. मस्मिन्—बक० बख० । ३. गतम्—बक० बख० । ४. सानादि—मु० अटी० । ५. जरश्मीद्धपद्मानां भाविधारिणीम्—मु० अटी० । ६. सत्याद्—मु० अटी० । ७. क्षरद्रूपा—मु० अटी० । ८. दिक्षु—मु० अटी० । ९. लेऽप्यु—अटी०, ले ह्यु—बख० । १०. धाम—अटी० । ११. दर्भे—बख० । १२. मन्त्रिते—बक० बख० । १३. स्व—बख० । १४. समासे—बक० बख० । १५. तोय—मु० अटी० । १६. विशेष—मु० । १७. द्यार्थ—मु०, द्यर्थ—अटी० । १८. नास्त्येषा पङ्क्तिः—अटी० । १९. नास्यै—मु० अटी० । २०. हुतिः—अटी०, हुतिम्—बक० बख० ।

अनुसन्धाय सम्पाद्यो मयाऽयं वै परात्मनि ।
[1]दद्यादष्टावाहुतीश्च मूलेन सघृताः पुरा ॥ १६१ ॥
तदुत्तमाङ्गं संस्पृष्ट्वा स्रुवेणाज्यान्वितेन च ।
हुत्वा ज्ञानपदेनैव भूयः सर्वगुणात्मना ॥ १६२ ॥
प्राक्संख्यमाचरेद् होममन्तरान्तरयोगतः ।
आ [2]चेश्वरपदात् सम्यङ्नेत्रान्तं ह्येवमेव हि ॥ १६३ ॥
इति सम्पातहोमो वै सम्पन्ने सति जायते ।
[3]कर्तव्यो मन्त्रमाहात्म्यात् संस्कारैर्निखिलैर्युतः ॥ १६४ ॥
साम्प्रतं [4]चाणिमादीनां गुणानामुत्तरत्र तु ।
विभोराराधनात् सम्यग् योग्याभ्यासाच्च भाजनम् ॥ १६५ ॥
कृते सम्पातभवने आज्ये[5]नाथ सकृत् सकृत् ।
मन्त्राणां तर्पणं कृत्वा सार्चनं श्रावयेद् विभुम् ॥ १६६ ॥
अस्य कर्मात्मतत्त्वस्य कर्म[6]पिण्डं सवासनम् ।
[7]यदनेकप्रकारं तु त्वच्छक्त्या स्तम्भितं मया ॥ १६७ ॥
प्रायश्चित्तनिमित्तं तु जुहुयात् तदनन्तरम् ।
बीजेनान्तर्निरुद्धेन स्वाङ्गेनाकृतिकाष्टकम् ॥ १६८ ॥
एतावता महाबुद्धेर्जन्तोर्जन्माश्रितस्य च ।
याति व्यामिश्ररूपस्य हेयरूपस्य संक्षयः ॥ १६९ ॥
मोक्षैकफलदो धर्म उपादेयस्त्वनन्तरम् ।
योऽसौ साम्मुख्यमायाति विविधस्तस्य वाच्युतः ॥ १७० ॥
येनान्तर्लीनमभ्येति ह्यज्ञानं सहसा क्षयम् ।
अथादायारुणं सूत्रं कृत्वा नैकगुणं पुरा ॥ १७१ ॥
[10]निरीक्षितं दृशा चास्त्रधारिणा परिशोधितम्[11] ।
तदङ्गुष्ठावधिं यावत् [12]शिखान्तात् सम्प्रधार्य[13] च ॥ १७२ ॥

१. दाहुतिकाश्चाष्टौ—बक० बख० । २. रमुपादद्यात्—बक० बख० । ३. कर्तव्यं—बक० बख० । ४. शक्तिरा—बक० बख० । ५. चाथ—मु० अटी० । ६. बद्धं—बक० बख० । ७. तद—बक० बख० । ८. तम्—बक० बख० । ९. त्वानेक—अटी० । १०. निरीक्ष्य—बक० बख० । ११. धनम्—बक० बख० । १२. शिखायाः—बक० बख० । १३. सार्य—बक० बख० ।

संस्मरेत् सर्वदुःखानां सम्बन्धानां तदास्पदम् ।
संविश्य देवयानेन शिशुचैतन्यसन्निधिम् ॥ १७३ ॥
हुंफडन्तं च शिरसि[1] नाम च प्रणवादिकम् ।
हृन्मन्त्रसम्पुटस्थं च कृत्वा वै पितृवर्त्मना ॥ १७४ ॥
आनीय सह सूत्रेण नयेन्नेत्रेण साम्यताम् ।
अभ्यर्च्यार्घ्यादिनावेष्ट्य कवचेन[2] महात्मना ॥ १७५ ॥
ॐ [3]हूं अदन्यै हूं स्वाहेत्यनेना[4]कृतिसप्तकम् ।
हुत्वास्त्रमन्त्रजप्तेन सितेन रजसा ततः ॥ १७६ ॥
[5]सन्ताड्य शैशवं कायं विशेत् तदवधिं तथा ।
विश्लेषं[6]याऽमुकं ब्रूयात् पदं वीर्यपदानुगम् ॥ १७७ ॥
तं ज्ञानं[7]वाचकेनाथ त्वाद्यन्तेन विकृष्य च ।
स्वबुद्ध्याऽनुगतं कृत्वा ध्यात्वा नक्षत्रगोलवत् ॥ १७८ ॥
[8]सन्धायाभ्यन्तरे सूत्रे हंसार्णेन सबिन्दुना ।
नदीप्रणवगर्भेण रूढशक्तिं च विग्रहे ॥ १७९ ॥
वासनामयमित्येवमातिवाहिकसंज्ञकम् ।
सूत्रात्मकं वपुः[9] कृत्वा आत्मशक्त्या विभावितम् ॥ १८० ॥
बलमन्त्रेण संरुद्धं [10]तदर्थं जुहुयात् ततः ।
उक्त्वा ओमात्मने स्वाहा द्विषट्क[11]परिसंख्यया ॥ १८१ ॥
आदाय भाविनो बन्धान् व्यापकान् शुद्धभोगदान् ।
ज्ञानादयः समाश्रित्य येऽत्र तिष्ठन्ति सर्वदा ॥ १८२ ॥
स्वस्थानेषु स्वमन्त्रेभ्यस्तांस्तत्रैव[12] च योजयेत् ।
यथाक्रमे[13]णार्चितानां कृत्वा तेषां च तर्पणम् ॥ १८३ ॥
अथ संस्कारचक्रस्य तत्त्ववृन्दाश्रितस्य च ।
सर्वगस्यापि वै विद्धि स्थितिं[14] नियतलक्षणाम् ॥ १८४ ॥

---

१. शिष्यस्य—बक० बख० । २. नात्मना—मु० अटी० । ३. हुं अदन्यै हुं—मु० अटी० । ४. हुंकृति—मु० अटी० । ५. संताड्यं—मु० अटी० । ६. विश्लेषायामुखं—बक० बख० । ७. ज्ञात्वा नवताचक्रेनाथ—मु० अटी० । ८. सन्ताड्या—मु० अटी० । ९. वपुं स्मृत्वा—बक० । १०. तदर्धं—बक० बख० । ११. पर—मु० अटी० । १२. स्तु तत्रैव—बक० बख० । १३. णोचिता—बक० बख० । १४. स्थितं नियतलक्षणम्—बक० ।

तत्त्वव्याप्तिच्छलेनैव शरीरे पाञ्चभौतिके ।
गुल्फजानुकटीवक्षःकर्णभ्रूकावटावधि ॥ १८५ ॥
बुद्धयन्तानां धरादीनां क्रमादवनिसप्तकम् ।
अहङ्कारस्तदुत्थास्तु ये भेदा विविधा अपि ॥ १८६ ॥
चित्तजा अपि ये चान्ये तिष्ठन्ति मनसा सह ।
सकालोत्थास्तथा बौद्धास्तत्पूर्वास्त्वपरे च ये ॥ १८७ ॥
अनेकभेदभिन्नास्तु श्रिता[1] आश्रित्य ते धियम् ।
द्विसप्तभुवनं विश्वमनेकरचनान्वितम् ॥ १८८ ॥
शतकोटिप्रविस्तीर्णमष्टयो[2]न्याधसेवितम् ।
[3]स्थिरं धराश्रितं भूयो बोद्धव्यं सर्वदैव हि ॥ १८९ ॥
चतुष्कं जाग्रदाद्यं यत् पदानामप्सु वर्तते ।
मन्त्रकोटिसहस्राणां विविधानां महामते ॥ १९० ॥
योगसिद्धिसमेतानां संस्थितिस्तैजसे पदे ।
चातुरात्मीयतत्त्वानां ज्ञेयैः[4] कैवल्यदेहिनाम् ॥ १९१ ॥
शान्तोदितस्वरूपाणां सन्निवेशो मरुत्पदे ।
अनेकशक्तिभूतानां ज्ञानादीनां च लाङ्गलिन् ॥ १९२ ॥
कालानामाश्रयो व्योम या सा[5] मूर्तिर्न लक्ष्यते ।
संस्थिताश्चादयो वर्णाः पदे षष्ठे तु मानसे ॥ १९३ ॥
अस्मिन् मात्रानु[6]रक्तानि कीर्तितेऽस्मिन् षडध्वनि ।
क्षिपंस्तु चाहरंस्त्वेवं शुद्धयर्थं लीलयैव[7] हि ॥ १९४ ॥
स[8] स्थितः कर्मतत्त्वानि बुद्धिशक्तिपदे प्रभुः ।
निरस्तदोषं कृत्वा प्राक् समाविश्य तदैव हि ॥ १९५ ॥

---

१. स्थिता—बक० बख० । २. न्युद्धच—मु०, न्मुध्य—अटी० । ३. स्थितं धारा—बक० बख० ।
४. ज्ञेयं—बक० बख० । ५. यासां—बख० । ६. द्यमु—बक० बख० । ७. येव—मु० अटी० बख० ।
८. स्थितः कर्मात्मत—बक० बख० ।

स्वां शक्तिमुपसंहृत्य शान्तिमभ्येति शाश्वतीम् ।
मधुसूदनपर्यन्तं पातालशयनादथ[1] ॥ १९६ ॥
सप्तकं सप्तकं षट्कं सम्पश्येत् क्ष्मादिपञ्चके ।
मनस्यवस्थितं ह्येवं शक्तीशात् त्रितयं हि यत् ॥ १९७ ॥
बुद्धौ कमलनाभात्मा देवः सर्वेश्वरः प्रभुः ।
पुनः स्वसिद्धैर्युक्तानां सर्वेषां पार्थिवे पदे ॥ १९८ ॥
द्विसप्तभेदभिन्ने तु बोद्धव्या संस्थितिः शुभा ।
तीव्रमन्दादिकं बुद्ध्वा भावं भक्तिसमन्वितम् ॥ १९९ ॥
आलम्बनवशात् कुर्यात् सर्वेषां स्वपदे स्थितिम्[2] ।
एष[3] वैभवदीक्षायामधिवासनकर्मणि ॥ २०० ॥

मधुसूदनपर्यन्तं पातालशयनादर्थं[4] ॥
सप्तकं सप्तकं षट्कं संपश्येत् क्ष्मादिपञ्चके ।
मनस्यवस्थितं ह्येवं[5] शक्तीशात् त्रितयं हि यत् ॥
बुद्धौ कमलनाभात्मा देवः सर्वेश्वरः प्रभुः । (१८।१९६–१९८)

इत्यस्यार्थः—पातालशयनमारभ्य पद्मनाभान्तमष्टत्रिंशद्विभवदेवेषु पातालशयनादिसप्तकं क्ष्मातत्त्वे, नारायणादिसप्तकमप्तत्त्वे, लोकनाथादिसप्तकं तेजस्तत्त्वे, नारसिंहादिसप्तकं वायुतत्त्वे, क्रोडात्मादिषट्कमाकाशतत्त्वे, शक्त्यात्मादित्रयं मनस्तत्त्वे, पद्मनाभं बुद्धितत्त्वे च संपश्येदित्यर्थः । सात्वतामृते तु व्यापकमन्त्रदीक्षाया उक्तत्वात्

येन येन हि मन्त्रेण दीक्षा कार्याऽथ कस्यचित् ।
तस्य तस्य तदीयानां पूर्वोद्दिष्टेन वर्त्मना ॥
कार्योऽत्रावयवानां तु विनियोगो यथोदितः ।
समूहवद् हृदादीनां मूलान्तानां समाचरेत् ॥
सह तत्त्वगणेनैव सर्वदाध्यात्मरूपताम् ।
सम्यगूह्य ततः कुर्यात् प्राग्वदभ्यर्चनं तु वै ॥ (१९।१७२–१७४)

इति वक्ष्यमाणानुसारेण क्ष्मातत्त्वादिषु हृन्मन्त्रादयः प्रतिपादिता इति बोध्यम् ॥ ११२–२३३ ॥

---

१. दथः—बक० । २. स्थितम्—बक० बख० । ३. एषा—मु० अटी० । ४. दयः—अ० म० ।
५. ह्येकं—अ० म० ।

क्रम उक्तस्त्वथेदानीमपरायां निबोधतु ।
[1]आ पादान्नाभिदेशान्तं महाभूतैर्धरादिकैः ॥ २०१ ॥
व्याप्तं चतुर्धा [2]वाय्वन्तैस्तदूर्ध्वं नभसा पुनः ।
पूरितं हृदयान्तं च तदुद्देशाच्छिखावधि ॥ २०२ ॥
विभाव्य मनसा व्याप्तमनेनैव क्रमेण तु ।
[3]स्थिताः सङ्कर्षणान्ताश्चाप्यनिरुद्धादयस्तु वै ॥ २०३ ॥
समाक्रम्याध्वषट्कं तु [4]अध्वातीतस्तु बुद्धिगः ।
[5]समादायात्मतत्त्वं च प्राग्वदभ्येत्य [6]मूर्तताम् ॥ २०४ ॥
[7]व्यापिका मूर्तयस्त्वेताः पृथग् [8]भक्तिपरायणैः ।
तदाकारैरसंख्यैस्तु संवृताः क्ष्मावनीषु च ॥ २०५ ॥
प्राक्संख्यासु च तिष्ठन्ति सर्वाः सर्वासु सर्वदा ।
स्मृत्वा ह्यभेदभावेन [9]षट्कर्मोदकवत् पुरा ॥ २०६ ॥
[10]शिखान्तं क्ष्मादिना तेन सर्वं व्याप्तं विचिन्तयेत् ।
चतुरात्मानमव्यक्तं शब्दमूर्तिं निराकृतिम् ॥ २०७ ॥
गुणमात्रैर्विभिन्नं च खवत् तत्रैव भावयेत् ।
अग्राह्येणाथ वपुषा स्वस्वभावमयेन च ॥ २०८ ॥
संक्रान्तेन तु वै बुद्धौ [11]सर्वदैवोदितेन तु ।
स्वशक्त्या वै ह्यनिच्छातो जीवमादाय सोर्ध्वगम् ॥ २०९ ॥
स्वसामर्थ्यं स्वशक्त्या तत् शान्तात्मास्ते विलाप्य च ।
शुद्धाशयानां भक्तानां तत्पादैकाभिलाषिणाम्[12] ॥ २१० ॥
तत्सामर्थ्यानुविद्धानां सर्वत्र व्यक्तिमेति च ।
अतस्तु [13]यद्यत् संवेद्यं हेयं परिमितं त्वपि ॥ २११ ॥

---

१. आपदान्नाभिदेशं च—मु० । २. वाय्वन्नैः—मु० । ३. स्थितः—मु० अटी० । ४. बुद्ध्या—मु० अटी० । ५. समना आ—बक० बख० । ६. मूर्तिताम्—मु०, मूर्छिताम्—मु० अटी० । ७. व्याप्तिका—बक० बख० । ८. ङ्मुक्ति—बक० । ९. कर्म मादगवत्—मु० अटी० । १०. ततस्तु—मु० अटी० । ११. सर्वं समु—बक० बख० । १२. लक्षणाम्—बक०, लक्षिणाम्—बख० । १३. यदसंवेद्यं—मु० अटी०, यत्तत् संवेद्यं—बक० ।

तत्तत् तदात्मनाभ्येति सर्वदा भावितात्मनाम् ।
इत्यादौ सर्वसामान्यो नित्यो विद्याख्य आश्रयः ॥ २१२ ॥

बोद्धव्यः सोऽपि तदनु ह्यसामान्य[1]तया गतः ।
आ मोक्षा[2]दङ्गभावं च जीवानां स्वयमेव हि ॥ २१३ ॥

वज्रवत् सूक्ष्मरूपेण सम्पूर्णेन[3] महामते ।
दीक्षाकाले तु शिष्याणां परिज्ञेयं यथोदितम् ॥ २१४ ॥

एवमेव विजानीयाद् भूयः सौत्रे तु विग्रहे ।
सप्तधा तु विभज्यादौ सन्धिं वै कुङ्कुमादिना ॥ २१५ ॥

चित्रीकृत्य चतुर्[4]दशात् प्रणवाद्यन्तगै[5]स्ततः ।
स्वनामपदसंयुक्तो[6] ग्रथनीयः[7] स्वकारणैः ॥ २१६ ॥

एवं प्राप्तिमयैर्भोगैहृ[8]दा पूर्णान्तिमे[9] कृते ।
नीत्वा वै मण्डलस्थस्य विभोस्तं सन्निवेदयेत् ॥ २१७ ॥

वर्मणाच्छादितं कृत्वा निधाय कलशाग्रतः ।
सशिष्योऽथार्चनं कुर्यात् पुनर्विश्वात्मनो विभोः ॥ २१८ ॥

प्रदक्षिणैः प्रणामैस्तु नाना[10] स्तुतिपदैः सह ।
तत्रोपलिप्ते[11] भूभागे मण्डलान्तर्गतं बहिः ॥ २१९ ॥

स्थानभेदस्थितं कृत्वा नेत्रहृन्मन्त्रमन्त्रिते[12] ।
पञ्चगव्ये[13] चरौ दन्तधावने विनियोज्य[14] तम् ॥ २२० ॥

भुक्तोज्झिते दन्तकाष्ठे कुर्यात् सिद्धिविचारणम्[15] ।
सौम्यवारुण ईशाने यदि पूर्वदिगा[16]ननम् ॥ २२१ ॥

---

१. न्यं तदागतः–मु० अटी० । २. दग–मु०, दघ–अटी० । ३. ज्येन–बक० बख० । ४. तदुद्दे–बक० बख० । ५. न्तकैः–बक० । ६. क्तं–बक० बख० । ७. यं–बक० बख० । ८. व्याप्तिमयैर्भागै–बक० बख० । ९. न्तिके–बक० बख० । १०. वस्तु–बक० । ११. लिप्त–बक० बख० । १२. तैः–बक० बख० । १३. व्येऽवनौ–मु० अटी० । १४. जितम्–मु० अटी० । १५. णाम्–बक० । १६. दिशा–बक० बख० ।

तत्सिद्धिसूचकं विद्धि विपरीतमतोऽन्यथा ।
तद्ध्वंसनाय जुहुयाद् वीर्यमन्त्रेण वै शतम् ॥ २२२ ॥
धूपानुलेपनादीनि रजांसि घटिकादयः ।
साज्यानि च तिलादीनि योग्यान्यन्यानि लाङ्गलिन् ॥२२३॥
उद्धृत्योत्त[1]रतः कृत्वा वर्मजप्तेन वाससा ।
अभुक्तेनाहतेनैव त्वाच्छाद्य [2]सुसितेन च ॥ २२४ ॥
समभ्यर्च्यास्त्रमन्त्रेण पुष्पधूपानुलेपनैः ।
क्षान्त्वा स्थलस्थितं देवमग्नौ वा कलशे न्यसेत् ॥ २२५ ॥
अथ शुद्धे च[3] भूभागे [4]हृन्मन्त्रितकुशास्तरे ।
कृत्वा प्राङ्मस्तकं शिष्यं बलज[5]प्ताङ्कुशेन तु ॥ २२६ ॥
हृदावगुण्ठिततनुं मुख्यमन्त्रमनुस्मरन् ।
स्वापयेत् स्वप्नलाभाय ततो हृन्मन्त्रितैस्तिलैः ॥ २२७ ॥
सिद्धार्थकयुतैस्तस्य निदध्यात् परितो[6] बहिः ।
सबहिः पक्षमन्त्रेण प्राग्वद् दिक्ष्वष्टकं न्यसेत्[7] ॥ २२८ ॥
प्रदक्षिणेन तच्चापि सितसूत्रेण वर्मणा ।
चतुर्धा वेष्टयित्वा तु मण्टपान्निष्क्रमेद् बहिः ॥ २२९ ॥
दन्तकाष्ठादिकं कर्म विनिष्पाद्य स्वयं स्वपेत् ।
भू[9]तले दर्भशय्यायां कृत्वा दक्षिणतः[10] शिरः ॥ २३० ॥
संस्पृशन् स्वाङ्घ्रियुग्मेन शिशुं शयनसंस्थितम् ।
भगवन्तं हि मनसा प्रार्थयन्नपवर्गदम् ॥ २३१ ॥
ओमादिश[11] जगन्नाथ सर्वज्ञ हृदयेशय ।
तत्राहं योजयाम्येनं [12]कर्मिणं त्वत्परायणम् ॥ २३२ ॥

---

१. रदिक्–मु० अटी० । २. सं–मु० बक० बख० । ३. तु–बक० बख० । ४. हुं–अटी० । ५. प्तांशुकेन–मु० बक० बख० । ६. परिखां–मु०, परिघां–अटी० । ७. हि यत्–मु० अटी० । ८. तुरावे–मु० अटी० । ९. कुतले–मु० अटी०, आतपे–बख० । १०. दिक्–मु० अटी० । ११. ओमादीश–मु० अटी० बख० । १२. सत्कर्म–बख० ।

प्राप्तानुज्ञस्तु शिष्याणां कुर्याद् वै[1] तत्र योजनम् ।
यत्र तत्र च तत् तेषामवश्यं शाश्वतं भवेत् ॥ २३३ ॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायामधिवासदीक्षाविधि-
रष्टादशः परिच्छेदः ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्येऽष्टादशः परिच्छेदः ॥

१. वा–मु० ।

ए[1]कोनविंशः परिच्छेदः

नारद उवाच[2]

अधिवासाभिधानेयं पूर्वदीक्षाऽच्युतेन वै ।
कथिता सीरिणे विप्रास्तेनाऽतश्चोदितः पुनः ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच[2]

देव दीक्षाविधानं च त्वद्वक्त्रकमलादहम् ।
श्रोतुमिच्छामि संक्षेपाद् वैष्णवानां हिताय च ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच[2]

एकानेकस्वरूपां वै दीक्षां संसारिणां[3] शृणु ।
आसाद्य यां समायान्ति देहान्तेऽभिमतं पदम् ॥ ३ ॥
कैवल्यफलदाऽप्येका[4] भोगकैवल्यदा परा ।
भोगदैव तृतीया च प्रबुद्धानां सदैव हि ॥ ४ ॥
आचार्यानुमताः[5] सर्वाः कार्याः सम्यक् फलाप्तये ।
भक्तिभावानुविद्धानां शिष्याणां भावितात्मनाम्[6] ॥ ५ ॥

अथैकोनविंशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । एवमधिवासदीक्षां श्रुत्वा पुनः संकर्षणः पृच्छतीत्याह—अधिवासेति ॥१॥

प्रश्नप्रकारमाह—देवेति ॥ २ ॥

एवं पृष्टः श्रीभगवान् परव्यूहविभवभेदभिन्नदीक्षात्रयस्य फलभेदानुक्त्वा तत्र दीक्षात्रयेऽप्याचारवतां शिष्याणामधिकारं वृद्धबालाङ्गनानां तु दुश्शकाचारविरहेऽप्यधिकारं च दर्शयित्वा तेषां तत्तत्फलाभिसन्ध्यनुसारेण दीक्षात्रयेऽन्यतमा कर्तव्येत्याह—एकानेकेत्यादिभिः । अत्राशक्तविषये लघुतरानुष्ठानमप्युक्तं जयाख्यलक्ष्मीतन्त्रयोः[7]—

---

१. अष्टादशः—अ० । २. 'उवाच' नास्ति—मु० अटी० बक० । ३. रिणः—मु० अटी० । ४. ह्येका—अ० उ० अटी० । ५. गताः—अ० उ०, मतः—अटी० । ६. भविनां तु वै—बक० बख० उ०, हविनां तु वै—अ० । ७. जयाख्यसंहितायाम् (१६।४–६) एतदभिप्रायका श्लोका द्रष्टव्याः ।

वृद्धानामङ्गनानां च बालानां भावितात्मनाम् ।
विनाचारसमूहेन दुश्शकेन च ता हिताः ॥ ६ ॥
पुरा धिया विचार्यैवमुप[1]सन्नेन वै सह ।
तदीयमाशयं ज्ञात्वा सम्पाद्यैका महामते ॥ ७ ॥
अथाऽतीतेऽर्धरात्रे तु उत्थाय शयनाद् [2]गुरुः ।
कमण्डलुं समादाय बहिराचम्य संविशेत् ॥ ८ ॥
संस्मरेदग्रतश्चास्त्रं हुतभुग्राशिसन्निभम् ।
[3]तदन्तःस्थं विशेद् देवं स्नानं [4]मान्त्रं कृतं भवेत् ॥ ९ ॥
निद्रामोहमलं येन शश्वदायाति संक्षयम् ।
शङ्कून् वै [5]घटिकास्तत्र रजांस्यस्त्रवरेण च ॥ १० ॥
समादाय च [6]संस्मृत्य [7]निष्पिष्यायै[8]र्महीतले ।
शुष्कगोमयसंघृष्टे[9] मण्डलं यत् पुरोदितम् ॥ ११ ॥
[10]भद्रत्वपरिरक्षार्थं न्यस्याः कोणेषु शङ्कवः ।
कमलभ्रमसिद्ध्यर्थमेकं मध्ये निवेश्य च ॥ १२ ॥
ईषन्न याति वैषम्यं तद् रात्रिसमये यथा ।
महानूनाधिके दोषः सशिष्यस्य यतो गुरोः ॥ १३ ॥
अतस्तद् रक्षणीयं च यत्नेन महता सदा ।
निर्वर्त्य नित्यं प्रत्यूषे पुरा वै स्नानपूर्वकम् ॥ १४ ॥

महामण्डलयागेन हवनाद्वाऽथ केवलात् ।
वाचा केवलया वापि दीक्षैषा त्रिविधा पुनः ॥
[11]वित्ताढ्यस्याल्पवित्तस्य द्रव्यहीनस्य च क्रमात् । (ल० ४१।९–१०)
इति ॥३–७॥

अथातीतेऽर्धरात्रे आचार्यस्य शयनादुत्थानमाचमनं मन्त्रस्नानं मण्डललेखनं प्रत्यूषे नित्यकर्मानुष्ठानं शिष्यस्वप्नपरीक्षां चाह—

---

१. पन्नेन–अ० । २. गुरोः–मु०अटी० बक० बख० । ३. न्तः संविशेदेवं–मु० अटी० अ० । ४. मात्रं–मु० अटी० बक० बख० अ०, मास्त्रं–उ० । ५. खटिका सूत्रं–अ० उ० । ६. संस्कृत्य–अटी० । ७. प्याघ्र्यै–अ० उ० । ८. पङ्क्तिरेषा न दृश्यते–अ० । ९. संपृष्टे–बक० बख० । १०. भद्रत्वक्–अटी० । ११. वित्तालस्या–अ० म० ।

शिष्यमाहूय[1] संचोद्य स्वप्नप्राप्तिं शुभाशुभाम् ।
चतुर्मूर्तिसमूहं तु यथादिक्संस्थितं तु वै ॥ १५ ॥
पश्येत् पङ्क्तिनिविष्टं च उपविष्टं तु[2] चोत्थितम् ।
तन्मध्याद् भगवत्तत्त्वमेकं वा भिन्नलक्षणम् ॥ १६ ॥
प्रादुर्भावसमूहं च तल्लाञ्छनगणश्च यः ।
दैवीयं वनितावृन्दं सर्वमेकम[3]थापि वा ॥ १७ ॥
भवोपकरणव्रातमशेषं वा पृथक् स्थितम् ।
रुद्रेन्द्रचन्द्रसूर्याम्बुहुतभुग्वातलक्षणम् ॥ १८ ॥
पञ्चरात्रविदो विप्रा आराधनपरायणाः ।
त्रयीमुद्घोषयन्तश्च निगदन्तश्च वा द्विजाः ॥ १९ ॥
यतयः शुद्धसत्त्वाश्च सद्ब्रह्मपदसंस्थिताः ।
नगस्रक्चन्दनाद्यानि सुगन्धानि तरूत्तमः ॥ २० ॥
उद्यानवनितारामवापीहर्म्यमहालयाः[4] ।
फलबीजौषधीः साम्बुकुम्भो वा पाकनिर्गतः ॥ २१ ॥
गोगजाश्च नदी यानं कन्या सालङ्कृता शिशुः ।
मङ्गल्यगीतिर्मधुरा भेरी वंशश्च वल्लरी ॥ २२ ॥
ससारसं सरः पद्मैः पूर्णं छत्रं[5] सितं ततम् ।
हेमादिधातवो रत्नजालं गोसम्भवानि च ॥ २३ ॥
नवो नेत्र[6]चयः [7]शुद्धं वस्त्रवृन्दमनाहतम् ।
राजा पुरोधाः सामन्तो राजपत्नी च दर्पणम् ॥ २४ ॥

अथातीतेऽर्धरात्रे त्वित्यादिभिः ॥८–१५॥

शुभाशुभस्वप्नान्याह—चतुर्मूर्तिसमूहं त्वित्यादिभिः ॥१५–३३॥

---

१. मादाय—बक० बख० । २. द्वयो—उ० । ३. तमाथवा—मु० अटी० बक० बख० उ० । ४. लयम्—मु० अटी० । ५. चित्रं—मु० अटी० बक० बख० । ६. नेत्रः सितं—मु० अटी० । ७. शुक्लं—उ० ।

[1]तुषारपातः सद्वृष्टिर्महामेघोदयो दिवि ।
शोणितं चार्द्रमांसानि खप्लुतिर्मदिरालयः ॥ २५ ॥
सत्पक्षिमृगसङ्घातः सुरार्चा चामरं सितम् ।
एवमादीनि चान्यानि विद्धि सिद्धिप्रदानि च ॥ २६ ॥
स्वप्नानि यान्यनिष्टानि तानि मे लेशतः शृणु ।
म्लानता क्षितिकम्पश्च उपरागोऽतिभीषणः ॥ २७ ॥
नीहार उल्कापातश्च नि[2]र्घातश्चित्तभङ्गकृत् ।
गर्तप्रवेशो दध्यन्नं स्विन्नमांसस्य भक्षणम् ॥ २८ ॥
वर्तनं रथविध्वंश आज्यं स्वाङ्गद्विजच्युतिः ।
खरोष्ट्रं चोत्कटं हास्यं कपिऋक्षाकुलं वनम् ॥ २९ ॥
स्थानं धूमाकुलं [3]दग्धमसिताम्बरवेष्टितम्[4] ।
शुष्कत्वं सरिदादीनां प्रतिस्रोतस्त्वमेव च ॥ ३० ॥
पोतयानध्वजच्छत्रतरुभङ्गोऽप्यसिद्धिकृत् ।
अवतारो नगाद् वृक्षान्नग्नत्वं प्रेतदर्शनम् ॥ ३१ ॥
वसाकज्जलतैलाज्यलेपः सत्कर्दमे स्थितिः ।
महिषोऽहिर्नरः कृष्णो दक्षिणाशागमः क्षुधा ॥ ३२ ॥
लु[5]ञ्छनं नखकेशानामस्थिभङ्गादिकं द्रुतम् ।
एवमादीनि चान्यानि अशुभानि महामते ॥ ३३ ॥
प्राप्ते शुभाशुभे स्वप्नेऽप्यभिसन्धाय वै हृदि ।
औत्सुक्यादशिवध्वंसि पूजाहोमं समाचरेत् ॥ ३४ ॥
[6]यथोक्तविधिना देवमवतार्य क्रमाद् यजेत् ।
तर्पयित्वा यथान्या[7]यं पूर्णान्तं [8]चाचरेत् [9]ततः ॥ ३५ ॥

अशुभस्वप्ने तच्छान्तिमाह—प्राप्त इति ॥३४॥
पुनर्यथाक्रमं कुम्भादिष्वर्चनमाह—यथोक्तविधिनेति ॥३५॥

---

१. तुरगश्चैव–मु० अटी० । २. निर्यात–मु० अटी० । ३. चैव–मु० अटी०, दण्ड–बख० । ४. वेष्टनम्–मु० अटी० । ५. लाञ्छनं–अटी०, लुण्ठनं–बक० बख० अ०, लुण्टनं–उ० । ६. अथो–मु० । ७. न्यासं–मु० बक० बख० । ८. चार्पये–बक० बख० । ९. पुनः–बक० बख० अ० उ० ।

ईशकोणेऽथवा सौम्ये पदे यागगृहस्य च ।
मण्डले पूर्वनिर्दिष्टे वृत्ते वा चतुरश्रके ॥ ३६ ॥
स्नातं स्रग्वस्त्रभृच्छिष्यं कृतन्यासं [1]निवेशयेत् ।
निरीक्ष्य ताड्य संप्रोक्ष्य दर्भैरालभ्य पूर्ववत् ॥ ३७ ॥
संस्कृ[2]त्य मू[3]र्तिवत् किन्तु अनुग्रा[4]ह्यं [5]परागतम् ।
आ[6]पादान्मन्त्रहस्तेन परामृश्याऽथ मूर्धनि ॥ ३८ ॥
मन्त्रहस्तं ज्वलद्रूपं दद्याद् यो दुःखबी[7]जजित् ।
तमादाय कराद् देवधामसन्निकटं व्रजेत् ॥ ३९ ॥
कृत्वात्मनो वामभागे भूयः संच्छाद्य लोचने ।
प्रक्षेपयेत् तथा साघ्र्यमञ्जलिं मुक्तलोचनम् ॥ ४० ॥
संपश्येत् परमं धाम मान्त्रमर्च्छफलप्रदम् ।
तस्मिन्नवसरे कुर्यान्नाम यस्य यथोचितम् ॥ ४१ ॥
रहस्यसंज्ञं मुख्यं च [9]गौणं वास्य यथास्थितम् ।
सामान्यं वासुदेवाद्यं नाम स्वाङ्गाच्चतुर्ष्वपि[10] ॥ ४२ ॥

स्नातस्यालङ्कृतस्य कृतन्यासस्य शिष्यस्य गोमयलिप्ते मण्डले समुपवेशनं निरीक्षणादिसंस्कारांश्चाह—ईशकोणेति सार्धैस्त्रिभिः। निरीक्षणं नेत्रमन्त्रेण, ताडनमस्त्राभिमन्त्रिततिलसिद्धार्थैः, प्रोक्षणमस्त्राम्भसा, दर्भैरालभनम्, पीठं[11] तेनास्त्रमन्त्रेण, मूर्तिवत् संस्कारो[12] मन्त्रन्यासैरिति ज्ञेयम्। मन्त्रहस्तेन प्रधानैर्मन्त्र[13]त्वेन भावितनिजदक्षिणहस्तेनेत्यर्थः ॥३६–३९॥

अथ शिष्यस्य वैष्णवनामकरणविधानमाह—तमादायेत्यारभ्य दासान्तं शूद्रजन्मनामित्यन्तम्। अस्मिन्नवसरे शिष्यस्य नामकरणात् पूर्वं सुदर्शनपाञ्चजन्यधारणमूर्ध्वपुण्ड्रधारणं च कार्यम्, यतः—"तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः" (ई० सं० २१।२८४) इति तयोर्नामकरणप्राक्कालीनत्वमुक्तम्। किञ्च, "पञ्चलोहमयं चक्रं सशङ्खं द्वादशारकम्" (१८।३५) इति पूर्वं सम्भारार्जनप्रकरणोक्ताभ्यां शङ्खचक्राभ्यां तापस्त्ववसरै[14]रान्तरे(न?ण) प्रतिपादितश्च।

ननु सम्भारार्जनप्रकरणे चक्रशङ्खौ नहि तापार्थं प्रतिपादितौ, अपि तु—

१. निवेद–मु० अटी०। २. संस्तुत्य–बक०। ३. पूर्व–अ०। ४. गृह्य–मु० अटी०, ग्राह्यान्तरा–उ०। ५. परादिकम्–अ०। ६. अप–मु०, आप–अटी०। ७. भेद–अटी०। ८. मिच्छा–अ० उ०। ९. गणं-बक० बख०। १०. ष्विव–मु० अटी०। ११. पठन्ते–अ०। १२. संस्कारा–म०। १३. मन्त्रवत्वेन–अ०। १४. सरान्तेन–म०।

सर्वेषां सविशेषं वा[१] यथा चानुक्रमेण तु ।
द्विषट्कमूर्त्यङ्कितं च स्वाम्यन्तं ब्राह्मणेषु च ॥ ४३ ॥

मुद्रावसानं कृत्वैव सम्यक् तदनु चाहरेत् ॥
पाणिभ्यां शङ्खचक्रे द्वे स्वमन्त्रेणाभिमन्त्रिते ।
भूत्वा तदात्मना पश्चात् ते निधाय धरातले ॥
अवलोक्याखिलं तत्स्थं प्रवर्तेताथ कर्मणि । (१८।५९–६१)

इत्येतावन्मात्रोपयोगार्थं प्रतिपादिताविति चेत्, कस्तावता भवतो विरोधः, प्रसिद्धे तौ[२]पेऽप्युपयुज्येतां नाम । न च वेदविरुद्धत्वमेव मम विरोध इति वाच्यम्, तस्य वेदोक्तत्वे परश्शतप्रमाणानि स[३]च्चरित्ररक्षायां तप्तमुद्राविद्रावणविद्राविण्यां सिद्धान्तचन्द्रिकायां च प्रतिपादितानि । सावधानं पश्यतु भवान् । अत एव वेदमूलेऽस्मिन्नपि तन्त्रे द्वादशपरिच्छेदे—

नास्त्रैर्वस्त्रैर्ध्वजैर्येषां व्यक्तिर्व्यक्ता जगत्त्रये ॥
तेऽपि लाञ्छनवृन्दं तु धारयन्त्यङ्घ्रिगोचरे ।
ललाटे चांसपट्टे तु पृष्ठे पाणितलद्वये ॥
तनूरुहत्त्रये मूर्ध्नि कर्मिणां प्रतिपत्तये ।
अपि संसारिणो जन्तोः स्वभावाद् वैष्णवस्य च ॥
न जहात्याच्युतं लिङ्गं किं पुनर्विभवाकृतेः । (१२।१६८–१७१)

इति वैष्णवभगवल्लाञ्छनधारणं सुस्पष्टं प्रतिपादितम् । किञ्च, एतद्वचनस्य सहजलाञ्छनपरत्वभ्रमोऽपि सच्चरित्ररक्षायामेव (पृ० ४३) निवारितः ।

नन्वस्तु नाम सुदर्शनपाञ्चजन्यधारणं प्रमाणसिद्धम्, तदिदानीमेव दीक्षाप्रकरणे कार्यमिति कोऽयं नियमः । तथा नियमे नामकरणवत् तदपि भगवतैव कण्ठरवेणोक्तं भवेत् । जयाख्यलक्ष्मीतन्त्रपाद्मादिष्वपि नहि तद्दीक्षाङ्गत्वेन प्रतिपादितमिति चेत्, सत्यम् । दीक्षाङ्गमिति केनोक्तम् । पूर्वमप्राप्तशङ्खचक्रलाञ्छनानामेव, "पञ्चलोहमयं चक्रं सशङ्खं द्वादशारकम्" (१८।३५) इति सम्भारप्रकरणे प्रतिपादितम् । उत्तरत्राचार्याभिषेकानन्तरं शि[४]ष्यायाचार्यलाञ्छनप्रदानसमयेऽपि—"स्रुक्स्रुवौ योगपट्टं च शङ्खचक्रे कमण्डलुम्" (२०।१६) इति वक्ष्यति । किन्तु चक्रा(ङ्क?ङ्क)नादीनां दीक्षायाः पूर्वमेव मु[५]ख्यकालत्वाद् गौणकाले दीक्षामध्ये तन्न प्रतिपादितम् । [६]ईश्वरतन्त्रे तु गौणकाल एव प्रतिपादितम् । नहि तत्र दीक्षाकाले प्रतिपादितत्वमात्रेण तत्तदानीमेवानुष्ठेयँ[७]मिति

१. या–मु० । २. तावप्यु–अ० । ३. सुदर्शनपाञ्चजन्यधारणविधिनामके प्रथमाधिकारे । ४. शिष्याचार्य–म० । ५. मुक्त–म० । ६. ईश्वरसंहितायां (२१।२८३) इत्यादितो विस्तरेणायं विषयः प्रतिपादितः । ७. ज्ञेय–म० ।

देवान्तं क्षत्रियाणां च कुर्याद् द्वादशधा पुनः ।
पाण्यन्तं धार[1]निष्ठं वा लाञ्छनास्त्रपुरस्सरम् ।। ४४ ।।

नियमोऽस्ति, शङ्खचक्रधारणस्य जातकर्मनामकरणादिकालेषूपनयनात् पूर्वमुपनयनानन्तरं विवाहाद्यनन्तरं वा कर्तव्यत्वेन बहुविधसमयानां तत्र तत्र प्रतिपादितत्वात् । दीक्षाकालस्तु सर्वथा नोल्लङ्घनीयः । यतः पारमेश्वरे प्रतिष्ठाध्याये—

एवं तदीया विप्राश्च क्षत्रिया वैश्यजातयः ।।
मौद्गल्याद्यास्तथान्ये च न तच्चिह्नविवर्जिताः ।
भवेयुः सर्वथा तस्माच्छङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।।
लोहैरनलसंतप्तै[2]स्तत्तन्मन्त्राधिवासितैः ।
पूजितैरर्घ्यगन्धाद्यैरङ्कितव्याः क्षणेन तु ।।
त्र[3]य्यन्तज्ञानसंपन्ना यथोक्ताचारनिष्ठिताः ।
विप्राद्यास्ते च शूद्राश्च यदैवं[4] कृतलक्षणाः ।।
तदा तु योग्या विज्ञेयाः समयश्रवणादिषु । (१५।९६१–९६५)

इति कृतलक्षणानामेव दीक्षायां योग्यता प्रतिपादिता । नन्वेवम्—

सुदर्शनं धारयित्वा वह्नितप्तं द्विजोत्तमः ।
उपनीय विधानेन पश्चात् कर्मसु योजयेत् ।।

इति कृतलक्षणस्यैव गायत्रीग्रहणादिकर्मयोग्यत्वं प्रतिपाद्यते,

भुजे चक्रं द्विजातीनां शिरश्चक्रं तु दैवतम् ।
अचक्रद्विजदेवानां पूजा दानं च निष्फलम् ।।

इत्युक्त्याऽकृतलक्षणस्य कन्यादानाद्यर्हत्वमपि नास्ति, अतश्चक्रादिलाञ्छने उपनयनविवाहकालावप्यनुल्लङ्घनीयाविति चेत्, क[5]स्येष्टं तदुल्लङ्घनम् । अनुपपत्तिवशात् स्मार्तसंस्कारोल्लङ्घनेऽपि दीक्षाख्यवैष्णवसम्प्रदायकालः सर्वथाऽनुल्लङ्घनीय इति निर्णयः । यतः पाद्मे—"चक्रेणैवाङ्कितो विद्वान् वासुदेवं समाश्रयेत्" इति प्रतिपाद्यते । अत एवेश्वरे दीक्षाकालस्याप्युल्लङ्घनभिया तत्प्रकरण एव चक्राङ्कनादिकमुक्तम् । तत्पूर्वमेव कृतचक्राङ्कनानां तु दीक्षाकाले तन्न प्रकृतम् । आचारे सति पुनर्दीक्षाकाले तत्प्रकरणेऽपि न प्रत्यवायः,

चक्रादि धारयेद् विप्रो ललाटे मस्तके भुजे ।
पातकादिविशुद्ध्यर्थं भवक्लेशविनाशनम् ।।

---

१. धर–बक० बख० अ० उ० । २. प्तैः सूत्र–अ० म० । ३. त्रैविद्या–मु० । ४. यदैवं–मु० । ५. कस्येदं–अ० ।

ध्वजलाञ्छनसंज्ञं च यथावस्थं नृपेषु च ।
एवं वर्धननिष्ठं च मूर्तिलाञ्छनपूर्वकम् ॥ ४५ ॥

इत्यादित्यपुराणादिषु शुद्ध्यापादकत्वेन च प्रतिपादनात्, पूर्वं कृतलाञ्छनस्य देहोपचयादिना मलिनत्वे पुनः स्फुटत्वसिद्धेश्च । ननु—

विष्णवागमादितन्त्रेषु दीक्षितानां विधीयते ।
शङ्खचक्रगदापूर्वैरङ्कनं नान्यदेहिनाम् ॥

इत्यादिवचनैर्दीक्षानन्तरमपि चक्राङ्कनमवगम्यत इति चेन्न, दीक्षितानामित्यस्य दीक्षार्हपरत्वात् । सिद्धान्तचन्द्रिकायां तु दीक्षितानामित्यस्य मुमुक्षुपरत्वमुक्तम् । तदसंगतम्, तन्त्रदीक्षाप्रवेशभिया तादृशार्थाङ्गीकरणात् । निर्निमित्तेयं भीतिः । यतो महाभारते शान्तिपर्वणि—

अवश्यं वैष्णवो दीक्षां प्रविशेत् सर्वयत्नतः ।
दीक्षिताय विशेषेण प्रसीदेन्नान्यथा हरिः ॥
वसन्ते दीक्षयेद् विप्रं ग्रीष्मे राजन्यमेव च ।
शरदः समये वैश्यं हेमन्ते शूद्रमेव च ॥
स्त्रियं च वर्षाकाले तु पञ्चरात्रविधानतः ।

इति ब्राह्मणादीनां सर्वेषामप्यविशेषेण तन्त्रदीक्षाप्रवेशो[1] विधीयते । एतद्वचनानामधिकारिविशेषत्वे कथिते विनिगमनाविरहेण—

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः ।
अर्चनीयश्च सेव्यश्च नित्ययुक्तैः स्वकर्मसु ॥
(द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च ।)
सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यः ॥ (६६।३९-४०)

इति महाभारतभीष्मपर्ववचनानामप्यधिकारिविशेषपरत्वमेव संभवति । संभवतु नाम, तावताऽस्माकं का हानिरिति चेत्, आचार्योक्तिविरुद्धं वचो मा वोचः । पञ्चरात्ररक्षायां ह्येतद्भीष्मपर्ववचनान्युदाहृत्य-"एवमविशेषेण सर्वेषां ब्राह्मणादीनां श्रीमत्पञ्चरात्रोक्तमार्गेण भगवदर्चनादिकं कर्तव्यम्" (पृ० २१) इत्यभिहितत्वात् । "सर्वसूत्रनिष्ठानामपि भगवच्छास्त्रोक्तप्रक्रियया समाराधनादिकं प्रशस्ततमम् । तथा च शिष्टैरनुष्ठीयते" (पृ० २१) इति सिद्धान्तितम् । तत्रैव द्वितीयाधिकारेऽपि (पृ० ५६) श्रीमद्भाष्यकारप्रभृतिभिः श्रीपाञ्चरात्रे[2] यत्किञ्चित् सिद्धान्तस्थां काञ्चित् संहितां प्रधानीकृत्य नित्याराधनं संगृहीतमित्यपि प्रतिपादितम् । अतस्त्वेकत्र निर्णीतोऽर्थः सर्वत्रेति न्यायेन दीक्षाप्रवेशविधायकशान्तिपर्ववचनानामप्यविशेषेण सर्वजनविषयत्वं बोद्धव्यम् । एतादृशे

१. शोऽभिधीयते–म० । २. पञ्च–म० ।

विहितं चापि वैश्यानां दासान्तं शूद्रजन्मनाम् ।
अथोत्थाय नमस्कृत्य मण्डलं कलशं गुरुम् ॥ ४६ ॥

पञ्चमवेदवचने जागरूके सति भवतां तत्र दीक्षाप्रवेशे का भीतिः । तन्त्रदीक्षामन्तरा तदुक्तभगवदर्चनादौ भवतामधिकारः कथं सिद्ध्यति ?

अन्येषां ब्राह्मणादीनां वर्णानां दीक्षया क्रमात् ।
अधिकारोऽनुलोमानामपि नान्यस्य कस्यचित् ॥
पूजाविधौ भगवतस्तेऽनुकल्पाधिकारिणः ।

इति पाद्मादिषु दीक्षितानामेव हि भगवदर्चनाधिकारः श्रूयते । किञ्च, अत्रापि द्वितीये परिच्छेदे—"चतुर्णामधिकारो वै वृत्ते दीक्षाक्रमे सति" (२।१२) इति प्रतिपादितम् । इदं परार्थयजन[1]विषयमिति मावोचः, चतुर्वर्णानामविशेषेणाधिकारवर्णनात् । यद्यपि भवद्भिरपि सिद्धान्तचन्द्रिकायाम्—"वैखानसाद्यागमोक्तदीक्षां प्राप्तो हि वैष्णवः" इत्यत्र,

तन्त्रदीक्षां विना यस्तु शङ्खचक्रादिलाञ्छनम् ।
बिभर्ति स तु पाषण्डो विज्ञेयस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

इत्यत्र च[2] तन्त्रदीक्षाऽङ्गीकृतैव, तथापि यावदर्थानुष्ठानभिया दीक्षाशब्दस्य देवतान्तरपरित्यागरूपनियमपरिग्रहमात्रपरत्वमुक्तम् । महाभारतादिवचनपर्यालोचनया दीक्षाप्रवेशे मा भीतिं भजन्तु भवन्तः । अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । प्रकृतमनुसरामः । एषां चक्राङ्कनादिसंस्काराणां दीक्षाकालेऽनुष्ठानक्रम ईश्वर[3]संहितायां सम्यक् प्रतिपादितः । पृथक्कालेऽनुष्ठानेऽपि स एव क्रमोऽनुसरणीयः । तदानीमग्निस्तु—

विष्णोरायतनाग्नौ वा गुरोरात्मन एव वा ।
हुते होमादिभिस्तप्तैः सुरूपैरर्चितैः क्रमात् ॥
दासभूतं यदात्मानं बुद्ध्येत परमात्मनः ।
तदैव गात्रं कुर्वीत शङ्खचक्रादिलाञ्छितम् ॥ (३।६२–६३)

इति भारद्वाजसंहितोक्तो ग्राह्यः । तत्र विष्ण्वायतनाग्निर्वैष्णव एव । गुरोरात्मनो वाऽग्निश्चेत्, स्वगृह्योक्तप्रतिष्ठापूर्वकमीश्वरतन्त्रोप[4]बृंहितवैष्णवीकरणप्रक्रियया संस्कार्यः । ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणमपि चक्राङ्कनानन्तरमेव कार्यम् । नाममन्त्रयागाख्यसंस्कारत्रयं तु दीक्षाकाल एवानुष्ठेयम्, तस्य दीक्षाङ्गत्वेनैव प्रतिपादितत्वात् ।

ननु तर्हि[5] पञ्चसंस्काराणां यौगपद्येनानुष्ठानं न संभवतीति चेत्, किं तावता

---

१. 'यजन' नास्ति–अ० । २. 'च' नास्ति–अ० । ३. ईश्वरसंहितायां २१ तमेऽध्याये २८३–३२५ श्लोकेषु विषयोऽयं द्रष्टव्यः । ४. अग्नेर्गर्भाधानादयः संस्कारा ईश्वरे (५।१४७–१५८), पारमेश्वरे (७।१०६–११७) च द्रष्टव्याः । ५. 'तर्हि' नास्ति–अ० ।

यायात् कुण्डसमीपे तु शिशुना[1] सह देशिकः ।
कृतस्य कर्मणोऽच्छिद्रसिद्धये च हुते सति ॥ ४७ ॥

सन्ताड्यास्त्रात्मको भूत्वा प्राग्वत् तद्हृदयं विशेत् ।
प्राणशक्तिवियुक्तं च कृत्वानीय समासतः ॥ ४८ ॥

संप्रवेश्य स्वकं स्थानं तत्राग्निकणवच्च तम् ।
नीत्वा सम्यक् पृथग्भावं विरेच्य सह वायुना ॥ ४९ ॥

स्वभूमौ वाममार्गेण हृदाद्यन्तं[2] निरोधितम् ।
जन्मग्रहमनेनैव मन्त्रयुक्तेन कर्मणा ॥ ५० ॥

भावध्यानानुविद्धेन पितृमातृमयं त्यजेत् ।
ततः कवचमन्त्रेण दद्यात् सप्ताभिमन्त्रितम् ॥ ५१ ॥

प्रत्यवायः । जातस्य कुमारस्य द्वादशेऽहनि नामकरणप्रकरणे शङ्खचक्राङ्कनं शास्त्रेषूच्यते । तथैव शिष्टैरनुष्ठीयते,

> द्वादशेऽहनि पुत्रस्य केशवो बन्धुभिः सह ।
> तेन श्रीशैलपूर्णेन[3] गुरुणाऽमिततेजसा ॥
> शङ्खचक्राङ्कनं पूर्वं कारयित्वाऽथ लीलया[4] ।
> लोके रामानुज इति नाम चक्रे सुमङ्गलम् ॥ (२।३८–३९)

इति प्रपन्नामृतादिषु श्रीभाष्यकारादिशिष्टाचारोऽप्युद्‌घुष्यते च । अतो न पञ्चसंस्काराणां यौगपद्येनानुष्ठाननियमोऽस्ति ।

ननु तदानीं तेषां यौगपद्येनानुष्ठानासंभवेऽपि पुनरुपनयनानन्तरं विवाहानन्तरं वा पञ्चसंस्काराणां यौगपद्येनानुष्ठानं संभवति, तथैव भाष्यकारादिशिष्टाचारश्च प्रतिपादित इति चेत्, सत्यम् । अत एव हि दीक्षाकाले तेषां पुनःकरणहेतुः पूर्वमस्माभिरपि प्रतिपादितः ॥ ३९–४६ ॥

ततो मण्डलसमीपादुत्थाय गुरुदेवनमस्कारं कृतवता शिष्येण सह कुण्डसमीपं गत्वा प्रायश्चित्तहोमानन्तरमस्त्राभिमन्त्रितसिद्धार्थादिभिः शिष्यसन्ताडनं दहनाप्यायनाख्यधारणाद्वयेन तद्भूतशोधनं च कुर्यादित्याह—अथोत्थायेति पञ्चभिः श्लोकैः ॥ ४६–५१ ॥

---

१. शिष्येण—अटी० । २. द्यन्त—अ० । ३. श्रीश्रीश—अ० । ४. सलीलया—अ० म० ।

तस्योपवीतमपरमुदितं चापि यस्य यत्[1] ।
सर्वदा[2] दासभावत्वमापन्नस्य च तत्त्वतः ॥ ५२ ॥
अमद्यपाऽन्वयोत्थस्य[3] लोकधर्मोज्झितस्य च ।
आप्तवद् ब्रह्मनिष्ठस्य कर्मतन्त्ररतस्य च ॥ ५३ ॥
गोदानं शूद्रजातेर्वै विहितं चैव नान्यथा ।
वौषट्[4]स्वाहावषट्कारनिष्ठानां तु प्रतिक्रिया ॥ ५४ ॥
नमस्कारेण मन्त्राणां कार्ये प्राप्ते ह्यनुग्रहे ।
तदीयमर्घ्यपुष्पाद्यं यत्किञ्चिद् यागसाधनम् ॥ ५५ ॥
सुसंस्कृतमसिद्धं वा भक्त्या कर्मण्यतां व्रजेत् ।
अतोऽन्येषां तु भक्तानां विहिता यागसाधने ॥ ५६ ॥

उपवीतधारणार्हस्य त्रैवर्णिकस्य शिष्यस्य नूतनोपवीतधारणमाह—तत इति ॥ ५१–५२ ॥

योग्यस्य शूद्रस्य तु गोदानं विहितमित्याह—सर्वदेति द्वाभ्याम् ॥ ५२–५४ ॥

शूद्रस्य वर्षट्काराद्यनर्हत्वान्मन्त्रशरीरे तत्प्रतिनिधित्वेन नमस्कारो योज्य इत्याह—वौषडिति । पाद्मे तु—

> द्वादशाक्षरमादौ तु पश्चादष्टाक्षरात्मकम् ।
> मूर्तिमन्त्रांश्च तदनु समध्याप्य यथाविधि ॥
> केवलं वैष्णवं नाम नमःप्रणववर्जितम् ।
> हुंफडादिवषट्स्वाहावर्जितं केशवादिकम् ॥
> अध्याप्य स्त्रीषु शूद्रेषु तद्वदेवानुलोमजे ।
> सावित्रीं येऽनुतिष्ठन्ति तेषां विप्रवदिष्यते ॥

इति शूद्रादीनां प्रणवनमस्कारावपि निषिद्धौ । अन्यत्र—

> न स्वरः प्रणवोऽङ्गानि नाप्यन्यविधयः स्मृताः ।
> स्त्रीणां च शूद्रजातीनां मन्त्रमात्रोक्तिरिष्यते ॥

इति प्रणवमात्रं निषिद्धम् । अतः संहिताभेदेन व्यवस्था ज्ञेया । पुष्पाञ्जल्यादिसमर्पणार्थं शूद्राहृतं पुष्पादिकमपि तद्भक्तिवशेन कर्मार्हं भवतीत्याह—तदीयमिति ॥ ५४–५६ ॥

---

१. तत्–बक० बख० । २. सर्वथा–बक० बख० अ० उ० । ३. अमध्यमा–अटी० । ४. वौषट्–म० ।

सम्यक् सत्त्वनिवृत्तिः[1] प्राग् दर्शनं[2] प्रोक्षणान्वितम् ।
मूर्तौ[3] वा मण्डलाग्रे तु पुष्पक्षेपं महामते ॥ ५७ ॥
नक्तं वा परिपीडं[4] च व्रतार्थं[5] त्वेकमेव[6] हि ।
एवं संस्कारसंशुद्धं कृत्वा वर्णगणं पुरा ॥ ५८ ॥
साङ्गेन विभुना कुर्यात् तत्प्रायश्चित्ततर्पणम्[7] ।
सदशांशं[8] सहस्रं तु यथा चानुक्रमेण तु ॥ ५९ ॥
गत्वाऽभ्यर्च्य च कुम्भेशं सूत्रमादाय तत्स्थितम् ।
ऋजुभूतं शिशुं कृत्वा तद्वत् सूत्रं प्रसार्य[9] च ॥ ६० ॥
व्यक्तरूपं च मन्त्रेशं संस्मरेदग्निमध्यगम् ।
पश्येद् विभौ शिशौ[10] सूत्रे स्वात्मन्यध्वानमञ्जसा ॥ ६१ ॥

एवं त्रैवर्णिकानामपि यागसाधनद्रव्येषु स्वीयत्वाभिमाननिवृत्तिर्विहितेत्याह—अतोऽन्येषामिति त्रिभिः पादैः ॥ ५६–५७ ॥

शिष्यैः पुष्पाञ्जलिसमर्पणं बिम्बाग्रे मण्डलाग्रे वा कार्यमित्याह—दर्शनेति त्रिभिः पादैः । दर्शनं नेत्रमन्त्रेणावलोकनमित्यर्थः । अनेन दीक्षाकाले मण्डलबिम्बयोरन्यतरार्चनं सूच्यते ॥ ५७ ॥

दीक्षाव्रतार्थं शुद्धोपोषणं नक्तभोजनं वा विहितमित्याह—नक्तमित्यर्धेन ॥

एवं ब्राह्मणादीनां संस्कारानन्तरं वर्णानुक्रमेण साङ्गमूलमन्त्रैः सदशांशसहस्रसंख्यया प्रायश्चित्तहोमं कुम्भस्थितभगवदभ्यर्थनपूर्वकं तत्समीपस्थापितमायासूत्रग्रहणम् ऋजुभूतस्य शिष्यस्या पादाच्छिखान्तं तत्सूत्रप्रसारणं चाह—एवमिति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ५८–६० ॥

अग्निमध्ये व्यक्तरूपं भगवन्तं संस्मृत्य तस्मिन् भगवति शिशौ सूत्रे स्वात्मनि चाध्वानं स्मरेदित्याह—व्यक्तेति ॥ ६१ ॥

---

१. सत्त्वनिवृत्त्यर्थं–अटी० । २. दर्शनं–मु० अटी० बक० बख० । ३. मूर्ते–अ० । ४. पिण्डं–बक० बख० उ० । ५. भूता–बक० बख० । ६. चैव–बक० बख० उ० । ७. प्रायश्चित्तं च–बक० उ० । ८. शांश–मु० अटी० । ९. प्रचार्य–मु० अटी० । १०. शिशुं–मु० अटी० बक० बख० अ० ।

तत्राध्यात्मस्वरूपं च संस्मरेन्मन्त्रदेहगम् ।
अधिदैवस्वभावं च तत्स्वात्मन्यवतार्य च ॥ ६२ ॥
अधिभूतमयं सूत्रे त्रिविधं शिष्यविग्रहे ।
मूलमन्त्रावसाने तु सनमस्कं परात्मने ॥ ६३ ॥
पदं कृत्वा तु जुहुयादाहुतीनां चतुष्टयम् ।
तथा सूक्ष्मात्मने चोक्त्वा ततः स्थूलात्मने तु वै ॥ ६४ ॥
सर्वात्मने च तदनु ततोऽध्वनिचयं हितम् ।
आ पादाग्राच्छिखान्तं च सर्वं ध्यात्वा स्वदेहगम् ॥ ६५ ॥
यथोद्दिष्टक्रमेणैव विभिन्नं त्रिविधं त्वपि ।
रचनासन्निवेशो यः क्ष्मादीनां चाधिभूतता ॥ ६६ ॥
बोद्धव्यमधिदैवत्वं सामर्थ्यं यस्य यत् स्वकम् ।
तदधिष्ठातृमन्त्राणामध्यात्मत्वं विधीयते ॥ ६७ ॥
अथ मार्गद्वयं त्यक्त्वा द्वादशान्तं समाश्रयेत् ।
मूलमन्त्रमयो भूत्वा संव्रजेत् स्वधिया ततः ॥ ६८ ॥
ब्रह्मद्वारपदं शैष्यं ततस्तन्मध्यवर्त्मना ।
पार्थिवं पदमाक्रम्य कुर्यात् तच्छक्तिमात्मसात् ॥ ६९ ॥
बीजभूतां च हृन्मन्त्रसंरुद्धां सन्धिविग्रहाम् ।
नानाण्डबीजसंयुक्ताम् अनेकरचनान्विताम् ॥ ७० ॥

अध्वस्मरणक्रममाह—तत्रेति सार्धेन । त्रिविधम् अध्यात्माधिदैवाधिभूतभेदभिन्नस्वरूपमित्यर्थः ॥ ६२–६३ ॥

तेषां सन्तर्पणमन्त्रानाहुतिसंख्यां ततस्तेषां स्वशरीरे आ पादाच्छिखान्तं यथाक्रमं व्याप्तिस्मरणं चाह—मूलमन्त्रेति त्रिभिः ॥ ६३–६६ ॥

अधिभूताधिदैवाध्यात्मपदार्थविवरणमाह—रचनेति सार्धेन । तदधिष्ठातृमन्त्राणां पूर्वोक्तवराहादिमन्त्रणामित्यर्थः ॥ ६६–६७ ॥

अथाचार्यस्य शिष्यब्रह्मरन्ध्रद्वारा तदन्तःप्रवेशं तत्र पृथिव्यादितत्त्वशक्तीनां संहारप्रकारं ततः सूत्रमयदेहान्तःप्रवेशं तत्र ध्याताऽधिभूताध्यात्मादीनां च ग्रहणं

१. पदा–मु० अटी० बक० । २. ष्टं क्र–मु० । ३. श्रैष्ठ्यं–अटी० । ४. गन्ध–अ० उ० । ५. द्वारं–म० । ६. 'अधि' नास्ति–अ० ।

एवमादाय वै सर्वा बुद्धिनिष्ठास्तु शक्तयः ।
पृथक् पृथक् क्रमेणैव तस्मिन् हृन्मन्त्रसम्पुटे ॥ ७१ ॥
स्वेनाध्यात्मगु[1]णेनैव परेण[2] व्यापकात्मना ।
तद्देहं धारयन्तं[3] च स्मरेत् [4]तमुभयात्मकम् ॥ ७२ ॥
[5]कालं भोगक्षयान्तं च तत्काला[6]त् तु महामते ।
कृत्वैवं भूतशक्तीनां संहारं शिशुविग्रहात् ॥ ७३ ॥
सौत्रं देहमथाक्रम्य सम्यक् तेनैव वर्त्मना ।
प्रोल्लसंस्तद् व्रजेत्तत्र व्यञ्जयेत् तु धियादि[7]वत् ॥ ७४ ॥
आदायाध्यात्ममन्त्रांश्च भूतभूतान्वितानथ ।
नि[8]त्यैर्ज्ञलक्षणैः शुद्धैः समन्त्रैः[9] स्वस्थितानपि ॥ ७५ ॥
अथ सूत्राद् विनिष्क्रम्य प्रयायादनलाश्रयम् ।
तत्रावयवसन्धानान्मन्त्रसाम्यं[10] समाचरेत् ॥ ७६ ॥
[11]समाहृतानां मन्त्राणां परे सर्वज्ञलक्षणे ।
व्यापके सर्वसामान्ये कृत्वा स्वे स्वे पदे स्थितिम् ॥ ७७ ॥
स्वशरीरमथासाद्य ब्रह्मद्वारेण देशिकः ।
स्रुवमादाय सन्तप्य मन्त्रवृन्दं यथोदितम् ॥ ७८ ॥
तत्त्ववृन्दसमेतं च स्वनाम्ना प्रणवादिना ।
भूयः [12]संसृष्टियोगेन द्विषट्कपरिसंख्यया ॥ ७९ ॥

ततोऽग्निस्थितं भगवन्तं प्राप्य तत्र समाहृतानां मन्त्राणां स्थापनं पुनः स्वशरीरान्तः-प्रवेशनं चाह—अथ मार्गद्वयं त्यक्त्वेत्यादिभिः । मार्गद्वयं भुवनपदाध्वनोर्द्वयमित्यर्थः, तयोरशुद्धत्वात् । मन्त्राध्वानं प्रविष्टस्य हि मूलमन्त्रमयत्वं सिद्ध्यति ॥ ६८–७८ ॥

पृथिव्यादितत्त्वानां तदधीशमन्त्राणां च संहारक्रमेण संतर्पणमाह—स्रुवमिति । ॐ क्ष्मां नमः क्ष्मातत्त्वाय स्वाहा क्ष्मातत्त्वायेदं न मम । ॐ वराहाय स्वाहा वराहायेदं न मम । अप्तत्त्वाय स्वाहा अप्तत्त्वायेदं न मम । ॐ सरश्शायिने स्वाहा शरश्शायिन इदं न मम । इत्यादिक्रमेण प्रयोगो बोध्यः । अत्र द्विषट्कपरिसंख्ययेत्यनेन पूर्वं संहार-क्रमेऽप्याहुतीनां द्वादशसंख्याकत्वं ज्ञायते ॥ ७८–७९ ॥

१. गणे–उ० । २. ध्यात्वा च–उ० । ३. न्तश्च–मु० । ४. तदु–बक० बख० । ५. काल–उ० । ६. लाच्च–उ० । ७. तु यत्–बक० बख० उ०, दि तत्–अ० । ८. नित्यज्ञ–बख०, नित्यैः स्व–अ०, नित्यैर्ज्ञा–उ० । ९. मन्त्रैस्तु–बक०, मन्त्रैस्तत्–बख० अ० उ० । १०. सात्म्यं समुच्च–उ० । ११. समाश्रिता–उ० । १२. संसृष्ट–उ० ।

पूरकेण समाकृष्य शिष्य[1]हृत्कमलाद् हृदि ।
अथ व्यक्तिनिरस्तं च क्ष्माबीजं परलक्षणम् ॥ ८० ॥
ज्ञ[2]शक्त्या ज्ञानसंरुद्धं कृत्वादायानलाद् हृदि ।
प्रणवासनविश्रान्तं[3] विरेच्याब्जे तु शैशवे ॥ ८१ ॥
स्मृत्वाऽथ शिष्यचैतन्यमेकमेवं[4] द्विरूपधृक् ।
शक्तिमच्छक्तिभावेन शक्तित्वेन तु संस्मरेत् ॥ ८२ ॥
क्ष्मातत्त्वान्तर्गतं कुण्डे शक्तिमत्त्वेन तत्पुनः ।
रेचयित्वा स्वनाम्ना च विग्रहे मध्यवर्त्मना ॥ ८३ ॥
नियोज्य तत्समाधौतं जपध्यानैकलक्षणे ।
तदेव पार्थिवं बीजं हृदा वै होमकर्मणा ॥८४ ॥
सम्यक् तस्योपकारार्थं नेतव्यं सूक्ष्मदेहताम् ।
स्वाहान्तं भोगसिद्ध्यर्थं नमोऽन्तं मोक्षसिद्धये ॥ ८५ ॥
भोगमोक्षाप्तये चापि तदेवोभयलक्षणम् ।
कर्मणामवसाने तु सम्पादयपदं न्यसेत् ॥ ८६ ॥
एवं तु[5] विग्रहे सूक्ष्मे तद्हृत्पद्मगतस्य च ।
शिरसा चाधिकारात्[6] तु तस्यापाद्य यथास्थितम् ॥ ८७ ॥
शि[7]खामन्त्रेण तद्भोगं निर्वर्त्य[8] शतसंख्यया ।
वर्मणा तत्फलप्राप्तिं तल्लयत्वमपि स्मरेत् ॥ ८८ ॥
सुतृप्तिमथ नेत्रेण कुर्यात् तेनैव [9]संस्थितिम् ।
तच्यागश्चास्त्रमन्त्रेण विश्लेषेण युतो भवेत् ॥ ८९ ॥

शिष्यचैतन्यस्य स्वहृदि संकर्षणम् अग्निस्थस्य व्यक्तिनिरस्तस्य क्ष्माबीजस्य चाकर्षणं तस्य शिष्यहृत्कमले स्थापनं शिष्यचैतन्यस्याग्नौ क्ष्मातत्त्वान्तःशक्तित्वेन स्मरणं शक्तिमत्त्वेन पुनस्तस्य तद्विग्रहरेचनं क्ष्माबीजजपध्यानरूपे समये नियोजनम् ॐ ज्ञानाय हृदयाय नम इत्यस्य सूक्ष्मदेहतां सम्पादय स्वाहेति वा, सम्पादय नम इति वा, सम्पादय नमः स्वाहेति वा मन्त्रेण होमैः सूक्ष्मदेहतानयनं तथैव तदधिकारादि-

१. शिष्यं—मु० अटी० बक० बख०। २. भू—ब्रक० बख०, स्व—अ० । ३. विश्रान्ति—अ० । ४. मेवं—उ० । ५. तद्वि—अ० उ० । ६. कारं तु—अ०उ० । ७. शिरो—अ० । ८. निकर्त्य—अ० । ९. तत्स्यितम्—बख०, तत्स्थितिम्—उ० ।

मूलेनाथ गृहीत्वा तत् कुर्याच्चैवात्मसात् पुनः ।
तद्वच्छक्तिं तदीयां च कुण्डाद् व्यापकलक्षणाम् ॥ ९० ॥
क्ष्मातत्त्वस्या[1]थ साध्यस्य [2]ह्यसाधारस्य शान्तये ।
पूर्वसंख्यं तु [3]चास्त्रेण कृत्वा होमं महामते ॥ ९१ ॥
स्रुवमाज्येन सम्पूर्य स्कन्धसूत्रात् तु पार्थिवम् ।
विकर्त्य पूर्णया सार्धं वि[4]लाप्याग्नौ स्वके पदे ॥ ९२ ॥
मूलमन्त्रेण सहसा हृत्पद्मप्रेरितेन तु ।
स्वदेहाद् रेचकेनाथ प्रेर्य शक्तिं च शैशवीम्[5] ॥ ९३ ॥
तयाक्रान्त[6]मधःस्थं च संस्मरेद् व्यतिरिक्तया ।
[7]कबिन्दुनेवाब्जपत्रमाद्याध्वानं च भौवनम् ॥ ९४ ॥
शिष्यदेहे निरुद्धस्य व्यक्तिक्रोडीकृतस्य च ।
स्वशक्तिपरिपूर्णस्य क्ष्माबीजस्य त्वथोपरि ॥ ९५ ॥
विरेच्य शक्तिमन्तं च व्यस्तधर्मेण पूर्ववत् ।
तत्क्षणे बीजसंस्थं तु अध्वानं तु यथास्थितम् ॥ ९६ ॥
प्रकाशयन्ति[8] कृपया तन्ना[9]थास्तस्य सिद्धये ।
विरक्तं भावयेच्छिष्यं चिन्त[10]यन्तमिदं धिया ॥ ९७ ॥
इदं तत्पार्थिवं तत्त्वं [11]मुधा वै दुःखपञ्जरम् ।
भावतत्त्व[12]गतं चास्य[13] सुमहत्त्वं[14] च साम्प्रतम् ॥ ९८ ॥

होमं तद्विश्लेषणार्थं[15] होमं ततः शक्तिमतः शक्त्याश्च पुनरात्मसात्करणं क्ष्मातत्त्वस्य शान्त्यर्थं होमं सकर्मसूत्रपार्थिवांशखण्डेन सह पूर्णाहुतिं पुनः शिष्यदेहे तच्छक्तिभुवनाध्वनोर्जलबिन्दुपद्मपत्रयोरिव संबन्धं तथैव शक्तिवत् क्ष्माबीजयोरपि संबन्धं चाह—पूरकेण समाकृष्येत्यारभ्य व्यस्तधर्मेण पूर्ववदित्यन्तम् ॥ ८०–९६ ॥

तदानीं भुवनाध्वाद्यधीशास्तद्बीजस्थितमध्वानं यथास्थितं कृपया शिष्याय प्रकाशयन्तीत्याह—तत्क्षण इति ॥ ९६–९७ ॥

१. थवाद्धचस्य–मु० अटी० । २. ह्यना–मु० अटी० । ३. शास्त्रेण–अ० उ० । ४. विलप्या–मु०, विलिप्या–अटी० । ५. शैशवम्–मु० अटी० । ६. तयाक्रान्तं मयस्थं–मु० अटी० । ७. कुबिन्दुनो–बक० बख० । ८. यन्तं–मु० अटी० बक० बख० । ९. तन्नाथं–मु० अटी० बक० बख० । १०. येत्तदिदं–मु० अटी० । ११. बुधा–मु० बक० बख०, बुध्वा–अटी० । १२. तत्त्वं–मु० अटी० बक० बख० । १३. चापि–उ० । १४. समुद्धृत्य तु–उ० । १५. श्लेषार्थं–अ० ।

कथमत्र त्वहं चासं यस्य मे न[1] तता इमाः ।
विमुक्तः पञ्जराद् यद्वत् सुखमास्ते विहङ्गमः ॥ ९९ ॥
ऊर्ध्वपाती तदारूढस्त्वेवं मन्त्रबलाच्छिशुः ।
समूहमथ विज्ञाप्य तत्प्रभुत्वेन यः स्थितः ॥ १०० ॥
सन्निरुद्धो भवत्त्वस्य[2] सर्वतः सर्वदेव हि ।
युष्मत्प्रसादसामर्थ्याद् यथावत् पार्थिवो[3] गुणः ॥ १०१ ॥
देहान्तं गन्धतन्मात्रं भवेदासीनमस्य वै ।
सम्यक् संप्रतिपन्नस्य शासने पारमेश्वरे[4] ॥ १०२ ॥
हे धराधिपते नाथ अस्याद्य प्रभृति त्वया ।
ध्वंसिना[5] मोक्षविघ्नानां भवितव्यं च कर्मिणः ॥ १०३ ॥
इति विज्ञाप्य चाज्ञाप्य आपाद्याहुतयः क्रमात् ।
सह शक्त्या समाकृष्य भूयात् तत्पूरकेण तु ॥ १०४ ॥
तद्देहे चाम्मयं[6] बीजं साधारं पूर्ववद् न्यसेत् ।

प्रकाशनेन विरक्तस्य शिष्यस्य चिन्तनप्रकारमाह—विरक्तमिति द्वाभ्याम् ॥९७–९९॥

इतः परं शिष्यस्य पञ्जरविमुक्तविहङ्गमसादृश्यमाह—विमुक्त इति । शिष्यचैतन्यस्य मन्त्रबलात् क्ष्मातत्त्वविमुक्तत्वेऽपि तदारूढत्वाद् विहङ्गमस्यापि पञ्जरोर्ध्वारूढत्वमुक्तम् ॥९९–१००॥

क्ष्मातत्त्वस्थितपातालशयनादिमन्त्रसमूहविज्ञापनं तत्प्रकारं[7] चाह—समूहमिति सार्धद्वाभ्याम् ॥१००–१०२॥

तदधीनवराह[8]विज्ञापनप्रकारमाह—हे धराधिपते इति ॥१०३॥

इति विज्ञापनानन्तरं पूर्वोक्तक्ष्मातत्त्वतदधीशमन्त्रैर्होमं शिष्यदेहात् पूरकेण शक्तिमच्चैतन्यस्य शक्त्या सहाकर्षणं चाह—इतीति । आज्ञाप्येत्यत्र गन्धमिति शेषः, "रसमाज्ञाप्य गन्धवत्" (१९।१०९) इति वक्ष्यमाणत्वात् ॥१०४॥

अथाप्तत्त्वसंस्कारमाह—तद्देह इति पञ्चभिः । तद्देहे शिष्यदेह इत्यर्थः । अम्मयं बीजं अप्तत्त्वं बीजमित्यर्थः । ॐ अं नम इति यावत्, "नीत्वा स्वनाम्न आद्यर्ण

---

१. मेने ततामिमाम्–उ० । २. भवेत्तस्य–मु० अटी० बक० बख० अ० । ३. प्रथितो–उ० । ४. परमे–उ० । ५. ध्वंसाय–बख० अ० उ० । ६. चामयमिति सार्वत्रिकः पाठः । ७. तत्प्रका–म० । ८. वरात्–अ० ।

कुण्डमध्येऽनुसन्धाय जीवशक्तिं च पूर्ववत् ॥ १०५ ॥
विरेच्य शक्तिमांस्तत्र नियोज्यस्तदनन्तरम् ।
तत्समाधौ यथापूर्वं कुम्भकेन महामते ॥ १०६ ॥
अथाप्यं देहमापाद्य होमध्यानादिना परम् ।
तत्राधिकारपूर्वं तु सर्वं निर्वर्त्य तस्य वै ॥ १०७ ॥
आप्येन सूत्रस्कन्धेन सह पूर्णान्निपात्य च ।
अप्तत्त्वं पदसंयुक्तं तेनाक्रान्तं स्मरेत् तथा ॥ १०८ ॥
तत्स्थं मन्त्रसमूहं तु सह तत्पतिना तु वै ।
पूर्ववच्छ्रावयित्वा च रसमाघ्राप्य गन्धवत् ॥ १०९ ॥
मनोऽवसानं नीत्वैवं तं वर्णाध्वोर्ध्वगोचरम् ।
निष्ठाङ्गेन महाबुद्धे तेजसाऽस्त्रेण चेच्छया ॥ ११० ॥
समुद्धृत्याथ वै प्राग्वद् योक्तव्यं बुद्धिगोचरे ।
षडध्वमुक्तमूलेन प्राप्तसंज्ञं च तं शिशुम् ॥ १११ ॥

द्मान्तानां बीजतां गतम्" (१८।१३५) इति पूर्वोक्तेः। साधारं प्रणवासनविश्रान्तमित्यर्थः। शक्तिमान् शक्तिमत्त्वेन ध्यातं शिष्यचैतन्यमित्यर्थः। तत्र शिष्यविग्रह इत्यर्थः। तत्समाधौ पूर्वोक्तजपध्यानैकलक्षणे समाधावित्यर्थः। आप्यं देहमापाद्य सूक्ष्मदेहं संपाद्येत्यर्थः। होमध्यानादिना हृन्मन्त्रहोमादिनेत्यर्थः। अधिकारपूर्वम् अधिकारभोगाधिकमित्यर्थः। पदसंयुक्तं पदाध्वसंयुक्तमित्यर्थः। तेनाक्रान्तं शक्तिसहितशक्तिमताक्रान्तमित्यर्थः। तत्स्थं मन्त्रसमूहं नारायणादिसप्तमन्त्रसमूहमित्यर्थः। तत्पतिना सह सरश्शायिना सार्धमित्यर्थः। पूर्ववत् श्रावयित्वा पूर्वोक्तप्रार्थनाश्लोकान् श्रावयित्वेत्यर्थः। किन्तु तत्र यथावत् पार्थिवो गुण इत्यत्र यथावच्चाम्मयो गुण इति, गन्धतन्मात्रमित्यत्र रसतन्मात्रमिति, हे धराधिपते इत्यत्र हे जलाधिपते इति च योज्यम्। एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् ॥१०५-१०९॥

एवं तेजस्तत्त्वप्रभृतिमनस्तत्त्वान्तानां मन्त्राध्वादिवर्णाध्वान्तसहितानां चतुर्णां क्रमेण संस्काराः कार्या इत्याह—मनोऽवसानमित्यर्धेन ॥

१. मध्ये तु—अ० उ०। २. अथान्यं—मु० अटी०। ३. दाना—बक०। ४. अन्येन—मु० अटी०। ५. पूर्णा नि—उ०। ६. आप्तत्त्व—मु०। ७. वक्तव्यं—मु० अटी० बक० बख०। ८. सनमवि—अ०।

तत्त्वकञ्चुकनिर्मुक्तं शान्तात्मन्येकतां गतम् ।
स्मृत्वा[1] शक्त्यात्मनाऽग्नौ तु लब्धलक्षं[2] परे पदे[3] ॥ ११२ ॥
ऐश्वरेण तु बीजेन प्रोक्तसत्त्वान्वितेन च ।
ततः संवेद्यनिर्मुक्ते समाधौ विनियोज्य च ॥ ११३ ॥
न वेत्ति यत्र संलीनं सानन्दं[4] द्वैतमात्रकम् ।
आहुतीनां शतं हुत्वा[5] तदापादनकर्मणि ॥ ११४ ॥
नीत्वा समानतां सर्वं तेनैव[6] स्वधियाऽखिलम् ।
सह संवेद्य[7]जालेन[8] वाक्प्रबन्धं यथास्थितम् ॥ ११५ ॥
निस्तरङ्गमयो भूत्वा दद्यात् पूर्णाहुतिं पराम् ।
अथास्मितां[9] प्राप्य गुरुः प्रदद्यादाहुतीः[10] पुनः ॥ ११६ ॥
बीजनाथेन शिष्यस्य त्वपमोक्षनिवृत्तये ।
पदैरोङ्कारसंरुद्धैः [11]पदावस्थितमानसः ॥ ११७ ॥
सर्वज्ञो भव चोक्त्वैवं[12] जुहुयाद् द्वादशाहुतीः ।
[13]भवैवमेव भगवन्निरवद्यो निराश्रयः ॥ ११८ ॥

अथ नेत्रमन्त्रेणास्त्रमन्त्रेण वा शक्तिमतः शिष्यचैतन्यस्य [14]बुद्धिमयेऽध्वनि योजनं तच्छक्त्याः पूर्ववदग्नौ योजनम् ऐश्वरेण बीजेन जपध्यानैकलक्षणे समाधौ नियोजनं चाह—निष्ठाङ्गेनेति चतुर्भिः । निष्ठाङ्गेन चरमाङ्गेनेत्यर्थः । इदं तेजोऽस्त्रमन्त्रयोरुभयोरपि विशेषणं बोध्यम् । यतः—

प्राधान्येन त्वथैश्वर्यं मोक्षो यत्रानुषङ्गतः ॥
तत्र तद्विघ्नशान्त्यर्थमस्त्रान्तं विद्धि मन्त्रपम् ।
विपर्यये तु नेत्रान्तो[15] मन्त्रो [16]यस्मान्महामते ॥ (२।३९–४०)

इति फलाभिसन्धिभेदेनोभयोरपि चरमाङ्गत्वं द्वितीयपरिच्छेदे प्रतिपादितम् ॥ ११०–११४ ॥

होमविधिमाह—आहुतीनामिति द्वाभ्याम् ॥११४–११६॥

---

१. स्मृत्या–उ० । २. लक्ष्म–उ० । ३. पदे परे–मु० अटी० । ४. स्वानन्द–अ० उ० । ५. कृत्वा–मु० अटी०बक०बख० । ६. तेन च–उ० ।७. संवेष्टय–अ० । ८. कालेन–बक० बख० । ९. अथास्थितां–मु० अटी० । १०. हुतिं–बख०उ० । ११. पदाया–उ० । १२. व–उ० । १३. भवैक–उ० । १४. भूशुद्धि–अ० । १५. मन्त्रान्तो–अ० । १६. यस्मिन्–अ० ।

सर्वेश्वरः सर्वशक्तिः सुसम्पूर्णोऽच्युतो वशी[1] ।
व्यापी निरुद्धषाड्गुण्यो निर्विकारो निरञ्जनः ॥ ११९ ॥
नित्यो नित्योदित[2]ज्ञानो नित्यानन्दः सुनिष्कलः ।
[3]अनाद्यनन्तोऽनिधनो वासुदेवो विभूतिमान् ॥ १२० ॥
[4]भूत्वैवं च ततः कुर्यात् पूर्णया पुनरेव हि ।
[5]स्थितं वैभवदीक्षायां मुमुक्षोरैश्वरे पदे ॥ १२१ ॥
यत्रस्थो धाम चाभ्येति ह्यचिरात् पारमेश्वरम् ।
ईश्वरेच्छावशेनैव देहपातान्महामते ॥ १२२ ॥
भोगेच्छोः[6] पद्मनाभीय उभयेच्छोः[7] पदद्वये ।
शक्तिमच्छक्तियोगेन त्वथ बुद्धिमयेऽध्वनि ॥ १२३ ॥
निवेश्यो देहपातान्तं कालमुद्धृत्य तत्पदात् ।
[8]अन्तरूढो यथा काष्ठात् पावकश्च पृथक् कृतः ॥ १२४ ॥
न भूयः सह काष्ठेन [9]साम्यमेति तथा पुमान् ।
योजितोऽध्वान्तरे भूयो नैति तन्मयतां ततः ॥ १२५ ॥
समाधिप्रच्युतिं कृत्वा विनिवेश्यात्मनोऽग्रतः ।
यथावदुपदेष्टव्यस्तस्याध्वा च सितासितः[10] ॥ १२६ ॥
संस्थितो [11]यस्त्वभेदेन भिन्नरूपः परात्मनि ।
वेद्यवेदकनिर्मुक्तमच्युतं ब्रह्म यत्परम् ॥ १२७ ॥

पुनरपमोक्षनिवृत्त्यर्थं होममाह—अथेति पञ्चभिः । बीजनाथेन ऐश्वर्यबीजेनेत्यर्थः । विशाखयूपबीजेनेति यावत् ॥११६–१२१॥

अथ बुद्धिपदाद् वैशाखयूपपदे पद्मनाभाभिधपदे वा शक्तिमच्छक्तिभेदेनोभयत्र वा तत्फलाभिसन्ध्यनुसारेण शिष्यचैतन्यस्थापनं पुनस्तस्मात् पदादुद्धृत्य देहपातान्तं कालं बुद्धिमयेऽध्वन्येव स्थापनं तथा बुद्धिपदे स्थापितस्यापि चैतन्यस्य काष्ठवह्निदृष्टान्तेन तन्मयाभावत्वं चाह—स्थितमिति सार्धैश्चतुर्भिः ॥१२१–१२५॥

अथ शिष्यं पूर्वोक्तसमाधिविमुखं कृत्वाऽऽत्मनोऽग्रे निवेश्य तस्य वक्ष्यमाणप्रकारेण षडध्वोपदेशं कुर्यादित्याह—समाधीति सार्धेन ॥१२६–१२७॥

---

१. हरिः—बक० बख० । २. तोऽनूनो—अ० उ० । ३. अनाद्यन्तो ह्यनि—बक० बख०, अनाद्यन्तो निधानो वा—अटी० । ४. हुत्वै—अ० उ० । ५. स्थिति—उ० । ६. भोगेप्सोः—अ० उ० । ७. येप्सोः—अ० उ० । ८. अन्तर्गूढो—बख० अ० उ० । ९. स्वात्म्य—उ० । १०. ततः—बक० बख० । ११. यः स्वदेहेन—अ० ।

तच्छब्दब्रह्मभावेन स्वशक्त्या स्वयमेव हि ।
मुक्तयेऽखिलजीवानामुदेति परमेश्वरः ॥ १२८ ॥
तदव्यक्ताक्षरं विद्धि तन्त्रीशब्दो यथा कलः ।
पृथग्वर्णात्मना याति स्थितयेऽनेकधा स्वयम् ॥ १२९ ॥
नो यान्ति निश्चयं यत्र चातुरात्म्यादनुग्रहात् ।
ऋते वेदविदो विप्रास्त्वेतस्मिन् प्रथमेऽक्षरे ॥ १३० ॥
स शब्दमूर्तिर्भगवानभ्येति च कलात्मना ।
तद्ग्रहो[1] युज्यते येन तन्निष्ठानां हि कर्मिणाम्[2] ॥ १३१ ॥
न षाड्गुण्यकलो[3]त्था च यावन्मूर्तिर्निरञ्जना[4] ।
वद केनाऽन्यथाऽमूर्तं तद्ग्रहीतुं नियुज्यते ॥ १३२ ॥
तत्त्वाः कलामयाः सर्वे प्रभवाप्ययलक्षणाः ।
पूर्वोक्ता वासुदेवाद्या अध्यक्षान्ता यथोदिताः ॥ १३३ ॥

परंब्रह्मैव निखिलचेतनसंरक्षणार्थं शब्दब्रह्मभावं भजतीत्याह—वेद्येति सार्धेन ॥१२७–१२८॥

तन्त्रीशब्दवदव्यक्ताक्षरं तच्छब्दब्रह्म अकारादिक्षकारान्तवर्णरूपेण पुनर्व्यक्ततां भजतीत्याह—तदिति । एतद्व्यक्तरूपं सर्वैरपि ज्ञायते ॥१२९॥

अव्यक्ताक्षरे शब्दब्रह्मणः प्रथमरूपे तु भगवदनुग्रहं विना वेदविदामपि निर्णयो न संभवतीत्याह—नो यान्तीति ॥१३०॥

एष वर्णाध्वैव कलाध्वरूपेण परिणमतीत्याह—स इति । कलात्मना ज्ञानादिषड्गुणेनेत्यर्थः । तन्निष्ठानां भगवज्ज्ञानादिषाड्गुण्यानुभवनिष्ठानां कर्मिणां तदाराधनादिकर्मवतां चेतनानां तद्ग्रहो ज्ञानादिगुणग्रहणं येन युज्यते कलाध्वरूपपरिणामेन संभवतीति पूर्वेणान्वयः ॥१३१॥

एवं शब्दमूर्तेः षाड्गुण्यात्मना परिणामाभावे तन्मयभगवन्मूर्तिज्ञानं कथं भवतीत्याह—नेति ॥१३२॥

अस्मात् कलाध्वनो वासुदेवमूर्त्यादितत्त्वोत्पत्तिमाह—तत्त्वा इति ॥१३३॥

---

१. तद्गृह्यो–मु० अटी० । २. कर्मणा–मु० । ३. मलो–मु० अटी० । ४. तिनिरञ्जनम्–मु० अटी० बक० ।

तत्त्वेभ्यो[1] निर्गता मन्त्रास्त्वणिमादिगुणैर्युताः ।
षट्कलाङ्गलवैर्युक्ता येषु संख्या न विद्यते ॥ १३४ ॥

व्यञ्जितं तैः संनिर्माणं[2] तुर्याद्यं[3] पदसंज्ञकम् ।
कर्मिणामात्मलाभार्थं मोहार्थं तत् क्षयाय च ॥ १३५ ॥

द्विसप्तभुवनं विश्वं गुणत्रयमयं हि यत् ।
तदशुद्धं जगन्नित्यं[5] भोग्यं प्राप्यं[6] पृथक् स्थितम् ॥ १३६ ॥

इत्यध्वषट्कमुद्दिष्टं हेयोपादेयलक्षणम्[7] ।
भुवनाध्वा पदाध्वा च विना तुर्यपदेन तु[8] ॥ १३७ ॥

हेयः शेषमुपादेयं कर्मिणां तदपेक्षया ।
व्यपेक्षयाऽप्युपेयश्च हेयपक्षे प्रयाति च ॥ १३८ ॥

तत्त्वाध्वनो मन्त्राध्वसमुत्पत्तिं तस्मात् पदाध्वसमुत्पत्तिं ततो भुवनाध्वोत्पत्तिं चाह—तत्त्वेभ्य इति त्रिभिः । षट्कलाङ्गलवैर्युक्ता ज्ञानैश्वर्यादिषड्गुणात्मकहृदयाद्यङ्गमन्त्रैरन्विता इत्यर्थः । तुर्याद्यमित्यत्र आद्यपदेन सुषुप्तिस्वप्नजाग्रत्पदत्रयमुच्यते ॥१३४–१३६॥

उक्तार्थनिगमनपूर्वकं तस्मिन्नध्वषट्के[9] भुवनाध्वनः पदाध्व(नि?नः) सुषुप्त्यादिपदत्रिकस्य च हेयत्वं तुर्यपदस्य मन्त्राध्वादीनां चोपादेयत्वं चाह—इत्यध्वषट्कमिति सार्धेन ।एवमेवोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

तुर्यवर्जं[10] सुषुप्त्यादिरशुद्धां भजते गतिम् ।
मायादिक्षितिपर्यन्ता[11] योक्ता भुवनपद्धतिः ॥
भुवनाध्वा स विज्ञेयो ह्यशुद्धो मलपङ्किलः । (२२।२७–२८)

इति ॥ १३७–१३८ ॥

---

१. तेभ्यो विनि–मु० । २. स्व–अ०, स्त्व–उ० । ३. तस्याद्यं–मु० अटी० बक० बख० । ४. युतं–उ० । ५. जडं नित्यं–अ० उ० । ६. व्याप्यं–बक० बख० अ०, चाप्यं–उ० । ७. लक्षणः–मु० अटी० । ८. तत्–उ० । ९. तास्मि–अ० । १०. तुर्य वर्ज्ज–अ० म० । ११. पर्यन्तं–अ० ।

किन्तु तत्प्राप्त्युपायं वै निस्तरङ्गे परे पदे ।
विवेकपदसंस्थस्य दीक्षया[1] संस्कृतस्य च ॥ १३९ ॥
विचार्यमाण एवं हि विश्रामो[2] यत्र वै स्फुटम् ।
जायते तत्परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ॥ १४० ॥
अम्बरं परमाणूनां बहूनामास्पदं[3] यथा ।
तथाऽनाद्य[4]प्रबुद्धानां जीवानां हि निकेतनम् ॥ १४१ ॥
विज्ञेयं भुवनानां च पदानामन्तरं[5] हि यत् ।
विनेश्वरेच्छया तेषां मन्त्रा वै क्रीडयन्ति च ॥ १४२ ॥
मायीयेऽध्वद्वये तस्मिन् सुखदुःखमयैः फलैः ।
ईश्वरेच्छानुविद्धानां भक्तानां परमेश्वरे ॥ १४३ ॥
गुरूणां दीक्षितानां चाप्या[6]राधनरतात्मनाम् ।
भवन्त्यध्वद्वयोर्ध्वस्था मन्त्राश्चाज्ञाप्रतीक्षकाः ॥ १४४ ॥
नयन्ति कर्मिणः[7] सम्यग् मायीयाध्वद्वयाद् बलात् ।
स्वस्थानमणिमादीनां भोगानां प्राप्तये तु वै ॥ १४५ ॥

मुमुक्षोः शुद्धाः[8] सन्तोऽप्यनपेक्षया तस्य तेऽपि हेयपक्षान्तर्गता भवन्तीत्याह—व्यपेक्षयेत्यर्धेन ।

तर्हि मुमुक्षुप्राप्यं किमिति चेत् तदाह—किन्त्विति द्वाभ्याम् । विश्राम इत्यत्र षडध्वनामिति शेषः ॥ १३९–१४० ॥

भुवनपदाध्वद्वयमप्यसंख्यातचेतनास्पदमित्याह—अम्बरमिति सार्धेन ॥ १४१–१४२॥

तत्राम्बरे[9] इच्छाविधुरान् जीवान् सुखदुःखैः[10] फलानुभवैर्मन्त्राः क्रीडयन्तीत्याह—विनेति । मायीये प्राकृत इत्यर्थः ॥ १४२–१४३ ॥

ईश्वरेच्छानुविद्धानां तु स्वयं वश्या भूत्वा तान् भोगार्थं स्वस्थाने नयन्तीत्याह—ईश्वरेति सार्धद्वाभ्याम् ॥ १४३–१४५ ॥

---

१. सुदीक्षा—बख०उ०, दीक्षायां—अ० । २. विश्रमो—अ० उ० । ३. ब्रह्म—मु० अटी० बक० बख० । ४. चाद्या—बख० । ५. मान्तरं—मु० । ६. च आ—अ० । ७. कर्मणः—मु० अटी० । ८. शुद्धास्वप्य—म० । ९. स्वराच्चाविधूरान्—म० । १०. दुःखानुभवै—अ० ।

विर[1]क्तस्य च तद्भोगात् स्वशक्त्या प्रेरयन्ति च ।
स्वव्यापारवशेनापि तत्त्वाध्वन्यमृतोपमे ॥ १४६ ॥
यत्रा[2]णिमादि मन्येत तृणानीव च संस्थितः ।
अनुग्रहपरास्तस्य तत्त्वाध्यक्षादयोऽमलाः ॥ १४७ ॥
नयन्त्य[3]प्ययतां सम्यक् स[4]कलाध्वनि शाश्वते ।
स षाड्गुण्यमयो ब्रह्म वासुदेवोऽध्वमूर्तिभृत् ॥ १४८ ॥
नित्ये स्वात्मनि सम्बन्धे शब्दब्रह्माभिधेऽध्वनि ।
करोति योजनां तस्य यत्रस्थः स्वयमेव हि ॥ १४९ ॥
प्राप्नोति तत्परिज्ञानात् सुशान्तं भगवत्पदम् ।

सङ्कर्षण उवाच[5]

देव वर्णाध्वविज्ञानं वद किंलक्षणं मम ॥ १५० ॥
प्राप्नोति यत्परिज्ञानादध्वी सद्वासुदेवताम् ।

श्रीभगवानुवाच[5]

पञ्चाध्वकोशमुक्तस्य लब्धसत्त्व[6]स्य चात्मनः ॥ १५१ ॥
[7]योऽनुभूतिपदं याति ध[8]ागसन्तानरूपधृ[9]क् ।

तत्र भोगविरक्तं चेतनं तु मन्त्राः स्वशक्त्यैव वासुदेवादितत्त्वाध्वानं प्रापयन्तीत्याह—विरक्तस्येति सार्धेन । यत्र [10]तत्त्वाध्वनि संस्थितः पुरुषोऽणिमादि मन्त्राध्वन्यनुभावभोगान् तृणानीव मन्येत तृणसदृशान् भावयेदित्यर्थः ॥ १४६–१४७ ॥

तत्रापि विरक्तं पुरुषमनिरुद्धादयः कलाध्वनि योजयन्तीत्याह—अनुग्रहेति । ततो विकलाध्वमूर्तिर्वासुदेवो वर्णाध्वानं प्रापयति ॥ १४७–१४८ ॥

तत्र स्थितः पुरुषः स्वयमेव वर्णाध्वपरिज्ञानाद् भगवत्पदं प्राप्नोतीत्याह—स इति द्वाभ्याम् ॥ १४८–१५० ॥

संकर्षणः प्रसक्तं वर्णाध्वज्ञानं पृच्छति—देवेति ॥ १५०–१५१ ॥

---

१. विरतस्य—मु० बक० बख० । २. यन्त्राणीमानि—मु० अटी० । ३. न्त्यव्यय—मु० अटी० । ४. सत्कला—मु० अटी० अ० । ५. 'उवाच' नास्ति—मु० अटी० । ६. सत्त्वस्य—बक० बख० उ० । ७. सोऽनु—मु० अटी० । ८. धरा—मु० अटी० बक० बख० । ९. धृत्—मु० । १०. तंत्रा—अ० ।

भिन्नवर्णमयः शब्दः पूर्वलक्षणलक्षितः ॥ १५२ ॥
स चातुरात्म्यनिचयो विज्ञेयो हि तदात्मना ।
प्रभवाप्यययोगेन शब्दभास्वरलक्षणः ॥ १५३ ॥
सकारान्तस्त्वकाराच्च हकारादान्त[1] एव हि ।
प्रभवे द्वादशान्तस्तु हकार[2]श्चतुरात्मनाम् ॥ १५४ ॥
अकारस्त्वप्यये[3] चैव तुल्यताऽतोऽनयोः स्मृता ।
वर्ण[4]व्यूहसमूहेऽस्मिन् ज्ञेयं ज्ञानसमाधिना ॥ १५५ ॥
विश्राम उदयो व्याप्तिर्व्यक्तिरा[5] वासुदेवतः ।
अत्रैकैका परिज्ञेया मूर्तिर्वै त्वेवमेव हि ॥ १५६ ॥

एवं पृष्टो वासुदेवः पूर्वोक्तं वर्णाध्वानं प्रभवक्रमेऽकारादिसकारान्तम्, अप्ययक्रमे हकाराद् आकारान्तं च चातुरात्म्यसमूहरूपेण भावयेदित्याह—पञ्चेति त्रिभिः। पञ्चाध्वकोशमुक्तस्य भुवनादिपञ्चाध्वनः समतिक्रान्तस्येत्यर्थः। शब्दभास्वरलक्षणो भास्वरध्वनिलक्षण इत्यर्थः। तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

मच्चातुरात्म्यनिचयो विज्ञेयो हि तदात्मना ॥
प्रभवाप्यययोगेन भारूपध्वनिलक्षणः । (२०।१०-११)

इति ॥ १५१-१५४ ॥

अकारहकारयोर्द्वादशान्तत्वेन साम्यमाह—प्रभव इति। चतुरात्मनां द्वादशान्त इत्यन्वयः। द्वादशान्तो धारणाद्विषट्कान्त इत्यर्थः। अत्राकारादिहकारादिष्वेकोनचत्वारिंशद्वर्णेष्वकारादिसकारान्तं वर्णचतुष्टयक्रमेण द्वादश व्यूहा भवन्ति। तदुपर्यवशिष्टस्य हकारस्य द्वादशान्तत्वम्, एवमप्ययक्रमे हकारमारभ्याऽऽकारान्तं व्यूहद्विषट्कानन्तरमवशिष्टस्याऽकारस्य द्वादशान्तत्वमिति भावः ॥ १५४-१५५ ॥

तस्मिन् वर्णाध्वन्यकारादिक्रमेण विश्रामादिचतुष्टयेनास्य ज्ञेयत्वं वासुदेवाद्येकैकमूर्तेरपि विश्रामादिचतुष्केण युक्तत्वं दण्डवत् सन्निवेशेन संस्थितिं तस्यां द्वादशधारणानां द्वादशान्तारोहणे सोपानभूतत्वं चाह—वर्णव्यूहेति सार्धैस्त्रिभिः। आ वासुदेवतो वासुदेवमारभ्येत्यर्थः। अस्यैकैका मूर्तिरित्यत्रान्वयः। विश्रामो वर्णानां सूक्ष्मावस्थेत्यर्थः। उदयः पश्यन्त्यवस्था। व्याप्तिर्मध्यमावस्था। व्यक्तिर्वैखर्यवस्था। तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

---

१ दन्त—मु० अटी० बक० बख०। २. भकार—मु० बक० बख० अ० उ०। ३. स्त्वव्ययेनैव—मु० अटी० बक० बख०। ४. वर्णे—मु० अटी० बक० बख०। ५. रराध्वासु च देवताः—मु० अटी०, र्व्यक्तिराध्वासु—बक० बख०।

युक्ता विश्रामपूर्वेण चतुष्केण समासतः ।
दण्डवत् सन्निवेशेन संस्थिता ह्येवमेव हि ।। १५७ ।।

शान्तरूपाऽथ पश्यन्ती मध्यमा वैखरी तथा ।
[1]चेतूरूपा [2]चेतूरूपं वच्मि वाच्यं स्वनिर्मितम् ।।
वासुदेवादयः सूक्ष्मा वाच्याः शान्तादयः क्रमात् । (१८।२९-३०)

एवं वासुदेवाद्येकैक[3]मूर्तिरपि विश्रामादिचतुष्टयेन युक्ता ज्ञेया । तत्र विश्रामस्तुरीयव्यूहावस्था । उदयः सुषुप्तिव्यूहावस्था । एवं विश्रामादिशब्दवाच्यतुरीयव्यूहावस्थादिचतुष्टयविशिष्टा वासुदेवादिमूर्तिर्विश्रामादिशब्दवाच्यसूक्ष्मावस्थादिचतुष्टयविशिष्टेष्वकारादिवर्णेषु दण्डवत्सन्निवेशेन संस्थितेति फलितोऽर्थः । अथवा वर्णानां सूक्ष्माद्यवस्था इदानीं न विवक्षिताः, किन्तु विश्रामादिशब्दैर्वासुदेवादिमूर्तेस्तुरीयव्यूहावस्थादय एव विवक्षिताः । तामामवस्थानामेकैकस्मिन् वर्णे एकैकावस्थाक्रमेण प्रत्येकं वर्णचतुष्टयेऽवस्थाचतुष्टयं बोध्यम् ।

एवमवस्थाचतुष्टयात्मके वर्णचतुष्टये वासुदेवाद्येकैका मूर्तिर्ज्ञेया । एवं चाकारादिषोडशवर्णानां चतुष्टयचतुष्के जाग्रद्व्यूहवासुदेवादयश्चतस्रो मूर्तयः, (अ?क)-कारादिचतुष्टयवर्णानां चतुष्टयचतुष्के स्वप्नव्यूहवासुदेवादयश्चतस्रो मूर्तयः, [4]थकारादि-सकारान्तषोडशवर्णानां चतुष्टयचतुष्के सुषुप्तिव्यूहमूर्तयः, एतद्द्वादशान्ते हकारे—

[5]अभेदेनादिमूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत् ।
सर्वक्रियाविनिर्मुक्तममूर्तं परमार्थतः ।।
चातुरात्म्यं तदाद्यं वै शुद्धसंविन्मयं महत् । (५।८१-८२)

इत्युक्तलक्षणा तुरीयव्यूहमूर्तिरित्यर्थो ज्ञेयः । एवं हकाराद्यकारान्तं प्रातिलोम्येनापि ज्ञेयम् । यद्वाऽकारादिवर्णषोडशके व्यक्तिशब्दवाच्या जाग्रदवस्था, ककारादिवर्णषोडशके व्याप्तिशब्दवाच्या स्वप्नावस्था, [6]थकारादिसकारान्तवर्णषोडशके उदयशब्दवाच्या सुषुप्त्यवस्था, द्वादशान्ते हकारे विश्रामशब्दवाच्या तुरीयावस्था । तत्र तत्र तत्तद्व्यूहमूर्तयः पूर्वोक्तक्रमेणैव बोध्याः ।

नन्वत्र भवदुक्तं त्रिविधं व्याख्यानमप्यसङ्गतम्, जगज्जननीकृतव्याख्याविरोधात् । लक्ष्मीतन्त्रे हि—

[7]वार्णे व्यूहसमूहेऽस्मिन् ज्ञेयं ज्ञानसमाधिना ।
विश्राम उदयो व्याप्तिर्व्यक्तिरा वासुदेवतः ।।

---

१. चित्ररूपा–अ०, चित्ररूपात्–म० । २. चित्ररूपं वाचि–अ० म० । ३. मूर्ते–अ० । ४. धकारा–अ० । ५. अभेदोऽनादि–अ० । ६. धकारा–अ० । ७. वर्ण–अ० ।

द्विषट्कं धारणानां च द्वादशाध्यात्मलक्षणम् ।
सोपानभूतं यत् क्रान्त्वा द्वादशान्तं विशेत् परम् ॥ १५८ ॥

अत्रैकैका[२] परिज्ञेया मूर्तिर्वै[३] त्वेवमेव हि ।
युक्ता विश्रामपूर्वेण चातुष्केण समासतः ॥
विश्रामं चिन्तयेद् देवं वासुदेवं सनातनम् ।
अकारं पुण्डरीकाक्षं पूर्वदेवं सनातनम् ॥
संकर्षणादितत्त्वानि विश्रामन्ति लयेऽत्र हि ।
ततः संकर्षणं देवमाकारमुदयं स्मरेत् ॥
उदितो हि स सर्वात्मा प्रथमं सर्वकृत् स्वयम् ।
[५]व्याप्तिं प्रद्युम्नदेवं तमिकारं परिचिन्तयेत् ॥
[६]त्रिविधं प्राप्यते तेन त्रयीकर्मात्मना जगत् ।
अनिरुद्धं व्यक्तिरूपमीकारान्तमनुस्मरेत् ॥
व्यज्यन्ते शक्तयो ह्यत्र जगत्सृष्ट्यादयेऽखिलाः ।
दण्डवत् सन्निवेशेन संस्थिता ह्येवमेव हि ॥
आ सकारा[७]च्चतूरूपयुक्ता मे चतुरात्मता ।
स्मरेत् प्रभवचिन्तायां हकारं द्वादशान्तकम् ॥
हकारं वासुदेवं तु विश्रामं परिचिन्तयेत् ।
संकर्षणं सकारान्तमुदयं त्वप्ययये स्मरेत् ॥
एवमाकारतो दिव्यं चिन्तयेच्चतुरात्मनाम् ।
द्विषट्कं धारणानां च द्वादशाध्यात्मलक्षणम् ॥
सोपानभूतं यत्क्रान्त्वा द्वादशान्तं विशेत् परम् ।
एषा सा प्रथमा रीतिर्वर्णमार्गस्य दर्शिता ॥ (२०।१३–२३)

इति विश्रामोदयव्याप्तिव्यक्तिशब्दानां वासुदेवादिचतुर्मूर्तिपरत्वं सुस्पष्टं व्याख्यातमिति चेत्, अस्मदुक्तप्राथमिकव्याख्यानस्य लक्ष्मीवचनानुसारित्वमजानन्नेवमात्थ । तत्राकारादिवर्णेषु चतुर्षु चतुर्षु वासुदेवादीनां चतुर्णां चतुर्णामवस्थानं किमस्माभिर्निरुद्धम्, अपि तु विश्रामादिशब्दानां सूक्ष्मावस्थादिवाचकत्वमस्माभिरुक्तम् । लक्ष्मीतन्त्रे तु तदर्थस्य सुप्रसिद्धत्वात् तद्विवरणं विना वासुदेवादिवाचकत्वं दुर्ज्ञेयं सुस्पष्टं व्याख्यातम् । तावता तेषां शब्दानां वासुदेवादिवाचकत्वमेव, सूक्ष्माद्यवस्थावाचकत्वं न संभवतीति[९] नियमोऽस्ति, उत्तरत्र–"युक्ता विश्रामपूर्वेण चतुष्केण समासतः" (लक्ष्मी० २०।१४) इत्यत्र विश्रामादिशब्दानामवस्थावाचकत्वस्य दुर्निवारत्वात् ॥१५५–१५८॥

---

१. शाथा–मु० अटी० । २. कोपरि–मु० । ३. वेंत्येव–अ० म० । ४. णानि–अ० म० । ५. व्याप्तं–म० मु० । ६. विविधं–मु० । ७. काशाच्च भू–अ० म० । ८. रं तमु–मु० । ९. 'न' नास्ति–अ० ।

नीत्वैवं व्यक्तिभावेन हृत्पद्मोदरसंस्थितम् ।
वर्णाध्वानं[1] दीक्षितस्य शब्दब्रह्मेति या[2] स्थितिः ॥ १५९ ॥
संसेच्य[3] हुतभुग्भूमिं प्रणीतेनोदकेन तु ।
सह शिष्येण चात्मानं तेनैवाच्छिद्रसिद्धये ॥ १६० ॥
पूर्ववद् भूतिना कृत्वा लक्ष्म चाग्निं प्रणम्य च ।
समुत्थाय ततो यायात् तं गृहीत्वाऽच्युतालयम् ॥ १६१ ॥

एवंभूतस्य वर्णाध्वनः प्रकारः शिष्याय सुव्यक्तमुपदेश्य इत्याह—नीत्वेति । हृत्पद्मोदरसंस्थितम्

तत्राब्जं[4] चार्कमालम्ब्य परा वाग् भ्रमरी स्थिता ।
या सर्वमन्त्रजननी शक्तिः शान्तात्मनो विभोः ॥
नदन्ती वर्णजं नादं शब्दब्रह्मेति यत् स्मृतम् ।
अकारपूर्वो हान्तश्च धारासन्तानरूपधृक् ॥ (२।६७-६८)

इत्युक्तप्रकारेण हृदयकमलान्तः स्थितमित्यर्थः । अत्र दीक्षितस्येत्यनेन षडध्वमोचनपर्यन्तस्यैव कर्मणो दीक्षाशब्दाभिधेयत्वं ज्ञायते । एवमेवोक्तं जयाख्यलक्ष्मीतन्त्रादिष्वपि । एतेन सिद्धान्तचन्द्रिकायां दीक्षाशब्दस्य नियमपरिग्रहणवाचित्वमुक्तं निरस्तं भवति, नियमानामुत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात् ॥१५९॥

अथ प्रणीतोदकेन कुण्डादिसेचनं भस्मना तिलकधारणम् अग्निप्र(माणा?णामा)-दिकं मण्डलस्थस्य बिम्बस्थस्य वा भगवतोऽभ्यर्चनपूर्वकं तत्संनिधौ शिष्याय नियमोपदेशं मानसाराधनक्रममुद्रान्यासध्यानसमन्वितमन्त्रोपदेशम् आराधनादीनामितिकर्तव्यताक्रमोपदेशं स्वसमक्षमेव शिष्येण भगवदाराधनाद्यनुष्ठापनं[5] गुर्वर्चनं शिष्यस्य मस्तके मन्त्रोदकसेचनम् आशीर्वचनपूर्वकं तन्मस्तके मन्त्रहस्तदानमाशीर्वचनप्रकारं चाह—संसेच्य हुतभुग्भूतिमित्यारभ्य[6] मोक्षलक्ष्मीसमन्वितेत्यन्तम् । तवास्तु वैभवी सिद्धिरित्यत्र व्यूहदीक्षायां तवास्तु व्यूहसंसिद्धिरिति, ब्रह्मदीक्षायां तवास्तु ब्रह्मसंसिद्धिरिति[7] योज्यम् । अत एवास्मत्तातपादैः सात्वतामृते व्यापकमन्त्रदीक्षाप्रकरणात्—"तवास्तु विभवादीनां सिद्धिर्मोक्षश्रियान्विता" इति प्रतिपादितम् ।

---

१. वर्ण—अटी० । २. यः स्थितः—बक० बख० उ०, यत्—अ० अटी० । ३. संसेव्य—बख० अ० । ४. तत्रार्कं चाब्ज—नु० । ५. ष्ठानं—मु० । ६. भूमिमिति मूले सार्वत्रिकः पाठः । ७. ब्राह्म—अ० ।

पूजयित्वा जगन्नाथं निवेद्य नियमान् शिशोः ।
सं[1]विशेषान् समासेन सान्तरान् योग्यतावशात् ॥ १६२ ॥
यथावदुपदेष्टव्यं तं[2]तस्तस्यार्चनं हृदि ।
मुद्रासमन्वितो मन्त्रो न्यासध्यानपुरस्सरः ॥ १६३ ॥
इतिकर्तव्यताशास्त्रसंक्षिप्ता च सविस्तरा ।
तत्समक्षं ततस्तेन सर्वं कार्यं यथास्थितम् ॥ १६४ ॥
गुर्वर्चनं[3] ततः कुर्यादात्मना चै[4] धनादिना ।
पूरयित्वाऽम्भसा पाणिमर्घ्यपात्रात् तु दक्षिणम् ॥ १६५ ॥
षडङ्गमन्त्रसंजप्तं क्षेप्तव्यं तस्य मस्तके ।
मं[5]ण्डलं प्रणवेनाथ पाणौ सूर्यप्रभं स्मरेत् ॥ १६६ ॥
तत्राभिन्नं न्यसेत् प्राग्वद् वैभवं देवतागणम् ।
कृत्वा धियार्चितं[6] दद्यात् सा[7]शिषं तस्य मूर्धनि ॥ १६७ ॥

ननु केवलं परव्यूहविभवदीक्षात्रयमत्र प्रतिपादितम्, व्यापकमन्त्रदीक्षानुष्ठाने किं मूलम्, तावतैकमन्त्रेण विभवादिसर्वदेवीया सिद्धिः[8] कथं जायत इति चेत्, अस्ति तत्र च सात्वतोपबृंहणमीश्वरतन्त्रं पाद्मादिकं च मूलम्, एकमन्त्रस्यापि व्यापकत्वेन विभवादिसर्वदेवाविष्कृतत्वात् । तेन सर्वदेवीया सिद्धिर्निरङ्कुशा सिद्ध्यतीति बोध्यम् ।

ननु सिद्ध्यतु नाम तादृशी सिद्धिः, तदानीं व्यापकमन्त्र एव तद्दीक्षितस्याधिकारः । नहि विभवादिदीक्षां विना तत्तन्मन्त्रेष्वधिकारः सिद्ध्यतीति वाच्यम्, तेनैव सर्वदीक्षाणां चारितार्थ्यात् । तथा चैश्वरे तन्त्रे—

एवं दीक्षात्रयं चापि दद्यादेकस्य वा क्रमात् ।
सर्वाराधनयोग्यत्वसिद्धये मुनिपुङ्गवाः ॥
यद्वाऽष्टाक्षरमन्त्रादौ व्यापकत्रितये[9] द्विजाः ।····
शक्तिभूषणवाहास्त्रमन्त्रांश्चोपदिशेद् गुरुः ॥ इति । (२१।४६०–४६१, ४६३)

पाद्मेऽपि—

ध्यात्वा च दक्षिणे कर्णे शिष्यस्य प्रणवान्वितम् ।
मन्त्रं दद्यादृषिच्छन्दोदैवतं चाङ्गमेव च ॥
द्वादशाक्षरमादौ तु पश्चादष्टाक्षरात्मकम् ।
मूर्तिमन्त्रांश्च तदनु समध्याप्य यथाविधि ॥

१. साव–अ० । २. यत–अटी० । ३. नमतः–अ० उ० । ४. द्वयवादिना–मु०, ध्ययनादिना–अटी० । ५. कमलं–अ० उ० । ६. र्चनं–अ० । ७. सशिष्यं–अ० उ० । ८. 'कथं जायत····सर्वदेशीया सिद्धि' नास्ति–अ० । ९. 'व्यापकत्रितये····क्षरमादौ तु' नास्ति–अ० ।

यथोक्ता च यथाभीष्टो[1] त्वचिरादेव पुत्रक ।
तवास्तु वैभवी सिद्धिर्मोक्षलक्ष्मी[2]समन्विता ॥ १६८ ॥
इति वैभवदीक्षाया लक्षणं समुदाहृतम् ।
तत्प्रयुक्तस्य सामान्यं सर्वमन्त्रगणस्य च ॥ १६९ ॥
येन येन हि मन्त्रेण दीक्षा कार्या[3] हि कस्यचित् ।
तस्य तस्य तदीयानां पूर्वोद्दिष्टेन वर्त्मना ॥ १७० ॥
कार्योऽत्रावयवानां तु विनियोगो यथोदितः ।
समूहवद् हृदादीनां मूला[4]न्तानां समाचरेत् ॥ १७१ ॥
सह तत्त्वगणेनैव सर्वदा[5]ऽध्यात्मरूपताम्[6] ।
समभ्यूह्य ततः कुर्यात् प्राग्वदभ्यर्चनं तु वै[7] ॥ १७२ ॥
नेत्रकर्मणि हृद्बीजं पञ्चाङ्गानां विधीयते ।
निरङ्गानां तु मन्त्राणामङ्गमन्त्रोक्तकर्मणाम् ॥ १७३ ॥
प्रणवो विनियोक्तव्यः सह कर्मपदेन तु ।
सम्पाद्या[8] विधिनानेन व्यूहदीक्षार्थिनां सदा ॥ १७४ ॥

इति व्यापकमन्त्रं[9]दीक्षाप्रकरण एव समस्तमूर्तिमन्त्राणामप्युपदेशः प्रतिपादितः । एवं च यथा प्रधानमन्त्रदीक्षायाः शक्तिभूषणवाहनास्त्रमन्त्रेष्वप्यधिकारः सिद्ध्यति, तथा व्यापकमन्त्रदीक्षयैव विभवादिमन्त्रेष्वधिकारः सिद्ध्यतीति ज्ञेयम् ॥ १६०–१६८ ॥

अथोक्तमर्थं निगमयति—इतीति । तत्प्रयुक्तस्य वैभवार्चनासक्तस्य शिष्यस्येत्यर्थः । सर्वमन्त्रगणस्य पद्मनाभादिपातालशाय्यन्तविभवदेवमन्त्रसमूहस्येत्यर्थः ॥१६९॥

एतेषु विभवमन्त्रेष्वेकैकेनैव मन्त्रेण यस्य दीक्षाऽभिमता तस्य तादृशदीक्षायां विशेषानाह—येनेति त्रिभिः । अवयवानामङ्गमन्त्राणामित्यर्थः । समूहवत् पातालशयनादिपद्मनाभान्तसमूहवदित्यर्थः । एकमन्त्रदीक्षाप्रकरणात् पृथिव्यादिसप्तके पूर्वोक्तविभवदेवसमूहं विना तत्स्थाने हृन्मन्त्रादिमूलमन्त्रान्तानां सप्तानां विनियोगः कार्य इति फलितोऽर्थः ॥ १७०–१७२ ॥

पञ्चाङ्गमन्त्रदीक्षायां निरङ्गमन्त्रदीक्षायां च गतिमाह—नेत्रेति सार्धेन ॥ १७३–१७४ ॥

१. ष्टम–मु० अटी० । २. लक्ष्म–मु० अटी० । ३. र्योऽथ–बख० अ० उ० । ४. ज्ञाना–मु० अटी० बक० बख० । ५. सर्वम–मु० अटी० बक० । ६. रूपता–मु० अटी० । ७. वा–अ० । ८. सम्पाद्य–मु० अटी० बक० बख० उ० । ९. मन्त्रे–मु० ।

किन्तु वै तत्र योक्तव्यं प्रत्येकस्मिन् हि कर्मणि[4] ।
चतुष्कं वासुदेवाद्यं बीजानां यत् पुरोदितम् ॥ १७५ ॥
एवमेवाद्यमन्त्रस्तु निःशेषः कर्मसंग्रहे ।
योक्तव्यो ब्रह्मदीक्षायां षोढा भक्त्वा[1] च पूर्ववत् ॥ १७६ ॥
स्वरूपेण यथावस्थमुक्तेष्ववसरेषु च ।
किन्त्वेकवचनेनात्र[3] देवानां प्रार्थना मता[2] ॥ १७७ ॥
योजना त्वधिवासोक्ता विज्ञातव्या समासतः ।
नित्यदीक्षाद्वयस्यास्य नान्यन्मोक्षादृते फलम् ॥ १७८ ॥

व्यूहदीक्षायां विशेषमाह—संपाद्येति सार्धेन। पुरोदितम् अष्टमे परिच्छेदे "सान्तं षष्ठस्वरारूढम्" (८।१०) इत्यादिभिः प्रतिपादितमित्यर्थः ॥ १७४–१७५ ॥

ब्रह्मदीक्षायां विशेषानाह—एवमेवेति सार्धद्वाभ्याम्। आद्यमन्त्रस्य षोढा विभजनप्रकारस्तु द्वितीयपरिच्छेद (२।३२–३५) एव प्रदर्शितः। एकवचनेन प्रार्थना "युष्मत्प्रसादसामर्थ्यात्" (१९।१०१) इत्यादिस्थलेषु ज्ञेया।

नन्वत्र देवानामिति बहुवचनमस्ति, कथं तेषामेकवचनेन प्रार्थनेति चेत्, सत्यम्। तत्रापि चातुरात्म्यसत्त्वाद् बहुवचनमुक्तम्। तथापि—

अभेदेनादिमूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत्।
सर्वक्रियाविनिर्मुक्तममूर्तं परमार्थतः॥
चातुरात्म्यं तदाद्यं वै शुद्धं संविन्मयं महत्। (५।८१–८२)

इत्यादिमूर्तेरेव प्राधान्यादेक एव मन्त्र उक्तः, ऐकवचनेनैव प्रार्थनेति बोध्यम्। अधिवासोक्ता योजना नाम,

ओमादिश जगन्नाथ सर्वज्ञ हृदयेशय।
तत्राहं योजयाम्येनं यत्कर्म त्वत्परायणम्॥ (१८।२३२)

इत्येवंरूपेत्यर्थः। इयं योजना ज्ञातव्या एतद्दीक्षाविषयत्वेन बोध्याऽनेनेत्यर्थः, एकवचन-प्रयोगात्। एतेन व्यूहदीक्षायां विभवदीक्षायां च तस्मिन् योजनाश्लोके बहुवचनं योज्यमित्यर्थात् सिद्धम्। तत्राप्येकैकमन्त्रेणैव दीक्षायामेकवचनेनैव प्रार्थनायोजनादिकं कार्यम्। अत एवास्मत्तातपादैः सात्वतामृते युष्मत्प्रसादसामर्थ्यादिति प्रार्थनाश्लोके त्वत्प्रसादस्य सामर्थ्यादित्येकवचनं प्रयुक्तम्।

ननु सात्वतामृते व्यापकमन्त्रदीक्षा प्रतिपादिता। व्यापकमन्त्रस्य[5] परव्यूह-विभवाख्यसर्वदेवविषयत्वं भवतैवोक्तम्। तादृशमन्त्रदीक्षायां सर्वे देवा अपि प्रार्थ्याः।

१. भङ्क्त्वा–अ० उ०। २. मताः–अ०। ३. न्तस्त्वेक–म०। ४. कर्मिणं–मु०। ५. मन्त्रेऽस्य–म०।

तत्रापि चातुरात्मीया दीक्षा प्राक् कमलेक्षण ।
बलाद् ददाति षाड्गुण्यभोगार्पितं भावितात्मनाम् ।। १७९ ।।
फलं स्रक्चन्दनादीनां होमद्रव्यस्य चापि यत् ।
प्रकृत्या सह चाभ्येति विलयं ब्रह्मदीक्षया ।। १८० ।।

इति श्रीपाञ्चरात्रे[1] श्रीसात्वतसंहितायां दीक्षाविधिर्नाम[2]
एकोनविंशः[3] परिच्छेदः ।।

■

तथा सति कथमेकवचनं समञ्जसं भवतीति चेत्, ब्रूमः—यथैक एव मन्त्रः सर्वान् विषयीकरोति, तथैकवचनमपीति बोध्यम् । अत एव हि पाद्मेऽष्टाक्षरकल्पे द्वादशाक्षरकल्पे चैकवचनेनैव ध्यानमुक्तम्—"चतुर्बाहुमुदाराङ्गम्" इत्यादिभिः ।

ननु तर्ह्यष्टाक्षरेण परव्यूहविभवार्चनप्रकरणे सर्वत्र पाद्मोक्तध्यानमेवानुसरणीयं किमिति चेदुच्यते, अष्टाक्षरेण तेषामर्चनप्रकारेण सामान्यतः पाद्माद्युक्तप्रकारेण वा विशेषाकारेण वा ध्येयम् । तत्र न विवादः । अत एव हीश्वरपारमेश्वरयोर्व्यापकमन्त्रेणैवार्चने उक्तेऽपि तत्तद्दिव्यदेशस्थितमूर्तिध्यानमेव प्रतिपादितम् ।। १७६–१७८ ।।

किं बहुना, व्यूहब्रह्मदीक्षयोः केवलमोक्षप्रदत्वेऽपि तत्रैहिकफलानामप्यानुषङ्गिकत्वमस्तीत्याह—नित्येति सार्धद्वाभ्याम् ।। १७८–१८० ।।

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये एकोनविंशः[4] परिच्छेदः ।।

■

१. पञ्च–उ० । २. 'नाम' नास्ति–उ० । ३. अष्टादशः–अ० । ४. विंशतिः–म० ।

विंशः परिच्छेदः[1]

नारद उवाच[2]

दीक्षालक्षणमुक्त्वैवं सीरिणं[3] चाथ[4] चक्रभृत्[5] ।
यथावच्च मुनिश्रेष्ठाः पुनरेवाब्रवीदिदम् ॥ १ ॥
अथ मण्डलदृष्टस्य[6] शास्त्रज्ञस्य यथार्थतः[7] ।
समाराधनसक्तस्य पुत्रकत्वं[8] गतस्य च ॥ २ ॥

अथ विंशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । भगवानेवं दीक्षालक्षणमुक्त्वा पुनरभिषेकमुपदिशतीत्याह—दीक्षेति ॥ १ ॥

अभिषेकेऽधिकारिणं तत्प्रयोजनं कालं चाह—अथेति द्वाभ्याम् । मण्डलदृष्टस्य दृष्टमण्डलस्येत्यर्थः, समयनिष्ठस्येति यावत् । "लब्धदर्शनमात्रो वै मन्त्रमूर्तेस्तु मण्डले[9]" (२२।१४) इति समयनिष्ठस्य लक्षणं वक्ष्यति । शास्त्रज्ञस्य तदनन्तरं शास्त्रव्यवसायपरस्येत्यर्थः,

ततः प्रभृति कालाच्च [10]सुप्रश्नाच्च सुदेशिकात् ॥
पाठपूर्वं हि शास्त्रार्थमभ्यर्थयति योऽनिशम् । (२२।१५-१६)

इति वक्ष्यमाणत्वात् । पुत्रकत्वं गतस्य "विज्ञाता गुरुणा यस्य" (२२।२९) इत्यारभ्य, "स शिष्यः पुत्रको नाम स्वपुत्रादधिकः सदा" (२२।३८) इत्यन्तं वक्ष्यमाणलक्षणविशिष्टस्येत्यर्थः । समाराधनसक्तस्य "पूर्ववल्लब्धदीक्षस्तु मन्त्राराधनतत्परः" (२२।३९) इत्यादिक्रमेण वक्ष्यमाणलक्षणविशिष्टस्येत्यर्थः । एवं मण्डलदृष्टस्येत्यादिविशेषणचतुष्टयविशिष्टस्य शिष्यस्य तत्कालं दीक्षानन्तरमेवाभिषेचनं कार्यमिति फलितार्थः ।

नन्वेतदभिषेचनं विशेषणविशिष्टस्येति किं नियामकम्, समयिनः पुत्रकस्य साधकस्य वाऽभिषेकः कार्य इत्यर्थः सरसः । यतः श्रीजयाख्ये—

सेनापतिक्रमेणैव समयज्ञस्य सर्वदा ।
महामन्त्रत्वविधिना पुत्रकस्याभिषेचनम् ॥

---

१. एकोनविंशः—अ० । २. 'उवाच' नास्ति—मु० अटी० उ० । ३. णश्चाथ—उ० । ४. चाधि—मु० अटी० । ५. युक्—बक० बख०, धृक्—अ० उ० । ६. मण्ड(र्ण)स्य दृष्ट(ष्ल)स्य—मु० । ७. इतः परम्—"तप्ताभ्यां शङ्खचक्राभ्यामङ्कितस्य भुजद्वये । सम्यग्धृतोर्ध्वपुण्ड्रस्य दत्तनाम्नश्च मन्त्रिणः ।" इत्ययं श्लोकोऽधिको दृश्यते—मु० अटी० । मातृकास्वनुपलब्धेर्भाष्यकारेणाऽव्याख्यातत्वाच्च प्रक्षिप्तोऽयं श्लोक इति प्रतीयते । ८. पुत्रत्वं च—मु० अटी० बक० उख० अ० । ९. मण्डलः—अ० म० । १०. सुप्रसन्नाच्च देशिकात्—मु० ।

सिद्ध्यर्थं सर्वमन्त्राणामधिकाराप्तये तु वा ।
तत्कालं गुरुणा कार्यं सच्छिष्यस्याभिषेचनम्[1] ॥ ३ ॥

युवराजविधानेन दातव्यः साधकस्य तु ।
राजोपचारविधिना अभिषेको गुरोः स्मृतः ॥ (१८।३४-३५)

इति सामयिकादीनां[2] चतुर्णामप्यभिषेकः प्रतिपादित इति चेत्, ब्रूमः—जयाख्ये[3] तेषां प्रत्येकमभिषेकप्रयोगभेदाश्च प्रतिपादिताः। अत्र तु केवलमाचार्याभिषेकविधानमुक्तम् । अतोऽस्मदुक्तार्थ एव सरसः । न च तर्हि विशेषणानां वैय्यर्थ्यापत्तिः, समाराधनसक्तस्येत्येतावन्मात्रेणैव चारितार्थ्यादिति वाच्यम्, तत्तत्सर्वगुणविशिष्टस्यैवाभिषेकार्हत्वोक्त्या सामर्थ्यात्[4] । किञ्च, अत्र वक्ष्यमाणेषु[5] समयिपुत्रकसाधकलक्षणेषु जयाख्यवदभिषिक्तत्वं कुत्रापि न वक्ष्यति । आचार्यलक्षणेष्वेव—"लिङ्गैः पूर्वोदितैर्युक्तस्त्वभिषिक्तो विशेषतः" (२२।४४) इत्यभिषिक्तत्वं वक्ष्यति । अत एवैतदुपबृंहणेश्वरतन्त्रे—[6]

इत्येवमभिषेकस्तु भवेन्मुख्याधिकारिणाम् ॥
अन्ये तु दीक्षामात्रेण संस्कार्या मुनिपुङ्गवाः । (२१।५०३-५०४)

इति सुस्पष्टं प्रतिपादितम् । पाद्मेऽपि—

शिष्यं सुतं वा सर्वज्ञमनसूयं[7] जितेन्द्रियम् ।
आचार्यवंशजन्मानं निग्रहानुग्रहक्षमम् ॥
शान्तिके पौष्टिके चैव कर्मणि क्षममर्थिनाम्[8] ।
वेदवेदान्ततत्त्वज्ञमाचार्यपदाकाङ्क्षिणम् ॥
देशिकेन्द्रो विधानेन वक्ष्यमाणेन तत्त्ववित् ।
कर्षणादिषु सर्वेषु विधानेष्वधिकारिणम् ॥
कुर्यान्मिण्डलपूजादि[9] कुम्भयागावसानिकम् ॥

इत्याचार्यवंशजानामेवाभिषेकः प्रतिपादितः, तेषामेव कर्षणादिष्वधिकारश्च ॥ २ ॥

ननु तर्हि जयाख्ये[10] चतुर्वर्णानां चतुराश्रमिणां चतुर्विधशिष्याणां चाभिषेकः प्रतिपादितः । तत्र का गतिरिति चेत्, दत्तोत्तरमेतत् । जयाख्यनिष्ठानां सर्वेषामपि तारतम्येनाभिषेकः स्यात् । एतस्मिन्नाचार्याभिषेकमात्रस्योक्तत्वात् साधकाद्यभिषेकविधानानामनुक्तत्वाच्चैतन्निष्ठैराचार्याभिषेकमात्रमनुष्ठेयम् । यद्वा—अनुक्तमन्यतो ग्राह्यमिति न्यायेन साधकाभिषेकाद्यनुष्ठानेऽपि न प्रत्यवायः ॥ ३ ॥

---

१. यच्छिष्य—मु० अटी० बक० बख० उ० । २. सामयिकानां—अ० । ३. अष्टादशः पटलो द्रष्टव्यः । ४. सार्थक्यादित्यर्थतया नेयः । ५. द्वाविंशे परिच्छेदे २—५८ श्लोकेषु । ६. 'एव' नास्ति—अ० । ७. मनसोऽयं—अ० । ८. मर्थिना—म० । ९. पूज्या—अ० । १०. अष्टादशे पटले ।

भगवत्तत्त्ववेत्तॄणां[1] पञ्चकालरतात्मनाम् ।
संहितापारगाणां च आचार्याणां च सन्निधौ ॥ ४ ॥
यतीनां बद्धलक्ष्याणां साधकानां महात्मनाम् ।
देवस्य[2] पुरतः कुर्याच्चतुरश्रं तु मण्डपम्[3] ॥ ५ ॥
सर्वोपकरणोपेतं मध्ये भद्रासनान्वितम् ।
तस्मिन् कुर्यादनन्ताद्यं सन्धानं त्वासनोदितम् ॥ ६ ॥

अथाभिषेकविधानमाह—भगवत्तत्त्ववेत्तॄणामित्यारभ्य पूर्णान्तं चाग्निमध्यगमित्यन्तम् । देवस्य पुरत इत्यत्र मण्डलस्थस्य[4] बिम्बस्थस्य वा देवस्येत्यर्थः । अनन्ताद्यमित्यत्राद्यपदेन धर्मज्ञानादयः संग्राह्याः । अष्टाङ्गेन अष्टोपचारैरित्यर्थः । वैष्णवं कुम्भं दीक्षार्थं स्थापितं महाकुम्भमित्यर्थः ।

ननु दीक्षार्थं स्थापितं महाकुम्भमिति कोऽयं नियमः । यतो जयाख्यपाद्मयो[5]रभिषेकार्थं पृथक् कुम्भस्थापनमुच्यत इति चेन्न, अत्र पृथगनुक्तत्वात्, महाकुम्भस्य विनियुक्तत्वादेवोत्तरत्र—"क्षान्त्वा यथोक्तविधिना सकुण्डान्मण्डलान्तरात्" (२०।१९) इति केवलकुण्डमण्डलाभ्यामेव भगवद्विसर्जनस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च ।

ननु साधकस्य खल्वाचार्याभिषेकः कार्यः । साधकलक्षणं तु—"पूर्ववल्लब्धदीक्षस्तु मन्त्राराधनतत्परः" (२२।३९) इत्यादि वक्ष्यति । जयाख्येऽपि—

मन्त्रसिद्धिस्तु वै यस्य[6] विज्ञाता गुरुणा यदा ।
गुरुणा वै सोऽभिषिक्तस्ततः शिष्यः प्रसादतः ॥ (१७।४६)

इति प्रतिपाद्यते । एवं दीक्षानन्तरं मन्त्रसिद्ध्यर्थं बहुकालमनुष्ठितव्रतस्य साधकस्य दीक्षार्थं स्थापितमहाकुम्भेनाभिषेकः कथं संघटते । अतोऽभिषेककालेऽपि कुम्भमण्डलाग्निष्वर्चनं कार्यम् । तदातनमहाकुम्भेनैवाभिषेकः सरस इति चेत्, स्थूलमनीषोऽसि । किमेकं शिष्यमुद्दिश्यैव दीक्षाप्रारम्भः क्रियते ? बहूनुद्दिश्य क्रियमाणे दीक्षाक्रमे कांश्चित् समये नियोजयति, समयिनः पुत्रकपदे नियोजयति, पुत्रकान् साधकपदे नियोजयति, साधकानाचार्यपदेऽभिषेचयतीति सूक्ष्मदृष्ट्या द्रष्टव्यम् । नृसिंहदीक्षाप्रकरणे—

ततः शुचीन् सोपवासान् शोधितान् बद्धलोचनान् ॥
भक्तान् प्रवेशयेत् तत्र गृहीतकुसुमांस्तु वै । (१७।११५-११६)

---

१. बद्धभक्तियुक्तानां—मु० । २. अथ कुर्याद् गुरुः सम्यक्—मु० अटी० । ३. मण्टपम्—अटी० । ४. मण्डलस्य—अ० । ५. जयाख्येऽष्टादशे पटले । ६. तस्य—मु० ।

पूजयित्वाऽर्घ्यपुष्पाद्यैस्ततो देवस्य सम्मुखम् ।
बद्धपद्मासनं शिष्यं तत्रारोप्य कृताञ्जलिम्[1] ॥ ७ ॥
कान्ताभिर्गीयमानं तु स्तूयमानं च वन्दिभिः ।
शङ्खाद्यैर्ध्मायमानं तु पठ्यमानं तु मङ्गलैः ॥ ८ ॥
जपमानं परं मन्त्रं ध्यायमानं[2]मिवाच्युतम् ।
अष्टाङ्गेनार्चयित्वा तु कुम्भमादाय वैष्णवम् ॥ ९ ॥
स[3] तत्रस्थेन मन्त्रेण सम्यक् सिद्धिव्यपेक्षया ।
सहस्रावर्तितं कृत्वा शतावर्[4]तितमेव वा ॥ १० ॥
सिद्धये द्रुतहेमाभं स्मृत्वा तमभिषिच्य च ।
स्वाहान्तमन्त्रमुच्चार्य प्लुतं हृत्कमलोदरात् ॥ ११ ॥
एवमुक्त्वा नमोऽन्तं तु ध्यात्वा तं स्फटिकामलम् ।
सं[5]मुत्कीर्य खरन्ध्रेण तस्य हृत्पद्मगं स्मरेत् ॥ १२ ॥

इति बहूनां युगपद्दीक्षाक्रममुक्तं किं न श्रुतवानसि । अन्यथा—"तत्कालं गुरुणा कार्यं सच्छिष्यस्याभिषेचनम्" (२०।३) इत्युक्त[6]ः कालः कथं संभवेत् । एकमेवोद्दिश्य क्रियमाणदीक्षाक्रमेऽपि भगवदनुग्रहवशात् सद्यस्तन्मन्त्रसिद्धिलिङ्गदर्शनादौ तत्काल एवाभिषेकोऽपि संभवत्येव ।

प्रक्षेपयेन्मण्डलान्तर्नेत्रबन्धं विमुच्य च ॥
अष्टाङ्गप्रणिपातैस्तु प्रदक्षिणयुतैस्ततः ।
देवश्चाग्निर्गुरुः कुम्भः पूजनीयः पुनः पुनः ॥
तत्कालं भक्तिभावेन विज्ञाता योग्यता यदा ।
तीव्रमन्दधियां तेषां तदा दीक्षां समाचरेत् ॥ (१७।११६–११८)

इति समयिपुत्रकाणां भक्त्यतिशये[7] तीव्रबुद्धित्वे च तदानीमेव दीक्षाचरणं सुस्पष्टं प्रतिपादितं हि ।

न[8]नु पुत्रकाणां दीक्षाचरणक[9]थनं तत्र किं साधकमिति चेत्, [10]जरत्कुड्यदुःशङ्का-परिहरणं चतुर्मुखस्याप्यशक्यम् ।

---

१. ञ्जलिः—मु० अटी० । २. नं गुणाच्युतम्—अ० । ३. तत्त—अ० । ४. वर्तन—अ० । ५. उद्गीर्य कर्ण—मु० अटी० । ६. इत्युक्तेः—अ० । ७. शयतीव्रबुद्धित्वं—अ० । ८. न तु—म० । ९. णे कथं—म० । १०. चर—अ० ।

[1]चिच्छक्तिविग्रहं ब्रह्म [2]त्वाह्लादानन्दलक्षणम् ।
समारोप्य धिया सम्यक् स्वाधिकारं तु चाखिलम् ॥ १३ ॥
प्रतिपाद्यार्चितं शुद्धं दिव्यमागमसञ्चयम् ।
शुभमाराधनाधारमक्षसूत्रं च किङ्किणीम् ॥ १४ ॥
स्रुक्स्रुवौ योगपट्टं च शङ्खचक्रे कमण्डलुम् ।
चमसं [3]सार्घ्यपात्रं च दर्भान् कृष्णाजिनं [4]ततम् ॥ १५ ॥
पादुके पादपीठं च च्छत्रमासनदर्पणम्[5] ।
[6]मायूरं व्यजनं शुक्लं चामरं भगवद्ध्वजम् ॥ १६ ॥
यथार्हदण्डसहितं काषाये क्षौमवाससी ।
समुत्थाप्यासनात् सर्वमाहृत्य स्नानजं जलम् ॥ १७ ॥
विनिक्षिप्य शुचौ स्थाने [7]देवमभ्यर्च्य वै ततः ।
तादर्थ्येन तु सन्तर्प्य पूर्णान्तं चाग्निमध्यगम् ॥ १८ ॥
क्षान्त्वा पूर्वोक्तविधिना सकुण्डान्मण्डलान्तरात् ।
अर्घ्यपात्रसमूहाच्च बलिदानं समाचरेत् ॥ १९ ॥

कृत्वा निरीक्षणाद्यं च देवधाम्नि तु क्षेपयेत् ।
तुष्टो मन्त्रमयं सम्यक् सार्घ्यपुष्पाहिताञ्जलिः ॥ (२२।३१)

इति वक्ष्यमाणलक्षणानुसारेण पुष्पाञ्जलिप्रक्षेपाद्यनन्तरं हि पुत्रकत्वं सिद्ध्यति। तदा पुत्रकपदारूढस्यापि तदानीमेव दीक्षाचरणकथनं तत्र साधकं (कथं) न भवेत्, "सिद्धये द्रुतहेमाभम्" (२०।११) इत्युक्तत्वात्। "ध्यात्वा तं स्फटिकामलम्" (२०।१२) इत्यत्र मुक्तय इति ज्ञेयम्। "स्वाहान्तं भोगसिद्ध्यर्थं नमोऽन्तं मोक्षसिद्धये" (१९।८५) इति पूर्वमेवोक्तं हि। यथार्हदण्डसहितं तत्तद्वर्णाश्रमविहितदण्डमित्यर्थः। एतेन "काषाये क्षौमवाससी" (२०।१७) इत्यपि व्याख्याते ॥ ४-१८ ॥

अथ कुण्डान्मण्डलादर्घ्यादिपात्रसमूहाच्च मन्त्रोपसंहारं बलिदानक्रमं चाह—

---

१. अपशक्ति–बक० बख० अ० उ० । २. त्वखिला–उ० । ३. चार्घ्य–अटी० अ० । ४. ततः–बक० बख० अ० । ५. दर्पणे- मु० अटी० । ६. मायूर–अ० उ०, मयूर–बख० । ७. दैव–मु० बक० बख० । ८. तथा–म० ।

[1]सोदकेन च [2]भूतानामोदनेनास्त्रमुच्चरन् ।
ब[3]लिंमण्डलकं कृत्वा यागागाराच्च बाह्यतः ॥ २० ॥
कृत्वान्तर्बलिदानं तु प्रादक्षिण्येन वै पुरा ।
अथ ऊर्ध्वं इदं चोक्त्वा शेषं तन्मण्डले बहिः ॥ २१ ॥
नमोऽस्त्वच्युतभूतेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वदैव हि ।
सदिक्पतिभ्यः सास्त्रेभ्यः [4]शान्तिर्नोऽस्त्वस्य वै शिशोः ॥२२॥
पूजाद्यमुपसंहृत्य दत्तशिष्टेन पूर्ववत् ।
[5]वृत्तमण्डलमध्ये तु [6]सितपद्मोदरे ततः ॥ २३ ॥
दत्तशिष्टैर्यजेद् देवं सर्वदेवगुरुं प्रभुम् ।
तर्पयित्वाऽग्निमध्ये तु कुर्यात् तस्य विसर्जनम् ॥ २४ ॥
तदीयमथ निक्षिप्य क्ष्मावटे वा जलान्तरे ।
[6]यागावनौ च तच्चक्रं द्वादशारं विचिन्त्य च ॥ २५ ॥
न्यस्यात्मन्यर्घ्यं [7]पुष्पाद्यैः समभ्यर्च्य तदन्तरे ।
करकं वारिसम्पूर्ण[9]मादाय विनिवेश्य च ॥ २६ ॥
तत्रेष्ट्वा वीर्यमन्त्रेण मध्ये मन्त्रास्त्रमुत्तमम् ।
मध्वम्बुपयसा पूर्ण[8]मपरं शुभलक्षणम् ॥ २७ ॥
[10]तदग्रतोऽर्घ्यकलशं तन्मध्येऽस्त्रं च चक्रगम् ।
[11]तमभ्यर्च्य यथान्यायं कृत्वाऽष्टशतमन्त्रितम् ॥ २८ ॥

क्षान्त्वेति चतुर्भिः । भूतानां कुमुदादीनामित्यर्थः । बलिमण्डलकं बलिदानार्थं गोमयोपलिप्तं स्थानमित्यर्थः ॥ १९–२२ ॥

[12]अथ विष्वक्सेनार्चनं [13]तत्सन्तर्पणं तद्विसर्जनं तन्निवेदितपरित्यागं चाह—पूजाद्यमिति सार्धद्वाभ्याम् ॥ २३–२५ ॥

---

१. पङ्क्तिचतुष्टयं नास्ति—उ० । २. भूतानां—अ० । ३. वलिं मण्डलतः—मु० अटी० । ४. शान्तये स्वस्य—बक० बख०, पातृभ्यः स्वस्य—उ० । ५. वृत्तं—अ० उ० । ६. पङ्क्तिद्वयं न दृश्यते—मु०, यागावनौ च तच्चक्रमित्येतावानशो दृश्यते—अटी० । ७. पूर्वाद्यैः—बक० बख० । ८. मवरं शुभलक्षणम्—मु० अटी० । ९. मादाय विनिवेश्य च—मु० अटी० । १०. तदस्त्र—मु० अटी० । ११. सम—अटी० । १२. 'अथ' नास्ति—म० । १३. 'तत्' नास्ति—अ० ।

वषट्पदनिरुद्धेन मूलमन्त्रेण तं पुनः ।
दद्यात् तदन्तः [1]सार्णेन प्राग्वत् पीयूषधारिणा[2] ॥ २९ ॥
[3]निर्निद्रीकरणं कुर्यात् सर्वेषां मन्त्रवारिणा ।
त[4]दम्बुधारादानेन ध्यानोच्चारयुतेन च ॥ ३० ॥
संविभज्याथ वैतेषां मन्त्रपानं सुधामयम् ।
सुधाद्यस्त्रवरं[5] पश्चात् समन्त्रं चक्रगं न्यसेत् ॥ ३१ ॥
[6]आदाय तं तोयकुम्भमस्त्रमन्त्रमुदीरयन् ।
भ्रामयेत् पूर्ववद्धारामथ मध्ये निधाय तम् ॥ ३२ ॥
स[7]म्पूर्णमुदकेनैव कृत्वा फलसमन्वितम् ।
गुरुयागमतः कुर्याच्छिष्यः प्रयतमानसः ॥ ३३ ॥
भगवद्यागवद् भक्त्या कर्मणा मनसा गिरा ।
यागोपयुक्तं सम्भारं तस्मै सर्वं निवेद्य च ॥ ३४ ॥

सुधापानप्रदानप्रकारमाह—यागावनौ च तच्चक्रमित्यारभ्य कृत्वा फलसमन्वित-मित्यन्तम् ॥ २५–३३ ॥

गुरुपूजनमाह—गुरुयागमिति सार्धद्वाभ्याम् । गुर्वर्चनमन्त्रस्तु लक्ष्मीतन्त्रोक्तो ग्राह्यः—

अज्ञानगहनालोकसूर्यसोमाग्निमूर्तये ।
दुःखत्रयाग्निसन्तापशान्तये गुरवे नमः ॥ (४१।६४) इति ।

अस्मिन्नवसरे पादतीर्थपरिग्रहश्चोक्तो जयाख्ये—

प्रक्षाल्य सलिलेनाथ गुरोश्चरणपङ्कजे ॥
तेनात्मानं तु संसिच्य पिबेदञ्जलिना ततः । (१८।८४–८५)

इति ॥ ३३–३५ ॥

---

१. सास्त्रेण पृथक्—बक० बख० । २. णम्—मु० अटी० उ० । ३. निर्विघ्न—अ०, निर्वज्री—उ० । ४. तमम्बु—उ० । ५. मर्य—अटी० । ६. तत आदाय तत्तोयकुम्भमस्त्रमुदीरयत्—उ० । ७. सुपूर्ण—अ० उ० ।

सशिरः पाणियुग्मं तु कृत्वा वै च[1] तदङ्घ्रिगम् ।
क्षान्तव्यः सुप्रयत्नेन श्रद्धापूतेन चेतसा ॥ ३५ ॥
पञ्चरात्रविदस्तद्वद् यतींश्च स्नातकादिकान्[3] ।
सम्पूज्य विधिवद् दद्यात् तेषां शक्त्या च दक्षिणाम् ॥ ३६ ॥
संवाहनपरात् कालाद् लब्ध्वाऽनुज्ञां तु गौरवीम् ।
भ्रातृभिः सह चाश्नीयाद् बहुभिः पूर्वदीक्षितैः ॥ ३७ ॥
तथान्यैर्भगवद्भक्तैः सुहृत्सम्बन्धिबान्धवैः ।
व्रजन्तं सह शिष्यैस्तु काले ह्यन्यत्र तत्र वा ॥ ३८ ॥
तदिच्छया ह्यनुव्रज्य[4] निवर्तेताथ वै यदा ।
कृत्वा तु पादपतनं बहुधा स[5]म्प्रदक्षिणम् ॥ ३९ ॥
आ मोक्षात् सर्वसिद्धीनां भक्तानां भावितात्मनाम् ।
परा गतिर्गुरुर्यस्मात् प्रसाद्यः स्मृत एव सः ॥ ४० ॥
इति श्रीपा[6]ञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायामभिषेकविधिर्नाम[7]
[8]विंशः परिच्छेदः ॥

●

सर्वेषां भागवतानां दक्षिणादानादिकमाह—पञ्चरात्रेति ॥ ३६ ॥

तदनन्तरं गुर्वनुज्ञया भ्रातृभिः सह भोजनमाह—संवाहनेति सार्धेन ॥३७–३८॥

तस्मिन् कालेऽन्यत्र वाव्रज्या[9] गुरुणा सहानुव्रजनं पुनस्तदनुज्ञया निवर्तनकाले प्रणिपतनप्रदक्षिणादिभिर्गुरोः प्रसादीकरणं चाह—व्रजन्तमिति सार्धद्वाभ्याम् ॥३८–४०॥

तिइ श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये [10]विंशः परिच्छेदः ॥

■

१. चैव–अ० । २. सनकादयः–उ० । ३. कादयः–बक० बख० अ० ।
४. प्यनु–अ० उ० । ५. सप्र–बख० उ० । ६. पञ्च–उ० । ७. 'नाम' नास्ति–उ० ।
८. विंशतिः–बख०, एकोनविंशतिः–अ० । ९. व्रजता–म० । १०. विंशतिः–म० ।

[1]एकविंशः परिच्छेदः

नारद उवाच[2]

भगवानथ विश्वात्मा चोदितस्तालकेतुना ।
द्विजप्रधाना यत् तन्मे आकर्णयत साम्प्रतम् ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच[3]

नियमाः किं स्वरूपास्तु दातव्या दीक्षितस्य च ।
गुरुणा प्रतिपन्नस्य शासनेऽस्मिन् जगत्प्रभो ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच[4]

प्रत्येकस्मिन् हि नियमे निर्गते तु गुरोर्मुखात् ।
[5]ब्रूयाद् बाढमित्येवं शिष्यः शोकाग्निशान्तये ॥ ३ ॥
नाक्रम्या गौरवी च्छाया दैवी यानगता त्वपि ।
गुरुवद् गुरुवर्गश्च द्रष्टव्यो नित्यमेव हि ॥ ४ ॥
शयनासनयानाद्यं तदीयमभिव[6]ादयेत् ।
अतन्द्रितः सदा कुर्याद् व्यापारं[7] तद्गृहेऽखिलम् ॥ ५ ॥

अथैकविंशः[8] परिच्छेदो व्याख्यास्यते । अत्र पुनर्भगवान् वासुदेवः संकर्षणेन यत्पृष्टस्तच्छृण्वित्याह—भगवानिति ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—नियमा इति ॥ २ ॥

एवं पृष्टो वासुदेव आचार्यणैकैकस्मिन्[9] नियमे उपदिष्टे शिष्यो बाढं बाढमिति ब्रूयादित्याह—प्रत्येकस्मिन्निति ॥ ३ ॥

गुरोर्देवस्य तत्तद्वाहनस्य च छायोल्लङ्घनं न कार्यमित्याह—नेत्यर्धेन । आचार्यपुत्रकलत्रादिषु चाचार्यदृष्टिः कार्येत्याह—गुरुवदित्यर्धेन । गुरोः शयनासनादीनामपि नमस्कारः कार्य इत्याह—शयनेत्यर्धेन । आचार्यगृहकृत्येषु जागरूकेण भवितव्यमित्याह—अतन्द्रित इत्यर्धेन । गुरोः समक्षमासनोपरि वा तद्दक्षिणभागे वा न वर्तितव्य-

---

१. विंशः—अ० । २. 'उवाच' नास्ति—मु० अटी० । ३. 'उवाच' उ० विहाय कुत्रापि नास्ति । ४. 'उवाच' नास्ति—मु० अटी० । ५. ब्रूयाद्वै—बक० बख० अ० उ० । ६. वन्द—उ० । ७. रान्—उ० । ८. विंशतिः—म० । ९. र्येणैकस्मिन्—अ० ।

नासने तत्समक्षं च वस्तव्यं न च दक्षिणे ।
सुयन्त्रितः संयतवाक् तदाज्ञासम्प्रतीक्षकः[1] ॥ ६ ॥
तत्सन्निधौ तु नान्येषां प्रत्युत्थानं समाचरेत् ।
कुर्यात् संशयविच्छित्तिं न तदादेशतो विना ॥ ७ ॥
व्याख्यानमागमानां च योगाभ्यासश्च धारणा ।
अवश्यकार्याण्येतानि[2] स्वगृहे न गुरोर्गृहे ॥ ८ ॥
न शङ्खचक्रपद्माङ्के भोक्तव्यं भाजने तु वै ।
तल्लक्ष्म चोपलं काष्ठं लोष्टं वा फलकादिकम् ॥ ९ ॥
क्रमणीयं न पादेन कल्प्यं नैवासनार्थतः ।
भगवच्छासनज्ञानामाराधनरतात्मनाम् ॥ १० ॥
यथोचितं[3] यथाशक्ति पूजा कार्या सदैव हि ।
प्रासादं देवदेवीयमाचार्यं पाञ्चरात्रिकम्[4] ॥ ११ ॥
अश्वत्थं च वटं धेनुं सत्समूहं[5] गुरोर्गृहम् ।
दूरात् प्रदक्षिणीकुर्यान्निकटात् प्रतिमां विभोः ॥ १२ ॥

मित्याह—नेत्यर्धेन । गुरुसंनिधाववहितो मितभाषी तदाज्ञाप्रतीक्षकश्च भूयादित्याह—सुयन्त्रित इत्यर्धेन । गुरुसंनिधावन्येषां प्रत्युत्थानादिकं न कुर्यादित्याह—तदित्यर्धेन । गुर्वाज्ञां विना पृच्छकाणां संशयविच्छेदनं न कुर्यादित्याह—कुर्यादित्यर्धेन ॥ ४–७ ॥

आगमव्याख्यादीनां स्वगृह एव कर्तव्यत्वमाचार्यगृहे तन्निषेधं चाह—व्याख्यान-मिति ॥ ८ ॥

शङ्खचक्राद्यङ्कितपात्रे न भोक्तव्यमित्याह—नेत्यर्धेन । शङ्खचक्राङ्कितं शिलाकाष्ठलोष्टफलकादिकं च पादेन नाक्रमणीयम्, आसनार्थं न कल्पनीयमिति चाह—तल्लक्ष्मेति । भगवच्छास्त्राभिज्ञानां तदुक्तभगवदाराधननिष्ठानां च निरन्तरं यथाशक्त्यर्चनं कार्यमित्याह—भगवच्छासनेति ॥ ९–११ ॥

---

१. तदाज्ञां सम्प्रतीक्षते–मु० अटी० । २. एवमादिकमन्यच्च–मु० अटी० । ३. चिता–बख० उ० । ४. पञ्च–बख० अ० उ० । ५. सत्समीपं–उ० ।

दण्डवत्प्रणिपातैस्तु नमस्कुर्याच्चतुर्दिशम् ।
न यानपादुकारूढो न सोपानत्[1]कपादभृत् ॥ १३ ॥
न[2] विक्षिप्तमना भूत्वा संविशेद् भगवद्गृहम् ।
न व्याख्यावसरे कुर्यात् प्रत्युत्थानाभिवादने ॥ १४ ॥
नाभक्तानां न मूर्खाणां नास्तिकानां विशेषतः ।
दातव्यः संप्रवेशश्च नोपहासरतात्मनाम् ॥ १५ ॥
नापूजितं समुद्घाटयं शासनं पारमेश्वरम् ।
समक्षं नान्यभक्तानां न तत्सन्देहशान्तये ॥ १६ ॥
प्रकाशनीयं तल्लोभान्न चा[3]ऽन्यायेन नो भयात् ।
सुगन्धफलपुष्पा[4]द्यमपूर्वमु[5]चितं च यत् ॥ १७ ॥
अभोज्यं गुरुदेवाग्नि[6]निवेदनविवर्जितम् ।
तस्करात् पतिताच्चण्डाद् दम्भलोभम[7]दान्वितात् ॥ १८ ॥

भगवद्विमानादीनां प्रदक्षिणनमस्कारप्रकारावाह—प्रासादमिति द्वाभ्याम् । छायाक्रमणभिया दूरादित्युक्तमिति ज्ञेयम् ॥ ११–१३ ॥

भगवन्मन्दिरप्रवेशकाले पादुकामुपानहं वा पद्भ्यां न स्पृशेदन्यत्र मनोवृत्तिं च न वर्तयेदित्याह—नेति ॥ १४ ॥

आगमव्याख्यानकाले प्रत्युत्थानप्रणामनिषेधमभक्तादीनां तत्र प्रवेशनिषेधं चाह—नेति सार्धेन । नास्तिकानामित्यत्रापि नेत्यनुषङ्गः कार्यः ॥ १४–१५ ॥

अयोग्यं प्रति वाऽन्यदेवताभक्तानां समक्षं वा लोभाद् भयादन्यायाद्वा भगवच्छास्त्रं न प्रकाश्यमित्याह—नेति ॥ १६–१७ ॥

अपूर्वं योग्यं फलपुष्पादिकं वस्तु गुरुदेवाग्निसमर्पणमन्तरा न भोज्यमित्याह—सुगन्धेति ॥ १७–१८ ॥

---

१. नह्–बक० बख० । २. विनि–मु० अटी० । ३. चान्येन कुतो–मु० अटी० । ४. ष्पाढ्य–बक० बख० । ५. मपूत–अटी० । ६. विनिवेदन–बख०, विनिवेदित–अ० उ० । ७. सम–मु० अटी० बक० ।

मात्रावित्तं न गृह्णीयादभक्तादुपचारतः ।
गृहीत्वा भगवद्विम्बं वृत्त्यर्थमटतीह[1] यः ॥ १९ ॥
नगरापणवीथीषु[2] तस्य देवलकस्य च ।
दर्शनं स्पर्शनं [3]नैव कुर्यात् सम्भाषणं तथा[4] ॥ २० ॥
गायेत् तु भगवद्गाथां यो ग्रामे नगरान्तरे ।
तं प्रभुस्तावकं[5] चैव पूजयेच्चैव सर्वदा ॥ २१ ॥
विष्णुव्रतपरं चैव विष्ण्वायतनवासिनम् ।
विष्ण्वालापकथासक्तं विष्ण्वायतनमार्जकम् ॥ २२ ॥
स्तावकं वैष्णवानां च विष्णुधर्मपरायणम् ।
पर्येष्टिकृद् वैष्णवानां मान्यो वै विष्णुवत् सदा ॥ २३ ॥
प्रातरुत्थाय चिन्वीयात् स्वारामात् स्वयमेव हि ।
पूजार्थमस्त्रमन्त्रेण पुष्पादीन् प्रयतः सदा ॥ २४ ॥

तस्करादिभ्यो मात्राद्[6]द्रव्यप्रतिग्रहनिषेधमाह—तस्करादिति । तथा च स्म[7]रति शाण्डिल्यः—

कुलटाषण्ढपतितस्वैरिभ्यः काकिणीमपि ।
उद्यतामपि गृह्णीयान्नापद्यपि कदाचन ॥ (६।१८) इति ॥ १८–१९ ॥

स्वगृहे समाराध्यं भगवद्बिम्बमादाय द्रव्यार्जनार्थं नगरादिषु संचरमाणस्य देवलकस्य दर्शनादिकमपि न कार्यमित्याह—गृहीत्वेति सार्धेन । नन्वेतन्मन्दिरस्थभगवद्बिम्बविषयमपि स्यादिति चेन्न, तस्य राजाधीनतया बहिर्द्रव्यार्जनार्थमानेतुमशक्यत्वात्, तत्र तादृशशङ्काया एवानवकाशात् ॥ १९–२० ॥

श्रीमद्वकुण्ठाभरणादिविरचितदिव्यप्रबन्धगाथागायकानां निरन्तरपूज्यत्वमाह—गायेदिति ॥ २१ ॥

भगवत्कैङ्कर्यपराणां विष्णुवत् पूज्यत्वमाह—विष्ण्विति द्वाभ्याम् । वैष्णवानां पर्येष्टिकृद् वैष्णवधर्मान्वेषणपरः, पूजनार्थं भागवतान्वेषणपर इति वाऽर्थः । "पर्येषणा परीष्टिश्चान्वेषणा च गवेषणा" (२।७।३२) इत्यमरः । गायेदिति वचनं शठकोपाद्यर्चनपरम्, विष्णुव्रतपरमित्यादिकं शाण्डिल्याद्यर्चनपरमित्यपि सरसम् ॥२२–२३॥

---

१. तीति–बक० बख० उ० । २. वीथीनां–बक० बख० अ० उ० । ३. चैव–मु० अटी० बक० अ० । ४. नहि–मु० अटी० । ५. श्रावकं–मु० अटी० बक० बख० । ६. दिव्य–अ० । ७. स्मरन्ति शाण्डिल्याः–म० ।

यायादरण्यमथवा निर्बाधं हि तदार्जने[1] ।
अकण्टकद्रुमोत्थाश्च कण्टकद्रुमजा अपि ॥ २५ ॥
हृद्याः सुगन्धाः कर्मण्या ग्राह्याः सर्वे सितादयः ।
उग्रगन्धा ह्यकर्मण्यास्त्वप्रसिद्धास्तथैव च ॥ २६ ॥
चतुष्पथशिवावासश्मशानावनिमध्यगाः ।
क्षता अशनिपाताद्यैः क्रिमिकीटसमावृताः ॥ २७ ॥

भगवदाराधनार्थं पुष्पादीनामाहरणप्रकारमाह—प्रातरिति सार्धेन । "अत्र वैशेषिकार्चनादिषु कदाचित् प्रातःशब्दस्य मुख्यार्थता, अन्यथाऽभिगमनविधिना प्रातःकालोपरोधात्, अन्येषु च सर्वेषु शास्त्रेषु द्वितीयकाल एव द्रव्यार्जनविधानात् । प्रातःशब्देन सन्निकर्षवशात् त्वरातिशयसिद्धयर्थं तदुचितकालो लक्ष्यते, "सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं विधिचोदितम्" इतिवत् । अत एवात्रत्यमुत्थानं च न स्वा[2]पानन्तरभावि, अपि तु—"ततः पुष्पकुशा[3]दीनामुत्थायार्जनमाचरेत्" (२२।६९) इति जयाख्यसंहितोक्तमभिगमनानन्तरं देवसन्निधेरुत्थानम्" (पृ० १२९) इति श्रीपञ्चरात्ररक्षायां व्याख्यातम् । एवं व्याख्यानं गृहार्चनप्रकरणे समञ्जसं भवति । मन्दिरे तु प्राभातिकार्चनादीनां कर्तव्यत्वात् तत्र प्रत्यहं प्रातःशब्दस्य मुख्यार्थतैव संभवतीति बोध्यम् ।

ननु प्रातरुत्थाय चिन्वीयादित्यादिनियमः स्वगृहार्चनपर एव, मन्दिरार्चने तु पुष्पाद्याहरणं परिचारकैः क्रियत इति चेन्न, यत उभयत्रापि स्वार्जितं मुख्यम्, अन्यार्जितं गौणमिति सिद्धम् । ननु तर्हि स्वयमेवोपादानप्रवृत्तः कथं मन्दिरे प्राभातिकाद्यर्चनादि निर्वहेदिति चेत्, शक्तः सर्वं निर्वहत्येव । अशक्तस्य गौणानुष्ठानम् । अन्यथा मन्दिरार्चनपरस्याभिगमनादिपाञ्चकालिकानुष्ठानं कथं सिद्धयेत् । अत एव हि पारमेश्वरादिषु[4] द्वादशकालार्चनप्रवृत्तस्यापि पाञ्चकालिकधर्मानुष्ठापनावकाशः प्रदर्शितः । परिचारकाश्चेदपि प्रातःकालं विना पुष्पाद्याहरणं पुनः कदा कुर्युः । गृहार्चनार्थमिव तैः संभवकाले संगृहीतं पुष्पादिकं कथं प्राभातिकार्चने उपयुज्यते ॥२४–२५॥

अथ पुष्पफलपत्राङ्कुराणां मधुपर्कधूपदीपद्रव्याणां हविःपाकोपयुक्तद्रव्याणां च

---

१. र्जनैः–बक० बख० । २. स्वप्नान्तर–अ० । ३. फला–मु० । ४. पारमेश्वरे नवमाध्याये ।

वर्जनीयाः प्रयत्नेन पत्रपुष्पफलादयः ।
अम्बुजानि सुगन्धीनि सितरक्ता[1]दिकानि च ॥२८ ॥
योक्तव्यानि पवित्राणि नित्यमारा[2]धने तु वै ।
साङ्कुराणि च पत्राणि भूगतान्येवमेव हि ॥ २९ ॥
विहितान्यर्चने नित्यं यथर्तुप्रभवाणि च ।
न गृहे करवीरोत्थैः कुसुमैरर्चनं हितम् ॥ ३० ॥
विशेषतः सकामस्य सिद्धिभूतयुतस्य च ।
अतोऽन्यथा न दोषोऽस्ति दोष उन्मत्तकादिभिः ॥ ३१ ॥
सद्योहृतानां विहितस्त्वम्लानानां यथा[3] क्रयः ।
प्रदानमम्बुसिक्तानां तेषां कार्यं न चान्यथा ॥ ३२ ॥
निर्दोषतां प्रयान्त्याशु मन्त्रिणामवलोकनात् ।
भवन्ति भक्तिपूतानि हृन्मन्त्रनिरतात्मनाम् ॥ ३३ ॥
न कांस्यपात्रे भोक्तव्यं न तत्र विनिवेदयेत् ।
देवाय मधुपर्काद्यं तथा वै सति सम्भवे ॥ ३४ ॥
मृण्मयायसपात्रेषु[4] न धूपमपि निर्दहेत् ।
धूपार्थं गुग्गुलुः साज्यो देयश्चा[5]भावतोऽपरः ॥ ३५ ॥
सह घण्टारवेणैव दीपार्थं परिवर्जयेत् ।
मेदो मज्जाऽतसीतैलं घृतं तैलविमिश्रितम् ॥ ३६ ॥
[6]नाविकं मधुपर्कार्थे दधिक्षीरादिकं शुभम् ।
कौलत्थः[7] कौद्रवः कृष्णशाल्युत्थो नौदनो हितः ॥ ३७ ॥
नापक्वान्नं न मांसश्च नारनालविभावितम् ।
न चाराधनकाले तु समुत्तिष्ठेत् त्वरान्वितः ॥ ३८ ॥

ग्राह्याग्राह्यत्वनियममाह—अकण्टकद्रुमोत्थाश्चेत्यारभ्य नारनालविभावितमित्यन्तम् । एवं पुष्पादीनां हविःपाकद्रव्याणां च वर्ज्याविर्ज्यविभागः संहितान्तरेषु श्रीपञ्चरात्ररक्षायां (पृ० १२७–१३४) च विस्तरेण विचारितो द्रष्टव्यः ॥ २५–३८ ॥

१. क्तानि कानिचित्–मु० अटी० बक० । २. धकेन तु–मु० टी० । ३. यदा–मु० । ४. पात्राणां–बख० अ० उ० । ५. श्च सुरभिः परः–मु० अटी० । ६. नाधिकं–अ० उ० । ७. कौलुत्थः कौलयः कार्ष्ण–मु० अटी० ।

आ समाप्तिक्रियां[1] चैव उपरोधेन केनचिद् ।
आधाराद् भगवद्बिम्बाद् भद्रपीठान्मल[2]च्युतिः ॥ ३९ ॥
न कार्या कण्टकैर्लोहैर्मृदुकूर्चादिना विना ।
न स्नायान्न स्वपेन्नग्नो न मौनं चाचरेद् गुरोः ॥ ४० ॥
नोच्छिष्टं संस्पृशेत् किञ्चिन्नाश्नीयाद् भगवद्गृहे ।
सन्निकर्षे न चाग्नेस्तु न गृहे मद्यसंकरे ॥ ४१ ॥
भक्तानां कृतदीक्षाणां व्यङ्ग्य[3]ः शास्त्रार्थ एव हि ।
[4]अन्येषां धर्मशास्त्रं च लोभनिर्मुक्तया धिया ॥ ४२ ॥
शिष्याणां विष्णुभक्तानां नित्यं कुर्याच्च संग्रहम् ।
मानमात्सर्यकार्पण्यलोभमोहादयोऽगुणाः ॥ ४३ ॥
नेत[5]व्यास्तानवं सर्वे यावज्जीवावधिं[6] क्रमात् ।
अकस्मादुपसन्नानां देशान्तरनिवासिनाम् ॥ ४४ ॥

आराधनकाले केनचित् कारणेन त्वरया नोत्थातव्यमित्याह—नेति ॥३८–३९॥

बिम्बादिशोधनं शिखिपक्षादिमृदुकूर्चैर्विना कण्टकादिभिर्न कार्यमित्याह—आधारादिति ॥ ३९–४० ॥

स्नानकाले स्वापकाले च विवस्त्रो न भवेत्, गुरुषु मौनं न कुर्यात्, उच्छिष्टं न स्पृशेत्, भगवन्मन्दिरादिषु न भुञ्जीतेति चाह—नेति सार्धेन । अत्र भोजननिषेधमात्रतात्पर्येण निकृष्टोत्कृष्टानां सह पाठः कृत इति बोध्यम् । यथा "श्वयुवमघोनाम्" (६।४।१३३) इति सहपठिताः पाणिनिना ॥ ४०–४१ ॥

कृतदीक्षाणामेव भगवच्छास्त्रो वाच्यः, तदन्येषां तु केवलधर्मशास्त्रमेव वाच्यमिति, द्रव्यसंग्रहणबुद्धिं विना केवलमुपकारार्थं वैष्णवानां शिष्याणां संग्रहणं कुर्यादिति[7] चाह—भक्तानामिति सार्धेन ॥ ४२–४३ ॥

स्वनिष्ठाः शिष्यनिष्ठाश्च मानादिदुर्गुणाः कार्श्यं नेतव्या इत्याह—मानेति । तानवं तनुत्वम्, कार्श्यमित्यर्थः ॥ ४३–४४ ॥

---

१. क्रियं–अ० उ० । २. ज्जलच्युतिः–मु० अटी० बक० । ३. व्यङ्ग्यं शास्त्रार्थमेव च–मु० अटी० । ४. न कुर्यात् तैर्जिगीषुः सन्–मु० अटी० । ५. वर्जनीयाः प्रयत्नेन–मु० अटी० । ६. वधि–बक० बख० अ० । ७. दित्याह–अ० ।

इष्टोपदेशः कर्तव्यो नारायणरतात्मनाम् ।
यो न वेत्त्याच्युतं तत्त्वं पञ्च[1]रात्रार्थमेव च ॥ ४५ ॥
तथा सद्वैष्णवीं दीक्षां नानाशास्त्रोक्तलक्षणाम् ।
न तेन सह सम्बन्धः कार्यो भिन्नक्रमेण तु ॥ ४६ ॥
न शास्त्रार्थस्य शास्त्राणां बुद्धिपूर्व उपप्लवः ।
आचर्तव्य इहाज्ञा[2]नात् पारम्पर्यक्रमं विना ॥ ४७ ॥
प्रष्टव्यो भगवद्भक्त आप्तो लक्षणकोविदः ।
प्रसिद्ध आर्जवे वृद्धो नष्टं शास्त्रार्थलक्षणम् ॥ ४८ ॥
मुद्रामण्डलमन्त्राणां निस्सन्देहपरेण च ।
भवितव्यं गुरूणां च सकासात् सर्वदैव हि ॥ ४९ ॥
न च सर्वज्ञमन्त्राणां विना भावांशकेन तु ।
आनुकूल्यं गवेष्टव्यं मुक्त्वा मण्डलदर्शनम्[3] ॥ ५० ॥
नाभिचक्रे तु हृत्पद्मे कन्दमूले ग[4]लावटे ।
भ्रूमध्ये ब्रह्मरन्ध्रे च स्थानेष्वेतेषु मन्त्रराट् ॥ ५१ ॥

देशान्तरादागतानां वैष्णवानामिष्टोपदेशः कार्य इत्याह—अकस्मादिति ॥ ४४–४५ ॥

अवैष्णवेन सह संबन्धो न कार्य इत्याह—य इति सार्धेन ॥ ४५–४६ ॥

शास्त्रशास्त्रार्थयोः साङ्कर्यं न कार्यमित्याह—नेति । एतद्वचनतात्पर्यमेवमुक्तं श्रीपञ्चरात्ररक्षायाम्—"अस्खलितपारम्पर्यप्रत्यभिज्ञानेषु स्थानेषु परिदृश्यमान-प्रमाणमूलान्याचारपरम्परागृहीतानि च कर्माणि न मात्रयापि परिहा[5]प्यानि, न च तद्विरुद्धान्युपादेयानीत्युक्तं भवति" (पृ० ५) इति ॥ ४७ ॥

चिरकालराष्ट्रक्षोभादिना प्रस्खलितपारम्पर्यप्रत्यभिज्ञानेषु स्थानेषु वृद्धमुखात् तज्ज्ञातव्यमित्याह—प्रष्टव्य इति ॥ ४८ ॥

मुद्रामण्डलमन्त्राश्च गुरोः सकाशान्निःसन्देहं ज्ञातव्या इत्याह—मुद्रेति ॥ ४९ ॥

भगवन्मन्त्राणां सिद्धारिवीक्षणादिनाऽऽनुकूल्यान्वेषणं न कार्यमित्याह—न चेति ॥ ५० ॥

स्वशरीरे मन्त्रनाथस्मरणस्थानानि तत्कालांश्चाह—नाभीति सार्धेन ॥५१–५२॥

---

१. पाञ्च–बक० । २. इहाऽज्ञत्वात्–बक० बख०, इहाऽज्ञात्वा–अ० उ० । ३. नात्–बक० बख० । ४. कुला–अ० उ० । ५. हाप्य च तद्विरुद्धानीत्युक्तं भवतीति–अ० म० ।

स्मर्तव्यः सूर्यसंकाशः प्रवासे शयनेऽध्वनि ।
मृगसूकरमांसानि[1] नाद्यान्मीनोत्थितानि च ॥ ५२ ॥
न हंसकच्छपीयानि न शृङ्गाटपलानि च ।
न तथा पद्मबीजानि न वटाग्रं समारुहेत् ॥ ५३ ॥
छेद्यमानं न तत्पश्येत् तद्दलं नाङ्घ्रिणा स्पृशेत् ।
पुण्यक्षेत्रं महातीर्थं[2] सिद्धाश्रममनुत्तमम् ॥ ५४ ॥
वैष्णवीं पर्षदं वापि व्यक्तिस्थानं तथाच्युतम् ।
आसाद्य मण्डलं कृत्वा चक्रं वा द्वादशारकम् ॥ ५५ ॥
निर्वाहणीयं विधिवत् चातुर्मास्यं महामते ।
गृहे संयमपूर्वं वा चक्रं कृत्वा तु कुड्यगम् ॥ ५६ ॥
चतुर्विधेन रजसा प्रतिमाया अथाग्रतः ।
संयुक्तानपि पूर्वोक्तैरेतांश्च समयान्[3] सदा ॥ ५७ ॥
निर्वाहकाणां भक्तानां प्रयच्छेत् सततं गुरुः ।
ज्ञात्वा निर्वाहकं भक्तं तस्यादौ देशिकेन तु ॥ ५८ ॥

सिंहसूकरादिरूपैर्भगवतोऽवतीर्णत्वात् तत्तन्मांसानि[4] न भक्षयेत् । तथा चतुष्पथविक्रीतमांसानि च न भक्षयेदिति चाह—मृगेति । मृगसूकरादिषु भगवद्बुद्धिरेव कार्येति भावः । उक्तं खलु नृसिंहकल्पे समयोपदेशप्रकरणे—

दूरादेव नमस्कार्यो मृगराड् व्याघ्र एव वा ।
तदाकृतिर्मृगो वान्यो तच्चर्मापि च[5] नारुहेत् ॥ (१७।१२९) इति ।

एवं मांसनिषेधश्च कृतयुगविषयः, कलौ सामान्यतो निषेधात् ॥ ५२–५३ ॥

एवं पद्मस्य भगवदाश्रितत्वात् तद्बीजानामभक्ष्यत्वम्, भगवतो वटपत्रशायित्वात् तदारोहणादिनिषेधं चाह—न तथेति ॥ ५३–५४ ॥

चातुर्मास्यव्रतानुष्ठानस्थानान्याह—पुण्यक्षेत्रमिति त्रिभिः ॥५४–५७॥

एतान् समयान् निर्वाहकाणां शिष्याणामुपदिशेदित्याह—संयुक्तानिति । पूर्वोक्तैः श्रीनृसिंहकल्पोक्तैः[6] समयैरित्यर्थः ॥ ५७–५८ ॥

---

१. क्रमं–मु० अटी० । २. नथ–अ० । ३. समयांस्तदा–अ० । ४. तन्मांसानि–अ० । ५. न चाह–म० । ६. सप्तदशे परिच्छेदे १२४–१३९ श्लोकेषूक्तैः ।

समुद्दिश्या[1]स्तु ते सर्वे निर्वहत्यथ येषु वै ।
तेषु तेषु नियोक्तव्यो यथा न च्यवते पुनः ॥ ५९ ॥
धा[2]वन्ति समयघ्नस्य सविघ्नास्तु विनायकाः ।
विमुखाः सिद्धयो यान्ति ह्यापदो हि भवन्ति च ॥ ६० ॥
ज्ञात्वैवं सावधानेन निर्वर्त्त[3]व्यं हि तान् प्रति ।
सारमादाय वै बुद्ध्या निर्मथ्य नियमोदधिम् ॥ ६१ ॥
कृपया गुरुणा देयं[4] समयानां तु पञ्चकम् ।
भक्तिरग्नौ गुरौ मन्त्रे शास्त्रे तदधिकारिणि ॥ ६२ ॥
नियतं पञ्चकं[5]स्यास्य यथावत् परिपालनात् ।
अनुष्ठानात् तु नान्येषां स्वातन्त्र्येण यथेच्छया ॥ ६३ ॥
भ[6]व्यानां मनसोऽभीष्टाः प्रवर्तन्ते हि सिद्धयः ।
येऽनिर्मलेन मनसा उपरोधात् तु कुर्वते ॥ ६४ ॥

पूर्वं शिष्यस्य निर्वाहकतां ज्ञात्वा तस्य समया उपदेष्टव्याः । ततस्तस्य येषु येषु निर्वाहः संभवति, स तेषु तेषु समयेषु पुनर्यथा समयच्युतो न भवेत्, तथा नियोजनीय इत्याह—ज्ञात्वेति सार्धेन ॥ ५८–५९ ॥

समयभ्रष्टस्यानिष्टपरम्परा संभवति, अतः सावधानं समयाः पालनीया इत्याह—धावन्तीति सार्धेन । विनायका दुष्टग्रहविशेषा इत्यर्थः । "भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः" (१०।६।२७) इति श्रीभागवते । समयघ्नस्य धावन्ति समयघ्नं प्रति धावन्तीत्यर्थः ।।६०–६१ ॥

एतेषु समयेषु सारभूतमग्निभक्तिगुरुभक्त्यादिपञ्चकं विशेषेणोपदेष्टव्यमित्याह—सारमिति सार्धेन ॥ ६१–६२ ॥

एतत्समयपञ्चकस्य परिपालनादन्येषां समयानामननुष्ठानेऽपि मनोऽभीष्टसिद्धिमान् भवतीत्याह—नियतमिति सार्धेन । अथवा गुर्वादिचोदनां विनाऽन्येषां कर्मणां स्वच्छन्दं[7]स्वातन्त्र्येणानुष्ठानाभावाच्चेत्यर्थः । यद्वा (आनन्दः ?) क्रियापदेनान्वये परिपालनं[8]ादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी ॥ ६३–६४ ॥

एवं समयपरिपालनं कुर्वतामपि मनःकालुष्ये सति नैष्फल्यं तदभावे साफल्यं चाह—य इति द्वाभ्याम् । अनिर्मलेनेति पदच्छेदः ॥ ६४–६५ ॥

१. श्याश्च मन्त्रार्हा–उ० । २. यावन्ति–अटी० बक० बख० अ० । ३. भवितव्यं–उ० । ४. देयमशठानां–मु० बक० बख० अ० उ० । ५. कं चास्य–मु० अटी० बक० बख० । ६. हव्यानां–अ० । ७. स्वच्छन्दं–अ० । ८. नमिति–अ० ।

पालनं समयानां च ते मज्जन्त्यसितेऽध्वनि ।
सुप्रसन्नेन मनसा यथैतत् परिपाल्यते ॥
तथा प्रसादमभ्येति स्व आत्मा तु [1]हितैषिणाम् ॥ ६५ ॥
नूनं कालुष्यमुक्तानां स्थितानामिह सत्पथे ।
[2]समयिसाधकाचार्यपुत्रकाणां भवेच्छुभम् ॥ ६६ ॥

इति श्री[3]पाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां समयविधिर्नाम[4]
[5]एकविंशः परिच्छेदः ॥

■

अतश्चतुर्विधशिष्याणामपि मनःकालुष्यरहितानामेव शुभं भवेदित्याह—नूनमिति ॥ ६६ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये एकविंशः [6]परिच्छेदः ॥

●

१. हि कर्मिणाम्–उ० । २. समये–मु० बक० बख० अ० उ० । ३. पञ्च–उ० । ४. 'नाम' नास्ति–बक० बख० उ० । ५. एकविंशतितमः–उ०, विंशतितमः–अ० । ६. विंशतिः–म० ।

[1] द्वाविंशः परिच्छेदः

सङ्कर्षण उवाच[2]

लक्षणं ज्ञातुमिच्छामि चतुर्णां[3] देव साम्प्रतम् ।
विज्ञातव्यास्तु कैर्लिङ्गैर्भेदस्तेषां तु किं कृतः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच[4]

यः श्रीमान् श्रद्दधानस्तु मतिमान् सुदृढव्रतः ।
सत्यवाग् भगवद्भक्तो मिताशी सङ्गवर्जितः ॥ २ ॥
गुर्वाराधननिष्ठस्तु स्थिरबुद्धिरतन्द्रितः ।
सद्वैष्णवकुले जातः सुसंस्कारैः सुसंस्कृतः ॥ ३ ॥
पुरा मातापितृभ्यां तु नीतः सद्योग्यतापदम्[5] ।
विमुक्तसङ्करो दान्तः परत्र भयशङ्कितः ॥ ४ ॥
साधुसङ्गसमाकाङ्क्षी[6] शास्त्रार्थास्वादलम्पटः ।
तत्सश्रयव्यसनवान् धार्मिकाणां पथि स्थितः ॥ ५ ॥
शुभकर्मरतो नित्यमदीनः सत्त्ववान्[7] क्षमी ।
धीरो दयापरश्चैव साधूनामुपकारकृत् ॥ ६ ॥
निर्मलाम्बरधारी च विमलाङ्गः सदैव हि ।
प्रियभाषी प्रसन्नास्यः परद्रव्येष्वलोलुपः ॥ ७ ॥
परदारस्पृहामुक्तः सद्विवेकपदाश्रितः ।
क्षत्रविट्शूद्रजातीयो मद्यमांसेष्वलम्पटः ॥ ८ ॥

अथ द्वाविंशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते। इह पूर्वं परिच्छेदान्ते सूचितानां सामयिकादीनां चतुर्णां लक्षणं पृच्छति संकर्षणः—लक्षणमिति ॥ १ ॥

एवं पृष्टो वासुदेवः पूर्वं समयिलक्षणमाह—यः श्रीमानित्यारभ्य शिष्यो

---

१. एकविंशतिमः–अ० । २. 'उवाच' नास्ति–मु० अटी० । ३. वर्णानां–उ० । ४. 'उवाच' नास्ति–मु० अटी० । ५. परम्–बक० बख० । ६. मसाकाङ्क्षी–मु० अटी० । ७. सत्य–बक० बख० अ० ।

शौचस्वाध्यायनिरतः सन्तुष्टः सततोद्यत[1]ः ।
उ[2]च्छिष्टवर्जनपरश्चक्रतप्ततनुः सदा ॥ ९ ॥
मा[3]नमात्सर्यकार्पण्यपरित्यागपरो महान् ।
दैवे पित्र्ये सदोद्युक्तो दम्भाचारविवर्जितः ॥ १० ॥
निःशेषाणामकर्मण्यद्रव्याणां परिहारकृत् ।
मातुर्जनकनिष्ठानां सद्बन्धूनां च वत्सलः ॥ ११ ॥
उक्तनिर्वाहकश्चा[4]भीर्नित्यं नीचासनप्रियः ।
सर्वेषामूर्ध्वतो नित्यं स्थितिकामपरायणः ॥ १२ ॥
वंशोद्धारैकरतया[5] सुधियाऽलङ्कृतः सदा ।
गुरुप्रसादादन्यत्र स्वगृहे वा गुरोर्गृहे ॥ १३ ॥
लब्धदर्शनमात्रो वै मन्त्रमूर्तेस्तु मण्डले ।
गुरुदृग्वीक्षणेनैव प्रोक्षणेनेव[6] संस्कृतः ॥ १४ ॥
बुद्ध्यते तावता चैव कृतार्थोऽस्मीति साम्प्रतम् ।
ततः प्रभृतिकालाच्च सु[7]प्रसन्नाच्च देशिकात् ॥ १५ ॥
पाठपूर्वं[8] हि शास्त्रार्थमभ्यर्थयति योऽनिशम् ।
श्रुत्वा विचारयत्यर्थानेकान्ते विजने स्थितः ॥ १६ ॥
नाभिमानपदं याति सुसम्पूर्णोऽपि चोदितः ।
शिक्षयत्यथ नान्येषां [9]लुब्धः स्वार्थस्य सिद्धये ॥ १७ ॥
नोद्ग्रायहति शास्त्रार्थमभ्यर्थयति[10] योऽनिशम् ।
न विक्रियामवाप्नोति ह्याक्षिप्तोऽप्यथ संसदि[11] ॥ १८ ॥

जात्या चतुर्विध इत्यन्तम्। एवं च यथोक्तलक्षणविशिष्टो दीक्षोक्तरीत्या नेत्रबन्ध-

---

१. त्थितः—अ० । २. उत्कृष्टमध्यमन्यूनतपः—बक० बख० अ० उ० । ३. मनोवाग्-दृष्ट—बक० बख० अ० उ० । ४. स्त्यागी—उ० । ५. द्धारणभूतायाः—बक०, द्धरण—उ०, भूताय—अ० । ६. नैव—अ० उ० । ७. सुप्रश्नाच्च सु—बख०, सुप्रसन्नांश्च देशिकान्—अ० । ८. र्णे तु—बख० । ९. यल्लुब्धं स्वार्थ—बख०, यल्लब्धं स्वार्थ—अ०, यल्लब्धं स्वात्म—उ० । १०. 'भ्यर्थयति योऽनिशम् । न विक्रियामवाप्नोति ह्या' नास्ति—अ० उ० । ११. शंसति—उ० ।

न [1]मन्यते तदा सम्यग् विजेष्यामीति वादिनः ।
कुण्डमण्डलमुद्रास्त्रपीठबिम्बालयेषु च ॥ १९ ॥
समन्त्रेषु च बुद्धिस्थं नित्यं कुर्याच्च [2]संग्रहम् ।
अयनादिषु कालेषु प्रत्यहं त्वस्य सम्भवात् ॥ २० ॥
देवमर्चापयेत् कुर्यात् स्वयं वा मान्त्रमर्चनम् ।
गुर्वादिष्टो गुरूणां च कुर्यात् पादाभिवन्दनम् ॥ २१ ॥
कार्या तेषां न जिज्ञासा यया यान्त्यप्रसन्नताम् ।
प्रसाद्य विधिवत् पृच्छेदबुद्धमथ विस्मृतम् ॥ २२ ॥
विज्ञात[3]मथवा ज्ञातमाचार्यैः परिचोदितः ।
[4]क्लृप्तां तेषां स्वकां मुद्रां गुप्तां कृत्वा [5]प्रकाशयेत् ॥ २३ ॥
संस्कृतश्रुतपाठाभ्यां स्वगुरुं प्रार्थयेत् ततः ।
भगवद्यागपूर्वं तु पुत्रकाख्यं परं पदम् ॥ २४ ॥
असन्निधानात् स्वगुरोः प्रार्थयेत् [6]तत्प्रतिष्ठितम् ।
तदभावात् तु वै चान्यं क्रमात् सद्वैष्णवो हि यः ॥ २५॥
नान्यदर्शनसंस्थं तु गुरोर्यस्मादवैष्णवात् ।
कर्मतन्त्रं समन्त्रं च द्रव्य[7]सामान्यजं फलम् ॥ २६ ॥
नूनं वैफल्यमायाति तस्मात् तं परिवर्जयेत् ।
द्रव्यमन्त्रक्रियाभावभेदात् फलमनश्वरम् ॥ २७ ॥
जायते कर्मिणां शश्वदभेदाद् वै [8]ह्येकर्मिणाम् ।
[9]सर्वत्र समबुद्धीनामात्मन्यभिरतात्मनाम् ॥ २८ ॥
लोकाचारवियुक्तानां यज्ञविग्रहिणां तु वै ।
ज्ञात्वैवं सह वै यस्य सम्बन्धः सफलो भवेत् ॥ २९ ॥

विमोचनपूर्वकं लब्धमण्डलदर्शनमात्रः शास्त्रार्थग्रहणशीलोऽयनादिविशेषेष्वेव भगव-

---

१. मन्येत कदा—बख० अ० उ० । २. ग्रहे—बख० । ३. मपि च—बख० । ४. कृत्वा—बख०, कस्त्वं—अ०, अस्त्वं—उ० । ५. प्रशान्त—अ०, प्रशात—उ० । ६. स प्रति—उ० । ७. संघातजं—मु० अटी० । ८. द्वैश्य—मु० अटी० बक० बख० । ९. सर्वतः—उ० ।

सर्वदा स उपास्तव्य इहामुष्मिकसिद्धये ।
लिङ्गैरेतैः परिज्ञेयः सहजोत्थैरकृत्रिमैः ॥ ३० ॥
आचार्यैः समयी नाम शिष्यो जात्या चतुर्विधः ।
एवं पुत्रकपूर्वा ये परिज्ञेयास्तु ते त्रयः ॥ ३१ ॥
किन्तु तस्य[1] विशेषो यस्तमिदानीं निबोधतु ।
विज्ञाता गुरुणा यस्य विनियोगात् कृतार्थता ॥ ३२ ॥
स्वल्पमध्योत्तमाद्येन शिक्षितेनागमेन च ।
तस्यानुग्रहबुद्ध्या तु आ[2]हूतस्याच्युतालये ॥ ३३ ॥
कृत्वा निरीक्षणाद्यं च देवधाम्नि [3]तु क्षेपयेत् ।
तुष्टो मन्त्रमयं सम्यक् सार्घ्य[4]पुष्पाक्षताञ्जलिः ॥ ३४ ॥
ततः प्रभृति कालाच्च ध्यानं न्यासादिकं विना ।
पूजनं मन्त्रमात्रेण वह्नितर्पणवर्जितम् ॥ ३५ ॥
योग्यतापदसिद्ध्यर्थं दत्तं बिम्बेऽप्सु वा स्थले ।
सामान्यविधिना चोक्तो गुरुणा चा[5]र्चयाच्युतम् ॥ ३६ ॥
स तथेति तदुक्तं च[6] मत्वा[7]ऽऽस्ते मुदितः सदा ।
आलोचयंस्तु शास्त्रार्थं[8] स्वमुद्रामुद्रितं[9] तु वै ॥ ३७ ॥
शक्त्या निरीक्षमाणं च योगक्षेमादिकं गुरोः ।
तदाराधननिष्ठस्तु तच्चित्तस्तत्परायणः ॥ ३८ ॥

दर्शनपरो यः स समयीति ज्ञेयः ॥ २-३१ ॥

पूर्वोक्तानि समयिलक्षणानि पुत्रकादिषु त्रिष्वपि समानानि । तद्विशेषांस्तूपरि वक्ष्यामीत्याह—एवमिति ॥ ३२ ॥

पुत्रकस्य विशेषलक्षणान्याह—विज्ञाता गुरुणा यस्येत्यारभ्य स्वपुत्रादधिकः सदेत्यन्तम् । एवं च सम्यग् गृहीतशास्त्रार्थः पुत्रपदार्होऽयमिति गुरुणा ज्ञातः । मण्डलोपरि प्रक्षेपितपुष्पाञ्जलिकस्तदा प्रभृत्यत्राच्युतमर्चयेति गुरुणानुज्ञातो बिम्बे मण्डलेऽप्सु

---

१. यस्य–अ० उ० । २. आभू–मु० अटी० । ३. वदेत् स्वयम्–मु० अटी० । ४. हिता–बख० अ० उ० । ५. त्रार्चना–अ०, त्रार्चया–उ० । ६. 'च मत्वाऽऽस्ते·· क्षेमादिकं' नास्ति–उ० । ७. मत्त–मु० अटी० । ८. तस्तदा–अ० । ९. तस्तु–अ० ।

समाक्षिप्तस्तदादेशान्मन्त्रमुद्राद्वयं विना ।
कीर्त्यर्थं स्वगुरोर्ब्रूयात् ज्ञातं शास्त्रार्थमुत्तमम् ।। ३९ ।।
विचार्य स्वधिया सम्यग् वैष्णवानां हि संसदि ।
यथा नैति[1] जनानां च मध्ये मात्सर्यभूमिताम् ।। ४० ।।
स शिष्यः पुत्रको नाम स्वपुत्रादधिकः सदा ।
साधकाख्ये विशेषो यस्तमिदानीं निबोध[2] मे ।। ४१ ।।
पूर्ववल्लब्धदीक्षस्तु मन्त्राराधनतत्परः ।
स्नानादिनाऽखिलेनैव देवभूतेन कर्मणा ।। ४२ ।।
सिद्धये स्वात्मनश्चैव न[3] लोकाराधनाय च ।
वने वायतनोद्देशे स्वगृहे वा मनोरमे ।। ४३ ।।
मन्त्रसेवार्घ्यदानं च कुर्यान्मन्त्रव्रतं महत् ।
परमः पालनीयश्च तेनैषं[4] समयः सदा ।। ४४ ।।
यदतीव च संलब्धं यच्छक्त्यानन्दमात्मनि[5] ।
तदाश्चर्यं न वक्तव्यं पूजापूर्वं गुरोर्विना ।। ४५ ।।
आत्मीयमुद्रासंयुक्तो नित्योद्युक्तः स्वकर्मणि ।
श्रद्धया यः स बोद्धव्यः साधको भगवन्मयः ।। ४६ ।।
लिङ्गैः पूर्वोदितैर्युक्तस्त्वभियुक्तो[6] विशेषतः ।
अनुग्रहार्थं गुरुणा भक्तानां विनियोजितः ।। ४७ ।।
पदानि पदमन्त्राणां सार्थकानि च वेत्ति यः ।
वाच्यवाचकभावेन साङ्गानङ्ग[7]वशेन वा[8] ।। ४८ ।।

वा प्रत्यहं ध्यानन्यासवह्नितर्पणानि विना मन्त्रमात्रार्चनपरः शास्त्रार्थपर्यालोचनादिशीलो यः स पुत्रक इति ज्ञेयः ।। ३२–४१ ।।

अथ साधकलक्षणमाह—साधकाख्ये विशेषो य इत्यारभ्य साधको भगवन्मय इत्यन्तम् । एवं च यावन्तं पूर्वोक्तदीक्षया संस्कृत आयतने वने भवने वा यथाविधि ध्यानन्यासादिभिः सह मन्त्रार्चनं कुर्वन् जपादिभिस्तत्साधनपरो यः स साधक इति बोध्यः ।।४१–४६।।

१. यथाभ्येति–उ० । २. धतु–अ० । ३. लोकानां साधनाय–मु० अटी० । ४. तेनैव–मु० अटी० । ५. त्मनः–अ० । ६. षिक्तो–अ० उ० । ७. साङ्गनाङ्ग–मु० अटी० । ८. च–उ० ।

करविग्रहकह्लारचक्रन्यासार्थ[1]मेव च ।
समेन विषमेणैव संकुच्चित्रादिकेन च ॥ ४९ ॥
तेषामर्थ[2]वशाच्चैव विनियोगं हि वस्तुषु ।
ध्यानदैवतविज्ञानाद् व्यापकत्वं तु चाध्वनि ॥ ५० ॥
निर्लिङ्गं देवतानां च शब्दब्रह्मत्वमेव हि ।
यथावदनुजानाति स्ववर्णैः प्रागुदीरितम् ॥ ५१ ॥
साङ्कर्यमागमानां च वेत्ति वाक्यवशात् तु यः ।
तत्र वै त्रिविधं वाक्यं दिव्यं च मुनिभाषितम् ॥ ५२ ॥
पौरुषं चा[3]रविन्दाक्ष तद्भेदमवधारय ।
यदर्थाढ्यमसन्दिग्धं स्वच्छमल्पाक्षरं स्थि[4]रम् ॥ ५३ ॥
तत्पारमेश्वरं वाक्यमाज्ञासिद्धं च[5] मोक्षदम् ।
प्रशंसकं [5]वै सिद्धीनां संप्रवर्तकमप्यथ ॥ ५४ ॥
सर्वेषां रञ्जकं गूढं निश्चयीकरणक्षमम् ।
मुनिवाक्यं तु तद्विद्धि चतुर्वर्गफलप्रदम् ॥ ५५ ॥
अनर्थकमसम्बद्धमल्पार्थं शब्दडम्बरम् ।
अनिर्वाहकमाद्योक्तेर्वाक्यं तत्पौरुषं स्मृतम् ॥ ५६ ॥

अथाचार्यलक्षणमाह—लिङ्गैः पूर्वोदितैर्युक्त इत्यारभ्य सर्वैः सामयिकैर्गुणैरित्यन्तम्। अथ प्रसङ्गात् शास्त्रसङ्करभेदं दिव्यादिभेदैरागमत्रैविध्यमपि दर्शितम्। तत्र मुनिभाषितस्यापि सात्त्विकादिभेदैस्त्रैविध्यमैश्वर(१।५७–६३)-पारमेश्वरा(१०।३४७–३७४)दिषूपबृंहितं ग्राह्यम्। एतत्साङ्कर्यविचारः श्रीपञ्चरात्ररक्षायां बहुशः प्रतिपादितो द्रष्टव्यः। "अनिर्वाहकमाद्योक्तेरिति दिव्यमुनिभाषितयोर्विरुद्धार्थत्वमुच्यते। असंबद्धमिति पूर्वापरविरुद्धत्वम्" पृ० (२९) इति पौरुषवाक्यलक्षणप्रकरणोक्तं पदद्वयमपि तत्रैव व्याख्यातम्। एवं च पूर्वोक्तलक्षणैर्युक्तो व्रतादिभिः सिद्धमन्त्र आचार्याभिषेकेनाभिषिक्तः पदमन्त्राद्यर्थज्ञानसंपन्नो यः स आचार्य इति बोध्यः।

ननु "पूर्ववल्लब्धदीक्षः" (२२।४२) इति साधकस्य। "लिङ्गैः पूर्वोदितैर्युक्तः" (२२।४७) इत्याचार्यस्य च प्राप्तदीक्षत्वमुक्तं भवति, समयिपुत्रकयोस्तु तन्नास्ति, तथापि

---

१. सकृद् द्वि–उ०। २. त्वर–अ० उ०। ३. स्मृतम्–मु० अटी०। ४. हि–मु० अटी० बक०। ५. हि–मु० अटी० बक०।

हेयं चानर्थसिद्धीनामाकरं नरकावहम् ।
प्रसिद्धार्थानुवादं[1] यत् संगतार्थं[2] विलक्षणम् ।। ५७ ।।
अपि चेत् पौरुषं वाक्यं ग्राह्यं तन्मुनिवाक्यवत् ।
एवमादेयवाक्योत्थ आगमो यो महामते ।। ५८ ।।
सन्मार्गदर्शनं[3] कृत्स्नं विधिवादं च विद्धि तम् ।
तत्प्रामाण्यात् तु यत्किञ्चित् समभ्यूह्य यथार्थतः ।। ५९ ।।
पूर्वापराविरोधेन निर्वाहयति सर्वदा ।
भक्तानां चोदितस्त्वेवं पदवाक्यप्रमाणवित् ।। ६० ।।
स्वमुद्रालङ्कृतश्चापि यः सदा चक्रधृक् चरेत् ।
स देशिको निबोद्धव्यः सर्वैः सामयिकैर्गुणैः[4] ।। ६१ ।।
वेदयत्यन्यथात्मानं[5] योऽन्यस्मिन्[6] योजितं पदे ।
कृत्वापेक्षां तु हृदये स याति नरकेऽधमः ।। ६२ ।।
नो भाजनं स्यात् सिद्धीनां क्रमत्यागे कृते सति ।
स्वमाचारं[7] स्वकां जातिं स्वगोत्रं स्वगुरोर्गृहम् ।। ६३ ।।
स्वपदं च स्वसंस्कारं प्राङ्निषिद्धेन वै विना ।
गोपायत्यचिराद् यो वै पातित्यमुपयाति सः ।। ६४ ।।

तयोर्मन्त्रमात्रार्चने कथमधिकारः सिद्ध्यति ? दीक्षाकालमन्तरा तयोर्मन्त्रः कदा प्राप्त इति चेत्, मध्ये[8] (कमनीया?किमनया) शङ्कया, वचनात् प्रवृत्तिः वचनान्निवृत्तिः । अदीक्षितानामर्चना(न)धिकारप्रतिपादकानि वचनानि तु मुद्रान्याससहितार्चनाधिकारनिषेधपराणि बोद्धव्यानि । मन्त्रस्तु मण्डलदर्शनानन्तरं शास्त्राभ्याससमय एव संगृह्यते ।।४७–६१।।

समयिपुत्राद्यवरपदस्थोऽपि[9] प्रतिष्ठापेक्षया साधकाचार्यपदारूढत्वेनात्मानं वेदयति, तस्य महत्तरं दोषमाह—वेदयतीति सार्धेन ।।६२–६३।।

---

१. स्यादर्थ–अ० । २. 'संगतार्थं····यत्किञ्चित्' नास्ति–उ० । ३. समार्ग–बक० बख० । ४. सामयिकादिकैः–बख०अ० उ०, सामयिकैर्गुणैः–अटी० । ५. चोद–उ० । ६. योऽयमन्यो जितः–बक० बख०, मयाऽस्मिन् योजितः–अ०, योऽस्मिन् संयोजितः परे–उ० । ७. स्वपदम्, गोपायति, स्वमाचारमिति पङ्क्तित्रयक्रमः–अटी० । ८. श्लोक–अ० । ९. समयी पुत्रावर–अ० ।

तस्माच्छ्रेयोऽर्थिना नित्यं नाभिमानं न तत्क्षयात्[1] ।
अधरोत्तरता सम्यग् आचर्तव्या च कुत्रचित् ॥ ६५ ॥

संङ्कर्षण[2] उवाच[3]

मुद्राचतुष्टयं देव कीदृग्लक्षणलक्षितम् ।
ज्ञायते यत्परिज्ञानाद् देशिकान्तं चतुष्टयम् ॥ ६६ ॥

श्रीभगवानुवाच[4]

यत्पूर्वं नृहरेः प्रोक्तं शिरोमुद्रादिपञ्चकम्[5] ।
तदङ्गुष्ठविनिर्मुक्तं विद्धि न्यूनाङ्गुलैः क्रमात् ॥
चतुष्टयं चतुर्णां तु गुर्वन्तानां यथास्थितम् ॥ ६७ ॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायामधिकारिमुद्राभेदविधिर्नाम[6][7]
द्वाविंशः[8] परिच्छेदः ॥

एवं स्वाचारजातिगोत्रादिगोपनेऽपि पातित्यं संभवतीत्याह—एवमिति सार्धेन । प्राङ्निषिद्धेन मन्त्रमुद्रादिनेत्यर्थः,

समाक्षिप्तस्तदादेशान्मन्त्रमुद्राद्वयं विना ।
कीर्त्यर्थं स्वगुरोर्ब्रूयाद् ज्ञातं शास्त्रार्थमुत्तमम् ॥ (२२।३९)

इत्यादिभिस्तेषां प्रकाशन(स्य) निषिद्धत्वात् । अतस्त्वहङ्कारादुत्कृष्टत्वकथनं च न कार्यम् ॥६३–६४॥

वास्तविकार्थकथनं श्रेयस्करमित्याह--तस्मादिति ॥६५॥

पूर्वोक्तसमयिपुत्रकादिज्ञापकतत्तन्मुद्राचतुष्टयलक्षणं पृच्छति संकर्षणः—मुद्रेति ॥६६॥

एवं पृष्टो वासुदेवः पूर्वं नृसिंहकल्पोक्त(१६।१०२)शिखामुद्रादिचतुष्टयमेव समयिपुत्रका(णां ? दीनां) मुद्राचतुष्टयमित्याह—यदिति सार्धेन ॥६७॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये द्वाविंशः परिच्छेदः ॥

---

१. तत्क्षणात्–उ० । २. 'सङ्कर्षण' नास्ति–उ० । ३. 'उवाच' अ० विहाय कुत्रापि नास्ति । ४. भगवान्–मु० अटी० बक० बख० । ५. पञ्च–बख० अ० उ० । ६. चतुर्विधशिष्याचार्यलक्षणं नाम–बक० । ७. 'नाम' नास्ति–बख० अ० उ० । ८. द्वाविंशतिः–बख०, द्वाविंशतितमः–उ०, एकविंशतितमः–अ० ।

त्रयोविंशः[1] परिच्छेदः

नारद उवाच[2]

कामपालेन देवेशस्त्वथ ब्राह्मणसत्तमाः ।
चोदितो यत् तदधुना कथयामि समासतः ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच[2]

ज्ञातो विभवदेवानां देव बीजगणो मया ।
अधुना ज्ञातुमिच्छामि तत्पिण्डनिचयो हि यः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच[2]

यथाक्रमोदितानां च देवानां विनिबोधतु ।
पिण्डमन्त्रगणं मत्तः सावधानेन चेतसा ॥ ३ ॥
नाभेरष्टमबीजं यत् स्थितं तत् सप्तमोपरि ।
तदधश्चोत्तरं चाक्षादरान्तेन विभूषयेत् ॥ ४ ॥
अथोत्तरं चाक्षदेशादादाय तदधो न्यसेत् ।

अथ त्रयोविंशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह संकर्षणेन वासुदेवो यत्पृष्टस्तत् कथयामीत्याह—कामपालेनेति ॥ १ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—ज्ञात इति ॥ २ ॥

एवं पृष्टो वासुदेवः पिण्डमन्त्रान् शृण्वित्याह—यथेति । यथाक्रमोदितानां देवानां पद्मनाभध्रुवाणामित्यर्थः[3] ॥ ३ ॥

तेषामुद्धारक्रममाह—नाभेरष्टमबीजं यदित्यारभ्य नमोऽन्ताः प्रणवाद्याश्च

---

१. द्वाविंशः–अ० । २. स्थानत्रयेऽप्युवाचपदं नास्ति–मु० अटी० । ३. ध्रुवादीनामिति पठनीयम् ।

बीजं [1]नेमेर्द्वितीयं [2]यन्मध्यान्मध्यं तदासने ॥ ५ ॥
आधारषष्ठसंरूढं [3]कुर्याद् वै नाभिसप्तकम् [4]।
[5]अष्टमं च तदूर्ध्वे तु एतद् विद्धि तृतीयकम् ॥ ६ ॥
नाभ्यष्टममथादाय अरात् षष्ठासनस्थितम् ।
ततो नाभिद्वितीयस्य क्रमेणाधो निवेश्य च ॥ ७ ॥
तदुद्देशात् तृतीयं च सप्तमं तुर्यमेव च ।
अथादाय च नेमेः प्राक् तदधो नाभिसप्तमम् ॥ ८ ॥
तस्याप्यधस्तदुद्देशात् तृतीयं विनिवेश्य च ।
ततस्तु नवमं नाभेस्तस्योर्ध्वाधोगतं न्यसेत् ॥ ९ ॥
तत्रैव यद् द्वितीयं तु तत्पिण्डं विद्धि सप्तमम् ।
अरात् षष्ठस्य चोर्ध्वे तु नाभिपूर्वं [6]तु विन्यसेत् ॥ १० ॥
सप्तमं चाष्टमं चापि ह्युपर्युपरि वै क्रमात् ।
अथाष्टमं नाभिदेशादारूढं सप्तमोपरि ॥ ११ ॥
तदधो [6]मध्यगं चाक्षा[7]न्नवमं परिकीर्तितम् ।
भूयोऽरात् पञ्चमस्योर्ध्वे दद्यान्नाभितृतीयकम् ॥ १२ ॥
बाह्यात् तृतीयं तन्मूर्ध्नि पिण्डोऽयं दशमः स्मृतः ।
द्वितीयं नाभिदेशाच्च तत्तृतीयं तदूर्ध्वगम् ॥ १३ ॥
नेमेराद्यन्तमूर्ध्वे तु स्मृतमेकादशं त्विदम् ।
[9]अथो नाभिचतुर्थस्य सप्तमं विनिवेश्य च ॥ १४ ॥
तदधो नेमिपूर्वं तु एतद् द्वादशमं स्मृतम् ।
नेमेस्त्रिदशमादाय तदधो योजयेत् क्रमात् ॥ १५ ॥

युक्ताः संज्ञापदैः स्वकैरित्यन्तम् । नाभेरष्टमबीजं यद् हकारं तत्सप्तमोपरि सकारोपरि स्थितं कृत्वा तदधः सकारस्याधस्ताद् अक्षरादुत्तरं नकारं संयोज्य अरान्तेन विसर्गेण भूषयेत् । पद्मनाभस्य पिण्डाक्षरमिदम् । उत्तरत्राप्येवंरीत्या बोध्यम् । तथा चैषां प्रयोगः—

१. नेमिद्वि—बख० उ० । २. यत् पङ्क्त्यां (पद्मां) मध्ये—मु० अटी० । ३. षष्ठं—मु० अटी० । ४. मम्—मु० अटी० अ० । ५. श्लोकचतुष्टयं नास्ति—मु० अटी० । ६. मध्यमं—मु० अटी० बक० । ७. चाक्षन—मु० अटी० बख० । ८. राद्यं तदू—अ० । ९. अधो—मु० बक० बख० उ० ।

सप्तमं च चतुर्थं च पूर्वं[1] नाभेर्महामते ।
[2]अरषष्ठासनाः[3] सर्वे पिण्डमेतत् त्रयोदशम् ॥ १६ ॥
नाभेश्चतुर्थमादाय तदूर्ध्वे सप्तमं न्यसेत् ।
नवमं चापि तन्मूर्ध्नि एतद्विद्धि चतुर्दशम् ॥ १७ ॥
नेमेश्चतुर्थसंख्यस्य ऊर्ध्वाधोभ्यां निवेश्य च ।
[4]वर्णं नाभिद्वितीयं [5]यत् तत्पञ्चदशमं स्मृतम् ॥ १८ ॥
यद्विंशसंख्यकं[6] बाह्यादादायाराख्यमण्डलात् ।
सान्तिमेन च षष्ठेन युक्तं[7] कुर्यादनन्तरम् ॥ १९ ॥
नेमेः सप्तमवर्णस्य [8]ऊर्ध्वाधोभ्यां निवेश्य च ।
नाभिदेशाद् द्वितीयं यद् विद्धि सप्तदशं तु तत् ॥ २० ॥
नवमं नाभिदेशाच्च सप्तमस्योपरि न्यसेत् ।
[9]अथाष्टमं नाभिदेशात् कुर्यात् सप्तममूर्ध्वगम् ॥ २१ ॥
द्वितीयमपि [10]तस्याधस्तस्माद् वै नाभिमण्डलात् ।
अरात्[11] त्रयोदशाद्[12]ऊर्ध्वे न्यूनविंशतिमं तु तत् ॥ २२ ॥
नाभेश्चतुर्थं तस्योर्ध्वे तत्तृतीयं तदूर्ध्वगम् ।
तत्रैव सप्तमं यद् वै विद्धि विंशतिमं त्विदम् ॥ २३ ॥
द्वितीयस्याष्टमं नाभेर्वर्णस्योर्ध्वे नियोज्य च ।
अरात् षष्ठं च तस्याधः कुर्यात् तदनु लाङ्गलिन् ॥ २४ ॥
नवमं नाभिदेशाच्च तृतीयस्योपरि न्यसेत् ।
[13]द्वितीयं तदधः कुर्यात् त्रयोविंशतिमं [14]शृणु ॥ २५ ॥
अष्टमं सप्तमं नाभेर्द्वितीयं प्रथमं ततः ।
क्रमेण योजयेच्चैव अरात् षष्ठस्य मूर्धनि ॥ २६ ॥

ह्स्नः, न्खमं, ह्स्यूं, हूं, ल्स्वं, वस्लं, क्ष्रं, ह्स्यूं, ह्स्मं, ग्लुं, वस्रं, ख्स्कं, वस्व्यं, क्ष्स्वं, क्ष्वं,

१. पुनर्ना—मु० अटी० बक० । २. अराः—मु०, अरात्—अटी० । ३. षष्ठसमाः—अ० । ४. यस्तु—अ०, वर्ण—उ० । ५. तत्—मु० अटी० । ६. संख्याकं—मु०बक० बख० । ७. वृत्तमाया—मु० अटी० । ८. ऊर्ध्वाधः सन्नि—अ० उ० । ९. यथा—मु० अटी० । १०. तस्याथ—मु० । ११. अस्य—मु० अटी० । १२. शं चो—बख० अ० उ० । १३. द्वितीयस्त—मु० । १४. स्मृतम्—मु० अटी० ।

नेमेः सप्तममादाय तदधो नाभिसप्तमम् ।
तत्तृतीयं च तस्याधश्चतुर्विंशतिमं स्मृतम् ॥ २७ ॥
नाभेस्तृतीयं तस्योर्ध्वे द्वितीयं तस्य चोपरि ।
निवेश्य नेमिपूर्वं तु षड्विंशमधुनोच्यते ॥ २८ ॥
अरात् षष्ठासनं कुर्याद् वर्णं[1] नाभितृतीयकम् ॥
तदूर्ध्वे सप्तमं चैव अतोऽन्यमवधारय ॥ २९ ॥
न्यूनं षड्विंशतिं[2] नेमेस्तस्योर्ध्वाधोगतं न्यसेत् ।
सप्तमं नाभिवर्णेभ्यस्त्वरवर्गाच्च पञ्चमम् ॥ ३० ॥
नेमेराद्यं[3]द्वितीयं च आदाय तदधो न्यसेत् ।
मध्यमक्षान्महाबुद्धेरष्टाविंशतिमं स्मृतम् ॥ ३१ ॥
नवमं सप्तमं नाभेस्तृतीयं च [4]तृतीयकम् ।
अथोत्तरस्थमक्षाच्च आदाय तदधो न्यसेत् ॥ ३२ ॥
तृतीयं च द्वितीयं च नाभिदेशादनन्तरम् ।
नाभिद्वितीयमादाय सप्तमं तुर्यमेव च ॥ ३३ ॥
तृतीयस्याथ वै नाभेर्बाह्याद्[5]याद्यं तु मूर्धगम् ।
ततस्तु[6] नवमं नाभेरक्ष[7]मध्यस्थमूर्ध्वगम् ॥ ३४ ॥
अष्टमस्याथ वै नाभेरथ[8] ऊर्ध्वे द्वितीयकम् ।
दद्यात् तदन्वरात् षष्ठं तस्यैवाधोगतं तु वै ॥ ३५ ॥
अरात् षष्ठस्य चोर्ध्वे[9] तु नाभिपूर्वं च तत्परम् ।
विनिवेश्याष्टमं चापि षट्त्रिंशमवधारय ॥ ३६ ॥
सप्तमं च तृतीयं च चतुर्थं नाभिमण्डलात् ।
योजयित्वा तदूर्ध्वे [10]चाप्यराणां त्रिदशं न्यसेत् ॥ ३७ ॥

घ्रं, भ्रुं, द्भ्रं, क्षसं, स्त्रों, स्ल्वं, ह्लूं, क्ष्लुं, ह्स्यूं, ज्स्वं, क्यं, स्त्र्यूं, स्वूं, क्ख्मं, ह्र्लं, न्यूं,
स्वं, क्षं, क्ष्मं, ह्लूं, ह्यूं, स्ल्वों, क्ष्रुं, क्ष्रूं ।

---

१. वर्ण–मु० अटी० बक० बख० अ० । २. विंशतिनेमेस्तु त–बख०, विंशतिनेमेर्यत्–अ० उ० । ३. राद्यं–अ०, राद्या–उ० । ४. द्विती–अ० उ० । ५. रथ मध्यस्थ–बक०, बाह्यादाद्यन्त–उ० । ६. पङ्क्तिरेखा न दृश्यते–मु० अटी० बक० । ७. अक्ष–मु० अटी० । ८. रध–अ० अटी० । ९. र्ध्वेऽथ–बख० अ० उ० । १०. तु अ–बक० बख० अ० उ० ।

अथ[1]वा नवमं नाभेस्तृतीयं च द्वितीयकम् ।
तत्सप्तत्रिंशकं विद्धि [2]नाभिदेशादथाहरेत् ॥ ३८ ॥
अ[3]रात् षष्ठासनं पूर्वं द्वितीयं च तदूर्ध्वतः ।
नवमं चापि तस्योर्ध्वे पिण्डास्[4]त्वद्यादिमं विना ॥ ३९ ॥
अरान्ताद्येन वै मूर्ध्ना सर्वे कार्या ह्यलङ्कृताः ।
नमोऽन्ताः प्रणवाद्याश्च युक्ताः संज्ञापदैः स्वकैः ॥ ४० ॥
अरान्ताद्यं विना यस्य य ऊर्ध्वे व[5]र्तते स्वरः ।
अधो वा नाभिपूर्वेण स[6]ह वा केवलं हि तम् ॥ ४१ ॥
अपास्य च ततः कुर्यात् सर्वेषां पूजनाय च ।
स्वेन स्वेन तु पिण्डेन सिंहवच्चाङ्गकल्प[7]नम् ॥ ४२ ॥
नमः प्रणवसंज्ञाऽस्र्या जा[9]तिः कर्मवशात् पुनः ।
आ तदुक्तात् [10]तु यजनाद् मोक्षनिष्ठः समाचरेत् ॥ ४३ ॥
बीजपिण्डपदोत्थानां विनियोगं तु चाखिलम् ।
किन्त्वेषां वैभवी मुद्रा देयाऽऽराधनकर्मणि ॥ ४४ ॥
तदङ्गमुद्राश्चाङ्गानां योज्या मन्त्रैः स्वकैः सह[11] ।
सर्वं[12] साधारमुद्दिष्टं सैंहमन्त्रोदितं मया ॥ ४५ ॥
दीक्षापूर्वं हि मन्त्राणां [13]चतुर्वर्गं[14] हि साधनम् ।
लक्षणं पदमन्त्राणामथेदानीं निबोधतु ॥ ४६ ॥

इत्यष्टत्रिंशत् पिण्डमन्त्राः। अत्राद्यं पिण्डं विनाऽन्ये सर्वेऽप्यनुस्वारेण योज्याः, प्रणवादिनमोन्ताश्च चतुर्थ्यन्तपद्मनाभादिसंज्ञायुक्ताश्च कार्याः ॥ ४–४० ॥

अथ तत्तत्पिण्डं विहायाकारादिस्वरैः पूर्वोक्तविश्वत्रातृनृसिंहमन्त्रवद् हृदयाद्यङ्गकल्पनां सर्वेषां मन्त्राणामप्यविशेषेण दशमपरिच्छेदोक्त(१०।४८)वैभवमुद्राप्रदर्शनं हृदयादीनां नृसिंहकल्पोक्त(१७।९७–१०६)तत्तन्मुद्राप्रदर्शनं नृसिंहमन्त्रवदेव तेषामपि दीक्षापूर्वमर्चनादिभिश्चतुर्विधपुरुषार्थसाधनं चाह---अरान्ताद्यं विना यस्येत्यारभ्य चतुर्वर्गं हि साधनमित्यन्तम् ॥ ४१–४६ ॥

---

१. अथ यन्न–बख० अ० उ० । २. नाभि च दशमं तथा–उ० । ३. अथ–उ० ।
४. स्त्वित्या–अ०, स्त्वत्या–उ० ।५. वर्धते–मु० अटी० बक०बख० । ६. सहसा–मु० अटी० बक० ।
७. ना–बक० बख० उ० । ८. ज्ञाढ्यां–अ० उ० । ९. जातिं–मु० अटी०, मतिः–अ० उ० ।
१०. क्त्या तु–बक० अ० उ० । ११. स्वकैः–अ० । १२. 'सर्वं साधारमुद्दिष्टं' नास्ति–मु० अटी० ।
१३. चातु–मु० अटी० बक० बख० । १४. तथासनम्–मु० अ० ।

यैर्विना लब्धसत्तानामर्चनं हि न जायते ।
विश्वातीताय विमलं[1] पदं विद्याविधायिने ॥ ४७ ॥
पद्मनाभाय वै विश्वव्यापिने तदनन्तरम् ।
चतुर्विंशाक्षरं विद्धि एतत्संख्यं परं शृणु ॥ ४८ ॥
ज्योतीरूपाय पञ्चार्णं पदं गगनमूर्तये ।
ध्रुवाय दद्यात् तदनु परमं त्र्यक्षरं ततः ॥ ४९ ॥
पदप्राप्तिचतुर्वर्णं हेतवे त्र्यक्षरं त्विति ।
अनन्ताय पदं दद्यात् ततोऽपरिमिताय च ॥ ५० ॥
सर्वाश्रयाय तदनु तदन्ते धृतशक्तये ।
[2]एतद्विंशतिसंख्यं च द्वाविंशार्ण[3]मतः शृणु ॥ ५१ ॥
नमो भगवते कृत्वा वासुदेवाय वै ततः ।
सर्वशक्त्यात्मनेऽनन्तमूर्तये तु पदं त्विति ॥ ५२ ॥
[4]वीर्यात्मने महाशब्दं पुरुषाय पदं ततः ।
मोहमाया पदं चैव ततो विध्वंसिने तु वै ॥ ५३ ॥
सदोदिताय शब्दं तु सर्वशक्तिपदं ततः ।
नियोक्तव्यं चतुर्वर्णं सप्तविंशाक्षरं स्मृतम् ॥ ५४ ॥
पदं वेदविदे विश्वरञ्जकाय[5] ततो भवेत् ।
तदन्ते विश्वपतये ततो वै परमात्मने ॥ ५५ ॥
एष विंशतिभिर्वर्णैः शृणु सप्तदशाक्षरम् ।
ज्ञानात्मने पदं कुर्यात् संविच्छब्दमतः परम् ॥ ५६ ॥

अथ पदमन्त्रानाह—लक्षणं पदमन्त्राणामित्यारभ्य भक्त्या सत्कर्मणां भुवीत्यन्तम् । तथा चैषां प्रयोगः—ॐ विश्वातीताय विमलविद्याविधायिने पद्मनाभाय विश्वव्यापिने नमः । ॐ ज्योतीरूपाय गगनमूर्तये ध्रुवाय परमपदप्राप्तिहेतवे नमः । ॐ अनन्तायाऽपरिमिताय सर्वाश्रयाय धृतशक्तये नमः । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय सर्वशक्त्यात्मनेऽनन्तमूर्तये नमः । ॐ[6] वीर्यात्मने महापुरुषाय मोहमायाविध्वंसिने सदोदिताय सर्वशक्तये नमः । ॐ वेदविदे विश्वरञ्जकाय विश्वपतये परमात्मने नमः ।

१. विमलपदं–मु० अटी० बक० बख० अ० । २. सप्तविंशतिसंख्यमित्युचितः पाठः प्रतिभाति । ३. शं क्रमतः–मु० अटी० बक० । ४. विद्या–बक० बख०, विद्धचा–मु० अटी० । ५. व्यञ्ज–मु० अटी० अ० । ६. ॐ नमो–अ० ।

पदं प्रकाशाशयाय शान्तरूपाय वै ततः ।
अनन्तशक्तये सर्वव्यापिने तदनन्तरम् ॥ ५७ ॥
जगन्मयाय तदनु विश्वरूपाय वै पदम् ।
एकविंशतिभिर्वर्णैरयमुक्तोऽपरं शृणु ॥ ५८ ॥
सत्सत्त्वपदमादाय गुहाशयपदं ततः ।
ततः परमहंसाय ततो मानसचारिणे ॥ ५९ ॥
न्यूनविंशत्यक्षरश्चैवाथातो यज्ञमूर्तये ।
पदमादाय तदनु विश्वान्तर्वर्तिने तु वै ॥ ६० ॥
ततो भुवनशब्दं तु वराहाय पदं त्वथ ।
विभूतिस्वामिने चेति चतुर्विंशाक्षरस्त्वयम् ॥ ६१ ॥
नमो भगवते दद्यात् ततो वै वाडवाग्नये ।
जगज्जलेन्धनपदं प्रदीप्तपदमेव तु ॥ ६२ ॥
वीर्याय फट् तदन्ते तु एतत्संख्यस्त्वयं स्मृतः ।
सर्वान्तश्चारिणे दद्यात् प्रसन्नपदमेव च ॥ ६३ ॥
मूर्तयेऽथ तदन्ते वै दद्याद् धर्मात्मने पदम् ।
षोडशाक्षरमेतद् वै अतो गुह्यतमं शृणु ॥ ६४ ॥
सर्वविद्येश्वरायाथ दद्यात् वाक्पतये ततः ।
पदं वद वदादाय ततो वाग्विभवं त्विति ॥ ६५ ॥
न्यूनविंशाक्षरो ह्येष त्वपरं कथयामि ते ।

ॐ ज्ञानात्मने संवित्प्रकाशाशयाय शान्तरूपाय नमः । ॐ अनन्तशक्तये सर्वव्यापिने जगन्मयाय विश्वरूपाय नमः । ॐ सत्सत्त्वगुहा(शया)य परहंसाय मानसचारिणे नमः । ॐ यज्ञमूर्तये विश्वान्तर्वर्तिने भुवनवराहाय विभूतिस्वामिने नमः । ॐ नमो भगवते वडवाग्नये जगज्जलेन्धनप्रदीप्तवीर्याय फट् नमः । ॐ सर्वान्तश्चारिणे प्रसन्नमूर्तये धर्मात्मने नमः । ॐ सर्वविद्येश्वराय वाक्पतये वद वद वाग्विभवं नमः । ॐ योगैश्वर्य-

---

१. श्रयाय–अटी० । २. व ततो–अ० क० उ० । ३. वामबाहवे–अटी० । ४. जहं–मु० अटी० । ५. पदविदे दद्यात्–मु० अटी० । ६. गुह्याय–अ० ।

योगैश्वर्य[1]प्रदायाथ योगनिद्रारस[2]ाय वै ॥ ६६ ॥
निर[3]ताय पदं दद्याद् भगव[4]ज्जलशायिने ।
त्रिरष्टवर्णसंख्यश्च अयमेकाधिकस्तु वै ॥ ६७ ॥
भगवत्पदमादाय अनन्तबलशक्तये ।
तेजोमयाय भुवनभृतेऽथ द्व्यक्षरं पदम् ॥ ६८ ॥
तदन्ते विनियोक्तव्यं पदं वै कच्छपात्मने ।
षड्विंशार्णमिमं विद्धि मन्त्रं मन्त्रविदांवर ॥ ६९ ॥
यज्ञाङ्गदेहायाद्याय[7] महापदमतः परम् ।
वराहाय ततो दद्यात् पुराणपुरुषाय वै ॥ ७० ॥
दद्यात् ततः प्रजाशब्दं तदन्ते पतये पदम् ।
चतुर्विंशाक्षरं मन्त्रमेतन्मन्त्रविदांवर ॥ ७१ ॥
नमो भगवते कृत्वा नार[6]सिंहाय वै ततः ।
तेजोनिधे पदं दद्यात् पदं हनहनेति च ॥ ७२ ॥
ततो विकर्मजा[8]त्यं वै शब्दं पञ्चाक्षरं भवेत् ।
दुष्कृतं हि तदन्ते वै सप्तविंशाक्षरस्त्वयम् ॥ ७३ ॥
आदायामृतमूर्ते वै ततो ज्ञानबलात्मने ।
सर्वेश्वराय भगवन्न्यूनविंशाक्षरस्त्वयम् ॥ ७४ ॥
आदाय पुण्डरीकाक्षपदं वै परमेश्वर ।
ततः सकलशब्दं तु सुखसौभाग्य वै पदम् ॥ ७५ ॥

प्रदाय योगनिद्रारसाय नीरदाय भगवज्जलशायिने नमः। ॐ भगवदनन्तबलशक्तये तेजोमयाय भुवनधृते कच्छपात्मने नमः। ॐ यज्ञाङ्गदेहाय महावराहाय पुराणपुरुषाय प्रजापतये नमः। ॐ नमो भगवते नारसिंहाय तेजोनिधये हन हन विकर्मजात्यं दुष्कृतं नमः। ॐ अमृतमूर्ते ज्ञानबलात्मने सर्वेश्वराय भगवन्नमः। ॐ पुण्डरीकाक्ष परमेश्वर सकलसुखसौभाग्यनिधे वाञ्छितसिद्धिप्रदाखिलदुःखशमनाग्नये आनन्दसुन्दर[9]लक्ष्मी-

---

१. सादाय–अ० उ०। २. रसेति च–मु० अटी० बक० बख०। ३. नीरदायेति भाष्यानुसारी पाठः। ४. वान्–मु० अटी०। ५. धाराय–अ०। ६. नर–बक० अ० उ०। ७. जाद्यं–मु० अटी० बक० बख०। ८. र्जति दुष्कृतिं–अ०। ९. सुन्दरपद–अ० म०।

[1]निधे वाञ्छितशब्दं तु ततः सिद्धिप्रदेति त्वं ।
पदं चाखिलदुःखेति ततस्तु शमनाग्नये ॥ ७६ ॥
आनन्दसुन्दरपदं ततो लक्ष्मीपदं न्यसेत् ।
पतये शब्दमुच्चार्य पञ्चाशार्णस्त्रिरुज्झितः ॥ ७७ ॥
सदसत्पदमादाय मूर्तये तदनन्तरम् ।
विश्वोत्तमाय तदनु ततोऽमृतनिधे तु त्वं ॥ ७८ ॥
षोडशार्णस्त्वयं मन्त्र उक्तः कान्तात्मनो[2] विभोः ।
पुरुषोत्तमाय शब्दं तु ततो[3]ऽप्रतिहतेति च ॥ ७९ ॥
[4]शक्तयेऽथ पदं दद्यात् सर्वेश्वरपदं ततः ।
समग्रोग्रभयेत्यत्र निवारणपदं ततः ॥ ८० ॥
सप्तविंशाक्षरो मन्त्र उक्तश्चातः परं शृणु ।
नियन्त्रे पदमुद्धृत्य तदन्ते विश्वहेतवे ॥ ८१ ॥
परब्रह्मसमेतं च सेतवे ओमनन्तरम् ।
मन्त्रो द्विरष्टवर्णश्च कथितो वक्ष्यतः परम् ॥ ८२ ॥
पदमप्रतिमेत्यादौ प्रभावं तदनन्तरम् ।
महाविभूते तदनु महामायापदं ततः ॥ ८३ ॥
अथ दर्शकशब्दं तु तदन्ते तालकेतवे ।
चतुर्विंशाक्षरो मन्त्रस्त्वयमुक्तः समासतः ॥ ८४ ॥
शान्तात्मने पदं दद्यात् तदन्ते यम विन्यसेत् ।
नियमाश्रयाय दद्यात् परमर्धिप्रदाय च ॥ ८५ ॥
नारायणाय शब्दं तु पूर्वसंख्यासमं स्मृतम् ।

पतये नमः। ॐ सदसन्मूर्तये विश्वोत्तमायामृतनिधये नमः। ॐ पुरुषोत्तमायाप्रति-हतशक्तये सर्वेश्वराय समग्रोग्रभयनिवारणाय नमः। ॐ नियन्त्रे विश्वहेतवे परब्रह्म-सेतवे ॐ नमः। ॐ अप्रतिमप्रभावमहाविभूते महामायादर्शकतालकेतवे नमः। ॐ शान्तात्मने यमनियमाश्रयाय परमर्धिप्रदाय नारायणाय नमः। ॐ भवभङ्गकारिणे

१. निधये वाञ्छितपदं—मु० अटी०। २. त्मने—बक० बख० उ० अटी०। ३. ततः सिद्धिप्रदेति—मु० अटी०। ४. शक्तये च—मु० अटी०। ५. ततः परम्—बक० बख० अ० उ०। ६. वै—मु० अटी०। ७. हृत—अ०। ८. दर्शित—अ०। ९. मार्थ—अ०, परमपदप्रदायाथ—म०।

भवभङ्गपदं चैव कारिणे तदनन्तरम् ॥ ८६ ॥
ततो भगवते शब्दं दत्तात्रेयाय वै ततः ।
वर्णाश्रमपदं चाथ धर्मशब्दमतः परम् ॥ ८७ ॥
परिग्रहाय प्रणवमष्टाविंशाक्षरः स्मृतः ।
सर्वलोकमयायेति सर्वज्ञाय पदं ततः ॥ ८८ ॥
सर्वेश्वराय न्यग्रोधशयनाय पदं त्वथ ।
त्रयोविंशत्यक्षरश्च त्वयमन्यं निबोधतु ॥ ८९ ॥
भूतशब्दमथादाय भावनाय पदं[1] ततः ।
[2]शब्दं विश्वात्मने चाथ विमलेतिपदं ततः ॥ ९० ॥
[3]निकेतनाय तदनु कन्धराय पदं ततः ।
अयं विंशतिभिर्वर्णैर्द्व्यधिकैर्मन्त्रराट् स्मृतः ॥ ९१ ॥
विष्णवे पदमादाय निरस्तास्त्राय वै ततः ।
पदं ब्रह्ममयायाऽथ जटिने दण्डिने ततः ॥ ९२ ॥
दद्याद् विदितशब्दं वै तदन्ते विभवाय च ।
षड्विंशार्णस्त्वयं मन्त्रः परमस्मान्निबोधतु ॥ ९३ ॥
[4]सर्वशब्दमथादाय व्यापिने तदनन्तरम् ।
पदं सहस्रार्चिषे तु दद्यात् पञ्चाक्षरं शुभम् ॥ ९४ ॥
त्रिविक्रमायाथ पदं ततोऽपरिमितेति च ।
प्र[6]भावाय पदं दद्यात् त्रयोविंशाक्षरः स्मृतः ॥ ९५ ॥
नरनाथाय शब्दं तु पुरुषप्रवराय वै ।
आत्मध्यानपरायेति णाय वै द्व्यक्षरं ततः ॥ ९६ ॥

गवते दत्तात्रेयाय वर्णाश्रमधर्मपरिग्रहाय ॐ नमः । [7]ॐ सर्वज्ञाय विश्वात्मने विमल-सर्वेश्वराय न्यग्रोधशयनाय नमः । ॐ भूतभावनाय विश्वात्मने विमलनिकेतनाय कन्धराय नमः । ॐ विष्णवे निरस्तास्त्राय ब्रह्ममयाय जटिने दण्डिने विदितविभवाय नमः । ॐ सर्वव्यापिने सहस्रार्चिषे त्रिविक्रमायाऽपरिमितप्रभावाय नमः । ॐ नर-

१. तदन्ततः—मु० अटी० । २. शब्दश्वासा—बक० अ० उ० । ३. श्लोकद्वयं नास्ति—मु० अटी० अ० । ४. सत्त्व—बक०, शर्व—बख०, भूत—मु० अटी० । ५. ताय वै—बख० अ० उ० । ६. प्रभवाय—बक० बख० उ० । ७. ॐ सर्वलोकमयाय सर्वज्ञाय सर्वेश्वराय न्यग्रोधशयनाय नम इति मूलानुसारिणा पाठेन भाव्यम् ।

एकविंशाक्षरो मन्त्रै[1]स्त्वतोऽन्यमवधारय ।
नारायणाय शब्दं तु दद्यान्निरति वै पदम् ॥ ९७ ॥
शयानन्दमयायेति पदं निरभिमान वै ।
पदासक्ताय तदनु पञ्चविंशाक्षरस्त्वयम् ॥ ९८ ॥
पराय पदमादाय ततो वै परमात्मने ।
योगेश्वराय हरये मन्त्रोऽयं षोडशाक्षरः ॥ ९९ ॥
सप्तार्णं पदमादाय प्राङ्नमः परमात्मने ।
कृष्णाय शब्दं तदनु कमलं त्र्यक्षरं ततः ॥ १०० ॥
दलशब्दं तु विततनेत्राय तदनन्तरम् ।
ब्रह्मिष्ठाय ब्रह्मणे वै अष्टाविंशाक्षरस्त[2]तः ॥ १०१ ॥
भगव[3]न् पदमादाय युगान्तदहनेति च ।
दीप्तयेऽथ पदं दद्यात् संसारपदमेव हि ॥ १०२ ॥
बन्धविच्छेदकर्त्रे वै द्वाविंशार्णस्त्वयं स्मृ[4]तः ।
पदं चतुर्मूर्तये वै चतुर्गतिमयाय च ॥ १०३ ॥
शरशार्ङ्गभृते दद्याच्छरदिन्दीवरत्विषे ।
ततो भगवते दद्यादभिरामपदं ततः ॥ १०४ ॥
शरीराय पदं चैव त्वष्टत्रिंशाक्षरः स्मृतः ।
दद्याद् विं[5]शदशब्दं वै परमार्थपदं ततः ॥ १०५ ॥

नाथार्य[6] पुरुषप्रवराय आत्मध्यानपरायणाय नमः । ॐ नारायणाय निरतिशयानन्दमयाय निरभिमान[7]पदासक्ताय नमः । ॐ पराय परमात्मने योगेश्वराय हरये नमः । ॐ नमः परमात्मने कृष्णाय कमलदलविततनेत्राय ब्रह्मिष्ठाय ब्रह्मणे नमः । ॐ भगवन् युगान्तदहनदीप्तये संसारबन्धविच्छेदकर्त्रे नमः । ॐ चतुर्मूर्तये चतुर्गतिमयाय शरशार्ङ्गभृते शरदिन्दीवरत्विषे भगवतेऽभिरामशरीराय नमः । ॐ विशदपरमार्थवेर्द-

१. न्त्रस्त–मु० अटी० । २. स्त्वयम्–बख० अ० उ० । ३. वत्–बक० बख० अ० उ० । ४. इतः परम्—'दद्याद् द्विशतशब्दं वै परमार्थपदं ततः' इति दृश्यते–बक० उ० । एतच्च मूलेऽप्यग्रे पाठभेदेन सह विद्यते । ५. द्विशत–बक० उ०, विदित–मु० अटी० । ६. नारायणाय–अ० । ७. पदसत्ताय–अ०, पदक्ताय–म० । ८. वेदविदुषे–अ० म० ।

ततो वेदविदे शब्दं विदुषे व्यापकाय च ।
स्वामिंस्तदनु वै दद्याद् द्व्यक्षरं चापरं पदम् ॥ १०६ ॥
अयं विंशतिभिर्वर्णैरुक्तस्त्वन्यमतः शृणु ।
दद्याद् गरुडशब्दं तु तदन्ते वाहनेति च ॥ १०७ ॥
सर्व[1]शस्त्रास्त्रोद्यतेति शमयाऽशुभमेव च ।
ततो धुन धुनादाय कर्मबन्धांस्ततो वदेत् ॥ १०८ ॥
धर्मं पाहि ततो दद्याद् जह्यधर्मं ततो[2] वदेत् ।
च[3]तुस्त्रिंशाक्षरो मन्त्र एष वक्ष्याम्यतः परम् ॥ १०९ ॥
संहारमूर्तये शब्दं कालवैश्वानरार्चिषे ।
पातालशयनायेति त्वज्ञाननिगडेर्ति[4] वै ॥ ११० ॥
निचयं हन वीप्साऽतः प्रणवं तदनन्तरम् ।
पञ्चत्रिंशाक्षरो ह्येष सर्वसिद्धिकरः स्मृतः ॥ १११ ॥
प्रणवालङ्कृताः सर्वे नमस्कारविभूषिताः ।
संस्मृताः पूजिताश्चैव ध्याता जप्ता विशेषतः ॥ ११२ ॥
तन्नास्ति यन्न यच्छन्ति भक्त्या सत्कर्मणां[5] भुवि ।
अथ लाञ्छनमन्त्राणां [6]सास्त्राणां लक्षणं शृणु ॥ ११३ ॥
सहस्रदीधिति पदं दद्याच्छुरित वै ततः ।
विग्रहाय दशार्णं च त्र्यधिकं मकुटस्य च ॥ ११४ ॥

विदे विदुषे व्यापकाय स्वामिन्[7] नमः । ॐ गरुडवाहन सर्व[8]शस्त्रास्त्रोद्यत शमयाऽशुभं धुन धुन कर्मबन्धान् धर्मं पाहि [9]जह्यधर्मं नमः । ॐ संहारमूर्तये कालवैश्वानरार्चिषे पातालशयनाय अज्ञाननिगडनिचयं हन हन ॐ नमः । इत्यष्टत्रिंशत्पदमन्त्राः ॥४६–११३॥

अथ तेषां किरीटादिलाञ्छनमन्त्रान्(वराहमन्त्रं?)चक्राद्यायुधमन्त्रांश्चाह—अथ लाञ्छनमन्त्राणामित्यारभ्य यावत् परिच्छेदपरिसमाप्ति । तथा चैषां प्रयोगः—ॐ

---

१. शास्त्रोद्यतेत्येवमतः शुभमयेति च—मु० अटी० । २. तोच्चरेत्—बख०, तोद्धरेत्—अ० उ० । ३. चतुर्वि—मु० अटी० बक० । ४. विकलेति—अ० उ० । ५. सत्कर्मिणां—अ० । ६. शास्त्राणां—मु० अटी० बख० उ० । ७. स्वामिने—अ० । ८. शास्त्रो—अ०, शास्त्रास्त्रो—म० । ९. पाह्यधर्मं जहि—अ० म० ।

आदाय वाञ्छितपदं ततः सिद्धिप्रदाय वै ।
महाचिन्तापदं दद्यान्मणये तदनन्तरम् ॥ ११५ ॥
विद्धि पञ्चदशार्णं च दशार्णमपरं शृणु ।
सर्वलक्षणशब्दं तु ततः सम्पत्प्रदाय वै[1] ॥ ११६ ॥
सौभाग्यशब्दमादाय जननि[2] त्र्यक्षरं ततः ।
सर्वप्रदे तु[3] तदनु अयमेवं[4] दशाक्षरः ॥ ११७ ॥
प्राणात्मनेऽथ सत्याय विद्धि सप्ताक्षरं त्विदम्[5] ।
कालकर्त्रेऽथ चक्राय फडष्टार्णः प्रकीर्तितः ॥ ११८ ॥
विश्वात्मने पदं दद्यात् ततो विश्वप्रदाय च ।
नवाक्षरमिदं विद्धि परमष्टाक्षरं शृणु ॥ ११९ ॥
समादाय पदं विद्ये ततो विद्येश्वरार्चिते ।
प्राक् शब्दमूर्तये कुर्याच्छङ्खायाष्टाक्षरः स्मृतः ॥ १२० ॥
पदं रसनिधे कुर्यात् भीम[6]शब्दमतः परम् ।
भीषणाय तदन्ते वै दशाक्षरमिदं स्मृतम् ॥ १२१ ॥
प्राग् भुवनाधिपतये स्तम्भ[7]भूताय वै पदम् ।
त्रयोदशाक्षरं विद्धि ततोऽन्यमवधारय ॥ १२२ ॥

सहस्रदीधितिच्छुरितविग्रहाय किरीटाय नमः । ॐ वाञ्छितसिद्धिप्रदाय महाचिन्तामणये कौस्तुभाय नमः । ॐ सर्वलक्षणसम्पत्प्रदाय श्रीवत्साय नमः । ॐ सौभाग्यजननि[8] सर्वप्रदे[10] वनमालायै नमः । ॐ प्राणात्मने सत्याय नमः । ॐ कालकर्त्रे चक्राय फट् । ॐ विश्वात्मने विश्वप्रदाय पद्माय फट् । ॐ विद्ये विद्येश्वरार्चिते गदायै फट् । ॐ शब्दमूर्तये शङ्खाय फट् । ॐ रसनिधे[11] भीमभीषणाय लाङ्गलाय फट् । ॐ भुवनाधिपतये स्तम्भभूताय मुसलाय फट् । ॐ इन्द्रियकोशाय इष्वस्त्राय फट् ।

---

१. इतः परम्—'ततश्चिन्तापदं दद्यान्मणये तदनन्तरम्' इत्यधिकः पाठो दृश्यते—मु० अटी० । २. जननी—अटी० अ०, यजनी—उ० । ३. देति—अ० । ४. मेवं—मु० अटी० । ५. त्विह—मु० अटी० । ६. भीष्म—मु० अटी० बक० । ७. स्तम्ब—मु० बक० बख० उ० । ८. तार्थ—अ० । ९. नी—अ० म० । १०. प्रदायै—अ० । ११. निधेऽभीक्षाय—अ० ।

पदमिन्द्रियकोशाय इ[1]ष्वस्त्राय दशाक्षरम् ।
कल्पान्तानिलघोषाय विद्युल्लसित वै पदम् ॥ १२३ ॥
प्र[2]भाय षोडशार्णं तु नवाक्षरमतः शृणु ।
महामायापदं दद्याद् बन्धवर्णद्वयं ततः ॥ १२४ ॥
ध्वंसिने पदमादाय एतत्संख्यं प[3]दं शृणु ।
सर्वास्त्रग्र[4]सनादाय प[5]राय तदनन्तरम् ॥ १२५ ॥
स[6]न्तापकाय शब्दं तु दर्पविध्वंसिने ततः ।
एकादशाक्षरं विद्धि नवाक्षरमथोच्यते ॥ १२६ ॥
अज्ञानखण्डनपदं पराय तदनन्तरम् ।
त्रैलोक्यमोहनपदं मूर्तये तु नवाक्षरम् ॥ १२७ ॥
स[7]र्वाकर्षकरपदं महामायामयेति वै ।
द्वादशाक्षरसंख्यस्तु नवाक्षरमथोद्धरेत् ॥ १२८ ॥
प्रागखण्डितशब्दं तु तदन्ते विनियोज्य च ।
पराक्रमाय शब्दं तु सप्ताक्षरमतः शृणु ॥ १२९ ॥
दर्पप्रशमकर्त्रे तु पञ्चार्णं विनिबोध वै ।
तेजोमालिनि चेत्येतद् द्वाविंशत्यनुकीर्तिताः ॥ १३० ॥
प्राग्वदाद्यन्तसंरुद्धाः स्वनामपदभूषिताः ।
संख्यानिष्ठाक्षरस्यान्ते दद्यात् संज्ञापदं सदा ॥ १३१ ॥

ॐ कल्पान्तानिलघोषाय विद्युल्लसितप्रभाय शार्ङ्गाय फट् । ॐ महामायाबन्धध्वंसिने खड्गाय फट् । ॐ सर्वास्त्रग्रसनपराय खेटकाय फट् । ॐ संतापकाय दर्पविध्वंसिने दण्डाय फट् । ॐ अज्ञानखण्डनपराय परशवे[10] फट् । ॐ त्रैलोक्यमोहनमूर्तये पाशाय फट् । ॐ सर्वाकर्षकरमहामायामयायै[11] अङ्कुशाय फट् । ॐ अखण्डितपराक्रमाय मुद्गराय फट् । ॐ दर्पप्रशमकर्त्रे वज्राय फट् । ॐ तेजोमालिनि[12] शक्त्यै फट् । इति च द्वाविंशतिमन्त्राः ॥११३–१३२॥

---

१. विश्व–उ० । २. प्रभवाय–बक० । ३. परं–उ० । ४. ग्रासमादाय–अ० उ० । ५. वराय–अ० उ० । ६. पङ्क्तित्रयं नास्ति–बक० । ७. आकर्षणपर–मु०, आकर्षणपरं–अटी० । ८. विध्वं–अ० । ९. मन्त्रस्यैकादशाक्षरतासम्पादनाय विभक्तिलोप आवश्यकः । १०. शिवे–अ० । ११. मायाय–अ० म० । १२. मालिनी–अ० ।

चक्रवच्चास्त्रमन्त्राणां कुर्यान्नामावसानकम् ।
क्रमाच्चतुर्दशानां तु शक्त्यन्तानां च फट्पदम् ॥ १३२ ॥

इति श्रीपाञ्चरात्रे[1] श्रीसात्वतसंहितायामधिवासदीक्षाविधिर्नाम त्रयोविंशः[2] परिच्छेदः ॥

■

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य श्रीयोगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये त्रयोविंशः[3] परिच्छेदः ॥

■

१. पञ्चरात्रसारे—बक० बख० । २. द्वाविंशतितमः—अ०, त्रयोविंशतिः—उ० ।
३. त्रयोविंशतिः—म० ।

[1]चतुर्विंशः परिच्छेदः

श्रीनारद उवाच[2]

विप्रप्रधानाः श्रुत्वैवं मन्त्राणां लक्षणं स्फुटम् ।
चोदयामास[3] भगवान् पुनः स तालकेतुना ॥ १ ॥

संङ्कर्षण[4] उवाच

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा भगवन्मयः ।
नित्याराधनकामस्तु[5] यदि मन्त्रमयं वपुः ॥ २ ॥
कर्तुमिच्छति लक्ष्यार्थं तत्र किंलक्षणो विधिः ।

श्रीभगवानुवाच[6]

चित्रमृत्काष्ठशैलोत्थं सल्लोहमयमेव वा ॥ ३ ॥
भेदभिन्नं द्विजातीनां हितं बिम्बं फलार्थिनाम् ।
तदभिन्नमकामानां प्राप्तं चाप्यविरोधकृत् ॥ ४ ॥
अत्र[7] चित्रमयं विद्धि भित्तिकाष्ठाम्बराश्रितम् ।

अथ चतुर्विंशतिपरिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह पुनः संकर्षणेन वासुदेवश्चोदित इत्याह—विप्रेति । अत्र दिव्यत्वादात्मनेपदस्थाने परस्मैपदं प्रयुक्तम् । यद्वा सत्तालकेतुनेति प्रथमैकवचनम् । सत्तालकेतुर्ना पुरुषः, संकर्षण इति यावत् ॥ १ ॥

चोदनाप्रकारमाह—ब्राह्मण इति सार्धेन ॥ २–३ ॥

एवं चोदितो वासुदेवः प्रथमं चित्रमृत्काष्ठशिलालोहमयत्वेन पञ्चविधानां बिम्बानां प्रत्येकं ब्राह्मणादिवर्णक्रमेण चातुर्विध्यम्, एवं तत्तद्वर्णानुसारेण तत्तद्द्रव्य-

---

१. त्रयोविंशतितमः—अ० । २. 'उवाच' नास्ति—मु० अटी० बक० । ३. चोदितो भगवानेवं पुनर्वै—मु० अटी० । ४. 'संकर्षण उवाच' नास्ति—बक० बख० अ० उ० । ५. इत्या—बख० उ० । ६. 'उवाच' नास्ति—मु० अटी० । ७. तत्र—उ० ।

पुनः[1] वर्णक्रमेणैव चतुर्धा चाम्बरोत्थितम् ॥ ५ ॥
तच्च कार्पासकौशेयक्षौमशाणमयं तु वै ।
मृज्जमेवं सिताद्युत्थं वार्क्षं विविधमेव च ॥ ६ ॥
आश्वत्थं ब्रह्मवृक्षोत्थं श्रीपर्णीसुरदारुजम् ।
सालतालमयं[2] चैव शांशवन्तीन्दुसारजम्[3] ॥ ७ ॥
एवं द्वयं[4] द्वयं विद्धि द्विजादीनां यथाक्रमम् ।
अतोऽन्ये दृढमूलाश्च सारवन्तो हि याज्ञिकाः ॥ ८ ॥
साधारणाश्चतुर्णां तु प्रतिमाद्ये च कर्मणि ।
सामान्यं भुक्तिमुक्त्यर्थमश्ममृण्मयवत् स्मृतम् ॥ ९ ॥
तारहाटकताम्रोत्थम् आरकूटमयं तथा ।
एवं हि भूमयो वस्त्रपाषाणा धातवो द्रुमाः ॥ १० ॥
वज्रादयोऽखिला रत्नाः सितरक्तादिलक्षणाः ।
असामान्याः फलेप्सूनां लाभालाभवशात् पुनः ॥ ११ ॥
सम्यक् स्वमूर्तिमन्त्रैस्तु जपहोमार्चनादिना ।
नयेत् सामान्यभासित्वं[5] तथा तत्कारणार्चनात् ॥ १२ ॥
यजेत् सेन्द्रां धरां शैलं मृदापादनकर्मणि[6] ।
एवं पटद्रुमार्थं तु वरुणं सवनस्पतिम् ॥ १३ ॥
सरत्नानां च धातूनां सम्बन्धेऽर्केन्दुपावकान् ।
रत्नाश्रयेण धात्वर्थेनार्चादेशेन[7] वै विना ॥ १४ ॥

मयबिम्बग्रहणस्य सकामविषयत्वं बिम्बसामान्यग्रहणस्य निष्कामविषयत्वं चाह—चित्रमृत्काष्ठशैलोत्थमित्यारभ्य लाभालाभवशात्[8] पुनरित्यन्तम् ॥ ३–११ ॥

अथ तत्तद्बिम्बनिर्माणार्थं तदुपादानद्रव्यग्रहणकाले सामान्यतः करिष्यमाण-तत्तन्मूर्तिमन्त्रैरर्चनजपहोमादिकं विशेषतः सेन्द्रधरादि[9]तत्तत्कारणार्चनं च कार्यमित्याह—सम्यगिति सार्धद्वाभ्याम् ॥ १२–१४ ॥

---

१. पूर्वे–मु० अटी० । २. बाल–मु० । ३. शैशुषं–मु० अटी० । ४. द्वन्द्व–अ० उ० । ५. भावि–अ० उ० । ६. दान–बक० बख० उ० । ७. धातूत्थेनार्च्या–मु० अटी० बक० । ८. फललाभवशात्–म० । ९. धारा–म० ।

तथार्चनासनेनैव चक्रपद्ममयादिना ।
न[1] रात्नी प्रतिमा शस्ता ध्यायिनां ध्यानसिद्धये ॥ १५ ॥
केवला लघुमाना च प्रमाणावयवोज्झिता ।
वर्णाश्रमगुरुत्वाच्च स्वामित्वादखिलस्य च ॥ १६ ॥
भूतादिदेवरूपत्वाद् उत्तमाद्येषु वस्तुषु ।
नृपश्चार्हति वै नित्यं सविशेषपदे स्थितः ॥ १७ ॥
किं पुनर्योऽफलाकाङ्क्षी भक्तिश्रद्धापरः सदा ।
बुद्ध्वैवं चित्रबिम्बार्थी यत्नेनेदं समाचरेत् ॥ १८ ॥
गुह्यकान् गृहदेवांस्तु हृदाऽर्च्याऽर्घ्यादिना पुरा ।
मलभस्मतुषाङ्गारकेशकीटनखो[2]स्तृणम् ॥ १९ ॥
मूलकण्टकचर्मास्थिसामान्येऽश्मा[3]हिभित्तिका ।
भ[4]वत्यनर्थदाऽवश्यमतः प्राक् चतुरङ्गुलम् ॥ २० ॥
विहाय मृद्दलं भित्तेरीषद् बिम्बात् तु चाधिकम् ।
उक्तदोषविमुक्ता[5]ऽथ पञ्चगव्येन साम्भसा ॥ २१ ॥
म[6]र्दितया मृदा भूयस्तद्भित्त्यंशं प्रपूर्य च ।
शस्त्रेण काष्ठफलकां मृगचर्मसमां पुरा ॥ २२ ॥
छविं विहाय शुद्ध्यर्थं तुरीमुक्तं तु वै प[7]टम् ।
प्रक्षाल्य सलिलेनैव त्वस्त्रजप्तेन सप्तधा ॥ २३ ॥

रत्नमयीं सुवर्णरजताख्योत्तमधातुमयीं वा प्रतिमां विनाऽन्यद्रव्यमयी प्रतिमा लघुमाना प्रमाणावयवरहिता चेत्, न प्रशस्ता, तथैव भद्रपीठमपीत्याह—रत्नाश्रयेणेति द्वाभ्याम् । अर्चादिशेन भगवदर्चनास्पदेन, बिम्बेनेति यावत् । अर्चनासनेन केवलभद्रपीठेनेत्यर्थः । रत्नसुवर्णरजतबिम्बं चेद् वस्तुगौरवाल्लघुमानं प्रमाणरहितमपि ग्राह्यमिति फलितोऽर्थः ॥ १४–१६ ॥

मुमुक्षुत्वमात्रेण निकृष्टवर्णोद्भव उत्कृष्टवर्णार्हेषु वस्तुषु कथमर्हतीत्याशङ्का किंपुनर्न्यायेन परिहरति—वर्णाश्रमेति द्वाभ्याम् । अफलाकाङ्क्षी मुमुक्षुरित्यर्थः ॥१६–१८॥

प्रथमं चित्रबिम्बनिर्माणार्थं गुह्यकगृहदेवार्चनपूर्वकं भित्तिकाष्ठफलकपटानां संशोधनप्रकारानाह—बुद्ध्वेति सार्धैः पञ्चभिः ॥१८–२३ ॥

---

१. नारत्नी–बक० बख० । २. नखं तृ–अ० उ० । ३. श्मर्यभित्तिकाः–बक० बख० अ० । ४. भवन्त्य–बख० अ० उ० । ५. क्ताया.–अ० । ६. मृद्दीर्घया–बक० बख०, मृद्दीपया–अ० उ० । ७. घटम्–मु० अटी० बक० बख० । ८. च न–म० ।

हृन्मन्त्रेण तु सास्त्रेण मूर्तिमन्त्राङ्कितेन[1] च ।
तीर्थोद्देशान्नदीतीरात् पुण्यक्षेत्राच्च पर्वतात् ॥ २४ ॥
अपास्य दोषसङ्कीर्णामूर्ध्वादादाय मृत्तिकाम् ।
साऽवचूर्ण्याऽथ संशोष्या[2] सूपलिप्ते धरातले ॥ २५ ॥
शाणमौर्णं[3] च कार्पासं सूत्रं[4] चालसिजं तथा ।
कृत्वा पाषाणभिन्नं प्राग् योज्यं तत्र सवालुकम् ॥ २६ ॥
ईषद्गोमययुक्तेन भूरिक्षीरघृतादिना ।
भावयेत् पञ्चगव्येन खादिरेण कषेण[5] च ॥ २७ ॥
सिद्धार्थकालसिस्नेहतिलोत्थेन[6] च वै सह ।
क्लेदयेच्च त्रिसप्ताहं भाण्डे कृत्वाऽऽयसादिके ॥ २८ ॥
मारुतानलसूर्येन्दुदर्शनेन विनैव हि ।
तया समाप्यं[7] तद्बिम्बं शुभकाष्ठान्तरीकृतम् ॥ २९ ॥
वस्त्रवच्चैव लोहानां कृत्वा प्रक्षालनं ततः ।
मार्जनं भूतिना भूयस्तथा तन्मन्त्रितेन च ॥ ३० ॥
भक्त्या प्रवर्तमानस्तु[8] बिम्बसाधनकर्मणि ।
सर्वत्र चास्त्रमन्त्रस्य कुर्यान्निर्विघ्नशान्तये ॥ ३१ ॥
पूजनं हवनं भूतबलिदानं सदक्षिणम् ।
सम्यग्[9] ग्रहणकाले तु एतत् सामान्यमेव हि ॥ ३२ ॥

अथ मृद्बिम्बनिर्माणार्थं मृत्संग्रहणादिप्रकारानाह—हृन्मन्त्रेणेत्यारभ्य शुभकाष्ठान्तरीकृतमित्यन्तम् ॥ २४–२९ ॥

लोहबिम्बनिर्माणार्थं लोहसंशोधनप्रकारमाह—वस्त्रवदिति । तन्मन्त्रितेन अस्त्राभिमन्त्रितेनेत्यर्थः ॥ ३० ॥

बिम्बनिर्माणप्रारम्भकाले सामान्यतस्तत्तन्मूर्तिमन्त्रार्चनादिकं कार्यमित्याह—भक्त्येति[10] द्वाभ्याम् ॥ ३१–३२ ॥

---

१. न्वितेन—उ० । २. शोष्य—अ० उ० । ३. मूर्ण—बक० बख० उ० । ४. ससूत्रं चावि—मु० अटी० 'बक० बख० । ५. खषेण—अ० । ६. तसि—बक० बख० । ७. समाप्य—बक० बख० । ८. मानास्तु—मु० बक० बख० । ९. सन्मृद्—मु० । १०. भक्तीति—अ० ।

सच्छैलदारुग्रहणे विशेषस्त्वधुनोच्यते ।
सर्वत्रारम्भकाले तु निमित्तमुपलक्ष्य च ॥ ३३ ॥
विशेषाद् वनयात्रायां तच्छुभेन शुभोदयः ।
अशुभेन निमित्तेन यात्रा विघ्नवती भवेत् ॥ ३४ ॥
विरामेण तु जप्येन शान्तिस्वस्त्ययनादिना ।
निवर्तनेन तद्धन्याद् दहते शुभकृद् यतः ॥ ३५ ॥
मन्त्रमभ्यर्च्य[1] यात्रायामभ्यर्थ्याज्ञां विनन्द्य च ।
नैवेद्यशेषभुग् वामे[2]चारस्थः संयतेन्द्रियः ॥ ३६ ॥
प्राङ्मुखः संस्मरेन्मन्त्रं समुत्थायामृतोदये ।
परिज्ञाय पुरा[3] मूर्तिं तन्मूर्त्यन्तरमेव वा[4] ॥ ३७ ॥
यायात् तदीयं दिग्भागं तदभावात् तु चान्यदिक् ।
सहायैरप्रमत्तैस्तु शिल्पिभिः सह संवृतः ॥ ३८ ॥
लाजदध्यक्षतैः कुम्भैर्यायात् पुष्पपुरस्सरैः ।
सौमनस्यं महोत्साहस्त्वङ्गस्पन्दश्च दक्षिणः ॥ ३९ ॥
शुभा वाणी ध्वनिः शाङ्खस्तन्त्री वाद्यं फलादयः ।
गोगजाश्वद्विजाः कन्या नवभाण्डं च मृद् दधि ॥ ४० ॥
आर्द्रमांसान्यलङ्कारो मदिराग्नी[6] घृतं पयः ।
सिद्धान्नं[7] शालिबीजादि दर्भाः सद्रुममञ्जरी ॥ ४१ ॥
छत्रवस्त्रध्वजा[8] यानं रोचना कुङ्कुमं मधु ।
दर्पणं चामरै[9]श्चैव धातवः शस्त्रवर्जिताः ॥ ४२ ॥
रत्नानि वैबुधं बिम्बं मधुमत्तो ह्यकातरः ।
जीवन्मत्स्या[10] निमित्तं च मनसो यदखेददम् ॥ ४३ ॥
तत्सर्वं[5] दर्शने श्रेष्ठं यत् खेददमशोभनम् ।
स्वगृहद्वारदेशाच्च पथि सप्तपदावधि ॥ ४४ ॥

---

१. षार्चन–मु० बक० बख० । २. वामी–अ० उ० । ३. परा–बक० बख० उ० । ४. च–अ० । ५. स्तु–उ० । ६. ग्नि–अ० उ० । ७. सिद्धार्थ–बक० बख० । ८. छत्रं वस्त्रं ध्वजो–अ० । ९. रो हारो–बक० बख० अ० उ० । १०. मत्स्याग्नि–बक० बख० अ० ।

क्रममाणे निमित्तं च फलं यच्छे[1]त्यनेन हि ।
निर्गत्य नगराद् ग्रामात् क्रोशार्धं क्रोशमेव वा ॥ ४५ ॥
गृह्णीयाच्छा[2]कुनं चिह्नं नकुलादिमयं त्वतः ।
पूर्णात् सार्धाधिकात् क्रोशाद् हितकृन्मृगदर्शनम् ॥ ४६ ॥
दिङ्मुखे निर्मले सिद्धि[3]र्व्रजेद् यत्र विशेषतः ।
सि[4]द्धिकृच्चाम्बरं स्वच्छं सुदीप्ता भास्करादयः ॥ ४७ ॥
मरुत् सुखावहः स्निग्धः प्रदक्षिणगतिः स्थिरः ।
दिव्याद्युत्पातनिर्मुक्तः स कालः सिद्धिसूचकः ॥ ४८ ॥
हंसः शुको भरद्वाजः कोकिलः खञ्जरीटकः ।
मयूरो भ्रमरश्चक्रवाकाद्याः खेचराः शुभाः ॥ ४९ ॥
भूचरा नकु[5]लाः सौम्याः सिता[6]हिर्गृहगोधिका ।
गन्धाखुर्जम्बुकश्चैव सर्वेषां दर्शनं शुभम् ॥ ५० ॥
मृगाणां हरिणः सिंहो व्याघ्रः शशकचित्रकाः ।
सिद्धिसंसूचकाः सर्वे सर्वेषां विहितं तु वै ॥ ५१ ॥
प्रदक्षिणं विशेषेण व्यत्यये जम्बुकः शुभः ।
द्विजादिकं[7] रुतं स्निग्धं सिद्धिकृत् तच्च सौख्यदम् ॥५२॥
समुत्पन्ने निमित्ते तु धातुसंक्षेपकर्मणि ।
प्रतीक्षितुं[8] न युज्येत यदा शान्तिं तदाचरेत् ॥ ५३ ॥
पूर्वोक्तां चित्तशुद्ध्यर्थं[9] सविशेषां सदक्षिणाम् ।
प्रविश्य विधिवत् क्षेत्रं निरीक्षेत स्वतेजसा ॥ ५४ ॥
पश्येच्छिलां गुणवतीं तरुं वा कर्मणि क्षमम् ।
वर्जयेदतिवृद्धां च परिक्षीणत्वचं तथा ॥ ५५ ॥
सभङ्गां दावदग्धां च निश्शब्दां रूक्षविग्रहाम् ।
सवालुकां च सच्छिद्रां बिन्दुयुक्तां पुटोद्वहाम् ॥ ५६ ॥

१. ति तेन—अ० उ० । २. च्छ—बख० उ० । ३. द्धिः पूजयेत् तु—बक० ।
४. अस—मु० अटी० । ५. नकुलः सौम्यः—उ० । ६. तादि—बक० बख०, तामि—अ० ।
७ दीनां—मु०, तिकं—बक० । ८. यातुः—अ० उ० । ९. तं च—बक० ।

आखुदर्दुरमीनाहिमार्जार[1]शशकोपमाम् ।
सुवर्णपर[2]वर्णोत्थशिराजालेन सन्तताम् ॥ ५७ ॥
प्रागुक्तरूपस्याभावादमीषां ग्रहणं हितम् ।
पारावतशुकाब्जाभा मधुमाञ्जिष्ठमाषभा[3] ॥ ५८ ॥
गुर्वी हृद्या शुभा स्निग्धा अतो वान्याभिशस्यते ।
सुहृद्ये भूतले मग्ना जलाशयतलस्थिता ॥ ५९ ॥
छन्ना तरुवरेणैव वनराजिष्ववस्थिता ।
वेष्टिता वल्लिवृन्देन तथैवौषधिभिर्वृता[6] ॥ ६० ॥
ऊर्ध्वगा जानुदेशाच्च एकपिण्डीकृता भृगोः[8] ।
मोक्षदा च खवक्त्रा वै भोगदा सुतलानना[10] ॥ ६१ ॥
दिङ्मुखी चोभयकरी प्राङ्मूर्धा भूतिरायुषे ।
अतोऽन्यमस्तका कीर्तिर्यशोवृद्धिकरी मता ॥ ६२ ॥
वंशवृद्धिदमारोग्यशान्तिकृत्कं[11] यदाप्यदिक् ।
पुष्टि[12]मुन्नतिसन्मेधां यच्छत्युत्तरमस्तका ॥ ६३ ॥
एवं पुरा परिज्ञाय पृष्ठोरुचरणं शिरः ।
बलात्मना सवीर्येण प्रोद्धृत्य सह शिल्पिभिः ॥ ६४ ॥
प्राङ्मुखं चोत्तरस्या[13][14]दिक् प्राग्भागे चोत्तराननम्[15] ।
स्थलेऽवतार्य मन्त्रेशमिष्ट्वा स्रक्चन्दनादिना ॥ ६५ ॥
ध्यात्वा शिलान्तःसंरुद्धं सम्पूज्य जुहुयात् ततः ।
उक्तदिग्द्वितयस्यैकदेशे कुण्डेऽथवा स्थले ॥ ६६ ॥
दत्त्वा पूर्णाहुतिं ध्यानजपयुक्तः क्षपेदहः ।
निशागमेऽर्चनं कुर्याद् बलिभिर्भूततर्पणम् ॥ ६७ ॥
नैवेद्यशेषमश्नीयान्मन्त्रविन्यस्तविग्रहः ।
तद्दक्षिणेन दर्भेषु प्राक्छिराः प्रस्वपेज्जपन् ॥ ६८ ॥

---

१. मार्जार–अ० उ० । २. वर–बक०, खर–उ० । ३. मा–मु० अटी० । ४. श्यामा–उ० । ५. जी–अ० । ६. भिः स्मृता–बक० बख० अ० उ० । ७. जान–मु० अटी० । ८. मृदुः–मु० उ० बख०, मृग–बक० । ९. खगवक्त्रा–उ० । १०. लना–मु० । ११. त्वं–उ० । १२. मन्नति–बख० उ० । १३. चोत्तरास्यं–अटी० । १४. स्यां वै–मु० । १५. ननः–बक० ।

पूर्ववत् स्वप्नलाभार्थमुत्थाय रजनीक्षये ।
कुर्यात् स्वकृत्यं जुहुयादशुभस्वप्नशान्तये ॥ ६९ ॥
अभिनन्द्य शुभं स्वप्नं हृदयावर्जकं स्फुटम् ।
पर्वतं च स्वमात्मानं स्थानं तदुपलं स्थलम् ॥ ७० ॥
स्फटिकामलसंकाशं पश्येद् वा तप्तहेमवत् ।
निर्धूमाङ्गारकूटाभं तदाशु लभते शुभम् ॥ ७१ ॥
सशस्त्रमथ चादाय मुद्गरं चास्त्रमन्त्रितम् ।
प्राङ्मुखश्चतुरो वारांस्ताडयेन्मस्तकावधेः ॥ ७२ ॥
पाददेशाच्च वा मध्यादवेक्ष्य च फलं पुरा ।
चतुरश्रायतां कृत्वा भिन्नां पीठेन यन्त्रगाम् ॥ ७३ ॥
आनाय्य वा पृथक्पीठां [1]छन्नां कर्मालयं शुभम् ।
[2]आनुगुण्यपुराणेन विधिना चोद्धरेच्छिलाम् ॥ ७४ ॥
पीठार्थं भिन्नवर्णां च तद्रूपां वा यथेच्छया ।
अङ्गाङ्गिभाव[3]गुणवद् दृषदां तु महामते ॥ ७५ ॥
काष्ठलोहमणीनां [4]चाप्यलाभे सति वै[5] शुभम् ।
सति लाभे न वै कुर्याद्वैषम्यं व्यत्ययं च वा ॥ ७६ ॥
तत्कालमेव चाहृत्य रत्नाधार[6]शिलां शुभाम् ।
पुंस्त्रीनपुंसको[7]त्थाभिः शिलाभिस्त्रि[8]तयं हितम् ॥ ७७ ॥
बिम्बाख्यं विद्धि चाभावात् सर्वबिम्बोपलात् तु वै ।
निषिद्धं भगवद्बिम्बं रत्नपीठमयोपलात् ॥ ७८ ॥
लक्ष्म्याद्या देवताकाराः [9]स्वोपलाः सर्वसिद्धिदाः[10] ।
याऽऽहताऽनलबिन्दून्[11] वै सनादमभिमुञ्चति ॥ ७९ ॥
पुमानिति शिला सा वै निस्तेजा सस्वनाऽबला ।
आदिमध्यावसानेषु नाग्निर्यस्या न च ध्वनिः ॥ ८० ॥

१. जन–अ० । २. विन्यस्य वै पुरा तेन–मु० अटी० । ३. भावं–अ० । ४. च अ–अ० उ० । ५. वा–अ० । ६. धारां–मु० अटी० । ७. भिः स्यात् तथा–मु० अटी० । ८. बिम्बाद्यं–बख० अ० उ० । ९. सो–उ० । १०. कृत्–बक० बख० अ० उ० । ११. बिम्बौघं–अ० उ०, बिम्बोऽयं–बक० बख० ।

नपुंसकेति सा ज्ञेया स्वपदस्था फलप्रदा ।
शिलाग्रहणमित्युक्तं [1]दारुग्रहणमुच्यते ॥ ८१ ॥
आपर्वतान्तःसञ्चारो निर्व्रणं सरलं बृहत् ।
रोगमुक्तं न [2]सिंहाद्यैः प्राङ्[3]नखैः सक्षतीकृतम् ॥ ८२ ॥
नानिलाशनिदावाग्निहतवीर्यं न बाह्यगम् ।
[4]सलक्षणे तु सुस्निग्धे भूभागे चोन्नते स्थितम् ॥ ८३ ॥
प्राग्वत् तमधिवास्यादौ परेऽहन्यर्चयेत् ततः ।
तदाश्रितामविज्ञातस्वरूपां देवतां पठन् ॥ ८४ ॥
इहाश्रितात्मने तुभ्यं नमः सर्वेश्वराय च ।
क्षमस्वावतरान्यत्र सन्तिष्ठात्र चिदात्मना ॥ ८५ ॥
अथास्त्रोदकशुद्धेन विलिप्तेन घृतादिना ।
जपन् मन्त्रवरं वौषट् छिन्द्याद् वै क्रकचादिना ॥ ८६ ॥
प्राच्यामुदीच्यामैशान्यां पतत्यभिमुखं यदि ।
परिज्ञेयं शुभं कुर्यादन्यपातेऽर्चनादिकम् ॥ ८७ ॥
अना[5]र्य्यां देवभागं चाप्य[6]नादेयेन वै विना ।
बिम्बमिच्छति वै कर्तुं वार्क्षं चैवातिविस्तृ[7]तम् ॥ ८८ ॥
अनेकभुजवक्त्रा[8]स्त्रभूषितं तत् तरूत्थितैः ।
भिन्नैरवयवैर्मानयुक्तैः [9]शिष्टैर्न दूष्यति ॥ ८९ ॥
भक्तिश्रद्धावशाच्चैव सर्वं [10]चार्णमयं [11]यतः ।
एवमेकतमस्यापि भक्तिपूर्वस्य वस्तुनः ॥ ९० ॥

विशेषेण शिलादारुसंग्रहणविधानमाह—सच्छैलदारुग्रहण इत्यारभ्य सर्वं मयं तत इत्यन्तम् । एतत्प्रयोगस्तु श्रीसात्वतामृते सुविशदं प्रतिपादितो टव्यः ॥ ३३–९० ॥

---

१. तनु–उ० । २. हिंस्रा–अ० । ३. मूलैः–अ० । ४. सु–अ० उ० । ५. र्या–बक० अ० उ० । ६. च अना–अ० उ० । ७. स्मयम्–अ०, स्मृतम्–उ० । ८. स्त्रैर्भू–अ० । ९. क्तैर्दुष्टै–मु० अटी० । १०. चाणु–अ० उ० । ११. तत इति भाष्यानुसारी पाठः–अटी० ।

संग्रहं च पुरा कृत्वा कुर्यादाकारमीप्सितम् ।
तादर्थ्येन तु सामान्यं सौम्य[1]मानं पुरा शृणु ॥ ९१ ॥
ऋज्वाख्यमविकारं च व्यापकं त्वेकमूर्तिमत् ।
भूभागे सुसमे श्लक्ष्णे मान[2]मुत्कीर्य तेन वै ॥ ९२ ॥
निरूप्यावयवानां च लक्ष्म विस्तृतिपूर्वकम् ।
अष्टाधिकशतांशो यः स्वोन्नतेरङ्गुलं च तत् ॥ ९३ ॥
द्वे अङ्गुले कलानेत्रं गोलकं भाव एव च ।
अङ्गुलादष्टभागो यः स यवः परिकीर्तितः ॥ ९४ ॥
षट्कलं च परिज्ञेयं तालं बिम्बादिकर्मणि ।
मुखाङ्गनाभिमेढ्रक्ष्मास्तालमाना[3]स्त्वथोरुयुक् ॥ ९५ ॥
द्वि[4]कले च तथा जङ्घे [5]गुल्फं जानुर्गला[6]ञ्चकम् ।
त्र्यङ्गुलं त्र्यङ्गुलं ज्ञेयमित्युन्मानमुदाहृतम् ॥ ९६ ॥
जटाधराणां बिम्बानां दीर्घह्रस्ववशेन तु ।
चतुष्कलं च त्रिकलं मानं मानाद् बहिः क्षिपेत् ॥ ९७ ॥
त्रिपञ्चसप्तशिखरो मौलिरष्टकलोन्न[7]तः ।
निर्जटानां ललाटोर्ध्वे मकुटं वा सुशोभनम् ॥ ९८ ॥
[8]तालेन ह्रासवृद्धी तु कार्ये त्वत्र व्यपेक्षया ।
यथोदितेषु भागेषु एकैकेनाङ्गुलेन तु ॥ ९९ ॥
आस्यनासाललाटार्थं वदनांशं भजेत् त्रिधा ।
ततोऽग्रतः कलामानं घ्राणं स्यात् तिलपुष्पवत् ॥ १०० ॥
कलार्धेन तु विस्तारः सोन्नतिस्तत्पुटद्वये ।
नासाग्रग्रासनिर्मुक्तं गोजीमानं चतुर्यवम् ॥ १०१ ॥

---

१. सौम्यं–अ० उ० । २. मुद्गीय–मु० अटी० बक० बख० । ३. मानस्त्व–बक० बख० उ० । ४. द्वितालेे–बक० बख० अ०, विशाले–उ० । ५. ल्फजानुग–बक० बख० अ० । ६. लं चरुम्–मु० बक० बख० उ०, लुञ्छकम्–अटी० । ७. लोऽन्ततः–मु० अटी० बक० बख० । ८. कलेन–बक० बख० उ० ।

तच्चतुर्यवमानेन घ्राणाग्रेणान्तरीकृतम् ।
अर्धाङ्गुलं चोत्तरोष्ठमधरोष्ठं तु चाङ्गुलम् ॥ १०२ ॥

गोलकं चिबुकं विद्धि सृ[1]क्किण्यौ चतुरङ्गुले ।
आद्यस्य नासिकांशस्य मध्यभागसमाश्रिते ॥ १०३ ॥

कुर्यान्नेत्रश्रु[2]तिच्छिद्रे तत्र नेत्रे कलान्तरे ।
कलायामसमं दैर्घ्यात् कलार्धेन तु विस्तृतम् ॥ १०४ ॥

यदुत्पलदलाकारं द्वियवेनाधिकं तु तत् ।
कुर्यात् पद्मदलाकारं नेत्रार्धं वृत्ततारकम् ॥ १०५ ॥

तारादै[3]र्घ्यत्रिभागेन त्वाद्यस्यान्यस्य वा[4]धिका ।
यवेनैकेन सार्धेन ज्योतिस्तत्पञ्चभागिकम् ॥ १०६ ॥

त्रिभागेना[5]पि विहितं तत्पद्मदललोचनं[6] ।
द्विषड्यवं नेत्रकोशं विस्त[7]रेण यवाधिकम् ॥ १०७ ॥

सार्धाङ्गुलद्वयं दैर्घ्याद् भ्रूलते[8] द्विकले स्मृते ।
मध्यतो द्वियवे बालचन्द्रतुल्ये क्रमक्षते ॥ १०८ ॥

तदन्तरं कलार्धं च तत्कोटी समसूत्रके ।
श्रोत्रे द्व्यङ्गुलविस्तीर्णे आयामेन द्विगोलके ॥ १०९ ॥

द्वियवः क[9]ण्ठपरिधिः पर्वणी द्वे चतुर्यवे ।
मध्यं ताभ्यां तथा विद्धि द्रोणी सार्द्धाऽङ्गुलाऽत्र वै ॥ ११० ॥

कलार्धेन तु तच्छिद्रं पाशमानं यथारुचि ।
अङ्गुलाद् द्विकलान्तं[10] तु वैषम्यमपि तत्र यत् ॥ १११ ॥

अन्तश्छिद्रविनिर्मुक्तं तद्विज्ञेयं चतुर्यवम् ।
सदलं करणोपेतमेवं श्रोत्रद्वयं स्मृतम् ॥ ११२ ॥

---

१. सृग्विण्यौ–अ० उ० । २. श्रुती–अटी० । ३. दैर्घ्यात्–अ० उ० । ४. चा–अ० । ५. नाभिवि–बक०•बख० । ६. चने–अ० । ७. विस्ता–मु० अटी० । ८. कले–अ०, तले–मु० बक० बख० । ९. कर्ण–उ० । १०. न्तस्तु–मु० अटी० बक० बख० ।

चतुष्कलं ललाटं तु शिखरे द्वे द्विगोलके ।
उच्छ्रायात्[1] त्र्यङ्गुले चैव अग्रतोऽङ्गुलविस्तृते ॥ ११३ ॥

केशभूमेः समुद्भूतं ललाटोपरि संस्थितम् ।
कुर्यात् कलार्धमानं तु वक्त्रं चालकसंचयम् ॥ ११४ ॥

कपोलपरिधिं कुर्यात् कर्णात्[2] कण्ठगतं समम् ।
तन्मध्ये वर्तुलौ गण्डौ परिच्छिन्नौ पुरोदितैः[3] ॥ ११५ ॥

शिरसः परिणाहं तु[4] विद्धि षट्त्रिंशदङ्गुलम् ।
श्रोत्रकोटिद्वयाच्चैव मस्तकस्य यदन्तरम् ॥ ११६ ॥

तत्षोडशाङ्गुलं विद्धि वर्तिभ्यां पृष्ठतस्तथा ।
सार्धतालं परिज्ञेयं ललाटात्[5] कगुहान्तरम् ॥ ११७ ॥

सत्कम्बुसदृशी ग्रीवा मूलमध्याग्रतो हि सा ।
परिधेर्द्वादशकला एकविंशाङ्गुलाग्रतः ॥ ११८ ॥

अष्टादशाङ्गुला चैव स्वांशात् त्र्यंशेन विस्तृता ।
तन्मूलं विस्तृतौ स्कन्धौ तुङ्गौ वृत्तायतौ समौ ॥ ११९ ॥

षडङ्गुलं तद्बाहुल्यं बाहुमानं[6]मथोच्यते ।
स्कन्धोत्तमाङ्गं त्रिकलं सन्ध्यन्तं षट्कलं स्मृतम् ॥ १२० ॥

सन्धेर्वै[8] मणिबन्धान्तं मानं नवकलं स्मृतम् ।
मणेर्मध्यमशाखान्तो[9] हस्तः सप्ताङ्गुलो मतः ॥ १२१ ॥

परिज्ञेयं कलाहीनं तन्मानं मध्यमाङ्गुलेः[10] ।
तच्चतुर्यवहीना च साऽनामा तु प्रदेशिनी ॥ १२२ ॥

द्विकला च परिज्ञेया साङ्गुष्ठा तु कनीयसी ।
द्विपर्वा च स्मृतोऽङ्गुष्ठः सर्वाश्चाङ्गुलि[11]विस्तृताः ॥ १२३ ॥

---

१. यत्र्य–अ० उ० । २. कर्ण–उ० । ३. दितौ–अ० । ४. च–उ० । ५. टाच्च–अ०, टात् ककुभा–उ० । ६. नं त–उ० । ७. पङ्क्तिरेषा नास्ति–उ० । ८. स्कन्धेर्वै–मु० अटी० बक० । ९. न्तौ हस्तौ सप्ताङ्गुलौ मतौ–अ० । १०. ले–बक० बख० । ११. ल–अ० उ० ।

सर्वासां मूलपर्यन्ताद् ह्रासयेच्च यवं यवम् ।
अग्रपर्वार्धमानेन कार्या लिङ्गोपमा नखाः ॥ १२४ ॥

मानमङ्गुष्ठमूलस्य परिधेश्चतुरङ्गुलम् ।
तच्चतुर्यवहीनं च ज्ञेयं त्रिष्वङ्गुलीषु च ॥ १२५ ॥

न्यूनाङ्गुलेः[1] कला सार्धा[2] प्राग्वद् ह्रासश्च वेष्टनात् ।
अङ्गुष्ठमङ्गुलं चाग्रात् त्रिस्रोऽन्याः षड्यवाः स्मृताः ॥ १२६ ॥

अर्धाङ्गुलाग्रतो न्यूना विद्धि मध्यं क्रमक्षतम् ।
निजलक्ष्मोपलं[3] चाग्रात् साङ्गुलं द्विकलं करम् ॥ १२७ ॥

ईशन्निम्नतलं चैव लक्ष्मरेखाविभूषितम् ।
शाखामूलावधेः पाणी[4] बाहुल्यं द्वे यवेऽङ्गुलम् ॥ १२८ ॥

चतुर्यवाधिकं चैव मणिबन्धावधेः स्मृतम् ।
मध्ये कलार्धहीनं[5] तु तद्बाहुल्यमुदाहृतम् ॥ १२९ ॥

मणिबन्धावधेर्बाहुवेष्टनं षट्कलं स्मृतम् ।
सन्धेः सप्तकलं विद्धि साङ्गुलं[6] त्रियवच्युतम्[7] ॥ १३० ॥

हीनमर्धा[8]ङ्गुलेनैव मूलाद् वै नवगोलकम् ।
तथैव सन्धेरू[9]र्ध्वात् तु विस्तारः प्राग्वदत्र च ॥ १३१ ॥

अत्रापि पूर्ववद् दृष्ट्या कार्याऽन्तःस्था क्षितिः स्वयम् ।
तालं गलावधेस्त्यक्त्वा तन्मानेनान्तरीकृतम्[10] ॥ १३२ ॥

स्तनद्वयं समं कुर्यात् तद्धारा च समांसला ।
निम्नं हृद्गोलकार्धेन ऊर्ध्वतो रत्नराडच्युतम् ॥ १३३ ॥

स्तनाभ्यां त्रिकलौ पार्श्वौ त्रियवं स्तनमण्डलम् ।
यवोन्नतं तथा चाग्राद् विस्तृतं तेन चूचुकम् ॥ १३४ ॥

---

१. मूला–मु० अटी० । २. सार्धात्–अ० । ३. न च लक्ष्मापमं–मु० बक० बख० अ० उ० । ४. पाणि–अ० उ० । ५. तुल्यं–अ० उ० । ६. लं त्र्यवम–मु० अटी० बख०, ल्यक्रम–बक०, लं त्रयम–उ० । ७. च्युत–बक० बख०, च्युत–उ० । ८. मध्या–मु० अटी० बक० बख० । ९. रूर्ध्वं तु–मु० अटी० बक० बख० । १०. कृते–मु० अटी० बक० बख० ।

लोचनं त्रियवं सार्धं कक्षमानमुदाहृतम् ।
स्कन्धमानविनिर्मुक्तं पृष्ट[1]मंसावधेः [2]समम् ॥ १३५ ॥
द्रोणी[3]निकाशसदृशं[4] [5]मध्यराशेः समांसलम् ।
[6]कक्षान्तर्वेष्टनं विद्धि पञ्चतालं [7]सुलोचनम् ॥ १३६ ॥
विनाङ्गुलद्वयेनैव द्वे ताले द्विगुणीकृते ।
यवत्रयसमायुक्ते विद्धि तत्कुक्षिवेष्टनम् ॥ १३७ ॥
त्रियवोनं कलामानं विज्ञेयं नाभिमण्डलम् ।
[8]तन्मानं [9]त्रियवोनं तु तन्निम्नत्वं विधीयते ॥ १३८ ॥
परिधिर्नाभिमध्ये तु त्रितालः[10] सत्रिलोचनः ।
[11]षड्गोलकं च तन्मानपरिवृद्ध्यर्थं कटेः[12] स्मृतम् ॥ १३९ ॥
करिकुम्भोपमौ पीनौ परितः पञ्चगोलकौ ।
स्फिजौ कौपीनराजी च द्व्यङ्गुला मूलतः स्मृता ॥ १४० ॥
परितोऽङ्गुलमाना[13] सा मेढ्रं तु त्रिकलं स्मृतम् ।
चतुर्यवं च तत्कोशं वेष्टनं तु षडङ्गुलम् ॥ १४१ ॥
द्व्यङ्गुलौ वृषणौ दैर्घ्यान्मूलान्तसमविस्तृतौ ।
परितो [14]द्व्यङ्गुलं विद्धि वायुरन्ध्रं सुवर्तुलम् ॥ १४२ ॥
ऊरुमानं परिज्ञेयं मध्यभूमेर्नवाङ्गुलम् ।
षट्कलं मूलदेशाच्च [15]अग्रान्तं त्रिकलं स्मृतम् ॥ १४३ ॥
हीनमेकाङ्गुलेनैव द्विकलं जानुमण्डलम् ।
विस्तारेणोन्नतत्वेन चतुर्यवसमं तु तत् ॥ १४४ ॥
जङ्घामूले परिज्ञेयं[16] वेष्टनं नवगोलकम् ।
द्विसप्ताङ्गुलकं मध्ये सार्धपञ्चाङ्गुलं[17] ततः ॥ १४५ ॥

१. मांसा—मु० अटी० । २. शमम्—बक० बख० । ३. णनी—बक० । ४. शम—बक० बख० उ० । ५. मध्ये राजेः—उ० । ६. पङ्क्तित्रयं नास्ति—उ० । ७. स्व—अ०, स—बक० बख० । ८. तन्मानात्—अ० । ९. तत् त्र्यवोनं—मु० अटी० बक० बख० । १०. कालः—मु० अटी० बक० बख० । ११. सषड्गोलं च तन्मानं—अ० उ० । १२. कटे—मु० अटी० । १३. नाऽसौ—बक० बख० । १४. द्वियवं—मु० अटी० । १५. आयात्तु—अ० । १६. ज्ञेये—मु० अटी० बक० बख० । १७. पञ्चकलं—अ० उ० मु० ।

अत्रापि वेष्टनाद् विद्धि तृतीयांशेन विस्तृतम् ।
मध्यमूलावसानेभ्यो विस्तारमनुगुण्य तु ॥ १४६ ॥

भुजाभ्यां मध्यदेशस्य तथाङ्गुलिगणस्य च ।
ऊरुयुग्मस्य जङ्घाभ्यामापाद्या द्वि[1]पहस्तता ॥ १४७ ॥

सताल[2]भागमानं च दैर्घ्यं वै चारणं स्मृतम् ।
पार्ष्णी द्विगोलकतते तन्मध्ये साङ्गुले कले ॥ १४८ ॥

त्रिकलं चाग्रतश्चैव बाहुल्येन कलासमम् ।
पाद[3]मङ्गुष्ठनिकटात्[4] त्रियवोनं प्रकीर्तितम् ॥ १४९ ॥

बाहुल्यं[5] च कलामानं गुल्फदेशाच्च साङ्गुलम् ।
कनीयोऽङ्गुलिमूलाच्च गुल्फान्तं पिण्डिकाङ्गुलम् ॥ १५० ॥

जङ्घावसान[6]देशाच्च वेष्टनं सप्तलोचनम् ।
कलाहीनं तदैवाग्रात् परिणाहो[7] विधीयते ॥ १५१ ॥

चरणं विधिनानेन[8] कूर्मपृष्ठं समाप्य च ।
त्र्यङ्गुलेन च तद्दैर्घ्यादङ्गुष्ठस्य च दीर्घता ॥ १५२ ॥

पञ्चाङ्गुलः परिज्ञेयः परिधिस्तस्य लाङ्गलिन् ।
यवद्वयाधिका कार्या तद्दैर्घ्यात् तु प्रदेशिनी ॥ १५३ ॥

अङ्गुष्ठायामतुल्याऽथ कार्या वै पादमध्यमा[9] ।
मध्याङ्गुलेर्द्विरष्टांशहीना तदनु या स्थिता ॥ १५४ ॥

तद्वत् तदनुगा या च त्रिपर्वास्तास्तु पूर्ववत् ।
संयुक्ता नखजालेन कूर्मपृष्ठोपमेन च ॥ १५५ ॥

---

१. द्विवि–अ० । २. सतालं–अ० उ० । ३. पद–मु० अटी० । ४. रात्–मु० अटी० । ५. लं–मु० अटी० बक० बख० उ० । ६. स्थान–बक० । ७. णामो–अ० । ८. तेन–बक० बख० । ९. पदमध्यगा–बक० बख० अ० उ० ।

द्विकलं तु कलार्धोनं[1] पादतर्जनिवेष्टनम् ।
चतुश्चतुर्यवोनं च तच्छेषाणां प्रकीर्तितम् ॥ १५६ ॥
त्र्यंशेन वेष्टनाद् विद्धि सर्वासां चैव विस्तृतिम्[2] ।
सर्वे समांसलाः सौम्याः समास्त्ववयवाः शुभाः ॥ १५७ ॥
दशनावलिबाह्यस्थे दंष्ट्रे सप्तयवोन्नते ।
यवद्वयोन्नतं[3] मानं मध्यदन्तचतुष्टये ॥ १५८ ॥
तत्पक्षगाणां[4] सर्वेषां मानं विद्धि चतुर्यवम् ।
त्रियवं द्विजविस्तारमग्रान्मूलाद् यवद्वयम् ॥ १५९ ॥
तत्सार्धं मध्यदेशाच्च सर्वे दन्ता निरन्तराः ।
लोम प्रदक्षिणावर्तमयुग्जन्मोत्थितं[5] शुभम् ॥ १६० ॥
सुनिश्चितं हितं चैतन्मान[6]मव्यभिचारि यत् ।
मनोहारित्वमेकत्र रूपलावण्यभूषितम् ॥ १६१ ॥
सर्वदा चानयोर्विद्धि अन्योन्यत्वेन[7] संस्थितिम्[8] ।
सु[9]सौन्दर्यं तु मानस्य क्वचिदाक्रम्य वर्तते ॥ १६२ ॥
लावण्यस्य क्वचिन्मानं समाच्छाद्या[10]वतिष्ठते ।
यथातिरूपवान् लोके दरिद्रोऽप्येति[11] मान्यताम् ॥ १६३ ॥
विरूपोऽप्यतिवित्ताढ्यो नारूपो नैव निर्धनः ।
एवं द्वयोज्झितं बिम्बमनादेयत्वमेति च ॥ १६४ ॥

अथ बिम्बस्य सामान्यतो मानोन्मानादिलक्षणमाह—एवमेकतमस्यापीत्यारभ्य अयुग्जन्मोत्थितं शुभमित्यन्तम् ॥ ९१–१६० ॥

एवमुक्तस्य मानादेः किञ्चिद्वैषम्येऽपि सौन्दर्यातिशयविशिष्टं चेद् बिम्बमुपादेयम्, सौन्दर्याभावेऽपि मानयुक्तं चेत् तदपि ग्राह्यम्। ताभ्यां द्वाभ्यामप्युज्झितं चेत् तत् त्याज्यमिति सलौकिकदृष्टान्तमाह—सुनिश्चितमिति सार्धेश्चतुर्भिः ॥ १६१–१६५ ॥

---

१. यवा–बक० बख० उ० । २. तम्–बक० बख० । ३. तान्मानं–बक० । ४. काणां–अटी० । ५. युं जन्मार्थिदं–अ० । ६. चैव तन्मानं व्यभि–बक० बख० । ७. अन्यूनत्वेन–अटी० । ८. तम्–बक० अ० । ९. स–मु० अटी० अ०, सं–बक० । १०. च्छिद्या–अ० । ११. ह्येति–अ०, भ्येति–उ० ।

आदेयमेकयुक्तं च नित्यं य[1]स्मान्महामते ।
स[2]म्यङ्माने च सौन्दर्ये भक्तानुग्रहकाम्यया ॥ १६५ ॥
मा[3]न्त्रसन्निधिशक्तिर्वै सफला ह्यवतिष्ठते ।
सा सम्यक् प्रतिपन्नस्य बिम्बे दृग्गो[4]चरस्थिते ॥ १६६ ॥
अ[5]मूर्ता ह्लादयत्याशु ज्ञात्वैवं यत्नमाचरेत् ।
मानोन्मानप्रमाणानामथ सौन्दर्यसिद्धये ॥ १६७ ॥
ऋजोः सु[6]समपादस्य त्र्यङ्गुलं चरणान्तरम् ।
तद् वै विषमपादस्य अ[7]ग्रात् तालसमं स्मृतम् ॥ १६८ ॥
तत्पार्ष्णिद्वयमध्यात् तु परिज्ञेयं द्विगोलकम् ।
स्थित्यर्थं ब्रह्मनाड्या वै तथा मार्गद्वयस्य च[8] ॥ १६९ ॥
सूत्रेण सुसमे कुर्याद् देहोत्थे दक्षिणोत्तरे ।
समपादस्य बिम्बस्य ललाटान्मेढ्रमस्तकम् ॥ १७० ॥
प्रसार्य सूत्रमाच्छाद्य तेन नाभिहृदन्तरम् ।
घ्राणाग्रमलकानां च सन्धिर्यस्तिलकोर्ध्वगः ॥ १७१ ॥
एवं विषमपादस्य दक्षाङ्गुष्ठाग्रगं नयेत् ।
गात्रसाम्यं समापाद्यं क्षेत्रात् क्षेत्रगतेन च ॥ १७२ ॥
सूत्रेण सर्वबिम्बानां वैषम्यविनिवृत्तये ।
च[9]तुस्त्रिद्व्यश्रिपरितः[10] परिशुद्धा यतः शुभाः[11] ॥ १७३ ॥

एवं बिम्बस्य प्रमाणवत्त्वे सौन्दर्यवत्त्वे च "आभिरूप्याच्च बिम्बस्य"[12] इत्युक्त-रीत्या निरतिशयाह्लादजननी भगवत्सान्निध्यशक्ति(बि ? बिं)म्बे[13]स्वत एवाविर्भूता सफलाऽवतिष्ठते, अतस्तदर्थं सुतरां यत्नः कार्य इत्याह—सम्यङ्माने चेति सार्ध-द्वाभ्याम् ॥ १६६–१६७ ॥

समपादविषमपादबिम्बानां सूत्रेणावयवसाम्यपरीक्षामाह—ऋजोः सुसम-

१. यः स्या—बक० बख०। २. साम्य—बक०। ३. मन्त्र—मु० अटी०, मान्त्री—अ० उ०। ४. चरे—अ० उ०। ५. अमूर्ता—अटी०। ६. सुलभ—उ०। ७. अग्राज्जाल—बक०। ८. तु—उ०। ९. चतुस्त्रिश्रीपरिमितः—अ० उ०। १०. परतः—मु०। ११. शुभः—बक० बख० अ० उ०। १२. 'अर्चकस्य तपोयोगादर्चनस्यातिशायनात्। आभिरूप्याच्च बिम्बानां देवः सन्निधिमृच्छति ॥' इत्ययं श्लोको देवीपुराणवचनत्वेन समुद्धृतो धर्मसिन्धौ तृतीये परिच्छेदे प्रतिमानिर्णयविचार-प्रकरणे। १३. तत—अ०।

अशुभाऽपरिशुद्धा[1] तु बिम्बोत्थाऽवयवी[2] स्थितिः ।
ललाटमश्ववक्त्रस्य विस्ताराद् द्वादशाङ्गुलम् ॥ १७४ ॥
अष्टलोचनमायामाद् अग्रतश्चतुरङ्गुलम् ।
कलार्धसुषिरे घ्राण[3]रन्ध्रे भागान्तरीकृते ॥ १७५ ॥
अष्टाङ्गुले तु हनुके सृ[4]क्किण्यौ द्वेऽथ तत्समे ।
मध्यतः श्रोत्र[5]शुक्ती द्वे द्वयङ्गुले द्विकलोन्नते ॥ १७६ ॥
द्वयङ्गुलं घ्राणवंशं तु तदूर्ध्वं द्विकलं स्मृतम् ।
विद्धि वक्त्रविकासं च द्वियवं चाग्रतः क्रमात् ॥ १७७ ॥
तमेव हि यवांसेन हन्वन्तं तनुतां नयेत् ।
घ्राणवंशस्य पक्षौ द्वौ[6] मध्यनिम्नौ च [7]संहतौ । १७८ ॥
यवद्वयेन सार्धेन दृग्घ्राणाभ्यां तु चान्तरे[8] ।
[9]अथो दलं तु दृग्द्रोणेर्यवमानेन [10]सञ्चितम् ॥ १७९ ॥
ललाटं [11]सालकं प्राग्वद् दृङ्मध्यं साङ्गुला कला ।
नृसिंहस्य मुखे विद्धि परितश्चाष्टलोचनम् ॥ १८० ॥
[12]ततोऽष्ट[13]कण्ठदेशाच्च कुर्यात् कर्णद्वयोज्झितम्[14] ।
तत्कर्णद्वयमानेन ललाटान्तं नयेत् पुनः ॥ १८१ ॥
प्रमाणात् प्राक् प्रणीताच्च [15]संरम्भाघ्रातलक्षणम्[16] ।
[17]प्रफुल्लविकसच्छिद्रं घ्राणवंशान्वितं भवेत् ॥ १८२ ॥

पादस्येत्यारभ्य बिम्बोत्थाऽवयवी स्थितिरित्यन्तम् ॥ १६८–१७४ ॥

अथ हयग्रीवबिम्बस्य मुखलक्षणमाह—ललाटमश्ववक्त्रस्येत्यादिभिः ॥ १७४–१८० ॥

---

१. वृत्ता–अ० । २. यव–बक० बख०, त्थोऽवयवः स्थितः–उ० । ३. घ्राणे–मु० अटी०, ज्ञाने–श० । ४. क्वि–मु० बक० बख०, ग्वि–अ० । ५. तृश–अ०, त्रश–उ० । ६. तु–अ० । ७. सौहृ–बक०, संहृ–अ०, संस्मृ–उ० । ८. रा–अ० उ० । ९. अधो–बक० बख० उ० । १०. कु–अ० उ० । ११. मा–उ० । १२. ततोष्ठ–मु० । १३. खण्ड–बक० बख० । १४. त्थितम्–बक०, त्थितः–अ० । १५. म्भात्–अ० । १६. णः–बक० । १७. प्रप्लुतं–बक० बख०, प्रफुल्लं–उ०, प्रफुल्लविकजं सान्द्र–अ० ।

तच्छिद्रे[1] पूर्वमानाच्चाप्य[2]स्य वै त्रियवाधिकम् ।
[3]संगोलमुत्तराङ्गेषु सकलांशं च लोचनम् ॥ १८३ ॥
अधरोष्ठं परिज्ञेयं सचतुर्यवमङ्गुलम् ।
साधं चतुष्कलं वक्त्रं शे[4]षायामो हनोः स्मृतः ॥ १८४ ॥
तद्विकासः परिज्ञेयो नेत्रमानं यवाधिकम् ।
अग्रतो हा[5]समायाति सृक्कि[6]ण्यन्तं हि चाङ्गुलम् ॥ १८५ ॥
सर्ववृत्तं तदर्धेन नेत्रयुग्मं सविस्मयम् ।
पूर्ववद् विस्तृतं श्रोत्रं कलार्धोनं[7] तदुन्नतेः ॥ १८६ ॥
तुल्या चेन्दुकला युग्मयोगस्य भ्रूस्त्रिगोलका ।
तन्मध्यं तु कलामानं शङ्खावर्तोपमं महत् ॥ १८७ ॥
भागमानं सं[8]टावृत्तं कार्यं[9] तच्छिरसि स्फुटम् ।
दैर्घ्येण सार्धतालं च क्ष्माधरस्याननं स्मृतम् ॥ १८८ ॥
विस्तारेण ललाटाच्च तन्मानं द्व्यङ्गुलोज्झितम्[10] ।
[11]सौम्यरूपस्य च विभोः प्रोद्यतस्य कलोज्झितम् ॥ १८९ ॥
तच्चतुर्थांशमानेन पोत्रदेशस्य विस्तृतिः ।
तस्योपरिष्टाद् बाहुल्यं तत्समं चाङ्गुलं त्वधः[12] ॥ १९० ॥
हनुद्वयस्य वै मानं सार्धं[13] सप्ताङ्गुलं स्मृतम् ।
शेषमाननरन्ध्रं तु सृक्किणीभ्यां यदन्तरम् ॥ १९१ ॥
तद्विकासश्च सार्धेन कलार्धेनाग्रदेशतः ।
स एवाङ्गुलमानेन विज्ञेयः सृक्कि[14]णीद्वयात् ॥ १९२ ॥

श्रीनृसिंहवक्त्रलक्षणमाह—श्रीनृसिंहस्येत्यादिभिः ॥ १८०–१८८ ॥

१. द्र–मु० अटी० बक० बख० । २. च्च अ–अ० । ३. सगोम चत्वरं गोष्ठं–अ०, यगोमुच्चत्तरङ्गेषु–उ० । ४. शेष–बक० बख० उ० । ५. ग्रास–मु० अटी० । ६. क्वि–मु० अटी०, ग्वि–अ० । ७. र्धेन–मु० अटी० उ० । ८. कः–अ० । ९. समा–बक० बख०, सदा–उ०, सत्य–अ० । १०. त्थितम्–अ० । ११. नास्त्येषा पङ्क्तिः–उ० । १२. द्यतम्–अ० । १३. ततः–उ० । १४. क्वि–मु० अटी०, ग्वि–अ० उ० ।

घ्राणरन्ध्रं च वक्त्रोक्ते दंष्ट्रे द्व्यर्धकलोन्नते।
नासावंशं यथापूर्वं कदलीनाडिपृष्ठवत् ॥ १९३ ॥
श्रोत्रे वाजिमुखोक्ते तु कोटेः सप्तकलान्तरे।
तत्तुल्ये लोचने किन्तु प्रान्ततीक्ष्णे यवोज्झिते ॥ १९४ ॥
एतेषां विहिता ग्रीवा ह्यङ्गुलद्वितयेन तु।
प्रत्येकदेशात् संयुक्ता सौम्यमूर्त्युदिता च या ॥ १९५ ॥
विनोच्छ्रायेण नृहरेर्यस्य गात्रस्य या प्रमा।
सा सा सवेष्टनाद् व्यासात् कलार्धेनाधिका भवेत् ॥ १९६ ॥
वक्षःकट्युदरांसस्फिक्कलामानाधिकानि च।
तथैव नखपत्राणि देहश्चास्य समांसलः ॥ १९७ ॥
सम्पूर्णो दक्षिणावर्तैर्लोमभिश्चातिकुञ्चितैः।
त्रिचतुःपञ्चवक्त्रस्य विनैवोर्ध्वमुखेन तु ॥ १९८ ॥
दक्षिणोत्तरवक्त्राभ्यां ह्रासं कुर्याद् द्विगोलकम्।
विकासः सिंहवक्त्रोक्त उदग्वक्त्रस्य तत्र च ॥ १९९ ॥
समो दृक्सन्निवेशस्तु चतुर्णां मोक्षसिद्धये।
आरोग्यभोगकैवल्यप्राप्तयेऽर्धाङ्गुलेन तु ॥ २०० ॥
कुर्यात् सव्यापसव्याभ्यामधो दृक्सन्निवेशनम्।
सह पूर्वाननेनैवं साम्यं प्रत्यङ्मुखस्य च ॥ २०१ ॥
निष्कासायामविस्तारघ्राणदृग्भ्रूश्रुतिष्वथ।
ईषत्तिर्यक्क्षितिर्न्यस्तदृङ्मुखं दक्षिणं शुभम् ॥ २०२ ॥
तद्वच्च पोत्रदृग्वक्त्रमुत्तरं सर्वसिद्धिकृत्।
स्वकार्यसूचनान्न्यूनं तन्मन्त्रस्य च सन्निधिः ॥ २०३ ॥

अथ वराहवक्त्रलक्षणमाह—दैर्घ्येण सार्धतालं चेत्यादिभिः ॥१८८–१९४॥

अथ हयग्रीवादीनां ग्रीवाद्यवयवलक्षणानि त्रिचतुःपञ्चवक्त्रादिबिम्बस्य

---

१. त्वर्ध–बक० बख० अ०। २. स्थिते–अ०। ३. सहिता–बक० बख० उ०। ४. संरुद्धात्–अ०। ५. प्रभा–बक० बख० अ०। ६. चैव सम्यक्–मु० अटी०। ७. निष्ठा–मु० अटी०। ८. तिं न्यस्य दुर्मुखं–अ०। ९. न्मानं–बक०।

अतोऽन्यथा समाश्रित्य शान्तिमास्ते च मन्त्रराट् ।
नित्यं तत्[1]सन्निधानाच्च भूतवेतालराक्षसाः ॥ २०४ ॥
आ दर्शनात् पलायन्ते आविशन्ति च दर्शनात् ।
आदाय शिरसा मन्त्रि[2]समाज्ञां सम्प्रयान्ति ते ॥ २०५ ॥
अतः समाचरेद् य[3]त्नाद् येन स्याद् बिम्बसन्निधिः ।
नहि तत्सन्निधानाद् वै कश्चिदारभते शुभम् ॥ २०६ ॥
वराहदंष्ट्रं सिंहाक्षं तथा चिपिटनासिकम् ।
विधेयं पञ्चमं वक्त्रं पञ्चवक्त्रस्य वै विभोः ॥ २०७ ॥
अस्याधरोत्तराभ्यां त्वप्योष्ठाभ्यां समता भवेत् ।
विभिन्न[4]ताऽङ्गुलार्धेन ताभ्यां तन्मध्यगा स्फुटा ॥ २०८ ॥
कार्या दशनपाली वै मूलमध्याग्रतः समा ।
कलार्धेनोल्बणं वृत्तं तद्गण्डद्वितयं ततः ॥ २०९ ॥
द्विकलं चाग्रतः श्मश्रु कला चार्धकला क्रमात् ।
स[5]म्बन्धवेणिः पूर्वोक्तमानेन शुभकृद् भवेत् ॥ २१० ॥
सिंहसूकरवाज्या[6]ख्यवक्त्राणां सौम्यतां नयेत् ।
प्रमाणं दृग्गताल्लक्षाद् व्यवहारमयात् तु वै ॥ २११ ॥
विकासश्चाश्ववक्त्रोक्तः सौम्यरूपस्य भूभृतः ।
तदाद्योक्तस्तु नृहरेः प्रागुक्तो यः स[7] चोदितः ॥ २१२ ॥
तथा वक्त्राङ्गभावित्वे विभोः शक्तीश्वरस्य च ।
हारनूपुरवस्त्रस्रक्कटकाङ्गदभूषिता[8] ॥ २१३ ॥
माल्योपवीतकेयूरमकुटाद्युपशोभिता[9] ।
प्रतिमा मन्त्रमूर्तीनां कृता भवति सिद्धिदा ॥ २१४ ॥

मुखाद्यवयवलक्षणानि[10] चाह—एतेषां विहिता ग्रीवेत्यारभ्य कृता भवति सिद्धिदेत्यन्तम् ॥ १९५-२१४ ॥

---

१. सत्—अ० । २. मान्त्री—उ० । ३. यत्तो—बक० । ४. विविक्तता—बख० अ० उ० । ५. संबद्ध—अ० उ० । ६. जीभ—अ०, वान्मु—बक० बख० मु० । ७. स चोद्यतः—मु०, समाचरेत्—बक० बख० उ० । ८. ताः—अ० उ० । ९. ताः—अ० उ० । १०. लक्षणं—अ० ।

यत्पुरा पञ्चधा प्रोक्तं वाहनं प्राणदैवतम् ।
तस्य बिम्बसमुत्थेन तालेन मुखमण्डलम् ॥ २१५ ॥
द्व्यङ्गुलं तु ललाटोक्तं जटाबन्धो द्विलोचनः ।
द्व्यङ्गुलेनोन्नतः क[1]ण्ठ उरः पञ्चकलं स्मृतम् ॥ २१६ ॥
अष्टाङ्गुलं तदुदरं कटिः पञ्चाङ्गुलोन्नता ।
नवाङ्गुलोन्नतावूरू जानुनी द्व्यङ्गुले स्मृते ॥ २१७ ॥
अष्टाङ्गुलोच्छ्रिते जङ्घे द्व्यङ्गुले [2]पादपिण्डके ।
[3]शमभेकं[4]कलाहीनं तद्ग्रीवायाश्च वेष्टनम् ॥ २१८ ॥
बिम्बतुल्या परिज्ञेया सर्वदाऽस्याङ्गविस्तृतिः ।
तद्विभागाधिकं विद्धि वेष्टनं ह्युदरस्य च ॥ २१९ ॥
परिधिः कटिदेशस्य चतुर्नेत्राधिकस्तु वै ।
बिम्बोक्तं[5]सदृशं विद्धि तदूर्वोर्मूलवेष्टनम् ॥ २२० ॥
तदेव जङ्घामध्यस्य जङ्घान्तस्य तदेव हि ।
पादं पञ्चकलायामं चतुरङ्गुलविस्तृतम् ॥ २२१ ॥
त्र्यङ्गुलं [6]पाणिदेशाच्च[7] अङ्गुष्ठोऽर्धकलासमः ।
विज्ञेया अङ्घ्रिदैर्घ्याच्चै [8]र्यवोनाङ्गुलयः क्रमात् ॥ २२२ ॥
नाभिरन्ध्रं सुविस्तीर्णं ह्यर्धलोचनविस्तृतम् ।
[9]मध्यमाङ्गुलिपर्यन्तं मणिब[10]न्धान्नवाङ्गुलम् ॥ २२३ ॥
त्रिकलः पाणिविस्तारस्तन्नखा निशितोन्नताः ।
तद्बाहुमस्तकं विद्धि उच्छ्रायेण द्विलोचनम् ॥ २२४ ॥
भुजोपभुजयुग्मं यत् तद् द्वितालसमं स्मृतम् ।
कलार्धेनाधिकं बिम्बं बाहोस्तद्बाहुवेष्टनम् ॥ २२५ ॥

सत्यसुपर्णादिगरुडव्यूहलक्षणमाह—यत्पुरा पञ्चधा प्रोक्तमित्यारभ्य स्थिताना-

---

१. कर्णः—उ० । २. पद—बख० । ३. श्याम—उ० । ४. मेकं—मु० अटी० उ० । ५. बिम्बोक्तं—बक० बख० अ० उ० । ६. पार्ष्णि—बक० बख० अ० उ० । ७. देशाच्च—मु० बक० बख० । ८. यवेना—मु० बक० बख० । ९. पङ्क्तिद्वयमेतत् पङ्क्तिद्वयानन्तरं स्थापितम्—अ० । १०. बन्धं—अ० ।

[1]बिम्बोक्तां [2]सद्विधिं ह्येवं स्तनभ्रूर्लोचनोल्बणा ।
वृत्तवैपुल्यमानेन लोचने पद्मपत्रवत् ॥ २२६ ॥
भ्रूयुगं नरसिंहोत्थं घ्राणाग्रं शुकचञ्चुवत् ।
कलार्ध[3]मानं दीर्घं च तद्वंशं गजपृष्ठवत् ॥ २२७ ॥
स्वायामदीर्घं तत्पक्षयुगलं कुक्षिदेशगम् ।
तदेव [4]दैर्घ्यादर्धेन विस्तृतं हंसपक्षवत् ॥ २२८ ॥
स्वपक्षमानाद् द्विगुणं तत्पुच्छं शतशाख[5]कम् ।
[6]संपक्षमिममायामं [7]सत्यं त्ववयवान्वितम् ॥ २२९ ॥
सर्वेषां [8]विद्धि सामान्यं विशेषाख्यमथोच्यते ।
ऊरुद्वयान्नयेद् ह्रासमङ्गुलानां त्रयं तथा ॥ २३० ॥
जङ्घाकाण्डोच्छ्रितेः कुर्याज्जङ्घाभ्यां चात्र वेष्टनम् ।
बिम्बाख्यं मणिबन्धस्य सम[9]मूलान्महामते ॥ २३१ ॥
[10]जानुदेशात् तदर्धेन सह चार्धाङ्गुलेन तु ।
पादे [11]जालं परिज्ञेयं विस्तारेण षडङ्गुलम् ॥ २३२ ॥
शेषं सत्योदितं सर्वं सर्वेषां विद्धि सर्वदा ।
किन्तु पादोज्झितौ[12] पक्षौ दैर्घ्यात् तद्दलविस्तृतौ ॥ २३३ ॥
एषां[13] चोड्[14]डीयमानानां स्वायामा पक्षविस्तृतिः ।
पक्षिणां च परिज्ञेया स्थितानामर्धलक्षणा ॥ २३४ ॥
एतदादाय मानं तु पुच्छभ्रूपक्षवर्जितम् ।
विद्धि वामनरूपस्य लक्षणं किन्तु लाङ्गलिन् ॥ २३५ ॥

मर्धलक्षणेत्यन्तम् ॥ २१५–२३४ ॥

वामनलक्षणमाह—एतदिति सार्धद्वाभ्याम् ॥२३५–२३७॥

---

१. बिम्बोष्ठां–बक० बख० उ० । २. सद्विधि–बक० बख०, साद्विधी–अ०, सद्वये–उ०, सद्विती–मु० अटी० । ३. मान–अ० उ० । ४. दैर्घ्यदीर्घेण–अटी० । ५. खिनम्–बक० बख० अ० उ० । ६. स्व–बक० बख० । ७. सत्यं–बक० बख० अ० उ० । ८. सिद्धि–उ० । ९. मूलां–मु० अटी० बक० बख० । १०. ज्वाला–मु०, ज्वाल–अटी०, जाल–बख० अ० उ० । ११. जाल–बक० बख० । १२. स्थितौ–अ० । १३. एषा–बख० अ० उ० । १४. डुय–बख० अ०, त्प्लव–उ० ।

ललाटनासावक्त्रेभ्यः समादायाङ्गुलत्रयम् ।
मस्तकस्योपरिष्टात् तु जटाबन्धं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥
जटावसानमायामं यथा स्यात् पञ्चतालकम् ।
इत्युक्तं लेशतो बिम्ब[1]लक्ष्म पीठ[2]मथोच्यते ॥ २३७ ॥
बिम्बानामुपविष्टानां चतुरश्रं[3] तु तद् भवेत् ।
चतुरश्रायतं[4] चैव प्रोत्थितानां सदैव हि ॥ २३८ ॥
वृत्त[5]वृत्तायतत्वेन ह्यनयो रूपमन्यथा ।
याऽङ्गुलैः परमाणूत्थैराराधकमयैस्तु वा[6] ॥ २३९ ॥
[7]घत्तेऽर्चा[8] तु समायामं द्वाराद् वा मन्दिरोत्थितात् ।
तन्मानेन तु पीठस्य [9]दैर्घ्यमर्धेन विस्तृतिः ॥ २४० ॥
द्वारोर्ध्वाच्च त्रिरन्तानि[10] एकपूर्वाणि वै पुरा ।
सन्त्यज्य द्वादशांशाद् वै अधः[11] पीठोन्नतिस्त्रिभिः ॥ २४१ ॥
[12]शेषेणास्त्रांशसङ्घेन प्रतिमा चोत्थिता भवेत् ।
अथवा वाहनारूढा न्यूना वा मध्यमोत्तमा ॥ २४२ ॥
चतुर्भिर्द्वादशांशैस्तदुपविष्टस्य चोन्नतिः ।
विहिता चास्य सर्वत्र प्रतिमार्धेन विस्तृतिः ॥ २४३ ॥
तत् त्र्यंशपरिलुप्ता च[13] चतुर्थांशोज्झिता[14]ऽथवा ।
परिवारवशेनैव चातुरात्म्यस्य वै पुनः ॥ २४४ ॥

उक्तनि(र्ग?ग)मनपूर्वकं पीठलक्षणमाह—इत्युक्तं लेशतो बिम्बमित्यारभ्य विलोमाद् विपरीतदमित्यन्तम् ॥२३७–२८१॥

---

१. बिम्बं–अ० उ० । २. पीत–उ० । ३. स्रायतं–बक० बख० । ४. रश्रं तथाप्यन्यं–बक० बख० । ५. वृत्ता–बक० । ६. वै–अ० । ७. यत्तेऽर्चा–मु० । ८. चानु-अ० उ० । ९. अङ्गुल्यर्धेन–बक० बख०, अर्घ्यमस्त्रेण–अ०, अर्घ्यमर्धेन–उ० । १०. रन्ध्राणि–अटी० । ११. अयः–बक०, रथः–अ० । १२. णाक्रां–बक० बख०, ण त्र्यं–अ० । १३. वा–बख० अ० उ० । १४. स्थिता–अ० ।

अलुप्तांशं च विहितं पीठायामं च सर्वदिक् ।
चतुर्दिग्दृग्गतस्यैवमेकदिग्दृग्गतस्य च ॥ २४५ ॥
तदेव दै[1]र्घ्यद्विगुणं लाञ्छनैरावृतस्य च ।
सार्धं चानावृतस्यैव तद्बाहुल्यं पुरोदितम् ॥ २४६ ॥
[[2]चतुष्कमेकपीठानां केवलं लक्ष्मवर्जितम् ।]
एकैकं लक्ष्मभेदेन तत्संख्यं विद्धि वै पुनः ।
अनन्तासनमाद्यं च द्वितीयं पक्षमन्दिरम् ॥ २४७ ॥
कमलाङ्कं तृतीयं तु चतुर्थं चक्रभूषणम् ।
एवं हि सर्वसामान्यं पीठानां हि द्विरष्टकम् ॥ २४८ ॥
भेदभिन्नं समासेन पुनरेव निबोधतु ।
दिक्षु लक्ष्माणि पीठानां विद्धि कण्ठगतानि च ॥ २४९ ॥
अन्योन्यसन्निवेशाच्च तेषां बा[3]ह्यात्मना पुनः ।
च[4]क्राम्बुजाभ्यां तत्स्थाभ्यां लुप्ताभ्यामपि तत्क्षितेः ॥ २५० ॥
ता[5]भ्यामन्योन्ययोगाच्च दिक्ष्वनन्तखगाश्रयात् ।
द्वि[6]द्वयात्मना द्वयात्मना वा बहुत्वमवधारय ॥ २५१ ॥
पद्मेनोर्ध्वगतेनैव द्वयं चक्रेण तद्बहिः ।
एवं ह्यधोगतेनैव परिज्ञेयं द्वयं द्वयम् ॥ २५२ ॥
उपरिष्टात् तु पद्माभ्यामधश्चक्रं द्वयं द्वयम् ।
द्वितयव्य[7]त्ययाच्चान्यत् परिज्ञेयं महामते ॥ २५३ ॥
अन्तर्बहिःस्थितिवशाच्चक्रपद्मद्वयस्य च ।
व्यत्ययादनयोर्विद्धि ऊर्ध्वभागाच्चतुष्टयम् ॥ २५४ ॥
अधोभागादेवमेव चतुष्कमपरं तु वै ।
पीठाना[8]मष्टकमिदमधस्तादूर्ध्वतस्तु[9] वा ॥ २५५ ॥

---

१. दैर्घ्यं—अ० उ० । २. नास्त्येषा पङ्क्तिः—मु० अटी० । ३. बह्वा—मु०, बाह्या—अटी०, सा ह्यात्मना—अ० । ४. वक्त्रा—मु० अटी० बक० बख० । ५. नाभ्या—मु० । ६. विद्या—बक० बख०, द्वित्वा—अ० । ७. व्यक्तया चा—बक० बख० । ८. मिष्टक—बक० बख० । ९. स्त्वतः—अ० ।

युक्तमेकेन वै कुर्याच्चक्रेण कमलेन वा ।
चक्राकारास्तु विहिता ह्येकभ्रमसमाश्रिताः ॥ २५६ ॥
बहवो हि दलास्तद्वदीषद्[1] वै कर्णिकान्विताः ।
इति लाञ्छनसञ्चारो बहुधा ते[2] मयोदितः ॥ २५७ ॥
यस्मिन् प्रकृतिभूते तु पीठे तदधुना शृणु ।
कृत्वा द्विर्दशधा पीठं पुरायामात् समैः पदैः ॥ २५८ ॥
एकेन चरणं जङ्घा कलशौ च त्रिभिस्त्रिभिः ।
कण्ठवीथिमथैकेन ड्षभिः कण्ठं तदूर्ध्वतः ॥ २५९ ॥
भागेन कण्ठसूत्रं तु शुक्तिकांशत्रयेण तु ।
उष्णीषं च तदूर्ध्वे तु कुर्यादंशद्वयेन वै ॥ २६० ॥
निर्गमः स्वदलेनैव विहितश्चरणस्य तु[3] ।
चतुर्दिक्षु महाबुद्धे क्षेत्रतो[4]ऽभ्यर्येधिकः स्मृतः ॥ २६१ ॥
सर्ववृत्तं घटं कुर्यात् पल्लवैर्वारकैर्युतम् ।
परितोंऽशद्वयेनैव कं[5]ण्ठपीठं प्रवेशयेत् ॥ २६२ ॥
अन्तः[6]प्रवेशमेकेन विध्यंशेन गलस्य च[7] ।
कुर्याद् गलप्रवेशस्य समां सूत्रस्य निःसृतिम्[8] ॥ २६३ ॥
शुक्तेरधः कण्ठसूत्रभागात् पादेन निर्गतम्[9] ।
वदनान्तं समासेन शुक्तेः संकोचमाचरेत् ॥ २६४ ॥
उष्णीषघटं[10]जङ्घानामश्रि[11]साम्यं यथा स्थितम् ।
घटवद् भूषयेच्छुक्तिमरकैर्वाब्जपल्लवैः ॥ २६५ ॥
तत्रोपरिष्टात् परिधिं चतुरंशकसम्मितम् ।
सन्त्यज्य निखनेद् द्रोणीमंशनिम्नां समन्ततः ॥ २६६ ॥

---

१. स्ताव–अ० । २. तन्मयोदितम्–बक० बख० । ३. च–मु० अटी० । ४. तो ह्य–अ० उ० । ५. कर्ण–मु० अटी० । ६. इतः २८१ संख्यापर्यन्ताः श्लोका वारद्वयं लिखिताः–उ० । ७. तु–अ० । ८. विस्तृतिम्–अ० । ९. निर्मितम्–बक० बख० । १०. सं–बक० बख० उ० । ११. मश्री–अटी० उ० ।

विस्तृतेर्मध्यभागेऽथ स्वत्र्यंशेन च[1] निर्गमम्[2] ।
तन्मानं चतुरश्रं तु पीठक्षेत्राद् विनिर्गतम् ॥ २६७ ॥
तच्चाग्रतस्त्रिधा कृत्वा पक्षभागौ क्षयं नयेत् ।
अनुपादेन चामूलात् सम्यग् लाङ्गलवक्त्रवत् ॥ २६८ ॥
अग्रतो मूलदेशाच्च कृत्वादौ वै त्रिधा[3] त्रिधा ।
भूयस्तन्निखनेन्मध्याज्जलं याति यथा द्रुतम् ॥ २६९ ॥
सूकराननतुल्यं तु भवत्येवं महामते ।
कुर्याद् वै शङ्खसदृशं मर्करास्योपमं[4] तु वा ॥ २७० ॥
जलनिर्गममेतद् वै पीठेषूदितलक्षणम् ।
न कुर्यात् कर्मबिम्बानामा[5] शमादिमितात्मनाम् ॥ २७१ ॥
चित्रमृत्काष्ठजानां तु चलानां[7] तु विशेषतः ।
तथैव[8] चतुरश्रस्य चतुर्मूर्तिगतस्य च ॥ २७२ ॥
प्रणालमग्रगं मूर्तेर्यतः संसिद्धिहानिकृत् ।
प्रयोजनं विना काचिन्न क्षतिस्तस्य तद्विना ॥ २७३ ॥
सामान्यस्य तु वै यस्मादाधारस्य विशेषतः ।
सप्रणालं भवेत् पीठमासनं च प्रणालकम् ॥ २७४ ॥
भूरिनीरादिना स्नानं यत्र यच्छति साधकः ।
प्रत्यहं तद्विना तत्र प्रत्यवायो भवेत् स्फुटम् ॥ २७५ ॥
एवमेव बृहद्बिम्बभूषितानां विधीयते ।
धातुशैलोत्थितानां च निमित्तस्नपनार्थतः ॥ २७६ ॥
भद्रासनगते कर्मबिम्बे तस्य समाचरेत्[9] ।
सततं च यथालाभं[10] दधिक्षीरघृतादिना ॥ २७७ ॥

१. तु—मु० अटी० । २. निर्मितम्—बक० बख० । ३. धिया—अ० । ४. मकर—अटी० बख० । ५. मने त.—अ० । ६. मशमा—मु० अटी० बक० बख० । ७. चपलानां—मु० अटी० बक० । ८. पङ्क्तिचतुष्टयं नास्ति—मु० अटी० । ९. तदा—अ० उ० । १०. भागं—अ० उ० ।

तोयेन तन्नयेद् यत्नाद् भूभागं वा प्रतिग्रहम् ।
यथा नाक्रम्यते पादैर्जन्तुभिस्तन्महर्धिदम् ॥ २७८ ॥
अतः प्रणालं विहितं निषिद्धमत एव हि ।
[1]तत्संस्थापनकाले तु देवानां दिग्[2]विधेहि तम् ॥ २७९ ॥
प्राक्प्रत्यगाननानां च तदुदग्दिग्गतं शुभम् ।
उदग्दक्षिणवक्त्राणां प्राग्भागे विहितं सदा ॥ २८० ॥
तत्पुनर्भद्रपीठीय[3]देवाद् वामेऽर्थसिद्धिकृत् ।
सदैवाराधकानां तु विलोमाद् विपरीतदम् ॥ २८१ ॥
पीठवच्च परिज्ञेयं प्रासादस्य च[4] उच्यते ।
शुभे दिनेऽनुकूले च नक्षत्रे पूजिते ग्रहे[5] ॥ २८२ ॥
लग्ने स्थिरे स्थिरांशे च दृक्शुद्धे चोत्तरायणे ।
दिव्याद्युत्पातसंशुद्धे सितपक्षेऽमलेऽम्बरे ॥ २८३ ॥
आ जलान्तं कृते खाते पूर्ववत् संप्रपूरिते ।
विमुक्तदोषे भूभागे सर्वलक्षणलक्षिते ॥ २८४ ॥
पू[6]रणादंशशेषे तु सूपलिप्ते धरातले ।
चतुष्षष्टिपदीभू[7]ते प्राग्वत् सूत्रेण सर्वदिक् ॥ २८५ ॥

अथ प्रासादनिर्माणविधिं दर्शयन् तत्र वास्तुपुरुषार्चनपूर्वकं तन्मध्ये महाकुम्भस्थापनविधिमाह—पीठवच्च परिज्ञेयमित्यारभ्य वर्णाध्वा च तदूर्ध्वत इत्यन्तम् । आ जलान्तं कृते खाते पूर्ववत्संप्रपूरित इत्यत्र पूर्ववदित्यनेनाष्टादशपरिच्छेदोक्तः क्ष्मा[8]परिग्रहो गृह्यते । एवं क्ष्मापरिग्र[9]हादिकं पौष्करे[10] विस्तरेणोक्तमत्रापेक्षितम् । अत एवेश्वरतन्त्रे[11] तत्संगृहीतं द्रष्टव्यम् ।

---

१. इतः पूर्वम्–'जन्मान्तं वा जगत्यन्तं कैरवान्तं गलन्तकम् । पट्टिमध्यं तलं पञ्चभेदं सर्वेषु यामसु ॥' इत्येष श्लोकोऽधिको दृश्यते–बक० बख० । २. दिग्वये–अ० उ० । ३. पीठीयं–अ० । ४. सदु–अटी० अ० उ० । ५. गृहे–अटी० उ० । ६. पुराण–बक० बख० । ७. पदे–मु० अटी० बक० बख० । ८. अष्टादशपरिच्छेदे ४–१२ श्लोकेषु क्ष्मापरिग्रहो वर्णितः । ९. ग्रहं–अ० । १०. द्विचत्वारिंशाध्यायोऽत्रत्यो द्रष्टव्यः । ११. ईश्वरे (१६।१४) श्लोकतः पौष्करतन्त्रानुपूर्वीकं प्रकरणमेतदारभ्यते ।

स्नातः शुक्लाम्बरः स्रग्वी कृतन्यासः सुशान्तधीः ।
सर्वसाधनसंयुक्तश्चार्घ्यपात्रसमन्वितः ॥ २८६ ॥
मङ्गल्यकुम्भमादाय ध्यायमानोऽच्युतं हृदि ।
सह चैकायनैर्विप्रैः सदागमपरायणैः ॥ २८७ ॥
तथा ऋङ्मयपूर्वैस्तु आ मूलाद् भगवन्मयैः ।
विशेत् प्रासादभूभागं मध्ये कुम्भं निधाय तम् ॥ २८८ ॥
कुर्यान्निरीक्षणं भूमेस्ताडनं प्रोक्षणं तेतः[1] ।
सेचनं पञ्चगव्येन सह चास्त्रोदकेन[2] तु ॥ २८९ ॥
ओङ्काराद्यं पवित्रान्तं मन्त्राणां प्राक् चतुष्टयम् ।
पाठयेच्च सपुण्याहं ब्राह्मणान् कृतमण्डनान्[3] ॥ २९० ॥
बाह्वृचं शाकुनं सूक्तं ततो भद्रं यजुर्मयान् ।
इडा मयेति[4] सामज्ञान् शान्ता द्यौरित्यथर्वणान् ॥ २९१ ॥
ईशकोणात् समारभ्य प्रागादौ प्रतिपङ्क्तिषु ।
द्वादशाक्षरमन्त्रेण स्वनाम्ना तु पदे पदे ॥ २९२ ॥

एवं क्ष्मापरिग्रहप्रयोगः कुम्भस्थापनादिप्रयोगश्च श्रीसात्वतामृते सुस्पष्टं प्रतिपादितः । एवं प्रासादभूमध्ये स्थापितकुम्भो[5]धिदेवता बिम्बप्रतिष्ठान्तं प्रत्यहं पूजनीयाः । तदनन्तरमपि प्रतिदिनं विमानार्चनप्रकरणे तदर्चनविधानमीश्वरपारमेश्व[6]रयोरेव सुस्पष्टं प्रतिपादितम् । किन्तु पारमेश्वरे विमानार्चनप्रकरणे पौष्करोक्तरीत्या "तेषां विदिक्स्थितानां च" (१०।२३) इत्यादिभिर्विदिक्स्थितकुम्भचतुष्के स्वमन्त्रेण लक्ष्मीम्, पूर्वादिदिक्स्थितकुम्भचतुष्के स्वमन्त्रेण कौस्तुभम्, मध्यकुम्भे षडक्षरेण निष्कलं[7] शब्दविग्रहं शक्त्यात्मानं भगवन्तं न्यसेदित्युक्तम् । "तत्र मध्यमकुम्भस्य" (१०।२६) इत्यादिभिर्मध्यमकुम्भपिधाने[8] पराशक्तिः प्रभाशक्तिश्च, दिक्षु स्थितकुम्भपिधानचतुष्के ज्ञानशक्तिः, विदिक्कुम्भपिधानचतुष्टये क्रियाशक्तिर्न्यस्तव्येति चोक्तम् । पुनः सात्वतोक्तरीत्या "पिधाननवके" (१०।२८) इत्यादिभिर्नवशक्तिन्यासपक्षो[9]ऽप्युक्तः । पारमेश्वर-

१. तथा–बक० बख० । २. सास्त्रो–बक० बख०, शास्त्रो–अ० उ० । ३. मङ्गलान्–बक० बख० । ४. मयेति–अटी० अ० उ० । ५. कुम्भादि–अ० । ६. ईश्वरे (३।१७६–१९४), पारमेश्वरे (१०।८७–१०६) च प्रकरणमेतद् द्रष्टव्यम् । ७. निष्कटे–अ० । ८. पिधानस्थाने सर्वत्र विधानपदं प्रयुक्तम्–म० । ९. क्षोपरक्तः–अ० ।

नतिप्रणवगर्भेण दैवतं[1] देहलक्षणम् ।
यष्टव्यो[2] वास्तुपुरुषो दधिस्रक्चन्दनादिना ।। २९३ ।।
सात्त्विकेनोपहारेण अग्नौ सन्तर्पयेत् ततः ।
कुर्यात् कुम्भप्रतिष्ठानं यथा तदवधारय ।। २९४ ।।
पूर्ववत् तोरणाद्यैस्तु भूभागमुपशोभयेत् ।
कर्णिकालयवक्त्रस्य[3] अग्रतस्तत्क्षितेर्बहिः ।। २९५ ।।
सर्वोपकरणोपेतं कुर्यान्मण्टपमुत्तमम्[4] ।
कुण्डाष्टकान्तरस्थं च स्थलं तत्राष्टहस्तकम् ।। २९६ ।।
सपिण्डिका द्विहस्तास्तु कुण्डाः पूर्वोक्तलक्षणाः ।
त्रिहस्तापचिता[5] वीथी स्यादेवं द्विनवः शमः ।। २९७ ।।
पूर्ववत् प्रतिकुण्डे तु विनिवेश्यं च साधनम् ।
आत्मनश्चोत्तरे कुर्यात् कुण्डं चाथ[6] समस्थले[7] ।। २९८ ।।

व्याख्यातृभिस्तु "मध्यकुम्भस्य पिधाने मध्यतो निष्कलः शब्दविग्रहः षडक्षरः" इत्युक्तम् । तदज्ञानमूलकम्, "षडक्षरेण मन्त्रेण निष्कलं शब्दविग्रहम्" (१०।२५) इति वाक्यस्य पूर्ववाक्य एव योजनीयत्वात् । एवमुत्तरत्र योजिते विरोधबाहुल्याच्च । पारमेश्वरमूलभूतपौष्करसंहितायां द्विचत्वारिंशेऽध्याये "षडक्षरेण" (४२।१६६) इति वाक्यानन्तरं सार्धश्लोकषट्कमतिलङ्घ्यैव[8] "शक्तिर्वा या परा देवी" (४२।१७३) इत्यादिकमुक्तम्, तदबुद्ध्वा पारमेश्वरसंहितादर्शनमात्रेणैव सर्वज्ञम्मन्यमानैर्व्याख्यातृभिरेवमुक्तम्[9] । किञ्च, "मध्यकुम्भपिधानस्य चतुर्दिक्षु विश्वसन्धारणक्षमा ज्ञानशक्तिः, तद्विदिक्ष्वानन्दलक्षणा क्रियाशक्तिः" इत्युक्तम् । अत्र[10] पराशक्तिः प्रभाशक्तिश्च ज्ञानक्रियाशक्त्योरिवात्मनोऽपि यथोक्तस्थानव्यत्ययः संभवेदिति[11] भिया व्याख्यातृदृष्टिगोचरतामेव न प्रापतुः । अत्र चतुःशक्त्यर्चनं पौष्करे कण्ठरवेणोक्तम्—

पिधाननवकं दद्यात् ताम्रं वा शैलजं समम् ।
सुवृत्तं चतुरश्रं वा सुघनं द्वादशाङ्गुलम् ॥
चतुःशक्तिनिरुद्धं च (४२।१७२–१७३) इति ।

---

१. देवतादेहलक्षणः–अ०, देवतां देहलक्षणाम्–उ० । २. स वास्तुपुरुषो नाम–बक० बख० । ३. निर्णिक्ता–बक० अ० उ० । ४. मण्डल–बक० उ० । ५. त्रिहस्तपरिता वीथि–बक० बख० । ६. शम्बु–बक०, शम्भु–बख०, शम–अ० । ७. समण्डले–अ० । ८. षट्कं तिलस्यैव–अ० । ९. मानैव व्या–अ० । १०. अत्रापरा–अ० । ११. हि या–अ० ।

दक्षिणे पूर्ववद् देवमवतार्य यजेत् क्रमात् ।
स्थला[1]यां स्थण्डिलस्योर्ध्वे उन्नतायां च पूर्ववत् ॥ २९९ ॥
तर्पयित्वा यथाकाममुद्धृत्याग्निगणं ततः ।
दिक्कुण्डेषु विनिक्षिप्य संस्कृतेषु च पूर्ववत् ॥ ३०० ॥
तथैव च विदिक्स्थेषु उद्धृत्याभ्यर्च्य वै क्रमात् ।
ततः प्रभवयोगेन चतुर्दिक्षु निवेशयेत् ॥ ३०१ ॥
चतुरो वासुदेवादीन् नाम्ना एकायनान् द्विजान् ।
स्वाभिः स्वाभिरसंख्यं तु तैः कार्यमभिधाय च ॥ ३०२ ॥
कर्मावसानं हवनं साज्यैस्तु तिलतण्डुलैः ।
एवमप्ययोगेन [2]वाय्वादीशानगोचरम् ॥ ३०३ ॥
ऋग्वेदाद्यांस्तु चतुरः संस्कृत्यादौ तथा न्यसेत् ।
तैरप्यच्युतलिङ्गैस्तु स्वशाखोक्तैश्च पावनैः ॥ ३०४ ॥
हवनं विधिवत् कार्यं भक्तियुक्तेन चेतसा ।
अथेशकोणमासाद्य ब्राह्मणैरपरैः सह ॥ ३०५ ॥
[3]प्राङ्निर्दिष्टं न्यसेत् तत्र स्नानोपकरणं तु यत् ।
दशार्धगव्यपूर्वं तु कलशेषु पृथक् पृथक् ॥ ३०६ ॥
तानर्च्यार्घ्यादिना पश्चाद् द्विषट्केनाभिमन्त्र्य च ।
समानीय शिलोपेतान् कलशान् पूर्वसम्भृतान् ॥ ३०७ ॥
उत्कृष्टधातुसम्भूतान् नवशैल[4]मयांस्तु वा ।
समान् सुपक्वान् सुघनान् मृण्मयांस्तदभावतः ॥ ३०८ ॥

शक्तिचतुष्टयमपि तत्रैव विवृतम् "शक्तिर्वा या परा देवी" (४२।१७३) इत्यादिभिः । [5]प्रागादिचतुष्टये ज्ञानशक्तिः, आग्नेयादिपिधानचतुष्टये क्रियाशक्तिरित्यर्थोऽपि पारमेश्वरे[6] "विदिग्व्यक्तिसमूहे तु" (१०।२७) इत्यत्र व्यक्तिपदेनैव ज्ञायते । तदपि स्पष्टमुक्तं पौष्करे "विदिग्घटसमूहे तु" (४२।१७४) इत्यत्र। अत्र घटशब्दस्य तत्पिधाने लक्षणा । अपि च, "पिधाननवके त्वस्मिन्" (पा० सं० १०।२८) इत्याद्युक्तज्ञानभासादिशक्तिन्यासस्य पक्षान्तरत्वमपि न ज्ञातम् ।

१. याः—बक० बख० । २. वाय्वाशादीशगोचरम्—बख० अ० । ३. 'प्राङ्निर्दिष्टं… पश्चाद् द्विष' नास्ति—उ० । ४. समां—मु० । ५. रागादि—अ० । ६. श्वरेऽपि दिव्यशक्ति—अ० ।

द्वादशाङ्गुलिविस्तीर्णास्तन्मानेन तु चोन्नतान् ।
द्विगुणान् सति सामर्थ्ये नृपाणां हेमजान् हितान् ॥ ३०९ ॥
तत्संख्यं चतुरश्रं तु द्वादशाङ्गुलविस्तृतम् ।
तत्त्र्यंशतुल्यं बाहुल्यात् शिला[1]वृन्दं समाहरेत् ॥ ३१० ॥
संस्थाप्य विधिवत् कुम्भान् पूर्वोक्तेन क्रमेण तु ।
कम्बुतुल्यमथैकं वा तत्कण्ठं त्र्यङ्गुलोन्नतम् ॥ ३११ ॥
तद्गुणैरपि विस्तीर्णं तत्खातोऽष्टाङ्गुलः स्मृतः ।
परितः [2]कर्णवर्जं तु शङ्खो वा सुसितो महान् ॥ ३१२ ॥
[3]विहितो [4]जैननाथस्तु अन्तःशुद्धस्तु साक्षतः ।
एवं हि सान्तराद् बाह्यात् समालभ्याधिवास्य च ॥ ३१३ ॥
फलैर्हेमादिकै रत्नैः सर्वौषधिमयैस्ततः ।
गन्धैर्बीजैस्तथा धान्यैर्विद्रुमाद्यैस्तु मौक्तिकैः ॥ ३१४ ॥
नेत्रवस्त्रैरलङ्कारैर्भूषयेत् स्रग्वरैः शुभैः ।
द्वातशाक्षरमन्त्रेण एकैकस्य समाचरेत् ॥ ३१५ ॥
मूर्तिसंसिद्धये न्यासं प्रणवैस्तच्चिदा[5]त्मनो ।
ततश्चार्घ्यादिकैर्भोगैर्बल्यन्तैर्विविधैर्यजेत् ॥ ३१६ ॥
शिलास्वेवं [6]कृते पश्चान्निनयेत् कुण्डसन्निधिम् ।
सशिलं कुम्भवृन्दं तु आधारेषु परिन्यसेत् ॥ ३१७ ॥

ननु तत्र यद्वाऽथवेत्यादिपक्षान्तरत्वगमकशब्दो न दृश्यते, ज्ञानक्रियाशक्त्योः प्रागादिपिधानाष्टके न्यासाङ्गीकारे "पिधाने मध्यतो न्यसेत् (पा० सं० १०।२६) इत्यत्र मध्यशब्दस्य वैय्यर्थ्यं च स्यादिति चेत्, ब्रूमः—पक्षान्तरत्वगमकशब्दाभावेऽप्यर्थपर्यालोचनया तस्य पक्षान्तरत्वं सिद्धमेव । मध्यशब्दप्रयोजनं तु "मन्त्रराट् कर्णिकामध्ये"

---

१. प्रान्तं—बक० । २. कण्ठ—अ० । ३. विहितं तोषितं ना स्याद्—बक० बख० ।
४. हृतनाश—मु० । ५. त्मने-अटी०, त्मनाम्—अ० उ० । ६. कृतैः—बक० ।

तदाधारशिलां पश्चात् तत्र वा मण्टपाद् बहिः ।
एवमेव च संस्कृत्य भावयेत् प्रणवेन तु ॥ ३१८ ॥
ज्वलन्तीं गोसहस्रेण खचितां सूर्यबिम्बवत् ।
ततश्चाराध्य मन्त्रं तु सन्तर्प्य शतसंख्यया ॥ ३१९ ॥
मध्ये तत्कलशं न्यस्य साङ्गं सपरिवारकम् ।
निःशेषशक्तिगर्भं तु व्यापकं[1] ब्रह्मतत्त्ववित्[2] ॥ ३२० ॥
अत ऊर्ध्वं तिर्यगाभिर्वागाद्याभिश्च शक्तिभिः ।
व्रतमूर्तिसमेताभिरभिन्नाभिस्तु तत्त्वतः ॥ ३२१ ॥
पाठयेद् ब्राह्मणांस्तत्र आत्मव्यूहं तु मन्त्रराट् ।
तथैवात्मानुभावाय[3] प्रणवाद्यन्तगं तु वै ॥ ३२२ ॥
तमर्चयित्वा विधिवत् तर्पयित्वा त्वनन्तरम् ।
दिक्स्थितानां च कुम्भानां [4]वासुदेवादिकान् न्यसेत् ॥ ३२३ ॥
पूर्ववच्चानिरुद्धाद्यान् विदिक्[5]संस्थापितेषु च ।
पाठयेच्चातुरात्मीयं संज्ञामन्त्रचतुष्टयम् ॥ ३२४ ॥
प्रभवाप्ययर्योगेन ततः सूक्तं तु पौरुषम् ।
ऋग्वेदान् पाठयेद् भक्त्या युञ्जते[6]त्यपरान् यजुः ॥ ३२५ ॥
रथन्तराख्यं यत्साम सामज्ञान् भगवन्मयान् ।
सहस्रशिरसं चेति मन्त्रां[7]श्चाथर्वणांस्ततः ॥ ३२६ ॥
एकस्मिन् वा महाबुद्धे सर्वोक्तं कलशे हितम् ।
तथैव हवनं[8] कुण्डे मध्यमे विहितं स्वयम् ॥ ३२७ ॥

(पा० सं० ५।१३०) इत्यत्र यथाङ्गीक्रियते, तथैवात्रापीति बोद्धव्यमायुष्मता । पारमेश्वर-व्याख्यातृभिरत्र "नवकुम्भ[9]वत्त्वं वृत्तायतविमानभेदविषयम् । "यत्र प्रासादभेदेषु[10]" (१०।६८) इति वक्ष्यमाणत्वात्" इत्युक्तम् । तदतीव मन्दम्, प्रासादनिर्माणार्थं खात-

१. कब्रह्म-अ० उ० । २. तत् सब्रह्म-अटी० । ३. वादं च-मु० अटी०, भावं च-अ० । ४, 'वासुदेवा' 'पाठयेद् भक्त्या' नास्ति-बक० । ५. विदिक्स्थान् स्था-अ० । ६. वारयेत् परान्-बक० । ७. मन्त्रं चाथर्वणं ततः-बक० बख० अ० उ० । ८. ह्यनलं कुण्डं-बक० बख० उ० । ९. वत् संवृत्ता-अ० । १०. देहे तु-मु० ।

किन्तु क्रमेण वै मन्त्रान् पाठयेच्च यथास्थितान् ।
एवं सम्पातहोमं तु कृत्वा पूर्णान्तिकं ततः ॥ ३२८ ॥
महाशक्तिसमूहस्तु परः सामर्थ्यलक्षणः ।
अभेदेन च मन्त्रादिमूर्तीनां यः स्थितः स्फुटम् ॥ ३२९ ॥
स सन्धेयः शिलानां च स्वनाम्ना प्रणवेन तु ।
ज्ञानभासा निवसति तथाऽनन्तबला प्रभा ॥ ३३० ॥
सर्वगा ब्रह्मवदना द्योतकी सत्यविक्रमा ।
सम्पूर्णा चेति कथिताः शक्तयो विश्वधारिका:[1] ॥ ३३१ ॥
या शिला कलशाधार[2]संज्ञा तां विद्धि सर्वगाम् ।
सामर्थ्यशक्तिसामान्यां निष्कलां पारमेश्वरीम् ॥ ३३२ ॥
सन्तर्प्य मूलमन्त्राच्च शिखामन्त्रेण लाङ्गलिन् ।
अजस्य नाभावध्येकमन्त्रेणैकायनैस्ततः ॥ ३३३ ॥
तादर्थ्येन तु होतव्यमृङ्मयैस्तु तथैव हि ।
होतव्यमस्यवामीयं गायत्रीभिरतोऽपरैः ॥ ३३४ ॥
होतव्यं ब्राह्मणैः सम्यक् तद्व्याप्तेरुपलक्षकैः ।
दत्वा पूर्णां[3] स्वयं कृत्वा स्थलस्थस्यार्चनं पुनः ॥ ३३५ ॥
बलिदानं च भूतानां समाचम्य ततो व्रजेत् ।
प्रासादब्रह्मभूभागं न्यसेत्[4] तत्र महाशिलाम् ॥ ३३६ ॥
संस्मरंश्चक्रमन्त्रं तु सानन्तं प्रणवेन वै ।
बीजभूतं तदन्तःस्थमध्वषट्कं स्मरन् यजेत् ॥ ३३७ ॥

देशे नवकुम्भस्थापनं सर्वविमानसाधारणम्, "अनेकभेदभिन्नेषु प्रासादेषु महामते" (पा० सं० १०।३) इत्यारभ्य लोकव्याप्त्यादीनां सर्वसाधारण्येनोक्तत्वात्, अत्र पौष्करे

---

१. विविधारिकाः—बक० बख० उ० । २. धारा—बक० बख० । ३. पूर्व—बक० बख० ।
४. न्यस्य तत्र—अ० ।

निश्शेषमन्त्रवृन्देन तामर्घ्याद्यैरनन्तरम् ।
द्वारदिग्वीक्षमाणं तु मध्ये मन्त्रघटं न्यसेत् ॥ ३३८ ॥
स्वदिक्ष्वन्यान् यथावस्थान् स्वैः स्वैर्मन्त्रैर्निवेशयेत् ।
ततः स्वशक्तिपाषाणैरेकैकं स्थगयेद् घटम् ॥ ३३९ ॥
पूरयेदस्त्रमन्त्रेण घटानामन्तरं ततः ।
मृदुमृद्वालुकाभिस्तु सुधयाऽचलसिद्धये ॥ ३४० ॥
संवेष्टय नेत्रवस्त्रैस्तु ऋग्वेदान् पाठयेत् ततः ।
आ त्वा हार्षेति सूक्तं तु प्रतिष्ठा साम सामगान् ॥ ३४१ ॥
द्वादशाक्षरसंयुक्तं बैलमन्त्रं पुनः पुनः ।
वक्तव्यं ब्रह्मनिष्ठैस्तु प्रणवान्तं सुभावितैः ॥ ३४२ ॥
तदेकतनुतां यातं संस्मरेत् प्रणवेन तु ।
मूर्त्यादिशक्तिनिष्ठं यन्नामरूपक्रियात्मकम् ॥ ३४३ ॥
द्वादशाक्षरमन्त्रेण भूयः सहृदयङ्गमैः ।
तत्राराध्यं स्वमूर्तिं तु संयजेत् तेजसां निधिम् ॥ ३४४ ॥
ततस्त्वां भगवन् भोगैः पाठयेत् पाञ्चरात्रिकान् ।
अर्चामि तेति ऋग्वेदानर्चा साम च तद्विदः ॥ ३४५ ॥
ततः परिगृहीते तु क्षेत्रे देवगृहीयके ।
द्वादशाङ्गुलमानं तु दिग्विदिक्ष्वष्टकं न्यसेत् ॥ ३४६ ॥
स्नापितं पूजितं सम्यक् शिलानां शुभलक्षणम् ।
तदन्तः सन्निरोद्धव्या बुद्धिधर्मगुणाः क्रमात् ॥ ३४७ ॥
धर्माद्याश्चाग्निकोणात् तु यावदीशपदं पुनः ।
प्रागादावुत्तरान्तं च अधर्माद्यं चतुष्टयम् ॥ ३४८ ॥
शिलानामन्तरे भूमौ षट्कं षट्कं क्रमेण तु ।
न्यस्तव्यं पूर्ववर्णाच्च वर्णानां सावसानकम् ॥ ३४९ ॥

च्चैवं नवकुम्भस्थापनस्य सर्वविमानसाधारणत्वेनोक्तत्वाच्च । पारमेश्वरव्याख्यातृभि-

---

१. होमस्याद्यै–मु० अटी० । २. मन्त्रं–बख० अ० उ० । ३. स्थाप–बक० । ४. बलि–बक० बख० अ० । ५. स्व–बक० । ६. व्यो बुद्धिधर्मगुणः–उ० ।

शब्दब्रह्मानुविद्धां च कृत्वैवं बुद्धिवागुराम् ।
सूत्रभूतां न्यसेत् सम्यक् प्रासादतलसंस्थिताम् ॥ ३५० ॥
न्यसेत् प्राङ्गण[1]भित्त्यर्थं तथैव[2] हि शिलाष्टकम् ।
तासु संरोधयेत् सम्यक् प्रागुक्तांस्तु दिगीश्वरान् ॥ ३५१ ॥
चक्रं तदन्तभूमीनां भ्रमद्वह्निस्फुलिङ्गवत्[3] ।
क्षार्णेन चिन्तयेद् व्याप्तं[4] भूभागं चाङ्गणीयकम्[5] ॥ ३५२ ॥
आभोगं तदधः शेषं तदूर्ध्वे गगनेश्वरम् ।
बहिः[6] प्राङ्गणभित्तीनां सास्त्रं सपरिवारकम् ॥ ३५३ ॥
प्रागादावीशकोणान्तमिन्द्राद्यं चाष्टकं न्यसेत् ।
तथाविधेषूपलेषु अन्तर्भूमिगतेषु च ॥ ३५४ ॥
तत् स्वनाम्नाऽर्चयित्वा तु ऋग्वेदान् पाठयेत् ततः ।
क्लीबो न विद्वानिति वै ये देवांस्तु[7] यजुर्मयान् ॥ ३५५ ॥
देवव्रतं च सामज्ञान् प्रविश्याभ्यन्तरं ततः ।
स्थित्वाऽग्रतो मन्त्रमूर्तेरध्वव्याप्तिमनुस्मरेत् ॥ ३५६ ॥
बीजतश्चाङ्कुरीभूता[8] पुरस्ताद् व्यक्तिमेति या[9] ।
प्रासादपीठपर्यन्तं [10]कुम्भाधारोपलात् तु वै ॥ ३५७ ॥
भुवनाध्वा यथावस्थो भावनीयः[11] पुरोदितः ।
गर्भोच्छ्रायावधिं यावत् पदाध्वानं विलोकयेत् ॥ ३५८ ॥
मन्त्राध्वा शुकनासान्तस्तत्त्वाध्वा वेदिकावधिः ।
कलाध्वा[12]ऽनुगलान्तश्च वर्णाध्वा च तदूर्ध्वतः ॥ ३५९ ॥

रेतन्नवकुम्भेषु शिखाकुम्भत्वभ्रान्त्या व्याख्यानमेवं[13] कृतमिति मन्यामहे। अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । प्रकृतमनुसरामः ॥ २८२–३५९ ॥

---

१. प्राङ्कण–बक० बख० अ० उ०, प्राक्कोण–अटी० । २. तदैव–अटी० । ३. युक्–उ० । ४. व्याप्तिं–बक० बख० । ५. चाङ्क–बक० बख० अ० उ० । ६. सव्यं–अटी० । ७. देवांस्तु–बक० बख० । ८. भूतां–अ० उ० । ९. सा–मु० अटी० । १०. 'कुम्भा....शुकनासान्त' नास्ति–उ० । ११. यस्तु सर्वदा–बख० । १२. ध्वाऽण्डगजा–मु०, ऽनुकलान्तं च–अ० उ० । १३. मेव–अ० ।

समीकृत्य पुरा सर्वं प्रासादं प्रारभेत् ततः ।
[1]तलादूनाधिकाच्चैव साङ्गुलै[2]रुचितैः करैः ॥ ३६० ॥
द्विर्द्वादशकरं यावत् तालेनोनाधिकेन तु ।
शुभाय सिद्धये विद्धि गर्भे देवगृहस्य च ॥ ३६१ ॥
कृत्वा क्षेत्राङ्गुलानां च कराणां वा घनं पुरा ।
त्यजेत् तदष्टभिः सम्यग् यच्छेषं तद्वि[3]चार्य[4] च ॥ ३६२ ॥
[5]एँका[6]द्यष्टमपर्यन्ता ध्वजधूममृगेश्वराः ।
श्वा च गोखरमातङ्ग[7]वायसास्तु ततः शुभाः ॥ ३६३ ॥
एकत्रिपञ्चसप्ताख्याः सर्वत्रैव विधीयते ।
गर्भषड्भागमानेन तद्बहिर्भित्तिविस्तृतिः ॥ ३६४ ॥
तन्मानं परितस्त्यक्त्वा भित्तिरन्या विधीयते ।
एवमत्र[8] क्रमेणैव सह भित्तिगणेन तु ॥ ३६५ ॥
गर्भद्विगुणविस्तीर्णं[9] क्षेत्रं देवगृहस्य च ।
मन्दिरे त्वेकभित्तीये क्षेत्रमानं विधीयते ॥ ३६६ ॥
गर्भोक्तं तत्त्रिभागेन युक्तं युक्तेन वर्त्मना ।
तत्रापि ह्रासवृद्ध्या तु आयशुद्धिं विचारयेत् ॥ ३६७ ॥
एवं निर्जगतीकं च भागं[10] पीठविवर्जितम् ।
प्रासादक्षेत्रमानं च तद्युक्तमवधारय ॥ ३६८ ॥
षट्भागेनाथ पादेन त्रिभागेनोभयात्मिका ।
विहिता जगती[11] गर्भा [12]तत्क्रियाविस्तृतिर्भवेत् ॥ ३६९ ॥
[13]अधिकार्धं चतुर्दिक्षु तत्पञ्चांशैस्तु वै त्रिभिः ।
तृतीयांशेन वै मध्ये निर्गमस्तु विधीयते ॥ ३७० ॥

अथ प्रासादलक्षणमाह—समीकृत्य पुरा सर्वं प्रासादं प्रारभेत् तत इत्यारभ्य

---

१. बला—मु०, ताला—अ० । २. रचितैः—अटी०, रुचिरैः—अ० । ३. तद्विधाय—बक० । ४. यंते—अ० । ५. इत आरभ्य २६ संख्याकाः श्लोका न सन्ति—अटी० । ६. त्रैकाद्यष्टक—अ० उ० । ७. मातङ्गा—अ० । ८. पङ्क्तिद्वयं नास्ति—बक० बख० उ० । ९. मन्तर्भ्रमे—बख० अ० उ० । १०. भागपीठं—मु० बक० बख० उ० । ११. भागस्त—मु० बक० बख० । १२. तत्त्रिधा विस्तृतेर्भजेत्—अ० उ० । १३. रध—बक० बख० ।

कोणात् कोणात् तु वै शेषं भागं भागं प्रवेशयेत् ।
उच्चं[1] गर्भसमं पीठं तत्पीठेन दलेन वा ॥ ३७१ ॥
पीठोक्तालयपीठस्य लक्ष्मस्थित्यंशकल्पना ।
चतुर्दिक्षु विधेया वै बहुधाऽनन्तपूर्विका ॥ ३७२ ॥
अथोच्छ्रायं तु वै क्षेत्रात् त्रिगुणं[2] मन्दिरस्य च ।
कुर्यात् त्र्यर्धगुणं चैव द्विगुणं वा यथेच्छया ॥ ३७३ ॥
द्विरेकादशधा कुर्यात् तं च भागैः समं[3] पुरा ।
विधेयं पीठवत् पश्चादेकांशेन मसूरकम् ॥ ३७४ ॥
तदूर्ध्वं विहिता[4] जङ्घा गर्भमानेन चोन्नता ।
भवोपकरणीयाभिर्देवताभिरलङ्कृता ॥ ३७५ ॥
जङ्घायामंशयुग्मेन उपर्यूना[5]धिकेन च[6] ।
कार्यं शिखरपीठं तु पूर्वलक्षण[7]लक्षितम् ॥ ३७६ ॥
किन्तु प्रवेशनिर्यासौ तत्र चार्धांशसम्मितौ ।
शिखरं चात्र[8] विहितं भूमिकानवकान्वितम् ॥ ३७७ ॥
संकोच्य तत्पुरासूत्रमादायोन्नतिसम्मितम् ।
एकस्मादेकवर्णात् तु जङ्घोर्ध्वीयात् प्रसार्य च ॥ ३७८ ॥
संस्पृशेत् शिखरं पीठमञ्जसा तं निरोध्य च ।
प्रासादाद् बहिरार्यत्र भूभागे त्वमलेक्षण ॥ ३७९ ॥
कर्णादूर्ध्वं नयेत् सूत्रं लाञ्छ्यमानं क्रमेण तु ।
शिखरोन्नतिपर्यन्तं चतुर्दिक्ष्वेवमेव हि ॥ ३८० ॥
पर्यटेल्लाञ्छ्यमानं तु कर्णात् कर्णं महामते ।
यावत् कुमुदपत्राभा सा स्याच्छिखरमञ्जरी ॥ ३८१ ॥
एवमालेख्य दृष्ट्या तु सम्पाद्या तन्तुपाततः ।

यावत् परिच्छेदपरिसमाप्ति ।

---

१. उच्च–उ० । २. त्रिकोणं–बक० बख० उ० । ३. सगोपुरा–अ० । ४. निहिता–मु० । ५. उपयूना–मु० अ० उ० । ६. वै–अ० उ० । ७. दक्षिण–बक० बख० उ० । ८. न्यत्र–बख० ।

भूमिकाण्डप्रसिद्ध्यर्थं कार्या सा दशधा पुनः ॥ ३८२ ॥
उपरिष्टात् तु भागेन भवेदामलसारकम् ।
भूमयो भागमानास्तु ततस्तासां समाचरेत् ॥ ३८३ ॥
क्षयवृद्ध्या विधानं तु त्यक्त्वा स्थानं च भूमिकाम्[1] ।
चतुस्त्रिद्व्ये[2]कसंख्यानि स[3]ममानाङ्गुलानि च ॥ ३८४ ॥
नि[4]जभूमेः समारभ्य तानि योज्यान्यधः[5] क्रमात् ।
पूर्वभूमेः समारभ्य ह्यधःस्थे भूमिकागणे ॥ ३८५ ॥
सर्वासां व्यवधानं तु तद् द्विरष्टांशसम्मितम् ।
विभिन्ना पीठरचना तासु कार्या यथास्थिता ॥ ३८६ ॥
सचक्रैर्विविधैः पद्मैः प्रादुर्भावैस्तु चाखिलैः ।
सर्वैर्वा लाञ्छनैर्मूर्तैर्नृत्तगीतरसस्थितैः ॥ ३८७ ॥
नवांशेनोर्ध्वभागात् तु स्वपादेन विनिर्गतम् ।
उष्णीषमूर्ध्वभूमेस्तु कार्यं वै रचनोज्झितम् ॥ ३८८ ॥
शिष्टं कृत्वा त्रिधा पीठम[6]ण्डस्यैकेन पूर्ववत् ।
द्वितीयेन ततः कण्ठं तृतीयेनोर्ध्वगेन[7] तु ॥ ३८९ ॥
सुसमं श्रीयुतं कुर्याद्दण्डं धात्रीफलाण्डवत् ।
नवधोष्णीषकं कृत्वा चतुर्भिर्वेदिकाभ्रमम् ॥ ३९० ॥
त्रिभागपृथुलं[9] कण्ठमण्डं पञ्चाङ्गसम्मितम् ।
पञ्चधा सप्तधा कृत्वा गर्भं वा नवधा पुरा ॥ ३९१ ॥
विहाय पक्षगौ भागौ मध्यभागगणेन तु ।
प्रासादे[10]नाडिका कार्या गर्भार्धेन विनिर्गता ॥ ३९२ ॥
पादेन वा त्रिभागेन [11]सस्तम्भाऽप्यथ[12] केवला[13] ।
उन्नता शिखरार्धेन साऽप्युत्पलदलोपमा ॥ ३९३ ॥
कार्या शिखरपीठोर्ध्वे दिव्यकर्मविभूषिता ।

---

१. कम्–बख० उ० । २. द्विक–बख० उ० । ३. समादाया–बख० अ० उ० । ४. निष्ठा–बख० अ० उ० । ५. न्यतः–अ० उ० । ६. ठं मण्डलस्थेन–मु० अटी० । ७. केन–अ० । ८. द्दण्डं–अ० । ९. 'लं कण्ठमण्डं····पादेन वा त्रि' नास्ति–बक० बख० उ० १०. नासिका–अ० । ११. सप्तं वा–बक० । १२. ह्यथ–बक० बख० उ० । १३. लम्–अटी० बक० ।

ततः शुभतरं कुर्यान्मण्टपं[1] स्तम्भसंयुतम् ॥ ३९४ ॥
भूषितं विहगेन्द्रेण बलिमण्डलगेन[2] च ।
चतुर्द्वारे तथा दिक्षु विधेयं मण्टपत्रयम्[3] ॥ ३९५ ॥
प्रवेशत्रितयोपेतं मण्टपे मण्टपं भवेत् ।
कुर्यान्मण्टपमुक्तं वा यथाभिमतनिर्गमम् ॥ ३९६ ॥
रथोपरथकाद्यं तु तेषां गर्भाद् विधीयते ।
निर्यासो दशमांशेन द्वादशांशेन लाङ्गलिन् ॥ ३९७ ॥
अथवा षोडशांशेन ते कार्या नेमिवत् पुनः ।
चतुर्दिक्पक्षसंलिप्ताः[4] पीठकर्मविभूषिताः[5] ॥ ३९८ ॥
शिखरस्य चतुर्दिक्षु पीठोपरि समापयेत् ।
समं रथकयुक्त्या तु नासिकामञ्जरीगणम् ॥ ३९९ ॥
मध्य[6]देशच[7]तुर्दिक्षु कुर्याद् द्वारगणं समम् ।
[8]त्रिचतुःपञ्चषट्भागे ततो गर्भाद् विधीयते ॥ ४०० ॥
द्विगुणं चोन्नतत्वेन त्रिपञ्चनवशाखिकम् ।
युक्तं द्वास्थद्वयेनैव कुम्भेभदशनैस्तु वा ॥ ४०१ ॥
विधिवत् स्थापनं तस्य मन्त्रपूर्वं समाचरेत् ।
संस्नाप्य मूलमन्त्रेण सम्पूज्यार्घ्यादिना हृदा ॥ ४०२ ॥
शाखामूलगतां कुर्याद् धातुरत्नमयीं स्थितिम् ।
सर्व[9]धारामयं मन्त्रं सन्निरोध्य हि तत्र च ॥ ४०३ ॥
ज्ञानक्रियात्मकं ध्यात्वा शिखामन्त्रेण शाश्वतम् ।
दक्षिणोत्तरभागाभ्यां शाखायुग्मं तु विन्यसेत् ॥ ४०४ ॥
हृन्मन्त्रेण तदूर्ध्वं तु [10]रुदूध्वाद्यं परमेश्वरम्[11] ।
सन्निधीकृत्य सम्पूज्य गगनस्थे [12]हृदम्बरे ॥ ४०५ ॥

अत्र[13] विधिवत् स्थापनं तस्येत्यारभ्य स्थित्यपेक्षावशेनैव ह्यालयस्य तु वै

१. ण्डपं—बख० अ० उ० । २. गेन तु—अ०, केन तु—बक० बख० उ० । ३. सर्वत्र मण्डपशब्दो दृश्यते—बख० अ० उ० । ४. प्तां—बक० । ५. ताम्—बक० । ६. मध्यं—उ० । ७. देशाच्च—अ० । ८. नास्त्येषा पङ्क्तिः—अटी० । ९. सर्वाधार—बक० । १०. ऋध्वाद्यं पार—अटी०, रुद्धचान्तः—बक० अ० उ० । ११. श्वरः—उ० । १२. ह्यदु—मु० अटी० अ० उ० । १३. तत्र—म० ।

द्विविधं धातुजालं तु रत्नं[1] सिद्धार्थकांस्तिलान् ।
चन्दनाद्या हि गन्धा ये क्षीरं दधि घृतं मधु ॥ ४०६ ॥
शालयः सर्वबीजानि सर्वौषध्यः सविद्रुमाः ।
कृत्वा नेत्रेण नेत्र[2]स्थान् द्वारोर्ध्वे विनिवेश्य तान् ॥ ४०७ ॥
दृश्यं भोगाप्तये चैव त्वदृश्यं मोक्षसिद्धये ।
चतुष्पात् सकलो धर्मस्तत्रोर्ध्वे सन्निरोध्य च ॥ ४०८ ॥
चत्वारि शृङ्गा इति यत् पाठयेदृङ्मयांस्ततः ।
कर्म होमचयं कृत्वा पूर्णां मूलेन पातयेत् ॥ ४०९ ॥
एतद्बिम्बप्रतिष्ठानात् प्राग्वत् पश्चात् समाचरेत् ।
[3]स्थित्यपेक्षावशेनैव ह्यालयस्य तु [4]वै विभोः ॥ ४१० ॥
अनन्तभुवनं नाम सर्वकामापवर्गदम् ।
चतुष्प्रकारमेवं हि प्रासादं विद्धि पीठवत् ॥ ४११ ॥
रचनासन्निवेशोत्थभेदेनानेकधा तथा ।
पतत्रीशमृगेन्द्रैस्तु निधिभूतोपमैर्घटैः ॥ ४१२ ॥
शङ्खपद्माङ्किताभिस्तु सोपानपदपङ्क्तिभिः ।
युक्तं द्वारवशेनैव तथा पीठवशात् तु वै ॥ ४१३ ॥
विस्तारः प्रतिदिक्सं[5]स्थैस्त्वरुणस्य विधीयते ।
गर्भोत्थक्षेत्रसं[6]ज्ञा च जगतीकस्य लाङ्गलिन् ॥ ४१४ ॥
ज्ञेयः सजगतीकस्य [7]तन्मानेनापि सर्व[8]दिक् ।
[9]एभ्यः पादाधिकं कुर्यात् [10]पादाद्यंशोज्झितं तु वै ॥ ४१५ ॥
[11]बुद्ध्वा चायतनानां[12] च संस्थितश्चाङ्गने[13] [14]पुरा ।

१. रत्नान्–उ० । २. नेत्रं च–अ० । ३. सिद्ध्य–मु० अटी० । ४. का:–अटी० ।
५. स्थो व–बक०, स्थः स्वरु–अ० । ६. ज्ञो वा–बक० बख० अ० उ० । ७. त्व–मु० ।
८. दृक्–अटी० । ९. येभ्यः पादादिकं–अटी० । १०. पादांशोत्थिततन्तु वै–बक० अ० ।
११. अध्वा–अ०, बध्वा–उ० । १२. मश्च–बक०, न्तं च–अ० उ० । १३. ङ्कणे–मु० अटी० ।
१४. परा–बख० उ० ।

चतुरायतनं विद्धि प्रासादैर्दिक्त्रये[1]स्थितैः ॥ ४१६ ॥
आद्येन सह कोणस्थैस्तत्पञ्चायतनं स्मृतम् ।
विज्ञेयमष्टायतनं त्रिभिरन्यैस्तु दिग्गतैः ॥ ४१७ ॥
विना मध्यस्थितेनैव दिग्गतैस्तु द्विभिर्द्विभिः ।
तद्दशायतनं तेन युक्तमेकाधिकं भवेत् ॥ ४१८ ॥
प्रतोलीपक्षगेणैव प्रासादद्वितयेन तु ।
द्वादशायतनं विद्धि सह मध्यस्थितेन तु ॥ ४१९ ॥
तदेवाधिकसंज्ञं तु अतोऽन्योऽनन्तसंज्ञकः ।
परस्परमुखौ कुर्यात् प्रासादौ द्वारदेशगौ ॥ ४२० ॥
प्रासादाभिमुखाच्चैव दिक्त्रयेऽवस्थितास्तु ये ।
कोणस्थाभ्यां च साम्मुख्यं द्वाभ्यां द्वाभ्यां विधीयते ॥ ४२१ ॥
द्वा[2]भ्यामभिमताभ्यां तु कुर्यादुचितदिङ्मुखम् ।
द्वौ परस्परवक्त्रौ तु कोणदेशसमाश्रितौ ॥ ४२२ ॥
द्वाराण्यनन्तायतने प्रासादानां महामते ।
यथाभिमतदिक्स्थानि कर्तव्यान्यविशङ्कया ॥ ४२३ ॥
न तत्र तेषां भवति वेधदोषः परस्परम् ।
अङ्गभावगतत्वाच्च प्रधानायतनस्य वै ॥ ४२४ ॥
अर्धेन च त्रिभागेन हितैः[3] पादेन चाङ्गना[4]त् ।
परण्डकस्य चोच्छ्रायस्तद्विस्तारस्तथोच्छ्रितेः ॥ ४२५ ॥
तच्च पीठोपमं कुर्यात् श्लक्ष्णं सोष्णीषमेव वा ।
युक्तं कोटिगणेनाथ नानादेवान्तगेन तु ॥ ४२६ ॥
यदेकायतनं चैवं[5] त्वङ्गनं[6] तन्महामते ।
युक्तं लघुपरण्डेन केवलं वा परण्डकम् ॥ ४२७ ॥
यदा द्व्यायतनाद्यं च द्वादशायतनान्तिकम्[7] ।
एकदिग्वीक्षमाणं च चतुरश्रायतेऽङ्गने ॥ ४२८ ॥

---

१. क्रम–अ० । २. द्वाभ्यां त्व–बक०, द्वाभ्यां वा–बख० अ० उ० । ३. हितं–बक० ।
४. णात्–मु०अटी० । ५. चैवं–अ० । ६. त्वाङ्गनं–बक० बख० अ० उ० । ७. मम्–मु० अटी० ।

वृत्तायते वा वितते प्रासादे चोक्तलक्षणे ।
यस्माद् देवालयानां च अङ्गनानां विशेषतः ॥ ४२९ ॥
चतुरश्रादिपीठानां नित्यमेव महामते ।
अन्योन्यानुगतत्वं तु हितं [1]सापेक्षकं तु वै ॥ ४३० ॥
भूमिभागवशेनैव तथैवार्चावशेन तु ।
नानाफलवशेनापि तथा शोभावशेन च ॥ ४३१ ॥
भूलाभश्चतुरश्रात् तु चतुरश्रायताद् धनम् ।
वर्तुलात् सर्वकामाप्तिर्निर्वृतिस्तु तदायतात् ॥ ४३२ ॥
दृष्टादृष्टफलेप्सूनां लोकास्तु महदादयः ।
यच्छन्ति वैष्णवं स्थानमारोग्यं भूमिमुत्तमाम् ॥
वैष्णवानामकामानां च्युतेरन्ते परं पदम् ॥ ४३३ ॥

इति श्री[2]पाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां [3]प्रतिमापीठ[4]प्रासादलक्ष[5]णं नाम [6]चतुर्विं[7]शः परिच्छेदः ॥

■

विभो(४०२–४१०)रित्यन्तं द्वारप्रतिष्ठाविधानमुक्तं ज्ञेयम् । एतत्प्रासादप्रतिष्ठां तु बिम्बप्रतिष्ठानन्तरं वक्ष्यति ॥ ३६०–४३३ ॥

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये चतुर्विंशः[8] परिच्छेदः ॥

■

---

१. पापेक्षिकं–बख० उ० । २. पञ्च–बक० बख० उ० । ३. प्रतिमालक्षणविधिर्नाम–अ० उ० । ४. 'पीठ' नास्ति–मु० अटी० । ५. णविधिर्नाम–मु० अटी० । ६. त्रयोविंशतितमः–अ० । ७. विंशतिः–बख०, शतितमः–उ० । ८. विंशतिः–म० ।

[1]पञ्चविंशः परिच्छेदः

नारद उवाच[2]

सर्वलोकगुरुर्विप्रा यदुक्तो विश्वधारिणा ।
तदिदानीं प्रवक्ष्यामि मन्त्रबिम्बनिवेशनम् ॥ १ ॥
भोगेप्सूनां च वर्णानां साम्प्रतं यदभीष्टदम् ।
कैवल्यदं शमाच्चैव चातुराश्रम्यसेविनाम् ॥ २ ॥
यज्ञधर्मरतानां च सहायं च फलैस्तु[3] तत् ।
प्राग्वद् देवगृहस्याग्रे दिग्भागे[4] सति मण्टपम्[5] ॥ ३ ॥
चतुरश्रं चतुर्द्वारं दर्भमालान्तरीकृतम् ।
अन्यत्र तदलाभे तु यथाभिमतदिङ्मुखम् ॥ ४ ॥
चतुर्दशकराच्चैव यावत् त्रिंशत्[6]करावधि ।
षट्करान्तं पुनस्तस्माद् बिम्बमानव्यपेक्षया ॥ ५ ॥

अथ पञ्चविंशतिः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह वासुदेवेन संकर्षणायोपदिष्टां भोगापवर्गादिफलप्रदां मन्त्रबिम्बप्रतिष्ठां वक्ष्यामीत्याह—सर्वेति सार्धद्वाभ्याम् ॥१–३॥

यागशालालक्षणमाह—प्राग्वदिति सार्धद्वाभ्याम्। प्राग्वत् कुम्भस्थापनप्रकरणोक्तवदित्यर्थः । देवगृहस्याग्रे पुरतः, दिग्भागे सति अवकाशे[7] सति, तत्र चतुर्द्वारं यागमण्टपं कुर्यात् । तदलाभे अग्रालाभे, अन्यत्र दक्षिणादिदिक्षु विदिक्षु वा यथाभिमतदिङ्मुखं यागमण्टपं कुर्यात् । चतुर्दशकराच्चैव यावत् त्रिंशत्करावधि चतुर्हस्तमारभ्य त्रिंशद्धस्तपर्यन्तं बिम्बमानव्यपेक्षया बिम्बबृहत्त्वानुगुण्येन वर्धितविस्तारायामं पुनस्तस्माच्चतुर्दशकरादारभ्य षट्करान्तं बिम्बाल्पत्वानुसारेण ह्रासितविस्तारायामं वा यागमण्टपं कुर्यादिति पूर्वेणान्वयः ॥ ३–५ ॥

---

१. चतुर्विंशतितमः—अ० । २. 'उवाच' नास्ति—मु० अटी० बक० बख० । ३. फलेप्सु—अ० । ४. दिग्लाभे—मु० अटी० अ० । ५. मण्डपम्—बख० अ० उ० । ६. त्रिंशक—बक० । ७. कारे—अ० ।

कार्या मध्ये स्थला तेषां द्विसप्तांशैस्ततोऽष्टभिः ।
समन्तभद्रा[1] सुश्लक्ष्णा चिता पक्वेष्टकादिकैः ॥ ६ ॥
तालोन्नतेः समारभ्य सामान्येऽस्मिन् हि कर्मणि ।
उन्नताङ्गुलवृद्ध्या[2] तु नीता तद् ह्रासतां क्रमात् ॥ ७ ॥
द्वित्रिरष्टांशकैर्मध्ये सर्वासां मण्डलं[3] भवेत्[4] ।
चतुरश्रं चतुर्द्वारं चक्राम्बुरुहभूषितम् ॥ ८ ॥
दक्षिणे शयनं[5] सौम्ये कुण्डमग्नेस्तु पूर्ववत् ।
समेखलं द्विहस्तं तु चक्रपद्माङ्कितं शुभम् ॥ ९ ॥
तदधश्चतुरश्रं प्राग् दाममेखलिकान्वितम् ।
अथ दक्षिणदिग्भागे कुर्याद् वै चक्रचिह्नितम् ॥ १० ॥

तत्र वेदिकालक्षणमाह—कार्येति द्वाभ्याम् । तेषां चतुर्दशादिहस्तमानभेदैर्बहुविधानां मण्टपानां मध्ये द्विसप्तांशैश्चतुर्दशभागैः स्थला कार्या वेदिः कर्तव्या । सा चाष्टभिरष्टभिर्भागैः समन्तभद्रा परितो [6]वीथीयुक्तेत्यर्थः । एवं च मण्टपविस्तारायामौ त्रिंशद्भागान् कृत्वा तेषु चतुर्दशभागैर्वेदिकाकल्पनं शिष्टेषु षोडश भागेषूभयतोऽष्टभिरष्टवीथी[7] कल्पनमिति ज्ञेयम् । तदौन्नत्यं तु तालोन्नतेः समारभ्याङ्गुलवृद्ध्योन्नता, तद्ह्रासतोऽङ्गुलह्रासतो नीचा वा वेदिका कल्पनीयेत्यर्थः । चतुर्दशकरविस्तारायामयागगृहस्थवेदिकायास्तालमानमौन्नत्यम् । तस्मादारभ्य त्रिंशत्करपर्यन्तं यागगेहस्यायामविस्तारयोर्वृद्ध्यां षट्करान्तं ह्रासे वा तद्धस्तसंख्यानुरोधेन वेदिकौन्नत्यस्याप्येकैकाङ्गुलिवृद्धिह्रासौ कार्याविति भावः । एवं च त्रिंशद्धस्तविस्तारायामयागगेहस्थवेदिकायाश्चतुरङ्गुलाधिकहस्तमानमौन्नत्यं भवति ॥ ६–७ ॥

अथ वेदिकायां मण्डलादिस्थलविभागक्रममाह—द्वित्रिरिति द्वाभ्याम् । सर्वासां मानभेदैर्बहुविधानां वेदिकानां मध्ये चतुरश्रत्वादिविशिष्टमण्डलम्, तद्दक्षिणे शयनम्, सौम्ये समेखलत्वादिविशिष्टमग्नेः कुण्डं च क्रमात् क्रमालङ्कारेण द्वित्रिरष्टांशकैः कुर्यादिति योजना । एवं च द्वाभ्यामंशाभ्यां मण्ड[लं] त्रिभिरंशैः शयनमष्टांशैः कुण्डस्थानं च कार्यमित्यर्थः । पारमेश्वरव्याख्याने तु "द्वित्रिरष्टांशकैः क्रमेण नीचा नालोन्नतेर्न्यूनता न कर्तव्येत्यर्थः" इति लिखितम् । तदपहासास्पदम् ॥ ८–९ ॥

अथ वेदिकाया अधस्तात् प्रागाद्यष्टदिक्षु कुण्डाष्टकमाह—तदध इति द्वाभ्याम् ।

१. द्रात् सुश्लक्ष्णाच्चि–बक० बख० उ० । २. नास्त्येषा पङ्क्तिः–अटी० । ३. मण्डपं–मु० बख० उ० । ४. क्रमात्–इति भाष्यव्याख्यातः पाठः । ५. शयने सौम्यं कुण्डमग्नौ तु–बक० बख० उ० । ६. वीथि–म० । ७. वीथि–म० । ८. गेहस्थ–म० ।

वर्तुलं पश्चिमे सौम्ये कमलाङ्कं मनोहरम् ।
शङ्खाङ्कं[1] सर्वकोणेषु मानमेषां यथोर्ध्वगे ॥ ११ ॥
सर्वे दशान्त[2]हस्तानां चतुर्णामेकमेखलाः[3] ।
मण्टपानां[4] तु किन्त्वत्र ऊर्ध्वगं सर्वमेखलम् ॥ १२ ॥
अतोऽधः[5] संस्थिताः सर्वे एककुण्डास्तु मण्टपाः[6] ।
तेषां समेखलं[7] चाद्यं द्वाविंशत्यङ्गुलैर्भवेत् ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वगे कुण्डे यथा मानं द्विहस्तत्वादिरूपं मानम्, एषां[8] प्रागादिकुण्डानामपि तथैवेत्यर्थः ॥ १०–११ ॥

त्रयोदशहस्तपरिमितमण्डपादिषु कुण्डप्रकारमाह—सर्व इति । दशान्तहस्तानां दशहस्तपरिमितमण्डपानामित्यर्थः । चतुर्णां मण्डपानां त्रयोदशहस्तपरिमितद्वादशहस्तपरिमितैकादशहस्तपरिमितदशहस्तपरिमितचतुर्मण्टपानां सर्वे प्रागाद्यष्टकुण्डा अपि, एकमेखलाः स्थलसंकटादेकधैव मेखलया[9]ऽन्विताः कार्याः । किन्तूर्ध्वगं वेदिकोपरिस्थं कुण्डं सर्वमेखलं सर्वाभिर्मेखलाभिरन्वितं कार्यमित्यर्थः ॥ १२ ॥

नवहस्तपरिमितमण्डपादिषु प्रागादिकुण्डाभावमाह—अत इत्यर्धेन । अतोऽधः संस्थिताः सर्वे मण्डपाः नवहस्तमिता अष्टहस्तमिताः सप्तहस्तमिताः षड्ढस्तमिताश्चत्वारो[10] मण्डपाः, एककुण्डाः, वेदिकोर्ध्वकुण्डमात्रसहिता इत्यर्थः । तत्रापि मध्यकुण्डस्य मानभेदमाह—तेषामिति सार्धेन । तेषां षट्करान्तानां चतुर्णां मण्डपाना[11]माद्ये नवहस्तपरिमिते मण्टपे द्वाविंशत्यङ्गुलैः समेखलं कुण्डं भवेत् । एवं षट्करगृहे क्रमेणाङ्गुलयुग्मस्य ह्रासात् षोडशाङ्गुलं कुण्डं यावत् स्यात् । अष्टकरे गृहे विंशत्यङ्गुलमितं कुण्डम्, सप्तकरे गृहेऽष्टादशाङ्गुलमितं कुण्डमित्युक्तं भवति । एवं चेदमप्यूह्यते, चतुर्दशकरमिते गृहेऽष्टाङ्गुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, त्रयोदशकरमिते गृहे षडङ्गुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, द्वादशकरे गृहे चतुरङ्गुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, एकादशकरमिते गृहे द्व्यङ्गुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, दशकरमिते गृहे हस्तमितं कुण्डमिति । किञ्च, पञ्चदशकरगृहादित्रिंशत्करगृहपर्यन्तमेकैकाङ्गुलिवृद्धिश्चोच्यते । अतः पञ्चदशकरे गृहे नवाङ्गुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, षोडशकरे

---

१. शाखा—बख०, मुखाङ्गं—उ० । २. देशा—बक० बख० अ० उ० । ३. लाम्—अटी० बक० बख० उ०, लम्—अ० । ४. मण्ड—बख० अ० उ० । ५. अधोऽधः—बक० बख० उ० । ६. मण्डपाः—बख० अ० उ० । ७. च मे—बक० बख० । ८. येषां—अ० । ९. या न्ताः—अ० । १०. 'चत्वारो' नास्ति—अ० । ११. नां मध्ये—अ० ।

ह्रासादङ्गुलयुग्मस्य यावद् वै षोडशाङ्गुलम् ।
स्यात् षट्करे गृहे कुण्डं कार्या वा मेखलाधिका ॥ १४ ॥
अष्टहस्तोच्छ्रितं[1] पूर्वमतोऽर्धकरवर्धिता ।
न ह्रासः षट्करान्तानां न्यूनानामुच्छ्रितेर्भवेत् ॥ १५ ॥
त्रयोदशकरादीनां चतुर्णां पातयेत् ततः ।
अष्टकं चाङ्गुलानां तु सप्तपञ्चचतुःक्रमात् ॥ १६ ॥
एवं स्नानगृहाणां तु विस्तारश्चोन्नतैः सह ।
किन्तु वै वालुकापीठैर्मध्यतश्चोपशोभिताः ॥ १७ ॥
द्विचतुर्भिर्द्विसप्तांशैर्विस्तृताः प्राग्वदुन्नताः ।
स्नानीयं[2]दग्रगेहाद् वा दिक्त्रयेऽभिमते शुभम्[3] ॥ १८ ॥

गृहे दशाङ्गुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, एवं क्रमेण त्रिंशत्करे गृहे द्विहस्तै[4]मितं कुण्डमिति ज्ञेयम् । कार्या वा मेखलाधिका षोडशाङ्गुलादिकुण्डानामेकैव मेखला, अधिका वा द्व्यादिका मेखला वा कार्येत्यर्थः ॥ १३–१४ ॥

अथ मण्टपोच्छ्रायमाह—अष्टहस्तोच्छ्रितमिति द्वाभ्याम् । पूर्वमाद्यं चतुर्दश-करमितं गृहमष्टहस्तोच्छ्रितम् । अतः परं पञ्चदशकरादयो मण्टपाः क्रमेणार्धकर-वर्धिताः । [5]यथा त्रिंशत्करविस्तृतो मण्टपः षोडशहस्तोच्छ्रितः स्यादिति भावः । त्रयो-दशकरादीनां चतुर्णां मण्टपानां पूर्वोक्तहस्तोच्छ्राये क्रमादङ्गुलानामष्टकं सप्तकं पञ्चकं चतुष्कं पातयेत्, ह्रासयेदित्यर्थः । षट्करान्तानां नवकरादिषट्करान्तानां चतुर्णां तु न्यूनानां न्यूनहस्तसंख्यानां मण्डपानामुच्छ्रितेरुच्छ्रायस्य ह्रासो न भवेत् । दशहस्त-मण्टपोच्छ्रायन्यूनो न भवेदित्यर्थः । अत्र मूलभूतसात्वतानुसारेण ह्रास इत्यादिवाक्यस्य पूर्वं विद्यमानत्वेऽपि पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वादित्थं व्याख्यातम् । पारमेश्वरे (१५।११९-१२०) त्वर्थक्रमेणैव पाठोऽप्युपबृंहितः ॥ १५–१६ ॥

एवं यागमण्टपोक्तं लक्षणं स्नानगेहेऽप्यतिदिशति—एवमिति । उन्नतैः सह औन्नत्यैः सह इत्यर्थः । भावप्रधानो निर्देशः । [6]तत्र विशेषमाह—किन्त्विति । वालुका-पीठैर्मध्यतोः वालुकापूरितवेदिकामध्यत उपशोभिताः, स्नानगृहा इति शेषः[7] । वालुका-पीठमानमाह—द्विचतुर्भिरिति । द्विसप्तांशैश्चतुर्दशभागैर्द्विचतुर्भिरष्टभिरंशैश्च विस्तृताः प्राग्वदुन्नताश्च, वालुकापीठा इति शेषः । यागगेहे परितः कुण्डनिर्माणार्थमुभय-तोऽप्यष्टभिरष्टभिरंशैर्वीथीकल्पनमुक्तम् । अत्र कुण्डाभावाच्चतुर्भिश्चतुर्भिरंशैरेव वीथी-

१. तः पूर्वः अथोर्ध्व–मु० अटी० । २. याद् याग–मु० अटी० अ० । ३. शुभे–बक० बख० उ० । ४. सप्त–अ० । ५. पदात्–अ० । ६. 'तत्र विशेषमाह' नास्ति–अ० । ७. शेषमाह–अ० ।

अर्धमानसमं मुख्यात् सुपीठशयनान्वितम् ।
दृग्दानभवनं कुर्यान्माङ्गल्यकलशैः[1] सह ॥ १९ ॥
सर्वेषां[2] कर्मभूभागं कोणस्तम्भैर्विभूषितम् ।
सुनेत्रैर्वेष्टितं कुर्याच्चक्राद्यैः पूर्ववद् युतम् ॥ २० ॥
सुस्थितं[3] दृढपादं च स्नानाम्भोग्रहणक्षमम् ।
अर्धेन वालुकापीठाद्[4] दीर्घमाद्यक्रमेण तु ॥ २१ ॥
वर्धितं[5] चार्धहस्तेन[6] ह्रासितं चतुरङ्गुलैः ।
स्वदैर्घ्यादर्धविस्तीर्णं कृत्वैवं सप्रणालकम् ॥ २२ ॥
तेन तद्वालुकापीठं भूषयेन्मध्यगेन तु ।
यागागारस्य वै दिक्षु द्वारार्थं[7] तत्र चान्तरे ॥ २३ ॥
(शा?श)मार्धवृद्धियोगेन ह्रासोऽन्यत्र कलादिकः[9] ।
तोरणानि बहिः कुर्याद् दृढैः काष्ठैः सुपूजितैः ॥ २४ ॥

कल्पनम्, द्वाविंशत्यंशैर्वालुकापीठकल्पनमिति बोध्यम् । स्नानशालादिनिर्माणस्थाने नियममाह—स्नानीया इति । स्नानीयाः, गृहा इति शेषः । अग्रगेहाद् अग्रभागस्थितयागगेहं विहाय, दिक्त्रये दक्षिणादिदिक्षु, अभिमते शुभे मनोहरे स्थाने कार्या इत्यर्थः । नयनोन्मीलनगेहलक्षणमाह—अर्धेति । मुख्याद् यागगेहाद् अर्धमानसमं तदर्धविस्तारायामं माङ्गल्यकलशैः सह वक्ष्यमाणकलशैः सह सुपीठशयनान्वितं दृग्दानभवनं दृशोर्दानमुन्मीलनम्, 'दो अवखण्डने'(११४८ दि०) इति धातोः, तदर्थं भवनं गृहं कुर्यात् । यागमण्टपादिसाधारणमलङ्कारमाह—सर्वेषामिति । सुनेत्रैः शोभनवस्त्रैः, वितानैरिति यावत् । चक्राद्यैः चक्रध्वजादिभिरित्यर्थः ॥ १७–२० ॥

अथ स्नानपीठलक्षणमाह—सुस्थितमिति सार्धद्वाभ्याम् । स्नानाम्भोग्रहणक्षमं स्नानजलग्रहणार्थं पीठोपरि परितश्चतुरङ्गुलोत्सेधावरणयुक्तमित्यर्थः । वालुकापीठादर्धेन दीर्घं चतुर्दशहस्तविस्तारायामस्नानगेहस्थितवालुकापीठार्धमानेन दीर्घम्, आद्यक्रमेण तदादित्रिशत्करगृहपर्यन्तं क्रमेणार्धहस्तेन वर्धितं तदादिषट्करगृहपर्यन्तं क्रमेण चतुरङ्गुलैर्ह्रासितं स्वदैर्घ्यादर्धविस्तीर्णं सप्रणालकं स्नानपीठं कृत्वा तेन तद्वालुकापीठं भूषयेत् ॥२१–२३॥

अथ द्वारतोरणलक्षणमाह—यागागारस्येत्यादिभिः ॥२३–२८॥

१. तिलकैः–अ० । २. षामपि भूभागे–वक० बख० उ० । ३. अस्थिरं–मु० अटी० अ० । ४. पीठं–मु० अटी० बक० । ५. विद्धि तं–वक० बख० अ० उ० । ६. चाग्र–मु० अटी० । ७. रार्ध–मु० अटी० बक० बख० । ८. वृत्ति–मु० अटी० । ९. कम्–बक० बख० अ० उ०, ङ्गिकः–अटी० ।

पञ्चहस्तानि चार्धेन वर्धितानि करेण तु ।
न ह्रासमाचरेत् तेषामन्यत्र करणे सति ॥ २५ ॥
न शमात् पञ्च हस्तानामृते भूमौ प्रवेशयेत् ।
शमार्धं वर्धितानां च द्वे द्वे संवर्धयेत् कले ॥ २६ ॥
दैर्ध्यात् प्रवेशशिष्टात् तु त्रिभागेन तदन्तरम् ।
सर्वे चक्रध्वजाः कार्या वस्त्रस्रङ्मञ्जरीयुताः ॥ २७ ॥
सुधाद्यैर्वर्णकैः पीतैश्चन्दनाद्यैस्तु लेपिताः ।
भिन्नाङ्गमेतदखिलं यथैकस्मिन् हि युज्यते ॥ २८ ॥
कर्म यागगृहे शश्वद् विभूतेर्वाऽवनेर्विना ।
पञ्चत्रिंशत्करं क्षेत्रं स्वतुर्यांशेन विस्तृतम् ॥ २९ ॥
तन्मध्ये तु चतुर्हस्तं त्वापाद्यं स्थलसप्तकम् ।
स्थलानां व्यवधानं तु कुर्याद् वै तालसम्मितम् ॥ ३० ॥
एकापायेन वै कुर्याद् द्विहस्तान्तं स्थलागणम् ।
क्रमेणाष्टाङ्गुलान्मानाद् द्व्यङ्गुलं द्व्यङ्गुलं विना ॥ ३१ ॥
स्थलानां संकटानां च व्यवधानं द्विगोलकम् ।

विभवाद्यभावे पक्षान्तरमाह—भिन्नाङ्गमित्यादिभिः। भिन्नाङ्गं विभिन्नपृथक्-शालाद्यङ्गसहितमेतदखिलं कर्म नयनोन्मीलनस्नपनार्चनहवनाधिवासादिकं समस्तं कार्यम्, विभूतेर्वाऽवनेर्विना विभवाभावात् प्रदेशाभावाद्वा, एकस्मिन् यागगृहे यथा युज्यते, स्नानशालां नयनोन्मीलनशालां च विना यागगेह एव यथा कर्तुं शक्यते, तथा संनिवेशार्थं पञ्चत्रिंशकरं स्वतुर्यांशेन विस्तृतं क्षेत्रं यागमण्टपं कुर्यादिति शेषः। पारमेश्वरव्याख्याने तु—"भिन्नाङ्गं वेदिकुण्डतोरणादिभिर्भिन्नलक्षणम्। एकस्मिन्नेकत्र शालास्थले यथा युज्यते तथा कुर्यादित्यर्थः" इति लिखितम्। तन्मन्दम्। तन्मध्ये चतुर्हस्तविस्तारायामं स्थलसप्तकं वेदिकासप्तकमापाद्यं कल्पनीयमित्यर्थः। स्थलानां वेदिकानां व्यवधानमन्तरालं तलसंमितं द्वादशाङ्गुलमितं कुर्यात्। तथा सति सप्तवेदिकानामन्तरालानि षट्तालमितानि भवन्ति। तथा व्यवधानानवकाशे द्व्यङ्गुलं द्व्यङ्-

---

१. दशमात्—बक० बख०। २. नां भूते—बक० बख०। ३. लेपनैः—उ०। ४. त्रिशकरमिति भाष्यानुसारी पाठः। ५. तुल्यां—मु० अटी०। ६. तच्च—अ०। ७. स्तादा—बक० बख० अ० उ०। ८. 'स्थलाङ्गणम्'इति सार्वत्रिकः पाठः। ९. सानं—बक० उ०। १०. तथाप्यव—अ०।

एवमेव समुच्छ्रायः सर्वासां[1] परिकीर्तितः ॥ ३२ ॥
परितो विहितं वीथेर्मानमत्र[2] स्वपीठजम् ।
एवं वा संकटे कुर्यादाद्योक्तान्मण्टपद्वयात्[3] ॥ ३३ ॥
मध्ये मण्डलपीठं तु तस्य दक्षिणदिग् भवेत् ।
समीपे शयनस्थानं[4] कुम्भानां स्थापनार्यनम् ॥ ३४ ॥

गुलं विना एकापायेन एकतालेह्रासेन[5] वा व्यवधानं कुर्यात् । क्रमेणाष्टाङ्गुलान्मानात् प्रत्येकमष्टाङ्गुलव्यवधानात् स्थलागणं स्थलसप्तकं द्विहस्तान्तं द्विहस्तपरिमितान्तरालं वा कुर्यात्। संकटानां तथा व्यवधानेऽप्यपेक्षमा[6](णां?णानां) स्थलानां द्विगोलकं चतुरङ्गुलं व्यवधानं कुर्यात्। "द्वे अङ्गुले कलानेत्रं गोलकं भाव एव च"(२४।९४)इति पूर्वमेवोक्तम्। सर्वेषां स्थलानामुच्छ्राय एवमेव परिकीर्तितः । वेदिकानामुच्छ्रायमपि द्वादशाङ्गुल-मष्टाङ्गुलं चतुरङ्गुलं वा कुर्यादित्यर्थः । परितो वीथेर्मानं स्वपीठजं विहितं चतुर्हस्त-मित्यर्थः ॥२८-३३॥

एवं सप्तवेदिकानिर्माणस्याप्यनवकाशे[7] पञ्चवेदिकापक्षमाह—एवं वेति त्रिभिः । संकटे स्थलसंकोचे सति, आद्योक्तान्मण्टपद्वयात् । ल्यब्लोपे पञ्चमी । स्नाननयनो-न्मीलनमण्टपद्वयं विहाय, एवं वा कुर्याद् वक्ष्यमाणरीत्या पञ्चवेदिकाकल्पनं[8] वा कुर्यात् । तासां विनियोगस्तु मध्ये मण्डलपीठं तस्य दक्षिणदिक् दक्षिणदिशि समीपेऽव्यवहितं[9] धनस्थानम्, कुम्भानां स्थापना[10] धनम् । तदनन्तरवेदिकायां स्नानकुम्भानां स्थापनम् । एवमेव वामनिकटे मण्डलपीठवामभागस्थसमीपवेदिकायाम्, भोगानां मन्त्रतर्पणं भोगानां समिदादीनां[11] मन्त्रतर्पणं हवनमित्यर्थः। तत्र प्रधानकुण्डस्थानं[12] यावत् । पारमे-श्वरव्याख्याने तु—"भोगानां मन्त्रतर्पणं कुम्भस्थार्चनमित्यर्थः, जलस्य समस्तभोग-त्वात्" इति लिखितम् । तन्मन्दम्, प्रधानकुण्डस्यागतिकत्वात् ।

ननु तर्हि कुम्भार्चनमगतिकं भवतीति चेन्न, कुण्डदक्षिणभाग एव तदर्चनस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

ननु तर्ह्यस्मदुक्तार्थोऽपि संगत एवेति चेन्न, तर्पणशब्दस्य भवनपरत्वेनैवात्र बहुशः प्रयोगात् । ऋग्यजुःसामपूर्वाणां श्रुतीनां भवनं विदिकु(ण्डं?ण्ड)चतुष्टयोक्तं

---

१. सर्वेषां—मु० अटी० । २. पीठे मानं मन्त्र—बक० बख० । ३. मण्डप—बक० बख० अ० उ० । ४. हि धनस्थानमिति, स्थापना धनमिति च भाष्यधृतः पाठः । ५. तालेन ह्रासेन—अ० । ६. प्यक्षमाणीं—म० । ७. कस्यानि—अ० । ८. पञ्चवेदिकं वा कल्पनं-अ० । ९. हितेन्धन—अ० । १०. अनेन वाक्येन स्वयमेव भगवता धनशब्दो व्याख्यातः, अस्मिन्नर्थे धन-शब्दस्याप्रसिद्धत्वात् । ११. समिधा—म० । १२. नमिति—अ० ।

एवं हि वामनिकटे भोगानां मन्त्रतर्पणम् ।
ऋग्यजुःसामपूर्वाणां श्रुतीनां हवनं[1] परे ॥ ३५ ॥
दृग्[2] दानं शयनस्थाने ह्यन्यस्मिन् शयने[3] हितम् ।
प्रासादस्याष्टदिङ्[4] मूर्तिशक्तिपानां यथोदितम् ॥ ३६ ॥
स्थण्डिलेष्वथ कुण्डेषु तादर्थ्येनाथवा स्वयम् ।
स्वकुण्डे हवनं कुर्याच्चतुर्वेदमये वरे ॥ ३७ ॥
समस्तमूर्तिपीयं[5] वा स्वयमेव समाचरेत् ।
सामग्रीविरहाद् योग्यमूर्तिपानामभावतः ॥ ३८ ॥
यं[6]श्च यत्रोपयोज्यस्तु तत्र तं संप्रवेशयेत् ।
मन्त्राणामुपदेष्टा तु आत्मतुल्यो महामतिः ॥ ३९ ॥

भ[7]वनं परे तदनन्तरवेदिकायामिति ज्ञेयम् । दृग्दानं नयनोन्मीलनं शयनस्थाने पूर्वोक्तशयनवेदिकायामेव, अन्यस्मिन् शयने पृथक्शय्यायां हितमभिहितमित्यर्थः । पारमेश्वरव्याख्याने तु पूर्वमेव "समीपे शयनस्थानाम्" (पा० १५।१३८) इत्यत्र समीपे न[8]यनमित्यबद्धपाठमङ्गीकृत्य नयनं नयनोन्मीलनमित्यर्थ इति लिखितम् । इहापि तथैव "दृग्दानं शयनस्थाने ह्यन्यस्मिन् शयने हि तत्" (पा० १५।१४०) इति पाठं परिकल्प्यैकस्मिन् नयनोन्मीलनार्थं शयनकल्पनम्, अन्यस्मिन् तत्प्रसिद्धशयनमिति लिखितम् । सप्तवेदिकापक्षेऽप्येवमेव मण्डलादिस्थाननियमः । किन्तु तत्र दक्षिणान्ति[9]मवेदिकायां स्नानपीठस्थापनम्, उत्तरान्तिमवेदिकायां नयनोन्मीलनार्थं शयनकल्पनमिति ज्ञायते ॥३३–३७॥

एवं स्थलसंकोचादिनाऽष्टदिक्कुण्डानि विना यागगेहे निर्मिते सति तदानीं मूर्तिपकर्तव्यहोमस्य गतिमाह—समस्तेति । सामग्रीविरहाद् अनेकस्रुक्स्रुवाद्यभावात्, योग्यमूर्तिपानामभावत ऋत्विजामभावाद्वा हेतोः, समस्तमूर्तिपीयं मूर्तिपकर्तव्यं होमं स्वयमेव समाचरेत् । तत्तत्कुण्डसमीपं गत्वा स्वयमेव तत्तद्धोमं कुर्यादिति भावः ॥३८॥

अथ प्रासादमध्ये कुम्भस्थापनप्रकारोक्तरीत्या सकलमङ्गलवैभवैः सहाचार्यस्य यागगेहप्रवेशं तत्र सर्वोपकरणानां संप्रवेशनं चाह—यश्चेत्यर्धेन । मन्त्रतन्त्रस्खालित्यभिया तदुपदेष्टुरन्यस्याचार्यस्य नियोजनमाह—मन्त्राणामिति ॥३९–४०॥

१. हवने–बक० बख० अ० उ०, भवनमिति भाष्यानुसारी पाठः । २. प्राग्–मु० अटी० । ३. नेऽभितः–अ० । ४. दिग् लोमं मूर्तिपानां–अ० उ० । ५. पीठं–बक० अ० । ६. इतः पूर्वम्–'संप्रविश्य ततः प्राग्वन्मण्डपं कृतमण्डनम् । पूर्वोक्तस्वस्तिकैर्युक्तो द्रव्यैर्द्रव्यगुणः (गणः) शुभः ॥' इत्येष श्लोको दृश्यते–बक० बख० अ० उ० । भाष्यकारेण तु नायं व्याख्यातः । ७. हवनं–अ० । ८. शयन–अ० । ९. न्तिमे–अ० :

योक्तव्यः कर्मदक्षस्तु सर्वेष्ववसरेषु च ।
स्वयं वस्त्वनुसन्धाय[1] हवनार्चनकर्मणाम् ॥ ४० ॥
आस्ते ह्युत्पत्तिपूर्वाणां न्यासान्तानामनन्यधीः ।
कृत्वा दीक्षाविधानोक्तं सहोमं कलशार्चनम् ॥ ४१ ॥
कुर्यात् सतोरणानां तु[2] ध्वजानां स्थापनं ततः ।
सितरक्तादिभेदेन प्रागादौ तु[3] ध्वजाष्टकम् ॥ ४२ ॥
निवेश्य मध्यवेद्यां तु पुनरप्ययवत् तथा ।
यजेत् सत्यादिकं तत्र[4] चतुष्कं ह्येवंमेव हि ॥ ४३ ॥
उत देवा अवहितमृङ्मयान् पाठयेत् ततः ।
बहिर्वै[6] सर्ववर्णेन चक्रं तोरणगं यजेत् ॥ ४४ ॥
पाठयेद् द्वारपालीयं साम सामविदस्ततः ।
अथार्घ्यपुष्पभृँन्मूर्तिधरैर्यायात् समावृतः ॥ ४५ ॥

स्वस्य तु भूतशुद्ध्यादिन्यासान्तकर्मसु हवनार्चनकर्मवस्त्वनुसन्धानपूर्वकमेकायतचित्तत्वेन वर्तमान(ता)माह—स्वयमिति ॥४०–४१॥

पूर्वं दीक्षाप्रकरणोक्तरीत्या महाकुम्भार्चनहोमादिकं तोरणध्वजस्थापनार्चनं चाह—कृत्वेति ॥४१–४२॥

मध्यवेद्याः परितो ध्वजाष्ट(क)स्थापनम्, तत्र प्रभवाप्ययक्रमेण सत्यसुपर्णाद्यर्चनम्, उत देवा इत्यादिमन्त्रपाठनम्, बहिस्तोरणगतनानावर्णचक्रध्वजेषु चक्रराजार्चनम्, लोकद्वारमपावृण्वित्यादिद्वारपालीयसामपाठनं चाह—सितेति त्रिभिः । एवं महाकुम्भाद्यर्चनानन्तरं ध्वजार्चनादिकस्योक्तावपि तत्पूर्वमेव वा तत्कार्यमिति ज्ञेयम् । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—"एतेषामथवा पूर्वं[9] भवेद् द्वास्थैः सहार्चनम्" (ई० सं० १८।५८; पा० सं० १५।१७८) इति ॥४२–४५॥

---

१. न्धानह—अ० उ० । २. च—मु० अटी० । ३. च—मु० अटी० । ४. तत्तच्च—मु० अटी० । ५. एक—बक० बख० अ० उ० । ६. ऊर्ध्वं सह सुपर्णेन—मु० अटी० । ७. हृन्मूर्ति—मु० अटी० । ८. स्वर्त—अ० । ९. पूर्वः—अ० म० ।

यत्र तिष्ठति विश्वेशः पीठब्रह्मशिलान्वितः ।
तत्रावलोकनं तेषां कुर्यात् सन्ताडनादिकम् ॥ ४६ ॥
चक्रास्त्रमन्त्रितैः स्नानकलशैः स्नापयेत् ततः ।
सिद्धार्थकैस्तथा पञ्चगव्यमृद्भूतिवारिणा ॥ ४७ ॥
वल्मीकमृज्जलेनाथ चक्राङ्कौषधिवारिणा ।
[1]संक्षाल्याभ्यर्च्य चोद्धृत्य क्षालयेदस्त्रवारिणा ॥ ४८ ॥
तमर्घ्येणार्चयित्वा च ततस्तन्मन्त्रितान् करे ।
सिद्धार्थकान् दक्षिणे तु बद्ध्वाग्रे[2] पाठयेदृचम् ॥ ४९ ॥
रक्षोहणं तथा[3] सर्वान् नयेत् प्रतिसरे मणीन्[4] ।
सद्वस्त्रवेष्टितं कृत्वा समारोप्य रथोत्तमे[5] ॥ ५० ॥
कर्मारम्भं च पठतस्तस्य दक्षिणदिङ् न्यसेत्[6] ।
ऋक्सामपूर्वान् वामे तु ब्राह्मणांस्तु चतुश्चतुः ॥ ५१ ॥
पुरतोऽस्त्रं स्मरन् यायात् स्वयं विघ्नांस्तु सूदयन् ।
सनृत्तगेयै[7]र्वादित्रस्तुतिमङ्गलपाठकैः ॥ ५२ ॥
इदं विष्णुर्वि[8]चक्रमे ऋङ्मयैः सह पाठयेत् ।
एकायनांस्तदन्ते तु ॐ नमो ब्रह्मणे तु[9] यत् ॥ ५३ ॥

अथ मूर्तिपैः सह बिम्बसमीपगमनम्, नेत्रमन्त्रेण तदवलोकनादिकम्, सिद्धार्थोदकादिषट्कलशस्थापनादिकमर्चनम्, देवस्य दक्षिणहस्ते सिद्धार्थैः सह प्रतिसरबन्धनम्, ऋग्वेदिभिराथर्वणिकैश्च रक्षोह[10]णपाठनम्, वेदघोषैर्नृत्तगेयादिभिः सह रथादिना बिम्बाद्यानयनम्, तदानीं स्वर्णादिदानयागगेहप्रवेशनं चाह—अथार्घ्यपुष्पभृदित्यारभ्य स्वस्थानं यज्ञभूमेर्वै इत्यन्तम् । चक्राङ्कौषधी कटुकरोहिणी, "कटुः [11]कटुम्भराऽशोका रोहिणी कटुरोहिणी । [12]मत्स्यपित्ता कृष्णभेदी चक्राङ्गी [13]शकुला-

---

१. संगा–बक० । २. ऋग्विप्र पाठ्यते–बक० बख०, ऋत्विक् प्रपाठ्यते–अ० उ० । ३. ततोऽथर्वा चार्यं–अ०, तथाऽथर्व चार्यं–उ० । ४. मणिम्–अ० उ० । ५. त्तमम्–अ० । ६. मुखः–ब्रक० । ७. गीत–अ० । ८. क्रमेति–बक०, क्रेति–अ० । ९. णेति–अ० उ० । १०. हरण– म० । ११. कटुम्बरा–अ० । १२. कृष्णभेदी मत्स्यपित्ता–मु० । १३. च कुलादिनी–अ० ।

तथैव शाकुनं सूक्तं श्रीसूक्तेन समन्वितम् ।
स्वर्णादिनार्थिनः शक्त्या तर्पयंस्तान् प्रवेशयेत् ।। ५४ ।।
स्वस्थानं यज्ञभूमेर्वै प्रासादा[1]भ्यन्तरं तु वा ।
[2]वक्ष्यमाणविधानेन युक्तं रत्नशिलादिना ।। ५५ ।।
कृत्वा द्रव्याधिवासं प्राक् कर्मभूमौ पुरोदितम् ।
स्नानकर्मशिलादीनामीषत् कृत्वा तु सार्चनम् ।। ५६ ।।
यथावद् [3]रत्नविन्यासं पीठ[4]पूर्वं[5] निवेश्य च ।
बृहद्बिम्बे[6] ततः कुर्यात् कर्मबिम्बेऽखिलं तु वै ।। ५७ ।।
सन्निरोधस्तु मन्त्राणां तत्र लग्नोदये स्मृतः ।

दिनी" ।। (३।८।८६) इति वैजयन्ती । कर्मारम्भं भगवतो बलेनेत्यादिकं मन्त्रम्, ॐ भगवानेव स्वशेषभूतं मामिति मन्त्रं वा ।।४५–५५।।

बिम्बे बृहति सति तस्य केवलं प्रासादाभ्यन्तरप्रवेशम्, तत्र रत्नन्यासपूर्वकं पीठे स्थापनम्, यागशालाद्यखिलकर्मणां कर्मबिम्बे कर्तव्यत्वम्, लग्नोदये मूलबिम्ब एव मन्त्रावाहनसन्निरोधम्, मुहूर्तातिक्रमो यथा न संभवेत् तथा बृहत्स्नपनात् पूर्वं कर्तव्यानां पूर्णाहुत्यन्तानां कर्मणां झटित्यनुष्ठानं चाह—प्रासादाभ्यन्तरं तु वेत्यारभ्य मुहूर्तो नावसीदतीत्यन्तम् । आ बृहत्स्नपनात् पूर्वमित्यनेन बृहत्स्नपनस्य मूलबिम्ब एव कर्तव्यत्वमुक्तं भवति । तथा चोक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

स्थाप्यमाने बृहद्बिम्बे विशेषः कथ्यते द्विजाः ।
पूर्ववत् कर्मशालायां संस्थाप्याकारशुद्धये ।।
संस्नाप्य विधिना कृत्वा नयनोन्मीलनं ततः ।
स्नपनं बृहदापाद्य केवलं वा बहूदकैः ।।
स्नानकर्म शिलादीनामीषत् कृत्वा तु सार्चनम् ।
उत्थाप्य मूर्तिपाद्यैस्तु बहुभिस्तु रथस्थितम् ।।
समानीय ततो यत्नात् प्रासादाभ्यन्तरं तु वै ।
यथावद् रत्नविन्यासपूर्वं पीठे निवेश्य च ।। इति ।
(ई० सं० १८।७१–७५; पा० सं० १५।१९२–१९५)

---

१. दाद्य–मु० अटी० बक० बख० । २. पङ्क्तित्रयं नास्ति–बक० बख० उ०, भाष्यकारेणापि न व्याख्यातमिति प्रतीयते । ३. दुक्तविन्यासं–बक० बख० । ४. प्रति–मु० अटी० । ५. म्बं–मु० अटी० बक० बख० । ६. द्विज–ई०, शृणु–पा० ।

[1]आबृहत्स्न[2]पनात् सर्वं यत्किञ्चिदथ तत्र तत् ॥ ५८ ॥
निर्वर्तनीयं पूर्णान्तं बुद्ध्वैवं प्राङ् महामते ।
तथा कार्यं शुभो येन मुहूर्तो नावसीदति ॥ ५९ ॥
एवं हि[3] चित्रपूर्वाणामन्येषां कमलेक्षण ।
सरत्नब्रह्मपाषाणवर्जितानां समाचरेत् ॥ ६० ॥
स्नानाद्यं कर्मबिम्बे तु तत्समीपेऽथ दर्पणे ।
कर्मबिम्बं विना तेषां प्रस्वापाद्यं हि विष्टरे ॥ ६१ ॥
कुर्यात् प्रवेशपूर्वं तु सर्वमुत्सवपश्चिमम् ।
एवं प्रवेश्य तद्बिम्बं साम्प्रतं विनिवेश्य च ॥ ६२ ॥
[4]निषण्णदृढकाष्ठोत्थतोरणेऽस्त्राहुतीस्ततः ।
निवेश्य स्नानकलशान् हेमाद्युत्थांस्तु निर्व्रणान् ॥ ६३ ॥

शिल्पिशालायां केवलं बहूदकैरेव स्नपने कृते बृहत्स्नपनं प्रासादाभ्यन्तर एव कार्यमिति च ज्ञेयम् ॥५५–५९॥

चित्रबिम्बविषये[6]ऽप्येवमेव कर्मबिम्बे स्नपनाद्यखिलकर्मणामनुष्ठानम्, तस्याभावे दर्पणे छायास्नपनम्, कूर्चद्वारा यागगेहप्रवेशशय्याधिवासोत्सवान्तानां कर्तव्यत्वं चाह—एवं हीति सार्धद्वाभ्याम् ॥६०–६२॥

एवं यागगेहानयनानन्तरं तत्र दृढकाष्ठोत्थतोरणे सन्निवेशमस्त्रमन्त्रेण होमं चाह—एवमिति। पीठब्रह्मशिलयोः पूर्वमेव तत्रानयनं तदुपरि ब्रह्मस्थापनं कार्यमित्युक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

यागभूमिं ततो बिम्बमवरोप्य रथादिकात्[7] ।
[8]निषण्णदृढकाष्ठोत्थतोरणे संनिवेश्य च ॥
स्नानभूमौ ततः कुर्यादस्त्रेणाज्यतिलाहुतीः ।
यद्वा पूर्वं समानीय पीठं ब्रह्मशिलान्वितम् ॥
भूमिष्ठे भद्रपीठे तु वेदिकायां निवेश्य च ।
ततो बिम्बं समानीय स्थापयेत् पिण्डिकोपरि ॥ इति ॥६२–६३॥
(ई० सं० १८।६८–७१; पा० सं० १५।१८९–१९१)

१. ब्रह्मस्त–बक० बख० अ० उ० । २. स्नाप–मु० अटी० । ३. विचित्र–उ० । ४. निषण्णं दृढकाष्ठोत्थं तोरणेऽस्त्राहुतिं ततः–अ० उ० । ५. 'इत्याह–वक्ष्यमाणेत्यादिभिः' अधिकः पाठ –अ० । ६. ये ह्येव–म० । ७. कान्–म० । ८. निषण्णं–ई० पा० ।

पूर्ववद् वद[1]नोपेतान् सुसमांस्त्रा[2]सवर्जितान् ।
निरीक्षणादिसंशुद्धान् कृत्वा सहृदयेन तु ॥ ६४ ॥
द्वादशाक्षरमन्त्रेण मन्त्रयेत् तान् सकृत् सकृत् ।
तेनैव पूजयेत् पश्चादर्घ्यस्रक्चन्दनादिना ॥ ६५ ॥
तदाह[3]रणहोमं तु यथाशक्ति समाचरेत् ।
पूर्णान्तमथ सम्पूर्य क्रमाद् द्रव्यैर्नियोजयेत्[4] ॥ ६६ ॥
पाद्यार्घ्याचमनीयार्थद्रव्यैः पूर्वोदितैस्त्रयम् ।
[5]नागाद्याद्यन्तमध्येभ्यो नदीमृत्तीर्थसम्भवा[6] ॥ ६७ ॥
ह्रदाद् वल्मीकशिखराद् गजदन्तक्ष[8]तीकृतात् ।
हलोत्था वृ[9]षभृङ्गोत्था शालिक्षेत्रेषु[10] सम्भवा ॥ ६८ ॥
तथैव पद्मषण्डोत्था त्वेकस्मिन् गोमयं परे ।
वनदाहसमुद्भूतं तथैव च महानसात् ॥ ६९ ॥
त्रेताग्निभस्म त्वपरे विनिवेश्य[11] घटान्तरे ।
अन्यस्मिन् पञ्चगव्यं तु कुशोदकसमन्वितम् ॥ ७० ॥

अथ [12]स्नपनार्थं कलशस्थापनविधिमाह—निवेश्य स्नानकलशानित्यारभ्य वस्त्रेणाच्छाद्य वै तत इत्यन्तम् । पूर्वोदितैर्दीक्षाप्रकरणोक्तैरित्यर्थः । अस्य स्न[13]पनस्य [14]पारमेश्वरेऽप्युक्तत्वात् तद्व्याख्याने पाद्यार्घ्याचमनीयद्रव्याण्युपरि स्पष्टीकरिष्यतीत्युक्तम्। तद्विरुद्धम्, पूर्वोदितैरिति विशेषणस्य वैयर्थ्यात्, तत्रोपरि स्पष्टीकरिष्यमाणपाद्यादिद्रव्याणां वैजात्याच्च । चमसी मलनिर्हरणार्थकसुगन्धद्रव्यविशेषः। त्रिफलं नेल्लिक्कायि अरलेकायि तारेकायि । वचा बजे, "वचोग्रगन्धा"(२।४।१०२) इत्यमरः । शतावरी आषाढी । कन्या लोलिसरकन्या, कुमारीति निघण्टुः । व्याघ्री गुल्ली सिंही आढुसोगे । कृताञ्जलिः सट्टदकरिकै, कृताञ्जलिर्नागबालेति निघण्टुः । गोलोमी पिल्लगरिकै, "गोलोमी शतवीर्या च" (२।४।१५९) इत्यमरः । "गोलोमी शतपर्विका" (२।४।१०२) इति गोलोमीशब्दस्य वचापरत्वमप्यस्ति, वचायाः पूर्वमेवोक्तत्वादत्र श्वेतदूर्वैव प्रकृता ।

१. वच—मु० बक० बख० अ० । २. मान् ह्रास—अटी० । ३. मरण—अ० उ० । ४. बोधतु—बक० बख० अ० उ० । ५. नागादा—बक० बख०, नगादा—अ० उ० । ६. वाम्—बक० बख० । ७. श्लोक एषोऽग्रिमश्लोकानन्तरं स्थापितः—अ० । ८. क्षयी—अ० उ० । ९. गोवृषशृङ्गोत्था चलिता क्षेत्रसम्भवा—अ० उ० । १०. क्षेत्रसमुद्भवा—बक० बख० । ११. वेश्य—बक० । १२. स्नाप—अ० । १३. स्नाप—अ० । १४. पारमेश्वरे स्नपनाध्याये (१४।६०—६२) अत्रत्याः केचन श्लोका द्रष्टव्याः ।

सघृतं तैलकुम्भं तु चमसीवारिपूरितम् ।
पलाशखदिराश्वत्थशमीलोहितचन्दनम् ॥ ७१ ॥
कषायोदकमन्यस्मिन् [1]परस्मिंस्त्रिफलोदकम् ।
वचा शतावरी कन्या व्याघ्री सिंही [2]कृताञ्जलिः ॥ ७२ ॥
गोलोमी सिंहलोमी च कुष्ठं भूतजटा तथा ।
महागरुडवेगा च कलशेऽन्यत्र लाङ्गलिन् ॥ ७३ ॥
महानीला [3]गलूची [4]च सहदेवी शतावरी ।
विष्णुक्रान्ता च [5]कार्कोटा साह्वा [6]वह्निशिखाऽपरे ॥ ७४ ॥
यष्टी [7]वाराहकर्णी [8]चाप्यन्यस्मिन् गजपिप्पली ।
श्रीफलाद्यानि चान्यस्मिन् पावनानि फलानि च ॥ ७५ ॥
दधिक्षीराज्यकुम्भाश्च द्वौ मध्विक्षुरसान्वितौ ।
मूलान्यम्भो[9]रुहाणां च तान्यन्यस्मिन् द्वये न्यसेत् ॥ ७६ ॥
द्रुमाणां पावनानां तु सक्षीराणां विशेषतः ।
पुष्पपत्रफलोपेतमेकस्मिन् मञ्जरीगणम् ॥ ७७ ॥
जात्यादिकमथै[10]कस्मिन् कौसुमीयं [11]लताचयम् ।
रोचनारजनीयुग्मं बला मोटा च पद्मकम् ॥ ७८ ॥

सिंहलोमी नरियाल्दहुल्लु, "क्रोष्टुविन्ना सिंहपुच्छी" (२।४।९३) इत्यमरः। कुष्ठं चगलकोष्ठ, "व्याधि कुष्ठं पारिभाव्यम्" (२।४।१२६) इत्यमरः[12]। भूम्यञ्जनम्[13]। महागरुडवेगा गरुडनगरिगिड्डा। महानीला करिगुरुग, गलूची अमृतवल्ली, गलूच्यमृतवल्ली चेति निघण्टुः। सहदेवी प्रसिद्धा। विष्णुक्रान्ता च प्रसिद्धा। शतावरी पूर्वोक्ता। कार्कोटा तोट्टिगिड्डा, हिंस्रा कार्कोटकी चेति निघण्टुः। सिंहा बिल्वः, शैलूषश्रीफलसिंहा इति वैद्यनिघण्टुः। वह्निशिखा [14]गिणिमृभिनगड्डे, "स्याल्लाङ्गलिक्यग्निशिखा" (२।४।११८) इत्यमरः। यष्टि अतिमधुरम्। वाराहकर्णी, अनेलदालु। बला बेण्णेगरुड, "बला वाट्यालकी घण्टा" (२।४।१०७) इत्यमरः। मोटा अगलशुण्ठी। पद्मकं प्रसिद्धम्। सप्त ग्राम्यौषधयः शालिमुद्गादयः, सप्तारण्यका वेणुश्यामाकादय-

१. परे तु त्रि–बक० बख० अ० उ०। २. धृता–अ०। ३. गलू चैव–अटी०। ४. वा–मु०। ५. च–बक०, ट–बख० उ०, टी–मु० अटी०। ६. बर्हि–अ० उ०। ७. वराह–मु० अटी०। ८. च अ–बक० बख० अ० उ०। ९. 'रुहाणां····जात्यादिक' नास्ति–बक०। १०. थैत–बक० बख०। ११. यत्न–मु० अटी०। १२. 'इत्यमरः' नास्ति–अ०। १३. भूम्यञ्जनमित्यनेन भूतजटाशब्दो व्याख्यात इति प्रतीयते। १४.मृगिन–म०।

इति पञ्चकमेकस्मिन्[1] दर्भान्[2] दूर्वाङ्कुराणि च ।
सास्यं शाल्यङ्कुरचयं कलशेऽन्यत्र[3] वै न्यसेत् ॥ ७९ ॥
सिद्धार्थकान् सिताद्यांस्तु प्रियङ्गुं[4] गन्धसंज्ञकम् ।
अपरस्मिन् न्यसेत् कुम्भे सह वै नागकेसरैः ॥ ८० ॥
ग्राम्याश्चौषधयः सप्त सप्तारण्या घटद्वये ।
बाह्लीकं चन्दनं चैव रसं[5] कर्पूरसंयुतम् ॥ ८१ ॥
चतुष्कमेतदपरे त्वन्यस्मिन् धातवः शुभाः ।
ताम्रजाम्बूनदाद्यास्तु परे रत्नचयं महत् ॥ ८२ ॥
न्यसेद् विद्रुमजालं च द्वयोर्मुक्ताफलानि च ।
अर्घ्योदकमथैकस्मिन् नदीतीर्थोदकं द्वये ॥ ८३ ॥
सर्वौषधिघटं चैव सुशीताम्भोघटं ततः ।
सुगन्धपुष्पकलशं चत्वारिंशत् त्वमी स्मृताः ॥ ८४ ॥

श्चेश्वरपारमेश्वरयोर्हविःपाकप्रकरणोक्ता ग्राह्याः । एवं वामभागे स्थापितचत्वारिंशत्कलशस्नपनस्य स्थूलपरसंज्ञत्वम्, पृष्ठभागे स्थापितचत्वारिंशत्संख्याककेवलशीतोदककलशस्नपनस्य स्थूलसूक्ष्मसंज्ञत्वम्, दक्षिणभागे स्थापितगन्धोदकपूरितचत्वारिंशत्कलशस्य स्थूलस्थूलसंज्ञत्वं चेश्वरपारमेश्वरयोः[9] प्रतिपादितम् । एवं देवस्य वामभागादिषु स्नपनत्रयकलशस्थापनं पृथक् स्नपनमण्टपे सति[10] कार्यम्, तदभावे यागगेहस्थतदर्थपीठ एव पूर्वादिपश्चिमान्तं तत्तद्दिने तत्तत्स्नपनकलशस्थापनं कार्यमिति च तत्रैव प्रतिपादितं ज्ञेयम् । तत्तत्स्नपनकालश्च तत्रैवोक्तः—

अधिवासदिने कुर्यात् स्नानं स्थूलपराभिधम् ॥
प्रतिष्ठादिवसे कुर्यात् स्नपनं स्थूलसूक्ष्मकम् ।
चतुर्थे दिवसे स्नानं स्थूलस्थूलाभिधं भवेत् ॥ इति ।
(ई० सं० १८।१६४–१६५; पा० सं० १५।२८८–२८९)

एषां स्नपनानां सति विभवे विस्तारस्तदभावे संकोचश्च तत्रैव स्नपनाऽध्याये प्रतिपादितः—

१. मन्य—बक० बख० । २. दर्भं—बक० बख०, दर्भा—अ० । ३. ह्यपरे तु वै—बक० बख० अ० उ० । ४. ङ्गु—बक० बख०, ङ्गं—अ० । ५. रस—बक० उ० । ६. धन्या—बक० अ०, धान्या—बख० उ० । ७. सुगन्धि—मु० अटी० । ८. ईश्वरे (२५।५८–५९), पारमेश्वरे (१८।१३४–१३६) । ९. ईश्वरे (१५।१३४–१३७), पारमेश्वरे च (१४।१३६–१३८) । १०. इति—अ० ।

वामभागे तु देवस्य अग्निकोणादितो[1] न्यसेत् ।
यातुधानपदं यावत् क्रमाद् द्विद्विकसंख्यया ॥ ८५ ॥
दशपङ्क्तिनियोगेन एवमन्ये तु पृष्ठतः ।
ईशकोणात् समारभ्य यावदाग्नेयगोचरम् ॥ ८६ ॥
शीताम्बुपूरितानां च घटानां केवलं न्यसेत् ।
पुनरीशानकोणात् तु शयने सप्तधा न्यसेत् ॥ ८७ ॥
गन्धोदकेन सम्पूर्णास्तथा वायुपदावधि ।
सर्वाण्याधाररूढानि पूरितान्यमलाम्भसा ॥ ८८ ॥
मूलमन्त्रेण तदनु पूजयेद् द्वादशात्मना ।
संवेष्ट्य च पुरा सूत्रैश्छादयेत् तदनन्तरम् ॥ ८९ ॥
विधानैः सूत्रसम्बन्धैर्वस्त्रेणाच्छाद्य वै ततः ।
तदर्पणावसानेऽथ शयनं कल्पयेद् द्विधा ॥ ९० ॥
सर्वोपकरणोपेतमनन्तं तदधो यजेत् ।
प्रभवाप्ययोगेन तदूर्ध्वे सर्वगं प्रभुम् ॥ ९१ ॥
पाठयेत् सर्पसामाथ संज्ञां ज्ञानबलात्मिकाम् ।
हुत्वा शताष्टसंख्यं तु मूलं तदनु कल्पयेत् ॥ ९२ ॥

भक्तिश्रद्धावशाच्चापि विभवानुगुणं तु वा ॥
त्रिविधं स्थूलभेदं तु द्विगुणं तु समाचरेत् ।
अनुकल्पे तदर्धं वा पादमष्टांशमेव वा ॥
चतुष्टयं वा कुम्भानां प्रत्येकं वा द्वयं द्वयम् ।
एकैकं वापि विप्रेन्द्राः सर्वद्रव्यमयं घटम् ॥
(ई० सं० १५।१३८–१४०; पा० सं० १४।१४०–१४२)

इति ॥ ६३–९० ॥

अथ नयनोन्मीलनार्थमधिवासार्थं च शयनद्वयकल्पनं तत्रानन्तार्चनादिकं चाह–तदिति द्वाभ्याम् । तदर्पणावसाने कलशपूजानन्तरमित्यर्थः । सर्वोपकरणोपेतमित्यत्र शयनोपकरणानीश्वरपारमेश्वरोक्तानि ग्राह्याणि । प्रभवाप्ययोगेन प्रागादिषु वासुदेवरूपेणाग्नेयादिषु पुरुषादिरूपेणेत्यर्थः । सर्पसाम चर्षणीधृतमित्यादि । ज्ञानबलात्मिकां सङ्कर्षणो भगवानित्यादिकं मन्त्रम् ॥ ९०–९२ ॥

१. दिके–बक० बख० उ० । २. तत्त–बख० अ० उ० । ३. सर्व–बख० अ० उ० अटी० । ४. च–मु० अटी० । ५. ईश्वरे (१८।१६७–१८५), पारमेश्वरे (१५।२९१–३०८) च शयनोपकरणानीमानि द्रष्टव्यानि । ६. सर्पः साम–अ० ।

मण्डलं पावनै रागैः[1] सिताद्यैर्माङ्गलीयकैः ।
तदूनाधिकशान्त्यर्थं[2] हुत्वा कुण्डगणं ततः ॥ ९३ ॥
संस्कुर्यात् प्रतिकुण्डस्य निकटे कुम्भमध्यगम् ।
प्रभवाप्ययोगेन चातुरात्म्यं तु संयजेत् ॥ ९४ ॥
हृदादि यद्वा दिक्स्थेषु विदिक्स्थेषु तदस्त्रराट् ।
दत्वा तदर्थं पूर्णां[3] तु पूर्णात् पूर्णं[6] च पाठयेत् ॥ ९५ ॥
एकायनान् यजुर्मयानाश्रावितमनन्तरम् ।
अथास्त्रमन्त्रेण[4] पुरा माङ्गल्यकलशाम्भसा ॥ ९६ ॥
संसेच्य बिम्बं तदनु स्नापयेत् तन्मृदम्भसा ।
पाठयेत् तत्र कूष्माण्डान् बलमन्त्राननन्तरम् ॥ ९७ ॥
ततो गोमयकुम्भेन इह गावः प्रपाठयेत् ।
भूतिस्त्वमिति मन्त्रेण पठ्यमानेन भूतिना ॥ ९८ ॥
पञ्चगव्येन तदनु पाठयेच्चैतुरस्ततः ।
पूर्ववच्च ततोऽभ्यर्च्य विधिवच्चमसाम्बुना ॥ ९९ ॥
क्षालयित्वाऽर्चयित्वा[5] च निवेश्य शयनान्तरे ।
नेत्राभिमन्त्रितां कृत्वा शलाकां तैजसीं स्वयम् ॥ १०० ॥

अथ मूलमन्त्रेणाष्टोत्तरशताहुतिपूर्वकं मण्डललेखनम्, तन्न्यूनातिरिक्तशान्त्यर्थं प्रायश्चित्तहोमम्, प्रागाद्यष्टकुण्डसंस्कारम्, प्रतिकुण्डसमीपं कुम्भस्थापनम्, तेषु प्रभवाप्ययक्रमेण वासुदेवाद्यर्चनं यद्वा हृन्मन्त्राद्यर्चनम्, मध्यकुण्डे तदर्थं पूर्णाहुतिम्, एकायनादिभिः पूर्णात्पूर्णपठनं चाह—हुत्वेति चतुर्भिः । आश्रावितमथर्ववेद इति पारमेश्वरव्याख्याने ॥ ९२–९६ ॥

अथ पूर्वं स्थापितस्थूलपराभिधानस्नपनकलशेषु पाद्यादिकतिपयकलशाभिषेकालङ्करणार्चनपूर्वकं नयनोन्मीलनार्थं शयने बिम्बस्य संनिवेशनमाह—अथेति चतुर्भिः । माङ्गल्यकलशाम्भसा पाद्यार्घ्याचमनाख्यकलशत्रयोदकेनेत्यर्थः । चमसाम्बुना । चमसो नाम तैलनिर्हरणार्थकद्रव्यविशेषः पूर्वमाराधनप्रकरणेऽप्युक्तः—

रजनीचूर्णसंमिश्रमीषत्पद्मकभावितम् ॥
देयमुद्वर्तनार्थं तु चमसं तदनन्तरम् । (६।३३–३४) इति ।

चमषी सुगन्धद्रव्यविशेष इति पारमेश्वरव्याख्याने ॥ ९६–१०० ॥

१. लिङ्गैः—बक० बख० अ० उ० । २. वि तद्–मु० अटी० अ० उ० । ३. यथा–मु०, यदा–अटी० । ४. च्छाक्वरं ततः–अ० उ० । ५. भ्यज्य–मु० उ० । ६. पूर्णापूर्ण–अ० ।

संस्मरन् परमं ज्योतिरीक्ष[1]न्नेत्रे तु चोल्लिखेत् ।
तन्मन्त्रितेन शस्त्रेण शिल्पी स्नातोऽवलोकितः ॥ १०१ ॥
यथावत् प्रकटीकुर्याद् विधिदृष्टेन कर्मणा ।
वारुणं पाठयेत् साम सह चान्द्रेण सामगान् ॥ १०२ ॥
ततः पात्रद्वये कृत्वा तैजसे[2] मधुसर्पिषी ।
वौषडन्तेन मूलेन सम्पूर्य[3] जुहुयात् ततः ॥ १०३ ॥
मुञ्चन्तममृतौघं तु हृदाद्यन्तेन सेचयेत् ।
तन्मूर्ध्नि शशिबिम्बं तु ध्यायेत् ताडनशान्तये ॥ १०४ ॥
सदक्षिणं शलाकाद्यं दद्याच्छिल्पिजनाय[4] च ।
गोदानमाचरेत् पश्चाद् गुरोराराधकस्ततः ॥ १०५ ॥
यथाशक्ति तथान्येषां मूर्तिपानां च दक्षिणाः ।
दत्वा समाचरेत् पश्चाद् दाहं साप्यायनं तु वै ॥ १०६ ॥

अथ नयनोन्मीलनविधानमाह—नेत्राभिमन्त्रितां कृत्वेत्यारभ्य मूर्तिपानां च दक्षिणा इत्यन्तम् । तैजसीं तैजसद्रव्यसंभवामित्यर्थः, सौवर्णीं राजतीं वेति यावत् । अत्रैकयैव शलाकया नेत्रद्वयोल्लेखनमिति ज्ञेयम् । संहितान्तरेषु सुवर्णरजतशलाकाद्वयेन नेत्रद्वयोल्लेखनमुच्यते । अत एवेश्वरपारमेश्वरयोः पक्षद्वयमप्युक्तम्—"आज्याकनया तया वापि राजत्या वाममुल्लिखेत्" (ई० सं० १८।२०७; पा० सं० १५।३३०) इति । तन्मन्त्रितेन नेत्राभिमन्त्रितेनेत्यर्थः । अवलोकितो नेत्रमन्त्रेण निरीक्षित इत्यर्थः । वारुणं साम प्रमित्राय प्रार्यम्ण इत्यादि । चान्द्रं साम चान्द्रं चान्द्रं चान्द्रं चान्द्रमित्यादि । संपूर्येत्यत्र नेत्रयुग्ममिति शेषः । तथा चोपबृंहितमीश्वरपारमेश्वरयोः—

पूरयेन्मधुसर्पिभ्यां नेत्रयुग्मं क्रमेण तु ॥
वौषडन्तेन मूलेन तेनैव जुहुयात् ततः । इति ।
(ई० सं० १८।२०९-२१०; पा० सं० १५।३३२-३३३)

अन्ये च बहवो विशेषास्तत्र तत्र प्रतिपादिता ग्राह्याः ॥ १०१-१०६ ॥

---

१. रीक्ष-मु० वक० । २. सी-बख० अ० उ० । ३. सम्पूज्य-मु० अटी० बक० । ४. नस्य-वख० अ० उ० ।

आमूर्ध्नो द्वादशार्णं तु मूर्त्यर्थं पूर्ववन्न्यसेत् ।
व्याप्तिसप्तासमायुक्ते संस्कृते[1] प्रोक्षणादिना ॥ १०७ ॥
पीठेऽवतार्य संवेष्ट्य वासोभ्यां[2] चाप्यधोर्ध्वतः ।
अथ[3] क्रमोदितैः कुम्भैर्द्विषोढावर्तितैर्हृदा ॥ १०८ ॥
स्नापयेत् पाठयेद् विप्रान् ओषधीनामिति श्रुतिम् ।
या ओषधय इत्यादि ऋग्वेदांस्तदनन्तरम् ॥ १०९ ॥
एवं दशावशिष्टान्तैः[4] सेचिते कलशैः सति ।
ततः कुम्भचतुष्केण चतुर्भिर्मूर्तिधारकैः ॥ ११० ॥
ऋक्सामपूर्वैर्विधिवत् स्नापनीयं च पाठयेत् ।
उदुत्तमं हि ऋग्वेदान् पाठयेद् द्रविणं यजुः ॥ १११ ॥
ततस्तु वारुणं साम सामज्ञोऽथर्वणस्ततः ।
अयं ते वरुणश्चेति पवित्रं ते ततो ऋचम्[5] ॥ ११२ ॥
वसोः पवित्रं हि यजुः पाठयेत् सामगांस्ततः ।
पवित्रं ते हि यत्साम संचोद्यैकायनांस्ततः ॥ ११३ ॥
मूर्तिपान् समुदायेन पावमानीचतुष्टयम् ।
तदन्ते तु परं मन्त्रं व्यूहीयं भगवानिति ॥ ११४ ॥
पवित्रमन्त्रं तदनु इदं विष्णुर्विचक्रमे ।
ततो विभवमन्त्रैस्तु सर्वैः संमन्त्रितेन च ॥ ११५ ॥
कुम्भेन सेचयित्वा तु व्यूहमन्त्रैः परेण तु ।
स्नापयित्वाऽर्चयित्वा तु जुहुयात् साधिकं[6] शतम् ॥ ११६ ॥

ततो बिम्बस्य दहनाप्यायनपूर्वकं मूलमन्त्रन्यासमनन्तादिव्याप्तिसप्तान्विते स्नानपीठे संस्थापनं वस्त्राभ्यां संवेष्टनं चाह—दत्वेति द्वाभ्याम् ॥ १०७–१०८ ॥

अथावशिष्टैः कलशैरभिषेचनक्रमं तच्छिद्रपूरकं होमं चाह—अथ क्रमोदितैः कुम्भैरित्यारभ्य जुहुयात् साधिकं शतमित्यन्तम् ॥ १०८–११६ ॥

---

१. संस्कृत्य—मु० अटी०, संस्तुते—बक० बख० । २. वाससा ह्यधरोर्ध्वतः—मु० अटी० । ३. अधः—मु० बक० । ४. ष्टान्ते—बक० बख० अ० उ० । ५. ऋचा—मु० अटी० । ६. साधितं—मु० ।

यथावत् प्रणवेनाथ व्याप्तिं कृत्वा च पाठयेत् ।
मा प्र[1]कामेति ऋग्वेदानाग्नेनायुर्यजुर्मयान् ।। ११७ ।।
प्राणापानं हि यत्साम ततः प्राणाय वै नमः ।
यातव्येति[2] परं मन्त्रं विप्रानेकायनांस्ततः ।। ११८ ।।
ध्यानयुक्तो धिया सम्यक् पठेदाराधकस्ततः ।
ॐ[3] आवाहयाम्यमरवृन्दनताङ्घ्रियुग्मं
लक्ष्मीपतिं भुवनकारणमप्रमेयम् ।
आद्यं सनातनतनुं प्रणवासनस्थं
पूर्णेन्दुभास्करहुताशसहस्ररूपम् ।। ११९ ।।
ध्येयं परं सकलवेदविदां च वेद्यं
वाराहकापिलनृकेसरिसौम्यमूर्तिम् ।
श्रीवत्सकौस्तुभमहामणिभूषिताङ्गं
कौमोदकीकमलशङ्खरथाङ्गहस्तम् ।। १२० ।।
सर्वत्रगोऽसि भगवन् किल यद्यपि त्वां[4]-
मावाहयामि हि यथा व्यजनेन वायुम्[5] ।
गूढो यथैव दहनो मथनादुपैति
आ[6]वाहितोऽपि हि तथा त्वमुपैषि चाऽर्चाम् ।। १२१ ।।
मालाधराच्युत विभो परमात्ममूर्ते
सर्वज्ञ नाथ परमेश्वर सर्वशक्ते ।
आगच्छ मे कुरु दयां प्रतिमां भजस्व
पूजां गृहाण मदनुग्रहकाम्ययाऽद्य ।। १२२ ।।

अथ प्रणवेन बिम्बे भगवद्व्याप्तिस्मरणपूर्वकमृगादिचतुर्वेदेष्वेकायने च प्राणप्रतिष्ठामन्त्रपाठनमाह—यथावदिति द्वाभ्याम् ।। ११७–११८ ।।

ततस्त्वावाहनश्लोकचतुष्टयं स्वयं पठेदिति । तच्चाह—ध्यानेत्यादिभिः ।।११९–१२२।।

---

१. प्रगा मु० अ० । २. धातर्येति–अ० उ० । ३. ओमित्यादिका ११९–१२२ संख्याकाः श्लोका न सन्ति–उ०, लिखिता अपि मष्या लेपिताः । ४. त्व–अ० । ५. वायुः–अ० । ६. ह्यावा–मु० अटी० ।

ततो विमृज्य वस्त्रेण भोगैः पूर्वोदितैर्यजेत् ।
अर्घ्याद्यैर्दक्षिणान्तैस्तु पाठयेद् ऋङ्मयांस्ततः ॥ १२३ ॥
अर्चामि तेति वै मन्त्रं साम यच्चार्चितस्त्विति ।
[1]भगवानिति तज्ज्ञांस्तु ततः सन्तर्पितेऽनले ॥ १२४ ॥
स्तुत्वा जितन्तमन्त्रेण सामज्ञान् पाठयेत् पुनः ।
सह गाय[2]त्रसाम्ना तु तद्रथन्तरसंज्ञितम्[3] ॥ १२५ ॥
प्रजप्य द्वादशार्णं तु मुद्रां बद्ध्वा प्रणम्य च ।
अष्टाङ्गेनाथ विज्ञाप्यो भगवान् भूतभावनः ॥ १२६ ॥
मूर्तिभूतेन[4] रूपेण अनेनैव हि साम्प्रतम् ।
लोकानज्ञाततत्त्वांस्तु समाह्लादय नागरान् ॥ १२७ ॥
येनान्तःसम्प्रविष्टेन ईषत्कालवशात्[5] तु वै ।
जन्मान्तरसहस्रोत्थान्मोक्षमायान्ति[6] किल्बिषात् ॥ १२८ ॥
एवम[7]थ्यर्थो हि भगवांल्लोकानुग्रहकृत् प्रभुः ।
करावङ्घ्रिगतौ कृत्वा पाठयेद् ऋङ्मयांस्ततः ॥ १२९ ॥
उत्तिष्ठेति ऋचो मन्त्रं[8] कृत्वा ब्रह्मरथे स्थिरे ।
सुयन्त्रिते च क्षीरा[9]ज्ये दध्योदनसमन्विते ॥ १३० ॥

एवमावाहनानन्तरं बिम्बसंमार्जनमर्घ्याद्यभ्यर्चनम्, अर्चामि तेत्यादिमन्त्रपठनम्, मध्यकुण्डे दिक्कुण्डेषु च हवनम्, जितन्तास्तोत्रपूर्वकं गायत्ररथन्तरसामपठनम्, जपमुद्राप्रणामविज्ञापनानि ब्रह्मरथोपरि भगवदुत्सवं शय्याधिवासं लाञ्छनन्यासं दामोदरादीनां महिमादितच्छक्तीनां विशाखयूपबीजस्य तत्तन्मूर्तिबीजस्य प्रणवस्य वा मूलमन्त्रस्य च पादादिमूर्धान्तं संहारक्रमेण न्यासम्, निस्तरङ्गार्णववत् सुशान्तत्वेन भगवद्ध्यानमुपसंहारप्रतिपादकानां विद्यां गदामित्यादिमन्त्राणां पाठनम्, बिम्बविन्यस्तैर्मन्त्रैः प्रत्येकं शतसंख्यया होमं पूर्णाहुतिं पुनः सर्वशक्तिमयेन स्वभावेन भगवतोऽभ्युदितत्वचिन्तनम्,

---

१. ॐ भगवन्निति–बख० अ० उ० । २. यत्रि–अ० उ० । ३. ज्ञकम्–अ० उ० । ४. भेदेन–अटी० अ० उ० । ५. वशेन–अटी०, लवात्–बख० अ० उ० । ६. ति कल्म–बक० बख० अ० । ७. एवमभ्यर्थ्य–बक० बख० अ० उ० । ७ मन्त्रः–बक० अ० उ० । ९. ज्य–बक० बख० उ०, ज्यं–अ० ।

दु[1]र्भिक्षक्षामशान्त्यर्थं परमान्नफलैर्युते ।
पाठयेदस्यवामीयम् ऋङ्मयांस्तदनन्तरम् ॥ १३१ ॥
तन्मयान् बलमन्त्रं तु दशार्धेति महामते ।
स्वयमाद्यन्तसंरुद्धं हृदा तु कवचं जपेत् ॥ १३२ ॥
भ्रामयेद् बलिदानं तु क्रियमाणं तु सर्वदिक् ।
रत्नकाञ्चनवस्त्राणां पूर्ववत् क्षे[2]पमाचरेत् ॥ १३३ ॥
दिव्याद्यायतनानां च कार्या पूजा यथोदिता ।
पञ्चरात्रविदां चैव यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ॥ १३४ ॥
षट्कर्मनिरतानां च दानं दीनजनेष्वपि ।
[3]रथस्थे मन्त्रबिम्बे तु यावत् पदशतं व्रजेत् ॥ १३५ ॥
स[4] रथस्तूर्यघोषेण तावत् क्रतुफलं ब[5]हु ।
आप्नोत्याराधकः शश्वत् सकामो नियतव्रतः ॥ १३६ ॥
ततस्तोरणदेशस्थं रथं कृत्वाऽर्चयेत् प्रभुम् ।
पाद्यार्घ्यपुष्पधूपैस्तु नमस्कृत्य च पाठयेत् ॥ १३७ ॥
उत्तिष्ठेति द्विषट्कार्णं[9] सजितन्तं तु चाखिलम् ।
सम्पठन् पौरुषं सूक्तं यागवेश्म प्रवेशयेत् ॥ १३८ ॥
हृदा शयनगं कृत्वा यात्राहोमं समार्प[6]येत् ।
ततस्तच्छिरसो देशे चक्राधारस्थिते घटे ॥ १३९ ॥
पूर्वोक्तलक्षणे नेत्रं[7]मस्त्रसम्पुटितं यजेत् ।
पूजयित्वाऽर्घ्यपुष्पाद्यैः श[8]यनस्थं च वै पुनः ॥ १४० ॥

बिम्बहृत्पद्मे षट्शक्तिकरणोपेतमूलमन्त्रस्मरणम्, नृसिंहकल्पोक्तरीत्या पाञ्चभौतिकतनूपसंहारचिन्तनम्, अमलमन्त्रमयमूर्त्युत्पत्तिचिन्तनम्, तद्वाचकानां सहस्रशीर्ष[11] देव-

---

१. सुभिक्षक्षेम—बक० बख० अ० उ० । २. क्षेम—बक० बख० अ० उ० । ३. अध.—अ० उ० । ४. तद्रथं तु—बक० बख०, तद्रथस्तू—अ० उ० । ५. भवेत्—अटी० । ६. चरेत्—बक० बख० । ७. नेन्त्रमन्त्र—बख० अ० उ०, नेमिमन्त्र—बक० । ८. शया—बक० अ० उ० । ९. सप्तदशे परिच्छेदे १७–२८ श्लोकेषु । १०. कतारूप—अ० । ११. शिरसं—म० ।

वर्मणाऽऽच्छाद्य वस्त्रेण ततो[1]ऽङ्घ्रिनिकटे विभोः ।
स्थित्वा लाञ्छनमन्त्रांस्तु यथास्थानगतान् न्यसेत् ॥ १४१ ॥
पादाद् वै द्वादशाङ्गेषु[2] ततो दामोदरादिकान् ।
तच्छक्तिकांस्तथा मन्त्रान् [3]भास्वद्व्यापकलक्षणान् ॥ १४२ ॥
ऐश्वरेणा[4]थ बीजेन यथावस्थेन भावयेत् ।
[5]पादादितन्मयेनैव तद्वन्मन्त्रवरेण तु ॥ १४३ ॥
प्राग्वदप्ययुक्त्या तु अन्तर्ज्योतिर्मयात्मना ।
विभुना वाक्स्वरूपेण तदेवाथ परं पद[6]म् ॥ १४४ ॥
सुशान्तं सर्वगं बुद्ध्वा निस्तरङ्गमिवोदधिम् ।
[7]विद्यां गदामित्याद्यं यत् पाठयेत् पाञ्चरात्रिकान् ॥ १४५ ॥
दे[8]हसान्न्यासिकं मन्त्रं धारणाख्यमनन्तरम् ।
जीमूतस्येति ऋग्वेदान्नासदासी[9]च्चं पाठयेत् ॥ १४६ ॥
क्रमेणानेन हुत्वा तु[10] पादार्धशतसंख्यया ।
तिलानां तु तथाज्यस्य मन्त्रैरेभिर्महामते ॥ १४७ ॥
दत्वा पूर्णाहुतिं सम्यगुपसंहारलक्षणाम्[11] ।
ततस्तत्परमं [12]ब्रह्माऽभ्युदितं पूर्ववत् स्मरेत् ॥ १४८ ॥
सर्वशक्तिमयेनैव स्वभावेन स्वकेन तु ।
ओजोबलात्मना यद्वद् [13]गन्धद्रव्यात्मना तु वै ॥ १४९ ॥
बीजं तरुस्वरूपेण समुद्रो बुद्बुदात्मना ।
एवमव्यपदेश्यायाः शक्तेः स्वे शक्तिदर्पणे ॥ १५० ॥

मित्यादिमन्त्राणां पाठनम्, औपचारिकसांस्पर्शिकाभ्यवहारिकैर्भोगैर्यथाविधि शयनस्थ-भगवदर्चनम्, मध्यकुण्डे दिक्कुण्डेषु च समित्सप्तकादिभिर्भगवत्संतर्पणम्, स्वस्वमूर्ति-

१. ततोऽग्नि–बख० उ० । २. ङ्केषु–अ० उ० । ३. प्राग्वत्–बक० । ४. ऐश्वर्येणाधि–बक० बख० उ० । ५. पदातीतम–अ० उ० । ६. परम्–मु० अटी० अ० । ७. विद्या–बक० बख० उ० । ८. देवस–बक० बख०, देवसा–अ० उ० । ९. सेति-बक० बख० उ०, सीति–अ० । १०. तं–बक० बख० अ० उ० । ११. णम्–बक० बख० अ० उ० । १२. ह्म ह्य्–मु० अटी० । १३. गन्धो–अटी० ।

स्थितिमादाय[1] विश्वेशः स्वातन्त्र्याच्च महामते ।
मन्त्ररूपां[2] तनुं धत्ते सम्यगाराधनाय[3] च ॥ १५१ ॥
नानात्वमुपयातस्य प्रसरं[4] तस्य च स्वयम् ।
निष्प्रभत्वं प्रयातस्य चिद्बीजनिचयस्य च ॥ १५२ ॥
आविष्कृतस्य भेदेनाप्यमूर्तेन[5] बलीयसा ।
अज्ञानगहनेनैव नित्यानित्यमयात्मना ॥ १५३ ॥
स्मृत्वैवं मूलमन्त्रं तु बिम्बहृत्पद्मगं स्मरेत् ।
षट्शक्तिकिरणोपेतैस्तैः[6] स्तद्द्रव्यमयीं तनुम् ॥ १५४ ॥
संस्मरेत् संहरन्तं च प्रागुक्तेनैव[7] वर्त्मना ।
स्वरूपममलं भूयः स्मरेन्मूर्त्यात्मना ततः[8] ॥ १५५ ॥
नयन्तं पूर्वविधिना[9] एवं स परमेश्वरः ।
मन्त्रात्मना स्वतन्त्रत्वमुपयातो यदा तदा ॥ १५६ ॥
सहस्रशिरसं देवमित्यथर्वांस्तु[10] चोदयेत् ।
पाठयेद् ब्राह्मणान् [11]धातर्यध्यक्षेति च मन्त्रराट् ॥ १५७ ॥
यो विश्वतश्चक्षुरिति [12]ध्यातव्यो भवतीति च ।
द्वा सुपर्णेति तदनु अतो देवेति[13] वै पुनः ॥ १५८ ॥
ऋङ्मयान् पौरुषं सूक्तं ततः परतमा त्विति[14] ।
ततोऽर्चयित्वा मन्त्रेशं[15] शयने बिम्बवृत्तिगम्[16] ॥ १५९ ॥
नित्यसन्निधिसिद्ध्यर्थमा समाप्तिं तु मण्डले ।
संरोध्य सन्निधीकृत्य महता विभवेन तु ॥ १६० ॥

कुम्भोदकैर्बिम्बसेचनम्, पुनराज्यादिभिः सपरिवारमन्त्रनाथसंतर्पणम्, पूर्णाहुतिम्, [17]घृतादिचतुर्द्रव्येष्वेकैकेन तत्तदङ्गस्पर्शपूर्वकं हृन्मन्त्रेणाहुतिद्विषट्कात्मकं होमं चाह—

१. माधाय–अटी० । २. रूपं–बक० बख० अ० उ० । ३. हरणाय–बक० बख० अ० उ०, भरणाय–अ० । ४. रन्तस्य–मु० बक० बख० । ५. योगेना–बक० बख०, तोयेना–अ० । ६. स्तां तां द्रव्य–बक० बख०, पेतं तैस्तां द्रव्य–अ० उ० । ७. प्राग्वत् सिंहोक्त–बक० बख० अ० उ० । ८. तु तत्–बक० बख० अ० उ० । ९.सर्व–अटी० । १०. ति सर्वांस्तु–मु० अटी० । ११. धानाय–बक० बख० । १२. यात–मु० अटी० उ० । १३. दैवीति–बक० बख० उ० । १४. न्विति–मु० उ० । १५. मन्त्रेण–बक० । १६. कम्–बक० बख० उ० । १७. घृतचतु–अ० ।

साङ्गं सन्तर्प्य विधिवत् सह[1] मूर्तिधरैस्ततः[2] ।
स्वमूर्तिकुम्भान्मन्त्रेण जलमुद्धृत्य भाजने ॥ १६१ ॥
बिम्बमूर्ध्नि क्रमाद् देयं[3] सर्वैरेकायनादिकैः ।
सन्तर्पयित्वा तदनु मन्त्रं सपरिवारकम् ॥ १६२ ॥
आज्यादिना प्रभूतेन दत्त्वा पूर्णाहुतिं ततः ।
बिम्बात्मना प्रयातानां क्ष्मादीनामङ्गरूपिणाम् ॥ १६३ ॥
आपादाने[4]ऽपि पूर्णत्वात् पिण्डीभावार्थ[5]मेव च ।
आरम्भादेव जातानां छिद्राणां शमने तु वै ॥ १६४ ॥
आप्यायनार्थं मन्त्राणां द्रव्यैर्होमं समाचरेत् ।
द्विषट्केनाहुतीनां तु एकैकेन चतुर्हृदा ॥ १६५ ॥
आ चाङ्घ्रेर्जानुपर्यन्तं स्पृष्ट्वाज्यं होमयेत् पुरा ।
आ नाभिं[6]जानुदेशाच्च तथैव[7] जुहुयाद् दधि ॥ १६६ ॥
नाभेराकर्णतः[8] क्षीरमा कर्णादा शिरो मधु ।
संमेल्य जुहुयात् सर्वं[9] स्पृष्ट्वा देहं तु चाखिलम् ॥ १६७ ॥
[10]संस्कृत्य बिम्बवत् पीठं भिन्नं ब्रह्मशिला तथा ।
प्राणाभिमानदेवं वा यस्य यो विहितस्तु वै ॥ १६८ ॥
वेष्टयित्वाऽम्बरैश्चित्रैश्चक्रमन्त्रेण वै ततः ।
कार्यो ब्रह्मशिलाहोमः शताष्टाधिकसंख्यया ॥ १६९ ॥
गायत्रीभिस्तदर्थं च बह्वृचाद्यैः पृथक् पृथक् ।
अजस्य नाभावित्यादिमन्त्रैरेकायनैस्ततः ॥ १७० ॥

ततो विमृज्य वस्त्रेणेत्यारभ्य स्पृष्ट्वा देहं तु चाखिलमित्यन्तम् ॥१२३-१६७॥

अथ पीठब्रह्मशिलयोः संस्कारानाह—संस्कृत्य बिम्बवत् पीठमित्यारभ्य प्रणवान्तेन लाङ्गलिन्नित्यन्तम्। पीठब्रह्मशिलयोरपि भगवद्बिम्बत्वाकारेणैव स्मरणमेकः पक्षः, तत्तत्पीठाभिमानदेवत्वेन स्मरणमन्यः पक्षः । पीठाभिमानदेवत्वेना-

---

१. साङ्ग—बक० बख० उ० । २. रैः स्मृतः—बक० बख० उ० । ३. देवं—अ० उ० । ४. दानेति—अटी०, देनापि—बक० बख०, दनेऽपि—अ० उ० । ५. भूता—बक० बग० अ० उ० । ६. आ जानुनाभि—अटी० । ७. तदैव—अटी० । ८. मा मूर्ध्नः कर्णतो—बग० । ९. पूर्व—बग० बख० अ० उ० । १०. संस्मृत्य—अ० उ० ।

अध्वा[1]ऽधिभूतमूर्तं तु भोग्यं[2] वापि पृथक् स्थितम् ।
देवतानां त्वधिष्ठानं पीठं कृत्वाऽथ बुद्धिगम्[3] ॥ १७१ ॥
होतव्यं प्रणवेनैव स्वयं व्याहृतिभिस्तु तैः ।
अपरैर्मूलै[4]र्मन्त्रेण प्रणवान्तेन लाङ्गलिन् ॥ १७२ ॥
ततो वाहनमन्त्रेण तर्पणीयः सदैव हि ।
स्वनाम्ना प्रणवेनैव स्वाहान्तेनापरैस्ततः ॥ १७३ ॥
संरोधस्तर्पितानां तु कार्यः पूर्णान्त एव हि ।
साम्भसा विष्टरेणैव भावेन सजपेन च ॥ १७४ ॥
सर्वे[5]श्वरस्य देवस्य स्वकीयासु च मूर्तिषु ।
शब्दात्मिका[6]स्वमूर्तासु तद्वच्छ्रुतिमयस्य च ॥ १७५ ॥

नन्तकूर्ममीनेष्वन्यतमः, तत्त्रयं वा। यस्य यो विहितः "अष्टलोहमयं चक्रम्" (२५।२०५) इत्यादिभिर्वक्ष्यमाण इत्यर्थः। पारमेश्वरव्याख्याने तु—"प्राणाभिमान-देवमनन्तम्" इति केवलमनन्तं प्रतिपादितम्। तन्मन्दम्, यस्य यो विहित इति वाक्यविरोधात् ॥१६८–१७२॥

ततो गरुडमन्त्रेण परिवारमन्त्रैश्च होममाह—तत इति। पारमेश्वरपुस्तकेषु केषुचित् "ततो हवनमन्त्रेण" (१५।५९४) इत्यबद्धपाठो दृश्यते, तद्व्याख्यानेऽपि हवन-मन्त्रेण स्वाहान्तमन्त्रेणेत्यबद्धपाठ एव व्याख्यातः। अपरैः परिवारमन्त्रैरित्यर्थः ॥१७३॥

एवमेतावदन्तं समर्पितानां सर्वेषामपि परिवारदेवानां सर्वेश्वरस्य भगवतश्च प्रतिष्ठानन्तरभाविपूर्णाहुत्यन्तसंनिरोधमाह—संनिरोध इति द्वाभ्याम्। साम्भसा विष्टरेण कूर्चगतार्घ्येणेत्यर्थः[7]।

आवाहने संनिधाने संनिरोधे तथार्चने ॥
विसर्जनेऽर्घ्यपात्रं[8] तु प्राक् पात्रान्नित्यमाचरेत्। (१८।७१–७२)

इति संनिरोधेऽप्यर्घ्यदानस्य पूर्वोक्तत्वात्। भावेन ध्यानेनेत्यर्थः। सर्वैः स्वकस्य देवस्येति पाठ एव सरसः। यतः सर्वैराचार्यर्त्विग्भिः स्वकस्य देवस्य प्रागादिस्वकुण्डस्थित-देवस्य स्वकीयासु मूर्तिषु वासुदेवसंकर्षणादिमूर्तिषु तद्वच्छ्रुतिमयस्य चतुर्वेदस्वरूपस्य विदिक्कुण्डसन्तर्पितस्य भगवतश्च शब्दात्मिकासु ऋग्यजुःसामाथर्वरूपेण चतुर्धा स्थितासु अमूर्तासु शब्दमूर्तिषु च संनिरोधः कार्य इत्यर्थः स्वरसः। सर्वेश्वरस्येति पाठेऽप्येवमेवार्थः। किन्तु तत्र आचार्यर्त्विग्भिरित्यध्याहार्यम् ॥ १७४–१७५ ॥

१. ध्वादि–अटी० वख० । २. भोज्यं जाप्यं–वक० वख० अ० उ० । ३. भुक्तिगम्–अटी० । ४. र्वल–अ० उ० । ५. सर्वैः स्वकस्य देवस्येति भाष्यानुमतः पाठः। ६. कासु मूर्ता–मु० अटी० वक० वख० । ७. गतेनेत्यर्थः–अ० । ८. दानं–मु० । ९. तद्वद्विश्रुति–अ० ।

कृत्वैवं च तथा[1] दिक्षु मूर्तिपान् विनिवेश्य च ।
पार्श्वदेशेषु कुण्डानां तर्पयेत् पायसेन तु ॥ १७६ ॥
गृहीत्वा दक्षिणां[2] मन्त्रैः प्रीणनीयस्तु तैस्ततः ।
अथ निद्रायमाणं[3] तु देवं स्मृत्वाऽवकुण्ठ्य च ॥ १७७ ॥
अर्चयित्वा नमस्कृत्य तत्र सर्वान् प्रवेशयेत् ।
स्तुतिपाठकपूर्वांस्तु नृत्तगेयपरायणान् ॥ १७८ ॥
विदिक्स्थान् प्रणवे जापे द्वादशार्णैर्न[4] दिक्स्थितान् ।
साघ्र्यपुष्पाक्षतकरः प्रासादं[5] तं व्रजेत् ततः ॥ १७९ ॥
हन्यात् सिद्धार्थकैस्तस्माद् विघ्नानस्त्राभिमन्त्रितैः ।
प्राङ्मध्ये विधिनानेन श्वभ्रं वा साम्प्रतं खनेत् ॥ १८० ॥
विनिश्चितं यथामानं गर्भं[6] कुर्यात् तु सप्तधा ।
द्वारदेशात् समारभ्य समैः सूत्रैस्तु सर्वदिक् ॥ १८१ ॥
द्वारमध्ये[7] पदान्तं तु पादानाम्[8] अधिदेवताः ।
पिशाचा मानवा देवाः परमः[9] पुरुषो हि यः ॥ १८२ ॥
चातुरात्म्यं विनान्येषां स्थापितानां महामते ।
आराधनं च स्वस्थानादचिरादेव सिद्धिकृत् ॥ १८३ ॥

अथ मूर्तिपपायसभोजनादिकमाह—कृत्वेति सार्धेन ॥ १७६–१७७ ॥

अथ निद्रायमाणस्य भगवतो वस्त्रैरवकुण्ठनार्चननमस्कारान्, आ प्रभातं मूलमन्त्रजपे एकायनानां प्रणवजपे ब्रह्मवादिनां[10] स्तुतिमङ्गलगाननर्तनादिषु तत्तज्जनानां[11] नियोजनं चाह—अथेति द्वाभ्याम् ॥ १७७–१७९ ॥

अथ प्रासादान्तःप्रवेशे[12] तत्रत्यविघ्नोत्सारणम्, तत्र ब्रह्मशिलाप्रतिष्ठार्थं[13] श्वभ्रखननम्, तदर्थं गर्भगेहस्य सप्तधा विभागम्, तत्तत्पदानाम्[14] अधिदेवताविवरणम्, तेषु तेषु

---

१. यथा–अ० उ० । २. दक्षिणो–बक० बख० अ० उ० । ३. मानं–बक० उ० । ४. र्णे तु दिक्–उ० । ५. दान्तं–अटी० अ० बख० । ६. °गर्भात्–बक०, गर्भं–अ० । ७. द्वारान्मध्य–बक० बख० अ० उ० । ८. पदा–अ० उ० । ९. परमं–बक० बख० अ० उ० । १०. ब्रह्मचादीनां–म० । ११. तज्ज–अ० । १२. प्रवेशं–अ० । १३. ष्ठापनं–अ० । १४. तत्पदा–अ० ।

आक्रम्य देवभागं च देव आराध्यते यदि ।
भवन्ति बहवो विघ्ना वर्जनीय[1]ः स्वतस्तु सः ॥ १८४ ॥
शुभेन भद्रपीठेन [2]दैवीयेनाथ लाङ्गलिन् ।
चातुरात्म्यप्रतिष्ठायां शिलाख्यं मध्यमं पदम् ॥ १८५ ॥
गर्भमध्यपदस्योर्ध्वे योजनीयं प्रयत्नतः ।
अतोऽन्वितांशमेकं तु त्यक्त्वा वै पृष्ठ[3]देशतः ॥ १८६ ॥
शिलाप[4]दद्वयस्यान्ते योजनीया महामते ।
अग्रदेशेऽ[5]थ बिम्बस्य वेदिभागद्वयोपरि ॥ १८७ ॥
चतुरश्रायतस्यैतत् पीठस्य स्थापने हितम् ।
एवं हि चतुरश्रस्य विधानं किन्तु लाङ्गलिन् ॥ १८८ ॥
संचा[6]र्या त्वग्रतो वेदिं[7]र्नित्यमाराधनार्थतः ।
पीठोपर्यथवा देवं यस्त्वाराधयते सदा ॥ १८९ ॥
निवेशनी[8]या वै तेन मध्यदेशेन सा शिला ।
एवमाराधनवशात् तथा फलवशात् तु वै ॥ १९० ॥
सपीठानां च बिम्बानां कार्यं सम्यङ् निवेशनम् ।
देवमानुषभागाच्च ऐहिकामुष्मिकं भवेत् ॥ १९१ ॥
विबुधब्रह्मभागाच्च [9]ऐहिकं तु गुणाष्टकम् ।
अपवर्गे तु सामान्यमकामानामयं विधिः ॥ १९२ ॥

पदेषु चातुरात्म्यप्रतिष्ठादीनां वर्ज्यावर्ज्यविवेचनम्, तत्तत्फलभेदांश्चाह—साध्यपुष्पाक्षतकर इत्यारभ्य अकामानामयं विधिरित्यन्तम् । गुणाष्टकम् अपहतपाप्मत्वादिकम्, मोक्ष इति यावत् ॥ १७९–१९२ ॥

---

१. यास्त–मु० अटी० । २. देवी–बक० बख० । ३. मध्य–बक० बख०, प्रविशेत्ततः–अ० । ४. पाद–अ० उ० । ५. शस्य–अ० । ६. चार्य–अ० उ० । ७. दिं नित्य–अ० उ० । ८. नीयो–बक० बख० उ० । ९. सैंहिकं–मु० उ० ।

भिन्नेऽपेक्षावशान्मध्ये संति भूयः समाचरेत् ।
गालितेऽस्त्राम्बुना लिप्ते हृदा वै चन्दनादिना ॥ १९३ ॥
श्वभ्रेऽथ घटरुद्रानां मन्त्राणां च निरोधनम् ।
पूर्वोक्तेन विधानेन धिया स्वे स्वेऽयने तथा ॥ १९४ ॥
कृत्वाऽर्चनं यथोद्दिष्टं पूर्णान्तं तत्र विन्यसेत् ।
बाहुल्येन तु षट्पञ्चचतुर्गोलकसंमिताम् ॥ १९५ ॥
पीठाद् विनिर्गतां किञ्चिद् भूतये सुस्थिरां शिलाम् ।
ग्रस्तां पीठेन मुक्त्यर्थं नवरन्ध्रकृतां पुरा ॥ १९६ ॥
सुमन्त्रेण तु तत्रापि प्रतिष्ठाऽसीति पाठयेत् ।
प्रागादौ प्राभवेणाथ पञ्चकं पञ्चकं न्यसेत् ॥ १९७ ॥
शिलावटेषु द्रव्याणां तत्र वज्रं च हाटकम् ।
हरितालमुशीरं च व्रीहयो दक्षिणे त्वथ ॥ १९८ ॥
इन्द्रनीलमयश्चैव कांसीसं चन्दनं तिलाः ।
मुक्ताफलं च रजतं पारदं चाप्यदिक् ततः ॥ १९९ ॥
सहोशीराश्च वै मुद्गाः पद्मरागमथोत्तरे ।
कांस्यं सराजपाषाणं राजेन्द्रं चणकैः सह ॥ २०० ॥
विशङ्कं विन्यसेन्मध्ये पूर्वमेव ततो बहिः ।
विदिक्ष्वप्ययययोगेन एवमन्यत् पृथक् पृथक् ॥ २०१ ॥

अथ प्रक्षालनचन्दनोल्लेपनादिसंस्कृते तस्मिन् श्वभ्रे पूर्वं प्रासादनिर्माणकाले नवकुम्भेषु संनिरुद्धानां देवानां [13]बुद्ध्यादिनिश्चिते तत्तत्स्थाने पुनः संनिरोधनम्, यथाविध्यग्निसंतर्पणान्तमर्चनम्, तत्र यथोक्तलक्षणरत्नन्यासशिलाप्रतिष्ठाम्, प्रतिष्ठासीति मन्त्रपाठनं चाह—भिन्न इति सार्धैश्चतुर्भिः। बाहुल्येन तु षट्पञ्चचतुर्गोलकसंमितां द्वादशाङ्गुलं दशाङ्गुलमष्टाङ्गुलं वा घनामित्यर्थः ॥ १९३–१९७॥

अथ तद्गर्तेषु रत्नादिन्यासप्रकारमाह—प्रागादौ प्राभवेणाथेत्यारभ्य

---

१. भिन्ने पक्षे–बख० । २. स हि–बक० बख० । ३. क्षालिते–बक० बख० । ४. श्वभ्रे यो–बक०, श्वभ्रेऽधो पद–अ० । ५. स्वे धने–बक०, स्वे यते–अ० । ६. पूर्वा–बक० । ७. भूतले–बक० बख० अ० । ८. स्व–अ० उ० । ९. तदधस्थं–अ०। १०. पङ्क्तिसप्तकमेतन्न दृश्यते–मु० अटी० । ११. विश्वकं–बक०, विशकं–अ० उ० । १२. लेखनादि –अ० । १३. बुद्ध्या विनि–अ० ।

लोहं वैडूर्यपूर्वं[1] तु चक्राङ्कं चाभ्रकं त्वथ ।
षाष्टिकास्त्वीशदिग्वाय्वोः[2] पुष्यरागो हरीतकी[3] ।। २०२ ।।

[4]गैरिका शारिकाऽत्रैव मयूरान्यथ यातुदिक् ।
महानीलं च वङ्गं तु तथा पाषाणमाक्षिकम् ।। २०३ ।।

यवाः सगरुकाश्चापि ह्याग्नेयाः स्फाटिकं तथा ।
ताम्रं मनःशिला चैव गोधूमाः शङ्खपुष्पिका ।। २०४ ।।

मध्ये सर्वाणि तदनु ततो गर्तगणं तु तत् ।
लेपैराच्छादितं कृत्वा साङ्गं मन्त्रं पदे पदे ।। २०५ ।।

पूजयित्वा यजुर्वेदान् चर्म[5]षट्कांश्च पाठयेत् ।
तदूर्ध्वे विन्यसेत् पीठं तच्छ्वभ्रे विनिवेश्य च ।। २०६ ।।

अष्टलोहमयं चक्रं तदूर्ध्वे तु महामते ।
द्वादशाख्याद् विशेषोत्थादाधारो यस्य यः स्वकः ।। २०७ ।।

चर्म[6]षट्कांश्च पाठयेदित्यन्तम् ।। १९७-२०६ ।।

तदूर्ध्वे पीठस्थापनं तद्गर्ते चक्रादिस्थापनं चाह—तदूर्ध्वे विन्यसेत्पीठमित्यारभ्य-कार्या दर्भोदकक्रियेत्यन्तम् । द्वादशाख्याद् विशेषो[7]त्थादाधारो यस्य यः स्वकः । विभव देवेष्वनन्तादिद्विषट्कस्य कूर्मस्त्वाधारः । मीनादिद्विषट्कस्य मीनस्त्वाधार इत्यर्थः । चतुरात्मनि चातुरात्म्यप्रक्रियायामेतत् पञ्चकं चक्रा(न)न्तकूर्ममीनपद्मपञ्चकमित्यर्थः । एवं चानन्तकूर्ममीनव्यतिरिक्तविभवदेवानां प्रतिष्ठायां पीठगर्ते प्रथमं चक्रम्, तदुपरि तत्तद्द्विषट्काधारमनन्तकूर्ममीनेष्वन्यतमम्, तदुपरि पद्ममेतत् त्रयमेवं[8] न्यसेदिति फलितोऽर्थः । चक्रस्य प्रतिष्ठायां तदधः पीठगर्तेऽनन्तं तस्यानन्तस्याधस्तान्मीनकूर्मौ मीनस्याधस्तात् कूर्मानन्तौ तस्य कूर्मस्याधस्तान्मीनानन्तौ च न्यसेत् । सर्वस्य चक्रादीनां

---

१. तथा–अ० । २. कं त्वी–उ० । ३. तिका–बक० बख० अ० उ० ।
४. पङ्क्तिचतुष्टयमेतन्न दृश्यते–मु० अटी० । ५. वषट्कारांश्च–बक० बख० उ० ।
६. 'चमषट्कांश्च····मित्यारभ्य' नास्ति–अ० । ७. पोऽर्थाः–अ० । ८. मेवं–म० ।

हैमं तदूर्ध्वे कमलं तज्जं वा ताम्रमेव वा ।
यथाक्रम[1]स्थितं ह्येतत् पञ्चकं चतुरात्मनि ॥ २०८ ॥
न्यसेदनन्तं[2] चक्रस्य मीनकूर्मौ [3]कृतस्य च ।
[4]कूर्मानन्तौ तु मीनस्य मीनानन्तौ तु तस्य च ॥ २०९ ॥
सर्वस्य विहितं पद्मं तस्यानन्तं तु विन्यसेत् ।
मण्टपे[5] तु खगेशस्य चक्रं स्थापनकर्मणि ॥ २१० ॥
न्यस्य [6]पूर्णान्तिकं कृत्वा कर्मण्यत्र च तर्पणम् ।
सह मूर्तिधरैः प्राग्वत् कार्या दर्भोदकक्रिया ॥ २११ ॥
ततः प्रबोधयेद् देवमर्चयित्वा इदं पठेत् ।
मन्त्रात्मन् रूपमात्मीयमाग्नेयमुपसंहर ॥ २१२ ॥
समाश्रयस्व सौम्यत्वं स्थित्यर्थं परमेश्वर ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश उत्तिष्ठ परमेश्वर ॥ २१३ ॥
मदनुग्रहहेत्वर्थं पीठभूमिं समाश्रय ।
उद्घाट्य हृदयेनाथ त्यक्तनिद्रं तु मन्त्रराट् ॥ २१४ ॥
उत्थाप्य मूर्तिमन्त्रेण सह मूर्तिधरैर्बलात् ।
तोरणेन च निष्क्रम्य प्रदक्षिणचतुष्टयम् ॥ २१५ ॥

सर्वेषामपि पद्मं च विहितम् । तस्य पद्मस्य प्रतिष्ठायां तु तदधोऽनन्तं न्यसेत् । मण्टपे तु खगेशस्य स्थापनकर्मणि चक्रं न्यसेदिति चोक्तं भवति । पूर्णान्तिकं तर्पणं कृत्वेत्यत्र चक्रादिमन्त्रैरिति ज्ञेयम् । दर्भोदकक्रिया चात्र गर्भगेहादिप्रोक्षणार्थमिति ज्ञायते ॥ २०६–२११ ॥

ततः प्राप्ते लग्ने भगवत्प्रबोधनमर्चनम्, मन्त्रात्मन्नित्यादिविज्ञापनम्, त्यक्तनिद्रस्य भगवतः समुद्धरणम्, ऋत्विग्भिः सह समुत्थापनम्, तोरणद्वारेण बहिर्निष्क्रमणम्, मन्दिरप्रदक्षिणचतुष्टयम्, प्रासादद्वारे पाद्याद्यभ्यर्चनम्, अन्तःप्रवेशनम्, चतुश्चक्रेत्यादिमन्त्रपाठनम्, दुकूलेन पादाम्बुरुहनालवेष्टनम्, पीठमध्ये बिम्बस्थापनम्, प्रतिष्ठालिङ्गमन्त्रपाठनं चाह—ततः प्रबोधयेद् देवमित्यारभ्य द्वौ मन्त्रौ पाठयेत् क्रमादि-

---

१. क्रमं—बक० बख० उ० । २. न्तच—बक० बख० अ० उ० । ३. तु तस्य वै—बक० बख० अ० उ० । ४. पङ्क्तिरेषा न दृश्यते—मु० अटी०, अ० पुस्तके च न्यस्येति पङ्क्त्युत्तरं स्थापिता । ५. मण्डपे—बख० उ० । ६. पूर्वा—मु० अटी० बक० बख० । ७. सङ्ग—अ० ।

कुर्यात् प्रासादपीठस्य द्वाराग्रे सन्निरोध्य च ।
पाद्यार्घ्याचमनं दत्वा हृन्मन्त्रेण प्रवेशयेत् ॥ २१६ ॥
शाखाग्रमस्पृशन्तं च पाठयेत् तद्विदस्ततः ।
चतुश्चक्रेति तदनु पुरमेकादशेति यत् ॥ २१७ ॥
वर्माभिमन्त्रितेनाथ दुकूलेन सितेन च ।
पादाम्बुरुहनालं प्राक् शिखामन्त्रेण वेष्टयेत् ॥ २१८ ॥
अग्नीषोमौ समीकृत्य प्रणवाद्यन्तगेन तु ।
निवेश्य मूलमन्त्रेण वामतो मारुतं त्यजेत् ॥ २१९ ॥
प्रतिष्ठा[1]लिङ्गशब्दौ तु[2] द्वौ मन्त्रौ पाठयेत् क्रमात् ।
शान्तं ब्रह्ममयं रूपं स्वकं समवलम्ब्य च ॥ २२० ॥
यतो हितार्थं सर्वेषां निर्गतः षड्गुणात्मना ।
अतो ब्रह्मपदादीषद् देवभागे स[3]मानयेत् ॥ २२१ ॥

त्यन्तम्। अग्नीषोमौ समीकृत्य श्वासं (गु?कु)म्भीकृत्येत्यर्थः। एवमेव व्याख्यातं पारमेश्वर-व्याख्यानेऽपि । वामतो मरुतं त्यजेद् वामनासिकया श्वासं विसृजेदित्यर्थः । प्रतिष्ठा-लिङ्गशब्दौ द्वौ मन्त्रौ ऋग्वेदसामवेदोक्तौ प्रतिष्ठासीत्यादिमन्त्रावित्यर्थः । अथवा प्रतिष्ठासीति साम, ध्रुवाद्यैरिति यजुरिति पारमेश्वरव्याख्यानोक्तौ ॥ २१२–२२० ॥

ब्रह्मपदस्थापितस्यापि देवस्य किञ्चिद् दिव्यभागानयने युक्तिमाह—शान्त-मिति द्वाभ्याम् । दिव्यभागानयनं च वामभाग इति बोध्यम् । तथा च पारमेश्वरे—

यत्रापि केवले ब्राह्मे स्थापनं स[4]मुदीरितम् ।
तत्रापि वामतः किञ्चिद् द्रव्यभागं समाश्रयेत् ॥ (१५।७९९) इति ।

अत्र पारमेश्वरव्याख्याने—"शान्तं ब्रह्ममयं रूपमित्यनेन आवाहयामीत्युक्तार्थः स्मारितः[5], पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात्, "अग्निहोत्रं जुहोति" (तै० सं० १।५।९।१) "यवागूं पचति" इतिवत्, सन्ध्यास्नानमितिवच्च" इति लिखितम्। अत्रावाहयामीत्यर्थ-स्मरणस्य न किञ्चिदपि प्रकृतत्वं दृश्यते । किञ्च, पूर्वं तदर्थविरोधे पाठक्रमादर्थ-क्रमोऽनुसरणीयः । विरोध एव न दृश्यते ।

ननु तदा बिम्बस्थापनात् पूर्वमेव स्नपनकाले आवाहनं विरुद्धमिति चेन्न, त[6]दानीं भगवदावाहनं विना केवलबिम्बेऽभ्यर्चनोत्सवशयनाधिवासमन्त्रन्यासपरमान्न-

१. प्रतिष्ठ–बख० उ० । २. च–मु० अटी० । ३. सुपाठयेत्–अ० । ४. समुदीरितम्.... आवाहयामीत्युक्तार्थः' नास्ति–अ० । ५. स्मारितम्–अ० । ६. 'तदानीं' नास्ति–अ० ।

मोक्षादिफलसिद्धीनां प्राप्तये ह्यविचारतः ।
करस्थमथ मोक्तव्यं कौतुकं हृदयेन तु ॥ २२२ ॥
सर्वाङ्गमर्घ्यमन्त्रेण दत्वा मूलमनुस्मरेत्[1] ।
हृदा[2]स्त्रपरिजप्तेन वज्रलेपेन वै ततः ॥ २२३ ॥
बिम्बपीठशिलानां तु एकत्वेनाचरेत् स्थितिम् ।
मूलमन्त्रं ततो ध्यात्वा संशान्तं[3]ब्रह्मलक्षणम् ॥ २२४ ॥

निवेदनादिकस्यात्यन्तविरुद्धत्वात् । किञ्च, बिम्बस्थापनात् पूर्वमावाह[4]नं विरुद्धं मन्वानेन भवता कथमष्टबन्धनात् पूर्वमावाहनमविरुद्धं गृह्यते ? अपि च, शान्तं ब्रह्म-मयं रूपमित्यत्र शान्तं शान्तोदितावस्थापन्नं ब्रह्ममयं स्वकं रूपमवलम्ब्य आश्रित्य सर्वेषां हितार्थं षड्गुणात्मना यतो भगवान् निर्गतः, ततो ब्रह्मस्थाना[5]दीषद् देवं बहि-र्निर्गमयेदित्यर्थोपदेशप्रकरणे आवाहनस्मरणं कर्तुं कथं शक्यते ? किं बहुना ॥ २२०–२२२ ॥

अथ रक्षासूत्रविसर्जनकार्यसमर्पणपूर्वकमष्टबन्धनले[6]पनमाह—करस्थमिति द्वाभ्याम् । अत्र पारमेश्वरव्याख्याने—अत्र पाद्यादिष्विव प्रतिकर्म कौतुकबन्धनप्रसङ्गा-भावात् कथं मोक्तव्यमित्युक्तमिति चेत्, प्रतिकर्म तदभावे जलाधिवाससमये पूर्ववत् कौतुकं बद्ध्वेति प्रसङ्गो[7]त्सैवेति शङ्का परिहृता । एवं शङ्का पारमेश्वरव्याख्यातुरेव जाता, न ह्यन्यस्य जायते,

तमर्घ्येणार्चयित्वा च ततस्तन्मन्त्रितान् करे ।
सिद्धार्थकान् दक्षिणे तु बद्ध्वाग्रे पाठयेदृचम् ॥
रक्षोहणं तथा सर्वान् नयेत् प्रतिसरे[8] मणीन् । (२५।४९–५०)

इति पूर्वमेव कौतुकप्रसङ्गात् ।

नन्वस्य कौतुकत्वं न संभवति, जलाधिवाससमये "पूर्ववत् कौतुकं बद्ध्वा" (ई० सं० १८।९९; पा० सं० १५।२२५) इत्यत्रोक्तस्यैव कौतुकत्वमिति चेत्, तथा न भ्रमितव्यम् । "करस्थमथ मोक्तव्यं कौतुकं हृदयेन तु" (२५।२२२) इति वाक्यं सात्व-तोक्तम् । तत्र जलाधिवासस्यैवानुक्तत्वात् "पूर्ववत् कौतुकं बद्ध्वा" इति वाक्यमेव नास्ति। अतः—"तमर्घ्येणार्चयित्वा" (२५।४९) इत्यादिप्रतिपादितस्य प्रतिसरबन्धस्यैव विसर्जनं चेति पूर्वपर्यालोचनया स्वस्थो भव ॥ २२२–२२४ ॥

---

१. इतः परम्—'इति सामान्यसन्धानं प्राक् कृत्वा तद्विशेष्य(शोष्य) च' इत्यधिकः पाठो दृश्यते–मु० अटी० । भाष्यकारेणाऽव्याख्यातत्वादनुपदमेव पङ्क्तेरस्या विद्यमानत्वाच्च द्विरुक्तिमात्रमेतत् । २. हृद–बक० अ० उ० । ३. सुशान्त–मु० अटी० बक० । ४. हनेन-अ० ५. नामी–अ० । ६. लेपमा–म० । ७. त्सेवेति–म० । ८. सरो–म० ।

आधारादिध्वजाग्रान्तं व्याप्तं तेनाखिलं स्मरेत् ।
इति सामान्यसन्धानं प्राक् कृत्वा तद्विशिष्यते ॥ २२५ ॥
स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन स्थूलं षोढा शिलान्तगम् ।
पिण्डिकायां तथा सूक्ष्मं तत्परं बिम्बविग्रहे ॥ २२६ ॥
विन्यासं पीठमूलेऽथ देवतानां समाचरेत् ।
भवोपकरणीयानां पीठोर्ध्वे त्वथ तद्विना ॥ २२७ ॥
न्यसेद् विभवदेवांस्तु उपर्युपरि पूर्ववत् ।
घटोद्देशात् समारभ्य परमर्चागतं ततः ॥ २२८ ॥
एवं हि सर्वदेवानां सन्निवेशवशात् तु वै ।
चिन्तामणिमयो न्यासः कृतो भवति सिद्धिदः ॥ २२९ ॥

अथ मूलमन्त्रस्याधारादिप्रासादोर्ध्वस्थितध्वजाग्रान्तं व्याप्तिस्मरणरूपं सामान्यसन्धानं पुनस्तस्यैव मन्त्रस्य हृदादिभेदैः षोढा स्थूलरूपेण ब्रह्मशिलायाम्, सूक्ष्मरूपेण पीठे, पररूपेण बिम्बे च विशेषतः सन्धानं चाह—मूलमन्त्रमिति सार्धद्वाभ्याम् । प्रासादाग्रे ध्वजसंस्थितिं वक्ष्यति हि—

त्रिधांशेन शिखाद्युच्चं खगराट्परिभूषितम् ।
संस्कृत्य ध्वजदण्डं च शिखामन्त्रेण विन्यसेत् ॥ (२५।२८४) इति ।

अत एवेश्वरपारमेश्वरयोरप्युत्सवाध्याये—"प्रासादस्य शिखाग्रे तु स्थापितः खगराड्ध्वजः" (ई० सं० १०।११ : पा० सं० १६।३७) इति प्रतिपादितम् ॥२२४–२२६॥

अथ देवतान्यासमाह—विन्यासमिति त्रिभिः । पीठमूले पीठस्याधः, पिण्डिकोपरीति यावत् । भवोपकरणीयानां देवतानां कालादिवसुधान्तानां पूर्वोक्तानामित्यर्थः । तद्विना विभवदेवान् न्यसेत् । पातालशयनादिपद्मनाभान्तविभवदेवेषु प्रतिष्ठेयम् । देवं विनाऽन्यान् सर्वान् न्यसेदित्यर्थः । तथा च व्यक्तमुक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

पीठोर्ध्वे तु मुनिश्रेष्ठाः प्रतिष्ठेयं विनैव तु ।
न्यसेद् विभवदेवांस्तु ह्युपर्युपरि पूर्ववत् ॥ इति ।
(ई० सं० १८।४१५; पा० सं० १५।८२६)

पारमेश्वरव्याख्याने एतदभिप्रायमबुद्ध्वा "प्रतिष्ठेयं प्रतिष्ठायोग्यं बिम्बं विना मन्त्रेण न्यसेदित्यर्थः" इति लिखितम् । घटोद्देशात् समारभ्य पूर्वं प्रासादमध्ये स्थापित-

१. आ चाधाराद् ध्वजाक्रान्तं–मु० अटी०, आ चाधार–अ० उ० । २. शेष्यते–मु० अटी० । ३. कम्–अटी० अ० । ४. मार्चा–बक० बख० । ५. जस्थि–अ० । ६. न्यासः–अ० । ७. मुक्तं पा रमेश्वरेश्वरयोः–अ० । ८. श्रेष्ठ–पा० ।

अथ मण्टपमध्ये[1] तु देवदेवस्य सम्मुखम् ।
स्थितेऽपि तन्मुहूर्तांशे[2] स्थापनीयश्च पक्षिराट् ।। २३० ।।
स्नातोऽनुलिप्तो मन्त्रेण स्वेन यः[3] संस्कृतः पुरा ।
ज्ञशक्त्या सह बिम्बेन यस्माद् भिन्नेषु[4] वस्तुषु ।। २३१ ।।
बिम्बसन्निकटस्थेषु अथवाऽन्यत्र लाङ्गलिन् ।
तत्कालमङ्गभावत्वं व्रजमानेषु सर्वथा[5] ।। २३२ ।।
हवनान्तं च निःशेषं ध्यानार्चनपुरस्सरम् ।
स्वयमेवानुरूपेण कर्मसामान्यतां त्यजेत्[6] ।। २३३ ।।
तस्मात् तद्यागभवनादुत्थाप्यादाय बिम्बवत् ।
देवं प्रदक्षिणीकृत्य प्राग्वत् संस्थापनावनौ ।। २३४ ।।
एकस्मिन् मध्यरन्ध्रे तु वज्राद्यं पञ्चकं न्यसेत् ।
एक एव तदूर्ध्वेऽथ आधारो य उदीरितः ।। २३५ ।।
प्राग्वन्निवेशनीयं[7] च तत्पीठोर्ध्वे[8] तु भौवनम् ।

कुम्भादारभ्य, उपर्युपरि पीठोर्ध्वान्तं पातालशयनादिपद्मनाभान्तक्रमेण न्यास इति ज्ञेयम् ।। २२७–२२९ ।।

अथाग्रमण्टपमध्ये विहगेशप्रतिष्ठाविधानमाह—अथ मण्टपमध्ये त्वित्यारभ्य सुपर्णोऽसीति मन्त्रराडित्यन्तम् । स्नातो यथाविधि सिद्धार्थोदकादिभिर्बृहत्स्नपनेन[9] च स्नापित इत्यर्थः । अनुलिप्तश्चन्दनाद्यलङ्कृत इत्यर्थः । यद्वा स्वेन मन्त्रेणानुलिप्तो मन्त्रन्यासादिभिः परिष्कृत इत्यर्थः । संस्कृतोऽन्यैश्च नयनोन्मीलनशयनाधिवासादि-संस्कारैः संस्कृत इत्यर्थः । बिम्बेन सह प्रधानभगवद्बिम्बेन सहेत्यर्थः । ज्ञशक्त्या ज्ञान-शक्त्यात्मकत्वेन संस्कृत इत्यत्रैवान्वयः । उक्तं खल्वस्य ज्ञानशक्त्यात्मकत्वमीश्वर-पारमेश्वरयोः—

विष्णोः संकर्षणाख्यस्य विज्ञानबलशालिनः ।।
मूर्तिर्ज्ञानस्वरूपा या सर्वाधारस्वरूपिणी ।
महिमेति जगद्धातुर्विज्ञेयो[10] विहगेश्वरः ।। इति ।
(ई० सं० ८।३–४; पा० सं० ८।३–४)

१. मण्डप–बक० बख० अ० उ० । २. शात्–अ० । ३. यत्संस्कृतं–बख० । ४. बिम्बेषु–बक० । ५. सर्वदा–बक० उ० । ६. व्रजेत्–बख० अ० उ० । ७. यश्च–अ० उ० । ८. ध्वांस्तु भावनाः–मु० अटी०, तत्पीठे धातुभौवनः–अ० उ० । ९. स्नाप–अ० । १०. ज्ञेये विहगेश्वरे–अ० ।

भावनीयं शरीरे च शेषं विज्ञप्तिलक्षणम् ।। २३६ ।।
पाठयेद् ब्राह्मणांस्तद्वत् सुपर्णोऽसीति मन्त्रराट् ।
तमेवास्त्रार्चितं कृत्वा यायाद् देवनिकेतनम् ।। २३७ ।।
कलशैः पृष्ठभागस्थैः स्नापनीयस्ततो विभुः ।
सह मूर्तिधरैः सर्वैर्यथा चानुक्रमेण तु ।। २३८ ।।
स[1]हाघम[2]र्षणेनैव गायत्र्यावर्तितेन तु ।
प्रागृङ्मयस्तु तदनु चतुर्था[3]वर्तितैः स्वयम् ।। २३९ ।।
हृदाद्यावर्तितैः षड्भिर्यजु[4]र्ज्ञस्तेन सेचयेत् ।
भूयः स्वयं तथा कुम्भैः सामवित् स्नापयेत् ततः ।। २४० ।।
षड्भिरन्यैः स्वयं पश्चात् तेनैवाथर्ववित् त[5]तः ।
पवित्राव[6]र्तितैरेवं[7] कलशैरन्तर[8]ान्तरा ।। २४१ ।।
सह चैकायनीयैस्तु स्ना[9]पनीयमनन्तरम् ।
चतुर्मूर्तिमयैर्मन्त्रैर्बहुशः परिभावितैः ।। २४२ ।।

यस्मादित्यादिना प्रधानबिम्बादिना सहैव गरुडादिसमस्तपरिवाराङ्गबिम्बादीनामपि सामान्यतस्तत्तदनुरूपस्नपनार्चनसन्तर्पणादिसंस्काराः कार्या इत्युक्तं भवति। आधारो[10] य उदीरितः "मण्टपे तु खगेशस्य चक्रस्थापनकर्मणि" (२५।२१०) इति प्रतिपादितः। भौवनं भुवनाध्वानम् । शेषम् अवशिष्टपदाध्वादिपञ्चकमित्यर्थः ।। २३०–२३७ ।।

अथैवं प्रतिष्ठितस्य गरुडस्यार्चनं कृत्वा गर्भगेहान्तः प्रविश्य पूर्वं स्नपनमण्टपे पृष्ठभागे स्थापितैश्चत्वारिंशत्कलशैर्देवमभिषेचयेदित्याह—तमिति सार्धेन ।। २३७–२३८ ।।

अभिषकप्रकारमाह—[11]सहाघमर्षणेनैवेत्यारभ्य जितन्त इति वै [12]सर्वैरित्यन्तम् । यजुर्ज्ञस्तेन सेचयेदित्यत्र तेनाघमर्षणसूक्तगायत्रीभ्यामभिमन्त्रितेनैकेन कलशेनेत्यर्थः । भूयः स्वयं तथा कुम्भैरित्यत्रापि कुम्भैः पूर्ववद् हृदाद्यभिमन्त्रितैः षड्भिः कलशैरित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । पवित्रावर्तितैः कलशैश्चतुर्भिरित्यर्थः, "ओङ्काराद्यं पवित्रान्तं मन्त्राणां प्राक् चतुष्टयम्" (२४।२९०) इति पूर्वोक्तत्वात् । अन्तरान्तरा वासुदेवादिमूर्तिमन्त्रकलशाभिषेकस्य मध्ये मध्ये इत्यर्थः । स्नापयेत् कलशेनाथेत्यत्रापि पवित्रमन्त्र

१. सदा–मु० अटी० । २. र्वजि–अ० उ० । ३. र्धा वर्धितैः–अ० । ४. ज्ञैं–अ०, ज्ञेयो न–उ० । ५. त्तमः–बक० बख० उ० । ६. र्वजितै–मु० अटी० अ० उ० । ७. रेव–बक० बख० उ० । ८. रा सह–बक० बख० अ० उ० । ९. स्नप–मु० अटी० बक० । १०. रोऽथ–म०, रोऽध–अ० । ११. सदा–अ० । १२. सर्वानिति मूलस्थः सार्वत्रिकः पाठः, सर्वे इ–अ० ।

स्नापयेत् कलशेनाथ शेषमादाय वै घटम् ।
तच्छतावर्तितं कृत्वा समूलेनाद्य मूर्तिना ॥ २४३ ॥
सार्धं[1] वै देवदेवस्य मूर्ध्नि चोत्कीर्य पाठयेत् ।
जितन्त इति वै सर्वांस्ततश्चास्त्रोदकेन च ॥ २४४ ॥
प्रासादं शोधयित्वा च स्नानवर्ज्यं[2] समाचरेत् ।
पूर्वोक्तमासनाद्यं यद् यागदानावसानिकम् ॥ २४५ ॥
सदक्षिणं विशेषेण गुरौ[3] मूर्तिधरेषु[4] च ।
देवं प्रणम्य विज्ञाप्य[5] कर्मणा मनसा गिरा ॥ २४६ ॥
त्वमर्चान्तर्गतो देव मया यच्छ्यनादिषु[6] ।
नीतोऽसि चाभिमुख्यं तु क्षन्तव्यं तन्ममाच्युत ॥ २४७ ॥
एवं प्रणम्य विज्ञाप्य क्षान्त्वा निष्क्रम्य संमुखम् ।
आचम्य च बलिं दत्वा यायाद् देवगृहं ततः ॥ २४८ ॥
तत्रासनादिकैर्यष्ट्वा[7] स्नानान्तैः पूर्ववत् प्रभुम् ।
अपनीताम्बरैः कुम्भैर्धान्यपीठोपरि स्थितैः ॥ २४९ ॥

एव बोध्यः । समूलेन मूलमन्त्रसहितेन, आद्यमूर्तिना परमन्त्रेणेत्यर्थः । तस्यादिमूर्तिविषयकत्वात् तथैव व्यवहृतः ॥२३९-२४४॥

अथ प्रासादसंशोधनम्, स्नपनं विनाऽऽसनादिभिर्हविर्निवेदनान्तैर्भोगैर्यथाविध्यभ्यर्चनम्, कारिप्रदानम्, आचार्यादीनां दक्षिणादानम्, प्रणामम्, विज्ञापनम्, पुनः प्रणामादिकम्, "गुरुदेवाग्निविप्रेषु पृष्ठभागं न दर्शयेत्" इत्युक्तप्रकारेण भगवदभिमुखमेव बहिर्निष्क्रमणम्, द्वारावरणदेवानां यथाविधि बलिदानम्, आचमनम्, पुनर्भगवन्मन्दिरप्रवेशनं चाह—ततश्चास्त्रोदकेन चेत्यारभ्य यायाद् देवगृहं तत इत्यन्तम् ॥ २४४-२४८ ॥

अथ चतुर्थेऽहनि कर्तव्याराधनस्नपनालङ्कारहविर्निवेदनाद्यग्निसंतर्पणपूर्णाहुतिबलिदानमहाकुम्भादिविसर्जनान्याचार्यादीनां भूषणप्रदानानि चाह—तत्रासनादिकैर्यष्ट्वेत्यादिभिः । अत्र चतुर्थेऽहनीति कण्ठरवेणानुक्तावप्यर्थपर्यालोचनया तज्ज्ञायते, अन्यथा बल्यन्तमाराधनमुक्त्वा पुनस्तदानीमेवार्चनस्नपनाद्युक्त्यसंभवात् । नन्वत्र—

आचम्य च बलिं दत्वा यायाद् देवगृहं ततः ॥
तत्रासनादिकैर्यष्ट्वा स्नानान्तैः पूर्ववत् प्रभुम् । (२५।२४८-२४९)

---

१. सार्ध्यं—अ० । २. नकम्—बक० बख० उ० । ३. गुरोर्मूर्ति—मु० अटी० बक० बख० अ० । ४. ष्वथ—मु० अटी० । ५. संजप्य—बक०, विज्ञाप्यः—अ० । ६. यच्चानला—बक० बख०, यमर्चनादिषु—अ० उ० । ७. रिष्ट्वा—मु० अटी० बक० बख० अ० । ८. ततः शास्त्रो—अ० ।

हृन्मन्त्रपूजितैर्भूयः सलिलेन सुपूरितैः ।
सह मूर्तिधरैः प्राग्वदन्तरान्तरयोगतः ॥ २५० ॥
कार्यं वै[1] स्नानकर्मार्थं[2] विधिदृष्टेन कर्मणा ।
निरोदके[3]ऽथ प्रासादे पुनराराध्य पूर्ववत् ॥ २५१ ॥
भोगैरासनपूर्वैस्तु सम्प्रदानान्तमच्युतम् ।
मुद्रां बद्ध्वा जपेन्मन्त्रं स्तुत्वा क्षान्त्वा बहिर्व्रजेत् ॥ २५२ ॥
शतं सहस्रं साष्टं वा जुहुयान्मन्त्रराट् स्वयम् ।
साङ्गं सपरिवारं च संहितोच्चारयुक्तितः[4] ॥ २५३ ॥
मूर्तिपैः[5] प्रणवाद्याभिर्गायत्रीभिः शतं शतम् ।
एकायनैरभिज्ञाभिः स्वकीयाभिस्तु तत्समम् ॥ २५४ ॥
प्रदापयेत्[6] ततः पूर्णामृग्वेदाद्यांस्तु[7] मूर्तिपान्[8] ।
एकायनांस्तदन्ते तु क्रमात् तान् पाठयेत् ततः ॥ २५५ ॥
पूर्णात्पूर्णेति वै मन्त्रमाद्यात् पूर्णमसीति यत् ।
सनमस्केन मन्त्रेण स्वयं साङ्गेन निक्षिपेत् ॥ २५६ ॥
बलिभिस्तु ततः सर्वान् भूतपूर्वांस्तु तर्पयेत् ।
प्रविश्याचम्य तदनु क्षान्त्वा देवं तु कुम्भगम् ॥ २५७ ॥
पूर्ववन्मण्डलस्थं तु कुण्डस्थं तदनन्तरम् ।
भूषयेद् गुरुपूर्वांस्तु भूषणैः कटकादिकैः ॥ २५८ ॥

इत्यव्यवधानेन प्रतिपादितस्य चतुर्थेऽह्नि कर्तव्यपरत्वं वक्तुं कथं शक्यते, अतो माध्याह्निकार्चनादिपरत्वं वक्तव्यमिति चेत्, किमावयोर्विवादेन । तस्य चतुर्थेऽह्नि कर्तव्यपरत्वं तदुपबृंहणयोरीश्वर[9]पारमेश्वरयोरेव निर्णीतं पश्यतु भवान् । अपनीताम्बरैः कुम्भैः पूर्वं स्नानमण्टपे दक्षिणभागे स्थापितैश्चत्वारिंशत्कलशैरित्यर्थः । भूयः सलिलेन सुपूरितैः पूर्वं पूरिते जले किञ्चित् शोषिते सति पुनः समग्रं पूरितैरित्यर्थः । प्राग्वत्

---

१. वा—मु० अटी० । २. मर्थं—अ० । ३. धके—अ० । ४. यत्नतः—अटी० । ५. मूर्तीयैः—मु० अटी० । ६. न्नतः—अ० उ० । ७. द्यास्तु मूर्तिपाः—बक० बख० । ८. मूर्तीयान्—बक० बख०, मूर्तिपान्—अ० उ० । ९. ईश्वरे (१८।४६७), पारमेश्वरे (१५।८८८) च विपयोऽयं द्रष्टव्यः ।

गुरोर्वा गुरुपुत्रस्य यागद्रव्यं निवेदयेत् ।
बिम्बमेकायना[1]न्तं तु सर्व[2]साधनसंयुतम् ॥ २५९ ॥
दासीकर्मकरोपेतं शुद्धदेवल[3]कान्वितम् ।
शैलोत्थं पूर्ववत् कुम्भं कृत्वा धातुमयं तु वा ॥ २६० ॥
तद् द्विगोलकमानेन [4]मन्त्रबिम्बेन वै सह ।
शुभेऽन्यस्मिन् दिने याग[5]मण्टपे ह्युक्तलक्षणे ॥ २६१ ॥
अधिवास्य यथान्यायं सर्वोपकरणान्वितम् ।
स्नानाद्यमखिलं ताभ्यामापाद्य च यथाविधि ॥ २६२ ॥
तस्मिन् हृ[6]दादिसंयुक्ते बिम्बं कुम्भे निवेश्य च ।
वस्त्रैराभरणैः पुष्पैः[7] स्वच्छं कृत्वार्घ्यपुष्पहृत्[8] ॥ २६३ ॥
शनैः प्रासादपर्यन्तमा[9]रुहेद् मूर्तिपैः[10] सह ।
तत्र [11]प्रागासनादींस्तु कृत्वा संक्षालनान्तिमान्[12] ॥ २६४ ॥
आचरेद् [13]बीजविन्यासं सर्वं वाऽऽवाहनोदितम् ।
निवेश्यानीय [14]तं मध्ये बिम्बं कुम्भसमन्वितम् ॥ २६५ ॥
हृदाद्यन्तनिरुद्धेन मूलमन्त्रेण लाङ्गलिन् ।
तत्राद्यमनुसन्धानमेकं[15] कृत्वा परान्वितम्[16] ॥ २६६ ॥
सामान्यलक्षणं पश्चात् [17]पूर्वोक्तं वै कलात्मकम् ।
संपूज्य वाससाच्छाद्य सुधया व्यक्ततां नयेत् ॥ २६७ ॥

प्रतिष्ठादिवसकृतस्थूलसूक्ष्माख्यस्नपनवदित्यर्थः । स्वकीयाभिरभिज्ञाभिर्वासुदेवादि-मन्त्रैरित्यर्थः ॥ २४९–२६० ॥

अथ प्रासादोपरि कुम्भस्थापनविधानं प्रासादप्रतिष्ठाविधानं चाह—शैलोत्थं पूर्ववत् कुम्भमित्यारभ्य निवेश्य ध्वजदण्डाग्रे गन्धाद्यैरर्चयेत्तत इत्यन्तम् ।

---

१. नानां–अ० उ० । २. सर्वायतन–उ० । ३. लगा–बक० बख० उ० । ४. बिम्ब-मन्त्रेण–उ० । ५. मण्डपे–बख० अ० उ० । ६. मुक्ता–बक० बख०, न्नृत्ता–अ० उ० । ७. ष्पैश्छन्नं–अ० उ० । ८. वत्–बक० बख० उ० । ९. मारो–मु० अटी० । १०. तिभिः–बक० उ० । ११. प्राक् ताडना–बख० अ० उ० । १२. कान्–बक० अ० उ०, दिकान्–बख० । १३. दुक्त–बक० बख०, द्रत्न–अ० उ० । १४. तन्मध्ये–अटी०, मित्येवं–बक० बख० उ० । १५. मेवं–मु० अटी० । १६. त्मकम्–मु० अटी० अ० उ० । १७. पूर्वोक्तं वै कलात्मकम् । ····प्रासादं स्थापयेत् पश्चात्' नास्ति–मु० अटी० ।

ततः पिण्डे तदूर्ध्वे तु साङ्गं[1] कुर्याद् यथोदितम् ।
प्रासादं स्थापयेत् पश्चात् पूर्वोद्दिष्टेन वर्त्मना ॥ २६८ ॥
समालभ्यार्चयित्वा च स्रगाद्यैर्मण्डयेत्[2] ततः ।
पूर्ववत् पाठयेद् विप्रान् तत्प्रतिष्ठापने तु वै ॥ २६९ ॥
संरोध्य वर्ममन्त्रं तु तत्र ध्यानधिया स्वयम् ।
पूर्णान्तमखिलं कृत्वा विधिनानेन वै पुनः ॥ २७० ॥
[3]आरोहेति तु वै साम पाठयेत् सामगांस्तु वै ।
चक्रमामलसारस्य मध्यतः सन्निवेशयेत् ॥ २७१ ॥
यथाभिमतरूपं तु दिग्वक्त्रं वाऽम्बराननम् ।
स्वशक्तिवर्णदण्डस्थं[4] चण्डमार्ताण्डभास्वरम्[5][6] ॥ २७२ ॥
चक्रमन्त्रं न्यसेत् तस्मिन् वर्णाध्वानं पुरोदितम् ।
गत्यागतिप्रयोगेण प्राक् प्रमेयं[7]जलक्षणम् ॥ २७३ ॥
नान्यथार्वत् पुरा ज्ञात्वा द्रव्यमूर्तित्वमागतम् ।
कुर्यात् [10]ततोर्ध्वसन्धानं नान्यथा तु महामते ॥ २७४ ॥

तत्राद्यमनुसन्धानमेकं कृत्वा परान्वितम् ॥
सामान्यलक्षणं पश्चात् पूर्वोक्तं वै कलात्मकम् । (२५।२६६–२६७)

इत्यत्राद्यमनुसन्धानम्,

मूलमन्त्रं पुरा ध्यात्वा संशान्तब्रह्मलक्षणम् ॥
आधारादिध्वजाग्रान्तं व्याप्तं तेनाखिलं स्मरेत् । (२५।२२४–२२५)

इति पूर्वोक्तं बोध्यम्। कलात्मकं ज्ञानैश्वर्यादिषट्कलात्मकमित्यर्थः। इदमपि पूर्वोक्तम्—"स्थूलं षोढा शिलान्तर्गकम्" (२५।२२६) इति। अत्र प्रसङ्गात् "अमलं शान्तसंज्ञं वै" (२५।२७५) इत्यारम्य "उदिताख्यं हि चक्रराट्" (२५।२८१) इत्यन्तममल-(शान्त)-शान्तोदित-उदितभेदैश्चक्रस्य चातुर्विध्यं[12] तत्तल्लक्षणं च प्रतिपादितम्। अत्रेश्वरपारमेश्वरयोः[13]—

१. साण्डं–बख० उ० । २. मण्टपे ततः–मु० अटी० । ३. क्षुरो हरेति–बक० बख० अ०, क्षुरो भरेति–उ० । ४. वर्ण–अ० उ० । ५. मार्तण्ड–मु० बक० बख० । ६. भासुरम्–मु० अटी० । ७. यज्ञ–अ० उ० । ८. वस्तुरा–अटी० । ९. गतं विभुम्–बक० बख०, मयं गतम्–अ०, गतस्य च–उ० । १०. तदो–बक० । ११. कम्–अ० । १२. तल्ल–अ० । १३. पारमेश्वरे (१५।९७५–९७९) एतदभिप्रायकाः श्लोका द्रष्टव्याः, आनुपूर्वी तत्र नास्ति ।

अमलं शान्तसंज्ञं वै तथा शान्तोदितोदितम्[1] ।
[2]एकमेव हि तन्मूर्तिं यश्चक्रं वेत्ति तत्त्वतः ॥ २७५ ॥
सोऽस्मिन् संसारचक्रे तु सर्वाश्रमनिवासिनाम् ।
सर्वधर्मरतानां च [3]चक्रवर्तित्वमाप्नुयात् ॥ २७६ ॥
[4]यच्छब्दब्रह्ममू[5]र्त्यैवं [6]सिद्धमाक्षं निराश्रयम् ।
अन्तर्बहिस्थं[7] सर्वेषां मोक्षदं चामलं स्मृतम् ॥ २७७ ॥
[8]क्षीरोदार्णवतुल्यं यत्[9] सहस्रादित्यसन्निभम् ।
निरङ्गं तीक्ष्णधारं वै तच्छान्ताख्यं हि योगदम्[10] ॥ २७८ ॥
यत्तु नानाङ्गभावेन स्वातन्त्र्यात् स्वयमेव हि ।
सर्वदिक्प्रसृतां[11] कृत्वा [12]स्वात्मवृत्तिं हि वर्तते ॥ २७९ ॥
ईषद्वलयवन्नाभे[13] रराणामन्तरेखवत् ।
शान्तोदितं च तद्विद्धि चक्रमिच्छाप्रदं[14] च यत् ॥ २८० ॥
यच्छान्तमूर्तौ[15] संबुद्धः[16] सर्वं कृत्वाऽवतिष्ठते ।
प्रवृत्तं नाभिपूर्वं तु उदिताख्यं हि[17] चक्रराट् ॥ २८१ ॥
तस्मिन्नाराधितो[18] मन्त्रस्तद्वै सम्पूजितं स्मृतम् ।
जप्तं सन्तर्पितं भक्त्या सर्वेषां सर्वमृच्छति ॥ २८२ ॥

चक्रसंस्थापने कश्चिद् विशेषः श्रूयतां द्विजाः ॥
अमूर्तं द्वादशारं तु अष्टारं षडरं तु वा ।
चक्रं संस्थापयेत् तत्र प्रासादशिखरोपरि ॥
मूर्तमङ्कणदेशे तु षोडशाष्टभुजं तु वा ।
तस्य स्थापनकाले तु तस्य संज्ञामनुं जपेत् ॥
विद्यां गदामित्याद्यं यत् पाठयेत् तद्विदो जनान् ।
(ई० सं० १८।५०३–५०६; पा० सं० १५।९७५–९७९)

---

१. दितं स्मृतम्—उ० । २. एव—मु० अटी० । ३. मूर्ति—मु० अटी० । ४. यच्छक्तिर्ब्र—मु० अटी० । ५. त्यैव—मु० अटी० । ६. सिद्धामाक्षान्निराश्रया(यः)—मु० अटी० । ७. श्च—अ० । ८. क्षितिगगन—बक० बख० । ९. च—अ० । १०. योगतः—मु० अटी० । ११. प्रस्थितां—बक०बख० उ० । १२. स्वाक्षाद्यैर्योऽभि—बक० बख० । १३. वर्णाभे न—मु० । १४. फलप्रदम्—उ०, फलप्रभम्—बक० बख० अ० । १५. यावन्मूर्तौ च—मु० अटी० । १६. संबन्धः—मु०, संबन्धं—अ० उ०, संबद्धं—बख०, संवर्ध्यं—बक० । १७. तु—बक० बख० । १८. ते मन्त्रं त—अ० ।

एवं चाभिमतं चक्रं सर्वविघ्नक्षयङ्करम् ।
प्रतिष्ठाप्य समभ्यर्च्य तस्यैव[1] समनन्तरम् ॥ २८३ ॥
त्र्यंशेन शिखराद्[2]उच्चं खगराट्परिभूषितम् ।
संस्कृत्य[3] ध्वजदण्डं च शिखामन्त्रेण विन्यसेत् ॥ २८४ ॥
ततो विविधवर्णं च किङ्किणीगणभूषितम् ।
ध्वजाग्राच्छिखरार्धं[4] च यावद्[5] दीर्घमकृत्रिमम् ॥ २८५ ॥
दैर्घ्याद् द्वादशमांशेन द्विनवांशेन वा ततम् ।
कृत्वाऽस्त्रसन्निधिं तस्मिन् लाञ्छनाख्ये पुरा पटे[6] ॥ २८६ ॥
निवेश्य ध्वजदण्डाग्रे गन्धाद्यैरर्चयेत् ततः ।
स्वयंकृतानां बिम्बानां मयेदं संप्रकाशितम् ॥ २८७ ॥
प्रतिष्ठापनमब्जाक्ष स्वतन्त्रेष्व[7]यनेषु च ।
साङ्कर्येण विना त्वेवं कृतं भवति सिद्धिदम् ॥ २८८ ॥
अन्यथाऽसिद्धिदं विद्धि नृणां व्यामिश्रयाजिनाम् ।
एकस्मिन्नासने स्थाने[8] चतुस्त्रिद्व्यादिमूर्तिना[9] ॥ २८९ ॥
व्यक्तीभूतं यथा लोके लोकानुग्रहकाम्यया ।
स्वयं नानास्वरूपेण स्वर्गादौ स्थापनं तथा ॥ २९० ॥

इत्यादिभिस्तन्मन्त्रपाठनाभिषेकादयः कतिचिद्विशेषाः प्रतिपादिता ग्राह्याः। एवं भगवत्प्रतिष्ठादिष्वपि [10]तत्रैतदानुपूर्व्या एव कथनेऽपि मध्ये मध्ये बहवो विशेषाः प्रतिपादिता द्रष्टव्याः ॥ २६०–२८७ ॥

स्वयं कल्पितबिम्बानामेवं प्रतिष्ठादिकमुक्तम्। स्वयंव्यक्तादिष्वप्येवमेव मन्त्रतन्त्रबिम्बाद्यसाङ्कर्येणार्चनादिकं सिद्धिदम्, अन्यथा दोषावहमित्याह—स्वयं कृतानामिति द्वाभ्याम् ॥ २८७–२८९ ॥

लोके एकस्मिन् स्थाने एकस्मिन्नेवासने[11] चतुस्त्रिद्व्यादिरूपेण यथा भगवान् स्वयं व्यक्तीभूतस्तथा सामान्यैर्मनुजैः स्था(प)नं (न)कार्यम्, अपि तु समबुद्धिस्थत्वादि-

---

१. तथैव–अटी० अ०, ततोऽस्त्रं–बक० बख० उ०। २. च शिखादूर्ध्वं–अ० उ०। ३. संस्थाप्य–बक०। ४. राग्रं तु–अ०, रार्धं तु–उ०। ५. यथा–अ०। ६. पदे–बक०। ७. ष्वितरे–बक० बख०, षु नयेषु–उ०। ८. स्थानं–अटी०। ९. र्तिषु–अ०। १०. 'तत्र' नास्ति–अ०। ११. स्मिन्नासने–अ०।

न कार्यं मनुजैर्वर्णधर्मज्ञैर्नैक[1]भावनैः ।
तथा वै [2]समबुद्धिस्थैः कृपया संप्रवर्तकैः ॥ २९१ ॥
क्रियाभेदरतैः शुद्धैर्नानाविबुधयाजकैः[3] ।
प्रणवैकप्र[4]लापस्थैः शान्तचित्तैरमत्सरैः ॥ २९२ ॥
मन्त्रमुद्राक्रमध्यानसम्भूतिलयलक्षकैः ।
तथा तत्सं[5]करोत्पन्नदोषाणां ध्वंसनक्षमैः ॥ २९३ ॥
[6]प्रस्थापितस्तु वै सम्य[7]ग् ज्ञानमूर्तिर्जगद्गुरुः[8] ।
भि[9]न्नमन्त्रक्रियारूपं न कुर्यात् तदपेक्षया ॥ २९४ ॥
साधारमालयं पीठं [10]भवाख्यं विभवात्मनाम् ।
देवानां मर्त्यधर्मस्थैः प्रतिष्ठायज्ञकर्मणि ॥ २९५ ॥
[11]संसारदेवतानां च स्थापितानां तु वै पुरा[12] ।
कृत्वा तु भगवद्बिम्बमालये वा तदासने ॥ २९६ ॥
निवेशयति यो मोहाद् बिम्बेन सह तस्य वै ।
जायते च भयं घोरमिहामुष्मिकदोषदम् ॥ २९७ ॥
नाप्नोत्याराधकानां तु सकाशादर्चनं परम् ।
यथा बिम्बं तथा कर्ता नाप्नुयादुत्तमं फलम् ॥ २९८ ॥

विशिष्टैर्विशेषाधिकारिभिस्तथा स्थापनं [13]कार्यमित्याह—एकस्मिन्निति पञ्चभिः ॥ २८९–२९४ ॥

विभवदेवानां प्रतिष्ठायज्ञे आधारालयपीठादिषूक्तक्रमं विना केवलमर्त्यधर्मस्थैः सह स्वेच्छया विभिन्नमन्त्रतन्त्रलक्षणानि न कुर्यादिति, पूर्वं प्रतिष्ठितानां देवानामालये तदासने वा तेन बिम्बेन सह पुनस्तत्समभगवद्बिम्बान्तरस्थापनं दोषावहमिति चाह—भिन्नमन्त्रक्रियारूपमित्यारभ्य नाप्नुयादुत्तमं फलमित्यन्तम् ॥ २९४–२९८ ॥

---

१. वकैः—बक० बख०, वगैः—अ० । २. सह—बक० । ३. राज—मु० अटी० । ४. लोप—अ० । ५. तत्साङ्क—बक०, तत्साग—अ० उ० । ६. प्रस्तावि—अटी० । ७. तेन—अ० । ८. त्प्रभुः—बक० बख० अ० उ० । ९. स भिन्नमन्त्ररूपरतु—उ० । १०. भावाख्य—उ० । ११. रथस्य—बक० बख०, तदेक—अ० । १२. पुनः—बक० । १३. न कार्य—अ० ।

अर्चायामधिके पीठे ह्यपेक्षा[1]लक्षणो[2]ज्झिते ।
सकृद्विभवदेवानां स्थापनं न विरोधकृत् ॥ २९९ ॥
नान्यकाले न चान्यस्य नान्यमूर्तिनिवेशनम् ।
विहितं भगवत्पीठे नि[3]विष्टव्यत्ययं विना ॥ ३०० ॥
यथा भवोपकरणदेवानां मण्डलेऽर्चनम् ।
विहितं न तथा पीठे ह्येकस्मिन् सन्निवेशनम् ॥ ३०१ ॥
भिन्नक्र[4]मोऽपि यः कुर्यात् पृथग् वा पिण्डिकोपरि ।
वामदक्षिणयोरेवं देवा[5]नामप्रदक्षिणम् ॥ ३०२ ॥
सदक्षिणस्य वै तेन प्रतिष्ठाख्यमखस्य च ।
नि[6]हिता चोन्नता कीर्ति[7]स्तेनाथ स्वयमेव हि ॥ ३०३ ॥
प्राक्स्थितस्याधिकं मानाद् दक्षिणेनोर्जर्[8]हानिकृत्[9] ।
शस्तमद्यतनस्यैव प्राक्स्थितं यत् ततोऽधिकम् ॥ ३०४ ॥
नेच्छत्यन्योन्यसाम्यं[10] तु स्थानवृत्तिं[11] धनैः सह ।
उन्नतासनसंस्थोऽपि[12] मानहीनस्तु सर्वदा ॥ ३०५ ॥
मानहीनस्तु [13]कर्तॄणां कुर्यात् सुतसुखक्षयम् ।
बिम्बस्य बिम्बकर्तुर्वै देहिनां स्थापकस्य च ॥ ३०६ ॥

एकस्मिन् पीठे विभवदेवानां सकृत् स्थापनमविरुद्धम्, पुनरन्यकाले स्थापनम् अन्यस्य स्थापनम् अन्यमूर्तिस्थापनं च न विहितमित्याह—अर्चायामिति द्वाभ्याम् । व्यत्ययं विनेत्यनेन पूर्वं स्थापनकाले स्थानादिव्यत्यये पुनर्यथाक्रमस्थापनं विहितमित्युक्तं भवति ॥ २९९-३०० ॥

पूर्वोक्तचतुर्विंशतिभवोपकरणदेवतानां तु सर्वासामप्येकस्मिन्नेव मण्डले पूर्वं यथा संनिवेशनमुक्तम्, तथैकस्मिन्नेव पीठे संनिवेशनं न विहितमित्याह—यथेति ॥ ३०१ ॥

सर्वप्रकारैरपि बिम्बानां पृथङ् निवेशनमेव कार्यमित्याह—भिन्नेत्यादिभिः[14] ॥ ३०२-३०८ ॥

१. 'ह्यपेक्षा'''भगत्पीठे' नास्ति–बक० । २. फलमुत्थिते–अ० । ३. विनष्ट–मु० अटी० । ४. क्रमेऽपि–मु० अटी० । ५. देवतानां–बक० अ० । ६. निहता–अ० उ० । ७. तिः स्वे–अ० । ८. नोत्सवं सकृत्–अ० । ९. सकृत्–बक० । १०. सामं–मु० अटी० बक० । ११. वृद्धि–बक० बख० अ० उ० । १२. संख्यादि–मु० अटी० । १३. कर्तृत्वे–बक० बख०, कर्तृत्वात्–अ० । १४. इतः परं मु० पुस्तके ग्रन्थपातो दृश्यते, किन्तु अ० पुस्तकस्थाऽनुपूर्वी नैव खण्डिता तत्रापि ।

वामकृत्स्थापनं [1]वामे सममूनं तु वाधिकम् ।
एवं ज्ञात्वा यथाशक्ति पृथक् कुर्यान्निवेशनम् ॥ ३०७ ॥
सिद्धये चापवर्गार्थमर्चना देवतालये ।
प्रतोली साङ्ग[2]ना चैव जगती देवमन्दिरम् ॥ ३०८ ॥
सपीठं भगवद्बिम्बं भक्तानां यत्र युज्यते ।
सम्यक् [3]प्रदक्षिणीकर्तुं बलिधूपपुरःसरम् ॥ ३०९ ॥
श्वेतद्वीपसमं विद्धि देवतायतनं तु तत् ।
सन्निवे[4]शस्त्वयं मुख्यस्त्वमुख्यस्त्वपरो हि यः ॥ ३१० ॥
मुख्यात् पूर्णफलप्राप्ति[5]र्मुख्याभासात् तथाविधा ।
सम्यक्स्था[6]स्त्वादिदेवीया मूर्तयो या पुरोदिताः ॥ ३११ ॥
[7]स्थलं विना न चैवार्च्या नित्यं विप्रै[8]स्तु बिम्बगाः ।
गृहे पीठगता बिम्बे [9]पुनस्ताः पत्रगा बहिः ॥ ३१२ ॥
[10]सदैव तैः समाराध्या भूतयेऽपि हि[11] मुक्तये ।
सवाहनाऽवाहना[12] [13]वा बहिर्वा स्वगृहान्तरे ॥ ३१३ ॥
नार्चनीया नृपाद्यैस्ता[14] बिम्बे वै [15]मण्डलादृते ।
सुपर्णसंस्थिताः सर्वा[16] बिम्बे वै ब्राह्मणैर्नृपैः ॥ ३१४ ॥

प्रतोल्यादिभिः सहितं भगवन्मन्दिरं सपीठं भगवद्बिम्बं च यत्र प्रदक्षिणीकर्तुं योग्यं भवति, तत्स्थानस्य श्वेतद्वीपसदृशमुख्यत्वम्, तत्प्रदक्षिणानवकाशस्थानस्यामुख्यत्वं चाह—प्रतोलीति त्रिभिः ॥ ३०८–३११ ॥

ब्राह्मणैः पूर्वोक्तपरवासुदेवीयमूर्तीनां स्वगृहे मण्डलं विना बिम्बेष्वर्चनं कार्यमिति, मण्डले तदर्चनस्थानविभागादिकं चाह—सम्यक्स्था इति द्वाभ्याम् । एवं च ब्राह्मणैरालये तद्बिम्बार्चनं कार्यमित्युक्तं भवति ॥ ३११–३१३ ॥

क्षत्रियाद्यैस्तूभयत्रापि मण्डल एवार्चनं कार्यम्, न बिम्ब इत्याह—सवाहनेति ॥ ३१३–३१४ ॥

---

१. यद्वा–मु० अटी० । २. नागार–मु० । ३. प्रदक्षिणीकृत्य–मु० अटी०,प्रमाणीकर्तुं तु–अ० उ० । ४. शः स्वयं मुख्यः अ–मु० अटी० बख० । ५. सिस्त्वमुख्यात् स्यात्–बक० बख० । ६. स्थाप्या–मु० अटी० । ७. गृहे स्थलं विना नार्च्या–बक० बख० अ० उ० । ८. बिम्बे–बक०, भृङ्गे–बख० उ० । ९. या शस्ता पात्रगा–बक० बख०, पुरस्तात् पत्रगा–अ० । १०. सदेवतैः–अ० उ० । ११. विमु–उ० । १२. हनेऽवाहने–मु० अटी० । १३. च–उ० । १४. स्तु–मु० अटी० । १५. स्वकलाद्–बक० बक० मु० । १६. सर्वे बिम्बाः–मु० अटी० ।

स्वगृहादौ च सर्वत्र पूजनीयाः सदैव हि ।
एवमन्यास्तु वैश्यान्तैः सत्तमैरखिलास्तु याः ॥ ३१५ ॥
सह शक्तीशभेदैस्तु न शक्तीशस्त्ववाहनः ।
बिम्बगो ब्राह्मणाद्यैश्च नित्यमर्च्यः पृथग् विना ॥ ३१६ ॥
स्वाश्रमे बन्धुवर्गस्य मध्यस्थो ह्यनिशं तु वै ।
अविनासौम्यरूपेण अव्युत्पन्नजनस्य च ॥ ३१७ ॥
दृग्गते भगवद्वक्त्रे कार्ये त्रैलोक्यभीतिदे ।
यच्छन्ति शुभमात्रार्थाश्चित्रस्थाश्चाशुभं गृहे ॥ ३१८ ॥
बहिष्कृता विशेषेण हर्म्यप्रासादभूमिषु ।
आढ्यैर्भोगपदस्थैस्तु साम्प्रतं सिद्धिलालसैः ॥ ३१९ ॥
निष्प्रभत्वान्न मृच्छैली कार्या दारुमयी गृहे ।
ऋते सांन्यासिकैः शान्तैः शश्वन्मोक्षपरायणैः ॥ ३२० ॥
तदुत्थाश्च बहिः सर्वैः कार्यास्तासु सदैव हि ।
जनयन्ति महादीप्तिं चन्द्रसूर्यादयोऽनिशम् ॥ ३२१ ॥
आ चैकमूर्तेः सर्वासां मूर्तीनां तु महामते ।
तथा मूर्त्यन्तराणां च प्रादुर्भावगणस्य च ॥ ३२२ ॥

ब्राह्मणैः क्षत्रियैश्च सुपर्णारूढा मूर्तयः स्वगृहेऽन्यत्र वा बिम्बेष्वेवार्चनीया इत्याह—सुपर्णेति ॥ ३१४–३१५ ॥

एवं गरुडतार्क्ष्यारूढमूर्तयो विभवमूर्तिभेदैः सह ब्रह्मक्षत्रियवैश्यैर्बिम्बेष्वेव सर्वत्रार्चनीयाः । किन्तु वाहनारूढं विना केवलशक्तीशबिम्बं गृहे ब्राह्मणादिभिनर्चिर्य-मिति चाह—एवमिति सार्धेन ॥ ३१५–३१६ ॥

गृहे सौम्यरूपं विनोग्ररूपबिम्बस्यानर्च्यत्वम्, तथैव चित्रलोहमयबिम्बं विना शैलमृद्दारुमयबिम्बस्यापि गृहस्थैरनर्च्यत्वम्, तस्य हेतुं चाह—स्वाश्रम इत्यारभ्य चन्द्रसूर्यादयोऽनिशमित्यन्तम् ॥ ३१७–३२१ ॥

अथ यत्र कुत्र वा पुण्यक्षेत्रादिषु स्वयंव्यक्तादिरूपेण स्थितानां परव्यूहविभव-

---

१. सत्तमाः सक–बक०, सोत्तमाः सक–बख०, सोत्तमैर्बहु–अ० । २. बिम्बे–अ० उ० ।
३. धातूत्थाश्चित्रस्थाश्च शुभं–अ० उ०, यात्रार्था–बक० बख० । ४. पङ्क्तिद्वयं नास्ति–अ० ।
५. मयैर्गृहे–बक० बख० उ० । ६. सुदीप्तं च–बक० बख० । ७. सूर्योदये–अटी० ।
८. तत्र–म० । ९. श्राश्रम–म० ।

प्रादुर्भावान्तराणां तु स्थितानां यत्र कुत्रचित् ।
सर्वेषां सर्वदा तेषां हित आराधनाय च ॥ ३२३ ॥
प्रणवैः[1] पीठपूजार्थं नमस्कारपदान्वितैः[2] ।
प्रसिद्धं चातुरात्मीयसंज्ञामन्त्रचतुष्टयम्[3] ॥ ३२४ ॥
अर्चने सजितन्तं तु विना मन्त्रेण योऽन्यथा ।
करोति पूजनं मूढश्चलबिम्बगणस्य च ॥ ३२५ ॥
गृहे वाऽज्ञातमन्त्रस्य दोषस्तस्य प्रजायते ।
विना सामान्यमन्त्रैर्यश्चलबिम्बगतस्य च ॥ ३२६ ॥
कुर्याद् विशेषमन्त्रेण विशेषाख्यस्य चार्चनम् ।
तदुत्थमचिरेणैव शबलं तस्य दोषकृत् ॥ ३२७ ॥
ज्ञात्वैवं सावधानेन क्रियासक्तेन सर्वदा[4] ।
भवितव्यं विशेषाद् वै गृहाश्रमपरेण तु ॥ ३२८ ॥
क्ष्माभङ्गाद्येषु दोषेषु ध्वजान्तेष्वेवमेव हि ।
उपोद्धारे प्रयोक्तव्यं प्रणवाद्यं च पञ्चकम् ॥ ३२९ ॥
होमार्चनविधानेषु सृष्टिसंहारकर्मणि ।
ध्वजाद्यमुद्धरेत् सर्वमवनीचलने सति ॥ ३३० ॥

बिम्बानां सामान्यतः प्रणवेन वासुदेवादिसंज्ञामन्त्रचतुष्टयेन वा जितन्ताख्यमन्त्रेण वाऽर्च्यत्वं मन्त्रं विनाऽर्चने प्रत्यवायं चाह—आ चेति सार्धैश्चतुर्भिः[5] । एकमूर्तेः परवासुदेवस्य, सर्वासां मूर्तीनां व्यूहवासुदेवादिमूर्तीनाम्, मूर्त्यन्तराणां केशवादीनाम्, प्रादुर्भावगणस्य पद्मनाभादिविभवावतारगणस्य, प्रादुर्भावान्तराणां विभवान्तराणामित्यर्थः । तद्विवरणं तु नवमपरिच्छेदे विचारितं द्रष्टव्यम् ॥ ३२२–३२६ ॥

गृहे चलबिम्बानां प्रणवाष्टाक्षरादिम(न्त्राः?न्त्रैः) नानातत्तन्मूर्तिविशेषमन्त्रैरर्चन[6]निषेधमाह—विनेति सार्धद्वाभ्याम् । सामान्यमन्त्रैर्व्यापकमन्त्रैरित्यर्थः । प्रणवाष्टाक्षरद्वादशाक्षर-षडक्षर-जितन्ताख्यमन्त्रैरिति यावत्, एषां सर्वमूर्तिसाधारण्यात् ॥३२६–३२८॥

अथ क्ष्माभङ्गादिदोषसंभवे प्रासादपीठबिम्बादीनां जीर्णोद्धारविधानमाह—क्ष्माभङ्गाद्येषु दोषेष्वित्यारभ्य देवस्य चतुरात्मन इत्यन्तम् । प्रणवाद्यं पञ्चकं

---

१. वं–बक० बख० । २. न्वितम्–बक० बख० । ३. यं–मु० अटी० अ० ।
४. सर्वथा–मु० अटी० । ५. स्त्रिभिः–अ० । ६. रर्चा–अ० ।

आधारोपलपर्यन्तं [1]सन्निवेश्यं [2]तथा पुनः ।
चक्रप्रासादभङ्गेषु सोर्ध्वे बिम्बं महामते ।। ३३१ ।।
पीठभङ्गे तु वै बिम्बं बिम्बभङ्गे [3]तदेवं हि ।
यद्यदिच्छति [4]चोद्धर्तुं तत्तदादौ तु संयजेत् ।। ३३२ ।।
मध्वाज्यगुग्गुलुक्षीरदधिलाजादिभिः क्रमात् ।
सन्तर्प्य तिल[5]होमैस्तु सहस्रशतसंख्यया ।। ३३३ ।।
मन्त्रौघं हृदयात् तस्मिन् समुच्चार्य विनिक्षिपेत् ।
[6]जालवद् भासुराकारं तत्र चिच्छक्तयोऽखिलाः ।। ३३४ ।।
विशन्ति पूर्वसंरुद्धा मन्त्रौघं पुनराहरेत् ।
पाठयेद्दृङ्मयान् सर्वानुत्तिष्ठेत्यथ तद्विदः ।। ३३५ ।।
कर्म्मारम्भे तदन्ते वै परमां प्रकृतिं त्विति ।
चतुर्भिरनिरुद्धा[7]द्यैः संज्ञामन्त्रैः पृथक् पृथक् ।। ३३६ ।।
कृत्वा होमं च तदनु तत्संज्ञार्णैर्विलोमतः ।
प्रणवाद्यन्तगैः सर्वैः प्राग्वदष्टासु दिक्षु च ।। ३३७ ।।
[8]प्रासादस्य [9]तु होतव्यं गायत्रीभिस्तथैव च ।
वासुदेवाद्यभिज्ञाभिर्होमान्ते त्वथ तैः सह ।। ३३८ ।।
न्यासं वाहनमन्त्रेण साङ्गं कृत्वात्मना [10]पुरा ।
वाहनानां तथा चैव [11]ब्रह्मैवं संस्पृशेदथ ।। ३३९ ।।
[12]संश्राल्य हृदयेनैवं[13] जपन्नस्त्रमथोद्धरेत् ।
विमाने वा रथे कृत्वा ह्यगाधेऽम्भसि निक्षिपेत् ।। ३४० ।।

प्रणवाष्टाक्षरादिव्यापकमन्त्रपञ्चकमित्यर्थः । अथवा पूर्वोक्तं वासुदेवादिसंज्ञामन्त्रजितन्ताख्यपञ्चकमित्यर्थः । अत्र जालवदित्यनेन यथा वनमध्ये मृगग्रहणार्थं जालप्रसारेण कृते सर्वे मृगास्तत्र प्रविशन्ति, तद्वत् स्वहृदयाद् बिम्बादिषु मन्त्रप्रसारणे कृते तत्रत्या मन्त्राः सर्वेऽपि तत्र प्रविशन्तीति भावो बोद्धयते । अगाधेऽम्भसि निक्षिपेदिति

१. तन्निवेश्यं–मु० अटी० । २. यथा–बक० । ३. तदेव–मु० अटी०, तथैव–अ० । ४. चेद्ध–मु० अटी० । ५. होमेन–बक० बख० अ० उ० । ६. नाल–मु० । ७. द्यैस्तैस्तैर्म–मु० अटी० । ८. प्राङ्कणस्य–बक० बख०, प्राग्वत् तस्य–अ० । ९. च–बख० अ० उ० । १०. तदा–मु० अटी० । ११. ब्रह्मैवं संस्मृशे–मु०, ब्राह्मे वा सवृषैरथ–अ० उ० । १२. संस्थाप्य–अ०, संक्षाल्य–उ० । १३. नैव–अ० उ० ।

[1]जपेत् संज्ञामनुं पश्चात्[2] प्रायश्चित्तार्थमेव हि[3] ।
सहस्रमेकमर्धं तद्धोतव्यं सर्वशान्तये ॥ ३४१ ॥
पूर्ववत्[4] तोषयेत् सर्वान् काञ्चनाद्यैः स्वशक्तितः[5] ।
तर्पयेदन्नपानाद्यैः[6] सर्वानाचार्यपूर्वकान् ॥ ३४२ ॥
वाच्यं [7]तैर्द्वादशार्णेन ह्यच्छिद्रं हृष्टमानसैः ।
भूयः संस्थापनं कुर्यादुद्धृतस्य कृतस्य[8] च ॥ ३४३ ॥
सामान्यलक्षणैर्मन्त्रैश्चतुर्मूर्तिमयैः स[9]दा ।
गुरुः सप्रणवेनैव यः सम्यग् भगवन्मयः ॥ ३४४ ॥
यतः सप्रणवादन्यश्चातुरात्म्यं[10] च विद्यते ।
मन्त्रो वा देवतारूपस्तत्त्वतो ब्रह्मवेदिनाम्[11] ॥ ३४५ ॥
प्रपञ्चः प्रणवो मन्त्रो देवस्य चतुरात्मनः ।
एवं ज्ञात्वा पुरा कर्म स्थापनोत्थापनान्तिकम्[12] ॥ ३४६ ॥
विधिवद् यागपूर्वं तु [13]बिम्बसञ्चालनं विना ।
यो दिव्यायतनादीनां भक्त्या भूयः [14]करोति च ॥ ३४७ ॥
ध्वजं वा[15] मन्दिरं शुभ्रं पीठं[16] भासं च पिण्डिकाम् ।
सल्लोहशैलकाष्ठोत्थैः पद्माद्यैरूर्ध्वतोऽङ्किताम् ॥ ३४८ ॥
एकानेकदलैश्चैव[17] बद्धैरायसपूर्वकैः ।
सुबद्धां सूर्यसोमाग्निप्रभाढ्यां[18] सुमनोरमाम् ॥ ३४९ ॥

मानुषबिम्बविषयम्, स्वयंव्यक्तादिबिम्बानां सर्वथा संधेयत्वोक्त्या[19] ह्यपरित्याज्यत्वात् । अत्र बहवो विचारा [20]ईश्वरपारमेश्वरादिषूपबृंहिता द्रष्टव्याः ॥३२९–३४६॥

एवं शास्त्रज्ञानपूर्वकं प्रतिष्ठाजीर्णोद्धारादिकर्तुः फलमाह—एवमिति सार्धे-

---

१. नारसिंहं जपेत्–बक० बख० अ० उ० । २. सर्वं–अ० । ३. च–मु० अटी० । ४. दृक्ष–बक० बख०, दृक्ष–अ० उ० । ५. क्तिभिः–बक० बख० अ० उ० । ६. द्यैर्द्विजाना–अ० । ७. तद् द्वा–मु० अटी० । ८. च पूर्ववत्–बक० बख० अ० । ९. सह–मु० अटी० । १०. त्म्यान्न–अ० उ० । ११. वादिनाम्–अटी०, वेदिना–उ० । १२. गम्–मु० अटी० । १३. बिम्बं–मु० अटी० बक० बख० । १४. समेति–अ० । १५. सुम–बक० बख० उ० । १६. ठभा–बक० बख० अ०उ० । १७. एकाद्यनेकदलजामम्बरा–बक० बख० उ०, दलजां बन्धैरा–अ० । १८ भाभ्यां–मु० अटी० । १९. त्वोक्त्या सर्वथा–अ० । २०. ईश्वरेऽष्टादशेऽध्याये पारमेश्वरे च पञ्चदशेऽध्याये विशेषा एते द्रष्टव्याः ।

स लोके शाश्वतीं कीर्तिं स्थापयित्वा कुलैः सह ।
स्थानं सायुज्यता[1]पूर्वमन्ते नूनमवाप्नुयात् ॥ ३५० ॥
नानारत्नप्रभाढ्यानि लाञ्छनान्यङ्गदानि च ।
निर्मितानि सुवर्णाद्यैर्विभोः संयोजयन्ति ये ॥ ३५१ ॥
[2]ते धौतकल्मषाः सर्वे देहमासाद्य पा[3]वनम् ।
सम्यग् ज्ञानेन युज्यन्ते भवं[4] नायान्ति येन च ॥ ३५२ ॥
आत्मनश्चोपकाराय सर्वदुःखनिवृत्तये ।
अङ्गुष्ठाग्राच्च गुल्फान्तमाजान्वंसावधीह वा ॥ ३५३ ॥
मणिमुक्ताप्रवालाढ्यं[5]कवचं काञ्चनादिकम् ।
यः क्षिपत्यतिभक्त्या वै स्वशक्त्यां[6]चार्चागतेऽच्युते ॥ ३५४ ॥
स याति परमं स्थानं सपुत्रपशुबान्धवः ।
लग्नं यद्भगवन्मूर्तावङ्गदं नूपुरादिकम् ॥ ३५५ ॥
वियोजयति यो मोहात् तस्य वीचौ स्थिरा स्थितिः ।
यः पञ्चकालसक्तानां विप्राणामधिकारिणाम् ॥ ३५६ ॥
पञ्चरात्र[7]विदां चैव द्विजानां सिद्धिकाङ्क्षिणाम् ।
अथ [9]योऽच्छिन्नशाखानां नारायणरतात्मनाम् ॥ ३५७ ॥
तपस्विनां वा व्रतिनां स्नातकब्रह्मचारिणाम् ।
भक्तानामथवाऽन्येषां[10] मार्जनादौ[11] रतात्मनाम् ॥ ३५८ ॥
प्रीतये परमेशाय कृत्वा सम्यक् [12]प्रयच्छति ।
शालाद्यायतनोपेतमश्मपक्वेष्टकान्वितम् ॥ ३५९ ॥

श्चतुर्भिः ॥ ३४६–३५० ॥

भगवते नानामणिमयभूषणरत्नकवचादिसमर्पणकर्तुः फलमाह—नानेत्यादिभिः ॥३५१–३५५॥

भगवद्भूषणापहर्तुः फलमाह—लग्नमिति ॥३५५–३५६॥

---

१. पूर्वं देहान्ते नूनमाप्नु–मु० अटी० । २. इत आरभ्य समाप्तिपर्यन्तं मध्ये मध्येऽक्षरच्युतिर्दृश्यते–अ० । ३. निष्कलम्–बक० बख० । ४. भवमायान्ति ये च न–अ० । ५. लाढ्यं–बक० बख० उ०, लानां–उ० । ६. क्त्याच्यगि–मु० अटी०, क्त्याऽर्चाचिते–अ० । ७. काल–बक० । ८. भक्तानां–बक० बख० । ९. योऽर्चन–अटी० । १०. षाम–बक० अ०, षां संमार्जन–उ० । ११. नादिर–बक० बख० । १२. प्रयत्नतः–अ० ।

ग्राम्यैर्धान्यैस्तथारण्यैः पूर्णं [1]सद्वृत्तिसंयुतम्[2] ।
वणिक्कुटुम्बभृतकरक्षापालैः समन्वितम् ॥ ३६० ॥
[3]सोऽनन्तं[4] फलमाप्नोति कालमाचन्द्रतारकम् ।
संस्थितिं शाश्वतीं[5] लोके प्राप्नुयादक्षयं यशः ॥ ३६१ ॥
भोगोपभोगिनीं भद्रां रम्यां पूर्वोक्तलक्षणाम् ।
यागनिष्पत्तये कुर्याद् योऽग्रतः पीठसन्निधेः ॥ ३६२ ॥
बहिराराधनार्थं वा कर्मिणां ब्रह्मयाजिनाम्[6] ।
[7]मनुष्यपितृदेवाख्यान्मुच्यते स ऋणत्रयात् ॥ ३६३ ॥
मध्यतो गरुडाक्रान्तं सचक्राम्बुरुहाङ्कितम् ।
तुर्याश्रमथवा वृत्तं कुण्डवत्पदवीयुतम् ॥ ३६४ ॥
बलिपीठं बहिः कुर्याद्[9] भक्त्या यस्त्वच्युतालये ।
स याति [10]चाच्युतं स्थानं विमानै[11]रिन्दुवर्चसैः ॥ ३६५ ॥
यः [12]सप्राकारमारामं सम्प्रयच्छति वै विभोः ।
नानापुष्पफलोपेतं वापीद्रुम[13]समाकुलम् ॥ ३६६ ॥
साब्जतोयाशयोपेतं[14] मारङ्गखसमन्वितम् ।
स नन्दनवने भोगान् भुक्त्वा यात्यच्युतालयम् ॥ ३६७ ॥
क्षोणीं यः सस्यसम्पूर्णां युक्तां वा [15]गन्धशालिना ।
केदारं जलपातैस्तु परिच्छन्नं समन्ततः ॥ ३६८ ॥
[16]संयच्छति जगद्योनेः कालमासाद्य शाश्वतम् ।
स यायात् सुसितद्वीपं तत्रास्ते भगवानिव[17] ॥ ३६९ ॥
स्नानोपभोगमन्त्रार्थं सवृषेन्द्रं तु गोगणम् ।
समर्चयित्वा[18]योऽर्चां वै वैष्णवीं प्रतिपादयेत् ॥ ३७० ॥

भागवतानामग्रहारादिप्रदातुः फलमाह—य इत्यादिभिः ॥३५६–३६१॥

---

१. सम्प्रति—मु० अटी० बक० बख०। २. संकुलम्—बक० बख०। ३. पङ्क्तित्रयं नास्ति—अ०। ४. नन्त—बक० बख० उ०। ५. श्वते—बक० बख० उ०। ६. चारिणाम्—मु० अटी०, वादिनाम्—बक०। ७. पङ्क्तिरेषा न दृश्यते—अ०, ऋषिदेवपितृभ्यश्च—बक० बख०। ८. न्वितम्—अ०। ९. दग्रतस्त्व—अ०। १०. शाश्वतं—मु० अटी०। ११. नैः शुभ्र—बक०, नैः सूर्य—बख०। १२. सप्रकार—मु०अटी०। १३. लता—अ०। १४. तमपवर्च—बक०। १५. प्रचय—बक० बख० उ०। १६. स ग—बक० बख०। १७. निति—अटी०। १८. योऽर्चेद्वै—बक०, देवेशं वैष्णवं—मु० अटी०।

सोऽचिरान्मुक्तदोषस्तु विष्णुलोकं प्रयाति[1] च ।
गजं रथं वराश्वं च दीपस्थालीं[2] सुलक्षणाम् ॥ ३७१ ॥
व्यजनं चामरं छत्रं वादित्रं गणिकागणम् ।
शुभवस्त्राणि नेत्राणि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ३७२ ॥
वितानं वैजयन्तीं च चित्रपत्रलतागणम्[3] ।
सुस्वरां[4]मुपघण्टां च धूपस्थालीं सुलक्षणाम् ॥ ३७३ ॥
भृङ्गारं दर्पणं तोयकुम्भं गन्धोपलं महत् ।
पूर्वोद्दिष्टानि चान्यानि धान्यानि विविधानि च ॥ ३७४ ॥
यो ददाति हरेर्भक्त्या स तल्लोकमवाप्नुयात् ।
[5]ईक्षमाणं विभोर्वक्त्रं वहन्तं दीपभाजनम् ॥ ३७५ ॥
महान्तमथवा [6]दीपं यन्त्रं कूर्मादिरूपधृक्[7] ।
शरयज्ञासनस्थं च चित्रसम्पुटभूषितम् ॥ ३७६ ॥
सच्छास्त्रपीठं[8] विविधं श्रद्धया यो महामते ।
ददाति देवदेवस्य स[9] तत्स्थानं [10]प्रयाति च ॥ ३७७ ॥
पुरस्कृत्य जगद्योनिं यद्यद् भक्त्या प्रदीयते ।
तदाराधनसक्तानां तत्तदक्षय्य[11]तामियात् ॥ ३७८ ॥
इति सम्बोधितो[12] विप्रा लोके[13] धर्मव्यवस्थिताः ।
लाङ्गली देवदेवेन सर्वानुग्रहकाम्यया ॥ ३७९ ॥
मया प्राप्तं जगद्धातुः प्रसादान्मोक्षसिद्धये ।
यथावदथ सर्वेषामग्रतः प्रकटीकृतम् ॥ ३८० ॥

भद्रपीठबलिपीठग्रामारामक्षेत्रगोगजरथाश्वादीनां दीपस्थाल्यादिपूजोपकरणानां च समर्पणफलान्याह—भोगोपयोगिनीमित्यादिभिः ॥३६२–३७७॥

भगवत्सन्निधौ भागवतेभ्यः प्रदानफलमाह—पुरस्कृत्येति ॥३७८॥

इदं शास्त्रं सर्वानुग्रहार्थं भगवता वासुदेवेन संकर्षणायोपदिष्टं मया भगवत्प्रसादाल्लब्धं भवतामप्यग्रे यथावत् प्रकाशितम् । तदिदमास्तिकेभ्यः प्रकाशनीयं

१. प्रयास्यति–अ० । २. स्थानं····णम्–अ० उ० । ३. गृहम्–अटी० । ४. रान् धूपघण्टांश्च–अ० उ० । ५. पङ्क्तिद्वयं नास्ति–अ० । ६. धूपं–बख० । ७. धृत्–मु० अटी० । ८. ठसहितं–बक० । ९. परस्थानं–बक० बख० । १०. प्रयच्छति–बख० । ११. दक्षय–बक० बख० । १२. धिता–मु० अटी० । १३. लोके–बक०, लोकधर्मे–अटी० ।

परं पापहरं पुण्यं पावनं सं[1]भूद्धितदम् ।
इदं भव्याशयानां च वक्तव्यं भावितात्मनाम् ।। ३८१ ।।
भक्तानामप्रमत्तानां पुण्डरीकाक्षसेविनाम् ।
[2]यज्ञा[3]पवर्गसत्कीर्तिसाधुसङ्गाभिला[4]षिणीम् ।। ३८२ ।।
[5]भोगेप्स्नामभक्तानां [6]वाक्छलादिरतात्मनाम् ।
[8]अन्यायेनोपसन्नानां नास्तिकानां विशेषतः ।। ३८३ ।।
यो गोपायत्ययोग्यानां योग्यानां संप्रयच्छति ।
[9]इममर्थं स मान्यो मे स्वस्ति वोऽस्तु व्रजाम्यहम् ।। ३८४ ।।

इति श्री[10]पाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां प्रतिष्ठा[11]दिविधिर्नाम
[12]पञ्चविंशः परिच्छेदः ।।

■

नास्तिकेभ्यो गोपनीयम्, तथा प्रकाशगोपने यः करोति स तु ममापि मान्यो भवति, भवतामैहिकामुष्मिकरूपं निरवधिकं स्वस्त्यस्तु. अहं व्रजामीति भगवान् नारदो मुनीन् प्रत्युपदिष्टवानित्याह—इतीति ।।३७९-३८४।।

इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीशचरणकमलार्चकस्य
श्रीयोगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये पञ्चविंशः परिच्छेदः ।।

■

१. सिद्धि–अटी० । २. पङ्क्तिरेषा नास्ति–मु० अटी० । ३. धर्माप–बख० अ० । ४. लक्षिणाम्–बख० उ० । ५. गोपनीय–मु० अटी०, गोब्राह्मणानां–अ० । ६. नामास्तिकानां विशेषतः–अ० । ७. वाक्प्रलाप–बक० बख० उ० । ८. पङ्क्तित्रयं नास्ति–अटी० । ९. विख्यातार्थं–बक० बख० । १०. पञ्च–बख० उ० । ११. ष्ठावि–अ० उ० । १२. चतुर्विंशतितमः–अ०, पञ्चविंशतितमः–उ० ।

सात्वतसंहिताश्लोकार्धानुक्रमणी

■

द्वितीयं परिशिष्टम्

भाष्यगतग्रन्थ-ग्रन्थकारनामानुक्रमणी

तृतीयं परिशिष्टम्

अनिर्दिष्टस्थलानि भाष्योद्धृतवचनानि

१. नमस्तस्मै सकलविधकैङ्कर्याणि करवाणि मदर्थं न करवाणि । (पृ० १९)

२. सर्वत्र विदितात्मनाम् । (पृ० २०)

३. दिव्याप्यमन्त्रवायव्यभौमतैजसमानसैः ।
एतैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा कृतशुद्धिर्यथाबलम् ॥ (पृ० २२)

४. [1]गन्धैः स्रग्भिरलङ्कारैः सोत्तरीयैश्च भूषितः ।
कर्णभूषणहाराद्यैः कटकैरङ्गुलीयकैः ॥ (पृ० २३)

५. [2]नादेवो देवमर्चयेत् । (पृ० २५)

६. [3]अर्घ्यालभनपुष्पैश्च धूपैरभ्यर्च्य वै ततः । (पृ० ८५)
प्राङ्निवेदनकाले तु चतुर्धा संविभज्य तम् ।
प्रापणं मधुपर्काद्यमन्यच्चाभ्यवहारिकम् ॥
तेभ्यो दद्यादेकभागमर्घ्योदकपुरस्सरम् । (पृ० ८६)
मात्रां चतुर्विधां चापि आचार्याय प्रदापयेत् । (पृ० ८६)

७. [4]कुक्कुटाण्डप्रमाणं तु ग्रास इत्यभिधीयते । (पृ० १००)

८. [5]ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूनपि तथैव च ।
स्थापितस्त्वनुयागार्थं प्रापणांशः पुरा तु यः ॥
तस्मात् किञ्चित् समादाय संविभागं समाचरेत् ।
पितॄणां चैव बन्धूनामाश्रितानां तथैव च ॥
संविभागावशिष्टेन स्वानुयागं समाचरेत् ।
यद्वा स्थाल्यवशिष्टं च किञ्चिदादाय पात्रगम् ॥
प्राग्वन्निवेद्य देवाय तेन पित्र्यं समाचरेत् ।
ये विश्वदेवनिरता विप्राद्या वैष्णवाश्च ते ॥
यल्लभ्यं भगवद्भुक्तं तस्मादादाय चांशकम् ।

---

१. पा० सं० ३।२६–२७

२. "देवो भूत्वा यजेद् देवं नादेवो देवमर्चयेत्" (४।११।८५) इति शक्तिसङ्गमतन्त्रे दृश्यते । अन्यत्रापि सुबहुशो दृश्यतेऽयं श्लोकार्धः ।

३. कृतेऽपि प्रयत्ने पारमेश्वरसंहितायामिमानि त्रीण्यपि वचनानि नोपलब्धानि ।

४. याज्ञवल्क्यस्मृतिव्याख्यायां मिताक्षरायाम् (३।३१८), अन्यत्रापि (पराशरस्मृतौ, १०।३) च दृश्यन्ते समानार्थकानि वचनानि, एतदानुपूर्वीकं वचनं तु न क्वापि दृष्टम् ।

५. इमान्यपि वचनानि पारमेश्वसंहितायां न क्वापि दृश्यन्ते, यद्यपि सच्चरित्ररक्षायां (पृ० १२७-१२८) वेदान्तदेशिकेनापि तानि पारमेश्वरसंहितावचनत्वेन स्मृतानि ।

तेन कृत्वा वैश्वदेवमवशिष्टांशकेन तु ॥
कुर्युः प्राणादियात्रां तु विधानेन द्विजोत्तम। (पृ० १०४)
९.[1]परार्थः सूर्यसदृशः स्वार्थस्तु गृहदीपवत्। (पृ० १०७)
१०.[2]केशवार्चा गृहे यस्य न तिष्ठति महीपते।
तस्यान्नं नैव भोक्तव्यमभक्ष्येण समं हि तत्॥ (पृ० १०७)
११.[3]स्वार्थस्यापि परार्थस्य पूजायामधिकारिणः। (पृ० १०७)
१२.[4]सकृत् ते नमः, द्विस्ते नमः। (पृ० ११३)
१३.[5]सायंप्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितम्। (पृ० ४२२)
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः॥ (पृ० ११४)
१४.[6]एवमाचमनाशक्तावलाभे सलिलस्य च।
पूर्वोक्तेषु निमित्तेषु दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत्॥ (पृ० ११६)
१५.[7]वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत्। (पृ० ११९)
१६.[8]पृथिव्यां यानि तीर्थानि तेषु स्नातेषु यत्फलम्।
विष्णोः पादोदकं मूर्ध्नि धारयेत् सर्वमाप्नुयात्॥
मानवो यस्तु गङ्गायां स्नानं पानं समाचरेत्।
तस्य यादृग् भवेत् पुण्यं तादृक् पादाम्बुधारणात्॥
त्रिषु लोकेषु यत्तीर्थं प्रयागं पुष्करादिकम्।
तत्पादयुग्मे कृष्णस्य तत्र तिष्ठति नित्यशः॥ (पृ० १२४)
१७.[9]पादोदकस्य माहात्म्यं जानात्येव हि शङ्करः।

१. ई० सं० २१।५०८
२. वीरमित्रोदये पूजाप्रकाशे (पृ० ७, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, सन् १९११) स्कन्दपुराणीयवचनत्वेनोद्धृतमेतत्।
३. ई० सं० २१।५११
४. तैत्तिरीयारण्यके, ४।२८।१
५. मनुस्मृतौ नोपलभ्यते वचनमेतत्। महाभारते द्वयोः स्थलयोः (१२।१८६।१०; १३।१४८। १४ भाण्डारकरसंस्करणम्) स्वल्पेन पाठभेदेन सह दृश्यते श्लोकोऽयम्।
६. स्थलनिर्देशः कर्तुं न पार्यते, किन्तु आचारमयूखे (पृ० २४ गुजराती प्रेस, बम्बई, सन् १९१५) एतद्भावार्थकं वचनमेवमुद्धृतं दृश्यते—"आचामासंभवे मार्कण्डेयपुराणे—" देवतानां पितॄणां च ऋषीणां चैव यत्नतः। कुर्वीतालम्भनं वापि दक्षिणश्रवणस्य च॥" इति।
७. याज्ञवल्क्यस्मृतौ बृहद्योगियाज्ञवल्क्यादिषु च ग्रन्थेषु याज्ञवल्क्यनामाङ्कितेषु नोपलभ्यते वचनमेतत्। वेदान्तदेशिकेन तु पाञ्चरात्ररक्षायाम् (पृ० ७६) तथैव स्मृतमेतत्। दक्षस्मृतौ (७।१५) चैतत् समुपलभ्यते।
८. ब्रह्माण्डपुराणश्लोकसूचीषु न दृश्यन्ते श्लोका इमे। वेदान्तदेशिकेन तु सच्चरित्ररक्षायाम् (पृ० ११०) दर्शितास्तत्रत्याः।
९. श्रीमद्भागवतपुराणे न दृश्येते श्लोकाविमौ। वेदान्तदेशिकेन तु सच्चरित्ररक्षायाम् (पृ० ११०) दर्शितौ तत्रत्यौ।

विष्णुपादोद्भवां गङ्गां शिरसा धारयन् हि सः ॥
प्रायश्चित्तमनुप्राप्तः कृच्छ्रं वाप्यघमर्षणम् ।
विष्णुपादोदकं पीत्वा शुद्धिमाप्नोति तत्क्षणात् ॥ (पृ० १२५)

१८. लोकेषु विष्णोर्निवसन्ति केचित् समीपमिच्छन्ति च केचिदन्ये ।
अन्ये तु रूपं सदृशं भजन्ते सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः ॥ (पृ० १३९)

१९. [1]नारी खल्वननुज्ञाता पित्रा भर्त्रा सुतेन वा ।
निष्फलं तु भवेत्तस्या यत्करोति व्रतादिकम् ॥
अनापृच्छ्य तु भर्तारमुपोस्य व्रतमाचरेत् ।
आयुष्यं हरते भर्तुर्या नारी नरकं व्रजेत् ॥
नास्ति स्त्रीणां पृथक् कर्म न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
पतिशुश्रूषणं तासां तेन स्वर्गो विधीयते ॥ (पृ० १६७)

२०. अनन्तः प्रथमं रूपं लक्ष्मणश्च ततः परम् ।
बलभद्रस्तृतीयस्तु कलौ कश्चिद् भविष्यति ॥ (पृ० १८९)

२१. [2]करशुद्धिसमोपेतम् (पृ० २०६) ।

२२. [3]स्वप्राशनार्थमेकांशं स्थापयित्वा निरीक्षितम् ।
शेषाशनाभिधानस्य गणेशस्यार्चनाय वै ॥
भागमेकं तु संस्थाप्य भागेनान्येन तोषयेत् ।
ब्राह्मणादीन् शुभाचारान् भक्तान् ग्रामाधिवासिनः ॥ (पृ० २०८)

२३. [4]त्रिरित्येवं त्रयो वेदाः कीर्तिता मुनिसत्तमैः ।
क्रमसे तांस्तथा सर्वान् त्रिविक्रम इतीरितः ॥ (पृ० २२७)

२४. वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा बुद्धिसंयुता ।
द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥ (पृ० २४६)

२५. कृष्णरूपाण्यसंख्यानि (पृ० २४८) ।

२६. न्यासेन देवमन्त्राणां देवतादात्म्यभावनात् ।
अप्राकृताङ्गकरणात् पूजामर्हति साधकः ॥ (पृ० २९६)

२७. देवतारूपमात्मानमर्चयेदर्घ्यधूपकैः ।
धूपावसानिकैर्भोगैर्ध्यात्वा नारायणं हृदि ॥ (पृ० २९६)

---

१. गरुडपुराणे न दृश्यन्ते श्लोका इमे । अत्रत्यस्तृतीयः श्लोको मनुस्मृतौ (५।१५५) दृश्यते ।

२. पारमेश्वरे करशुद्धिसमोपेतमित्यादिभिरष्टभिः श्लोकैर्जलमध्यार्चनक्रमो विस्तरेणोक्तोऽन्वेषणीयः ।

३. कृतेऽपि प्रयत्ने श्लोकाविमौ पारमेश्वरसंहितायां नोपलब्धौ ।

४. श्रीविष्णुसहस्रनामभाष्ये पराशरभट्टेन त्रिविक्रमशब्दव्याख्यानावसरे (५३३) समुद्धृतमेतद् वचनम् ।

२८. [1]यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम् ।
छिन्ने नाले ततः पश्चात् सूतकं तु विधीयते ॥ (पृ० ३१०)

२९. [2]अत्र दद्यात् सुवर्णं वा भूमिं गां तुरगं रथम् ।
छत्रं छागं वस्त्रमाल्ये शयनं वासनं गृहम् ॥
धान्यं गुडं तिलं सर्पिरन्यद्वास्ति गृहे वसु ।
आयान्ति पितरो देवा जाते पुत्रे गृहं प्रति ॥
तस्मात् पुण्यमहः प्रोक्तं भारते चादिपर्वणि । (पृ० ३११)

३०. [3]त्रय्यन्तज्ञानसम्पन्नान् यथोक्ताचारनिष्ठितान् ।
समाहूयार्घ्यगन्धाद्यैः समभ्यर्च्य यथाक्रमम् ॥
भगवच्छेषमादाय न्यस्तमाहृत्य मन्त्रपम् ।
प्राङ्निवेदनकाले तु चतुर्धा संविभज्य तम् ॥
प्रापणं मधुपर्काद्यमन्यच्चाभ्यवहारिकम् ।
तेभ्यो दद्यादेकभागमर्घ्योदकपुरस्सरम् ॥ (पृ० ३१२)

३१. [4]सुदर्शनं धारयित्वा वह्नितप्तं द्विजोत्तमः ।
उपनीय विधानेन पश्चात् कर्मसु योजयेत् ॥ (पृ० ३८४)

३२. [5]भुजे चक्रं द्विजातीनां शिरश्चक्रं तु दैवतम् ।
अचक्रद्विजदेवानां पूजा दानं च निष्फलम् ॥ (पृ० ३८४)

३३. विष्ण्वागमादितन्त्रेषु दीक्षितानां विधीयते ।
शङ्खचक्रगदापूर्वैरङ्कनं नान्यदेहिनाम् ॥ (पृ० ३८५)

३४. [6]अवश्यं वैष्णवो दीक्षां प्रविशेत् सर्वयत्नतः ।
दीक्षिताय विशेषेण प्रसीदेन्नान्यथा हरिः ॥

---

१. संस्कारमयूखे (पृ० २२, गुजराती प्रेस, बम्बई, सन् १९१३), स्मृतिचन्द्रिकासंस्कारकाण्डे (पृ० ४९, मैसूरसंस्करणम्, सन् १९१४) च जैमिनिवचनमेतद् दृश्यते ।

२. स्मृतिचन्द्रिकासंस्कारकाण्डे (पृ० ५१)—देवाश्च पितरश्चैव, आयान्ति तस्मात्तदहः, तत्र दद्यात् सुवर्णम्, छत्रं छागं वस्त्रमाल्ये—इत्येवं क्रमेणात्रत्याश्चतस्रः पङ्क्तय आदित्यपुराण-वचनत्वेन समुद्धृताः । संस्कारमयूखेऽपि (पृ० २२) दृश्यतेऽत्रत्यं पङ्क्तित्रयमादित्यपुराणीय-मेव ।

३. कृतेऽपि प्रयत्ने पारमेश्वरसंहितायां वचनानीमानि नोपलब्धानि ।

४. श्लोकोऽयं तप्तचक्राङ्कनप्रमाणविवृतौ १५ तमे पृष्ठे पाद्मीयवचनत्वेन, २० तमे पृष्ठे च ब्रह्मपुराणीयवचनत्वेन निर्दिष्टः ।

५. श्लोकोऽयं तप्तचक्राङ्कनप्रमाणविवृतौ सुदर्शनवादे ५५ तमे पृष्ठे शिल्पिशास्त्रवचनत्वेन स्मृतः ।

६. महाभारते शान्तिपर्वणि नोपलभ्यन्ते वचनानीमानि ।

वसन्ते दीक्षयेद् विप्रं ग्रीष्मे राजन्यमेव च ।
शरदः समये वैश्यं हेमन्ते शूद्रमेव च ॥
स्त्रियं च वर्षाकाले तु पञ्चरात्रविधानतः । (पृ० ३८५)

३५. [1]न स्वरः प्रणवोऽङ्गानि नाप्यन्यविधयः स्मृताः ।
स्त्रीणां च शूद्रजातीनां मन्त्रमात्रोक्तिरिष्यते ॥ (पृ० ३८८)

३६. [2]भगवतो बलेनेत्यादिकं मन्त्रम् । (पृ० ५०५)

३७. भगवानेव स्वशेषभूतं मामिति मन्त्रं वा । (पृ० ५०५)

३८. सङ्कर्षणो भगवानित्यादिकं मन्त्रम् । (पृ० ५१०)

३९. विद्यां गदामित्यादिमन्त्राणां पाठनम् । (पृ० ५१५)

४०. यवागूं पचति । (पृ० ५२६)

४१. गुरुदेवाग्निविप्रेषु पृष्ठभागं न दर्शयेत् । (पृ० ५३१)

---

१. रहस्यत्रयसारार्थसंग्रहे द्वितीये पृष्ठेऽपि श्लोकोऽयं समुद्धृतो दृश्यते ।

२. "ॐ भगवतो बलेन भगवतो वीर्येण भगवतस्तेजसा भगवतः कर्मणा भगवतानुगृहीतो भगवतानुध्यातो भगवतः कर्म करिष्यामि तद्भगवाननुमन्यताम्" इति हि वचनं मन्त्रस्य स्वरूपम् ।

चतुर्थं परिशिष्टम्

संहिता-भाष्यगतविशिष्टविषयानुक्रमणी

पञ्चमं परिशिष्टम्

तिरुपतिमातृकायां विशिष्टाः पाठाः

मुद्रितपाठः	ति० पाठः	पृष्ठसंख्या	पङ्क्तिसंख्या
मपि वैभवं	मपि तथा वैभवं	१	१०
प्राप्त्यैकोपाय	प्राप्त्युपाय	१	१९
संस्थिताः	संस्थिताः सन्तः	२	१४
प्राप्त्येकोपाय	प्राप्त्युपाय	३	१२-१३
गाम्भीर्ययुक्तया	गाम्भीर्यया	६	१९
प्रत्यग्भावे	प्रत्यग्भागे	८	१७
अन्योन्येन	अन्योन्यं न	१५	१५
विधौ	विधा	१७	३२
न्त्येके	न्त्येते	१८	६
वौषट्	वषट्	१९	२३
च	चात्र	१९	२५
ज्य तु	ज्यते	१९	२७
अन्तर्निगूढ	अन्तर्निभृत	२१	८
गारुडो	गरुडो	२१	११
घटते	घटेत	२१	२२
वा	वः	२३	१४
मानसिक	मानस	२५	२७
नाभिक(ण्ठ)चक्र	नाभिहृच्चक्र	२७	१३-१४
संबन्धः	संबद्धः	२७	१६
श्रीभूतैः रम्य	श्रीभूतैराद्य	२९	३२
चातुरात्म्य	चतुरात्म	३०	२६
परि व्यक्ततां	परि पूर्वोक्तहृदयकमलोपरि व्यक्ततां	४१	१५
पद्याद्	पदाद्	४२	२८
क्रमेण	प्राभवेण क्रमेण	४३	२१
सरसि ।	सरसीति त्रिभिः । क्षार्णे क्षकारात्मके । अनन्तसरसि	४७	११
स्मूर्तयो	मूर्तयो	४७	२६

यत्तृ	यस्तृ	४८	३०
मप्यधः	मप्यय	५०	२३
यासित	य सित	५४	२४
॥६८-७९॥	॥६८-७८॥ एतेषां मानसार्चनमाह– एवं ज्ञात्वेति ॥७९॥	५५	२३
गुण	गुह	५७	२३
लोल	लोली	५८	२२
मूर्ति	मूर्त	५९	१५
स्रक्शब्दस्य	अत्र स्रक्शब्दस्य	६२	१०
विन्यस्य	विन्यसेत्	६३	१५
ग्राह्यम्	कार्यम्	६३	२०
पिञ्जुलेन	मञ्जुलेन	६४	१६
दिकं	दिकर्म	६४	१८
निकां	निकीं	६५	२२
पूर्वं चार्थे	पूर्वे चार्थे	६६	३३
आचमनं	आचमनीयं	६७	२९
प्रेष्यः	प्रेष्यं	६८	२५
ज्ञेयः	ग्राह्यः	७०	२६
बर्हं	बर्हं पुष्पं	७१	१०
न्यम्बून्यमूनि तु	न्यन्यमूर्तिषु	७१	२३
निष्टया	दिष्टया	७३	११
भवता	भगवता	७४	३०
स्वरस	सरस	७७	१५
पूर्यं	पूर्णं	७७	२४
यत्	या	७७	३३
णार्थं	णार्थकं	७८	२६
प्यलाभे	प्यभावे	८१	१७
लतूलोत्थ	लोत्थ	८२	१७
तथापि व्रत	तथापि तत्र व्रत	८३	२०
पात्रैश्चा	पात्रैश्च	८४	२७
अरण्य	अरणि	८९	५
(१७।११३)।	(१७।११३) इति।	९०	१३
हृदा	मृदा	९२	२२
कुम्भानां	कुम्भान् विना	९२	२४
आवाह	आहव	९७	१४

को(ण)	कोण	९७	२७
मधुपर्क	मधुपर्कः	९९	२१
ज्ञेयः	ग्राह्यः	१००	१२
संख्या	संख्याभिः	१००	२४
प्रतिपादिता	प्रतीता	१०२	२०
चांशकम्	चांशगम्	१०४	१७
निधाय	निधेयाः	१०४	२३
तादात्म्येनेति । दत्त	तादात्म्येनेति सार्धैस्त्रिभिः । परे तत्त्वे लब्धलक्षान् परब्रह्मणि दत्त	१०५	२१-२२
वा सक्र	वा सकृदेव	१०७	३३
'फलादिना' इत्यतः परम्—"अनुयागं च तं विद्धि आत्मनात्मनि यत्कृतम्" इत्यधिकम् ।		१०९	९
धात्र	यात्र	१०९	२४
पृथगनेना	पृथगन्नेना	११२	२६
परमसाम्यं	परसाम्यं	१२०	१३
भवद्भाष्या	भगवद्भाष्या	१२०	२७
पूर्वोक्तैरित्यर्थः	दानैः पूर्वोक्तैरित्यर्थः	१३१	२८
वमानं	वमाननं	१३६	२३
दान	दाने	१३७	२२
तदाश्रय	तदाश्रम	१३८	२८
अत एतेषां	अत एव	१४०	१७
जीव	जीवत्व	१४५	१९
कण्ठयम्	कण्ठम्	१४७	१६
मित्यन्तेन	मित्यनेन	१५१	२४
पृष्ठ	पृष्ठे	१५४	२७
भवता	भगवता	१५७	६
यस्मिन्नरे	यस्मिन्नन्तरे	१५९	२२
मात्र	मात्रा	१६०	२१
श्यन्त	श्यन्तं	१६०	२३
नानुलेप	नोल्लेख	१६५	१९
मायाख्यां	माधवाख्यां	१६८	२६
संस्कृतो	संस्फुटो	१७८	१५
जत्यात्मना	जन्नात्मना	१८१	१३

विभव	विभवा	१८७	२२
भेदाः	भेदः	१८८	१८
ष्टायुध	ष्टादशायुध	१९१	२६
तदीये	मायीये	१९३	२१
नार्वा	नानर्वा	१९४	२१
यन्त्र	मन्त्र	१९८	१७
पुष्पा	पुष्ट्या	१९८	१८
नन्द	नन्दाख्य	१९९	१८
मण्डला	मण्डपा	२००	२१
वीक्षतो	वीक्षितो	२०१	२६
वायव्यन्त	वायव्यान्त	२०१	२६
कोष्ट	कोण	२०३	१८
तदार्जनं	तदार्चनं	२०६	२५
रणे तु	रणे	२०९	७
अत्र	अत्र पुनः	२१०	१५
त्रयस्य	त्रयस्थ	२११	१६
दलाग्रमा	दलाग्रादा	२१३	२०
तद्देवान्	तत्तद्देवान्	२१५	२०
परितः	परतः	२१६	२६
द्वादशा	एवं द्वादशा	२१९	२०
मेखलानां	मेखलायां	२२०	११
ग्रेणैकं	ग्रे एकं	२२१	१५
कोष्ठे च	कोष्ठे वामकोष्ठे च	२२१	१८
वृत्तमापाद्य	वृत्तं पुनरष्टमरेखास्पर्शिना सूत्रेणैकं वृत्तमापाद्य	२२१	३१
करत्वाद्धि	करणत्वाद्धि	२३१	२१
सर्व	सर्वा	२३१	२२
करमिति	करणमिति	२३१	२२
दोषदो	दोषादो	२३८	२२
श्रीपौष्करे	पौष्करे	२४७	१२
जाग्रद्व्यूह	जाग्रच्चिद्व्यूह	२४९	१९
क्षणं	क्षणानि	२४९	२३
भगव	भव	२५१	१२
मञ्जलि	मप्यञ्जलि	२५२	२६

रव····मन्तेना	वर····मन्तेना	२५३	२९
वैभव	वैभवे	२५६	८
शक्तिद्वयस्य	शक्तिचयस्य	२५७	२६
चावि	च वि	२६५	२०
ध्येयम्	ज्ञेयम्	२६७	२६
चांस	चाङ्ग	२७०	२१
स्तत्र तीर्थं	स्तत्तृतीयं	२७४	२०
प्रकरणे	करणे	२८४	२४
योगा	श्रीयोगा	२८४	२६
प्रश्नप्रकारमाह	प्रश्नमाह	२८५	१७
कृताकृता	कुकृता	२८८	२०
परि	पारि	२८८	२४
योगा	श्रीयोगा	२९०	२२
ष्विवेतिकारा	ष्विवेत्यनुकारा	२९६	२०
मन्त्र	मन्त्रादि	३०२	१८
मन्त्र	मत्र	३०२	२५
भ्युक्षाम्	भ्युक्षम्	३०५	२४
विज्ञेया:	ज्ञेया:	३०६	१४
भेतव्य	भेत्तव्य	३०६	२९
ज्ञेय:	ग्राह्यः	३०८	१५
शमं	शर्य	३०८	१९
वोक्तं	वोपबृंहितं	३१२	१३
रूपेणेति	स्थेनेति	३१३	१०
इति	इष्ट	३१५	१२
नि(पु?र्व्रणं)	निपुणं	३१६	१४
टङ्कारं	टकारं	३१९	२८
नर	नार	३२९	१६
लकारेण	ठकारेण	३४०	१८
पारमे०	ईश्वरपारमे०	३५९	१२
नियम	विनियम	३६१	१६
शाकाढ्यं	शास्त्राढ्यं	३६१	३१
ईशान	तु ईशान	३६२	२४
खगानन	खगासन	३६७	२३
पठन्ते	फडन्ते	३८२	३०

तद्विग्रह	तद्विग्रहे	३९२	२४
तन्मया	तन्मयत्वा	३९७	२५
स्वस्थाने	स्वस्थानं	४००	२४
दीक्षायाः	दीक्षया	४०७	१७
शुद्धं	शुद्ध	४०८	१९
षेक	षेकः	४११	७
भ्रातृभिः	भ्रात्रादिभिः	४१७	१७
व्रजता	वाव्रजता	४१७	२५
च्छृण्वित्याह	च्छृणुध्वमित्याह	४१८	१६
नादि	नानि	४२२	२१
ष्ठापना	ष्ठाना	४२२	२३
पुत्रक	पुत्र	४३३	२३
विंशः	विंशतिः	४३७	१४
दुष्कृतं	दुष्कृतिं	४४४	२३
परर्मधि	परपद	४४५	२६
विशद	विदित	४४७	२४
पदसत्ताय	पदसक्ताय	४४७	२८
कस्य श्री	कस्य यदुगिरीशचरणार्चकस्य श्री	४५१	६
तत	यत	४६०	२३
प्रकरणोक्त	प्रकारेणोक्त	४९५	१५
चतुर्हस्त	चतुर्दशहस्त	४९५	१८
रष्टवीथी	रष्टभिर्वीथी	४९६	१६
कथैव	कयैव	४९७	१२
श्चोच्यते	श्चोह्यते	४९७	२६
॥२३-२८॥	॥२३-२७॥ ध्वजलक्षणमाह– सर्वे चक्रध्वजा इति ॥२७-२८॥	४९९	२८
वेति	चेति	५०१	१४
दक्षिणभाग	दक्षिणदिग्भाग	५०१	२३
भवन	हवन	५०१	२५
भवनं	हवनं	५०१	२६
स्थानाम्	स्थानम्	५०२	१४
शालायां	शिलायां	५०५	२०
सट्ट	बट्ट	५०७	२३
पिल्ल	बिल्ल	५०७	२३

सप्ना	सत्ता	५१३	२२
द्विषट्कस्य कूर्म	द्विषट्कस्य अनन्त आधारः, कूर्मादिद्विषट्कस्य कूर्म	५२४	१७
प्रक्रिया	प्रतिष्ठा	५२४	१८
पवित्रान्तं	पवित्राणां	५३०	२५
प्रदानानि	प्रदानादीनि	५३१	२५
मङ्गण	मङ्क्षण	५३५	२१
प्रसारेण	प्रसरणे	५४२	२४
प्रसारणे	प्रसरणे	५४२	२४
विंशः	विंशतिः	५४७	१७

षष्ठं परिशिष्टम्

तिरुपतिमातृकायां समानाः पाठाः

समानाः पाठाः	पृष्ठं	पङ्क्तिः	समानाः पाठाः	पृष्ठं	पङ्क्तिः
एतादृश—अ. ति.	३	३१	पायु—म. ति.	२७	३०
ततस्तदनन्तरम्—अ. ति.	४	३२	यतः—अ. म. ति.	२७	३१
नास्ति वाक्यमेतत्—अ. ति.	५	२७	रूपा—अ. म. ति.	२८	३२
'भूत' नास्ति—अ. ति.	५	२७	पुनः—अ. म. ति.	२८	३२
पायिकाव—अ. म. ति.	९	३१	नास्ति—अ. ति.	३०	२९
नाभादयो—अ. म. ति.	९	३१-३२	नास्ति—अ. ति.	३०	३०
क्तिमुपे—अ. ति.	१२	३०	नास्ति—अ. ति.	३१	३१
तान्तानां—अ. ति.	१३	३०	विफले—अ. म. ति.	३१	३२
वर्णचक्र—म. ति.	१३	३१	प्तिता—म. ति.	३१	३२
परशु—अ. ति.	१४	२८-२९	नास्ति—अ. ति.	३१	३३
र्यं—म. ति.	१६	२९	वानिति—अ. म. ति.	३२	२४
इत्यपि ज्ञेयम्—अ. ति.	१७	३४	र्जने—अ. म. ति.	३२	२५
एतत्ते—अ. म. ति.	१८	३३	नास्ति—अ. ति.	३३	२४
बिन्दुकः—म. ति.	१८	३३	बाह्यार्म—अ. ति.	३४	२८
स्वभक्त्य—अ. ति.	१८	३४	वर्णा—अ. म. ति.	३४	२८
इत्यत्रैव—म. ति.	१८	३४	पदम्—अ. म. ति.	३४	२९
नास्ति—अ. ति.	१९	३२	महत्—अ. म. ति.	३४	२९
जात्यत्वं—अ. ति.	१९	३३	कर्मणा—अ. ति.	३४	२९
नास्ति—अ. ति.	२०	२९	भेदत्वात्—अ. ति.	३५	२५
सस्मृतो—अ. ति.	२०	३०	द्वाभ्याम्—म. ति.	३५	२६
पारि—म. ति.	२०	३०	माहेत्याह—म. ति.	४७	२६
वाच—अ. ति.	२१	३२	क्षमि—अ. म. ति.	४७	२६
भयात्मकमि—म. ति.	२२	२५	ब्रह्ममया—अ. म. ति	४७	२६
यदा—अ. ति.	२२	२५	द्यमचिद्रूपमशा—अ. ति.	४७	२७
क्षिप्तः—अ. म. ति.	२३	३०	सर्वाणि—अ. ति.	४८	३०
अर्चन—अ. ति.	२३	३१	अत्राक्षा—म. ति.	५०	२८
पुरः—अ. ति.	२४	३१	चक्रधृते—अ. ति.	५३	३०

	पृष्ठं	पङ्क्तिः		पृष्ठं	पङ्क्तिः
त्पत्त्या—अ. ति	५६	३०	तरम्—अ. म. ति.	८०	३२
नन्दस्पन्द—म. ति.	५६	३०	राः शश्वत्—मु. ति.	८०	३३
संयुक्त—अ. ति.	५८	३०	क्वचिद—अ. ति.	८०	३४
श्चतुर्भिः—म. ति.	५८	३०	अनिलोमाः—म. ति.	८०	३४
तेषां—अ. म. ति.	५९	३०	रस्याः—अ. म. ति.	८०	३४
सानत—अ. ति.	६५	३१	नास्ति—अ. ति.	८१	२८
पार—म. ति.	६६	३३	मुद्ग—मु. ति.	८१	२८
ब्रोध्यम्—म. ति.	६७	३०	लपूरित—म. ति.	८२	३२
ततोऽर्घ्यं—अ. ति.	६७	३१	चाधरोत्तर—म. ति.	८५	२६
सकृन्मृजेत्—म. ति.	६८	३०	नास्ति—अ. ति.	८५	२७
नास्ति—अ. ति.	६८	३०	पञ्च—म. ति.	८५	२९
र्घ्यादिके—अ. ति.	७२	३०	व्यूहे—म. ति.	८८	३०
र्घ्यया—अ. म. ति.	७२	३१	चक्रश्वभ्रैः—अ. ति.	९०	२८
निको—अ. ति.	७२	३१	अड्यारवत्—ति.	९०	३०
न हि—अ. म. ति.	७३	३१	मद्रासवत्—ति.	९१	३१
धातु—म. ति.	७३	३२	रमाह—म. ति.	९२	३१
षोऽहं वै—म. पा. ति.	७३	३३	आद्रा—अ. ति.	९३	३०
सप्त—अ. ति.	७४	३१	मौ—अ. ति.	९४	३२
सृता—अ. ति.	७४	३१	एव—अ. ति.	९५	३०
नायं मन्त्रः—अ. ति.	७४	३१	तस्तुति—अ. ति.	९५	३०
च्छास्त्रे—म. ति.	७४	३२	नास्ति—अ. ति.	९६	२९
धूय—अ. ति.	७५	३०	नास्ति—अ. ति.	९८	२९
पूरि—म. ति.	७५	३०	पञ्च—म. ति.	१०१	३३
नित्य—अ. ति.	७६	३०	शास्त्रेण—अ. ति.	१०१	३३
वे चानु—अ. ति.	७६	३०	नास्ति—अ. ति.	१०२	२८
अस्यैव—अ. ति.	७६	३०	विकीरण—म. ति.	१०३	२९
नास्ति—अ. ति.	७६	३१	नास्ति—अ. ति.	१०६	२९
अन्यत्र—अ. ति.	७७	३२	अत्र—अ. ति.	१०७	३३
नास्ति—अ. ति.	७८	२९	शुद्धयन्नं—अ. म. ति.	१०९	३१
आद्य—म. ति.	७८	२९	याताः—मु. ति.	१०९	३२
प्रकारः—अ. म. ति.	७९	३१	शिष्येण—अ. ति.	१०९	३२
सुमश्रृङ्गैः—अ. ति,	७९	३१	किञ्च—अ. ति.	१०९	३३
कूले—म. ति.	७९	३२	द्रव—अ. म. ति,	१११	३०

	पृष्ठं	पङ्क्तिः		पृष्ठं	पङ्क्तिः
प्रान्तपर्वै—अ. म. ति.	११२	३३	न अरके—अ. ति.	१५६	३१
इत्यपि—अ. ति.	११३	२९	अवि—अ. ति.	१५७	३१
चापरे—अ. म. ति.	११४	३१	विरोधं—अ. ति.	१५७	३१
इति ननु—अ. ति.	११५	३१	नास्ति—अ. ति.	१५७	३१-३२
ग्रन्थे तु—अ. ति.	११५	३१	केशवाभि—म. ति:	१५७	३२
अद्य—अ. ति.	११६	२८	स्थापितः—अ. ति.	१६१	३०
वैष्णवीं—प. अ. म. ति.	११६	२९	रस्थापि—अ. ति.	१६१	३०
मुक्तम्—म. ति.	१२०	३०	दाहरणेन—म. ति.	१६२	३३
तत्र—अ. ति.	१२०	३१	अत्रैवो—अ. ति.	१६६	३१
स्नानेषु—अ. म. ति.	१२४	३३	यतः श्री—म. ति.	१७२	३०
यतस्तथा—म. ति.	१२५	३२	त्तमान्—अ. ति.	१७३	३०
स्तुत्ये—अ. ति.	१२५	३२	संस्थितिः—अ. म. ति.	१८१	३०
न्तास्तोत्र—म. ति.	१२७	३०	नास्ति—अ. ति.	१८४	३२
दक्षिणकरे—म. ति.	१२८	३०	बोध्यम्—म. ति.	१८५	३४
केवलं—म. ति.	१२९	३०	क्यस्यैव वा—अ. ति.	१८६	३०
सार्वत्रिका—म. ति.	१३१	३०	नास्ति—अ. ति.	१८८	३१
संमाननं—म. ति.	१३६	३१	प्रसिद्धः—अ. ति.	१८९	३०
कर—अ. ति.	१३७	२९	हितस्य—म. ति.	१८९	३१
ष्ठस्वा—अ. म. ति	१३८	२८	प्रति—अ. ति.	१८९	३१
द्वारकादिष्विव-अ. म. ति.	१३९	२७	सांख्या—अ. म. ति.	१९१	३०
येन केन वा—म. ति.	१४०	३०	कामा च—अ. म. ति.	१९१	३१
वर्ष—अ. ति.	१४१	२०	चतु—अ. ति.	२०५	२९
रथम्—म. ति.	१४१	२१	चंना—अ. ति.	२०५	२९
शेषः—म. ति.	१४२	२६	नास्ति—अ. ति.	२०८	३३
नास्ति—अ. ति.	१४३	२७	नास्ति—अ. ति.	२११	२८
अकारं—म. ति.	१४४	२९	प्रयोगः—म. ति.	२१४	३०
नास्ति—अ. ति.	१४५	३०	दितमि—अ. ति.	२१७	३०
न्यङ्क—अ. म. ति.	१४६	३२	नव—अ. ति.	२१९	२९
कान्तं क्षयं—अ. म. ति.	१४८	२९	पर्य—अ. ति.	२१९	२९
अधो—मु. ति.	१४८	३०	अष्टं—अ. ति.	२२०	२८
पाद—म. ति.	१५०	३१	यावद् द्वा—अ. म. ति.	२२०	२८
दिव्य—अ. ति.	१५२	३०	च्छाये—अ. म. ति.	२२०	२९
णिक—अ. ति.	१५४	३१	लैः—अ. म. ति.	२२०	२९

	पृष्ठं	पङ्क्तिः		पृष्ठं	पङ्क्तिः
ला—अ. म. ति.	२२०	२९	नास्ति—अ. ति.	२६२	२८
सति—अ. ति.	२२१	३३	योजनम्—म. ति.	२६५	२९
भागार्थं—अ. ति.	२२२	२८	ष्ठायै—अ. म. ति.	२६६	३२
रार्थं—अ. ति.	२२२	२८	नास्ति—अ. ति.	२६७	३०
शेषवृत्ति—म. ति.	२२४	२९	न्तया—म. ति.	२६८	२८
वराह्—म. ति.	२२८	३०	स्याङ्गं—म. ति.	२६८	२८
गणान्त—अ. ति.	२२८	३०	द्वितयस्य—म. ति.	२६८	२८
नास्ति—अ. ति.	२२८	३०	खण्डाना—अ. ति.	२७२	२७
नास्ति—अ. ति.	२२९	२९	प्रश्नम्—अ. म. ति.	२७२	२७
मधः—म. ति.	२३०	३०	लोप—म. ति.	२७२	२७
स्रक्कुण्ड–अ. म. ति.	२३०	३०	सूत्रं—अ. म. ति.	२७३	३०
शास्त्र—अ. म. ति.	२३०	३१	नास्ति—अ. ति.	२७४	२७
अब्जात्मा—अ. ति.	२३१	३१	उक्त—अ. ति.	२७५	२८
मत्क—अ. ति.	२३२	३१	प्रातिसर्यकम्—अ. म. ति.	२७५	२९
क्षमा—मु. ति,	२३३	३०	दिवसाख्यं—म. ति.	२७५	२९
मीयुषी—अ. म. ति.	२३३	३०	यथेच्छ—म. ति.	२७८	३०
क्षेत्रे—म. ति.	२३७	२७	श्वरे—म. ति.	२७८	३१
भवाग्निष्क—अ. म. ति.	२४३	२७	वार्चं—अ. ति.	२७८	३२
न दृश्यते पङ्क्तिः–अ. म. ति.	२४५	३३	चेतनस्य—अ. ति.	२८४	२९
परा—अ. म. ति.	२४५	३३	काश्चाशु—म. ति.	२८६	३१
संस्फुटोदयः—अ. म. ति.	२४५	३४	पातकाः—म. ति.	२८६	३१
नुशाधिनी—म. ति.	२४५	३४	आकूताद्—म, ति.	२८८	२८
तदा—म. ति.	२४५	३४	चेत्यर्थः—अ. ति.	२८९	२८
च्छेदं—अ. म. ति.	२४७	३१	विहितद्वयम्—अ. म. ति.	२९३	३०
शिरश्च—अ. ति.	२४८	२८	दाहस्वशुद्धये—अ. म. ति.	२९३	३१
सन्—म. ति.	२४९	२९	ङ्गुलैः—अ. म. ति.	२९४	३०
नास्ति—अ. ति.	२५०	३०	विमुक्त—म. ति.	२९४	३०
भुज्येयं—अ. म. ति.	२५५	३०	इच्छायाः—अ. म. ति.	२९५	३१
कृत—अ. ति.	२५६	३३	च्चात्र—अ. म. ति.	२९६	३२
तदा—अ. ति.	२५६	३४	विशेषेण—म. ति.	२९७	२७
मुखं—अ. ति.	२५७	३०	पूर्विका—अ. म. ति.	३००	२९
नास्ति—म. ति.	२५९	२९	कारे—अ. ति.	३०१	३१
दितर—म. ति.	२६१	२५	नास्ति—म. ति.	३०२	३२

	पृष्ठं	पङ्क्तिः		पृष्ठं	पङ्क्तिः
पूर्वक—अ. ति.	३०७	३०	णानि—अ. म. ति.	४०४	३२
सूत्रकैरि—म. ति.	३०८	२८	भू—अ. म. ति.	४०४	३३
नास्ति—अ. ति	३०९	३०	नास्ति—अ. ति.	४०६	३२
नास्ति—अ. ति.	३१०	२६	नास्ति—अ. ति.	४०६	३२
च्छेदा—म. ति.	३१०	२६	विंशतिः—म. ति.	४०९	२१
र्थ्येन—अ. ति.	३१३	२९	मण्डलः—अ. म. ति.	४१०	३०
योग्य—अ. म. ति.	३१३	२९	पूज्या—अ. ति.	४११	३१
द्यानि—अ. म. ति.	३१३	३०	कथं—म. ति.	४१३	२९
सेव्यन्ते—अ. म. ति.	३१३	३०	चर—अ. ति.	४१३	२९
यच्च यच्च—अ. म. ति.	३१५	३०	विंशतिः—म. ति.	४१८	२६
वितत—म. ति.	३१६	२९	स्वप्नान्तर—अ. ति.	४२२	२८
पयसा—अ. ति.	३२५	२९	दित्याह—अ. ति.	४२४	२८
निधाय—अ. ति.	३२९	२८	भवतीति—अ. म. ति.	४२५	३०
नास्ति—अ. ति.	३३१	२९	स्वच्छन्दं—अ. ति.	४२७	३१
पालिकायां—अ. म. ति.	३५५	२८	विंशतिः—म. ति.	४२८	१६
मायाकच—अ. म. ति.	३५८	३०	ॐ नमो—अ. ति.	४४२	३०
हुब्लु—म. ति.	३५८	३१	टिप्पणीस्थपाठः—ति.	४४६	२९-३०
ह्रेणु—अ. म. ति.	३५८	३१	वेदविदुषे—अ. म. ति.	४४७	२८
शस्यार्चने—अ. ति.	३५९	२८	शास्त्रास्यो—म. ति.	४४८	२८
र्चनं—अ. म. ति.	३६०	२९	जहि—अ. म. ति.	४४८	२९
काली—अ. म. ति.	३६३	३०	मायाय—अ. म. ति.	४५०	२९
दयः—अ. म. ति.	३७३	२८	त्रयोविंशतिः—म. ति.	४५१	१०
वित्तालस्या—अ. म. ति.	३७९	२९	पदलाभवशात्—म. ति.	४५३	२८
मन्त्रवत्त्वेन—अ. ति.	३८२	३१	ग्रहं—अ. ति.	४७९	२७
मुक्त—म. ति.	३८३	३१	रागादि—अ. ति.	४८२	२९
ज्ञेय—म. ति.	३८३	३२	दिव्यशक्ति—अ. ति.	४८२	२९
सूत्र—अ. म. ति.	३८४	३०	विंशतिः—म. ति.	४९४	२२
नास्ति—अ. ति.	३८६	३०	नास्ति—अ. ति.	४९७	३०
नास्ति—अ. ति.	३८६	३२	मध्ये—अ. ति.	४९७	३०
सलीलया—अ. म. ति.	३८७	२८	नास्ति—अ. ति.	४९८	३१
नास्ति—अ. ति.	३९०	२९	समिधा—म. ति.	५०१	३१
श्लेषार्थं—अ. ति.	३९३	३१	नमिति—अ. ति.	५०१	३१
र्वेत्येव—अ. म. ति.	४०४	३२	हवनं—अ. ति.	५०२	३१

	पृष्ठं	पङ्क्तिः
शयन—अ. ति.	५०२	३१
स्वर्त—अ. ति.	५०३	२६
नास्ति—अ. ति.	५०८	३०
इति—अ. ति.	५०९	३१
शिरसं—म. ति.	५१६	२७
गतेनेत्यर्थ:—अ. ति.	५२०	३२
तज्ज—अ. ति.	५२१	२७
प्रवेशं—अ. ति.	५२१	२७
तत्पदा—अ. ति.	५२१	२७
लेखनादि—अ. ति.	५२३	२९
विनि—अ. ति.	५२३	३०
नास्ति—अ. ति.	५२४	२५
नास्ति—अ. ति.	५२६	३०
स्मारितम्—अ. ति.	५२६	३०
स्मिन्नासने—अ. ति.	५३६	२९
तत्र—म. ति.	५४०	३०
आश्रम—म. ति.	५४०	३०

शुद्धिपत्रम्

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठसंख्या	पङ्क्तिसंख्या
प्राप्त्यैको	प्राप्त्येको	१	१९
नु	तु	२५	८
भि(?न्नं)	भि (न्ने ?न्नं)	५०	२१
युगाद्ध	युगाब्द	५७	९
प्रकरणे ।	प्रकरणं	६८	१३
तत्तद्रुप्र	तत्तद्रुप	६६	३०
सूत्र	सूक्त	७८	७
र्नाहत्व	नार्हत्व	८३	१५
ज्या०	जया०	९३	२४
यासो	न्यासो	१२२	१५
याच्त्रवा	याच्त्रा	१३६	२५
भेत्तव्यम्	भेतव्यम्	१४०	१८
मन्त्रद्वयं	मन्त्रमगं	१४२	४
गृहीत्वा	गृहीता	१४५	८
व	वै	१५८	१२
दिक्संस्थं यद्	द्विक्स्थं यद्	१८४	९
नाभब्देनैव	नाभशब्देनैव	१८६	७
वित्तेशश्व	वित्तेशश्च	१८८	४
स्वस्थं	स्वस्थं	१९८	१६
समानाभि	समा नाभि	२१८	४
कमल	कनक	२३६	२
नर	वर	२३९	४
स्तास्त्रं	स्तास्त्रं	२४०	८
मंक	कर्म	२४४	६
युपेयुषी	मुपेयुषी	२४७	२५
प्रोक्त	प्रोत	२५१	१३
त्क्षणम्	त्कलक्षणम्	२५४	१३
वात् । तल्ले	वात् तल्ले	२५६	३०
स्वातन्त्र्येतन्णा	स्वातन्त्र्येणा	२६२	१२
सहा	सदा	२६३	१८

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठसंख्या	पङ्क्तिसंख्या
भोक्त	भोक्तृ	२६८	११
वारा	वरा	२७०	४
न्तमित्यर्थः	न्तरमित्यर्थः	२८०	२०
एव	एवं	२८२	३१
न्र्मौलि	न्मौलि	२८६	२२
नर	नार	२८८	२०
तत्रा	पत्रा	२९९	१६
पङ्ति	पङ्क्ति	३००	२०
अर्घैर्निम्बुर	अर्घैनिरम्बु	३०७	१४
दत्वाऽन्न	दत्वाऽस्त्र	३३०	१९
मात्रे	पात्रे	३३०	२३
आयुष्य	आपुष्प	३३२	६
नदी	नति	३७१	१५
वर्तनं	नर्तनं	३८१	१०
ध्वंश	ध्वंस	३८१	१०
मन्त्रणा	मन्त्राणा	३९०	२५
पदा	पद	४११	१९
मन्त्रागां	मन्त्राणां	४२५	१०
शङ्का	शङ्कां	४५४	२५
ड्षभिः	षड्भिः	४७७	९
द्वातशा	द्वादशा	४८३	१५
षट्	षड्	४८८	२०
र्मध्यतोः	र्मध्यतो	४९८	२६
सुस्थितं	सुस्थिरं	४९९	६
विस्तुतं	बिस्तृतं	५००	२१
भून्मूर्ति	मृन्मूर्ति	५०३	१३
मरुतं	मारुतं	५२६	१५
ध्रुवाद्यैरिति	ध्रुवा द्यौरिति	५२६	१७
मारङ्गख	मारखङ्ग	५४५	१६
सभिूद्वित	सद्विभूति	५४७	२